औद्योगिक सङ्गठन एवं सेविवर्गीय प्रबन्ध

[INDUSTRIAL ORGANISATION AND PERSONNEL MANAGEMENT]

[आगरा, कानपुर, मेरठ, वाराणसी, जीवाजी, विक्रम, इन्दौर, भोपाल, रीवा, रविशंकर
एवं सागर विश्वविद्यालयों के बी० कॉम० के नवीनतम स्वीकृत
पाठ्यक्रमानुसार एक विस्तृत अध्ययन]

लेखक

प्रो० रमेशचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०, एम० कॉम०,
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, स्नातकोत्तर व्यावसायिक प्रशासन विभाग,
श्री जैन (पोस्ट ग्रेजुएट) कॉमर्स कॉलेज, बीकानेर।

प्राक्कथन लेखक

डॉ० अमरनारायण अग्रवाल, एम० ए०, बी० कॉम०, डी० लिट०,
डीन, फैकल्टी ऑफ कॉमर्स,
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद।

नवयुग साहित्य सदन,
लोहामण्डी, आगरा-2

प्राक्कथन

मुझे हर्ष है कि श्री रमेशचन्द्र अग्रवाल, एम० ए०, एम० कॉम०, श्री जैन पोस्ट ग्रेजुएट कॉलिज, बीकानेर के वाणिज्य विभाग के अध्यक्ष ने यह उपयोगी पुस्तक बी० कॉम० परीक्षा के विद्यार्थियों के लिए लिखी है। पुस्तक में श्री अग्रवालजी के परिश्रम और अध्ययन की छाप स्पष्ट है। उन्होंने 'औद्योगिक संगठन एवं प्रबन्ध' के अधिकारी आंग्लभाषीय ग्रन्थों का इस पुस्तक के लिखने की दृष्टि से विशेष अध्ययन किया है और हिन्दी माध्यम लेने वाले विद्यार्थियों को इस पुस्तक के अध्ययन द्वारा अँग्रेजी साहित्य का लाभ मिल सकेगा, जो बहुत आवश्यक है। हिन्दी साहित्य के बहुमुखी विकास का दायित्व समस्त ज्ञान-सेवियों के ऊपर है और ज्ञान की विविध शाखाओं के विद्वानों, आचार्यों एवं शिक्षकों को, जिन्हें विदेशी साहित्य से परिचय है और उनका ज्ञान है, हिन्दी साहित्य के अभाव को पूरा करने की चेष्टा करनी चाहिये।

श्री रमेशचन्द्र अग्रवाल ने इस पुस्तक को लिखकर न केवल विद्यार्थी जगत का उपकार किया है अपितु उन्होंने हिन्दी-जगत की भी सेवा की है और इसके लिये वे बधाई के पात्र हैं। मैंने पूरी पुस्तक का अध्ययन तो नहीं किया है पर मैंने जो कुछ देख पाया है उससे पता चलता है कि यह एक गम्भीर, विस्तृत और सुव्यवस्थित कृति है।

मुझे आशा है कि अगले संस्करणों में लेखक महोदय पुस्तक को और भी उपयोगी एवं परिष्कृत करने की चेष्टा करते रहेंगे।

वाणिज्य विभाग
प्रयाग विश्वविद्यालय
प्रयाग।
मई ७, १९६३

—अमरनारायण अग्रवाल

नवम पु
दशम पु
ग्यारहवाँ

अनुक्रमणिका

'छात्रों के लिये आवश्यक निर्देश'

हम इस पुस्तक के कौन-कौन से अध्याय पढ़ें ?

छात्रों से निवेदन है कि वे इस पुस्तक के केवल उन्हीं अध्यायों का अध्ययन करें जोकि उनके विश्वविद्यालय के नाम के आगे दिये गये हैं। इस पुस्तक के शेष अध्याय उनके नवीनतम निर्धारित पाठ्यक्रम (Latest Prescribed Syllabus) में नहीं हैं, अतएव वे उन्हें छोड़ सकते हैं।

विश्वविद्यालय के नाम	पाठ्यक्रम में सम्मिलित अध्यायों की क्रम-संख्या
१. आगरा विश्वविद्यालय :	१, २, ७, ८, ११, १३/१२, १३, १४, १७, १८, १९, २१, २२, २५, २६।
२. मेरठ विश्वविद्यालय :	१, २, ७, १०, ११, १२/१०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, १७, १८, १९, २१, २२, २३, २४।
३. कानपुर विश्वविद्यालय :	१, २, ३, ५, ६, १२/४, ५, ६, ७, ८, १२, १३, १४, २१, २२, २५, २६।
४. इन्दौर विश्वविद्यालय :	१, २, ८/१, २, ३, ४, ५, ६, ७, १२, १३, १४, १५, १६, २१, २२, २९।
५. सागर विश्वविद्यालय :	१, २, ६, ७/१, २, ३, ४, ५, ६, ७, ८, ९, १०, ११, १२, १३, १४, २१, २२, २७, २८, २९।
६. विक्रम विश्वविद्यालय :	१, २, ८, ९, ११/ १, २, ३, ४, ५, ६, ७, १२, १३, १४, १५, १६, १९, २०, २१, २२, २३, २४, २८, २९।
७. जीवाजी विश्वविद्यालय :	१, २, ७, ८, ९/४, ५, ६, ७, १०, ११, २१, २२, २३, २४।
८. रविशंकर विश्वविद्यालय :	१, २, ७, ८/१०, ११, १२, १३, १४, १५, १६, २१, २२, २९।

ठित हैं। इस सम्बन्ध में यह स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि बिना विवेकीकरण तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध के हम विदेशी बाजारों में प्रतियोगिता नहीं कर सकते।

(८) **पूँजीगत उद्योगों का अभाव**—देश में जितने भी उद्योगों का विकास हुआ है वे प्रायः सभी उपभोग की वस्तुओं का निर्माण करते हैं और इस प्रकार पूँजीगत वस्तुओं के निर्माण करने वाले उद्योगों का यहाँ अभाव है। यह अभाव स्वतन्त्र भारत के लिए अहितकर है। पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भारत सरकार इस दिशा में सक्रिय कदम उठा रही है। आशा है कि द्वितीय योजना की भाँति पंचम योजना में भी पर्याप्त संख्या में पूँजीगत उद्योगों की स्थापना की जायगी।

(९) **विभाजन का प्रभाव**—१५ अगस्त, सन् १९४७ की अर्द्धरात्रि के पश्चात, हमको स्वतन्त्रता मिली, किन्तु वह स्वतन्त्रता अपने साथ आर्थिक परतन्त्रता की अनेक समस्यायें भी लाई। कच्चा माल उत्पादन करने वाले क्षेत्र जैसे रुई व जूट पाकिस्तान में पहुँच गये, जबकि मिलें भारत में रह गईं। इसके अतिरिक्त कृषि को भारी धक्का पहुँचा। भारी संख्या में शरणार्थियों के प्रवेश के कारण समस्यायें सुलझने के बजाय और उलझ गईं। जनता व सरकार के सक्रिय सहयोग से कई समस्याओं पर काबू पा लिया गया है तथा शेष क्षेत्रों में प्रयत्न जारी हैं। अनाज उत्पादन के क्षेत्र में सन् १९७०-७१ के वर्ष में आश्चर्यजनक सफलता मिली है। इसके परिणामस्वरूप सरकार ने जनवरी, १९७२ से पी० एल० ४८० के अन्तर्गत अनाज का आयात करना बन्द कर दिया। किन्तु दुर्भाग्यवश सन् १९७२-७३ में देश को भयंकर सूखे का सामना करना पड़ा। इसके परिणामस्वरूप सरकार ने न केवल विदेशों से अनाज का पुनः आयात करना प्रारम्भ किया, अपितु १ अप्रैल, १९७३ से सरकार ने अनाज का थोक व्यापार भी अपने हाथ में ले लिया।

(१०) **आर्थिक नियोजन की दुर्बलतायें**—देश की आर्थिक अवस्था का पुनर्निर्माण करने हेतु ही हमारी जनप्रिय सरकार ने पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया है। स्वर्गीय श्री नेहरूजी के शब्दों में, "हमको एक ऐसे समाजवादी समाज का निर्माण करना है, जिसमें सब सुखी एवं सम्पन्न हों।" सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों में हर सम्भव तरीके से उद्योगों की स्थापना व वर्तमान उद्योगों का विस्तार करने का प्रयत्न किया जा रहा है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहने लगे हैं कि द्वितीय योजना में बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना पर अनावश्यक रूप से जोर दिया गया था।

(११) **कुशल प्रबन्धकों का अभाव**—भारतीय उद्योगों में कुशल प्रबन्धकों का सदा से ही अभाव रहा है। देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् इस समस्या ने गम्भीर रूप धारण कर लिया, क्योंकि यूरोपीय प्रबन्धकों ने धीरे-धीरे यहाँ से जाना शुरू कर दिया। उनका स्थान भारतीय प्रबन्धकों ने लिया, किन्तु वे अपना कार्य उतनी सफलता से सम्पन्न करने में असफल रहे हैं। इस कमी को दूर करने के लिये देश के विभिन्न भागों में प्रबन्धकीय संस्थाओं की स्थापना की गई है। विदेशों में भी (विशेषतः अमरीका, जापान, ब्रिटेन रूस तथा जर्मनी) प्रति वर्ष सैकड़ों व्यक्तियों को प्रबन्ध की शिक्षा प्राप्त करने के लिये भेजा जाता है। किन्तु दुर्भाग्यवश विशेषतः विदेशों में शिक्षा प्राप्त किये गये व्यक्ति भारत की अपेक्षा विदेशों में ही अपनी सेवायें अर्पित करना अधिक श्रेष्ठकर समझते हैं। अतएव हमें इस समस्या का उचित हल तलाश करना होगा।

(१२) **बिजली का अभाव**—देश के औद्योगीकरण की गति को तीव्र करने के लिये पर्याप्त मात्रा में बिजली का होना एक अनिवार्यता है। अभाग्यवश गत वर्ष से हमारे देश में बिजली का अकाल पड़ रहा है। इसके परिणामस्वरूप सरकार ने उद्योगों को दी जाने वाली

बिजली की सप्लाई में महत्त्वपूर्ण कटौती की है। बिजली की कमी का देश के औद्योगिक विकास पर बड़ा घातक प्रभाव पड़ा है।

भारत में औद्योगीकरण के साधन—

भाग्यवश हमारे देश में सभी साधन उपलब्ध हैं, जो कि औद्योगीकरण के लिये आवश्यक होते हैं। प्रकृति की देश पर अत्यन्त अनुकम्पा है, इसी कारण यह कहा जाता है कि "भारत एक धनी राष्ट्र है, जिसमें निर्धन व्यक्ति निवास करते हैं।" सफल औद्योगीकरण के लिये कच्चा माल, जन-शक्ति, विद्युत-शक्ति, खनिज-सम्पत्ति, धन-संचय, विस्तृत-बाजार, क्रय-विक्रय की सुविधायें, प्रबन्ध व साहस आदि साधनों की आवश्यकता पड़ती है और ये सभी प्रचुर मात्रा में हमारे देश में उपलब्ध हैं, किन्तु योजनाहीन उपयोग तथा राजनैतिक परतन्त्रता के कारण उनका उपयोग नहीं हो सका। यद्यपि भारत की गणना विश्व के आठ बड़े-बड़े औद्योगिक देशों में की जाती है। किन्तु फिर भी औद्योगिक दृष्टिकोण से यह प्रगतिशील राष्ट्र नहीं कहा जा सकता। परन्तु इस सम्बन्ध में निराशा का कोई कारण नजर नहीं आता। हमें यह आशा करनी चाहिये कि हमारी पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश का भविष्य अति उज्ज्वल है।

औद्योगिक सङ्गठन को सफलता के तत्त्व अथवा घटक
(Elements or Factors for the Success of Industrial Organisation)

किसी भी औद्योगिक प्रतिष्ठान की सफलता बहुत कुछ सीमा तक प्रभावी एवं कुशल औद्योगिक सङ्गठन पर निर्भर करती है। औद्योगिक सङ्गठन की प्रभावशीलता एवं कुशलता भी कुछ निश्चित तत्त्वों अथवा घटको पर निर्भर करती है, जो कि इस प्रकार हैं:—

(१) **अनुसन्धान एवं नियोजन**—वर्तमान औद्योगिक युग को अनुसन्धान एवं नियोजन का युग कहा जाता है। इसका कारण यह है कि जैसे-जैसे औद्योगिक विकास होता चला जा रहा है वैसे-वैसे औद्योगिक क्षेत्र में नये-नये परिवर्तन होते चले जा रहे हैं। पुरानी प्रक्रिया के स्थान पर नयी प्रक्रिया का विकास हो रहा है। इसके आधारभूत स्तम्भ अनुसन्धान एवं नियोजन हैं। यही कारण है कि अनुसन्धान एवं नियोजन को औद्योगिक सङ्गठन का एक अनिवार्य तत्त्व माना जाता है। अनुसन्धान एवं नियोजन का यह कार्य विपणन, उत्पादन तथा कर्मचारी क्षेत्र में किया जाता है।

(२) **योग्य एवं कुशल प्रबन्ध व्यवस्था**—प्रभावी औद्योगिक सङ्गठन के लिए योग्य एवं कुशल प्रबन्ध व्यवस्था की आवश्यकता होती है। इसके अभाव में निर्धारित लक्ष्यों एवं उद्देश्यों के प्राप्त किये जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(३) **उद्देश्यों एवं लक्ष्यों की स्पष्ट व्याख्या**—एक औद्योगिक प्रतिष्ठान की सफलता उसके द्वारा निश्चित किये गये उद्देश्यों एवं लक्ष्यों पर निर्भर करती है। इन उद्देश्य एवं लक्ष्यों की जितनी अधिक स्पष्ट व्याख्या होगी उन्हें प्राप्त करने में भी उतनी ही सरलता होगी।

(४) **पूँजी की पर्याप्तता**—किसी भी उद्योग की स्थापना एवं उसके सङ्गठन हेतु पर्याप्त-पूँजी का होना नितान्त आवश्यक होता है, अन्यथा उसका भविष्य सङ्कट में पड़ सकता है। पूँजी उद्योग की आवश्यकता के अनुरूप ही होनी चाहिये, क्योंकि अति-पूँजीकरण तथा अल्प-पूँजीकरण दोनों ही उसकी प्रगति में बाधक सिद्ध होते हैं।

(५) **कुशल सङ्गठन संरचना**—कुशल सङ्गठन संरचना का निर्माण होना भी औद्योगिक सङ्गठन की सफलता का एक आवश्यक घटक माना जाता है। इसके बिना उसका भविष्य सङ्कट में पड़ जाता है तथा विकास रुक जाता है।

(६) **उचित आकार एवं स्थानीयकरण**—एक औद्योगिक इकाई की सफलता उसके उचित आकार एवं स्थानीयकरण पर निर्भर करती है। अतएव उसके आकार एवं स्थानीयकरण

के सम्बन्ध में आवश्यक निर्णय पर्याप्त सोच-विचार के उपरान्त ठोस सिद्धान्तों के आधार पर ही लिया जाना चाहिये ।

(७) **योजनाबद्ध विकास**—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है कि किसी भी उद्योग की सफलता उसके योजनाबद्ध विकास पर निर्भर करती है । उत्पादन क्रियाओं का क्रम क्या हो, पहले क्या कार्य किया जाय तथा बाद में क्या कार्य किया जाय तथा किस कार्य को प्राथमिकता दी जाय आदि के सम्बन्ध में निर्णय करना ही योजनाबद्ध विकास है । योजनाबद्ध विकास द्वारा निश्चित उद्देश्यों को सरलता से प्राप्त किया जा सकता है ।

(८) **उत्पादन के विभिन्न साधनों के मध्य समन्वय**—औद्योगिक सङ्गठन की सफलता का अन्तिम एवं महत्त्वपूर्ण घटक उत्पादन के विभिन्न साधनों अर्थात् श्रम, पूँजी, भूमि, साहस तथा सङ्गठन के मध्य समन्वय स्थापित करना है ।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. "औद्योगिक सङ्गठन' का क्या अर्थ है ? आधुनिक भारतीय परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये 'औद्योगिक सङ्गठन एवं प्रबन्ध' की विवेचना कीजिये । (आगरा, १९७२)

२. औद्योगिक सङ्गठन से आप क्या समझते हो ? उसके सिद्धान्त एवं महत्त्व को स्पष्ट कीजिये । (विक्रम, १९६७)

३. औद्योगिक सङ्गठन का क्या अर्थ है ? भारत में इस विषय के अध्ययन का क्या महत्त्व है ? (आगरा, १९६९; विक्रम, १९६१)

४. औद्योगिक सङ्गठन किसे कहते हैं ? इसका क्या महत्त्व है ? भारत को इसके अध्ययन से होने वाले लाभों का वर्णन कीजिये ।

५. संगठन की परिभाषा कीजिए तथा इसके उद्देश्य भी बतलाइये । सङ्गठन के प्रमुख सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये ।

६. भारत में औद्योगिक विकास पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये । (विक्रम, १९६८)

७. औद्योगिक सङ्गठन का अर्थ तथा महत्त्व समझाइये । क्या औद्योगिक संगठन नयी विचार-धारा है ?

८. "औद्योगिक संगठन उद्योग के विभिन्न साधनों अर्थात् श्रम, पूँजी, भूमि तथा साहस के बीच प्रभावशाली सहकारिता स्थापित करने का साधन है ।" इस कथन पर विचार कीजिये । भारत की वर्तमान आर्थिक स्थिति में औद्योगिक सङ्गठन के महत्त्व की विवेचना कीजिये ।

९. "औद्योगिक सङ्गठन का तर्क महान व्यापारिक इकाइयाँ है ।" क्या आप इस कथन से सहमत हैं ?

१

औद्योगिक प्रबन्ध, उसका उद्गम और विकास

(Industrial Management, its Evolution and Development)

प्रारम्भिक—औद्योगिक प्रबन्ध का महत्त्व

प्रबन्ध वास्तव में उद्योग रूपी शरीर का मस्तिष्क अथवा उसकी जीवनदायिनी शक्ति है। जिस प्रकार बिना मस्तिष्क एवं प्राण के मानव शरीर अस्थियों एवं माँस का लोंदा है, उसी प्रकार बिना प्रबन्ध एवं सङ्गठन के एक औद्योगिक संस्था भी भूमि, श्रम एवं पूँजी का एक निष्क्रिय समूह मात्र है। जिस प्रकार जितना ही विवेकशील मस्तिष्क होगा उतने ही चमत्कारिक कार्य वह मानव करेगा, ठीक उसी प्रकार जितना चतुर, क्रियाशील एवं योग्य प्रबन्ध होगा, उस उद्योग का उत्पादन भी उतना ही श्रेष्ठ होगा। इस प्रकार प्रबन्ध उद्योग की वह जीवनदायिनी शक्ति है जो सङ्गठन को शक्ति देता है, संचालित करता है और नियन्त्रण में रखता है। औद्योगिक क्षेत्र में आये दिन पूँजी-श्रम के संघर्ष, निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र में हड़तालें और तालाबन्दी के समाचार सामान्य घटनाएँ हैं। इनके कारण पारस्परिक सम्बन्ध तो कटु हो ही जाते हैं, साथ-साथ अनैतिक पारस्परिक गलाकाट प्रतियोगिता, निरन्तर बढ़ते हुये उत्पादन व्यय, घटता उत्पादन, ग्राहकों द्वारा अधिक मूल्य दिया जाना, भ्रष्टाचार आदि का सामना समाज को करना पड़ता है। औद्योगिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों के उदार प्रयोगों के द्वारा ही यह अशान्ति दूर की जा सकती है। विशिष्टीकरण के इस युग ने प्रबन्ध का महत्त्व और भी बढ़ा दिया है। संक्षेप में समस्त आर्थिक क्रियाओं में प्रबन्ध का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। आज प्रबन्ध एक स्वतन्त्र विषय माना जाने लगा है।

'प्रबन्ध का दर्शन शास्त्र' नामक पुस्तक में ओलिवर शेल्डन (Oliver Sheldon) ने एक स्थान पर लिखा है कि प्रबन्ध मुख्यत: 'मनुष्यों का प्रबन्ध' और यदि वह अपने मनुष्य की वैज्ञानिक दशा को नहीं समझता तो वह कदापि सफल नहीं हो सकता है। इस मनोवैज्ञानिक स्थिति की व्याख्या करना ही प्रबन्ध का प्रारम्भिक कार्य है और मानवीय समस्याओं पर सामाजिक दृष्टि से विचार करते हुये वह उद्योग रूपी जहाज को सफलतापूर्वक खे कर ले जा सकता है।

औद्योगिक प्रबन्ध की आवश्यकता क्यों ?
(Necessity of Industrial Management—Why ?)

समस्त आर्थिक क्रियाओं मे सङ्गठन अथवा प्रबन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। कुशल सङ्गठनकर्त्ता अथवा प्रबन्धक के अभाव में आर्थिक साधन निष्क्रिय हो जाते हैं। प्राचीन काल में आर्थिक प्रणाली अत्यन्त सरल थी, क्योंकि उत्पादन छोटे पैमाने पर होता था। कारीगर स्वयं ही अपना प्रबन्धक भी होता था। विशिष्टीकरण का अभाव था। समस्त औजार साधारण थे। औद्योगिक प्रणाली अपरिवर्तनशील तथा स्थिर थी। धीरे-धीरे फैक्टरी प्रणाली का जन्म हुआ। छोटे उत्पादन के स्थान पर भीमकाय उत्पादन होने लगा। श्रम का विभाजन हुआ। हजारों कर्मचारियों से एक साथ काम लेना तथा उनके काम का समन्वय करना एक समस्या बन गई। औद्योगिक क्षेत्र में आये दिन पूँजी-श्रम के संघर्ष, लोक तथा अलोक क्षेत्र में हड़तालें और तालाबन्दी के समाचार सामान्य घटनायें प्रतीत होने लगीं। प्रतियोगिता के बढ़ने से तथा उत्पादन-क्रियाओं

के विशिष्टीकरण से प्रबन्ध समस्याओं का महत्त्व बढ़ने लगा। पुराने औजारों की भाँति प्रबन्ध के पुराने ढङ्ग भी वैज्ञानिक प्रगति ने बेकार कर दिये। अतएव औद्योगिक प्रबन्ध के लिए विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ने लगी। इस प्रकार औद्योगिक प्रबन्ध एक निश्चित विज्ञान बन गया। जिस प्रकार एक अर्थशास्त्री के लिए अर्थशास्त्र का ज्ञान होना आवश्यक है वैसे ही एक उद्योगपति के लिए औद्योगिक प्रबन्ध का ज्ञान होना आवश्यक हो गया।

औद्योगिक प्रबन्ध का अर्थ एवं परिभाषायें
(Meaning and Definition of Industrial Management)

औद्योगिक प्रबन्ध का अर्थ—

औद्योगिक प्रबन्ध से तात्पर्य औद्योगिक इकाई के प्रबन्ध से है। 'प्रबन्ध' (Management) शब्द का प्रयोग कई अर्थों में होता है। 'प्रबन्ध' नीति विशेष को कार्यान्वित करता है। नीति निर्धारण 'प्रशासन' द्वारा होता है। संगठन की सहायता से उसे कार्यान्वित किया जाता है। 'प्रशासन' द्वारा संगठन का निर्माण होता है। तथा 'प्रबन्ध' उसका उपयोग करता है।[1] व्यक्ति अथवा समूहों द्वारा किये जाने वाले कार्य का भली प्रकार समन्वय करना 'संगठन' कहलाता है। इसके अन्तर्गत आवश्यक साधन तथा सामग्री भी उपलब्ध कराई जाती है। 'संगठन' वह यन्त्र है जिसके द्वारा 'प्रबन्ध' 'प्रशासन' द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति करता है। 'संगठन' उद्योग के सम्पूर्ण कलेवर को कहते हैं। सामान्य रूप से 'प्रबन्ध' शब्द में संगठन तथा 'प्रशासन' कार्य भी सम्मिलित करने की परिपाटी व्यवहार में प्रचलित है। साहस का प्रारम्भ, वित्तीयकरण, नीति निर्धारण, यन्त्रों तथा संगठन की रूपरेखा तथा मुख्य अधिकारियों का चुनाव प्रबन्ध कार्य के ही अन्तर्गत आते हैं।

औद्योगिक प्रबन्ध की कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषायें—

ई० एल० एफ० ब्रीच के अनुसार, "प्रबन्ध नियोजन की विधि है और यह साहसी की क्रियाओं पर नियन्त्रण कायम रखता है।"[2]

मेरी कूशिंग नाइल्स के अनुसार, "अच्छा प्रबन्ध मानवीय, भौतिक शक्ति एवं समय के सदुपयोग से तथा उसमें सम्मिलित होने वाली एवं जनसाधारण की सन्तुष्टि हेतु सामाजिक उद्देश्यों की प्राप्ति करता है।"[3]

स्टेनले वेन्स के अनुसार, "प्रबन्ध केवल निर्णय लेने तथा मानवीय क्रियाओं पर नियन्त्रण रखने की विधि है, जिससे पूर्व निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सके।"[4]

एफ० सी० हूपर के अनुसार, "प्रबन्ध एक चलाने वाली शक्ति है, जो औद्योगिक इकाई को प्रेरणा देती है, उसको एक-इकाई के रूप में संगठित करती है तथा सम्पूर्ण शक्तियों एवं साधनों के सर्वोत्तम उपयोग के लिये दशायें एवं सम्बन्ध निर्धारित करती है।"[5]

---

1 **Kimball & Kimball** : *Principles of Industrial Organisation.*

2 "Management is the process of planning and regulating the activities of an enterprise."—**E. F. L. Brech.**

3 "Good management........achieves a social objective with the best use of human and material energy and time, and with satisfaction for the participants and the public."—**Mary Cushing Nile.**

4 "Management in simply the process of decision making and control over the action of human beings for the express purpose of attaining predetermined goals."—**Stanley Vance.**

5 *Management Survey*—**F. C. Hooper.**

उपरोक्त सभी परिभाषायें पुरानी एवं घिसी-पिटी होने के साथ-साथ आलोचनाओं से परिपूर्ण हैं।

"सामान्य रूप से नीति निर्धारण, उसका कार्यान्वित करना एवं सङ्गठन निर्माण तथा उसका उपयोग 'प्रबन्ध' के अन्तर्गत आ जाते हैं।"[1]

प्रो० किम्बाल के अनुसार, "विस्तृत रूप से प्रबन्ध उस कला को कहते हैं, जिसके द्वारा किसी उद्योग में मनुष्यों और माल को नियन्त्रित करने के लिये जो आर्थिक सिद्धान्त लागू होते हैं उन्हें प्रयोग में लाया जाता है।"[2]

विलिकन्सन तथा फोस्टर के अनुसार, "प्रबन्ध एक ऐसा शब्द है जिसका सामान्य उपयोग उस विधि का वर्णन करने के लिये किया जाता है जिसके द्वारा एक व्यक्ति, उस पर सीमायें लगाने के बाद भी, उचित उद्देश्य प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।"[3]

जॉर्ज आर० टेरी के शब्दों में, "औद्योगिक प्रबन्ध उपलब्ध साधनों के उपयोग द्वारा उद्देश्यों की प्राप्ति से सम्बन्धित है।"[4]

लॉरेन्स ए० एप्ले के अनुसार, "प्रबन्ध वस्तुओं का निर्देशन न होकर व्यक्तियों का विकास है।"[5]

जे० बेटी के शब्दों में, "प्रबन्धक एक व्यक्ति है, जो वस्तुओं एवं सेवाओं के उत्पादन में मानवीय क्रियाओं को निर्देशित करके कथित उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयास करता है।"[6]

अमरीकी प्रबन्ध समिति ने 'प्रबन्ध' शब्द की निम्न परिभाषा प्रभावशाली शब्दों में दी है :—**"प्रबन्ध मानवीय तथा भौतिक साधनों को क्रियाशील संगठन की इकाइयों में लगाता है, जिनका उद्देश्य व्यक्तियों को सन्तोष प्रदान करना तथा सेवकों में उच्च नैतिक स्तर तथा कार्य पूरा कराने का उत्तरदायित्व उत्पन्न करना है।"**[7]

---

1 "The term 'Management' is commonly used to cover the formation of policy, its execution, the designing of the organisation and its employment."—**Oliver Sheldon** : *Philosophy of Management.*

2 According to **Prof. Kimball,** "Management may be broadly defined as the art of applying the economic principles that underlie the control of men and materials in the enterprise under consideration."

3 "Management is a term commonly used to describe the process by which a person contrives to achieve a desired objective despite the limitations imposed upon him."

4 "Industrial Management deals with the achievement of objectives by means of utilising the available resources." —**George R. Terry**

5 "Management is the development of people and not the direction of things."—**Lawrance A. Appley**

6 "A manager is a person who attempts to achieve stated objectives by directing human activities in the production of goods and services."
—**J. Batty**

7 "Management is guiding human and physical resources into dynamic organization units which attain their objectives the satisfaction of those served and with a high degree of morale and sense of attainment on the part of those rendering service."

निष्कर्ष (Conclusion)—

औद्योगिक प्रबन्ध सम्बन्धी उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचने हैं कि औद्योगिक प्रबन्ध से आशय उस कला से है, जिसके द्वारा सुव्यवस्थित ढङ्ग से किसी औद्योगिक उपक्रम की निर्धारित नीतियों को क्रियान्वित किया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध का सम्बन्ध मानवीय क्रियाओं से होता है, जिनका निर्देशन एवं नियन्त्रण करके उपक्रम के सामान्य उद्देश्यों की प्राप्ति की जाती है। इस प्रकार औद्योगिक प्रबन्ध उपक्रम द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अन्य लोगों के कार्यों का मार्गदर्शन, नेतृत्त्व एवं नियन्त्रण करता है।

औद्योगिक प्रबन्ध के कार्य
(Functions of Industrial Management)

व्यवस्था द्वारा निर्धारित उद्देश्यों की पूर्ति के लिये 'प्रबन्ध' का सम्बन्ध प्राय: उपक्रम या संस्था के निम्न छ: 'एम' ('M') से होता है—Man, Methods, Materials, Machines, Money and Markets। इन सबके एकत्रीकरण एवं समन्वय हेतु प्रबन्धक को निम्नलिखित कार्य करने पड़ते हैं :—
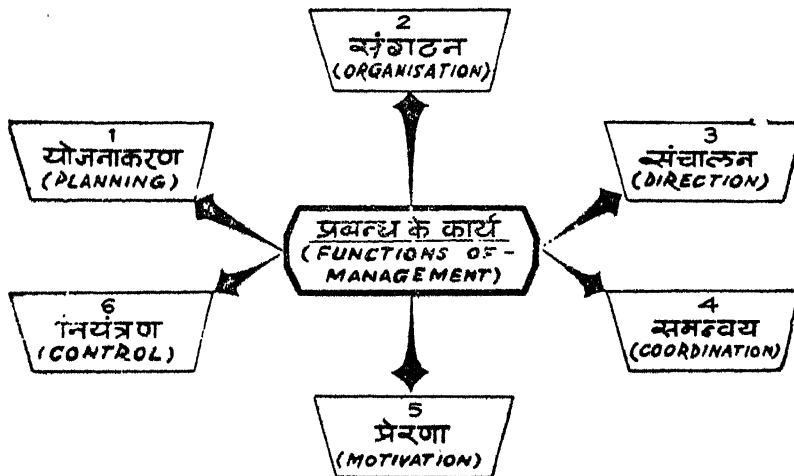
(१) योजनाकरण (Planning)—प्रबन्ध का सबसे प्रमुख कार्य निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये एक सफल योजना तैयार करना होता है। राष्ट्रीय योजना कमेटी के अनुसार, "एक जनतन्त्री व्यवस्था के अन्तर्गत योजना से अभिप्राय राष्ट्र का प्रतिनिधित्त्व करने वाली संस्थाओं द्वारा निश्चित किये हुए विशिष्ट उद्देश्यों की पूर्ति के लिये उपभोग, उत्पादन, निरीक्षण व्यापार एवं आय के वितरण के निष्पक्ष विशेषज्ञों द्वारा स्थापित प्राविधिक (Technical) सहयोगों एवं समन्वय से होता है। ऐसी योजना न केवल अर्थशास्त्र और जीवन-स्तर दोनों को ऊँचा उठाने के दृष्टिकोण से बनाई जाती है, वरन् इसमें मानवीय जीवन के सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक गुणों (Cultural and Spiritual Values) का विकास करना भी सम्मिलित होता है।" प्रबन्धकों को यह सोचना पड़ता है कि वर्तमान उपलब्ध साधनों के द्वारा किस प्रकार अधिकतम् उत्पादन प्राप्त किया जा सकता है, कार्य करने के आदर्श एवं लक्ष्य क्या होने चाहिये और सम्भावित कठिनाइयों पर विजय पाने के लिये कौन-कौन से साधन अपनाये जा सकेंगे आदि। श्री शील्ड्स

(Shields) के शब्दों में, "योजना विभाग प्रबन्ध का केन्द्र है, जिसका मुख्य कार्य उन समस्त कर्मचारियों की आवश्यकता पूरी करना है जो उत्पादन की विभिन्न विधियों में लगे हैं।"

(२) **संगठन** (Organisation)—उत्पादन के विभिन्न साधनों में समन्वय स्थापित करने के लिये 'प्रबन्ध' 'संगठन' का सहारा लेता है। कर्मचारियों का किस प्रकार चुनाव हो ? कौनसा कर्मचारी शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से किस कार्य के लिये उपयुक्त है, यह निर्णय करना प्रबन्धक का कार्य है। सङ्गठन द्वारा प्रबन्ध का कार्य सम्पन्न होता है।

(३) **संचालन** (Direction)—सङ्गठन को क्रियाशील करने एवं निरन्तर जागरूक रखने के लिये कुशल संचालन की आवश्यकता होती है। यह कार्य भी प्रबन्ध द्वारा सम्पन्न किया जाता है।

(४) **समन्वय** (Co-ordination)—किसी व्यवसाय के विभिन्न विभागों व विभिन्न व्यक्तियों तथा उनके वर्ग की क्रियाओं के मध्य समायोजन करने का कार्य 'समन्वय' कहलाता है। प्रबन्ध समन्वय के माध्यम से विभिन्न विभागों तथा विभिन्न श्रमिकों एवं कर्मचारियों के हितों में साम्य स्थापित करने का प्रयास करता है, ताकि उन सबका लक्ष्य एक ही हो जाय।

(५) **प्रेरणा** (Motivation)—प्रबन्ध, श्रमिकों एवं कर्मचारियों में स्वेच्छा से कार्य करने की भावना को जाग्रत करता है, ताकि वे स्वामिभक्त, संस्थाभक्त एवं कार्यभक्त होकर ईमानदारी तथा लगन के सथा अपने कर्त्तव्यों का निष्पादन कर सकें। इससे श्रम एवं पूँजी के सम्बन्ध कटु होने की बजाय मधुर बनते हैं। प्रबन्ध यह कार्य-बड़े ही मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से सम्पन्न करता है।

(६) **नियन्त्रण** (Control)—प्रबन्धक को यह देखना पड़ता है कि समस्त कार्य निश्चित योजना के अनुसार पूर्ण कार्यक्षमता से हो रहा है अथवा नहीं। उत्पादन की मात्रा में वृद्धि, किस्म में सुधार तथा व्यय में कमी लाने के लिये वह उस संस्था पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित करता है।

प्रबन्ध के अन्य कार्य—

(१) **कर्मचारियों की नियुक्ति** (Staffing)—औद्योगिक प्रबन्ध औद्योगिक संस्था के अन्दर विभिन्न उत्तरदायी पदों को सम्भालने के लिये योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करता है तथा उन्हें आवश्यक प्रशिक्षण आदि प्रदान करता है।

(२) **बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय** (Wise Decision Making)—एक कुशल प्रबन्ध का कार्य प्रत्येक समस्या पर भली प्रकार से विचार करना तथा उस पर बुद्धिमत्तापूर्ण निर्णय लेना भी है। किसी बात पर निर्णय लेते समय उसके सभी पहलुओं पर पहले से विचार करना आवश्यक है।'

(३) **शोध** (Research)—**बाई तथा हिवेट** (Bye and Hewett) के अनुसार प्रबन्धक का यह भी एक महत्त्वपूर्ण कार्य है कि वह उत्पादन विधि, मानवीय सम्बन्ध, प्रबन्धकीय कला, बाजार आदि के क्षेत्र में निरन्तर शोध कार्य जारी रखे। ऐसा करने पर ही उद्योग समय की गति के साथ रह सकता है और सफलता प्राप्त कर सकता है।

विभिन्न विद्वानों के मतानुसार प्रबन्ध के कार्य—

ई० एफ० एल० ब्रीच (E. F. L. Brech) के शब्दों में औद्योगिक प्रबन्ध के निम्न कार्य हैं :—(१) नियोजन (Planning), (२) समन्वय (Co-ordination), (३) नियन्त्रण (Control), (४) प्रोत्साहन (Motivation)। **कून्ट्ज तथा प्रो० डोनेल** (Koontz and Donnel) के अनुसार औद्योगिक प्रबन्ध के कार्य निम्न हैं :—(१) नियोजन (Planning)। (२) संगठन

१

औद्योगिक संगठन का अर्थ एवम् महत्त्व

(Meaning and Importance of Industrial Organisation)

प्रारम्भिक—औद्योगिक संगठन की आवश्यकता

वर्तमान युग को यदि औद्योगिक युग कहें तो अनुचित न होगा। प्रत्येक देश को समय की गति के साथ चलना पड़ता है। जो देश इस दौड़ में पीछे रह जाता है, उसकी आर्थिक स्थिति शोचनीय एवं उसके निवासियों का जीवन-स्तर दयनीय हो जाता है। आज तो उसी राष्ट्र का बोलबाला है, जो औद्योगिक क्षेत्र में अग्रगण्य है। रूस, अमेरिका, इङ्गलैन्ड, फ्रांस, जर्मनी व जापान इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। इसके विपरीत पाकिस्तान, बर्मा, लंका तथा अफ्रीका के देश आदि औद्योगिक क्षेत्र में पीछे रहने के कारण पिछड़े राष्ट्रों में गिने जाते हैं। संक्षेप में, 'औद्योगिक सङ्गठन' आधुनिक सभ्यता तथा विकास का प्रतीक है। यह एक दर्पण के समान है, जिसमें किसी राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक तथा राजनैतिक स्थिति प्रतिविम्बित होती है।

औद्योगिक संगठन का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Industrial Organisation)

औद्योगिक संगठन का अर्थ (Meaning of Industrial Organisation)—

'औद्योगिक संगठन' शब्द का पृथक्करण करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह दो शब्दों के योग से बना है—(I) **'औद्योगिक'** एवं (II) **'संगठन'**। अतएव इन दोनों शब्दों का विश्लेषण करने से 'औद्योगिक संगठन' का अर्थ भली प्रकार समझ में आ जायेगा।

(I) 'औद्योगिक' से आशय—

'औद्योगिक' शब्द का अर्थ है 'उद्योगों से सम्बन्धित', अर्थात् उद्योगों से सम्बन्धित संगठन को 'औद्योगिक संगठन' कहते हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि 'उद्योग' है क्या ? उद्योग को व्यापक अर्थों में 'श्रम' या 'सक्रिय प्रयत्न' कहते हैं। जो विद्यार्थी सतत् प्रयत्नशील होता है, अध्यापक उसे परिश्रमी कहते हैं। किन्तु हमारे विवेचन में 'उद्योग' शब्द का प्रयोग इस विस्तृत अथवा व्यापक अर्थ में न होते हुए संकुचित अर्थ में होगा। यहाँ पर इस शब्द का प्रयोग हम केवल अर्थशास्त्र की परिभाषा के अनुसार ही करेंगे। अर्थशास्त्र में 'उद्योग' से आशय ऐसी क्रियाओं से है जो अनिर्मित पदार्थों को विक्रय योग्य दशा में परिवर्तित करने से सम्बन्धित हों। दूसरे शब्दों में, प्राकृतिक प्रसाधनों (Resources) में उपयोगिता बढ़ाने वाली समस्त क्रियाओं को 'उद्योग' कह सकते हैं। जैसे रुई से कपड़ा, गन्ने से शक्कर, लोहे से इस्पात तथा इस्पात से मशीनें आदि बनाना।

उद्योग की परिभाषा (Definition of Industry)—

एक विद्वान के शब्दों में, "उद्योग उन आर्थिक प्रयत्नों को कहते हैं, जिनमें कच्चे माल को प्राकृतिक तथा मानवीय प्रसाधनों की सहायता से विक्रय तथा उपभोग योग्य बनाया जाता है।" **सार्जेण्ट फ्लोरेंस** (Sargant Flowrance) के अनुसार, "साधारण अर्थ में उद्योग शब्द से आशय निर्माण क्षेत्र से है तथा कृषि, खनन एवं अधिकांश सेवायें इसके अन्तर्गत आती हैं।"

उद्योगों का वर्गीकरण (Classification of Industries)—

प्रकृति के अनुसार उद्योगों को निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) **उत्पत्ति अथवा खाद्य उद्योग** (Genetic Industry)—इस वर्ग में वे उद्योग सम्मिलित होते हैं जो भूमि से कृषि सम्बन्धी क्रियायें करके खाद्य वस्तुयें पैदा करते हैं, जैसे कृषि उद्योग, वन उद्योग तथा मत्स्य उद्योग, आदि। यह उद्योग हमारे लिये खाद्य पदार्थ तथा अन्य उद्योगों के लिए आवश्यक कच्चे माल का उत्पादन करता है। इसी विचार से कुछ विद्वानों ने इसे 'प्रारम्भिक' (Primary) उद्योग के नाम से भी सम्बोधित किया है।

(२) **निष्कर्षण उद्योग** (Extractive Industry)—जैसा कि इसके नाम से ही विदित है, इसके अन्तर्गत भूमि से खनिज पदार्थों का निकालना होता है। दूसरे शब्दों में, प्रकृति की गोद से मानवीय प्रयत्नों द्वारा प्राप्त की गई वस्तुयें अथवा पदार्थ, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से प्रयोग में लाये जायें, इस वर्ग के अन्तर्गत आते हैं, जैसे—खनन कर्म, मछली पकड़ना, शिकार खेलना तथा जंगल साफ करना, आदि।

(३) **निर्माणी उद्योग** (Manufacturing Industry)—निर्माणी उद्योगों से तात्पर्य ऐसे उद्योगों से है जो वस्तुओं का रूप परिवर्तित कर देते हैं। दूसरे शब्दों में, जब कच्चे माल अथवा अर्द्ध-पक्के माल को पूर्णतया पक्के माल में परिवर्तित कर दिया जाय, तो उसे 'निर्माणी उद्योग' कहेंगे, जैसे—लौह एवं इस्पात उद्योग, शक्कर उद्योग, वस्त्र उद्योग आदि। निर्माणी उद्योग को पुनः निम्न चार भागों में विभक्त किया जा सकता है—(अ) **संयुक्त उद्योग** (Synthetic Industry)—इसके अन्तर्गत विभिन्न कच्चे पदार्थों का सम्मिश्रण करके नये पदार्थ का निर्माण किया जाता है, जैसे—सीमेण्ट, प्लास्टिक, साबुन आदि का निर्माण। (ब) **प्रक्रिया उद्योग** (Processing Industry)—इसके अन्तर्गत कच्चे पदार्थ को विभिन्न उत्पादन प्रक्रियाओं में से निकाल कर निर्मित पदार्थ अथवा माल का निर्माण किया जाता है, जैसे—चीनी उद्योग, ऊन उद्योग, इस्पात उद्योग, आदि। (स) **विश्लेषणात्मक उद्योग** (Analytical Industry)—इसके अन्तर्गत एक ही कच्चे पदार्थ से विश्लेषणात्मक क्रियाओं द्वारा अनेक उप-पदार्थों का निर्माण किया जाता है, जैसे—पेट्रोलियम शुद्ध करके पेट्रोल, गैसोलिन, डीजल तेल, मिट्टी का तेल आदि तैयार करना। (द) **एकीकरण उद्योग** (Integrated Industry)—इसके अन्तर्गत प्रक्रिया तथा एकीकरण दोनों ही क्रियाओं का समन्वय स्थापित करके निर्माण कार्य सम्पन्न किया जाता है, जैसे रबड़ एवं टायर।

(४) **संग्रह उद्योग** (Assembling Industry)—इसके अन्तर्गत उन उद्योगों को सम्मिलित किया जाता है जिनमें किसी वस्तु का निर्माण उसके विभिन्न भागों को प्राप्त करके एवं उन्हें जोड़कर किया जाता है, जैसे—साइकिल उद्योग, स्कूटर उद्योग, टाइपराइटर उद्योग, विशाल यन्त्र उद्योग आदि। भारत में विदेशी सहयोग से विभिन्न संग्रह उद्योग कार्य कर रहे हैं।

(५) **रचनात्मक उद्योग** (Constructive Industry)—रचनात्मक उद्योग से तात्पर्य ऐसे उद्योगों से है जो वस्तुओं का रूप परिवर्तित करके उन्हें अधिक उपयोगी तथा सुन्दर बना देते हैं, जैसे—भवन-निर्माण, सड़क निर्माण, नहर तथा बाँध-निर्माण आदि।

(II) संगठन का अर्थ (Meaning of Organisation)—

किसी भी कार्य को प्रारम्भ करने से पूर्व उसका उचित 'संगठन' कर लेना परम आवश्यक होता है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि एक हॉकी का मैच हो रहा है। उसमें एक टीम के खिलाड़ी तो सुव्यवस्थित रूप से अपने-अपने स्थानों पर खड़े होकर खेल रहे हैं और दूसरी

टीम के खिलाड़ी असंगठित तथा अव्यवस्थित हैं। वे मनचाहे स्थान पर जाकर खेलने लगते हैं। ऐसी दशा में यह निश्चित है कि विजय उसी टीम की होगी जो सुव्यवस्थित रूप में खेल रही है। ठीक यही बात व्यापार में भी होती है। यदि कोई व्यापारी अपने व्यापार को सुव्यवस्थित रूप से चलाता है तो उसे लाभ व सफलता दोनों अवश्य ही प्राप्त होंगे। इस प्रकार संगठन के अन्तर्गत हम उत्पादनों के सम्पूर्ण साधनों का 'व्यवस्थीकरण' करते हैं। प्रत्येक व्यवसायी का मुख्य दृष्टिकोण यह रहता है कि वह अपने व्यवसाय को इस प्रकार आयोजित करे कि उससे उसकी कार्यक्षमता, उत्पादन-शक्ति और लाभ में अधिक से अधिक वृद्धि हो।

संगठन की परिभाषायें (Definition of Organisation)—

कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई संगठन की परिभाषायें निम्नलिखित हैं :—

(१) **श्री उर्विक** (Urwick) के अनुसार, "किसी कार्य को पूरा करने के लिए किन-किन क्रियाओं को किया जाय, इसका निर्धारण करना एवं उन क्रियाओं को व्यक्तियों के बीच में वितरण की व्यवस्था करना ही 'संगठन' है।"

(२) **श्री मूने एवं रेले** (Mooney & Railey) के अनुसार "संगठन सामान्य हितों की पूर्ति के लिए बनाया गया मनुष्यों का समुदाय है।"

(३) **श्री जी० ई० मिलवर्ड** (G. E. Milward) के अनुसार, "संगठन से तात्पर्य उस साधन से है जोकि सम्पूर्ण कार्य को समुचित भागों में बाँटता है। विभिन्न भागों को एक पद के अन्तर्गत समूहबद्ध करता है और प्रत्येक कार्य समूह के लिए उपयुक्त व्यक्ति भी नियुक्त करता है तथा योजनानुसार कार्य किया जा रहा है या नहीं, इसकी देख-भाल करने के लिए योग्य व्यक्तियों की नियुक्ति करता है।"

(४) **श्री मैकफरलैण्ड** (Mc Farland) के अनुसार, "पहचानने योग्य मनुष्यों का एक समूह जो लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अपने प्रयत्नों का योगदान करते हैं, संगठन कहलाता है।"

(५) **आर० सी० डेविस** (R. C. Davis) के शब्दों, "संगठन मूलत: व्यक्तियों का एक समूह है जो कि नेता के निर्देशन में सामान्य उद्देश्य की पूर्ति हेतु सहयोग प्रदान करते हैं।"

(६) **किम्बाल एवं किम्बाल** (Kimball & Kimball)) के अनुसार—"विभिन्न विभागों एवं उनके कर्मचारियों के कार्यों की व्यवस्था करने एवं विभिन्न व्यक्तियों के मध्य सम्बन्धों को निश्चित करने की क्रिया को 'संगठन' कहते हैं।"

(७) **लैंसबर्ग तथा स्प्रीगल** (R. H. Lansburg & W. R. Spriegel) के अनुसार "संगठन एक उपक्रम में विभिन्न तथ्यों के मध्य सरचना सम्बन्धी सम्बन्ध है।"

(८) हैने के अनुसार, "किसी सामान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विशिष्ट अंगों का मैत्रीपूर्ण सयोजन ही संगठन कहलाता है।"

औद्योगिक संगठन की परिभाषा (Definition of Industrial Organisation)—

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि उत्पादन के विभिन्न साधनों को एकत्रित करने तथा उनमें समन्वय स्थापित करके काम लेने की कला को औद्योगिक विकास कहते हैं। **सरल शब्दों में, "उद्योग के विभिन्न साधनों अर्थात् भूमि, श्रम, पूँजी और साहस की प्रभावपूर्ण सहकारिता का नाम औद्योगिक संगठन है।" दूसरे शब्दों में, "उद्योग के विभिन्न साधनों—मनुष्य, मुद्रा एवं कच्चा माल—का प्रभावी सहकार्य स्थापित करने की क्रिया को औद्योगिक संगठन कहते हैं।"** औद्योगिक संगठन में क्रान्ति का आभास होता है, परन्तु वह वास्तव में क्रान्ति न होते हुये केवल उद्योग के लिए आवश्यक साधनों का समुचित योजना के अनुसार युक्तिपूर्ण नियोजन है।

औद्योगिक संगठन की संक्षिप्त ऐतिहासिक झलक
(A Brief History of Industrial Organisation)

औद्योगिक संगठन के बढ़ते हुए महत्त्व को देखकर सम्भवतः हमारी ऐसी धारणा हो सकती है कि यह एक नवीन वस्तु है, परन्तु वास्तव में इसमें नवीनता कुछ नहीं है। प्राचीन काल में भी उद्योग थे। उनमें भी आज की भाँति भूमि, श्रम तथा पूँजी एवं उनके समुचित सहकार्य की आवश्यकता थी। परन्तु अन्तर केवल इतना ही है कि प्राचीन काल मे छोटे पैमाने पर एवं पारिवारिक अथवा घरेलू प्रणाली (Domestic System) पर माँग के अनुसार काम होता था। उदाहरणार्थ, शिकारी युग में शिकारी को शिकार करने से पहले एक योजना बनानी पड़ती थी। पशुपालन-अवस्था में चरवाहे को इस बात का ध्यान रखना पड़ता था कि वह अपने जानवरों को किस स्थान पर ले जावे, जहाँ उनको घास मिल सके। कृषि युग में किसान को इन बातों पर ध्यान देना पड़ता है कि वह किस समय बीज डाले, किस समय पानी दे, किस समय फसल काटे आदि। हस्तकला युग में प्रत्येक कारीगर अपनी योग्यता के अनुसार कार्य करने लगा। कोई बढ़ई का काम करने लगा, कोई कुम्हार बन बैठा, तो कोई कपड़ा बुनने लगा। १५वीं शताब्दी में व्यापारी कारीगरों से कच्चे माल को तैयार करवाने लगे आदि-आदि। इसके विपरीत आजकल कारखाना पद्धति (Factory System) से बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है। उत्पादन की प्रणालियों में विशिष्टीकरण, प्रमापीकरण, वैज्ञानिक-प्रबन्ध तथा विवेकीकरण के सिद्धान्त अपनाये जाते हैं। यातायात एवं सन्देशवाहन के उन्नत साधनों ने तो औद्योगिक कलेवर को ही बदल दिया। गाँवों का स्थान नगरों ने ले लिया। व्यापार का क्षेत्र केवल राष्ट्रीय न रहकर अन्तर्राष्ट्रीय हो गया। 'विज्ञापन कला', 'विक्रय कला' तथा 'मनोविज्ञान' जैसे विषयों का औद्योगिक जगत में बोलबाला होने लगा।

औद्योगिक संगठन का महत्त्व
(Importance of Industrial Organisation)

वर्तमान युग औद्योगिक युग है। आज प्रत्येक राष्ट्र अपनी आय तथा समृद्धिशीलता बढ़ाने के लिए तेजी से औद्योगीकरण की ओर बढ़ रहा है एवं आर्थिक नियोजन में व्यस्त है। प्रबल औद्योगीकरण के कारण अनेक ऐसी समस्यायें उत्पन्न हो जाती हैं, जिनको न सुलझाने से समाज में अशान्ति फैल जाती है। **श्री कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) के अनुसार, "आज का उद्योगपति समाज की आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न नहीं करता, वरन् उसका ध्यान सदैव अधिकतम लाभ की ओर लगा रहता है और इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु वह उत्पादन भी करता है।" भविष्य में ऊँचे मूल्य पाने की अभिलाषा में कभी-कभी तो वे माल को दबाकर रख लेते हैं। कुछ प्रगतिशील राष्ट्रों ने तो मूल्य ऊँचे रखने के लिए गेहूँ के बोरे समुद्र तक में डुबाये। भले ही लोग त्राहि-त्राहि करें, किन्तु जनता को तड़पाने में ही उन्हें आनन्द आता है। **श्री बर्नार्ड शॉ** (Bernard Shaw) के शब्दों में, "पूँजीवाद में आत्मा नहीं होती। उनकी अभिलाषा 'लाभ' तथा उनका ईश्वर 'स्वर्ण' है।"[1] बेकारी तथा शोषण वर्तमान पूँजीवाद के ही अंकुर हैं। श्रमिक को अपने श्रम का उचित पुरस्कार नहीं मिलता। उद्योगों का संचालन जनतन्त्रात्मक रीति से न होकर एकतन्त्रात्मक रीति से होता है।

उपरोक्त दोषों को दूर करने के लिए 'औद्योगिक संगठन' का महत्त्व आज पहले से भी कहीं अधिक है। किस प्रकार समाज और श्रम के हित में औद्योगिक संगठन हो, श्रम और पूँजी

---

[1] "Capitalism has no conscience. Its ambition is 'Profit' and God is 'Gold."
—**Bernard Shaw.**

में किस प्रकार समन्वय स्थापित हो, एक उद्योगपति की राष्ट्र के प्रति क्या-क्या जिम्मेदारियाँ हैं आदि महत्त्वपूर्ण बातों का अध्ययन 'औद्योगिक संगठन' के अन्तर्गत होता है। अतः यह निर्विरोध कहा जा सकता है कि 'औद्योगिक संगठन' का अध्ययन प्रत्येक उद्योगपति एवं व्यवसायी के लिए आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। औद्योगिक संगठन की महत्ता के पक्ष में अग्रांकित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) **विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन**—सङ्गठन से विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है, क्योंकि संगठन के अन्तर्गत ही विभिन्न विभागों की स्थापना की जाती है तथा उनके अनुरूप ही कर्मचारियों का चयन किया जाता है। इससे विशेषज्ञों की नियुक्ति करना सम्भव होता है।

(२) **उत्पादन को प्रोत्साहन**—प्रभावी औद्योगिक सङ्गठन द्वारा बड़े पैमाने पर उत्पादन को प्रोत्साहन मिलता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन के होने से अनेक लाभ होते हैं, जिनसे कि सभी वाणिज्य एवं अर्थशास्त्र के छात्र परिचित होंगे। अतएव उन्हें यहाँ पर पुनः दुहराये जाने की आवश्यकता नहीं है। जैसे जैसे उत्पादन का आकार बढ़ता जाता है वैसे-वैसे प्रति इकाई उत्पादन व्यय कम होता जाता है।

(३) **समन्वय की स्थापना**—औद्योगिक सङ्गठन द्वारा उपक्रम के विभिन्न विभागों के मध्य समन्वय स्थापित करना सम्भव होता है। इससे प्रत्येक विभाग अपनी पूर्ण क्षमता से कार्य करने में समर्थ होता है।

(४) **प्रशिक्षण सुविधाओं के विकास में सहायक**—औद्योगिक सङ्गठन के अन्तर्गत विभिन्न विभागों की स्थापना की जाती है। इन विभागों के कुशल सञ्चालन हेतु प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, अतएव इसके लिये प्रशिक्षण सुविधाओं का विकास किया जाना नितान्त आवश्यक होता है। यही कारण है कि जो देश औद्योगीकरण के क्षेत्र में जितना अधिक प्रगतिशील है वहाँ पर प्रशिक्षण की सुविधाओं का उतना ही अधिक विकास हो गया है।

(५) **रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहन**—प्रभावी औद्योगिक सङ्गठन के अन्तर्गत कार्यों को प्राथमिकता के आधार पर व्यवस्थित किया जाता है। इससे रचनात्मक कार्यों को करने की शक्ति प्रोत्साहित होती है।

(६) **प्रशासन एवं प्रबन्धकीय क्षमता में वृद्धि**—सामान्यतः प्रशासन का कार्य नीति निर्धारित करना तथा प्रबन्ध का कार्य प्रशासन द्वारा निर्धारित नीतियों को कार्यान्वित करना होता है। कुशल संगठन द्वारा इन दोनों के कार्य में समन्वय स्थापित करके इनकी क्षमता में वृद्धि करने का प्रयास किया जाता है। अच्छा संगठन ही विभिन्न व्यक्तियों के मध्य उनकी योग्यतानुसार समस्त कार्य का विभाजन करता है।

(७) **मनोबल में वृद्धि**—अच्छे संगठन कर्मचारियों के मध्य उनकी योग्यता एवं कुशलता के अनुसार कार्य का विभाजन करके एवं विभिन्न प्रकार की प्रेरणायें (मौद्रिक तथा अमौद्रिक दोनों ही) प्रदान करके उनके मनोबल को ऊँचा उठाता है। इससे कर्मचारियों में सन्तुष्टता की भावना जाग्रत होती है तथा भ्रष्टाचार का उन्मूलन होता है।

(८) **अन्य लाभ**—कुशल एवं प्रभावी औद्योगिक संगठन द्वारा समय, श्रम-शक्ति, सामग्री तथा साधनों का अधिकतम एवं मितव्ययितापूर्ण उपयोग किया जाना सम्भव होता है।

भारत और औद्योगिक संगठन

भारत में औद्योगिक संगठन का महत्त्व—

भारत की वर्तमान औद्योगिक अर्थ-व्यवस्था को देखते हुए औद्योगिक संगठन के सिद्धान्तों और समस्याओं का अध्ययन करना अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों

में "हमारा देश विकास में पिछड़ा हुआ है, किन्तु उद्योग-धन्धे चलाने के लिये बहुत बड़ा क्षेत्र पड़ा है। अभी तक इस क्षेत्र में किसी का विशेषाधिकार नहीं है। आओ, आगे बढ़ें एवं सुनियन्त्रित योजना द्वारा देश को आगे बढ़ायें.............। यदि हम चाहते हैं कि देश से भुखमरी, गरीबी, दरिद्रता, अज्ञानता तथा शोषण का अन्त हो, श्रमिकों को पर्याप्त मजदूरी मिले, श्रम-पूँजी में समन्वय हो, राष्ट्रीय आय में वृद्धि हो, जन-साधारण का जीवन-स्तर उच्चतम हो, उपभोक्ताओं को सस्ती, सुन्दर तथा टिकाऊ वस्तुयें उपलब्ध हों तथा राष्ट्र सुख, शान्ति तथा समृद्धि के पथ पर अग्रसर हो, तो हमें **"औद्योगिक संगठन"** की शरण लेनी ही होगी।" वर्तमान विदेशी विनिमय संकट का एकमात्र समाधान औद्योगिक संगठन में ही निहित है।

औद्योगीकरण से भारत को लाभ—

भारतीय जनता का जीवन-स्तर अत्यन्त निम्न श्रेणी का है, जिसे ऊँचा उठाने के लिए देश की राष्ट्रीय सम्पत्ति में वेगपूर्ण ढङ्ग से वृद्धि करनी होगी। हमारी प्रति व्यक्ति आय भी अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। दरिद्रता अपना आसन जमाये हुए है। एक विद्वान के शब्दों में, **"किसी भी देश की दरिद्रता से सभी देशों की सम्पन्नता को खतरा होता है।"**[1] अतएव बेकारी, दरिद्रता, भुखमरी, निर्धनता, अज्ञानता जैसे दानवों का विनाश करने के लिये देश का औद्योगीकरण होना अनिवार्य है।

प्रशुल्क आयोग[2] के अनुसार औद्योगीकरण से भारत को निम्न लाभ होंगे :—

(१) **देश की सम्पत्ति में वृद्धि**—औद्योगीकरण से देश की उत्पादन-सम्पत्ति बढ़ेगी, जिससे देश की सम्पत्ति भी बढ़ेगी।

(२) **कृषि पर प्रभार में कमी**—कृषि के ऊपर जो वर्तमान जनसंख्या का प्रभार है वह कम हो जायगा।

(३) **बेकारी की समस्या का समाधान**—बेकारी की समस्या का समाधान होगा। उद्योग-धन्धों का विकास होने से नये-नये रोजगार के साधन उपलब्ध होंगे।

(४) **विनियोग शक्ति में वृद्धि**—कृषि उद्योग के वितरित (Scattered) लाभ की अपेक्षा उद्योगों के बढ़ते हुये लाभ से देश में पूँजी का निर्माण अधिक हो सकेगा, जिससे विनियोग शक्ति (Investment Capacity) बढ़ेगी।

(५) **मजदूरी में वृद्धि**—श्रमिकों की मजदूरी (Wages) में वृद्धि होगी।

(६) **सरकार की आय में वृद्धि**—औद्योगिक विकास के साथ जनता की आय बढ़ेगी। उद्योग व व्यापार का विस्तार होने से अधिक लाभ होगा, जिससे देश की कर-देय-क्षमता (Taxable Capacity) बढ़ कर सरकार की आय बढ़ेगी।

(७) **चरित्र-निर्माण**—इन लाभों का हितकर प्रभाव देश के चरित्र-निर्माण पर ही होगा, क्योंकि सुदृढ़ एवं अच्छे चरित्र-निर्माण के लिये देश का औद्योगिक जीवन एवं प्रत्येक व्यक्ति के लिये अवसर प्राप्त होना; ये दो बातें आवश्यक होती हैं।

उपरोक्त लाभों के अतिरिक्त भारत को औद्योगीकरण से निम्न लाभ भी होंगे :—

(८) **जीवन-स्तर ऊँचा उठना**—औद्योगीकरण से देश के सभी वर्गों की आय में वृद्धि होगी। राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होगी। इसके परिणामस्वरूप जनसाधारण का जीवन-स्तर भी ऊँचा उठेगा।

(९) **निर्यात में वृद्धि**—औद्योगीकरण पर जोर देने से भारत में निर्मित माल अन्य

---

1 "Poverty anywhere is a danger to prosperity everywhere."

2 Report of the Fiscal Commission.

देशों की तुलना में सस्ता पड़ेगा तथा उसकी किस्म में भी सुधार होगा। इन दोनों के होने से निर्यात में वृद्धि होगी तथा आयात कम होंगे।

(१०) **मितव्ययिता**—देश में औद्योगीकरण की गति तीव्र होने से पूँजी की माँग में वृद्धि होना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में ब्याज-दर में भी वृद्धि होगी। इसके परिणामस्वरूप लोग बचत करके ब्याज कमाने हेतु धन बैंक आदि में जमा करेंगे। इस प्रकार फिजूलखर्ची के स्थान पर मितव्ययिता होगी।

(११) **सन्तुलित औद्योगिक विकास**—आज देश में इस बात की आवश्यकता है कि उपभोक्ता उद्योग तथा पूँजीगत उद्योग दोनों के ही विकास पर समान महत्त्व दिया जाय, अर्थात् सन्तुलित औद्योगिक विकास पर बल दिया जाय। यह कार्य प्रभावी औद्योगिक सङ्गठन द्वारा ही सम्भव प्रतीत होता है।

(१२) **विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन**—कुशल औद्योगिक सङ्गठन द्वारा विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है, प्रशिक्षण की सुविधाओं का प्रसार होता है तथा प्रबन्ध-विज्ञान का विकास सम्भव हो जाता है। इन सभी की भारत में भारी कमी है।

(१३) **पंचवर्षीय नियोजन की सफलता**—भारत ने अपने आर्थिक विकास के लिए पंचवर्षीय नियोजन का सहारा लिया है। नियोजन की सफलता का एक आधारभूत स्तम्भ देश में नियोजित ढङ्ग से औद्योगिक विकास का होना है। इसके द्वारा देश से गरीबी, बेकारी, अकुशलता तथा दरिद्रता जैसे भीषण दानवों का उन्मूलन किया जाना सम्भव हो सकता है। औद्योगीकरण की सफलता बहुत कुछ सीमा तक प्रभावी औद्योगिक सङ्गठन पर निर्भर करती है।

भारत में औद्योगिक संगठन की समस्यायें—

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत को प्रभावी औद्योगिक सङ्गठन से अनेक लाभ होंगे। अतएव हमें औद्योगिक सङ्गठन के विकास पर जोर देना चाहिये, क्योंकि बिना औद्योगिक संगठन के औद्योगीकरण सम्भव नहीं है। किन्तु देश में पूर्ण औद्योगिक संगठन करने से पूर्व हमें उसकी समस्याओं तथा उनको हल करने के उपायों का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करना चाहिए, क्योंकि प्रगति के पथ पर आगे बढ़ाये हुये कदम को बाद में पीछे हटाने से लाभ की अपेक्षा हानि कहीं अधिक होती है।

भारत में औद्योगिक सङ्गठन की निम्नलिखित समस्यायें हैं :—

(१) **सङ्गठन की अपूर्णता**—भारत के औद्योगिक सङ्गठन में अनेक दोष हैं, जिससे व्यय अधिक होता है तथा माल की किस्म घटिया होती है। कुटीर तथा सङ्गठित उद्योगों के मध्य प्राय: सङ्घर्ष रहता है। उत्पादन के विद्यमान सभी साधनों को एकत्रित करना तथा उनसे काम लेना सबसे अधिक कठिन कार्य है। अत: आवश्यकता इस बात की है कि कुटीर तथा संगठित उद्योगों में समन्वय स्थापित हो। वे प्रतियोगी न होकर एक दूसरे के पूरक हों। व्यय को कम करने तथा माल की किस्म में सुधार करने के लिए वैज्ञानीकरण, विवेकीकरण, संयोजन तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था हो।

(२) **पूँजी की समस्या**—भारत आज औद्योगीकरण के दरवाजे पर खड़ा है, जिसके लिये उसे पर्याप्त पूँजी की आवश्यकता है। अब यह पूँजी कहाँ से लाई जाय ? क्या देश में पर्याप्त पूँजी उपलब्ध है ? इस सम्बन्ध में लोगों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोग कहते हैं कि देश में पूँजी का अभाव है। कुछ विशेषज्ञों का मत इसके विपरीत है। वे कहते हैं कि यहाँ पूँजी तो पर्याप्त है, केवल उसके एकत्रीकरण तथा उपयोग को प्रोत्साहन मिलना चाहिये। अतएव देश में छिपी हुई स्वर्ण एवं सम्पत्ति को विनियोग के लिए निकालना होगा तथा आवश्यकता पड़ने पर

देश के हित में यदि विदेशी पूँजी का आयात भी करना पड़े तो हमें उससे पीछे नहीं हटना चाहिये। यह खुशी की बात है कि भारत सरकार इसी नीति का अनुकरण कर रही है।

(३) **प्रशिक्षण की समस्या**—देश में औद्योगिक तथा तान्त्रिक प्रशिक्षण की सबसे अधिक कमी है, जिसके कारण उद्योगों का सर्वाङ्गीण विकास नहीं हो सका है, पर्याप्त पूँजी तथा मशीनें आदि उपलब्ध होने पर भी देश का औद्योगीकरण नहीं हो सकता, यदि कर्मचारी प्रशिक्षित न हों। कहावत है "नाच न जाने आँगन टेढ़ा" (A bad workman always quarrels with his tools.)। अतः देश में औद्योगिक तथा तान्त्रिक प्रशिक्षण की व्यवस्था करने हेतु उपयुक्त शिक्षण संस्थाएँ खोलने की आज देश में सबसे अधिक आवश्यकता है, क्योंकि यह भारतीय श्रम की अकुशलता का प्रधान कारण है। इस सम्बन्ध में भारत के कुछ प्रमुख उद्योगपतियों (जैसे बाटा, टाटा, बिड़ला, डी० सी० एम०) ने कुछ कदम उठाये हैं। आशा है कि अन्य उद्योग पति भी इनका अनुकरण करेंगे।

(४) **श्रम एवं पूँजी में वैमनस्य**—भारतीय उद्योगों में जहाँ एक तरफ तो श्रमिक हड़ताल व अन्य दुर्घटनायें करके उत्पादन को क्षति पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं तो दूसरी ओर निर्माता भी कोई न कोई बहाना तलाश करके कारखानों को बन्द कर देने की धमकी दे देते हैं। अतएव श्रम एवं पूँजी के बीच का यह सङ्घर्ष कम होने के स्थान पर बढ़ता ही चला जाता है। परिणामस्वरूप भारतीय उद्योगों के उत्पादन में शिथिलता आ जाती है, अतः जब तक उद्योग रूपी गाड़ी के दोनों पहिये अर्थात् श्रमिक एवं निर्माता सहकारिता से कार्य नहीं करेंगे, तब तक हमारे उद्योगों का कल्याण नहीं हो सकता। यह उत्पादनशीलता बढ़ाने के लिए अनिवार्य विषय है।

(५) **औद्योगिक सत्ता का केन्द्रीयकरण**—श्री अशोक मेहता के शब्दों में, "आज देश के समस्त उद्योग केवल २० पूँजीपतियों के हाथों में केन्द्रित हैं।" इस प्रकार ये मुट्ठी भर पूँजीपति लगभग ⅔ औद्योगिक आय के स्वामी हैं। इनके केन्द्रीयकरण को हटाने के लिये भारत सरकार ने प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली पर सन् १९५६ एवं १९६० में कड़े नियन्त्रण लगाये। जब इन प्रतिबन्धों से भी स्थिति में कोई विशेष प्रभाव होता दिखलाई नहीं दिया, तो सरकार को बाध्य होकर ३ अप्रैल, १९७० से प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली का उन्मूलन करने के लिए अधिनियम बनाना पड़ा।

(६) **योजनारहित स्थानीयकरण**—हमारे देश में उद्योगों का स्थानीयकरण निश्चित योजना के अनुसार नहीं हुआ है। परिणामस्वरूप कुछ क्षेत्रों में अति औद्योगीकरण हो गया तथा अन्य क्षेत्र उससे वंचित रह गये। उदाहरण के लिये, जहाँ बंगाल, महाराष्ट्र एवं मद्रास आदि में अनेक उद्योगों की स्थापना की गई वहाँ दूसरे राज्यों, जैसे—उत्तर प्रदेश, राजस्थान एवं मध्य प्रदेश की घोर उपेक्षा की गई है। इस बात को हमारे वर्तमान विधायक एवं मन्त्री भी स्वीकार करते हैं। आजकल उद्योगों के स्थानीयकरण में भी सामाजिक तथा रक्षात्मक परिस्थितियों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। वास्तव में आवश्यकता ऐसे संगठन की है, जिसके अन्तर्गत देश की सर्वतोन्मुखी प्रगति सम्भव हो तथा उद्योगों का उचित प्रादेशिक वितरण होकर राष्ट्रीय सम्पत्ति का समानता से वितरण हो।

(७) **विवेकीकरण एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध की आवश्यकता**—आधुनिक उद्योगों में विवेकीकरण एवं वैज्ञानिक प्रबन्ध का विशेष महत्त्व है, परन्तु भारत में इस कार्य के लिये अनेक असुविधायें हैं। कुछ उद्योगपति तो इस विषय से ही अनभिज्ञ हैं तथा अन्य उद्योगपतियों के पास उसके लिए पर्याप्त साधन नहीं। इसके अतिरिक्त अधिकांश उद्योग व्यक्तिगत आधारों पर सङ्-

(Organisation)। (३) निर्देशन (Direction)। (४) नियन्त्रण (Control)। (५) कर्मचारियों की भर्ती (Staffing)। उपर्युक्त सभी कार्यों का विस्तृत वर्णन किया जा चुका है, अतएव अब अलग से वर्णन किये जाने की आवश्यकता नहीं है।

औद्योगिक प्रबन्ध के सिद्धान्त
(Principles of Industrial Management)

प्रबन्ध औद्योगिक सफलता की कुंजी है। आज के विशिष्टीकरण तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन के युग में कुशल प्रबन्धक की सबसे अधिक आवश्यकता है। नित्य होने वाले नये-नये आविष्कारों ने प्रबन्ध समस्या को और भी जटिल बना दिया है। औद्योगिक प्रबन्ध के प्रमुख सिद्धान्त निम्नलिखित हैं:—

(१) **प्रयोग**—प्रयोग एवं अनुसंधान वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रमुख अंग हैं। काम का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिये विभिन्न प्रकार के प्रयोग (Experiments) किये जाते हैं। श्री टेलर (Taylor) के अनुसार, ये प्रयोजन निम्न तीन प्रकार के होते हैं:—(i) समय अध्ययन (Time Study); (ii) गति अध्ययन (Motion Study); तथा (iii) थकान अध्ययन (Fatigue Study)।

(२) **योजना**—जैसा कि पहले कहा जा चुका है, प्रबन्ध के अन्तर्गत प्रत्येक कार्य एक पूर्व-निर्धारित योजना के अनुसार सम्पन्न होता है। इसके लिये प्रत्येक औद्योगिक इकाई में एक विभाग होता है। अगले दिन क्या कार्य होगा, इसकी योजना पहले ही तैयार कर ली जाती है।

(३) **कर्मचारियों का चुनाव तथा उनकी शिक्षा**—प्रबन्ध में कर्मचारियों के चुनाव तथा उनकी शिक्षा पर विशेष जोर दिया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य नहीं कर सकता, अतएव अधिक कार्यक्षमता प्राप्त करने के लिये श्रमिकों का चुनाव वैज्ञानिक आधार पर किया जाने के साथ-साथ उनकी शिक्षा के लिये भी उचित व्यवस्था की जाती है। कर्मचारियों का चुनाव करते समय उनकी व्यक्तिगत योग्यता तथा काम की इच्छा दोनों पर ही ध्यान दिया जाता है।

(४) **प्रमापीकरण**—श्रमिकों की कुशलता एवं कार्यक्षमता तभी अधिक हो सकती है जब उनको कार्य करने के लिये अच्छे से अच्छे औजार दिये जायें। अतएव इसमें न केवल श्रमिकों को प्रमापित (Standardised) किस्म के औजार दिये जाते हैं बल्कि काम करने की प्रामाणिक विधियों का भी प्रयोग किया जाता है।

(५) **वस्तुओं का समुचित चुनाव एवं उपयोग**—निर्माण के उपयोग में आने वाले कच्चे माल का चुनाव भी अन्य वस्तुओं की भाँति वैज्ञानिक रीति से किया जाता है। यही नहीं, वस्तुओं के उपयोग करने की नीति भी निश्चित होती है, जिससे अपव्यय न हो।

(६) **कारखाने का स्वास्थ्यप्रद एवं आनन्दकर वातावरण**—श्रमिक की थकान दूर करने के लिए तथा काम करने में उनकी रुचि जाग्रत करने के लिये कारखाने का वातावरण स्वास्थ्यप्रद एवं प्रसन्नतापूर्ण होना परम आवश्यक है। इस हेतु श्रमिकों को आवश्यक सुविधाएँ देने का भी आयोजन होता है; जैसे—स्नानगृह, जलपानगृह, वाचनालय, शिशु-गृह, झरोखे एवं आवश्यकतानुसार तापक्रम आदि।

(७) **श्रम एवं प्रबन्ध में सहकार्य**—श्रम एवं पूँजी का आपसी तनाव सफल प्रबन्ध के लिये हानिकारक है, इसलिए प्रबन्ध का मूल उद्देश्य यह भी है कि श्रम और पूँजी में स्वस्थ सम्बन्ध स्थापित हो।

(८) **मजदूरी का लालच एवं पारितोषण व्यवस्था**—उचित मजदूरी देने का प्रलोभन मजदूरों की उत्पादनशीलता बढ़ाने का सर्वोत्तम साधन है, जिसका समुचित आयोजन प्रबन्ध में

होना चाहिये । अधिक कार्यक्षमता तथा अधिक उत्पादन की दशा में पारितोषण-वितरण की भी व्यवस्था होनी चाहिये ।

(९) **सङ्गठन पद्धति**—वैज्ञानिक प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य न्यूनतम् व्यय पर अधिकतम लाभ प्राप्त करना होता है । मितव्ययिता उसी समय मिल सकती है जबकि कारखाने में उचित संगठन तथा विभिन्न कार्यों का निरीक्षण सुचारु रूप से होता रहे ।

(१०) **मानसिक क्रान्ति**—वैज्ञानिक प्रबन्ध का अन्तिम सिद्धान्त श्रमिकों तथा नियोक्ताओं के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन करना है । इसके अनुसार नियोक्ता श्रम को उत्पादन का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग मानकर श्रमिकों को उचित स्थान देता है तथा श्रमिक उद्योग को निजी इकाई मानकर पूर्ण परिश्रम से कार्य करते हैं ।

फ्रान्सीसी विद्वान **श्री हेनरी फयोल** (Henry Fayol) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'General and Industrial Management' (Page १९-४२) में प्रबन्ध के निम्न १४ सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है :—

(१) **अनुशासन** (Discipline)—प्रत्येक क्षेत्र में अनुशासन की आवश्यकता होती है । इससे नियमों का पालन होता है तथा लोग पूरे परिश्रम से कार्य करते हैं । यह बहुत कुछ अच्छे नेतृत्व पर निर्भर करता है । यदि नेतृत्व अच्छा होगा तो अनुशासन भी कायम रहेगा । एक स्थान पर श्री फयोल ने यहाँ तक कहा है कि "बुरा अनुशासन एक बुराई (Evil) है जोकि प्रायः बुरे नेतृत्व से आती है ।"

(२) **श्रम-विभाजन** (Division of Labour)—सफलता प्राप्त करने के लिये श्रम-विभाजन की आवश्यकता होती है । इससे श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है तथा उद्योग को विशिष्टीकरण के लाभ प्राप्त होते हैं ।

(३) **आदेश की एकता** (Unity of Command)—आदेश में एकता होनी चाहिये । इसके लिये यह आवश्यक है कि सम्बन्धित कर्मचारी को किसी विशेष कार्य के करने के लिये एक ही व्यक्ति से आदेश मिले ।

(४) **पदाधिकारियों में सम्पर्क** (Scaler Chain)—सभी पदाधिकारियों के मध्य सीधा सम्पर्क होना चाहिये । आज्ञा देने व लेने के मार्ग बिल्कुल स्पष्ट होने चाहिये । इस सम्बन्ध में सङ्गठन चार्टों को बना लेना हितकर रहता है ।

(५) **कर्मचारियों में स्थायित्त्व का होना** (Stability of tenure of Personnel)—प्रशासन की दृष्टि से कर्मचारियों का नित्य-प्रति बदला जाना सर्वथा अहितकर रहता है । ऐसा करने से असफलता का सामना करना पड़ता है । अतएव कर्मचारियों में स्थायित्त्व का होना नितान्त आवश्यक है ।

(६) **कर्मचारियों को प्रेरणा** (Initiative)—कर्मचारियों को उचित प्रेरणा देने की व्यवस्था होनी चाहिये, ताकि वे नयी-नयी योजनायें प्रस्तुत कर सकें तथा उन्हें सफल बनाने में अपना सर्वस्व न्यौछावर कर सकें ।

(७) **कर्मचारियों को पुरस्कार** (Remuneration of Personnel)—किये गये कार्य के लिये कर्मचारियों को पुरस्कार इस प्रकार से दिया जाना चाहिए, जिससे कि नियोक्ता तथा कर्मचारी दोनों को ही सन्तोष का अनुभव हो । आधुनिक व्यावसायिक जगत में कर्मचारियों को पुरस्कार देने की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित हैं । व्यवसाय की प्रकृति, कर्मचारियों के गुण तथा विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार कर्मचारियों को पुरस्कार देने की किसी भी ऐसी विधि को अपनाना चाहिए, जिससे दोनों को लाभ हो ।

(८) **प्रबन्ध की एकता** (Unity of Management)—प्रबन्ध में एकता होनी चाहिए। इसके लिए यह आवश्यक है कि एक ही उद्योग की समान लक्ष्य वाली विभिन्न क्रियाओं को, जहाँ तक सम्भव हो, एक ही प्रबन्धक के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए, ताकि उनके कार्यों का समन्वय किया जा सके।

(९) **अधिकार तथा दायित्व** (Authority and Responsibility)—अधिकार के साथ-साथ दायित्व भी रहता है। एक अधिकारी अपने दायित्व को भली प्रकार निभा सके, इसीलिए उसे अधिकार प्रदान किये जाते हैं।

(१०) **व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सामान्य हित की अधीनता** (Subordination of individual interest to general interest)—इस सिद्धान्त के अनुसार व्यक्तिगत हितों की अपेक्षा सामान्य हितों को प्राथमिकता मिलती है।

(११) **केन्द्रीयकरण** (Centralisation)—इसके अन्दर यह व्यवस्था रहती है कि श्रमिकों की योग्यताओं का अधिकतम लाभ उठाने के लिए केन्द्रीयकरण किस अनुकूलतम् स्तर तक रखा जाय।

(१२) **निर्देश की समानता** (Unity of Direction)—कार्य को सुचारु रूप में चलाने के लिये यह आवश्यक है कि निर्देश की समानता हो।

(१३) **न्याय** (Equity)—कर्मचारियों में भेद-भाव करने के स्थान पर न्याय के प्राथमिक सिद्धान्तों का पालन किया जाना चाहिये।

(१४) **सहयोग** (Espirit de corps)—सफलता प्राप्त करने हेतु सहयोग की भावना से काम लिया जाना चाहिये। 'फूट डालो और राज्य करो' के स्थान पर एकता की भावना पर बल दिया जाना चाहिये।

कर्नल सी० एल० उर्विक (Col. Lyndall Urwick) ने प्रबन्ध के निम्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है :—

(१) **उद्देश्य का सिद्धान्त** (Principle of Objective)—सभी क्रियाओं के उद्देश्यों का पूर्ण एवं स्पष्ट रूप में वर्णन किया जाना चाहिए।

(२) **नियन्त्रण का सिद्धान्त** (Principle of Control)—उपक्रम की विभिन्न क्रियाओं पर निश्चित उद्देश्यों के आधार पर नियन्त्रण स्थापित किया जाना चाहिये।

(३) **निर्देशन का सिद्धान्त** (Principle of Direction)—संगठन को क्रियाशील बनाने के लिये सभी व्यक्तियों की क्रियाओं को सही ढंग से निर्देशित किया जाना चाहिये।

(४) **सङ्गठन का सिद्धान्त** (Principle of Organisation)—विभिन्न व्यक्तियों का सहयोग प्राप्त करने के लिये संगठन सम्बन्धी निश्चित सिद्धान्तों का पालन किया जाना चाहिए।

(५) **अनुसन्धान का सिद्धान्त** (Principle of Research)—इस सिद्धान्त के अनुसार इसमें पूर्वानुमान से लेकर योजना निर्माण तक की सभी क्रियाओं को सम्मिलित किया जाना चाहिये।

(६) **प्रयोग का सिद्धान्त** (Principle of Experiment)—इस सिद्धान्त के अनुसार संगठन में सुधार करने एवं उसमें गतिशीलता लाने के लिये समय-समय पर विभिन्न प्रयोग किये जाने चाहिए।

औद्योगिक प्रबन्ध सम्बन्धी विचारधारा का उद्गम तथा विकास
(Evolution and Development of Management)

औद्योगिक प्रबन्ध सम्बन्धी विचारधारा का उद्गम तथा विकास मानव के विकास के साथ-साथ हुआ है। जैसे-जैसे मानव सभ्यता की ओर अग्रसर होता गया वैसे-वैसे औद्योगिक प्रबन्ध

सम्बन्धी विचारधारा का विकास होता गया। अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से औद्योगिक प्रबन्ध के उद्गम तथा विकास के इतिहास को क्रमानुसार निम्न पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है :—(१) प्रबन्ध मनोवैज्ञानिक विधि के रूप में (Management as a Psychological Process); (२) प्रबन्ध कला के रूप में (Management as an Art); (३) प्रबन्ध विधिवत् व्यवहार के रूप में (Management as a Systematised Practice); (४) प्रबन्ध विज्ञान के रूप में (Management as a Science); तथा (५) प्रबन्ध कला तथा विज्ञान दोनों के रूप में (Management as both an Art and a Science)।

(१) **औद्योगिक प्रबन्ध मनोवैज्ञानिक विधि के रूप में**—यदि हम इतिहास के पृष्ठ पलटें तो विदित होगा कि प्राचीन काल में यूरोप, अमेरिका तथा अन्य सभी देशों में शिल्पकारों व कारीगरों का बोलबाला था। वे बाजार से कच्चा माल नगद अथवा उधार क्रय करके अपने घर पर या तो स्वयं ही अथवा अपने परिवार के सदस्यों की सहायता से सीमित मात्रा में माल निर्मित करते थे और उसे बाजार में बेचकर लाभ कमा लिया करते थे। लाभ का सभी अथवा अधिकांश भाग केवल मजदूरी के रूप में ही होता था। निर्मित माल का विक्रय प्राय: उन्हीं लोगों को करते थे, जिनसे कि वे कच्चा माल खरीदते थे। कारोबार का क्षेत्र उनकी स्वयं की कुशलता पर निर्भर रहने के कारण सीमित था। प्रो० अनविन (Pro. Unwin) के शब्दों में "........उस समय का कारीगर, मजदूर, निरीक्षक, पूँजीपति, व्यवसायी तथा दूकानदार सब कुछ था।" इस प्रकार इस युग में लोगों को प्रबन्ध की न तो कोई जानकारी ही थी और न उसकी कोई आवश्यकता ही अनुभव की गई थी।

औद्योगिक क्रान्ति और प्रबन्ध (Impact of Industrial Revolution on Management)—यूरोप में औद्योगिक क्रान्ति के होने से मशीनों का प्रचलन हुआ। सहस्रों व्यक्तियों ने अपने-अपने यहाँ मशीनें लगाकर कारखानों की स्थापना की और प्रथम बार स्वयं ही उनका प्रबन्ध किया। इस समय तक कारखानों का प्रबन्ध करने के सम्बन्ध में न तो उन्हें निजी ज्ञान ही हो पाया था और न उन्हें परामर्श देने के लिये कोई दूसरा व्यक्ति ही था। अतएव उन्हें बाध्य होकर केवल अपनी पैदायशी योग्यता (Inborn ability) तथा कुशलता पर ही निर्भर रहना पड़ा। इससे लोगों के हृदय में यह विचारधारा अपना घर कर गई कि प्रबन्ध प्राथमिक रूप में और कुछ न होकर केवल मनोवैज्ञानिक विधि ही है। मानव अपनी निजी योग्यता तथा कुशलता के आधार पर ही प्रबन्ध का कार्य करता है। इस विचारधारा से प्रभावित होकर लोग यहाँ तक कहने लगे कि प्रबन्धक, कवियों व कलाकारों के समान पैदा होता है, बनाया नहीं जा सकता। प्रबन्ध सम्बन्धी इस विचारधारा ने मानव के मस्तिष्क पर एक ऐसी अमिट छाप लगा दी, जिसके कारण इतने वर्षों के व्यतीत हो जाने पर कुछ लोग आज भी यही कहते हैं कि प्रबन्धक का उसके पूर्व जन्म के संस्कारों से गहरा सम्बन्ध होता है। भारत में वर्षों से चली आ रही प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली इस विचारधारा का जीता-जागता चित्रण है।

(२) **औद्योगिक प्रबन्ध कला के रूप में**—उपरोक्त विचारधारा के साथ-साथ एक दूसरी विचारधारा के भी लोग थे, जिन्होंने इस बात को स्वीकार करने से स्पष्ट शब्दों में इन्कार कर दिया कि औद्योगिक प्रबन्ध केवल मनोवैज्ञानिक विधि ही है। उन्होंने यह तर्क प्रस्तुत किया कि यदि उपरोक्त कथन को सत्य मान भी लिया जाय तो उच्चकोटि के प्रबन्धक केवल जन्म के संस्कारों के आधार पर ही हो सकते हैं। किन्तु व्यवहार में यह देखा गया है कि यह आवश्यक नहीं कि उच्चकोटि के प्रबन्धकों की सन्तान अपने पिता के समान ही योग्य एवं कुशल हो। अनुभव तो कुछ और ही कहता है। कभी-कभी तो ऐसे व्यक्तियों की सन्तान पूर्णतया अयोग्य एवं अकुशल होती है। इससे यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि प्रबन्ध करने की योग्यता का सम्बन्ध जन्म के संस्कारों से होना

आवश्यक नहीं होता। इसके विपरीत प्रबन्ध करने की योग्यता को प्राप्त करना पड़ता है तथा बाद में धीरे-धीरे उसका विकास करना पड़ता है। इससे यह स्वाभाविक ही है कि विभिन्न व्यक्तियों में प्रबन्ध करने की योग्यता एक समान न होकर अलग-अलग होगी। इसका अर्थ यह हुआ कि समान प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के तरीके एक ही समान न होकर विभिन्न व्यक्तियों में विभिन्न प्रकार के तरीके होंगे। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विभिन्न प्रबन्धक समान प्रबन्ध सम्बन्धी समस्याओं का समाधान एक ही प्रकार से न करके विभिन्न प्रकार से करेंगे। इस निष्कर्ष को स्वीकार करने का अर्थ यह हुआ कि प्रबन्ध मनोवैज्ञानिक विधि न होकर केवल कला है। इस कला के द्वारा प्रबन्धक को मनुष्यों का प्रबन्ध करना पड़ता है।

(३) **औद्योगिक प्रबन्ध विधिवत व्यवहार के रूप में**—जब तक प्रबन्धक अपनी समस्याओं का समाधान अपने निजी गुणों के आधार पर करता रहा तब तक प्रबन्ध कला के रूप में माना जाता रहा। किन्तु जैसे-जैसे समय व्यतीत होने के साथ-साथ उत्पादन की प्रणाली जटिल होती गई वैसे-वैसे उनके सामने प्रबन्ध की भी नयी-नयी समस्यायें आती गयीं। इनका समाधान करना उनके लिये मुश्किल हो गया। अतएव उन्होंने अपने अन्य साथियों के साथ समान समस्याओं का परामर्श करना प्रारम्भ किया। इस प्रकार प्रबन्धकों ने प्रबन्ध सम्बन्धी पुरानी विधियों को त्याग कर केवल उन्हीं विधियों को अपनाना शुरू किया, जिनमें व्यवहार के द्वारा सफलता प्राप्त हो चुकी थी अथवा जो व्यवहार में सफल रही थीं। इस प्रकार भारी संख्या में प्रबन्ध सम्बन्धी लाभदायक व्यवहार प्रचलन में आये। परिणामस्वरूप प्रबन्ध विधिवत व्यवहार कहलाने लगा।

(४) **औद्योगिक प्रबन्ध व्यवहार के रूप में**—धीरे-धीरे विज्ञान के अद्‌भुत चमत्कार ने प्रबन्धकों को भी अपनी ओर आकर्षित किया। इसके निम्नलिखित कारण थे—(i) व्यावहारिक प्रबन्धकों का यह कहना था कि प्रमाणित व्यवहार का क्रम प्रबन्ध में भी लागू किया जाय। (ii) वैज्ञानिकों की यह कोशिश थी कि प्रबन्ध के क्षेत्र में भी वैज्ञानिक तरीकों को लागू किया जाय।

प्रबन्ध के क्षेत्र में विज्ञान लागू करने की दिशा में सबसे पहला कदम श्री चार्ल्स बैबेज (Charles Babbage) ने उठाया। ये इङ्गलैंड के प्रसिद्ध गणितशास्त्री थे। बाहर से उद्योगों का अध्ययन करने के पश्चात् उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि वैज्ञानिक तरीकों को कारखाने की क्रियाओं में आसानी से लागू किया जा सकता है। अतएव उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि अनुमानित आधारों के स्थान पर वैज्ञानिक तरीकों को लागू किया जाय। इनको लागू करने का भार सर्वश्री एफ० डब्ल्यू० टेलर (F. W. Taylor) पर छोड़ा गया। इन्होंने अपना जीवन सन् १८७८ में अमेरिकन मिडवैल कम्पनी में एक सामान्य श्रमजीवी के रूप में आरम्भ किया, किन्तु क्रमशः उन्नति करते-करते छः वर्ष के उपरान्त, अर्थात् सन् १८८४ में उसी कम्पनी के प्रमुख इन्जीनियर बन गये। अपने अनुभव से वे इस निर्णय पर पहुँचे कि श्रमिक की उत्पादन क्षमता बहुत कम है, जिसको बढ़ाने के लिये वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग अनिवार्य है। इस प्रकार वे पहले व्यक्ति थे जिन्होंने इस बात पर जोर दिया कि प्रबन्ध एक विज्ञान है। एक विद्वान के शब्दों में—"बिना विज्ञान के डॉक्टर केवल एक जादूगर डॉक्टर ही बनकर रह जाता है, बिना सिद्धान्तों के कार्य करने वाला तान्त्रिक विशेषज्ञ एक अनिश्चित कर्मचारी बन जाता है और अधिशासी व्यवसायी अधिकारी को, जो बिना सिद्धान्तों के प्रबन्ध करता है, अपने भाग्य पर निर्भर रहना पड़ता है।" हमारे इस कथन से विज्ञान का प्रबन्ध में महत्त्व और अधिक स्पष्ट हो जाता है।

(५) **औद्योगिक प्रबन्ध कला व विज्ञान दोनों के रूप में**—प्रबन्ध एक विज्ञान है, यह पक्ष प्रबल होते हुये भी बहुत से प्रबन्धकों का यही कहना है कि प्रबन्ध में कला का एक प्रभावशाली तत्त्व मौजूद है। प्रबन्ध के विकास की आधुनिक प्रवृत्तियों को देखते हुये यह कथन

सही भी प्रतीत होता है। इसका कारण यह है कि कला की भाँति प्रबन्ध में भी सफलता का अन्तिम मापदण्ड लक्ष्य की प्राप्ति है। एक प्रबन्धक कितना भी ज्ञानी क्यों न हो, किन्तु यदि वह अपने लक्ष्यों की प्राप्ति में असफल रहता है तो वह कुशल प्रबन्धक कदापि नहीं हो सकता। जब तक इस प्रकार की विचारधारा कायम रहेगी तब तक प्रबन्ध पूर्ण रूप में न तो विज्ञान ही कहलायेगा और न कला ही। अतएव यह कहा जाता है कि प्रबन्ध कला भी है और विज्ञान भी।

मध्य युग में औद्योगिक प्रबन्ध

मध्य-युग औद्योगिक प्रबन्ध का आदिकाल माना जाता है। वैसे तो औद्योगिक परम्परा उतनी ही पुरानी है जितनी कि सभ्यता। प्राचीन काल में इसका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं था। अधिकांश लोग ग्रामीण क्षेत्रों में ही निवास करते थे। प्रत्येक गाँव प्रायः आत्म-निर्भर होता था। समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति गाँव में ही हो जाया करती थी। व्यापार अत्यन्त सीमित था। पुराने उद्योग स्थानीय उत्पादन तथा वितरण करते थे। कारखाने नहीं के बराबर थे। उत्पादन विधियाँ तथा औजार अत्यन्त सरल थे। इनको काम में लाने के लिए विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं होती थी। प्रो० अनविन के अनुसार, **"मध्यकालीन कारीगर, मजदूर, निरीक्षक, पूँजीपति, व्यापारी तथा दूकानदार सब ही कुछ था।"**[1] कारीगर के घर की कुटिया अथवा उसका घर ही कारखाना था तथा काम करने वाले व्यक्ति किराये के नहीं, वरन् परिवार के सदस्य ही हुआ करते थे। जो कुछ उत्पादन होता था उसका वे स्वयं उपभोग कर लिया करते थे और यदि कुछ शेष बचता था तो उसका निकटवर्ती लोगों के हाथ तुरन्त विक्रय हो जाया करता था। उत्पादन क्रिया तथा माल की किस्म प्रायः एक ही रहती थी और उसमें परिवर्तन नहीं होता था, संक्षेप में, उत्पादन के सभी साधनों का प्रतीक वह स्वयं ही होता था, अर्थात् इकाइयाँ छोटी होने से 'साहसी' व्यक्ति ही प्रशासन, सङ्गठन तथा प्रबन्ध कर लेता था। पुत्र अपने पिता से व्यावसायिक ज्ञान प्राप्त करता था और अपनी मृत्यु के पूर्व उसे अपने पुत्र को सौंप जाता था।

गिल्ड प्रणाली (Guild System)—

मध्यकालीन औद्योगिक प्रबन्ध के इतिहास में 'गिल्ड प्रणाली' का नाम सदैव अमर रहेगा। सर्वश्री **हैमण्ड** (Hammound) के शब्दों में, इङ्गलैंड, फ्रान्स व इटली में मध्य युग के औद्योगिक प्रबन्ध का इतिहास वास्तव में इन्हीं गिल्डों का इतिहास है।[2] १२वीं तथा १३वीं शताब्दी में प्रायः सभी नगरों का जीवन 'व्यापारिक गिल्डों' द्वारा ही संचालित होता था। 'व्यापारिक गिल्ड' से हमारा अभिप्राय विभिन्न व्यवसायों में लगे हुए लोगों तथा कारीगरों की संस्थाओं से है। व्यापारिक गिल्ड नगर निवासी व्यक्तिगत व्यापारियों की संस्थायें थीं, जो स्वयं निर्मित माल अथवा दूसरे निर्माताओं से क्रय किये गये माल की बिक्री किया करते थे। इन संस्थाओं का प्रमुख उद्देश्य अपने जिले में व्यापार के क्षेत्र में सदस्यों का एकाधिकार कायम रखना तथा अपने सदस्यों एवं उनके परिवार के लोगों की जान-माल की रक्षा करना था। व्यापारिक क्षेत्र में गिल्डों को बड़े विशेषाधिकार प्राप्त थे। इनके आदेशों का उल्लंघन करने वालों पर जुर्माना किया जाता था तथा निरन्तर आज्ञोल्लंघन पर सदस्यता तक से अलग किया जा सकता था। इन गिल्डों के सदस्यों की साख विदेशों में बहुत अच्छी होती थी, क्योंकि सदस्यों के ऋणों के भुगतान का उत्तरदायित्व इन्हीं पर होता था। परम्परागत प्रणाली का बोलबाला था। पिता की मृत्यु के पश्चात् सबसे बड़ा लड़का गिल्ड का सदस्य बनता था।

---

[1] **Prof. Unwin** : *Industrial Organisation Sixteenth and Seventeenth Century.*
[2] **Hammound and Hammound** : *Rise of Modern Industry.*

कारीगरों की गिल्ड (Craft Guilds)—

१३वीं शताब्दी में व्यापारिक गिल्डों का पतन होना प्रारम्भ हो गया। अतएव उनके स्थान पर 'कारीगरों की गिल्ड़ें' बनाना शुरू हुआ अर्थात् व्यापारिक गिल्डों का स्थान 'कारीगरों की गिल्डों' ने ग्रहण करना शुरू कर दिया। औद्योगिक प्रबन्ध की दिशा में यह सबसे प्रथम एवं महत्त्वपूर्ण कदम था। कारीगरों की गिल्डों में केवल एक ही पेशे वाले कारीगर सदस्य हो सकते थे। व्यापारियों को इसमें कोई भी स्थान प्राप्त न था। इस प्रकार यहाँ से विशिष्टीकरण का भी उद्‌गम हुआ। विना गिल्ड का सदस्य बने, कोई भी व्यक्ति स्वतन्त्र रूप से उस धन्धे को नहीं कर सकता था।

कर्मचारियों का विभाजन—

इस युग के औद्योगिक कर्मचारियों को निम्न तीन भागों में बाँटा जा सकता है :—

(१) **सीखने वाले** (Apprentices)—वे लोग जो किसी कारीगर के नियन्त्रण में शिष्य के रूप में काम सीखते थे 'सीखने वाले' कहलाते थे। काम सीखने की अवधि ७ वर्ष होती थी। इस अवधि के उपरान्त वे उस काम करने के योग्य अर्थात् अधिकारी माने जाते थे। नियोक्ता (Employer) सीखने वाले के लिये भोजन तथा वस्त्र की व्यवस्था करता था, उसके बदले में उनको काम करना पड़ता था।

(२) **श्रमिक** (Journey Men)—सीखने वाले (Apprentice) सीखने की अवधि (अर्थात् ७ वर्ष) के पूरा हो जाने पर 'श्रमिक' या 'मजदूर' बन जाते थे। चूँकि उनके पास धन की कमी होती थी, अतः वे स्वतन्त्र रूप से काम करने में असमर्थ थे। अतएव अपना पालन-पोषण करने हेतु उन्हें किसी कारीगर के यहाँ काम करना पड़ता था।

(३) **कारीगर** (Crafts Men)—जिन लोगों के आर्थिक साधन ठीक थे, वे काम सीखने के पश्चात् अपनी स्वतन्त्र दूकान खोल लिया करते थे। ऐसे व्यक्ति 'कारीगर' कहलाते थे। इन्हें शिष्य रखने का अधिकार था तथा वे गिल्ड के सदस्य बन सकते थे।

गिल्डों के अधिकार एवं कर्त्तव्य (Rights and Duties of Guilds)—

इनके अधिकार तथा कर्त्तव्य निम्न थे :—(१) माल की किस्म, मूल्य, बिक्री का स्थान, श्रमिकों के काम के घण्टे तथा काम की अन्य शर्तें सभी कुछ निर्धारित करना। (२) एक ही पेशे के लोगों में सहयोग एवं मैत्री की भावना उत्पन्न करना। (३) वस्तुओं की किस्म तथा काम का ऊँचा स्तर कायम करके साख में वृद्धि करना। (४) बाहरी लोगों से अपने पेशे के लोगों की रक्षा करना। (५) सदस्यों को सामाजिक सुरक्षा प्रदान करना अर्थात् बीमारी, बेरोजगारी अथवा अन्य किसी घटना के घट जाने पर आवश्यक सहायता पहुँचाना। उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि गिल्डों को अपने धन्धे में एकाधिकार प्राप्त था तथा उनकी आज्ञा कानून के तुल्य समझी जाती थी।

गिल्डों का पतन—

१५वीं शताब्दी तक गिल्डों का पतन बड़ी तेजी से आरम्भ हो गया। उनका स्थान धीरे-धीरे राज्य ने ले लिया। कारीगर गिल्ड की पाबन्दियों से मुक्त होना चाहते थे। गिल्डों के पतन के मुख्यतया निम्न कारण थे :—(१) **व्यापार का विस्तार**—विज्ञान एवं ज्ञान की प्रगति के साथ-साथ जैसे-जैसे औद्योगिक एवं व्यावसायिक उन्नति हुई वैसे-वैसे गिल्डों की उपयोगिता कम होती गई। बढ़ते हुये बाजारों की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिये विभिन्न किस्मों के माल की जरूरत थी। उत्पादन विधियों में भी परिवर्तन जरूरी था। इसके विपरीत गिल्ड परम्परावादी थे। (२) **आपसी मतभेद एवं पार्टीबन्दी**—गिल्डों के अन्दर आपसी मतभेद तथा पार्टीबन्दी पनपने लगी। **हेमण्ड** के शब्दों में, "यह कलह गरीब तथा अमीर कारीगरों, मालिक तथा मातहत

कारीगरों, व्यापारिक तथा औद्योगिक पक्षों एवं एक तथा दूसरे धन्धे के बीच में थी।[1] (३) **असहयोग आन्दोलन**—सीखने वालों (Apprentices) तथा मजदूरों (Journey men) के विरुद्ध नियम कड़े कर दिए गए। अतएव उन्होंने गिल्डों को सहयोग देना बन्द कर दिया। (४) धीरे-धीरे सरकार ने गिल्डों के जो राजनैतिक अधिकार थे (जैसे नगरों का प्रबन्ध) अपने अधिकार में ले लिये। इस प्रकार १५वीं शताब्दी के अन्त तक गिल्डों का पूर्णतः पतन हो गया।

भारतीय गिल्डें—जाति पंचायतें—

जो स्थान यूरोप के औद्योगिक क्षेत्र में गिल्डों को प्राप्त था भारत में वही स्थान जाति पंचायतों को प्राप्त था। हमारे देश का विभाजन जाति के आधार पर था। विभिन्न पेशे के लोगों की विभिन्न जातियाँ बन गईं। उदाहरणार्थ नाई, चमार, भङ्गी, बढ़ई आदि। एक पेशे का आदमी दूसरे पेशे में मुश्किल से प्रवेश कर सकता था। यहाँ तक कि उनके विवाह शादी भी उन्हीं के पेशे वाले व्यक्तियों में होने लगे। एक नाई की लड़की का सम्बन्ध भङ्गी के लड़के के साथ होना कठिन ही नहीं वरन् असम्भव प्रतीत होता था। गिल्डों की ही भाँति जाति पंचायतें काम की दशायें, मजदूरी आदि निर्धारित करती थीं। जाति पंचायतों के नियमों की अवहेलना करने पर सदस्य को जाति तक से निकाला जा सकता था। संक्षेप में, जाति पंचायत का अपनी जाति के लोगों पर पूर्णतः नियन्त्रण था। सामाजिक क्षेत्र में उन्हें बहुत बड़े अधिकार प्राप्त थे, परन्तु गिल्डों की भाँति इन्हें राजनैतिक क्षेत्र में कोई अधिकार प्राप्त नहीं था। जाति पंचायतों का सङ्गठन अधिक लोकतन्त्रीय था। इसलिए यद्यपि गिल्डें समाप्त हो गईं, परन्तु पंचायतें आज भी कायम हैं।

औद्योगिक क्रान्ति
(Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति का अर्थ (Meaning of Industrial Revolution)—

साधारणतः जब किसी देश की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति में इस प्रकार के शीघ्रगामी परिवर्तन होते हैं जिससे उस देश का सामाजिक एवं आर्थिक कलेवर बदल जाता है, तब उन परिवर्तनों को हम 'क्रान्ति' कहते हैं। इस प्रकार के परिवर्तन जब किसी देश के औद्योगिक जीवन में होते हैं तब उन परिवर्तनों को '**औद्योगिक क्रान्ति**' (Industrial Revolution) कहते हैं।

औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश इङ्गलैण्ड में ही क्यों ?

इङ्गलैण्ड की साम्राज्य-तृष्णा ने उसे एक ऐसे विश्व का स्वामी बना दिया था जहाँ पर कभी सूर्यास्त ही न होता था अर्थात् इङ्गलैण्ड का राजनीतिक अधिकार दूर-दूर तक फैला हुआ था। इस कारण इङ्गलैण्ड के पास असीमित नाविक शक्ति एवं जलयान (Ships) थे, जिनसे वह विदेशों से तथा अपने उपनिवेशों से व्यापार करता था। निम्न कथन से इङ्गलैंड के विदेशी व्यापार की कल्पना की जा सकती है—"मूलतः हमारे उपनिवेशों ने हमको विस्तृत बाजार दिये, हमारे व्यापार पर यूरोपीय देश अथवा उनके उपनिवेश प्रतिबन्ध (Restriction) लगा सकते थे, परन्तु हम अपने उपनिवेशों के साथ जैसा चाहें वैसा व्यवहार कर सकते थे और यदि हम अन्य देशों के साथ व्यापार न करते हुये केवल अपने उपनिवेशों के साथ ही व्यापार करते तब भी इङ्गलैंड विश्व का सबसे बड़ा व्यापारिक देश होता।"[2]

इङ्गलैंड में सर्वप्रथम औद्योगिक क्रान्ति होने के मूल कारण निम्नलिखित थे :—

(१) **विश्व में औद्योगिक प्रभुत्व**—इङ्गलैंड ने अपने विशाल साम्राज्य के कारण अपना विदेशी व्यापार दूर-दूर तक फैला रखा था। इस औद्योगिक प्रभुत्व के कारण विश्व के

---

[1] **Hammound and Hammound** : *Rise of Modern Industry.*

[2] **G. T. Warner** : *Landmarks in Industrial History*, p. 222.

अन्य राष्ट्र इंगलैण्ड से टक्कर लेने में असमर्थ थे। अतएव औद्योगिक विकास के लिये नयी-नयी बातों की आवश्यकता इङ्गलैंड में प्रतीत हुई, जिससे यान्त्रिक आविष्कारों को जन्म मिला।

(२) **विस्तृत बाजार**—विशाल साम्राज्य के चारों ओर फैले हुये उसके उपनिवेशों ने इङ्गलैण्ड को विस्तृत बाजार उपलब्ध किये, जहाँ पर इसका माल सरलता से बेचा जा सकता था। अतएव बिक्री के लिये बाजारों की चिन्ता न थी। इन उपनिवेशों में भारत का बाजार सबसे बड़ा महत्त्वपूर्ण था।

(३) **विशाल धन संग्रह**—जैसे-जैसे सफल विदेशी व्यापार एवं वाणिज्य प्रगति की चोटी पर पहुँच जाने से व्यापारियों के पास असीमित मात्रा में धन का संचय हो रहा था, वैसे-वैसे उस विपुल धन-राशि के विनियोग की समस्या अपना उग्र रूप धारण करती चली जा रही थी।

(४) **राजनीतिक शान्ति**—१८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में जबकि अन्य यूरोपीय देश गृह-युद्धों अथवा परस्पर युद्धों में फँसे हुये थे, इङ्गलैण्ड में पूर्ण राजनीतिक शान्ति थी। अतएव युद्ध-ग्रस्त देशों के अनेक शिल्पी एवं व्यवसायी इङ्गलैंड में आकर बसे। इस प्रकार औद्योगिक उन्नति के कार्यक्रम एवं बुद्धिमान प्रणेता इङ्गलैंड को अनायास ही मिल गये।

(५) **श्रम-सचयी साधनों की आवश्यकता**—तेजी से बढ़ते हुये विदेशी व्यापार ने सीमित जन-शक्ति वाले देश अर्थात् इंगलैण्ड के कुशल शिल्पियों एवं श्रमजीवी वर्ग को श्रम बचाने वाले साधनों के सम्बन्ध में सोचने के लिये बाध्य किया। अतएव श्रम बचाने वाले साधनों एवं यन्त्रों के आविष्कारों को प्रोत्साहन मिला।

(६) **अधिकोषों का विकास**—इङ्गलैंड में १७वीं शताब्दी में ही अधिकोषों का विकास हो चुका था। अधिकोषों (Banks) के विकास के कारण वहाँ पर औद्योगिक विकास के लिये उन्नत एवं विकसित मुद्रा-मण्डी भी उपलब्ध थी।

(७) **कोयला एवं लोहे के अपार भण्डार**—इङ्गलैंड में कोयला एवं लोहे की खानें एक दूसरे के निकट हैं, जिनमें लोहा एवं कोयले के अपार भण्डार विद्यमान हैं। चूँकि यन्त्रों के निर्माण एवं चालन के लिये इन दोनों की आवश्यकता होती है, अतएव इनका होना भी औद्योगिक क्रान्ति का एक महत्त्वपूर्ण कारण था।

(८) **व्यापारिक एवं आर्थिक नीति**—इङ्गलैंड के वाणिज्य उद्योग एवं व्यवसाय के विकास में उसकी व्यापारिक एव आर्थिक नीति का महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। इङ्गलैंड ने संरक्षण करों द्वारा अपने माल की माँग बढ़ाकर वर्षों तक अपना व्यापार-सन्तुलन अपने पक्ष में रखा, जिसके फलस्वरूप व्यापार दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति करने लगा। इस नीति के कारण औद्योगिक क्रान्ति को प्रोत्साहन मिला।

(९) **भौगोलिक स्थिति**—उत्तम भौगोलिक स्थिति के कारण इङ्गलैंड को विश्व के सभी देशों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध रखने में सुगमता होती है। यह भी औद्योगिक क्रान्ति का एक महत्त्वपूर्ण कारण है।

(१०) **मत-परिवर्तन**—बाजार क्षेत्रों में विकास के साथ इङ्गलैंड के पूँजीपतियों और विचारशील जनता की यह विचारधारा हो गयी थी कि इतने विस्तृत व्यापार-क्षेत्रों से लाभ उठाने के लिये उत्पादन प्रणाली में सुधार किया जाना चाहिये। इस विचारधारा ने इङ्गलैंड की औद्योगिक क्रान्ति का मार्ग खोल दिया।

(११) **यातायात एवं संदेशवाहन के साधनों का विकास**—दूरी कम करने वाले

आविष्कार अर्थात् यातायात एवं संदेशवाहन के साधनों के विकास ने भी औद्योगिक क्रान्ति को प्रोत्साहन दिया।

औद्योगिक क्रान्ति का श्रीगणेश—

उपरोक्त परिस्थितियों के कारण इङ्गलैंड में जो पहले कृषि-प्रधान राष्ट्र था, १८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक महान् आर्थिक परिवर्तन हुआ, जो 'औद्योगिक क्रान्ति' के नाम से प्रसिद्ध है। इसने इङ्गलैंड का औद्योगिक, आर्थिक एवं सामाजिक कलेवर पूर्ण रूप से बदल दिया, गृह-उद्योग के स्थान पर विशाल कारखाने स्थापित होने लगे, जिनमें हजारों मजदूर एक साथ काम करते थे। मानवीय श्रम का स्थान मशीनों ने लेना प्रारम्भ कर दिया। मुख्य-मुख्य आविष्कार निम्न थे :—

(१) सन् १९३८ में **श्री जॉन के** (John Kay) बुनकर के **फ्लाइंग शटिल** (Flying Shuttle) नामक आविष्कार ने बुनने की कला में खलबली पैदा कर दी। इस आविष्कार से एक ओर तो चौड़ा कपड़ा बुनना सम्भव हुआ दूसरी ओर कपड़े का उत्पादन दुगना हो गया।

(२) सन् १७४८ में **मेसर्स पॉल और वाट** (Paul and Watt) ने रोलर स्पिनिंग यन्त्र (Roller Spinning Machine) का आविष्कार किया, जिसके परिणामस्वरूप सूत की किस्म में सुधार हो गया।

(३) सन् १७५३ में **श्री जेम्स हारग्रीव्ज** (James Hargreaves) ने अपने स्पिनिंग व्हील (Spinning Wheel) में सुधार कर स्पिनिंग जेनी (Spinning Jenny) का आविष्कार किया। इस यन्त्र से एक साथ सूत के ५४ धागे निकाले जा सकते थे।

औद्योगिक क्रान्ति के आर्थिक एवं सामाजिक प्रभाव (Economic and Social Effects of Industrial Revolution)

औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप इङ्गलैंड का औद्योगिक, आर्थिक एवं सामाजिक कलेवर ही पूर्ण रूप से बदल गया। औद्योगिक क्रान्ति के मुख्य प्रभाव निम्नलिखित हैं :—

(१) **कारखाना युग का उद्गम**—औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप गृहोद्योग युग (Domestic System) का अन्त होकर कारखाना युग का प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे मानवीय श्रम का स्थान मशीनों ने लेना प्रारम्भ कर दिया। जहाँ पर मशीनों की स्थापना हुई वे कारखाने कहलाये।

(२) **औद्योगिक नगरों का विकास**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप नये-नये नगर स्थापित किये गये तथा पुराने नगरों का महत्त्व जाता रहा। कर्मचारी अपने घरों व गाँवों को छोड़कर औद्योगिक केन्द्रों की ओर बढ़ने लगे।

(३) **बड़े पैमाने पर उत्पादन**—कारखाना युग आने व औद्योगिक नगरों की स्थापना से बड़े-बड़े कारखानों की स्थापना की जाने लगी, जहाँ पर मशीनों की सहायता से बड़े पैमाने पर उत्पादन का कार्य होने लगा। इसका देश के आर्थिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ा।

(४) **संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल के सिद्धान्त का विकास**—बड़े पैमाने पर उत्पादन करने के लिये अधिक मात्रा में पूँजी की आवश्यकता हुई। इससे संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल के सिद्धान्त का प्रादुर्भाव हुआ।

(५) **जीवन-स्तर में सुधार**—बड़ी मात्रा में उत्पादन होने से जन-साधारण के जीवन-स्तर में सुधार होने लगा। लोगों को नयी-नयी वस्तुओं के उपभोग का अवसर प्राप्त हुआ।

(६) **समाज का वर्गों में बँट जाना**—औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप समाज निम्न दो भागों में बँट गया—(i) पूँजीपति तथा (ii) श्रमिक।

(७) **औद्योगिक संघर्ष**—औद्योगिक संघर्ष औद्योगिक क्रान्ति की देन है। पूँजीपतियों ने अधिक लाभ कमाने के लिये श्रमिकों का शोषण करना प्रारम्भ किया, जिससे श्रम पूँजी के बीच संघर्षों का शुभारम्भ हुआ।

(८) **श्रमिकों का महत्त्व कम होना**—मानवीय श्रम का स्थान मशीनों के द्वारा लिये जाने के कारण श्रमिकों का महत्त्व कम हो गया।

(९) **गन्दी बस्तियों का निर्माण**—उद्योगों के निकट श्रमिकों के रहने के लिये नयी-नयी बस्तियाँ बसाई गयीं। चूँकि ये बस्तियाँ बिना सोचे-समझे बसाई गयीं थीं, अतः घर एक ऐसे तंग व भयानक कमरे के रूप में थे जहाँ पर वायु या प्रकाश का कोई प्रबन्ध नहीं था। इनका श्रमिकों के स्वास्थ्य पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा।

(१०) **बच्चों व स्त्रियों को नौकरी**—औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप छोटे-छोटे बच्चे व स्त्रियाँ भी कारखाने में काम करने लगीं। इससे इनका शारीरिक व मानसिक पतन होने लगा। फलस्वरूप समाज में कई दोषों ने जन्म लिया।

(११) **व्यापार का विकास**—उद्योगों के बृहत् रूप के साथ-साथ व्यापार का भी आकार बढ़ने लगा। बैंकिंग प्रणाली का भी विकास हुआ।

(१२) **सम्पत्ति में वृद्धि**—उद्योग व व्यापार की उन्नति के फलस्वरूप सम्पति में भी वृद्धि हुई। १९वीं शताब्दी में जहाँ इङ्गलैण्ड में २ अरब पौण्ड की सम्पत्ति थी वह बढ़कर शताब्दी के अन्त में १५ अरब पौण्ड हो गई।

निष्कर्ष—उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप जहाँ सामाजिक बुराइयाँ उत्पन्न हुई हैं वहाँ आर्थिक लाभ भी हुये हैं।

औद्योगिक प्रबन्ध के प्रकार
(Kinds of Industrial Management)

इङ्गलैण्ड के शिक्षा मन्त्रालय ने अपनी रिपोर्ट 'प्रबन्ध के लिये शिक्षा'[1] में प्रबन्ध के निम्नलिखित प्रकार बतलाये हैं :—

(१) **वित्तीय प्रबन्ध** (Financial Management)—शिक्षा मन्त्रालय ने अपनी रिपोर्ट में वित्तीय प्रबन्ध का वर्णन किया है। इसके अन्तर्गत आर्थिक पूर्वानुमान, बही-खाता, लागत लेखा, सांख्यिकीय नियन्त्रण, बजट आदि को सम्मिलित किया गया है।

(२) **उत्पादन प्रबन्ध** (Production Management)—रिपोर्ट के अनुसार उत्पादन प्रबन्ध के अन्तर्गत कार्य-विश्लेषण, मार्ग-निर्धारण (Routing), अनुसूचियन (Scheduling), नियोजन, गुण नियन्त्रण (Quality Control), समय, गति व थकान अध्ययन आदि को सम्मिलित किया गया है।

(३) **वितरण प्रबन्ध** (Distribution Management)—रिपोर्ट के अनुसार वितरण प्रबन्ध के अन्तर्गत विपणन, उपभोक्ता शोध (Consumer research), विज्ञापन, विक्रय कला आदि को संम्मिलित किया गया है।

(४) **क्रय-प्रबन्ध** (Purchase Management)—क्रय प्रबन्ध भी प्रबन्ध का एक भाग है। इसके अन्तर्गत टेण्डर माँगना, क्रय के लिये अनुबन्ध करना, स्टोर कायम करना व स्टॉक नियन्त्रण आदि को सम्मिलित किया गया है।

---

[1] *Education for Management.*

(५) **सेविवर्गीय प्रबन्ध** (Personnel Management)—सेविवर्गीय प्रबन्ध, प्रबन्ध का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसके अन्तर्गत कर्मचारियों का चुनाव, नियुक्ति, प्रशिक्षण, स्थानान्तर, पदोन्नति, अवकाश ग्रहण, श्रम-कल्याण की योजनायें आदि को सम्मिलित किया गया है।

(६) **कार्यालय प्रबन्ध** (Office Management)—इसके अन्तर्गत पत्र-व्यवहार, रिकार्ड (Record), कार्यालय प्रबन्ध व नियन्त्रण को सम्मिलित किया गया है।

(७) **रख-रखाव प्रबन्ध** (Handling Management)—इसके अन्तर्गत, यन्त्रों उपकरणों आदि की देखभाल एवं मरम्मत व्ययों को सम्मिलित किया जाता है। हमारे केन्द्रीय उद्योग-मन्त्री ने मई १९७१ को दिये गये अपने भाषण के मध्य इस बात का उल्लेख किया कि सरकारी उपक्रमों में हो रहे विशाल घाटे का प्रमुख कारण सरकारी औद्योगिक इकाइयों में रख-रखाव एवं प्रबन्ध सम्बन्धी सुविधाओं का अभाव होना है। इसमें इस प्रकार के महत्त्व का स्वतः दिग्दर्शन हो जाता है।

(८) **यातायात का प्रबन्ध** (Transport Management)—इसके अन्तर्गत सड़क यातायात, रेल यातायात, जल व वायु यातायात आदि को सम्मिलित किया गया है।

(९) **विकास प्रबन्ध** (Development Management)—विकास प्रबन्ध के अन्तर्गत कच्चा माल, मशीनें व उत्पादन विधियों के सम्बन्ध में अनुसन्धान करने को सम्मिलित किया गया है।

औद्योगिक प्रबन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास
(Development of Scientific Approach in Industrial Management)

गत कुछ वर्षों से औद्योगिक कुशलता को बढ़ाने के लिये 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' (Scientific Management) अत्यधिक लोकप्रिय होता जा रहा है। जब चारों ओर विज्ञान अपना चमत्कार दिखा रहा है तो 'औद्योगिक प्रबन्ध' ही इससे क्योंकर दूर रहे। प्रायः सभी विवेकशील उद्योगपति इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि **'औद्योगिक प्रबन्ध'** के क्षेत्र में आज 'विज्ञान' की सबसे अधिक आवश्यकता है। भारत के उद्योगों का पिछड़ा होना हमारी इस विचारधारा को और भी दृढ़ कर देता है।

वैज्ञानिक विचारधारा का विकास सर्वप्रथम १९वीं शताब्दी के अन्तिम काल में हुआ। इस विचारधारा के प्रवर्तक थे अमरीका के सुप्रसिद्ध इन्जीनियर स्वर्गीय श्री **'एफ० डब्ल्यू० टेलर'** (F. W. Taylor)। टेलर महोदय ने अपना जीवन सन् १८७८ में अमेरिकन मिटवैल स्टील कम्पनी में एक सामान्य श्रमजीवी के रूप में आरम्भ किया, किन्तु क्रमशः प्रगति करते-करते ६ वर्ष के उपरान्त, अर्थात् सन् १८८४ में उसी कम्पनी में मुख्य इन्जीनियर (Chief-Engineer) बन गये। अपने अनुभव से वे इस निर्णय पर पहुँचे कि श्रमिकों की उत्पादन-क्षमता बहुत कम है, जिसको बढ़ाने के लिये वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग अनिवार्य है। सन् १९१५ में टेलर की मृत्यु के साथ वैज्ञानिक प्रबन्ध आन्दोलन कुछ धीमा पड़ गया है। टेलर की मृत्यु के कुछ वर्ष बाद रूस के अध्यक्ष श्री लेनिन ने इस विज्ञान का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् सन् १९१८ में निम्न आदेश प्रसारित किया :—**"हमको अपने उद्योगों में टेलर के अध्ययन तथा शिक्षा को प्रचारित करना चाहिए तथा उसकी विधिवत् क्रियाओं को पूर्णरूप से अपनाना चाहिये।"**[1]

बाद में गैण्ट (Gantt), गिलब्रेथ (Gilbreth), इमर्सन (H. Emerson), पर्सन (H. S. Person), मौरिस कुक (Morris Cooke), कैन्डाल (H. P. Kendall) तथा फेयोल

---

[1] "We must introduce the study and the teachings of the New Taylor System and its systematic trial and adaptation."

(Fayol) आदि प्रसिद्ध इन्जीनियरों तथा विद्वानों ने इसमें अपना अमूल्य योगदान दिया। इस नयी प्रणाली के अनुसार औद्योगिक प्रबन्ध पुरानी परिपाटी के स्थान पर नयी वैज्ञानिक विधियों से होने लगा। अन्य विज्ञानों की भांति औद्योगिक प्रबन्ध को भी विज्ञान माना गया तथा उसकी विधियों को उचित प्रयोग द्वारा निर्धारित किया जाने लगा।

वैज्ञानिक-प्रबन्ध आन्दोलन क्यों ?

वैज्ञानिक प्रबन्ध आन्दोलन के निम्नलिखित कारण थे :—

(१) **श्रम समस्याओं में वृद्धि**—जैसे-जैसे कारखाना प्रणाली का विकास होता गया वैसे-वैसे उद्योगों के आकार में भी परिवर्तन होता गया अर्थात् गृह-उद्योग का स्थान बड़े पैमाने के उद्योगों ने ले लिया। परिणामस्वरूप हजारों की संख्या में श्रमिक कारखानों में काम करने लगे, जिसके कारण स्वामी व सेवक के बीच में जो प्रत्यक्ष सम्बन्ध था वह धीरे-धीरे समाप्त होने लगा। अतएव नित्य नयी नयी श्रम-समस्याएं उत्पन्न होने लगीं। आखिर इतने श्रमिकों पर नियन्त्रण रखना कोई आसान कार्य नहीं था।

(२) **तर्क शक्ति में वृद्धि**—कृषि, इन्जीनियरिंग तथा उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में वैज्ञानिक प्रबन्ध के लागू होने से लोगों की तर्क-शक्ति बढ़ गई। अब वे प्रत्येक बात को वैज्ञानिक दृष्टिकोण से सोचने लगे।

(३) **प्रतिस्पर्धा में वृद्धि**—यातायात, सन्देशवाहन, उत्पादन के आकार तथा बाजारों के क्षेत्रों का विस्तार हो जाने से प्रतिस्पर्धा दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ने लगी। अतएव अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिये उत्पादन-व्ययों में कमी करना अनिवार्य हो गया। इस प्रकार औद्योगिक इकाइयों के लिये सिवाय 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' की शरण लेने के अन्य कोई रास्ता न रहा।

(४) **इन्जीनियरों की संख्या में वृद्धि**—औद्योगिक क्रान्ति के बाद 'कारखाना प्रणाली' का बोलबाला हो गया। विभिन्न कारखानों में सुयोग्य इंजीनियरों की नियुक्ति की गई। अपने अनुभव के आधार पर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि श्रमिकों को वास्तव में जितना कार्य करना चाहिये उससे वे कहीं कम करते हैं। अतः उन्होंने विज्ञान का सहारा लेकर इन कारणों की खोज की। बहुत कुछ छानबीन के पश्चात् वे इस निर्णय पर पहुँचे कि इसके निम्न दो कारक हो सकते हैं :—प्रथम, वे स्वयं काम करना नहीं चाहते। द्वितीय, उनके काम करने की विधि गलत है।

निष्कर्ष—वैज्ञानिक प्रबन्ध के उक्त प्रवर्तकों ने इस सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार के प्रयोग किये। अपने प्रयोगों के द्वारा उन्होंने उत्पादन तिगुना तक कर दिया। श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि हुई तथा श्रम और पूंजी के झगड़े कम हो गए। 'टेलरवाद' का देश व विदेश दोनों में तेजी से प्रचार हुआ। प्रायः सभी प्रगतिशील राष्ट्रों ने इसे मान्यता प्रदान की। कुछ लोगों ने इसका प्रयोग उद्योगों के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी किया, यहाँ तक कि राजकीय प्रशासन में भी वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाने लगा।

टेलरवाद का प्रचार
(Publicity of Taylorism)

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, 'टेलरवाद' का नारा देश एवं विदेश सभी स्थानों पर गूंजने लगा। अमरीका का कहना ही क्या, रूस, जर्मनी, फ्रांस एवं इंगलैण्ड सभी प्रगतिशील राष्ट्रों ने 'टेलरवाद' को मान्यता प्रदान की। इसकी लोकप्रियता का मुख्य कारण प्रत्येक राष्ट्र की अपने उत्पादन को चरम सीमा पर पहुँचाने की लालसा थी। यूरोप में 'टेलरवाद' के प्रचार को हम अग्र तीन श्रेणियों में बांट सकते हैं।

(१) **प्राथमिक युग**—इस युग में कई यूरोपीय देशों में वैज्ञानिक प्रबन्ध के असफल प्रारम्भिक प्रयोग किये गये। कारखाने के मालिकों ने श्रमिकों से कम से कम समय में अधिक से अधिक काम लेने पर ही जोर दिया, जिसका श्रमिकों ने घोर विरोध किया, क्योंकि श्रमिकों के स्वास्थ्य पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा। उनका स्वास्थ्य गिरने लगा। इस तेजी से गिरते हुये स्वास्थ्य ने उन्हें आन्दोलन करने के लिये विवश किया, अतएव इन्हीं दिनों एक नया आन्दोलन जोर पकड़ने लगा—'यह प्रयत्न किया जाय कि श्रमिक इतना अधिक काम न करे कि उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाय।' इस आन्दोलन का इङ्गलैंड, फ्रांस, जर्मनी तथा इटली में काफी प्रचार हुआ। पहले तो 'टेलरवाद' को इसका विरोधी समझा गया, किन्तु बाद में यह भ्रम दूर हो गया और 'टेलरवाद' का प्रचार और जोरों से होने लगा।

(२) **मध्य युग**—इस युग में प्रत्येक देश ने वैज्ञानिक प्रबन्ध को अपने-अपने देश की परिस्थितियों के अनुसार आवश्यक सुधार करके अपनाने का प्रयत्न किया, क्योंकि अमेरिका के सिद्धान्तों को हर जगह पूर्ण रूप से लागू करना असम्भव था। इसका मुख्य कारण यह था कि प्रत्येक राष्ट्र की भौगोलिक तथा आर्थिक परिस्थितियाँ समान नहीं होतीं। पहले तो उसका प्रचार इस्पात के कारखाने में हुआ, जिसमें टेलर ने स्वयं प्रयोग किये थे। बाद में इसका प्रयोग क्रमशः उत्पादन के अन्य क्षेत्रों, व्यापार, वितरण, इमारत बनाने, खान खोदने तथा अन्य उद्योगों में भी होने लगा।

(३) **तृतीय युग**—इस युग में वैज्ञानिक प्रबन्ध के बिखरे हुये प्रयोगों का समन्वय करने की चेष्टा की गई। इसके अतिरिक्त तान्त्रिक शिक्षा प्राप्त लोगों व साधारण जनता में वैज्ञानिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों का अधिक से अधिक प्रचार किया गया, ताकि जनमत इसके पक्ष में हो। यही नहीं, वैज्ञानिक प्रबन्ध के उद्देश्य व क्षेत्र की अधिक शुद्ध परिभाषाएँ दी गई।

औद्योगिक प्रबन्ध की दिशा में आधुनिक प्रवृत्तियाँ
(Modern Trends in Industrial Management)

यद्यपि वैज्ञानिक प्रबन्ध से सम्बन्धित टेलर के सिद्धान्त आज भी लोकप्रिय हैं, किन्तु फिर भी लोग यह अनुभव करने लगे हैं कि केवल वैज्ञानिक प्रबन्ध ही समस्त औद्योगिक बुराइयों की संजीवनी नहीं हो सकता। टेलर का मत था कि कार्य करने की प्रमाप विधि श्रमिक स्वयं नहीं निकाल सकता है, अतएव पग-पग पर श्रमिकों को आदेश दिये जाने चाहिये। किन्तु अब ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि श्रमिक भी अपने सुझाव दे सकते हैं, अतएव श्रमिकों से सम्बन्धित सभी मामलों पर उनकी राय लेना आवश्यक है। जॉर्ज फिली पेट्टी (George Fili Petti) के अनुसार, "आवश्यकता इस बात की है कि विशेष कारखानों, समस्त उद्योग तथा समस्त राष्ट्र के सभी स्तरों पर सामूहिक प्रतिनिधित्त्व हो।" दूसरे शब्दों में अब उद्योगों को चलाने में नियोक्ता, श्रमिक तथा उपभोक्ता सभी की राय ली जानी चाहिये।

श्री जॉर्ज फिली पेट्टी (George Fili Petti) के अनुसार आधुनिक औद्योगिक प्रबन्ध की महत्त्वपूर्ण प्रवृत्तियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) **मानसिक क्रान्ति**—मानसिक क्रान्ति जो वैज्ञानिक प्रबन्ध का मुख्य लक्षण है, औद्योगिक प्रबन्ध में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त करती जा रही है। प्रगति की कोई भी योजना तब तक सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं हो सकती जब तक कि श्रम तथा पूँजी की मानसिक प्रवृत्तियों में क्रान्तिकारी परिवर्तन न हो। श्रमिकों को यह समझना चाहिये कि उनका उज्ज्वल भविष्य वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना में ही निहित है। उन्हें कारखाने को अपना समझकर मन लगा कर कार्य करना चाहिये। उधर मालिकों को भी श्रमिक को उद्योग का अनिवार्य अंग समझना चाहिये

तथा उनकी सुख-सुविधाओं का ख्याल रखना उनका पुनीत कर्त्तव्य है। यही कारण है कि आजकल श्रमिकों को उनकी मजदूरी के अतिरिक्त लाभ तथा प्रबन्ध में भी हिस्सा दिया जाने लगा है।

(२) **प्रबन्ध में विशिष्टीकरण**—अब प्रबन्ध में भी विशिष्टीकरण आरम्भ होगया है तथा समन्वय एवं नियन्त्रण की, जो कि प्रबन्ध के मुख्य कार्य हैं, अब विशेष शिक्षा दी जाने लगी है।

(३) **औद्योगिक प्रबन्ध एक सामाजिक समस्या है**—आजकल औद्योगिक इकाइयों के प्रबन्ध की समस्या व्यक्तिगत समस्या न होकर सामाजिक समस्या है। अब प्रबन्ध का कार्य परम्परागत न होकर योग्यतानुसार दिया जाने लगा है। उदाहरणार्थ, यदि पिता किसी कम्पनी का प्रबन्ध-अभिकर्त्ता था तो आवश्यक नहीं कि बेटा भी उस कम्पनी का प्रबन्ध-अभिकर्त्ता हो।

(४) **सामाजिक समस्याओं के अध्ययन पर बल**—श्रमिकों का नेतृत्व करने के लिए यह आवश्यक समझा जाने लगा है कि प्रबन्धकों को श्रमिकों की समस्याओं अर्थात् सामयिक समस्याओं का पूर्ण ज्ञान हो। अतः उनको सामाजिक समस्याओं का अध्ययन करना चाहिए, ताकि पूँजी और श्रम में पुत्र-पित्र के सम्बन्ध स्थापित हों।

(५) **उद्योगों का समाजीकरण**—उद्योग किसी विशेष व्यक्ति की सम्पत्ति न होकर समाज की सम्पत्ति है, अतः इस पर समाज का नियन्त्रण होना चाहिये। उदाहरणार्थ कम्युनिस्ट देशों में उद्योगों पर राज्य का पूर्ण अधिकार होता है। भारत सरकार भी धीरे-धीरे बड़े-बड़े उद्योगों पर अधिकार करती जा रही है। सार्वजनिक क्षेत्र में तीन इस्पात के कारखानों का खोला जाना तथा इम्पीरियल बैंक का राष्ट्रीयकरण इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

(६) **औद्योगिक लोकतन्त्रवाद की आवश्यकता**—उद्योगों के प्रबन्ध को लोकतन्त्रीय आधार पर चलाने के लिये यह आवश्यक है कि लोगों में सेवा की भावना विद्यमान हो।

(७) **अन्य क्षेत्रों में महत्त्व**—आजकल वैज्ञानिक प्रबन्ध का सिद्धान्त केवल उद्योगों तक सीमित न रहकर अन्य क्षेत्रों में भी लागू किया जा रहा है।

उपरोक्त के अतिरिक्त निम्नलिखित को भी सम्मिलित किया जाना चाहिये :—

(८) **स्वचालन** (Automation)—यह औद्योगिक प्रबन्ध का नवीनतम रूप है। इसके अन्दर मानव द्वारा किये जाने वाले कार्यों को स्वचालित मशीनों द्वारा किया जाता है। प्रबन्धक तो केवल उन मशीनों की देखभाल ही करता है।

(९) **प्रशिक्षण** (Training)—प्रबन्धकों को कुशल बनाने के लिये प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। प्रशिक्षण दो प्रकार का होता :—(i) सैद्धान्तिक प्रशिक्षण तथा (ii) व्यावहारिक प्रशिक्षण। इसके अन्तर्गत प्रबन्धकों को दोनों प्रकार का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है।

भारत में औद्योगिक प्रबन्ध के स्वरूप
(Forms of Industrial Management in India)

भारत में औद्योगिक प्रबन्ध के लिये निम्न स्वरूप पाये जाते हैं :—

(१) **प्रबन्ध अभिकर्त्ता** (Managing Agent)—"प्रबन्ध अभिकर्त्ता से तात्पर्य उस व्यक्ति, फर्म अथवा कम्पनी से है जो कम्पनी अधिनियम की विभिन्न धाराओं के अनुसार कम्पनी के सम्पूर्ण अथवा अधिकांश कार्यों को संचालकों के नियन्त्रण एवं निर्देशन में करने के अधिकारी हों ...।" भारत में अधिकांश उद्योगों की स्थापना तथा उनके संचालन करने का श्रेय भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को ही प्राप्त है। किन्तु इसकी बुराइयों के कारण ही ३ अप्रैल, १९७० से अधिनियम द्वारा समाप्त कर दिया गया है।

(२) **सचिव एवं कोषाध्यक्ष** (Secretary and Treasurar)—कम्पनी अधिनियम के अनुसार—"सचिव एवं कोषाध्यक्ष से आशय किसी फर्म या समामेलित संस्था से है (जो प्रबन्ध-अभिकर्त्ता न हो), जो कि संचालक मण्डल के नियन्त्रण एवं निर्देशन में कम्पनी के समस्त अथवा अधिकांश मामलों का प्रबन्ध करती है....।" औद्योगिक प्रबन्ध का यह द्वितीय स्वरूप प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति का विकल्प है। अभी तक यह अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाया है। किन्तु ३ अप्रैल, १९७० से प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का उन्मूलन हो जाने के कारण यह प्रणाली लोकप्रिय हो गई है।

(३) **प्रबन्ध संचालक** (Managing Director)—प्रबन्ध संचालक से आशय ऐसे संचालक से है जिसे प्रबन्ध सम्बन्धी कुछ ऐसे अधिकार प्राप्त होते हैं जो साधारणतया किसी अन्य संचालक को प्राप्त नहीं रहते। प्रबन्ध सम्बन्धी ये अधिकार उसे पार्षद् सीमानियम, पार्षद् अन्तर्नियम अथवा संचालक मण्डल के प्रस्ताव अथवा एक पृथक अनुबन्ध के द्वारा सौंपे जाते हैं। यह औद्योगिक-प्रबन्ध का तीसरा महत्त्वपूर्ण स्वरूप है, जोकि पर्याप्त लोकप्रियता प्राप्त कर चुका है।

(४) **प्रबन्धक** (Manager)—प्रबन्धक से आशय उस व्यक्ति (जो प्रबन्ध अभिकर्त्ता न हो) से है जो संचालक मण्डल के निरीक्षण, नियन्त्रण तथा निर्देशानुसार कम्पनी के पूर्ण अथवा अधिकांश कार्यों का प्रयोग करता है। यह भारतीय औद्योगिक प्रबन्ध का चौथा स्वरूप है। इसे भी भारत के औद्योगिक प्रबन्ध के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है।

भारत में औद्योगिक प्रबन्ध की आवश्यकता
(Need of Industrial Management in India)

वर्तमान युग में भारत में प्रबन्ध की सबसे अधिक आवश्यकता है, क्योंकि हमारा सामाजिक, आर्थिक वातावरण बड़ी अस्त-व्यस्त दशा में है और श्रमिकों की दशायें दिन-प्रतिदिन बिगड़ती ही जा रही हैं। द्वितीय महायुद्ध ने तो हमारी औद्योगिक व्यवस्था को झिंझोड़-सा दिया था। श्रम व पूँजी संघर्ष आये दिन होते रहते हैं। कारखानों में हड़ताल एवं तालाबन्दी का होना तो साधारण बात हो गयी है। कुछ उद्योगों को छोड़कर अन्य उत्पादन के विवेकीकरण के लिए व्यवस्थित प्रयत्न नहीं किये गये हैं। उत्पादन की लागत में भारी अपव्यय होता है, गलाकाट प्रतिस्पर्धा चल रही है, विभिन्न उत्पादकों में असहयोग है तथा व्यापार का सङ्गठन बड़ा दूषित है। अपर्याप्त और असन्तोषजनक उत्पादन सामग्री, अप्रचलित विपणन विधियों तथा औद्योगिक अनुसन्धान का अभाव है। श्रमिक अकुशल व अशिक्षित है। अनार्थिक औद्योगिक इकाइयों के कारण हम आज विदेशी व्यापार में टिक नहीं पा रहे हैं। पूँजीपतियों द्वारा श्रमिकों का शोषण होता है। बेकारी की समस्या दिन-प्रतिदिन अपना भयंकर रूप धारण करती चली जा रही है।

उपरोक्त दशाओं को सुधारने के लिये 'प्रबन्ध' को आगे कदम बढ़ाना चाहिये। 'प्रतीक्षा करो और देखो' की नीति अब त्याग देनी चाहिये। अब आवश्यकता है ठोस कार्य करने की। वास्तव में प्रबन्ध का विकास आज प्रमुख सामाजिक उत्तरदायित्व है और राष्ट्रीय लक्ष्यों को पूरा करने के लिये यह परम आवश्यक अंग है। यह खुशी का विषय है कि हमारी राष्ट्रीय सरकार अब इस ओर भी कदम उठा रही है। भारत में 'अखिल भारतीय तान्त्रिक शिक्षा परिषद्' (All India Council for Technical Education), जिसके सचिव (Secretary) श्री एल० एस० चन्द्रकान्त हैं, के अन्तर्गत अनेक प्रबन्ध समितियाँ कार्य कर रही हैं। इन समितियों के सदस्य देश के प्रमुख उद्योगपति जैसे जी० डी० बिड़ला, जे० आर० डी० टाटा, लाला श्रीराम तथा साहू जैन इण्डस्ट्रीज के मालिक आदि हैं। प्रो० एम० एस० ठक्कर की अध्यक्षता में बंगलौर में इन्स्टीट्यूट ऑफ मैनेजमेण्ट स्थापित किया गया है, जो कि प्रबन्ध की शिक्षा के प्रसार के लिये सराहनीय प्रयास कर

रहा है। इसी प्रकार दिल्ली, बम्बई, हैदराबाद वं. कलकत्ता में भी प्रबन्ध शिक्षण की व्यवस्था की गई है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रो० डी० के० सान्याल की अध्यक्षता में व्यवसाय प्रबन्ध स्नातक कोर्स के लिये स्कूल ऑफ सोशल वर्क एण्ड बिजनेस मैनेजमेंट (School of Social Work & Business Management) की स्थापना की गई है।

भारत सरकार भी विदेशी प्रबन्धकीय शिक्षालयों, जैसे Hanley on Themes तथा Harvard Graduate School of Business Administration के समान भारत में भी शिक्षालयों की स्थापना कर रही है। प्रशासनीय स्टाफ कॉलेज तथा इण्डियन मैनेजमेंट एसोसिएशन, जिसकी शाखाएँ देश के विभिन्न भागों में होंगी, के स्थापन की योजनायें बनाई जा चुकी हैं। कुछ भारतीय विश्वविद्यालयों ने एम० बी० ए० (Master of Business Administration) कोर्स प्रारम्भ कर दिया है। आशा है कि शेष सभी भारतीय विश्वविद्यालय भी इस कोर्स को शीघ्र शुरू कर देंगे।

अब जबकि ३ अप्रैल, सन् १९७० से भारत में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का पूर्णतया उन्मूलन कर दिया गया है, औद्योगिक प्रबन्ध के विकास की आवश्यकता और अधिक गम्भीर हो गई है।

आज आवश्यकता इस बात की है कि निजी (Private) तथा सार्वजनिक (Public) क्षेत्र दोनों मिल कर इस दिशा में सक्रिय कदम उठावें, ताकि हमारा राष्ट्र प्रगति के पथ पर अग्रसर हो। श्रमिकों को भी औद्योगिक प्रबन्ध में उचित हिस्सा देना होगा। इस प्रकार की व्यवस्था कुछ प्रमुख कारखानों में कार्यान्वित की भी जा चुकी है, किन्तु जो कुछ भी अभी तक हुआ है वह देश की आवश्यकता के देखते हुए बहुत कम है। हमारी कामना है कि भारत में औद्योगिक प्रबन्ध का भविष्य उज्ज्वल हो।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. अर्द्ध-विकसित देश के औद्योगिक विकास में 'प्रबन्ध' का महत्त्व स्पष्टतया समझाइये। औद्योगिक प्रबन्ध के प्रमुख सिद्धान्तों का भी वर्णन कीजिये। (आगरा, १९७२)

२. औद्योगिक क्रान्ति से आप क्या समझते हैं। इसके आर्थिक तथा सामाजिक परिणामों की विवेचना कीजिये। (आगरा, १९७२)

३. मध्य युग में औद्योगिक प्रबन्ध का विवरण दीजिये और यह भी बताइये कि गिल्ड प्रणाली ने औद्योगिक विकास में क्या कार्य किया है? (आगरा, १९७१)

४. औद्योगिक प्रबन्ध की दशा में आधुनिक प्रवृत्तियों की विवेचना कीजिये। उद्योगों के समाजीकरण के पक्ष में आप कहाँ तक सहमत हैं? (मेरठ, १९७२)

५. "प्रबन्ध केवल निर्णय लेने तथा मानवीय क्रियाओं पर नियन्त्रण रखने की विधि है, जिससे पूर्व निश्चित लक्ष्यों की प्राप्ति की जा सके।" इस कथन की व्याख्या कीजिये तथा औद्योगिक प्रबन्ध के सिद्धान्तों को समझाइये। (मेरठ, १९६९ एवं १९७१)
[संकेत—प्रबन्ध की यह परिभाषा स्टेनले वेन्स की है। "Management is simply the process of decision making and control over the action of human beings for the purpose of attaining predetermined goals." Comment in this statement and explain the principles of Industrial Management.]

६. विस्तृत रूप में प्रबन्ध उस कला को कहते हैं जिसके द्वारा किसी उद्योग में मनुष्यों और माल को नियन्त्रित करने के लिये जो आर्थिक सिद्धान्त लागू होते हैं उन्हें प्रयोग में लाया जाता है।" इस कथन की विवेचना कीजिये और प्रबन्ध का महत्त्व तथा सिद्धान्त समझाइये। (मेरठ, १९६९)

७. औद्योगिक प्रबन्ध के अर्थ को स्पष्ट कीजिये और वर्तमान युग में इसके महत्त्व को बतलाइये। (विक्रम, १९७०)

८. प्रबन्ध की परिभाषा दीजिये । प्रबन्धन के प्रमुख कार्य बताइये तथा उनके महत्त्व का संक्षेप में विवेचन कीजिये। (कानपुर, १९७०)

९. औद्योगिक क्रान्ति एवं औद्योगिक विकास में क्या अन्तर है? औद्योगिक क्रान्ति के क्या प्रभाव पड़े हैं? (कानपुर, १९६९)

१०. औद्योगिक प्रबन्ध का अर्थ स्पष्ट कीजिये। इसके कौन-कौन से स्वरूप भारत में पाये जाते हैं? (मेरठ, १९७०; विक्रम, १९६९)

११. औद्योगिक प्रबन्ध से आप क्या समझते हैं? इसके कार्यों को स्पष्ट कीजिये।
(मेरठ, १९७२ ; आगरा, १९७१ ; विक्रम, १९६८)

१२. 'भारत में औद्योगिक प्रबन्ध के विकास' पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
(विक्रम, १९६५, ६६, ६८ एवं ७०)

१३. औद्योगिक प्रबन्ध की दिशा में आधुनिक प्रवृत्तियों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
(आगरा, १९७०)

१४. प्रबन्ध के सम्बन्ध में वैज्ञानिक दृष्टिकोण के विकास को स्पष्टतः बतलाइये। उसका क्या प्रभाव हुआ?

१५. औद्योगिक प्रबन्ध के विकास पर एक उद्बोधक टिप्पणी लिखिये।
(जीवाजी, १९६९; विक्रम, १९४१ एवं १९६४)

१६. "प्रबन्ध का प्रधान उद्देश्य स्वामियों के लिये अधिकतम समृद्धि और साथ ही प्रत्येक सेवक के लिये अधिकतम समृद्धि प्राप्त करना होना चाहिये।" उक्त वक्तव्य की विवेचना कीजिये।

१७. "औद्योगिक क्रान्ति शब्द का प्रयोग इसलिये उपयोग में नहीं आता कि परिवर्तन की क्रिया शीघ्रगामी थी, परन्तु इसलिये कि पूर्णतः वह परिवर्तन मूलगामी था।" इस कथन को समझाकर विवेचना कीजिये।

१८. मध्ययुग की गिल्ड प्रणाली पर एक टिप्पणी लिखिये। (आगरा, १९७०)

१९. भारत में प्रबन्ध-विज्ञान की शिक्षा पर एक टिप्पणी लिखिये। (आगरा, १९७०)

२०. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये:—
औद्योगिक क्रान्ति। (आगरा, १९७१)
औद्योगिक संस्था का आन्तरिक सङ्गठन। (आगरा, १९७१)
"औद्योगिक प्रबन्ध का प्रमुख ध्येय समाज की सेवा करना है।" (मेरठ, १९७०)

३

विशिष्टीकरण

(Specialisation)

प्रारम्भिक—विशिष्टीकरण का अर्थ

वर्तमान युग विशिष्टीकरण का युग है। आज छोटे से छोटे कार्य के लिए भी विशेषज्ञ की आवश्यकता पड़ती है। औद्योगिक संगठन में विशिष्टीकरण का विशेष महत्त्व है। प्रो० किम्बाल के शब्दों में, **"विशिष्टीकरण प्रयास के सीमित क्षेत्र में प्रयत्न के केन्द्रीयकरण को कहते हैं।"**[1] इसका अर्थ यह है कि विशिष्टीकरण के द्वारा व्यक्ति सभी दिशाओं में प्रयत्न न करके सीमित क्षेत्र में विशेष योग्यता प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार उसके समस्त साधन एवं शक्तियाँ एक विशेष दिशा की ओर केन्द्रित हो जाती हैं और उसकी कार्यक्षमता अपनी चरम सीमा तक पहुँच जाती है। कार्य में मितव्ययिता तथा सुविधा रहती है। संक्षेप में, किसी कार्य में निपुणता प्राप्त करना ही विशिष्टीकरण कहलाता है।

औद्योगिक इकाइयों का विशिष्टीकरण

पहले एक ही कारखाना अनेक प्रकार की वस्तुएँ तैयार करता था। उदाहरण के लिए, इंजीनियरिंग का कारखाना अनेक प्रकार की मशीनरी तैयार करता था। किन्तु धीरे-धीरे विशिष्टीकरण का युग आया। यहाँ तक कि अब एक कारखाना पूरी मशीन न बनाकर केवल एक प्रकार के या कुछ पुर्जे तैयार करता है। मोटर बनाने के कारखाने अब अन्य यन्त्र नहीं बनाते। स्प्रिंग, गद्दियाँ, हॉर्न आदि के लिए उन्हें अन्य उत्पादकों पर आश्रित रहना पड़ता है। इसी प्रकार साइकिल बनाने वाले टायर, ट्यूब और सीटों के लिए दूसरे उत्पादकों पर निर्भर हैं। परिणाम स्पष्ट है कि अब उद्योग विशेष भी पूर्ण नहीं ; वह भी विशिष्टीकरण के कारण अन्य उत्पादकों पर निर्भर है।

विशिष्टीकरण क्यों ?

प्रश्न यह उठता है कि विशिष्टीकरण की इस प्रवृत्ति का क्या कारण है? प्रो० किम्बाल के अनुसार, "विशिष्ट मशीनरी लागत को कम करती है, सस्ती लागत बाजार का विस्तार करती है, विस्तृत बाजार से और अधिक विशिष्ट (Specialised) मशीनरी लगाई जा सकती है तथा इस चक्र का अन्त राष्ट्र की सर्वाङ्गीण समृद्धि में ही होता है।" यदि वास्तव में देखा जाय तो श्रम-विभाजन के लाभ प्राप्त करने के लिए ही विशिष्टीकरण हुआ है। आधुनिक उद्योग बहुत ही गतिशील है। उसमें निरन्तर सुधार होते रहते हैं, अतएव विशिष्टीकरण का सहारा लेना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता है। आज एक कम्पनी में इंजीनियर, एकाउण्टेण्ट, टाइपिस्ट, विज्ञापन-विशेषज्ञ, विक्रय-विशेषज्ञ आदि का होना एक सामान्य बात समझी जाती है।

---

1 "Specialisation has been defined as the concentration of effort upon a limited field of endeavour."—**Kimbal & Kimbal.**

विशिष्टीकरण के स्वरूप
(Forms of Specialisation)

विशिष्टीकरण के प्रमुख स्वरूप निम्नलिखित हैं :—

(१) **पेशों (धन्धों) का विशिष्टीकरण** (Specialisation of Profession)—सभ्यता के विकास के साथ-साथ मनुष्य विभिन्न पेशों को चुनने लगे। पेशेवर श्रम-विभाजन इस प्रकार के विशिष्टीकरण का ही रूप है। वर्तमान काल में यह विशिष्टीकरण और भी बढ़ गया है। अब सिर्फ डॉक्टर या इन्जीनियर ही नहीं मिलते बल्कि नाक, कान, गले, दाँत, आँख अथवा गुप्त रोग आदि सभी के विशेषज्ञ मिलते हैं। इसी प्रकार इन्जीनियर भी सिविल, इलेक्ट्रीकल, मैकेनिकल के हो सकते हैं। दर्जी की दूकान को ही लीजिये, वहाँ पर अलग-अलग मर्दाने, जनाने अथवा बच्चों के कपड़ों के विशेषज्ञ मिलेंगे। यहाँ तक कि पतलून तथा बुशशर्ट के भी पृथक-पृथक विशेषज्ञ मिलेंगे।

(२) **भौगोलिक विशिष्टीकरण** (Geographical Specialisation)—उद्योग के विकास पर भौगोलिक परिस्थितियों का बहुत प्रभाव पड़ता है। जलवायु तथा प्राकृतिक प्रसाधन विशिष्टीकरण पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं। उदाहरण के लिए, पटसन उद्योग कलकत्ते में, वस्त्र उद्योग बम्बई व अहमदाबाद में, खेल-कूद उद्योग स्यालकोट (पाकिस्तान) में, लोहा तथा इस्पात उद्योग टाटा नगर में, फर्नीचर उद्योग बरेली में तथा चूड़ी उद्योग फिरोजाबाद में जलवायु तथा प्राकृतिक साधनों के कारण ही स्थापित हो सके।

(३) **औद्योगिक विशिष्टीकरण** (Industrial Specialisation)—एक समय था जबकि एक ही कारखाने में विभिन्न वस्तुओं का उत्पादन होता था, किन्तु धीरे-धीरे उत्पादित माल की विविधता होने लगी। आज एक कारखाना वस्तु के केवल एक भाग ही निर्माण करता है तथा उस वस्तु से सम्बन्धित अन्य भागों को दूसरे निर्माताओं से क्रय कर लेता है। उदाहरण के लिए, साइकिल बनाने के प्रायः सभी कारखाने टायर-ट्यूब आदि दूसरों से ही खरीदते हैं।

(४) **तकनीकी विशिष्टीकरण** (Specialisation of Technique)—आज उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं में यन्त्रों का अधिकतम् उपयोग होने के कारण विशिष्टीकरण अपनी चरम सीमा पर पहुँच चुका है। आज वस्तु की एक उत्पादन क्रिया को कई उप-क्रियाओं में विभाजित कर दिया जाता है तथा प्रत्येक उप-क्रिया पर अलग-अलग तकनीकी विशेषज्ञ कार्य करते हैं। उदाहरण के लिये भारत के जूता उद्योग में जूता बनाने की क्रिया को लगभग २०० उपक्रियाओं में विभक्त कर दिया गया है।

(५) **श्रम का विशिष्टीकरण** (Specialisation of Labour)—विशिष्टीकरण श्रम-विभाजन की आधारशिला है। इसके लिए व्यक्ति की शारीरिक एवं मानसिक योग्यताओं को ध्यान में रखा जाता है। जो व्यक्ति शारीरिक दृष्टि से हृष्ट-पुष्ट होते हैं उन्हें शारीरिक श्रम का कार्य सौंपा जाता है। इसके विपरीत, जो लोग मानसिक दृष्टि से कुशल होते हैं उन्हें मानसिक श्रम का कार्य सौंपा जाता है।

(६) **अन्य क्षेत्रों में विशिष्टीकरण** (Specialisation in other Fields)—उद्योगों के अन्य क्षेत्रों में भी अब विशिष्टीकरण जोरों पर है। उदाहरणार्थ, बैंकों का स्पष्टीकरण ही लीजिए। पहले बैंकों ने केवल साख की कला में ही विशिष्टता प्राप्त की थी परन्तु अब उसमें भी विशिष्टीकरण हो गया है, जैसे—सहकारी बैंक, औद्योगिक बैंक, भूमिबन्धक बैंक तथा व्यापारिक बैंक आदि। कम्पनियों की स्थापना भी अब विशिष्ट संस्थाओं द्वारा की जाने लगी है। कम्पनियों के प्रबन्ध, विज्ञापन, बिक्री, माल लदवाने और छुड़ाने आदि के लिये भी विशिष्ट संस्थायें देखने में आती हैं।

विशिष्टीकरण के लाभ-दोष
(Advantages aud Disadvantages of Specialisation)

विशिष्टीकरण के लाभ (Advantages of Specialisation)—

आधुनिक युग में विशिष्टीकरण से निम्नलिखित लाभ होते हैं :—

(१) **कुशलता में वृद्धि**—एक सीमित क्षेत्र में कार्य करने से विशेष योग्यता प्राप्त होती है तथा श्रम की कार्यक्षमता लगातार बढ़ती रहती है। एक निश्चित समय में श्रमिक पहले की अपेक्षा अधिक कार्य कर सकता है।

(२) **जीवन-स्तर ऊँचा उठना**—इससे सामान्य जीवन-स्तर ऊँचा उठता है। जीवन आराम से कटता है। लाखों मजदूर, जो कि अपर्याप्त काम-काज में लगे रहते थे, अब पर्याप्त वेतन पाते हैं। कारखाने उनको अपने खर्चे पर प्रशिक्षण की व्यवस्था करते हैं। श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिए श्रमिक संघों का निर्माण होता है।

(३) **भीमकाय उत्पादन के लाभ**—सीमित वस्तुओं का उत्पादन करने से भीमकाय उत्पादन सम्भव हो जाता है। इससे उत्पादन में मितव्ययिता रहने के साथ-साथ लम्बे पैमाने के उत्पादन के समस्त लाभ प्राप्त होते हैं।

(४) **अनुसन्धान में सुविधा**—विशिष्टीकरण से अनुसन्धान में सुविधा रहती है। चूँकि उत्पादक एवं श्रमिकों का ध्यान एक सीमित क्षेत्र में ही केन्द्रित हो जाता है, अतएव अनुसन्धान आसानी से किया जा सकता है। इससे वस्तु की किस्म में सुधार होने के साथ-साथ उत्पादन व्यय कम हो जाता है।

(५) **श्रम-विभाजन के लाभ**—विशिष्टीकरण श्रम-विभाजन की देन है। अर्थशास्त्र के विद्यार्थी जानते हैं कि श्रम-विभाजन से कई लाभ होते हैं। ये समस्त लाभ विशिष्टीकरण में प्राप्त हो जाते हैं।

(६) **उद्योगों का एक दूसरे पर आश्रित होना**—विशिष्टीकरण के द्वारा उद्योग एक दूसरे पर आश्रित हो जाते हैं, जैसे जापान का साइकिल उद्योग। साइकिल के विभिन्न भाग (Parts) अलग-अलग कारखानों में तैयार होते हैं। इससे एकता तथा मेल की भावना बढ़ती है।

(७) **यन्त्रीकरण में सुविधा**—सभी जानते हैं कि बिना यन्त्रीकरण के विशिष्टीकरण सम्भव नहीं है, अतएव विशिष्टीकरण में यन्त्रीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। उत्पादन की छोटी से छोटी उपक्रिया में यन्त्रों का प्रयोग होने लगता है।

(८) **समय की बचत**—विशिष्टीकरण के होने से यन्त्रीकरण तथा भीमकाय उत्पादन होने लगता है। श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ जाती है, जिसके कारण उत्पादन तेजी से होने लगता है। परिणामस्वरूप समय में पर्याप्त बचत होती है।

(९) **साख में वृद्धि**—विशिष्टीकरण के होने से व्यक्ति, उद्योग व स्थान की साख में वृद्धि होने लगती है। इसका कारण यह है कि समान कार्य करते-करते व्यक्ति, उद्योग व स्थान उस कार्य में दक्षता प्राप्त कर लेता है, जिससे उसकी साख दूर-दूर तक फैलने लगती है। उदाहरण के लिये, आगरे के जूते, अलीगढ़ के ताले, आई० सी० आई० (I. C. I.) का टैरीन, इन्दौर के सेव, कलकत्ते के रसगुल्ले दूर-दूर तक विख्यात हैं। इसी प्रकार रसगुल्ले बनाने के लिए कलकत्ते के कारीगर, पेठा व उसकी अन्य मिठाइयाँ बनाने के लिये आगरे के कारीगर प्रसिद्ध हैं।

(१०) **प्रमापित वस्तुओं का उत्पादन**—विशिष्टीकरण की क्रिया के अन्तर्गत प्रत्येक कार्य विशेषज्ञों के द्वारा सम्पन्न होने के कारण केवल प्रमापित वस्तुओं का ही उत्पादन होने लगता है।

(११) **प्रशिक्षण में सुविधा**—इसके अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक को उसकी रुचि एवं योग्यतानुसार उत्पादन की छोटी से छोटी क्रिया के सम्बन्ध में पहले से ही समुचित प्रशिक्षण दिया

जाता है, जिसे वह शीघ्र ग्रहण कर लेता है। इस प्रकार विशिष्टीकरण के अन्तर्गत प्रशिक्षण में पर्याप्त सुविधा रहती है।

(१२) **सस्ता उत्पादन**—श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होने, समूची उत्पादन क्रिया का यन्त्रीकरण होने, श्रम-विभाजन व बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से उत्पादन में मितव्ययिता रहती है। प्रति इकाई उत्पादन व्यय में पर्याप्त कमी हो जाती है, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन सस्ता पड़ता है।

विशिष्टीकरण के दोष (Disadvantages of Specialisation)—

उपर्युक्त लाभों से यह न समझना चाहिये कि विशिष्टीकरण दोषरहित है। लाभों के साथ-साथ इसमें निम्न दोष भी विद्यमान हैं :—

(१) **उत्पादन का सीमित क्षेत्र**—चूँकि उत्पादन का क्षेत्र सीमित होता है, अतएव उस विशेष उद्योग पर सङ्कट में बादल घिर आने से कभी-कभी भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है। प्रो० किम्बाल के अनुसार, "यदि नये आविष्कारों के कारण परिवर्तन हो जाय तो उत्पादन विधियों में अत्यधिक विशिष्टीकरण से कारखाने या अन्य किसी उद्योग को कठिन आर्थिक सङ्कट तथा कभी कभी पूर्ण विनाश का सामना करना पड़ता है।"[1]

(२) **कारखानों की आत्म-निर्भरता का अन्त होना**—विशिष्टीकरण से कारखानों की आत्म-निर्भरता पूर्ण रूप से नष्ट हो जाती है। उत्पादन की किसी एक इकाई में शिथिलता आ जाने से शेष इकाइयों को भी विवश होकर अपना काम धीमा करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, साइकिल में यदि ट्यूब-टायर न होंगे तो साइकिल की बिक्री होना असम्भव हो जायगा।

(३) **अत्यधिक खर्चीली पद्धति**—विशिष्टीकरण का सबसे बड़ा दोष यह है कि यह अत्यधिक खर्चीली पद्धति है, क्योंकि सूक्ष्म से सूक्ष्म उपक्रिया के लिये भी विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है। पहले तो ऐसे विशेषज्ञ मुश्किल से ही मिलते हैं तथा जो मिलते भी हैं तो उन्हें अपेक्षाकृत बहुत अधिक वेतन तथा अन्य सुविधायें देनी पड़ती हैं। इसके कारण प्रत्येक उद्योगपति के लिए यह सम्भव नहीं हो पाता है कि वह विशिष्टीकरण की क्रिया को अपने यहाँ कार्यान्वित करे।

(४) **उत्तरदायित्व की भावना का अभाव**—विशिष्टीकरण में उत्पादन का पैमाना बढ़ जाने के कारण उत्पादन की एक ही क्रिया अथवा उपक्रिया अनेक व्यक्तियों के सहयोग से सम्पन्न होती है। यदि कहीं गलती रह जाय, तो यह पता लगाना मुश्किल हो जाता है कि यह गलती किसके द्वारा की गई है, क्योंकि "**सामूहिक उत्तरदायित्व कोई उत्तरदायित्व**" नहीं है।"

(५) **प्रशिक्षण पर अत्यधिक व्यय**—विशिष्टीकरण की योजना के अन्तगत प्रत्येक श्रमिक को किसी कार्य के करने से पूर्व पर्याप्त सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रशिक्षण देना पड़ता है, जिस पर कि अत्यधिक व्यय करना पड़ता है। प्रत्येक उद्योगपति के लिए यह सम्भव नहीं हो पाता कि वह इस व्यय को वहन कर सके।

(६) **आर्थिक सङ्कट का सामना**—विशिष्टीकरण की योजना के अन्तर्गत उत्पादन की विधि के सम्बन्ध में नित्य नये-नये आविष्कार होते रहते हैं, जिसके कारण पुरानी मशीनें व उत्पादन की विधियाँ शीघ्र अनार्थिक एवं बेकार हो जाती हैं। कभी-कभी तो कारखाने को ही बन्द कर देने तक की नौबत आ जाती है। परिणामस्वरूप नयी-नयी मशीनों को लगाने तथा उत्पादन की आधुनिक विधियों को अपनाने के लिये आर्थिक संकट का सामना करना पड़ता है।

(७) **व्यक्तिगत विकास में बाधा**—चूँकि इसमें व्यक्ति की योग्यता उत्पादन की एक सीमित उपक्रिया तक ही सीमित रहती है, अतएव उसका व्यक्तिगत विकास रुक जाता है। उदा-

---

[1] **Kimbal & Kimbal :** *Industrial Organisation.*

हरण के लिये, देश के एक भावी इन्जीनियर का ज्ञान कारखाने में मशीन के एक छोटे से पुर्जे तक ही सीमित रह जाता है।

(८) **प्राचीन उद्योगों का विनाश**—प्राचीन उद्योग-धन्धे नष्ट हो जाते हैं। पुरानी हस्तकला का लोप हो जाता है प्रो० किम्बाल के अनुसार, "शायद सबसे बड़ी हानि यह हुई कि प्राचीन उद्योग धन्धे नष्ट हो गये तथा पुराने कुशल कारीगर समाप्त हो गये।"[1]

(९) **श्रम-पूँजी संघर्ष**—विशिष्टीकरण में बड़े बड़े उद्योग-धन्धों की स्थापना के लिये अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता होती है, अतएव श्रम, पूँजीपति का दास हो जाता है तथा दोनों में नित्य संघर्ष होते रहते हैं।

(१०) **मौसमी उद्योगों में बेकारी**—कुछ कारखाने ऐसा माल तैयार करते हैं जिनका उत्पादन वर्ष के कुछ ही महीनों में होता है, अतएव बाकी समय मशीनरी एवं श्रमिक दोनों ही बेकार पड़े रहते हैं।

उपरोक्त दोषों के अतिरिक्त इसमें कागजी काम अधिक बढ़ जाता है तथा पारस्परिक वैमनस्य एवं भेदभाव से उत्पादन शिथिल पड़ जाता है।

विशिष्टीकरण की सीमाएँ
(Limitations of Specialisation)

विशिष्टीकरण केवल निम्नलिखित शर्तों के पूरा किये जाने पर ही लागू हो सकता है—(१) **विलासिता की वस्तुओं के लिये अनुपयुक्त**—आवश्यक वस्तुओं के उत्पादन में विशिष्टीकरण उपयुक्त रहता है तथा विलासप्रिय में उतना नहीं, क्योंकि उनकी माँग प्रायः निश्चित होती है, जबकि विलासप्रिय वस्तुओं की माँग अनिश्चित ही रहती है। (२) **बाजार की सीमा**—वस्तु का बाजार काफी विस्तृत हो तथा माँग पर्याप्त हो, जिससे कि बड़े पैमाने पर उत्पादन हो सके। माल के सस्ते होने पर माँग भी बढ़ जाती है, जैसे—साइकिल तथा घड़ी। (३) **किस्म तथा उत्पादन विधियों का स्थायी होना**—वस्तु की किस्म तथा उत्पादन की विधियों में अधिक परिवर्तन नहीं होना चाहिये। (४) **तकनीकी प्रगति पर निर्भरता**—तकनीकी प्रगति पर भी विशिष्टीकरण निर्भर करता है। (५) **प्रमापीकरण पर निर्भरता**—प्रमापीकरण विशिष्टीकरण का एक अनिवार्य अंग है, अतएव इसमें सफलता प्राप्त करने के लिये उत्पादन विधियों की किस्मों में प्रमापीकरण होना आवश्यक है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. विशिष्टीकरण का क्या अर्थ है ? इसके क्या लाभ और हानियाँ हैं ?
२. विशिष्टीकरण किसे कहते हैं ? इसके विभिन्न रूप क्या हैं ? विशिष्टीकरण के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। इसकी सीमायें बताइये।
३. विशिष्टीकरण के विभिन्न स्वरूपों की विवेचना कीजिये।
४. 'आज का युग विशिष्टीकरण का युग है'। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? यदि हाँ, तो विशिष्टीकरण के गुण-दोषों का वर्णन कीजिये।

---

[1] **Kimbal and Kimbal** : *Industrial Organisation*

४

प्रमापीकरण
(Standardisation)

प्रारम्भिक—

आज का युग विशिष्टीकरण एवं प्रमापीकरण का युग है। जैसे-जैसे उत्पादन का आकार बढ़ता जाता है तथा विशिष्टीकरण की योजनायें लागू होती हैं वैसे-वैसे प्रमापीकरण का महत्त्व भी बढ़ जाता है। आज उन्हीं उद्योगों का बोलबाला है जिन्होंने उत्पादन की विधियों तथा उत्पादन की किस्म दोनों का ही प्रमापीकरण कर लिया है। प्रमापीकरण के होने से उत्पादन क्रिया भी सरल हो जाती है।

प्रमापीकरण का अर्थ तथा परिभाषायें
(Meaning and Definitions of Standardisation)

प्रमापीकरण का अर्थ—

प्रमापीकरण का अर्थ उपक्रम के विभिन्न क्षेत्रों में प्रमाप निश्चित करना एवं उनका उपयोग करना है। इसके अन्तर्गत उद्योग में प्रत्येक वस्तु के उत्पादन के लिए पहले से ही एक प्रमाप निश्चित कर लिया जाता है तथा समस्त उत्पादन उस प्रमाप के अनुसार ही होता है। प्रमापीकरण की योजना के अन्दर वस्तुओं के प्रकार भी कम हो जाते हैं।

प्रमापीकरण की परिभाषायें—

विभिन्न विद्वानों ने प्रमापीकरण की विभिन्न परिभाषायें दी हैं। कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषायें निम्नलिखित हैं:—

प्रो० किम्बाल के अनुसार, "प्रमापीकरण उत्पादन की किसी एक शाखा को थोड़े से आकारों, किस्मों तथा विशेषताओं में सीमित करने को कहते हैं।"[1] जैसे—जूतों को ही लीजिये। कुछ स्टैण्डर्ड के जूते तैयार करने पर अधिकांश व्यक्तियों के पैर के लायक जूते तैयार हो सकते हैं।

सी० एस० डेवरैल के अनुसार, "एक प्रमाप-कार्य, गुण, मिश्रण, आकार अथवा निर्माण विधि की व्याख्या करता है।"[2]

आर० सी० डेविस के अनुसार, "प्रमाप वह है जो कि अधिकार, रीति अथवा सामान्य स्वीकृति से नमूने, परख अथवा माप के नियम की तरह स्थापित किया जाता है............।"[3]

---

1 "By standardisation is meant the reduction of any one line to fixed types, sizes and characteristics."—**Kimball & Kimball.**

2 "A standard defines performance, quality, composition, dimension or method of manufacture."—**C. S. Deverell.**

3 "A standard may be defined as that which is established by authority custom or general consent as a model, criterion or rule of measurement ...."—**R. C. Davis.**

जे० बेटी के अनुसार, "प्रमापीकरण कुछ निश्चित घटकों पर एक समझौता है, जोकि किसी मद पर प्रभाव डालते हैं, जैसे—निष्पादन, गुण तथा विभिन्न माप।"[1]

बीथल, अटवाटर, स्मिथ एवं स्टेकमैन के अनुसार, "एक प्रमाप मुख्य रूप से माप का आधार, गुण निष्पादन अथवा व्यवहार है, जिसकी स्थापना रीति, सहमति अथवा अधिकार द्वारा होती है और उसका उपयोग एक निश्चित समय में तुलना के आधार के रूप में किया जाता है।"[2]

प्रो० जॉन ए० शुबिन (John A. Shubin) के अनुसार, "प्रमापीकरण प्रबन्ध का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है, क्योंकि यह निर्माण, क्रय, लेखा तथा अन्य क्रियाओं को एक निश्चित स्तर तथा गुण से पूरा करने के नियन्त्रण को सम्भव बनाता है।"

प्रमापीकरण के लक्षण
(Characteristics of Standardisation)

(१) प्रमापीकरण वस्तुओं एवं विधियों दोनों का हो सकता है। (२) इसमें वस्तुओं के प्रकार सीमित कर दिये जाते हैं। (३) प्रमाप उचित परीक्षण तथा अनुसन्धान के पश्चात् ही निश्चित किये जाने चाहिए। यह सर्वोत्तम विधि होती है। (४) प्रमापीकरण प्राय बड़े पैमाने के उत्पादन में ही होता है।

प्रमापीकरण के लाभ-दोष
(Advantages and Disadvantages of Standardisation)

प्रमापीकरण के लाभ (Advantages of Standardisation)—

प्रमापीकरण से निम्नलिखित लाभ होते हैं :—

(१) **सीमित माल की किस्में**—प्रमापीकरण से सबसे बड़ा लाभ यह है कि इसके अन्तर्गत माल की किस्में विशिष्टीकरण की अपेक्षा कम होती हैं। इससे उनकी लम्बे पैमाने पर उत्पत्ति हो सकती है एवं लागत कम हो जाती है।

(२) **वस्तुएँ छाँटने की आवश्यकता नहीं**—प्रमापित वस्तुओं के छाँटने की परेशानी से ग्राहक मुक्त हो जाता है, क्योंकि माल की किस्में कम होने के कारण ग्राहक उनसे भली प्रकार परिचित होता है।

(३) **माल की किस्म में सुधार**—प्रमापित किस्म प्राय: ऊँची होती है और उनमें सुधार भी आसानी से हो जाता है। **प्रो० किम्बाल** के अनुसार, "प्रमापित वस्तु विशिष्ट वस्तुओं से सदैव सन्तोषजनक होती है, अतएव बहुत बड़ा कारण न हो तो ग्राहक प्रमापित वस्तु से नहीं हटता।" यदि वास्तव में देखा जाय तो ग्राहक सदैव प्रमापित वस्तुओं को ही खरीदना श्रेष्ठकर समझता है।

(४) **वस्तुओं के प्रयोग में सुविधा**—प्रमापित वस्तुयें तैयार करने से एक के स्थान पर दूसरे का प्रयोग आसानी से हो सकता है, जैसे साइकिल के पुर्जे टूट जाने पर आसानी से बदले जा सकते हैं।

(५) **कम पूँजी व मितव्ययिता**—चूँकि वस्तु की किस्म कम होती है, अतएव इसके लिए कम पूँजी की आवश्यकता होती है। इसके अतिरिक्त उत्पादन में मितव्ययिता होती है।

---

1 "Standardisation is the agreement upon certain factors affecting an item such as its performance, quality and various dimensions."—**J. Batty.**

2 "A standard is essentially a criterion of measurement, quality, performance or practice established by custom, consent or authority and used as a basis for comparison over a period of time."

—Bethal, Atwater Smith & Stackman.

(६) **बड़े पैमाने पर उत्पादन**—उद्योग में प्रमापीकरण की योजना लागू करने से निर्मित माल की किस्मों की संख्या में पर्याप्त कमी हो जाती है, अतएव निर्माता अपना सारा ध्यान उन सीमित किस्मों के उत्पादन में केन्द्रित कर देता है। इससे बड़े पैमाने पर उत्पादन करना सम्भव हो जाता है।

(७) **यन्त्रीकरण सम्भव**—प्रमापीकरण में बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगता है। बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से यन्त्रीकरण की योजना लागू करना सम्भव हो जाता है, क्योंकि इससे उत्पादन में मितव्ययिता, अधिकता, शीघ्रता तथा एकरूपता आदि आ जाती हैं।

(८) **औद्योगिक क्षमता में वृद्धि**—माल की किस्म में सुधार होने, बड़े पैमाने पर उत्पादन होने तथा उत्पादन क्रियायें व उप-क्रियाओं का यन्त्रीकरण होने से औद्योगीकरण क्षमता में वृद्धि होती है। इससे उत्पादकों, उपभोक्ताओं, सरकार एवं राष्ट्र सभी को लाभ पहुँचता है।

(९) **उत्पादन लागत में कमी**—प्रमापीकरण के अन्तर्गत वस्तु की सीमित किस्मों एवं बड़ी मात्रा में उत्पादन किये जाने से उत्पादन लागत में पर्याप्त कमी हो जाती है।

(१०) **सन्तुष्टि**—प्रमापीकरण का एक महत्त्वपूर्ण लाभ यह भी है कि इसमें प्रमापित वस्तुओं का क्रय-विक्रय होने के कारण ग्राहक, विक्रेता तथा निर्माता सभी अपने मन में इस बात की सन्तुष्टि का अनुभव करते हैं कि वे जो भी कह रहे हैं ठीक है। इसमें शोषण की मनोवृत्ति का कोई भी स्थान नहीं होता।

प्रमापीकरण के दोष (Disadvantages of Standardisation)—

प्रमापीकरण में निम्नलिखित दोषों का समावेश है—

(१) **परिवर्तन में कठिनाई**—प्रमापों में मुख्य बुराई परिवर्तन में कठिनाई का होना है। एक बार प्रमाप बन जाने पर लोग उसके अन्धे भक्त हो जाते हैं और उससे उत्तम वस्तु के आ जाने पर भी उसे मन में से निकालने का नाम तक नहीं लेते, अतएव वह अपनी उपयोगिता समाप्त हो जाने पर भी चलता रहता है।

(२) **लोचहीनता**—जैसे-जैसे उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे प्रमाप मजबूत होते जाते हैं। इससे उत्पादन में लोचहीनता आती है।

(३) **ग्राहकों से अधिक मूल्य**—प्रमाप के आधार पर ग्राहक से अधिक मूल्य लिया जा सकता है। प्रतिस्पर्धा उत्पन्न हो जाने पर नकल की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं।

(४) **उद्योग का पिछड़ जाने का भय**—सभी जानते हैं कि जैसे-जैसे औद्योगीकरण की गति तेज होती जा रही है वैसे-वैसे रीति-रिवाज, फैशन व ग्राहकों की पसन्द में भी परिवर्तन होता जा रहा है। अतएव यदि उद्योग प्रमापित वस्तुओं के प्रमापों में ग्राहकों की माँग के अनुकूल आवश्यक परिवर्तन करने में असमर्थ रहता है तो उसका पिछड़ जाना स्वाभाविक ही है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. **प्रमापीकरण किसे कहते हैं ? इसके गुण-दोषों का वर्णन कीजिये।**
   What do you mean by Standardisation ? Describe its advantages and disadvantages.

२. **प्रमापीकरण की परिभाषा दीजिये। इसके लक्षण बताइये। क्या आपकी राय में सभी उद्योगों में प्रमापीकरण की योजना अनिवार्य रूप से लागू कर देनी चाहिये ?**

५

आधुनिक उद्योगों का उद्गम एवं विकास

(Rise and Growth of Modern Industries)

प्रारम्भिक—

आधुनिक युग औद्योगीकरण का युग है। किसी देश को आर्थिक प्रगति एवं सभ्यता के मार्ग पर प्रशस्त करने के लिये तथा देश की निर्धनता एवं बेकारी को दूर करके वैभव और सम्पन्नता लाने के लिये देश का औद्योगीकरण नितान्त आवश्यक है। यही कारण है कि विश्व के समस्त देशों में परस्पर औद्योगीकरण की होड़ लगी है। **श्री मोरारजी देसाई** के शब्दों में, "आज के युग में वही राष्ट्र अग्रगामी समझा जाता है, जो औद्योगिक क्षेत्र में सर्वोपरि हो।" परिणाम-स्वरूप आज हमें देश-विदेश में अनेक विशाल उद्योग दिखाई देने लगे हैं। यहाँ तक कि कृषि-प्रधान देशों में भी औद्योगीकरण को ही प्राथमिकता दी जाने लगी है। स्वभावतः हमारे मन में यह प्रश्न उठता है कि हम औद्योगीकरण की इस वर्तमान स्थिति पर कैसे पहुँचें ? इसका अध्ययन करने के लिए हमें उद्योगों के विकास के इतिहास के कुछ पन्ने पलटने होंगे। मानव-समाज की प्रारम्भिक अवस्था से आज तक का इतिहास देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान आर्थिक एवं औद्योगिक स्तर पर पहुँचने के लिए मानव को कई सीढ़ियों पर से होकर गुजरना पड़ा है।

आधुनिक उद्योगों के उद्गम एवं विकास का ऐतिहासिक क्रम

(Historical Stages of the growth and rise of Modern Industries)

आधुनिक उद्योगों के उद्गम एवं विकास के ऐतिहासिक क्रम को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है :—

(१) **आखेट युग** (Hunting Stage)—इस युग में मनुष्य एवं पशु के जीवन में कोई विशेष अन्तर नहीं था, क्योंकि आहार-विहार तथा रहन-सहन आदि सभी बातों में दोनों में समानता पाई जाती थी, अतएव अन्तर केवल शरीर रचना का ही था। मानव पूर्णरूप से असभ्य होने के कारण पशुओं का शिकार करके अथवा जंगली फल-फूल तोड़कर अपना पेट भर लिया करता था। शरीर ढकने के लिये वह पेड़ों की छाल और पशुओं की खाल का उपयोग करता था। उसके आश्रय का स्थान घने जंगल एवं गुफायें थीं। इस प्रकार आखेट युग में मनुष्य को खाने, पहिनने तथा रहने आदि की चिन्ता नहीं थी। उसे किसी भी वस्तु का स्वयं निर्माण नहीं करना पड़ता था। फलतः वह पूर्णरूप से स्वतन्त्र एवं आत्म-निर्भर था। विनिमय प्रथा का तो उद्गम तक नहीं हुआ था। आपसी युद्ध होना तो एक बहुत ही साधारण बात थी। एक मनुष्य दूसरे मनुष्य को मारकर खाने में कोई बुराई नहीं समझता था।

(२) **चरागाह युग** (Pastoral Stage)—धीरे-धीरे मानव की बुद्धि का विकास हुआ। उसने यह अनुभव किया कि यदि इसी गति से जानवरों को मारा जाने लगा तो एक दिन ऐसा अवश्य आवेगा जबकि या तो उनकी संख्या बहुत कम हो जावेगी अथवा वे पूर्ण रूप से समाप्त हो जावेंगे और उसे उनकी तलाश में अन्य स्थानों की धूल फाँकनी पड़ेगी। अतएव उसने पशुओं से

प्रेम करना तथा उन्हें पालना शुरू किया। पशुओं को पालने हेतु उसे चरागाहों की आवश्यकता प्रतीत हुई और इनकी खोज में उसने इधर-उधर घूमना शुरू किया। इसी कारण इस युग को **'चरागाह युग'** कहते हैं। इस युग में मनुष्य का मुख्य व्यवसाय पशुओं को चराना, दूध निकालना तथा ऊन तैयार करना था। इसी कारण वह पशुओं को अपनी सम्पत्ति समझकर उनकी रक्षा करने लगा। परिणामस्वरूप उसने अपना मकान बनाकर पशुओं के साथ रहना शुरू किया। एक नियत स्थान पर रहने के लिये वह अन्य लोगों के सम्पर्क में आया और इस प्रकार 'जाति-प्रथा' (Tribe System) का उद्गम हुआ। आपसी युद्ध का स्थान जाति युद्ध ने ले लिया। जो जाति युद्ध में पराजित हो जाती थी उसे विजय प्राप्त करने वाली जाति के यहाँ गुलाम बनकर रहना पड़ता था। इस कारण चरागाह युग में गुलाम प्रथा का भी उदय हुआ। किन्तु इतना होने पर भी इस युग में मुद्रा का उद्गम नहीं हो पाया।

(३) **कृषि युग** (Agricultural Stage)—चरागाह युग के पश्चात् कृषि युग आया। इस युग में मानव-समाज ने एक ही स्थान पर रहकर खेती करना, फसल उगाना एवं काटना सीखा। लोग गाँव बसाकर पास-पास रहने लगे। इससे उनमें आपस में प्रेम के साथ रहने की भावना जाग्रत हुई और इस प्रकार सामूहिक जीवन का श्रीगणेश हुआ। यहीं से परिवार प्रथा का विकास होना प्रारम्भ हुआ। धीरे-धीरे जनसंख्या में वृद्धि होने लगी। जनसंख्या की इस वृद्धि के कारण लोगों की आवश्यकताओं में भी वृद्धि होने लगी। अतएव लोगों को विनिमय की आवश्यकता का आभास हुआ और इसी समय वस्तु-विनिमय प्रणाली का उद्गम हुआ। किन्तु यह विनिमय केवल सम्बन्धित गाँव तक ही सीमित था, अर्थात् एक ही गाँव में रहने वाले व्यक्ति आपस में विनिमय किया करते थे।

(४) **दस्तकारी युग** (Handicraft Stage)—कृषि-युग में गाँवों में आत्म-निर्भरता आ गई थी और वे अपनी आवश्यकता की प्रायः सभी वस्तुयें स्वयं ही तैयार कर लिया करते थे, किन्तु उत्पादन कार्य प्रायः कृषि तक ही सीमित था। दस्तकारी-युग में लोगों ने कृषि के छोटे-छोटे औजार, लकड़ी का सामान, मिट्टी के बर्तन, चमड़े की वस्तुयें तथा दस्तकारी की अन्य वस्तुयें बनाना शुरू किया। इन वस्तुओं के निर्माण में उत्पादक की व्यक्तिगत योग्यता तथा कला की स्पष्ट झलक दिखाई पड़ती थी। इसी युग में कारीगरों द्वारा गिल्डों का निर्माण किया गया। प्रत्येक व्यवसाय में एक गिल्ड हुआ करती थी और उस व्यवसाय में लगे सभी व्यक्ति उसके सदस्य होते थे। इस प्रकार सम्बन्धित व्यवसाय में गिल्डों का एकाधिकार रहता था। इससे विशिष्टीकरण का प्रादुर्भाव हुआ।

(५) **गृह-उद्योग युग** (Domestic Stage)—धीरे-धीरे लोगों की आवश्यकतायें बढ़ती गईं। इसके कारण पूर्ति पर अधिक बल देने की आवश्यकता महसूस होने लगी, अतएव विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिला। उधर कारीगर गिल्डों के नियमों से तङ्ग आकर उनकी सदस्यता तक को छोड़ने के लिये विवश हुये। परिणामस्वरूप एक नवीन युग का आरम्भ हुआ, जिसे **'गृह-उद्योग युग'** कहते हैं। इस युग की सबसे प्रमुख विशेषता यह थी कि कारीगर अपने-अपने घरों में अपने ही साधनों के साथ कार्य करते थे तथा माँग के अनुसार माल तैयार करते थे। माँग में वृद्धि हो जाने के कारण पुराने कारीगर के पास न केवल उसके परिवार के सदस्य तथा मित्र वरन् बाहरी जान-पहचान वाले व्यक्ति भी कार्य करने लगे। बाजार का क्षेत्र भी विकसित हो गया। इसी युग में **'मध्यस्थ वर्ग'** का उदय हुआ। यह वर्ग कारीगरों को माल का आदेश देने के साथ-साथ उनके लिये कच्चे माल तथा यहाँ तक कि औजारों तक की व्यवस्था किया करता था। अतएव कारीगर माल के विक्रय तथा अर्थ-प्रबन्धन के कार्य से बिल्कुल मुक्त हो

गया और इस प्रकार उसने अपना सारा ध्यान माल के उत्पादन में वृद्धि की ओर ही केन्द्रित किया। परिणामस्वरूप उत्पादन की मात्रा में वृद्धि होने के साथ-साथ क़िस्म में भी सुधार हुआ।

(६) **औद्योगिक युग** (Industrial Stage)—यद्यपि गृह-उद्योग युग में उत्पादन में वृद्धि हुई किन्तु फिर भी वह बाजारों के हो रहे विकास तथा निरन्तर बढ़ती हुई माँग को पूरा करने में असमर्थ थी। इससे '**औद्योगिक युग**' का आरम्भ हुआ। इस युग की सबसे बड़ी देन मशीनों का आविष्कार है, जिसने समाज के आर्थिक ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्तन किये हैं। देश व विदेश में औद्योगिक क्रान्ति होने के कारण बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की जाने लगी, अतएव बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा। बड़े-बड़े औद्योगिक नगरों की स्थापना हुई। नित्य प्रतिदिन नये-नये आविष्कार होने लगे। इन आविष्कारों का क्रम अमेरिका व योरोप के अन्य देशों में अधिक रहा है, जिसके कारण वे प्रगति की चरम सीमा पर पहुँचने में सफल हुये, जबकि हम एशियावासी अपने आपको अब भी पिछड़ेपन की अवस्था में ही पा रहे हैं।

आधुनिक औद्योगिक विकास की विशेषतायें अथवा प्रवृत्तियाँ
(Characteristics or Trends of Modern Industrial Development)

आज प्रत्येक देश के औद्योगिक क्षेत्र में अनेक आविष्कार एवं प्रयोग किये जा रहे हैं, अतएव आधुनिक औद्योगिक जगत में कई नवीन प्रवृत्तियाँ एवं विशेषतायें दिखलाई देने लगी हैं। ये विशेषतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) **नियोजित औद्योगीकरण**—प्रारम्भ में औद्योगीकरण अवैज्ञानिक एवं अनियोजित ढङ्ग से हुआ। इसके परिणामस्वरूप एक ही देश में कुछ क्षेत्र तो काफी विकसित हो गये और कुछ क्षेत्र अविकसित ही रह गये। भारत इसका उदाहरण है। यही नहीं, उद्योगों के विकास में भी असन्तुलन रहा और औद्योगिक विकास की गति तथा सम्बन्धित राष्ट्र की आवश्यकताओं में आवश्यक समन्वय नहीं रह पाता था। किन्तु आज स्थिति इसके विपरीत है। इस समय प्रायः सभी देश सुनियोजित औद्योगीकरण की नीति द्वारा औद्योगिक विकास की सन्तुलित योजनायें क्रियान्वित करने पर बल दे रहे हैं।

(२) **यन्त्रीकरण**—उत्पादन के प्रत्येक क्षेत्र में किसी न किसी प्रकार से यन्त्रों का प्रयोग होता है। यन्त्रों के प्रयोग से मानव की काम करने की शक्ति बढ़ती है तथा वस्तुओं में एकरूपता आती है, जिससे उत्पादन अधिकतम होकर नियमित होता है, जोकि हाथ से उत्पादन में सम्भव नहीं था। इससे प्रमापीकरण को प्रोत्साहन मिलता है।

(३) **प्रमापीकरण**—आधुनिक औद्योगिक युग में प्रमापीकरण का ही बोलबाला है। यही कारण है कि वस्तुओं, विधियों तथा यन्त्रों आदि सभी में प्रमापीकरण अपनाया जा रहा है। इससे वस्तुओं के निर्माण में एकरूपता आ गई है। क्रय-विक्रय में भारी सुविधा हो गई है। फलतः बाजार का क्षेत्र भी अब पहले की अपेक्षा काफी व्यापक हो गया है। प्रमापीकरण यन्त्रीकरण की देन है।

(४) **विशिष्टीकरण**—वर्तमान युग विशिष्टीकरण का युग है। छोटे से छोटे कार्य के लिये भी विशेषज्ञों की आवश्यकता पड़ती है। विशिष्टीकरण के अनुसार एक व्यक्ति से वही कार्य कराया जाता है जिसके लिये वह सबसे अधिक उपयुक्त होता है। इससे उत्पादन में सुधार, मितव्ययिता तथा सुविधा रहती है।

(५) **श्रम-विभाजन**—प्रमापीकरण, यन्त्रीकरण तथा विशिष्टीकरण के कारण बड़ी-बड़ी औद्योगिक इकाइयों का निर्माण किया जाने लगा है। इससे श्रम-विभाजन की आवश्यकता प्रतीत हुई। श्रम-विभाजन से श्रमिक, उद्योग तथा उद्योगपति सभी को अनेक लाभ हुये हैं।

(६) **औद्योगिक-संयोग**—अनेक औद्योगिक इकाइयों के चलन में आ जाने से आपसी प्रतिस्पर्धा को प्रोत्साहन मिला। यह प्रतिस्पर्धा दिन पर दिन कटु होती चली गई। इस गलाकाट प्रतिस्पर्धा का अन्त करने के लिये औद्योगिक इकाइयों का एकीकरण होना प्रारम्भ हुआ। परिणाम-स्वरूप औद्योगिक संयोगों की स्थापना की जाने लगी। आज इन औद्योगिक संयोगों के अनेक रूप देखने में आते हैं।

(७) **स्वचालन**—'स्वचालन' औद्योगिक प्रगति का एक अनुपम उदाहरण है। इसके अन्तर्गत मानव-शक्ति का तो बहुत ही कम उपयोग किया जाता है। यन्त्रों का संचालन यन्त्रों के द्वारा होता है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य स्वचालित यन्त्रों के द्वारा सम्पन्न होता है।

(८) **पूँजी, श्रम व प्रबन्ध का आपस में पृथक-पृथक होना**—दस्तकारी-युग में पूँजी प्रदान करने वाला, श्रमिक तथा प्रबन्धक एक ही व्यक्ति होता था, किन्तु औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप पूँजीपति तथा श्रमिक दोनों अलग-अलग हो गये। आधुनिक युग में तीन वर्ग पाये जाते हैं, अर्थात् पूँजीपति, श्रमिक तथा प्रबन्ध वर्ग।

(९) **प्रशिक्षण**—प्राचीन काल में उत्पादन प्रणाली बहुत ही सरल थी, अतएव प्रशिक्षण की कोई आवश्यकता नहीं थी, क्योंकि एक ही व्यक्ति समस्त कार्य कर सकता था, किन्तु आधुनिक औद्योगिक युग में उत्पादन प्रणाली इतनी जटिल हो गई है कि बिना आवश्यक प्रशिक्षण के कोई भी कार्य नहीं कर सकता, चाहे वह श्रमिक हो अथवा प्रबन्धक। यही कारण है कि बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने अपने-अपने यहाँ प्रशिक्षण की व्यवस्था कर रखी है। किसी भी व्यक्ति से काम लेने से पूर्व उसको आवश्यक प्रशिक्षण देना पड़ता है। तभी वह कार्य करने के योग्य समझा जाता है। इससे कार्यक्षमता में वृद्धि होती है तथा कार्य भी नियमित रूप से होता है।

(१०) **भीमकाय उत्पादन**—यन्त्रीकरण, प्रमापीकरण, विशिष्टीकरण तथा श्रम-विभाजन के कारण बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की जाने लगी, जिसके कारण भीमकाय उत्पादन होने लगा। इससे उत्पादन का लाभ बढ़ गया। आन्तरिक तथा बाहरी मितव्ययिता दृष्टिगोचर होने लगी।

(११) **राजकीय हस्तक्षेप**—आज के युग में राज्य या सरकार केवल रक्षा व शान्ति व्यवस्था का ही कार्य नहीं करती बल्कि यह भी देखती है कि देश में उचित स्तर पर औद्योगीकरण हो रहा है अथवा नहीं, अतएव आधुनिक औद्योगिक युग में राजकीय हस्तक्षेप औद्योगिक विकास का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना जाने लगा है। यही कारण है कि राज्य धीरे-धीरे आधारभूत तथा महत्त्वपूर्ण उद्योगों को अपने अधिकार में लेता जा रहा है।

(१२) **अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग**—पहले औद्योगिक क्षेत्र में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का सर्वथा अभाव था। किन्तु आज औद्योगिक विकास में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग तीव्र गति से निरन्तर बढ़ रहा है। जो राष्ट्र आज औद्योगीकरण की चरम सीमा पर पहुँच चुके हैं वे अल्पविकसित एवं अविकसित राष्ट्रों में औद्योगिक विकास में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। उदाहरण के लिए, दोनों जर्मनी (पूर्वी एवं पश्चिमी), अमरीका, रूस तथा जापान आदि विकसित राष्ट्र एशिया व अफ्रीका के अनेक अल्पविकसित राष्ट्रों के औद्योगिक विकास में विभिन्न प्रकार से (जैसे—सुलभ पूँजी, दीर्घकालीन ऋण, तकनीकी सहायता आदि) सहायता प्रदान कर रहे हैं। स्वयं भारत के औद्योगिक क्षेत्र में भी इन देशों से विशाल पैमाने पर सहायता मिल रही है।

(१३) **औद्योगिक एकाधिकार की समाप्ति**—अभी कुछ वर्ष पूर्व औद्योगिक क्षेत्र में कुछ गिने-चुने राष्ट्रों, जैसे—ब्रिटेन, अमरीका, जर्मनी, जापान आदि को जो एकाधिकार जैसी स्थिति प्राप्त थी, वह शनैः-शनैः समाप्त होती जा रही है। उसका स्थान न केवल कुछ अन्य देश ही, जैसे—रूस, ले रहे हैं अपितु सम्बन्धित देश में भी औद्योगीकरण तीव्र गति से हो रहा है।

(१४) **सामाजिक उत्तरदायित्व का महत्त्व**— औद्योगिक विकास के क्षेत्र में अब एक नवीन लक्षण अथवा प्रवृत्ति का दृष्टिपात होने लगा है, जिसका नाम उद्योग का सामाजिक उत्तरदायित्व होना है। सरकारी उद्योगों का तो सामाजिक उत्तरदायित्व होता ही है, किन्तु अब निजी क्षेत्र का उद्योगपति भी लाभ-भावना को प्रधानता न देकर सामाजिक सेवा को प्रधानता देने लगा है। चूँकि उद्योगपति भी समाज का ही अंग है, अतएव उसे समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति की ओर अधिकाधिक ध्यान देना ही होगा।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. आधुनिक उद्योगों के उदय के इतिहास को संक्षेप में बतलाइये तथा औद्योगिक विकास की आधुनिक प्रवृत्तियों को भी बतलाइये। (आगरा, १९६३)

२. आधुनिक उद्योगों के विकास के इतिहास का संक्षिप्त वर्णन कीजिये। वर्तमान औद्योगिक युग की क्या-क्या विशेषतायें हैं ?

३. आधुनिक उद्योगों के विकास का संक्षिप्त इतिहास दीजिये और औद्योगिक विकास में नवीनतम् प्रवृत्तियों का उल्लेख कीजिये। (आगरा, १९७२)

४. औद्योगिक विकास की विभिन्न अवस्थाओं पर प्रकाश डालिये।

५. वर्तमान औद्योगिक विकास की विशेषताओं का वर्णन कीजिये।

६

भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास

(Rise of Modern Industries in India)

प्रारम्भिक

प्राचीनकाल में भारत औद्योगिक दृष्टि से एक उन्नतिशील एवं धनाढ्य देश माना जाता था। यद्यपि यहाँ पर आधुनिक उद्योगों का विकास तो नहीं हो पाया था, फिर भी भारत अपनी ग्रामीण एवं कुटीर उद्योगों की वस्तुओं के लिये विश्व-विख्यात था। यही नहीं, जिस समय आधुनिक उद्योग-धन्धों के जन्मदाता पश्चिमी यूरोप में असभ्य जातियाँ बसती थीं, उस समय भारत अपने शासकों की सम्पत्ति एवं शिल्पियों की उच्चकोटि की कला के लिये प्रसिद्ध था। इस कथन की पुष्टि **प्रसिद्ध अँग्रेज इतिहासकार एडवर्ड थॉर्नटन** ने इन शब्दों में की है, "नील नदी की घाटी में जब पिरामिड देखने को न मिलते थे, जब आधुनिक सभ्यता का केन्द्र इटली और ग्रीस जंगली अवस्था में थे, उस समय भारत वैभव व सम्पत्ति का केन्द्र था।" यहाँ का व्यापार ग्रीस, रोम, मिश्र, ईरान, अरब, सीरिया आदि दूर-दूर के देशों तक फैला हुआ था। उस समय ढाका की मलमल, बनारस की साड़ियाँ, गलीचे, हाथी दाँत का सामान, बर्तन, लोहे एवं इस्पात का सामान, लकड़ी के खिलौने आदि भारत की प्रमुख निर्यात की वस्तुयें थीं। जगत-प्रसिद्ध दमिश्क के उस्तरे भारतीय इस्पात के ही बने होते थे। दिल्ली का लौह-स्तम्भ हमारे देश के इन्जीनियरों की कला का जीता-जागता चित्रण है, जिसको बने आज १,५०० वर्ष से भी अधिक का समय हो गया है। **श्री बॉल** (Ball) के अनुसार, इस स्तम्भ का निर्माण आज के आधुनिक कारखानों में भी होना असम्भव है।

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनकाल में भारतीय उद्योग प्रगति की चरम सीमा पर थे। किन्तु अचानक एक महान राजनैतिक परिवर्तन हुआ, जिसमें एक महान साम्राज्य का पतन हुआ और देश में विदेशियों का राज्य स्थापित हो गया। धीरे-धीरे एक के बाद एक भारतीय उद्योग समाप्त होते गये और उनके स्थान पर आधुनिक उद्योगों की स्थापना होने लगी।

भारत में औद्योगिक विकास
(Industrial Development in India)

वास्तव में यदि देखा जाय तो भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास सन् १८५० के बाद से ही शुरू हुआ है। इन उद्योगों को हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं—(१) बगीचा उद्योग और (२) निर्माणी उद्योग। प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन नीचे किया गया है :—

(१) बागान अथवा बगीचा उद्योग (Plantation Industry)—

बगीचा उद्योग में मुख्यत: चाय, कॉफी, जूट तथा नील उद्योग सम्मिलित किए जाते हैं। आधुनिक उद्योगों के रूप में हमारे देश में सर्वप्रथम बगीचा उद्योग का प्रादुर्भाव हुआ। इस

उद्योग का प्रारम्भ यूरोपीय लोगों के द्वारा ही हुआ। प्रारम्भिक काल से ही बगीचा उद्योग का स्वामित्व, संचालन तथा नियन्त्रण ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अवकाश प्राप्त कर्मचारियों के पास था। बाद में अधिक लाभ होने के कारण यूरोपीय व्यापारियों ने बगीचा उद्योग में धन लगाना प्रारम्भ किया।

भारत में प्रथम बार सन् १८२० में चाय के पौधे की खोज हुई थी। लॉर्ड विलियन बेंटिक के प्रयत्नों से ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चाय की खेती सन् १८३४ में प्रारम्भ की तथा अपने बगीचे का ⅔ भाग आसाम टी कम्पनी को दे दिया। इस उद्योग की प्रगति देखकर यूरोपीय व्यापारियों ने सन् १८५३ से इसमें भाग लेना प्रारम्भ किया। इसके पश्चात् सन् १८६५ में सरकार ने इस पर से अपना अधिकार हटा लिया और चाय आदि उगाने का कार्य उद्योगपतियों के लिए छोड़ दिया। तब से इस उद्योग की निरन्तर प्रगति हो रही है। आज भारत को विश्व में दूसरा स्थान प्राप्त है। पहला स्थान चीन का है। विश्व के चाय व्यापार का लगभग ५५% भाग भारत के ही हाथ में है। हमारे देश से प्रतिवर्ष लगभग १२५ करोड़ रुपये के मूल्य की चाय निर्यात होती है। लगभग ७८ देश भारत से चाय मँगवाते हैं। इनमें इंगलैण्ड, संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, आयरलैण्ड, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड, ईरान, अरब, मिस्र, टर्की और रूस मुख्य हैं। पाँचवीं योजना में चाय के उत्पादन तथा निर्यात दोनों की मात्रा में वृद्धि करने का संकल्प लिया गया है।

यह निश्चित रूप से मालूम नहीं हो पाया है कि भारत में कॉफी का उत्पादन कैसे प्रारम्भ हुआ। अधिकृत सूचना के अनुसार भारत में कॉफी की उत्पत्ति सन् १८३० से आरम्भ की गई। इसका प्रथम बगीचा मैसूर में लगाया गया था। कॉफी उद्योग की वास्तविक प्रगति सन् १८६०-७९ की अवधि में हुई। भारत में विश्व के कुल कॉफी क्षेत्र का लगभग २% भाग ही है, जबकि ब्राजील में लगभग ७०% भाग है। इसका उत्पादन दक्षिणी भारत तक ही सीमित है। इनमें से मद्रास, मैसूर, कुर्ग, केरल मुख्य हैं। अब तक के उपलब्ध आँकड़ों के अनुसार भारत में २७ हजार कॉफी के बगीचे हैं, जिनमें लगभग ७०% बगीचे भारतीयों के हैं और शेष यूरोपीयनों के अधिकार में हैं। विश्व के कुल कॉफी उत्पादन का लगभग १ प्रतिशत भाग भारत में उत्पन्न होता है। आजकल भारत में कॉफी का वार्षिक औसत उत्पादन ४५ हजार टन है। भारतीय कॉफी बोर्ड ने कॉफी उत्पादन विकास की एक योजना बनाई है, जिसके अनुसार सन् १९७० तक भारत में कॉफी का उत्पादन बढ़कर ६८ हजार टन तक पहुँच जायेगा। इसके साथ ही कॉफी की प्रति एकड़ उपज भी बढ़ाने की योजना है। इस समय भारत में कॉफी की प्रति एकड़ उपज ३१२ पौंड है, जबकि कोलम्बिया तथा ब्राजील में कॉफी की उपज क्रमशः ६०० पौण्ड तथा ५०० पौण्ड है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के क्षेत्र में भारतीय कॉफी के व्यापार का स्थान बहुत ही नगण्य है।

जूट कातने की सबसे पहली मिल सन् १८५५ में जॉर्ज ऑकलैण्ड ने रिशरा नामक स्थान पर खोली। ऑकलैण्ड को अधिक सफलता नहीं मिल सकी, परन्तु इसके बाद १८५९ में स्थापित 'बोर्नियो जूट कम्पनी' को आशातीत लाभ हुआ और १८६४ तक के केवल पाँच वर्षों में लगाई गई पूँजी का दुगना लाभ हुआ। इस द्वितीय मिल की आश्चर्यजनक प्रगति को देखकर धीरे-धीरे और भी जूट मिलें स्थापित की जाने लगीं। आज भारत की अर्थ-व्यवस्था में जूट उद्योग को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। करीब २० लाख किसान परिवार की रोजी चलती है तथा जूट मिलों में २·५ लाख से भी अधिक व्यक्ति कार्य करते हैं। भारत को प्राप्त होने वाली कुल विदेशी विनिमय का २०% भाग इसी उद्योग से प्राप्त होता है। कुल उत्पादित माल का ८०%

भाग निर्यात होता है। विदेशी मुद्रा प्राप्त करने की दृष्टि से इस उद्योग का प्रथम स्थान है। डॉलर जैसी दुर्लभ मुद्रा प्राप्त करने की दृष्टि से तो यह सदा ही सर्वोपरि रहा है। सन् १९६१ के वर्ष में, जबकि कच्चे माल की भारी कमी थी, भारत को इसके निर्यात से १४६ करोड़ रुपये की विदेशी मुद्रा प्राप्त हुई। सन् १९७१-७२ में भारत ने २१४ करोड़ रुपये के मूल्य का जूट निर्मित माल का निर्यात किया। संयुक्त राज्य अमेरिका, कनाडा, इङ्गलैण्ड, अर्जेन्टाइना, आस्ट्रेलिया, ब्राजील, रूस, पश्चिमी जर्मनी आदि भारतीय जूट के माल के प्रमुख ग्राहक हैं। आज इस उद्योग को बंगला देश से होने वाली तीव्र प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है। निस्सन्देह भारत को अपने इस महान उद्योग पर गर्व है।

नील उद्योग सर्वप्रथम बंगाल में प्रारम्भ किया गया। किन्तु उद्योगपतियों एवं खेतिहरों के झगड़े के कारण यह उद्योग बिहार तथा उत्तर प्रदेश में भी विकसित होने लगा। ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने नील की उन्नति करने के लिए पश्चिमी द्वीप समूह से होशियार लोगों को बंगाल में लाकर बसाया। सन् १८६० में यह उद्योग उन्नति के शिखर पर पहुँच गया और भारत से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में यह भी एक महत्त्वपूर्ण वस्तु गिनी जाती थी। सन् १८९७ के बाद से इस उद्योग की खेती और निर्यात का पतन होने लगा। सन् १९१३-१४ में तो नील का निर्यात सन् १८९५ के निर्यात के मुकाबले में केवल $\frac{1}{2}$ ही रह गया।

(२) निर्माणी उद्योग (Factory or Manufacturing Industry)—

उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य तक यूरोप के लोगों ने भारत में निर्माणी उद्योगों की स्थापना की दिशा में कोई विशेष महत्त्वपूर्ण कदम नहीं उठाया। वे प्राय: निष्क्रिय थे। उनकी निष्क्रियता के निम्न कारण थे :—(१) ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा यूरोपियनों पर भारत में भूमि खरीदने पर प्रतिबन्ध लगाया गया था। (२) सन् १८३३ तक ईस्ट इण्डिया कम्पनी का भारतीय व्यापार पर एकाधिकार था। (३) आन्तरिक यातायात के साधनों का भारी अभाव था।

उपरोक्त सभी कठिनाइयाँ सन् १८३३ से धीरे-धीरे दूर होती गईं। यातायात के साधनों का विकास होने के कारण अब मशीनों का आयात करना सुलभ हो गया। यूरोप के व्यापारियों ने यह भी महसूस किया कि भारत में कच्चे माल की प्रचुरता का पूर्ण लाभ आधुनिक उद्योगों की स्थापना करके ही उठाया जा सकता है। अतएव उन्होंने अपना ध्यान निर्माणी उद्योगों की ओर आकर्षित किया। परिणामस्वरूप सन् १८५१ में पहला निर्माणी उद्योग वस्त्र कारखाने के रूप में स्थापित हुआ। इसका नाम 'दि बोम्बे स्पिनिंग एण्ड वीविंग कम्पनी' था। इस कारखाने ने सन् १८५४ से उत्पादन करना प्रारम्भ कर दिया। प्रारम्भिक काल में इस उद्योग को तीव्र विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ा। प्रथम महायुद्ध में इस उद्योग को भारी प्रोत्साहन मिला। उत्पादन ड्यौढा हो गया और निर्यात दूना हो गया और परिणामस्वरूप मिल मालिकों ने खूब लाभ कमाया तथा नये-नये मिलों की स्थापना की गई। किन्तु सन् १९२३ के बाद से इस उद्योग को मन्दी का सामना करना पड़ा, जिसके कारण विकास की गति शिथिल हो गई। फलतः सन् १९२७ में उद्योग को संरक्षण प्रदान किया गया, जो सन् १९४७ तक चालू रहा। आज यह भारत का सबसे प्रमुख एवं बड़ा उद्योग है। इस क्षेत्र में भारत को विश्व में भी प्रथम स्थान प्राप्त है। सन् १९६२ में भारत में कपड़ा मिलों की संख्या ४८० थी। सन् १९६१ में भारत ने ५७५ करोड़ गज कपड़े का निर्यात किया। तृतीय योजना में मिल के कपड़े का उत्पादन लक्ष्य ८८५ करोड़ मीटर (५५० करोड़ मीटर मिल क्षेत्र में तथा ३३५ करोड़ मीटर विकेन्द्रित क्षेत्र में) निर्धारित किया गया था। योजना के अन्त में कपड़े का कुल उत्पादन ७४० करोड़ मीटर था। प्रति व्यक्ति वार्षिक कपड़े की खपत १५ मीटर से बढ़कर १६·३ मीटर हो गई। तृतीय योजना के

अन्त में सूती वस्त्र मिलों की संख्या ५७५ तक पहुँच गई। चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में मिल क्षेत्र में उत्पादित कपड़े का लक्ष्य ५४८·६ करोड़ मीटर निर्धारित किया गया था, जबकि सन् १९७१-७२ का वास्तविक उत्पादन केवल ४३० करोड़ मीटर ही था। सन् १९७१-७२ में भारत ने ११४·७ करोड़ रु० के कपड़े का निर्यात किया।

सूती वस्त्र उद्योग के पश्चात् पटसन उद्योग का नम्बर आता है। सन् १८५५ में पटसन उद्योग की स्थापना की गई। प्रारम्भिक काल में इस उद्योग को भी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परन्तु सन् १८६३-६४ से यह उद्योग भली-भाँति उन्नति करने लगा।

उपरोक्त दोनों महत्त्वपूर्ण उद्योगों के अतिरिक्त कुछ अन्य उद्योगों की भी स्थापना कारखाना प्रणाली के रूप में की गई। इनमें से चमड़ा उद्योग, काँच उद्योग, लोहा एवं इस्पात उद्योग, चीनी उद्योग, कोयला उद्योग, कागज उद्योग, सीमेण्ट उद्योग आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि भारत में आधुनिक उद्योगों का प्रादुर्भाव सन् १८५४ से हुआ, किन्तु इन्हें प्रारम्भिक काल में आशाजनक सफलता प्राप्त नहीं हुई। सन् १८५० से लेकर १८७५ के काल में इन्हें अवश्य कुछ सफलता प्राप्त हुई। इसके विपरीत इसी काल में दस्तकारी उद्योग का भारी पतन हुआ। यदि देखा जाय तो भारतीय उद्योगों की वास्तविक प्रगति सन् १८७५ के बाद से ही हुई है। बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में भारत में कई महत्त्वपूर्ण विशाल उद्योगों की स्थापना हुई। भारत के राष्ट्रीय नेताओं ने भी औद्योगीकरण पर बल दिया। सन् १९०५ में भारतीय काँग्रेस के साथ भारतीय औद्योगिक सम्मेलन भी प्रारम्भ हुआ। 'बङ्ग-भङ्ग आन्दोलन' एवं 'स्वदेशी आन्दोलन' देशव्यापी राजनीतिक एवं आर्थिक असन्तोष के प्रतीक थे। मॉन्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट के अनुसार "स्वदेशी आन्दोलन तथा विदेशी बहिष्कार एक ही उद्देश्य के दो पहलू थे।" परिणामस्वरूप देश में औद्योगिक उत्साह की लहर दौड़ गई। अनेक उद्योगों तथा विनियोग संस्थाओं की स्थापना हुई। सन् १९११ की औद्योगिक गणना के अनुसार उस समय १० से अधिक श्रमिकों के काम करने वाले कारखानों की संख्या ७,११३ थी, इनमें से ४,५६९ कारखानों में यान्त्रिक या अन्य शक्ति का प्रयोग होता था। इस गणना के अनुसार उद्योगों पर निर्भर जनसंख्या २१,०५,८२४ थी, जिसमें से बगीचा उद्योग, वस्त्र उद्योग, खान उद्योग तथा यातायात सम्बन्धी उद्योगों में क्रमशः ८,१०,४०७; ५,५७,५८९; २,२४,०८७ और १,२५,११७ व्यक्ति कार्य करते थे। इस प्रकार औद्योगिक जनसंख्या का लगभग ८१% भाग इन चार प्रमुख उद्योगों में लगा हुआ था। **श्री मौन्ट गुमरी** के शब्दों में "भारत जितना कृषि-प्रधान देश है उतना ही औद्योगिक भी। यदि कोई व्यक्ति उसे केवल कृषि-प्रधान देश कहता है, तो सभ्यता के स्तर में उसे नीचे गिराता है।"

भारत में औद्योगिक विकास के कारण
(Forces helping Industrial Development in India)

भारत में औद्योगिक विकास के निम्नलिखित कारण थे :—

(१) **भारतीय कुटीर उद्योग-धन्धों का विनाश**—विश्व-विख्यात भारतीय कुटीर उद्योगों की अवनति सन् १८२० के पश्चात् अँग्रेजी शासन के कारण हुई। अँग्रेजी शासन-काल में हुए बर्बरतापूर्ण तथा मानवताहीन अत्याचारों ने कुटीर-शिल्पियों को अपना व्यवसाय छोड़ने के लिए बाध्य किया। जुलाहों के अँगूठे तक कटवा लिये गये, उनकी झोंपड़ियों में आग लगवाई गई तथा इङ्गलैण्ड मे भारतीय वस्त्रों के पहनने पर कानून के द्वारा रोक लगाई गई। उपरोक्त के अलावा संक्षेप में इनकी अवनति के कारण निम्न और थे :—(१) इङ्गलैण्ड में मशीनों से निर्मित सस्ती वस्तुओं की गलाकाट प्रतियोगिता में हमारे ये उद्योग टिक न सके। (२) भारतीय राजाओं और नवाबों का अन्त, जहाँ इनको आश्रय तथा प्रबल पोषण मिलता था। (३) एक नवीन

'सामन्तवादी वर्ग' का उदय हुआ, जो केवल जन्म से भारतीय तथा दिल-दिमाग से विदेशी था। पश्चिमी ढङ्ग से शिक्षित यह पुरातन भारतीय गौरव को बिलकुल भूल गया। (४) आवागमन के साधनों का विकास। (५) हमारे कारीगरों तथा शिल्पियों की अज्ञानता, रूढ़िवादिता, घर के प्रति मोह तथा परिस्थितियों के अनुकूल होने की कमी। (६) संयुक्त परिवार प्रणाली का अन्त होना।

(२) **बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों का विकास**—भारत में बड़े-बड़े व्यापारिक केन्द्रों का स्थापित होना भी अँग्रेजी शासन की एक महत्त्वपूर्ण देन थी। अँग्रेजी शासन से पूर्व भारत में अनेक व्यापारी तथा राजनीतिज्ञ हिन्दू राजाओं ने मन्दिर बनवाये, मुगल बादशाहों ने महल तथा मकबरे बनवाये, मराठों ने किलों का निर्माण किया, डच तथा पुर्तगालियों ने गिरजाघर बनवाये, किन्तु अँग्रेजों ने उपयुक्त स्थानों को चुनकर व्यापारिक नगरों का निर्माण करके भारतीयों में एक नवीन औद्योगिक जीवन का संचार किया।[1] नये-नये व्यापारिक केन्द्रों के विकास ने भारत में औद्योगीकरण को बढ़ावा दिया। यही कारण है कि आज देश में जिन स्थानों पर बड़े-बड़े उद्योग-धन्धे विद्यमान हैं, उनका जन्म वास्तव में अँग्रेजी शासन-काल में ही हुआ। बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, अहमदाबाद, कानपुर आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

(३) **ईस्ट इण्डिया कम्पनी के एकाधिकार का समापन**—सन् १८३३ से पूर्व ईस्ट इण्डिया कम्पनी को भारत में व्यापार करने का एकाधिकार प्राप्त था। किन्तु १८३३ में इस एकाधिकार को समाप्त कर दिया गया। इससे अँग्रेज व्यापारियों को भारत में व्यापार करने का एक स्वर्ण अवसर प्राप्त हुआ। अतएव बगीचा तथा एकाधिकृत उद्योग जैसे पटसन तथा रेल उद्योग में विदेशी पूँजी का आयात हुआ। इस प्रकार भारत में भीमकाय उद्योगों के विकास की आधारशिला रखी गई।

(४) **अँग्रेजी भाषा का प्रचलन**—सन् १८३५ में भारत में अँग्रेजी भाषा का प्रचलन हुआ। इससे भारतीयों को आधुनिक वैज्ञानिक विषयों को समझने में सुविधा हुई। व्यावसायिक सङ्गठन के सिद्धान्तों को समझने के लिए तथा पाश्चात्य आधार पर उद्योगों के लिए तान्त्रिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए अँग्रेजी भाषा की जानकारी होना परम आवश्यक था। यही नहीं, भारत में राष्ट्रीयता की भावना का विकास करने में अँग्रेजी भाषा ने बहुत मदद दी। भारत में स्वदेशी आन्दोलन होना भी एक प्रकार से अँग्रेजी भाषा की ही देन थी। इसके अतिरिक्त अँग्रेजी भाषा ने मध्यम वर्ग को जन्म दिया। इस वर्ग में व्यापारी, उद्योगपति, वकील, डॉक्टर, बैंकर्स तथा अन्य पेशों में काम करने वाले व्यक्ति सम्मिलित थे। इन्होंने भारत के औद्योगीकरण में भारी सहायता प्रदान की।

(५) **स्वदेशी आन्दोलन**—विद्वानों के मतानुसार भारत में स्वदेशी आन्दोलन होना भी एक प्रकार से अँग्रेजी भाषा की ही देन थी। यह राजनीतिक आन्दोलन होने के साथ-साथ आर्थिक असन्तोष का भी प्रतीक था। स्वदेशी आन्दोलन ने विदेशी वस्तुओं, मुख्यत: विदेशी कपड़े के बहिष्कार पर जोर दिया। परिणामस्वरूप लोगों में विदेशी कपड़े के प्रति घृणा उत्पन्न हो गई। स्थान-स्थान पर विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। इससे भारत में सूती वस्त्र उद्योग को प्रोत्साहन मिला।

(६) **यातायात के साधनों का विकास**—उन्नीसवीं शताब्दी के मध्य में भारत में रेल तथा सड़कों का विकास होना शुरू हुआ। बाद में सामुद्रिक यातायात का भी विकास हुआ।

---

[1] W. W. Hunter : *The Indian Empire*, p. 659-60.

सन् १८६६ में स्वेज नहर के खुलने से भारत का व्यापार यूरोपीय देशों के साथ बढ़ा। इससे विदेशों से मशीनें तथा तान्त्रिक कुशलता प्राप्त करने में सुविधा हुई। अतएव भारत में बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों का विकास हुआ।

(७) **अकालों का कटु अनुभव**—उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम चरण में भारत में अकालों का तांता लगा रहा। सन् १८७७ तथा १८८० का अकाल तो अत्यन्त ही भयङ्कर था। इसके लिये विभिन्न जाँच आयोग नियुक्त किये गये। उन्होंने भारत में औद्योगीकरण तथा यातायात के साधनों के विकास पर अत्यधिक बल दिया। अतएव भारत में सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, कागज उद्योग आदि की स्थापना की जाने लगी।

(८) **चीन में भारतीय सूत की माँग**—पड़ोसी राज्यों मुख्यत: चीन में भारतीय सूत की माँग बढ़ी। इस बढ़ी हुई माँग की पूर्ति करने हेतु भारत में सूती मिलों की संख्या तथा उनकी उत्पादन-क्षमता में वृद्धि होना स्वाभाविक ही था। परिणामस्वरूप भारतीय सूती वस्त्र उद्योग का विकास हुआ। आज भी यह भारत का सबसे महत्त्वपूर्ण उद्योग बना हुआ है।

(९) **भारतीय उद्योगपतियों का उत्साह**—समय की माँग को पहिचानकर भारतीय उद्योगपतियों ने भी देश के औद्योगीकरण के क्षेत्र में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया। इस सम्बन्ध में दादाभाई नौरोजी तथा जमशेदजी टाटा के प्रयत्न अविस्मरणीय हैं। भारतीय पूँजीपतियों की इस भावना से प्रभावित होकर **स्वर्गीय रानाडे** ने एक स्थान पर लिखा है, "अब भारत समुचित रूप से उस मार्ग पर अग्रसर हुआ है, जिसका अनुसरण यदि पूँजीपति उसी भावना से करते रहे जिससे वे अब तक प्रेरित रहे हैं, तो उसका औद्योगिक उत्थान निश्चित है।"

(१०) **असीम लाभ की सम्भावनाएँ**—अंग्रेज व्यापारियों ने चाय, कॉफी एवं नील के व्यापार में अत्यधिक लाभ कमाया। इससे प्रेरित होकर वे यह अनुभव करने लगे कि भारत में अन्य औद्योगिक क्षेत्रों में भी खूब लाभ कमाने की गुंजाइश है।

(११) **प्रतिस्पर्धात्मक भय की समाप्ति**—सन् १८५८ के अन्त तक अंग्रेजों का भारत पर पूर्णत: विधिवत् अधिकार हो गया था। अतएव अब उन्हें किसी स्थानीय अथवा विदेशी प्रतिस्पर्धा का भय कतई नहीं रहा था। परिणामस्वरूप उन्होंने निर्बाध रूप से भारत में ही उद्योगों की स्थापना करके यहाँ के विशाल प्राकृतिक साधनों एवं व्यापक बाजार का लाभ उठाने का निर्णय किया।

(१२) **अन्य कारण**—उपरोक्त के अतिरिक्त और भी कई कारण थे, जिनके कारण भारत में तत्कालीन औद्योगिक सफलता प्राप्त हुई। उदाहरण के लिये, राजनैतिक क्षेत्रों में हलचलों का होना (जैसे—अमेरिकन गृह-युद्ध ने सूती वस्त्र उद्योग को प्रोत्साहन प्रदान किया), जनसाधारण का मशीनों की ओर झुकाव होना, प्राचीन उद्योग-धन्धों का असङ्गठित होना आदि महत्त्वपूर्ण हैं।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. भारत में आधुनिक उद्योगों के विकास का संक्षिप्त इतिहास बताइये। भारत का आधुनिक औद्योगिक ढाँचा कहाँ तक पूँजीवादी है ? स्पष्ट कीजिये। (आगरा, १९७०)
२. भारत में औद्योगिक विकास के क्या-क्या कारण थे ? प्रत्येक का संक्षेप में वर्णन कीजिये।
३. भारत में आधुनिक उद्योगों के उद्गम पर टिप्पणी लिखिये।
४. "भारत जितना कृषि-प्रधान देश है उतना ही औद्योगिक भी। यदि कोई व्यक्ति उसे केवल कृषि-प्रधान-देश कहता है तो सभ्यता के स्तर में उसे नीचा गिराता है"—मोण्ट गुमरी। क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? इस सन्दर्भ में भारत में औद्योगिक विकास कैसे हुआ, इसको संक्षेप में समझाइये।

७

संगठन—अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य, सिद्धान्त एवं संरचना
(Organisation—Meaning, Definition, Objectives, Principles and Structure)

प्रारम्भिक—संगठन शब्द की उत्पत्ति एवं आशय

जब कभी दो या दो से अधिक व्यक्ति किसी उपक्रम में साथ-साथ कार्य करते हैं, तो इन व्यक्तियों के मध्य कार्य को बाँटने की आवश्यकता होती है। इसी का नाम 'सङ्गठन' है और यहीं से सङ्गठन की क्रिया का शुभारम्भ होता है। अंग्रेजी भाषा के शब्द 'Organisation' की उत्पत्ति 'Organism' से हुई है, जिसका आशय देह के ऐसे टुकड़ों से है, जो परस्पर इस प्रकार सम्बन्धित हैं कि एक पूर्ण इकाई के रूप में कार्य करते हैं। विश्व में देखी जाने वाली विभिन्न वस्तुओं में सर्वाधिक जटिल, अद्भुत एवं प्रभावशाली संरचना परमपिता परमात्मा द्वारा रचित (निर्मित) मानव शरीर की है। मानव शरीर में अनेक छोटे-मोटे भाग होते हैं तथा प्रत्येक भाग (organ) का एक नियत कार्य होता है, जैसे—हाथों का कार्य खाना पकाना, मुख का खाना, पेट का पचाना, टाँगों का चलना, आँखों का देखना, कान एवं नाक का सुनना तथा सूँघना इत्यादि। किन्तु इन विविध भागों के अतिरिक्त मानव शरीर के मस्तिष्क में एक केन्द्रीय विभाग भी होता है, जो समस्त क्रियाओं का नियोजन करता है, विभिन्न भागों का निर्देशन एवं संचालन करता है तथा उस पर पर्याप्त नियन्त्रण रखता है। **विभिन्न विभागों में प्रभावपूर्ण समन्वय स्थापित करने की कला को ही वाणिज्य की भाषा में 'संगठन' कहते हैं।** उदाहरण के लिए, जब हमारे मस्तिष्क में कोई विचार पैदा होता है, तो उसको क्रियान्वित करने के लिए शरीर के सभी भाग क्रियाशील हो जाते हैं।

सङ्गठन की परिभाषा
(Definition of Organisation)

सङ्गठन शब्द एक अत्यन्त विस्तृत शब्द है। अतएव इसकी एक ऐसी परिभाषा देना कठिन है, जो सर्वमान्य हो। विभिन्न विद्वानों ने संगठन शब्द की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं :—

(१) **जी० ई० मिलवर्ड** के अनुसार, "कार्य और कर्मचारी समुदाय का मधुर सम्बन्ध सङ्गठन कहलाता है।"

(२) **मेकफरलैण्ड** के अनुसार, "समान व्यक्तियों के समूह के द्वारा लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु किये जाने वाले कार्यों को ही सङ्गठन कहते हैं।"[1]

(३) **हैने** के अनुसार, "किसी सामान्य उद्देश्य अथवा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये विशिष्ट अंगों का मैत्रीपूर्ण संयोजन ही संगठन कहलाता है।"[2]

---

[1] "An identifiable group of people contributing their efforts towards the attainment of goals is called organisation."—**Mc Farland.**

[2] "Organisation is a harmonious adjustment of specialised parts for the accomplishment of some common purpose or purposes."—**Haney.**

(४) **आर० सी० डेविस** के अनुसार, "सङ्गठन मूलत: व्यक्तियों का एक समूह है, जोकि नेता के निर्देशन में सामान्य उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सहयोग करते हैं।"

(५) **उर्विक** (Urwick) के अनुसार, "किसी कार्य को सम्पादित करने के लिये किन-किन क्रियाओं को किया जाय, इसका निर्धारण करना एवं उन क्रियाओं का व्यक्तियों के बीच वितरण की व्यवस्था करना ही सङ्गठन है।"

(६) **विलियम स्प्रीगल** के अनुसार, "व्यापक दृष्टि से संगठन उस कला को कहते हैं जिसके द्वारा किसी उद्योग में मानव, मशीन तथा माल (तीन एम०) को नियन्त्रित करने के लिए जो सिद्धान्त लागू होते हैं, उन्हें प्रयुक्त किया जाता है।"

(७) **मूनी एवं रीले** (Mooney and Reily) के अनुसार, "संगठन का अर्थ केवल किसी भवन के ढाँचे के निर्माण से ही नहीं है, अपितु उसकी सम्पूर्ण रचना (तत्सम्बन्धी समस्त कर्त्तव्यों व कार्यों सहित) से है। यह उन क्रियाओं को इङ्गित करता है जोकि संगठित इकाई की नाड़ी, हृदय की धड़कन, रक्त-संचार तथा महत्त्वपूर्ण हरकतों के समान है।"

(८) **हैराल्ड, कूण्टज एवं ओ' डोनेल** के शब्दों में—"आधुनिक वर्तमान युग में अनेक घटकों के सहयोग से उत्पादन किया जाता है............इन विभिन्न घटकों में प्रभावी सामंजस्य स्थापित करना ही संगठन है।"

(९) **ई० एफ० एल० ब्रेच** के अनुसार, "संगठन प्रबन्ध की संरचना है, क्योंकि वह अधिक सार्थक कार्य सम्पादन हेतु कुल उत्तरदायित्व को उचित भागों में विभक्त करता है।"

(१०) **सी० ई० नोपेल** (C. E. Knoeppel) के अनुसार, "कुछ निश्चित उद्देश्यों की प्राप्ति के प्रयत्न में मनुष्यों के बीच सम्बन्ध का उचित समायोजन संगठन कहलाता है।"

उपयुक्त परिभाषा—

उपरोक्त परिभाषाओं के अध्ययन के पश्चात् संक्षिप्त रूप में संगठन की उपयुक्त परिभाषा इस प्रकार दी जा सकती है:—**"उत्पादन के विभिन्न घटकों में प्रभावपूर्ण सामंजस्य स्थापित करने को ही सङ्गठन कहते हैं।"**

सङ्गठन के उद्देश्य
(Objectives of Organisation)

सभी व्यावसायिक उपक्रमों में संगठन के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं:—

(१) **मितव्ययिताओं की प्राप्ति करना**—न्यूनतम् व्यय पर अधिकतम् उत्पादन प्राप्त करना ही संगठन का प्राथमिक उद्देश्य है। इसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए प्रभावशाली संगठन प्रणाली कायम की जाती है।

(२) **समय तथा प्रयत्नों में मितव्ययिता**—उत्पादन में मितव्ययिता के साथ-साथ सङ्गठनकर्त्ता समय व प्रयत्नों में भी मितव्ययिता करने का प्रयास करता जाता है। यह तभी सम्भव है जबकि श्रेष्ठतम्-संगठन प्रणाली हो एवं आधुनिक यन्त्रों का प्रयोग हो।

(३) **श्रम तथा पूँजी के बीच मधुर सम्बन्धों की स्थापना**—प्रबन्धक श्रम व पूँजी के बीच सङ्घर्ष के स्थान पर मधुर सम्बन्धों की स्थापना का भरसक प्रयत्न करता है। इस हेतु कार्य में विविध प्रकार की प्रेरणायें प्रदान की जाती हैं, ताकि श्रमिकों में सन्तोष व सहयोग की भावना बनी रहे।

(४) **सेवा की भावना जाग्रत करना**—प्रत्येक व्यावसायिक इकाई का लाभ कमाना तो उद्देश्य होता ही है, किन्तु यदि काम की भावना के साथ-साथ सेवा की भावना भी विद्यमान हो, तो अधिक श्रेयस्कर रहता है।

संगठन के सिद्धान्त
(Principles of Organisation)

वास्तव में 'संगठन' से ही शक्ति होती है। यह सम्पूर्ण उद्योग एवं व्यवसाय का कलेवर है। संगठन के प्रमुख सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

(१) **क्रियाओं का सामूहीकरण** (The Grouping of Activities)—औद्योगिक एवं व्यावसायिक इकाई का सम्पूर्ण कार्य कुछ विभागों में बाँट दिया जाता है, ताकि कार्य भली प्रकार सम्पन्न हो सके। इन विभागों की क्रियाओं में सामंजस्य स्थापित करते हुए आवश्यक नियन्त्रण स्थापित किया जाता है।

(२) **कार्य का योग्यतानुसार लोगों में वितरण** (Allocation of the Task to Persons)—प्रत्येक व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत योग्यता, अनुभव एवं चातुर्य के अनुसार सम्बन्धित विभाग के कार्य में एक निश्चित भाग सौंपा जाता है। इस प्रकार कार्य का वितरण हो जाने से कर्त्तव्यों व दायित्वों से बचने का अवसर नहीं मिलता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी कुछ न कुछ जिम्मेदारी अनुभव करने लगता है तथा कार्य में त्रुटि होने पर सम्बन्धित व्यक्ति को आवश्यक दण्ड भी दिया जा सकता है।

(३) **अधिकार सौंपना** (Delegation of Authority)—अधिकार एवं कर्त्तव्य दो सम्बन्धित शब्द हैं। अतएव कार्य का वितरण होने के साथ-साथ अधिकार का वितरण करना भी स्वाभाविक है, ताकि सम्बन्धित व्यक्ति सौंपे गये कार्य को उचित रूप से कर सकें अथवा दूसरों से करा सकें। अभाग्यवश, भारतवर्ष में प्रबन्धकर्त्ता अधिकार-वितरण के महत्त्व को नहीं समझते हैं। वे यह सोचते हैं कि अधिकार-वितरण से उनके अधिकारों में कमी आ जावेगी अथवा कर्मचारी उनके नियन्त्रण से मुक्त हो जायेंगे। यह विचारधारा अवनति की ओर ले जाने वाली है।

(४) **नियन्त्रण का क्षेत्र** (The Span of Control)[1]—नियन्त्रण का क्षेत्र सीमित होना चाहिए। क्योंकि, प्रत्येक व्यक्ति की संगठन करने की क्षमता सीमित होती है।

(५) **व्याख्या का सिद्धान्त** (The Principle of Definition)[1]—प्रत्येक कर्मचारी के अधिकार, कर्त्तव्य तथा दायित्व की स्पष्ट रूप से व्याख्या होनी चाहिये। ऐसा होने से वह कर्मचारी अधिक सुचारु रूप से अपना कार्य कर सकेगा।

(६) **समन्वय का सिद्धान्त** (The Principle of Co-ordination)[1]—सङ्गठन का उद्देश्य किसी औद्योगिक एवं व्यावसायिक इकाई के विभिन्न कार्यों, साधनों तथा व्यक्तियों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित करना है।

(७) **सन्तुलन का सिद्धान्त**[1]—प्रत्येक सङ्गठन का अन्तिम उद्देश्य सुलभ एवं प्रभावशाली समन्वय की स्थापना करना है। इसका अर्थ यह हुआ कि विभिन्न पदाधिकारियों के अधिकारों के बीच टकराव होने के स्थान पर पर्याप्त समन्वय होना चाहिये।

(८) **उद्देश्य का सिद्धान्त**[1] (The Principle of the Objective)—समस्त संगठन तथा उसके प्रत्येक भाग से उद्देश्य स्पष्ट अथवा गर्भित प्रकट होने चाहिये।

(९) **उत्तरदायित्व का सिद्धान्त**[1] (The Principle of Responsibility)—उच्च अधिकारी अपने अधीनस्थों (Subordinates) के कार्यों के लिए पूर्णतया उत्तरदायी होता है।

(१०) **कार्य-विभाजन का सिद्धान्त** (The Principle of Division of Work)—कार्य का विभाजन विशिष्टीकरण के आधार पर होना चाहिये।

(११) **आदेश की एकता का सिद्धान्त** (The Principle of Unity of Com-

---

1 *Principles of Organisation as laid down* by **L. F. Urwick.**

mand)—क्रियाओं का वितरण करते समय यह देखना चाहिये कि एक कर्मचारी को केवल एक ही अधिकारी से आदेश प्राप्त होते हों।

(१२) **निरन्तरता का सिद्धान्त**[1] (The Principle of Continuity)—संगठन एवं पुनः संगठन की विधि निरन्तर चालू रहती है। अतएव इसके लिये प्रत्येक इकाई में विशिष्ट व्यवस्थाओं का निर्माण होना चाहिये। संगठन व्यवस्था न केवल तात्कालिक क्रियाओं के लिये अपितु भविष्य में इन क्रियाओं को चालू रखने के लिये भी पर्याप्त होनी चाहिये।

संगठन के प्रारूप
(Forms of Organisation)

संगठन के मुख्य प्ररूप निम्नलिखित हैं :—(I) रेखा संगठन; (II) कर्मचारी एवं लम्बवत् सङ्गठन; तथा (III) क्रियात्मक संगठन।

(I) रेखा सङ्गठन (Line Organisation)—

यह संगठन की सबसे सरल एवं सबसे पुरानी पद्धति है। इसमें कार्यों का विभाजन कई स्वतन्त्र विभागों में किया जाता है। इस पद्धति को कई नामों से पुकारा जाता है, जैसे—सैनिक संगठन (Military Organisation), क्रम संगठन (Scaler Organisation), विभागीय संगठन (Departmental Organisation), लम्बवत् संगठन (Vertical Combination) आदि। इसके विभिन्न नाम होते हुये भी इसकी विशेषताएँ लगभग समान हैं। इसमें संचालन तथा आदेश रेखाबद्ध होते हैं। सर्वोच्च अधिकारी जनरल मैनेजर होता है। वह अपना आदेश विभागीय मैनेजर को देता है, विभागीय मैनेजर सुपरिण्टेण्डेण्ट को आदेश देता है, और सुपरिण्टेण्डेण्ट फोरमैन को तथा फोरमैन श्रमिकों को आदेश देता है। इस प्रकार अधिकार एवं दायित्व की रेखा सीधे क्रम में ही चलती है।

विशेषताएँ—रेखा संगठन की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं :—(१) आदेश (Order) ऊपर से नीचे की ओर जाता है तथा निवेदन (Request) नीचे से ऊपर की ओर जाता है। (२) आदेश केवल एक ही पदाधिकारी से मिलता है। (३) अधिकार सत्ता एक सीधी रेखा के रूप में प्रवाहित होती है। (४) प्रत्येक कर्मचारी को अपने निकटतम अधिकारी (Immediate Superior) से आदेश मिलता है। (५) एक पदाधिकारी के नियन्त्रण में अधीनस्थों (Subordinates) की संख्या सीमित होती है। (६) समन्वय में सुविधा रहती है। (७) यह सबसे सरलता से क्रियान्वित किया जा सकता है।

रेखा संगठन का क्षेत्र—वैभागिक सङ्गठन केवल कुछ विशेष प्रकार की औद्योगिक इकाइयों में ही सफलतापूर्वक अपनाया जा सकता है। इसके लिये आवश्यक है कि—(१) औद्योगिक इकाई का आकार बहुत बड़ा न हो। (२) अधीन कर्मचारियों की संख्या अधिक न हो। (३) विभिन्न इकाइयों का सरलतापूर्वक विभाजन किया जा सकता हो। (४) कार्य सामान्य प्रकृति का हो। (५) कर्मचारी अनुशासनप्रिय हों।

रेखा संगठन के भेद (Types of Line Organisation)—रेखा संगठन निम्न दो प्रकार का हो सकता है :—(१) शुद्ध रेखा संगठन तथा (२) विभागीय रेखा संगठन।

(१) **शुद्ध रेखा संगठन** (Pure Line Organisation)—इसके अन्तर्गत किसी एक स्तर पर प्रत्येक व्यक्ति की क्रियायें समान होती हैं तथा उनका वर्गीकरण केवल नियन्त्रण की सुविधा से किया जाता है। व्यवहार में ऐसे उपक्रम मुश्किल से ही मिलते हैं जहाँ समस्त क्रियायें समान होती हों। अतः आधुनिक उद्योगों में संगठन की यह प्रणाली मुश्किल से ही देखने में आती है। अग्रिम चित्र द्वारा शुद्ध रेखा संगठन का प्रदर्शन किया गया है।

(२) **विभागीय रेखा सङ्गठन** (Departmental Line Organisation)—इसे क्रम (Scaler) अथवा सैनिक संगठन भी कहते हैं। इसके अन्तर्गत उपक्रम को कई विभागों में बाँटा

---

[1] *Principles of Orgauisation as laid down* by **L. F. Urwik.**

शुद्ध रेखा संगठन के चार्ट का नमूना
(SPECIMEN CHART OF PURE LINE ORGANISATION)
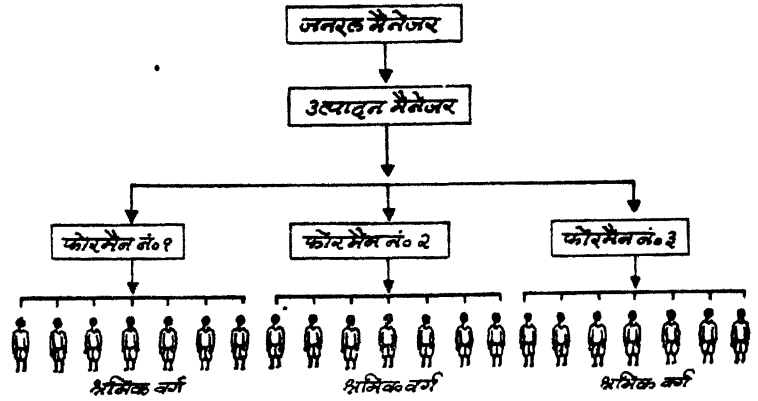
जाता है तथा प्रत्येक विभाग अपने आप में पूरा होता है। विभागों की स्थापना करते समय कार्यों की समानता का विशेष रूप से ध्यान रखा जाता है।

विभागीय रेखा संगठन के अन्तर्गत उत्तरदायित्व का विभाजन निम्न चित्र द्वारा स्पष्ट किया जाता है :—

विभागीय रेखा संगठन का चित्र द्वारा प्रदर्शन
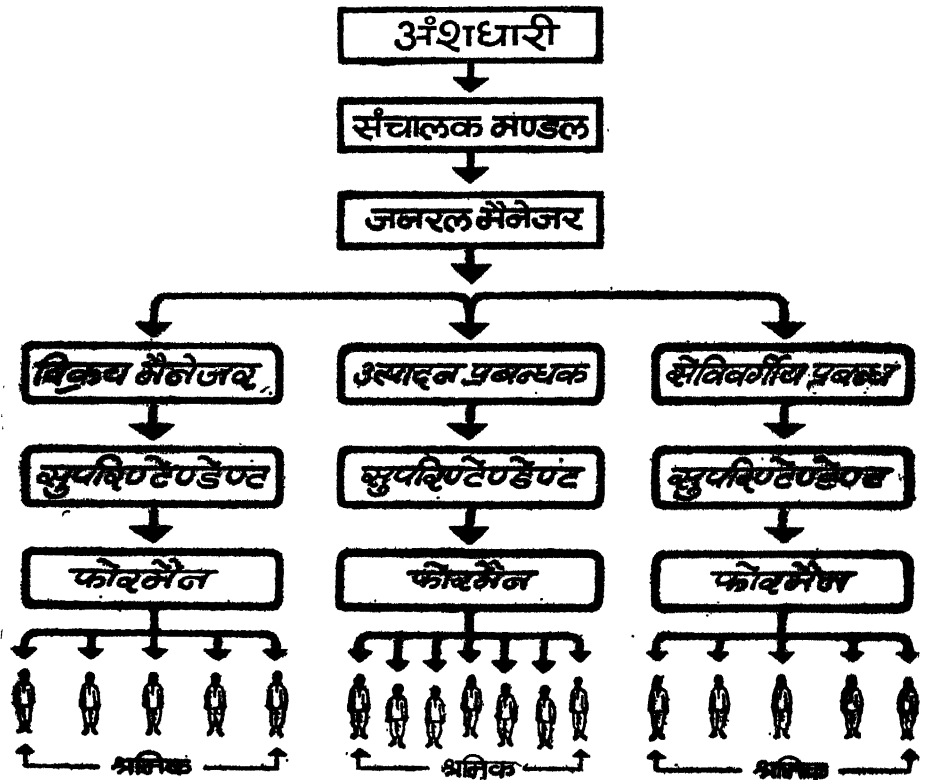
रेखा संगठन के गुण—(१) **सरलता**—यह प्रणाली सबसे प्राचीन तथा अत्यन्त सरल है। (२) **पूर्ण अनुशासन**—जिस प्रकार फौज में पूर्ण अनुशासन रहता है वैसे ही इस संगठन में सबसे अधिक अनुशासन रहता है, क्योंकि अपने मातहत कर्मचारियों पर एक व्यक्ति का पूर्ण अधिकार रहता है। श्रमिकों को अपने फोरमैन की बात माननी होगी। यही कारण है कि इस प्रणाली का नाम सैनिक संगठन भी रखा गया है। (३) **अधिकारों का स्पष्ट विभाजन**—इस सङ्गठन में अधिकारों का स्पष्ट विभाजन होने के कारण कोई व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को दूसरों के कन्धों पर डालकर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकता। (४) **निर्णय लेने में सुविधा**—इसके अन्तर्गत निर्णय आसानी तथा शीघ्रता से लिये जा सकते हैं, क्योंकि निर्णय लेने वाला प्रायः एक ही व्यक्ति होता है तथा उसके द्वारा दिये गये निर्णय का आसानी से विरोध नहीं किया जा सकता। (५) **दोषी को दण्ड देने में सुविधा**—चूँकि कोई व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकता, अतः दोषों अथवा त्रुटियों का आसानी से पता लगाकर दोषी व्यक्ति को दण्ड देने में सुविधा रहती है, अतः लोग अधिक लगन से कार्य करते हैं। (६) **लचकता** (Flexibility)—यह पद्धति लचकदार है, क्योंकि इसमें बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार तुरन्त समायोजन किया जा सकता है (७) **समन्वय**—यह प्रभावशाली समन्वय में सहायक है, क्योंकि एक विभाग की समस्त क्रिया पर एक ही व्यक्ति का नियन्त्रण होता है। (८) **सर्वसम्पन्न अधिकारियों का विकास**—सङ्गठन की इस प्रणाली के अन्तर्गत अधिकारी सम्बन्धित विभाग के सभी कार्यों को सम्पन्न करते हैं, जिससे सर्व सम्पन्न अधिकारियों का विकास होता है।

दोष—(१) **तानाशाही का बोलबाला**—इस प्रणाली में तानाशाही का बोलबाला होता है। बेचारे श्रमिकों को फोरमैन के द्वारा की जाने वाली मनमानी तथा अत्याचारों के प्रति बोलने तक का अधिकार नहीं है। (२) **अनुपस्थिति में क्षति**—यदि किसी कारणवश फोरमैन अनुपस्थित हो जाय तो समस्त कार्य चौपट हो जाता है। (३) **अनुसन्धान का अभाव**—कारखाने के विस्तार के साथ प्रत्येक निरीक्षक का कार्य भी बढ़ जाता है, जिसके कारण उसे अनुसन्धान का अवसर नहीं मिल पाता। इससे प्रगति में रुकावट उत्पन्न हो जाती है। (४) **विशिष्टीकरण का अभाव**—एक ही व्यक्ति से अनेक प्रकार के काम लिये जाने के कारण इसमें विशिष्टीकरण का अभाव रहता है। (५) **अच्छे कर्मचारियों के लिए प्रेरणा का अभाव**—इस सङ्गठन में अच्छे कर्मचारियों को कोई प्रेरणा नहीं मिलती है, क्योंकि इनाम आदि की भी व्यवस्था नहीं है। तरक्की खुशामद व जीहुजूरी के आधार पर होती है। ऐसे लोगों को अनुचित सुविधायें भी मिल जाती हैं। इस प्रकार कार्य-क्षमता का बलिदान हो जाता है। (६) **लोच का अभाव**—कुछ विद्वानों के मतानुसार इस प्रणाली में लोच का अभाव रहता है अर्थात् इसे आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता है। (७) **एक ही व्यक्ति पर अत्यधिक भार**—इस प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि सम्पूर्ण सङ्गठन एक ही व्यक्ति पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, जनरल मैनेजर। उसकी तनिक सी असावधानी समूचे उपक्रम को ही चौपट कर सकती है। (८) **पक्षपात**—इसमें एकात्मक शासन होने के कारण कर्मचारियों को अपनी पदोन्नति आदि के लिए अपने विभागाध्यक्षों की इच्छाओं एवं तरंगों पर निर्भर करना पड़ता है। इससे पक्षपात की गुन्जाइश बढ़ जाती है। (९) **बड़ी औद्योगिक इकाई के लिए अनुपयुक्त**—यह पद्धति बड़े आकार की औद्योगिक इकाइयों के लिए, जिनमें कि कर्मचारियों की संख्या भी अधिक रहती है, अनुपयुक्त है।

(II) कर्मचारी एवं लम्बवत् संगठन (Staff and Line Organisation)—

उपरोक्त सङ्गठन के दोषों को दूर करने के लिए इस कर्मचारी पद्धति का निर्माण हुआ। यद्यपि इस प्रणाली में भी काम का विभाजन स्वतन्त्र विभागों में किया जाता है और उत्तरदायित्व का विभाजन भी लम्बरूप में ही होता है, किन्तु विभागीय प्रमुखों के साथ तान्त्रिक विशेषज्ञ भी नियुक्त किये जाते हैं। उनका कार्य सलाहकारी होता है, प्रबन्धात्मक नहीं। पहले की भाँति फोरमैन का श्रमिकों पर पूरा अधिकार रहता है तथा उनके हर काम के लिए वही जिम्मेदार होता है। विशेषज्ञ विभिन्न अंगों पर सलाह देने के साथ-साथ अनुसन्धान-कार्य में भी लगे रहते हैं। इससे श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। यह प्रणाली अग्र चित्र से और अधिक स्पष्ट हो जाती है :—

लाइन तथा स्टाफ अधिकारों पर आधारित संगठन चार्ट

(ORGANISATION CHART WITH STAFF AND LINE AUTHORITY)
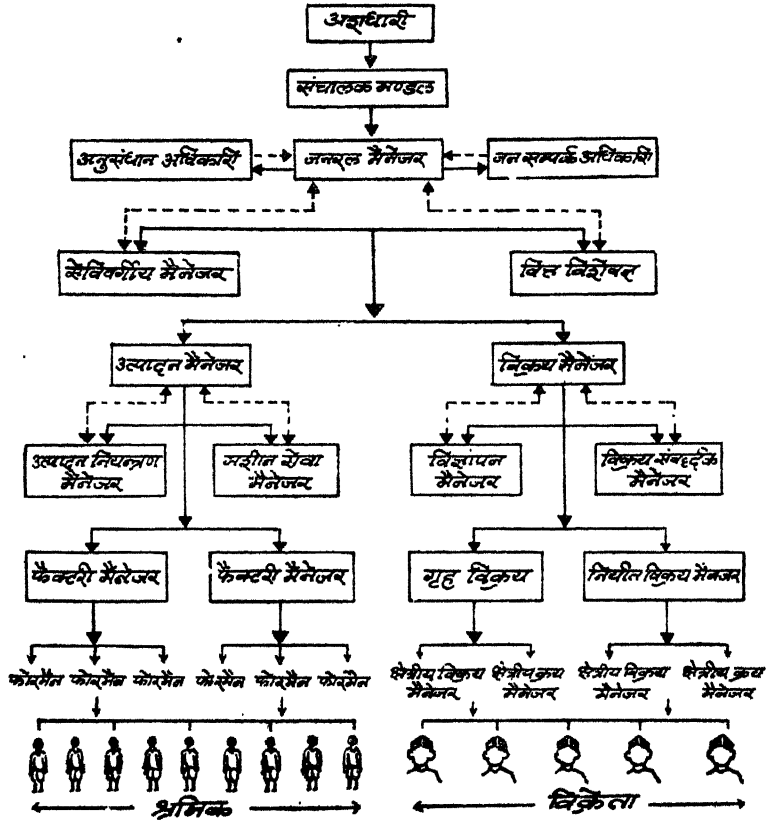
• स्टाफ अधिकार ------ • लाइन अधिकार ————

(सीधी रेखायें लाइन अधिकार की सूचक हैं तथा कटी रेखायें स्टॉफ की)

गुण—(१) **विशेषज्ञों की नियुक्ति**—इस प्रणाली के अन्तर्गत उच्च अधिकारियों को परामर्श देने हेतु विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है। अतएव कार्य में गलती होने की सम्भावना कम हो जाती है तथा कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। (२) **अनुसन्धान को प्रोत्साहन**—विभिन्न विशेषज्ञों की नियुक्ति के कारण अनुसन्धान को सबसे अधिक प्रोत्साहन मिलता है। (३) **'सोचने' और 'करने' में स्पष्ट भेद**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सोचने और करने की क्रियाओं को एक दूसरे से अलग-अलग कर दिया गया है। सोचने वाले तो होते हैं विशेषज्ञ तथा करने वाले होते हैं कर्मचारी, अतएव कार्य अधिक सुचारु रूप में सम्पन्न होता है। (४) **कुशल कर्मचारियों के लिए सुअवसर**—इसमें कुशल कर्मचारियों को उन्नति के लिए सुअवसर मिलता है, क्योंकि उत्तरदायी पदों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। (५) **मितव्ययिता**—इसमें अपव्यय रुक जाता है तथा कर्मचारियों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार इस पद्धति में अन्त में पर्याप्त मितव्ययिता रहती है। (६) **लोचपूर्ण पद्धति**—विशेषज्ञों की नियुक्ति की व्यवस्था होने से इस पद्धति में लोच उत्पन्न हो जाती है। यदि किसी नवीन कार्य को हाथ में लेना हो तो वर्तमान रेखा सङ्गठन में परिवर्तन की आवश्यकता नहीं होती।

दोष—(१) **बड़े सङ्गठन के लिए अनुपयुक्त**—विद्वानों के मतानुसार यह प्रणाली बहुत

बड़े सङ्गठन के लिए अनुपयुक्त है। (२) **खर्चीली पद्धति**—बहुत अधिक संख्या में विशेषज्ञों की नियुक्ति किये जाने के कारण यह प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक खर्चीली है। अनुसन्धान के कार्यों पर अत्यधिक खर्चा करना पड़ता है। (३) **विशेषज्ञों का उत्तरदायित्व नहीं**—गलत सलाह देने पर विशेषज्ञों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। (४) **संघर्ष की सम्भावना**—कभी-कभी दूसरे का दृष्टिकोण समझने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। अतएव गलतफ़हमी के कारण कर्मचारियों के बीच संघर्ष शुरू हो जाता है, जिससे उद्योग को क्षति पहुँचती है। (५) **भ्रम की आशंका**—कर्मचारियों के कर्त्तव्यों तथा दायित्वों का स्पष्ट विभाजन न होने के कारण भ्रम की आशंका रहती है। (६) **कमजोर रेखा नेतृत्व**—चूँकि रेखा अधिकारियों को विशेषज्ञों का परामर्श मिलता है, अतएव प्राय: रेखा अधिकारी आलसी हो जाते हैं और अपने कार्य तक का भी विशेषज्ञों को प्रत्यायोजन करना आरम्भ कर देते हैं। इससे रेखा अधिकारियों के नेतृत्व सम्बन्धी गुणों का हनन होने लगता है।

(III) क्रियात्मक सङ्गठन (Functional Organisation)—

श्री टेलर के अनुसार, "इस पद्धति में प्रबन्ध का नियन्त्रण इस प्रकार होता है कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम कार्य करना पड़े। अतएव उनका कार्य यथासम्भव छोटी से छोटी प्रक्रिया (Process) में विभाजित कर दिया जाता है, जिससे इसी क्रिया तक उसका कार्य-क्षेत्र सीमित रहता है। इस प्रकार के क्रिया-विभाजन से एक व्यक्ति का सम्बन्ध केवल एक ही अधिकारी तक रहता है, जो आवश्यक आदेश अथवा सूचनायें देता है ...।" इस प्रकार इस प्रणाली में प्रत्येक छोटे से छोटे कार्य के लिए भी एक निरीक्षक नियुक्त किया जाता है, जोकि अपने कार्य की पूर्ण-रूप से निगरानी रखता है। इस व्यक्ति को इस कार्य से सम्बन्धित प्राय: सभी अधिकार प्राप्त रहते हैं। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति जो माल की किस्म का विशेषज्ञ है, इस बात की जाँच करता रहेगा कि माल ठीक किस्म का बन रहा है अथवा नहीं; उसे अन्य बातों से कोई सरोकार नहीं है।

श्री टेलर के अनुसार क्रियात्मक पद्धति में निम्न आठ अधिकारी होते हैं, जो अपना-अपना कार्य करते रहते हैं :—
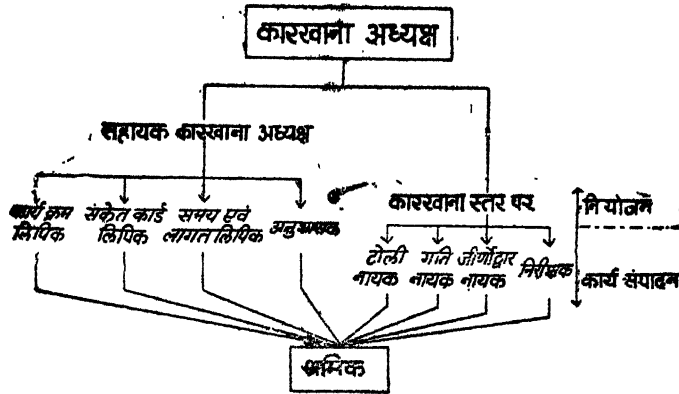
(१) **टोली नायक** (Gang Boss)—यह प्रत्येक श्रमिक के कार्य को निश्चित कर उसके लिए उसे आवश्यक सामग्री देता है तथा काम करने के लिए आवश्यक सूचनायें भी देता है। आवश्यकता पड़ने पर श्रमिकों की सुविधा के लिए काम करने की रीति का प्रदर्शन भी करता है।

(२) **गति नायक** (Speed Boss)—श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिए काम किस लिए तथा किस प्रकार किया जाय, इस सम्बन्ध में आवश्यक सूचना देने तथा काम करने की विधि का प्रदर्शन करने का कार्य यह व्यक्ति करता है।

(३) **निरीक्षक** (Inspector)—यह निर्मित वस्तुओं की किस्म की जाँच करता है।

(४) **जीर्णोद्धार नायक** (Repair Boss)—यह इस बात की देख-रेख करता है कि श्रमिक अपनी मशीनों को ठीक प्रकार से रखते हैं अथवा नहीं। यह मशीन की सफाई तथा तेल इत्यादि की व्यवस्था करता है और पुर्जों की मरम्मत की व्यवस्था करता है।

(५) **कार्यक्रम लिपिक** (Routine Clerk)—यह दैनिक कार्यक्रम की योजना बनाता है। किस क्रम में अमुक व्यक्ति से कार्य लिया जाना चाहिए तथा कौन-सा कार्य कहाँ हो रहा है, उनका अधिकारी कौन है, इसकी सूचना बनाता है।

(६) **संकेत कार्ड लिपिक** (Instruction Card Clerk)—यह व्यक्ति योजना विभाग के लिये आदेश-पत्र (Instruction Card) बनाता है। इन आदेश-पत्रों के आधार पर वह किस प्रकार किन यन्त्रों पर कार्य करेगा, इसका आदेश विभिन्न टोली नायकों को देता है।

(७) **समय तथा परिव्यय लिपिक** (Time and Cost Clerk)—यह व्यक्ति समय एवं मूल्य सम्बन्धी आवश्यक लेखे (Records) रखने के लिए उत्तरदायी होता है।

(८) **अनुशासक** (Shop Disciplinarian)—यह प्रत्येक विभाग के श्रमिक एवं कर्मचारियों के अनुशासन के लिए उत्तरदायी होता है। कारखाने में पूर्ण शान्ति हो, यही इसका कार्य है।

क्रियान्वित संगठन के गुण—(१) विशिष्टीकरण पर आधारित होने के कारण दक्षता में वृद्धि होती है। (२) विशेषज्ञों की नियुक्ति के कारण अनुसंधान के कार्य को प्रोत्साहन मिलता है। (३) यह बड़ी मात्रा में उत्पादन सम्भव बनाती है। (४) श्रमिकों को इस पद्धति से लाभ होते हैं, क्योंकि कार्य का विभाजन योग्यतानुसार होता है। (५) भविष्य में उपक्रम का आकार बिना महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये बढ़ाया जा सकता है। (६) सहयोग की भावना को प्रोत्साहन मिलता है। (७) मानसिक तथा शारीरिक कार्यों में भेद किया जाता है। (८) यह पद्धति प्रेरणात्मक है। (९) यह अविभाजित दायित्व और नियन्त्रण के सिद्धान्त को सम्भव बनाती है।

दोष—(१) एक ही काम पर कई अधिकारी होने के कारण उत्तरदायित्व का अभाव रहता है। (२) अनुशासन पर अपेक्षाकृत कम बल दिया जाता है। (३) यह प्रणाली छोटे उद्योगों के लिए अनार्थिक है। (४) विशेषज्ञों की संख्या अधिक हो जाने से अधिकारों के लिए आपस में प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो जाती है, जिसका प्रभाव कर्मचारियों पर बुरा पड़ता है। (५) कागजी कार्य में अनावश्यक रूप में वृद्धि होती है। छोटे से छोटे कार्य के सम्बन्ध में भी सूचनायें व आदेश निर्गमित करने पड़ते हैं। (६) इसमें समन्वय में कठिनाई होती है, क्योंकि कार्यों को अनेक भागों व उप-भागों में विभाजित किया जाता है।

समिति संगठन
(Committee Organisation)

अर्थ एवं परिभाषा (Meaning and Definition)—

आज का युग प्रजातन्त्र का युग है, जिसमें सभी कार्यों में से प्रत्येक आपसी परामर्श द्वारा किया जाता है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए समिति संगठन का प्रचलन हुआ है। इसके अन्तर्गत व्यावसायिक इकाई के कार्यकलापों की देखरेख के लिए एक कार्यकारिणी समिति का गठन किया जाता है, जिसका एक अध्यक्ष होता है। इस कार्यकारिणी समिति की सहायता के लिए अन्य छोटी-छोटी समितियों की स्थापना की जाती है। संगठन का यह प्ररूप प्राय: विशाल व्यावसायिक संगठनों में ही देखने में आता है। समिति में कम से कम तीन व्यक्ति होते हैं। समिति में समस्त निर्णय बहुमत द्वारा किये जाते हैं। इसका चुनाव सदस्यों द्वारा होता है।

डब्ल्यू० एच० न्यूमैन के अनुसार—"एक समिति कुछ प्रशासनिक कार्य को करने हेतु विशिष्ट रूप से नियुक्त की जाती है, जिसमें व्यक्तियों का एक समूह होता है।"[1]

आर० सी० डेविस के शब्दों में—"समिति संगठनीय तत्त्व का एक सामान्य प्रकार है—इतना कि व्यवसाय के कुछ विद्यार्थी इसे आधारभूत रूपों में से एक मानते हैं। किन्तु आधार-

---

[1] "A committee consists of a group of people specifically designated to perform some administrative work." —W. H. Newman.

भूत संरचनात्मक केवल दो ही प्रकार के होते हैं—रेखा और कर्मचारी वर्ग। समिति कर्मचारी वर्ग संगठन का एक पृथक रूप है।"[1] उर्विक (Urwick) के शब्दों में—"समिति व्यक्तियों का समूह होती है, जिन्हें इस शर्त पर कुछ कार्य सौंपे जाते हैं कि वे उन कार्यों को मिलकर तथा सम्मिलित रूप से करेंगे।"

समिति सङ्गठन के सिद्धान्त (Principles of Committee Organisation)—

समिति संगठन की सफलता के लिए इसका गठन निम्नलिखित आधारभूत सिद्धान्तों के आधार पर किया जाना चाहिये :—(१) समिति में सदस्यों की संख्या कम से कम होनी चाहिये। बहुत अधिक सदस्यों के होने पर अनावश्यक लम्बे वाद-विवादों में समय का अपव्यय होता है, सभा बुलाने में काफी समय लगता है तथा निर्णय लेने में भी अनावश्यक रूप में देरी होती है। अतएव सदस्यों की संख्या ३ या ५ से अधिक नहीं होनी चाहिये। (२) समिति की सभा बुलाने से पूर्व कार्यक्रम तैयार कर लेना चाहिये तथा उसे सदस्यों में घुमा देना चाहिये। (३) समिति में कार्य से सम्बन्धित व्यक्तियों को ही सम्मिलित करना चाहिये। (४) समिति के सदस्यों के कर्त्तव्यों, अधिकारों एवं दायित्वों की स्पष्ट रूप से व्याख्या की जानी चाहिये। (५) अध्यक्ष को अपनी समिति के सदस्यों के व्यवहार पर नियन्त्रण रखना चाहिये। (६) सदस्यों को समय का सदुपयोग समझना चाहिये। (७) सभा निर्धारित समय पर शुरू होकर निर्धारित समय पर ही समाप्त होनी चाहिये तथा निर्धारित कार्यक्रम के अनुरूप ही चलनी चाहिए। (८) समिति के सदस्यों के मध्य सद्भावना होनी चाहिए। (९) समिति के सदस्यों को व्यक्तिगत हितों को त्याग कर सामूहिक हित के मामलों को ही प्राथमिकता देनी चाहिये। (१०) समिति के सदस्यों को क्रमानुसार पद का त्याग करते रहना चाहिये।

समिति सङ्गठन के प्ररूप (Forms of Committee Organisation)—

(१) **स्थायी समिति** (Permanent Committee)—स्थायी समिति से आशय एक ऐसी समिति से है जोकि स्थायी प्रकृति की होती है तथा किसी निरन्तर उत्तरदायित्व का भार वहन करती है। इसे 'कार्यकारिणी समिति' (Executive Committee) भी कह सकते हैं। इस प्रकार की समिति को निर्णय लेने व उसके अनुसार कार्य करने का पूर्ण अधिकार होता है। यह समितियों की समिति होती है।

(२) **अस्थायी समिति** (Standing Committee)—अस्थायी समिति से आशय एक ऐसी समिति से है जो अस्थायी प्रकृति की होती है तथा जिसे किसी विशेष कार्य को करने के लिए नियुक्त किया जाता है। उस कार्य के पूरा होते ही अस्थायी समिति का अन्त हो जाता है।

समिति सङ्गठन के लाभ (Advantages of Committee Organisation)—

(१) यह एक सामान्य कथन है कि दो मस्तिष्क एक मस्तिष्क से अच्छे होते हैं (Two heads are better than one.)। इसका अर्थ यह हुआ कि जिस कार्य के सम्बन्ध में दो या दो से अधिक व्यक्ति विचार करते हैं वह कार्य एक व्यक्ति के मुकाबले में अधिक तर्कपूर्ण एवं ठोस होता है। यही कारण है कि समिति के निर्णय अधिक तर्कपूर्ण, न्यायसंगत एवं ठोस होते हैं। (२) सूचना के परिषण (Transmission) के लिए समिति बहुमूल्य साधन है। (३) समिति लोकतन्त्रीय व्यवस्था का रूप है। अतएव इससे लोकतन्त्र को बल मिलता है। (४) इससे

---

[2] "Committee is a common type of organisational element so much so that some students of business regard it as one of the basic business forms. There are, however, only two basic structural forms : line and staff. The committee is a distinct type of staff organisation." —R. C. Davis.

सहकारिता को प्रोत्साहन मिलता है। लोगों में सहयोग की भावना पनपती है। (५) समिति में प्राय: भेदभाव रहित निर्णय होते हैं। अतएव ऐसे निर्णयों को अधिक प्रभावी ढङ्ग से कार्यान्वित किया जा सकता है। (६) व्यापार नियोजन तथा व्यापार नीतियों के निष्पादन में समन्वय स्थापित करने के लिए समिति-सङ्गठन लाभदायक सिद्ध हुआ है। (७) समिति में अभिरुचि रखने वाले सभी समूहों का प्रतिनिधित्व रहता है। (८) कभी-कभी समितियों का उपयोग कठिन परिस्थितियों के गुजरने तक निर्णय को टालने अथवा अप्रिय निर्णय लेने के उत्तरदायित्व से बचने के लिये भी किया जाता है। (९) समिति में विचार-विमर्श से उपक्रम को तो लाभ होता ही है, साथ ही उसमें भाग लेने वाले व्यक्तियों को भी लाभ होता है, क्योंकि इससे उन्हें उसके सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी हो जाती है और इस प्रकार उनके ज्ञान में वृद्धि होती है। (१०) विभागाध्यक्षो के मध्य सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध स्थापित करने में समिति संगठन सफल रहा है।

समिति संगठन के दोष (Disadvantages of Committee Organisation)—

विद्वानों की राय में समिति उचित संगठन के लिये निकृष्ट स्थानापन्न है। समिति के बारे में कहा गया है कि "यह अनावश्यक करने के लिये अनिच्छुकों द्वारा अनुपयुक्त चुनाव द्वारा निर्मित सस्था है।"[1] समिति सगठन के दोष एवं सीमायें निम्नलिखित हैं :—(१) समिति का आकार अनावश्यक रूप से बड़ा हो जाने की दशा में कार्य मे अनुचित रूप स देरी होने की सम्भावना रहती है। (२) सामति सगठन प्रणाली की उपयोगिता कवल बड़े संगठनो तक ही सीमित है। अतएव ये बड़ सगठनो तक ही सीमित हैं। (३) मुँहफट अथवा तेज बोलने वाल सदस्य (Outspoken or Aggressive Members) सभाओ में अपनी धाक जमा लेते हैं तथा उसके निर्णयो को अनुचित रूप स प्रभावित करन का प्रयत्न करत हैं। (४) समिति सङ्गठन अपेक्षाकृत अधिक खर्चीला एव समय को बर्बाद करने वाला संगठन है। (५) समय का अभाव अथवा सदस्यो की दिलचस्पी न रहने के कारण कभी-कभी समिति मे बेकार के कार्य किये जात हैं। (६) सभा में अल्पमतों के साथ निष्ठुर व्यवहार (Tyranny of Minority) होने की सम्भावना रहती है। (७) समिति के निर्णय के लिय कोई एक व्यक्ति उत्तरदायी नहीं होता, क्योंकि सभी निर्णय सर्व-सम्मति अथवा बहुमत से लिये जाते हैं, अतएव गलत निणय के लिये किसी एक व्यक्ति को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। (८) समिति सगठन में गोपनीयता का अभाव रहता है। (९) महत्त्वपूर्ण अधिकारियो को समय-समय पर सभाओ में बुलाया जाता है। इसस उपक्रम के कार्यों में शिथिलता आने लगती है। (१०) समिति के निर्णयों में समझौतें का आधिक्य रहता है। अनेक विषयो पर भिन्न-भिन्न सदस्यों के मत एक-दूसरे के इतने विरोधी होत हैं कि कोई सर्वमान्य निर्णय लिया जाना लगभग असम्भव हो जाता है। ऐसी स्थिति में पारस्परिक समझौते के द्वारा निणय लिये जाते हैं, चाहे व्यावहारिक दृष्टि से वे कमजोर ही क्यों न हों। **कूण्ट्स तथा प्रो० डोनेल** के शब्दों में—"समिति ऐसी होती हैं कि घोड़ा बनाने बैठो और ऊँट बनाकर आ जाओ।"

स्वस्थ सङ्गठन की आवश्यक बातें
(Requisites of a Sound Organisation)

'संगठन स्वयं में कोई साध्य नहीं है, यह तो साध्य की प्राप्ति का एक साधन है।' कोई सगठन अच्छा है या बुरा, यह इस बात पर निर्भर करेगा कि वह कितनी कुशलता से उपक्रम के अन्तिम उद्देश्यों की प्राप्ति में सहायक होता है। सन् १९०१ में जब **Andrew Carnegie** ने

[1] "It is an association made up of the unfit selected by the unwilling to do the unnecessary."

अपना विशाल कारोबार अमरीका के स्टील कॉरपोरेशन को सौंपा था, उस समय उन्होंने कहा था कि "हमारा सारा धन ले जाओ, हमारे कारखानों को ले जाओ, हमारा व्यापार एवं यातायात के साधनों को ले जाओ, किन्तु हमारे लिये केवल संगठन को छोड़ दो, और कुछ ही वर्षों में अपने आपको पुनः स्थापित कर लूँगा।" उनके इस कथन से संगठन का महत्त्व प्रकट होता है। संगठन स्वस्थ होना चाहिये। एक स्वस्थ संगठन अग्रलिखित आवश्यक बातों पर निर्भर करता है :—

(१) **उद्देश्यों की प्राप्ति** (Realization of Objectives)—सङ्गठन किसी भी इकाई के उद्देश्यों की प्राप्ति का एक साधन है। इसी दृष्टिकोण से सङ्गठन को कई विभागों, शाखाओं, उप-विभागों आदि में बाँटा जाता है।

(२) **कार्यों का स्वस्थ समूहीकरण** (Harmonious Grouping of Funotions)—उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सङ्गठन को अत्यन्त सुविधाजनक बनाया जाता है। इसके लिये उपक्रम से सम्बन्धित कार्यों का इस प्रकार से समूहीकरण किया जाता है, जिससे क्रिया, परामर्श तथा समन्वय (Action, Consultation and Co-ordination) तीनों न्यूनतम देरी तथा बिना परेशानी के हो जायँ।

(३) **नियन्त्रण का उचित क्षेत्र** (Reasonable Span of Control)—अधीनस्थों की संख्या, जो कि प्रबन्ध के प्रत्येक स्तर पर सम्बन्धित अधिकारी के नियन्त्रण में रहेगी, उचित होनी चाहिये। ऐसे अधीनस्थों की संख्या जो कि प्रत्यक्ष रूप में नियन्त्रण में हों, पाँच या छः से अधिक नहीं होनी चाहिये।

(४) **कर्त्तव्यों एवं दायित्वों का स्पष्ट आवण्टन** (Clear Allocation of Duties and Responsibilities)—सङ्गठन की योजना में कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्वों तथा सम्बन्धों की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिये। प्रत्येक अधिकारी को अपने कार्य-क्षेत्र तथा उसकी सीमाओं, कार्य स्वतन्त्रता का क्षेत्र (Area of Discretion), कार्य के सम्बन्ध में उसके प्रति कौन उत्तरदायी है तथा किनके प्रति वह उत्तरदायी है आदि के सम्बन्ध में स्पष्टतः जानकारी होनी चाहिये।

(५) **सन्तुष्टि का विकास** (Promotion of Satisfaction)—मानव सङ्गठन का सबसे प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। संगठन में मानव समूह के रूप में कार्य करता है, अतएव संगठन की सफलता अथवा असफलता बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करती है कि संगठन अपने सदस्यों, व्यक्तियों तथा समूहों को किस सीमा तक सन्तुष्टि प्रदान करने में समर्थ है।

(६) **श्रम-शक्ति का अधिकतम उपयोग** (Fullest Utilisation of Labour Power)—एक स्वस्थ सङ्गठन का यह भी एक गुण है कि इकाई में उपलब्ध श्रम-शक्ति का अधिकतम एवं मितव्ययितापूर्ण उपयोग होता हो।

(७) **विकास एवं विस्तार की व्यवस्था** (Provision for Development and Expansion)—एक स्वस्थ संगठन के होने के लिये यह भी आवश्यक है कि उसमें विकास एवं विस्तार के पर्याप्त तत्त्व मौजूद हों, ताकि आवश्यकतानुसार उपक्रम का विकास एवं विस्तार करना सम्भव हो सके। यही नहीं, उसमें परिस्थितियों के अनुसार परिवर्तन की भी व्यवस्था होनी चाहिये।

(८) **समन्वय** (Co-ordination)—एक स्वस्थ सङ्गठन के परिचालन के लिए यह आवश्यक है कि उसके विभिन्न विभागों एवं उप-विभागों के बीच पर्याप्त समन्वय हो, ताकि लाल-फीताशाही जैसी दूषित मनोवृत्तियों का उन्मूलन होकर कार्य सुचारु रूप से चल सके।

(९) **कार्यान्वयन में सुविधा** (Easy in Execution)—स्वस्थ संगठन का एक आवश्यक तत्त्व यह भी है कि उसमें कार्य अत्यधिक सुविधा एवं मितव्ययिता के साथ सम्पन्न किये जा सकें। इसके अभाव में कार्य करने में अनावश्यक जटिलता, कठिनाइयों एवं परेशानियों का सामना करना पड़ सकता है।

(१०) **विशिष्टीकरण** (Specialisation)—एक स्वस्थ सङ्गठन में विशिष्टीकरण की योजना का लागू होना भी आवश्यक है। इसकी योजना के अन्तर्गत संगठन के प्रत्येक व्यक्ति को वही कार्य दिया जाना चाहिये जिसके लिये वह मानसिक एवं शारीरिक दृष्टि से उपयुक्त हो।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. संगठन के लाइन (रेखा) एवं क्रियात्मक प्ररूपों का अन्तर्भेद समझाइये। एक बृहत् औद्योगिक इकाई के लिये आप संगठन का कौन सा प्ररूप अपनायेंगे और क्यों ?
(आगरा, १९७१)

२. सङ्गठन संरचना के इन तीन प्रमुख स्वरूपों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिये—विभागीय सङ्गठन, कर्मचारी सङ्गठन तथा क्रियात्मक सङ्गठन। उपयुक्त चार्ट द्वारा अपने उत्तर का स्पष्टीकरण कीजिये। (आगरा भाग २, १९७०)

३. किसी विशाल व्यावसायिक संस्था की सङ्गठन-संरचना का निर्धारण करते समय किन-किन सिद्धान्तों को विचाराधीन रखेंगे ? सविस्तार वर्णन कीजिये। (आगरा भाग २, १९७०)

४. एक व्यवसाय के सङ्गठन से आप क्या समझते हैं ? सङ्गठन के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये। (इन्दौर, १९६५)
What do you understand by organisation of a business ? Discuss the principles of organisation.

५. 'विभागीय', कर्मचारी पद्धति सम्बन्धी तथा क्रियात्मक—सङ्गठन के इन तीनों रूपों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये। (विक्रम, १९६३)
Critically examine the three forms of organisation—departmental, staff type and functional.

६. सङ्गठन किसे कहते हैं ? एक स्वस्थ-सङ्गठन की आवश्यक बातों का वर्णन कीजिये।
What do you mean by organisation ? Describe the requisites of a sound organisation.

७. स्वस्थ सङ्गठन की विशेषताओं की विवेचना कीजिये तथा रेखा तथा क्रियान्वित सङ्गठन में अन्तर स्पष्ट कीजिये। अपने उत्तर में भारत की दशाओं को ध्यान में रखिये।
(आगरा, १९६८; नागपुर, १९६७)
Discuss the essentials of a good organisation, distinguishing between line and functional organisation. Illustrate your answer from Indian conditions.

८. सङ्गठन के कौन-कौन से प्ररूप हैं ? समिति सङ्गठन का वर्णन कीजिये।
What are the forms of organisation ? Describe the commitee form of organisation.

९. व्यवसाय में सङ्गठन का क्या महत्त्व है ? सङ्गठन के सिद्धान्त के सन्दर्भ में विस्तार से समझाइए। (रविशङ्कर, १९६९; आगरा, १९६५)

१०. क्रियात्मक सङ्गठन पर एक टिप्पणी लिखिये। (आगरा, बी० कॉम०, भाग २, १९६९)

पड़ता है। उदाहरण के लिये, देहली क्लॉथ एवं जनरल मिल्स लिमिटेड, कुछ सूती वस्त्र मिलों, चीनी मिलें, केमीकल वर्क्स तथा घी की मिल का स्वामित्त्व तथा नियन्त्रण करता है। इसमें अलग-अलग मिल्स तो प्लाण्ट कहलायेंगी तथा देहली क्लॉथ एवं जनरल मिल्स लिमिटेड को फर्म कहा जायगा। इसी प्रकार ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन (B. I. C.) का उदाहरण हमारे सामने है। इसके स्वामित्त्व एवं नियन्त्रण में दो चमड़े की मिलें, एक सूती मिल तथा एक इन्जीनियरिंग कम्पनी है। इन मिलों को पृथक रूप से तो 'प्लाण्ट' तथा स्वयं ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन को 'फर्म' कहा जायेगा।

(३) **'उद्योग' का अर्थ**—'उद्योग' शब्द से तात्पर्य फर्म-समूह से है, जो या तो एक-सा कच्चा माल प्रयोग में लाता हो, अथवा एक-सी ही वस्तु का उत्पादन करता हो, चाहे विभिन्न प्रकार का कच्चा माल क्यों न प्रयोग में लाया जाता हो, जैसे—वस्त्र उद्योग एक से ही माल का उत्पादन करता है, यद्यपि अलग-अलग प्रकार का कच्चा माल प्रयोग में लाता है, उद्योग कहलायेगा। इसी प्रकार एक मशीन निर्माण करने वाली संस्था भी उद्योग कहलायेगी, जोकि विभिन्न प्रकार की मशीनों का निर्माण करती है तथा एक ही पदार्थ (लोहा एवं इस्पात) का प्रयोग करती है।

औद्योगिक इकाई के आकार का मापदण्ड
(Measure of Size of Industrial Unit)

उपयुक्त मापदण्ड का, जो पर्याप्त रीति से औद्योगिक इकाई के आकार को माप सके, चुनना सर्वथा सम्भव नहीं। इसका कारण यह है कि प्रत्येक उद्योग में उत्पादित वस्तुओं की प्रकृति तथा विधियाँ प्रत्येक फर्म के लिये अलग-अलग होती हैं। फलतः सभी औद्योगिक इकाइयों की माप के लिये कोई एक मापदण्ड निश्चित करना सम्भव नहीं। इसके लिये निम्नलिखित में से कोई एक मापदण्ड निश्चित किया जा सकता है। इनमें से कौनसा मापदण्ड किस उद्योग के लिये उपयुक्त होगा, यह सम्बन्धित व्यवसाय अथवा उद्योग की प्रकृति, उत्पादन की विधि एवं उपलब्ध आँकड़ों की सत्यता पर निर्भर करेगा :—

(१) **विनियोजित पूँजी की मात्रा** (Volume of Capital Investment)—विनियोजित पूँजी, जिसमें पूर्णदत्त पूँजी व ऋण पूँजी दोनों ही सम्मिलित हैं, औद्योगिक इकाई के आकार का एक अच्छा मापदण्ड है। सामान्यत: बड़े आकार की औद्योगिक इकाई में अधिक मात्रा में पूँजी का विनियोग होता है तथा छोटे आकार की औद्योगिक इकाई में कम मात्रा में पूँजी का विनियोग होता है। उदाहरण के लिये, छोटे आकार का उद्योग उसे ही माना जाता है जिसकी विनियोजित पूँजी ७·५० लाख रुपये से अधिक नहीं है। इससे अधिक होने पर वह बड़े उद्योगों की श्रेणी में सम्मिलित माना जाता है। किन्तु इस मापदण्ड की सफलता के लिये यह आवश्यक है कि पूँजी के विनियोजन के सम्बन्ध में आँकड़े उपलब्ध हों।

(२) **उत्पादन की मात्रा** (Volume of Output)—उत्पादन की मात्रा औद्योगिक इकाई के आकार का एक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड है। इसको केवल उन उद्योगों में जिनका उत्पादन एक-सा होता है (जैसे सीमेण्ट, चीनी, आटा व कोयला उद्योग), अपनाया जा सकता है। किन्तु ऐसे किसी भी उद्योग में नहीं अपनाया जा सकता जिसमें कि विभिन्न प्रकार की वस्तुओं का उत्पादन होता हो, जैसे सूती वस्त्र उद्योग। इस उद्योग में विभिन्न प्रकार के वस्त्रों का निर्माण होता है।

(३) **उत्पादन का मूल्य** (Value of Output)—किसी औद्योगिक इकाई के आकार का माप उत्पादन मूल्य द्वारा किया जा सकता है। किन्तु इसमें एक कठिनाई है कि उत्पादित माल के मूल्य सदैव समान न रहकर घटते व बढ़ते रहते हैं। उदाहरण के लिये, मुद्रा प्रसार के

समय मूल्यों में वृद्धि हो जाती है तथा मुद्रा संकुचन के समय मूल्य गिर जाते हैं। अतएव यह मापदण्ड उसी समय उपयोग में लिया जाना चाहिये जबकि मूल्य सामान्य हों।

(४) **श्रमिकों की संख्या** (Number of workers employed)—किसी औद्योगिक इकाई में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या के आधार पर भी उसके आकार का माप किया जा सकता है। यह आधार केवल समान प्रकृति वाली औद्योगिक इकाइयों के लिये ही उपयुक्त होगा, विभिन्न प्रकृति वाली व्यावसायिक इकाइयों के लिये नहीं।

(५) **उपभोग के कार्य में आने वाले कच्चे माल की मात्रा** (Amount of raw-material consumed)—किसी औद्योगिक इकाई के द्वारा कच्चे माल की वार्षिक खपत भी उसके आकार का एक महत्त्वपूर्ण मापदण्ड है। किन्तु यह उसी हालत में एक अच्छे मापदण्ड का कार्य कर सकती है जबकि इकाइयाँ स्वावलम्बी हों तथा जहाँ उत्पादित वस्तुयें एक दूसरे से अधिक भिन्न न हों।

(६) **शक्ति के प्रयोग की मात्रा** (Amount of power used)—शक्ति के प्रयोग की मात्रा भी किसी औद्योगिक इकाई के आकार का मापदण्ड होती है। उदाहरण के लिये, यदि किसी औद्योगिक इकाई में शक्ति का प्रयोग अधिक होगा तो उसका आकार भी बड़ा होगा। इसके विपरीत, यदि शक्ति का प्रयोग कम होगा तो उसका आकार भी छोटा होगा। किन्तु यह मापदण्ड उन इकाइयों के लिये अधिक उपयुक्त है जहाँ पर सम्पूर्ण उत्पादन कार्य केवल शक्ति के द्वारा ही सम्पन्न होता है।

(७) **प्लाण्ट की क्षमता** (Plant Capacity)—यह एक औद्योगिक इकाई के आकार का अच्छा माप समझा जाता है। उदाहरण के लिये, सूती वस्त्र उद्योगों में करघों एवं तकुओं की संख्या तथा उनकी उत्पादन क्षमता द्वारा उसके आकार का माप किया जा सकता है। इसी प्रकार कागज, लोहा, इस्पात एवं ग्लास आदि उद्योगों में प्लाण्टों की संख्या व उनकी क्षमता द्वारा उनके आकार का पता लगाया जा सकता है।

(८) **प्रबन्ध व्यवस्था की जटिलता**—प्रबन्ध विशेषज्ञ श्री पीटर एफ० ड्रकर (Peter F. Drucker) के अनुसार जिस औद्योगिक संस्था की प्रबन्ध व्यवस्था जितनी अधिक जटिल होगी वह उतने ही बड़े आकार वाली संस्था कहलायेगी। इस मापदण्ड की कठिनाई यह है कि यह आधार गणनात्मक न होकर गुणात्मक अनुमान के रूप में है।

औद्योगिक अथवा व्यावसायिक इकाई के आकार को निर्धारित करने वाले घटक अथवा प्रवृत्तियाँ

(Factors determining the Size of an Industrial or a Business Unit)

औद्योगिक इकाई का आकार, चाहे वह छोटी हो अथवा बड़ी, पूर्णतया स्वामियों अथवा प्रबन्धकों की इच्छा पर ही निर्भर नहीं करता। इसके लिये कुछ आर्थिक एवं अनार्थिक कारण हैं, जिनके द्वारा किसी भी औद्योगिक इकाई के आकार का निर्धारण होता है। इनमें प्रमुख आर्थिक एवं अनार्थिक कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) **तान्त्रिक ज्ञान की आवश्यकतायें** (Technical Considerations)—तान्त्रिक ज्ञान की आवश्यकताओं का किसी औद्योगिक इकाई के आकार पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। कुछ उद्योग ऐसे होते हैं जिनकी स्थापना हेतु उच्चकोटि के तान्त्रिक ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है। उदाहरण के लिये, लोहा एवं इस्पात उद्योग को ही लीजिये। इसकी स्थापना के लिये आधुनिक मशीनों, उच्चकोटि के तान्त्रिक ज्ञान, कुशल प्रबन्ध तथा श्रम-विभाजन आदि की आवश्यकता पड़ती है। जब तक इकाई का आकार बड़ा नहीं होगा तब तक उपयुक्त बातों को कार्यान्वित

करना सम्भव नहीं है और बिना इनके उद्योग सफल नहीं हो सकता। अतएव जिस उद्योग में जितने अधिक तान्त्रिक ज्ञान की आवश्यकता होगी, उसका आकार उतना ही बड़ा होगा।

(२) **उत्पादन की माँग की प्रकृति तथा सीमा** (Nature and Extent of the Demand of the Product)—औद्योगिक इकाई का आकार उत्पादित वस्तु की माँग की प्रकृति एवं उसकी सीमा पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिये, यदि उत्पादित वस्तु शीघ्र नाशवान प्रकृति की हो तथा उसे दूर-दूर के बाजारों तक ले जाना कठिन हो, तो उसकी औद्योगिक इकाई का आकार छोटा होगा, जैसे बरफ। इसी प्रकार यदि विक्रय-योग्य वस्तु का बाजार केवल स्थानीय हो, जैसे गाँव की दूकान अथवा बुनकर, अथवा व्यक्तिगत पसन्द के अनुसार उत्पादित वस्तु के फैशन में निरन्तर परिवर्तन होते हों, जैसे तैयार वस्त्रों का विक्रय अथवा यदि उत्पादित वस्तु की प्रकृति कलात्मक हो, जैसे गहने, हाथ से निर्मित सिंगार, तो उसकी व्यावसायिक इकाई का आकार भी बड़ा होगा।

(३) **वित्तीय आवश्यकतायें** (Financial Considerations)—वित्त सम्बन्धी उपलब्ध सुविधाओं का भी औद्योगिक इकाई तथा उसके प्लाण्ट के आकार पर प्रभाव पड़ता है। इसी कारण कम्पनी के आधार पर स्थापित औद्योगिक अथवा व्यावसायिक इकाई का आकार एकाकी अथवा साझेदारी व्यवसाय के मुकाबले में बड़ा होता है। यही कारण है कि जिन उद्योगों में मशीन, भूमि, भवन आदि पर अत्यधिक पूँजी का विनियोजन होता है, उनका आकार बड़ा होता है, ताकि विनियोजन को लाभकारी बनाया जा सके। इसके विपरीत, उन उद्योगों का आकार छोटा होता है जिनको स्थापित करने के लिये कम पूँजी तथा कुछ ही औजारों एवं मशीनों की आवश्यकता पड़ती है।

(४) **साहसी की कार्यक्षमता एवं योग्यता** (Efficiency and Ability of the Entrepreneur)—किसी औद्योगिक इकाई का आकार बहुत कुछ साहसी की निजी कार्यक्षमता एवं योग्यता पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिये, यदि एक निरन्तर बढ़ता हुआ उद्योग किसी अयोग्य एवं अकुशल साहसी के हाथों में सौंप दिया जाय, तो वह बढ़ने के स्थान पर गिरता ही जायगा।

(५) **जोखिम** (Risk)—व्यवसाय तथा जोखिम दोनों ही सहगामी हैं। बिना जोखिम के व्यवसाय नहीं हो सकता, किन्तु जोखिम की मात्रा सभी व्यवसायों में समान न होकर अलग-अलग होती है। जोखिम की प्रकृति का उद्योग प्रायः बड़े आकार पर स्थापित किया जाता है, क्योंकि छोटी इकाई का उद्योग मुश्किल से ही अधिक जोखिम को सहन करने के लिये तैयार होगा, अतएव जितनी अधिक जोखिम होगी औद्योगिक इकाई एवं प्लाण्ट का आकार उतना ही बड़ा होगा।

(६) **बाजार** (Market)—बाजार का आकार भी औद्योगिक इकाई के आकार को प्रभावित करता है। यदि उत्पादित वस्तु के बाजार का क्षेत्र सीमित है, तो औद्योगिक इकाई एवं उसके प्लाण्ट का आकार भी सीमित होगा। इसके विपरीत, यदि उत्पादित वस्तु (जैसे सूती वस्त्र उद्योग, जूट उद्योग) का बाजार विश्व-व्यापी है तो औद्योगिक इकाई एवं उसके प्लाण्ट का आकार भी बड़ा होगा।

(७) **यातायात का व्यय** (Cost of Transport)—औद्योगिक इकाई तथा प्लाण्ट का आकार यातायात के व्यय पर भी निर्भर करता है। यदि कच्चे माल को दूर-दूर के क्षेत्रों से लाने तथा उपभोग के स्थान तक पहुँचाने का व्यय अधिक हो, तो उद्योग को छोटे आकार पर स्थापित करना हितकर रहता है। इसका कारण यह है कि ऐसा न करने से उत्पादन व्यय में,

अनावश्यक रूप में वृद्धि हो जायेगी और इस प्रकार उद्योग प्रतिस्पर्धा के आगे मुश्किल से ही टिक सकेगा। यहाँ पर श्रेष्ठ यही रहता है कि स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार छोटे आकार पर औद्योगिक इकाई तथा प्लाण्ट की स्थापना की जाय।

(८) **सरकारी नीति एवं नियन्त्रण** (Government Policy and Regulation)—सरकारी नीति एवं नियन्त्रण का भी औद्योगिक इकाई एवं प्लाण्ट के आकार पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिए, उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, १९५१ के अनुसार 'तालिका अ' में वर्णित उद्योगों को स्थापित करने हेतु, जिनके लिए १ लाख रु० से अधिक की पूँजी की आवश्यकता होती है, केन्द्रीय सरकार से पूर्व अनुमति लेना परम आवश्यक होता है। अनुमति प्रदान करने से पूर्व केन्द्रीय सरकार, अन्य शर्तों के अतिरिक्त, यह भी देखती है कि उद्योग प्रमापित आकार का है अथवा नहीं, अतएव ऐसे उद्योग के प्लाण्ट का आकार बड़ा ही होता है।

(९) **संयुक्तीकरण अथवा एकीकरण** (Combination or Integration)—जब दो या दो से अधिक इकाइयाँ आपस में मिल जाती हैं तो वह संयुक्तीकरण अथवा एकीकरण कहलाता है। इसके द्वारा भी व्यावसायिक इकाइयों के आकार में वृद्धि होती है। उदाहरण के लिए, यदि आगरे की राना शू फैक्टरी तथा मोहन शू फैक्टरी दोनों आपस में मिल कर एक हो जायें तो इन दोनों के मिलने से जिस व्यावसायिक इकाई का निर्माण होगा उसका आकार निश्चित रूप से पहले की इकाइयों से बड़ा होगा।

(१०) **स्थानीयकरण तथा शीघ्र स्थापना** (Localisation and early start)—स्थानीयकरण के कारण तथा शीघ्र स्थापना के तत्व भी प्लाण्ट के आकार को प्रभावित करते हैं। जिस उद्योग को स्थानीयकरण की सुविधायें उपलब्ध हों तथा जिसे शीघ्रता से स्थापित किया जा सकता हो, उसके प्लाण्ट का आकार निश्चयात्मक रूप में बड़ा होगा। उदाहरण के लिए, भारत में स्थित अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा बम्बई में स्थित सूती वस्त्र मिलों का आकार बड़ा है। इसका कारण यह है कि बम्बई में सूती वस्त्र उद्योग के स्थानीयकरण के तत्व मौजूद हैं एवं मिलों की शीघ्रता से स्थापना की जा सकती है।

बृहताकार अथवा बड़े आकार वाली इकाइयों को प्राप्त होने वाली बचतें अथवा मितव्ययिताएँ अथवा लाभ (Economies or Economic Advantages of Large Sized Business or Industrial Units)

आजकल बड़े आकार वाली व्यावसायिक अथवा औद्योगिक इकाइयों की स्थापना करने वाली प्रवृत्ति निरन्तर बढ़ती जा रही है। इनकी स्थापना का प्रमुख कारण विभिन्न आर्थिक लाभों का होना है। ऐसी इकाइयों को विशेष प्रकार की बचतें प्राप्त होती हैं। इन बचतों को मुख्यतः आगे दिये गये चार भागों में विभाजित किया जा सकता है।
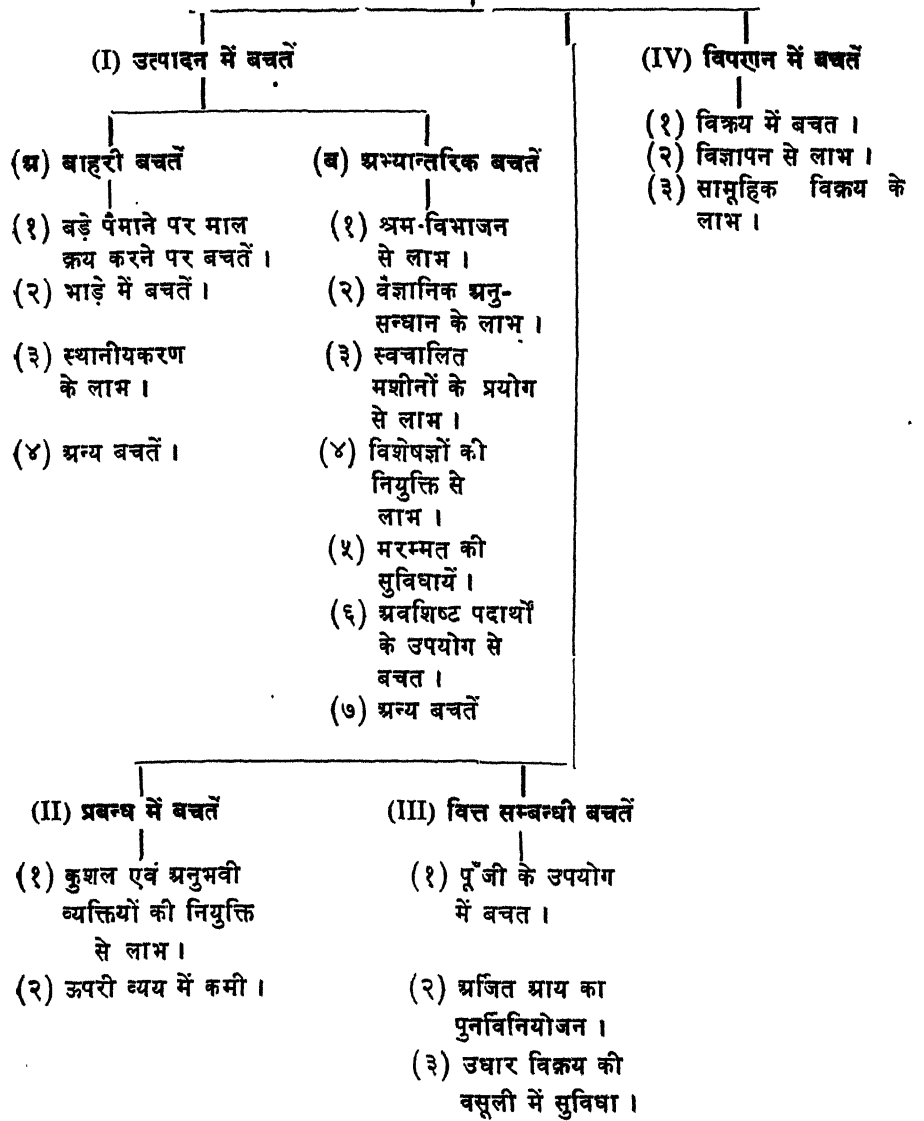
(I.) उत्पादन में बचतें (Economies in Production)—

आर्थिक दृष्टि से एक बड़े आकार की औद्योगिक इकाई में छोटे आकार वाली औद्योगिक इकाई की तुलना में उत्पादन सम्बन्धी अनेक बचतें प्राप्त होती हैं। इन बचतों को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(अ) बाहरी बचतें (External Economies)—इस प्रकार की बचत में हम उन बचतों को सम्मिलित करते हैं जो एक उत्पादक को उत्पादन की इकाई के बाहर से प्राप्त होती हैं। इस प्रकार की बचतों का औद्योगिक इकाई के भीतरी सङ्गठन से लगभग कुछ भी सम्बन्ध नहीं होता है, अपितु वे उन कारणों से उत्पन्न होती हैं जो औद्योगिक इकाई के अधिकार क्षेत्र के बाहर

होते हैं। ऐसी बचत का सम्बन्ध किसी विशेष औद्योगिक इकाई से नहीं होता, बल्कि सारे उद्योग से होता है। सभी फर्म या कारखाने, जो व्यवसाय अथवा उद्योग विशेष में भाग लेते हैं, इन बचतों को प्राप्त कर सकते हैं। ऐसी बचतों की मात्रा सारे उद्योग के विकास की स्थिति पर निर्भर होती है। प्रमुख बाहरी बचतें निम्नलिखित हैं :—

(१) **बड़े पैमाने पर माल क्रय करने पर बचतें**—बड़े पैमाने पर उत्पादन करने वाली औद्योगिक इकाई को बड़ी मात्रा में कच्चे माल की आवश्यकता पड़ती है। यह माल सस्ती दर पर त्रय हो जाता है, क्योंकि इसे उत्पादकों अथवा बड़े-बड़े थोक व्यापारियों से सीधा खरीदा जा सकता है। यही नहीं, औद्योगिक इकाई का आकार बहुत बड़ा होने पर कच्चे माल को अपने ही यहाँ उत्पादित किया जा सकता है। उदाहरण के लिये, बड़े-बड़े चीनी मिलों के पास स्वयं के गन्ने के फार्म होते हैं।

(२) **भाड़े में बचतें**—जब बड़ी मात्रा में माल एक स्थान से दूसरे स्थान को स्थानान्तरित किया जाता है तो उसे रेलवे के डिब्बों, ट्रकों एवं जहाजों द्वारा लाया तथा ले जाया जा सकता है। यही नहीं, बड़ी-बड़ी औद्योगिक इकाइयों के पास अपने निजी जहाज, रेलवे लाइनें एवं मोटर ट्रक होते हैं। इससे भाड़े में पर्याप्त बचत होती है। उदाहरण के लिये, आगरे के बी० पी० ऑयल मिल के पास अपने स्वयं के ट्रक हैं, जिनके द्वारा तेल कलकत्ता तक ले जाया जाता है। इसके अतिक्ति यातायात कम्पनियाँ भी बड़ी मात्रा में माल मँगाने वालों एवं भेजने वालों को भाड़े की दर में छूट देती हैं।

(३) **स्थानीयकरण के लाभ**—किसी विशेष उद्योग का एक ही स्थान पर स्थानीयकरण हो जाने से अनेक प्रकार की बचतें प्राप्त होती हैं, जैसे सस्ती दर पर पानी तथा बिजली की प्राप्ति आदि।

(४) **अन्य बचतें**—उपरोक्त बाहरी लाभों के अतिरिक्त एक व्यावसायिक इकाई को यातायात तथा संवादवाहन साधनों के विकास के लाभ; बाजार एवं बैंकिंग के विकास के लाभ आदि भी प्राप्त होते हैं।

(ब) **अभ्यान्तरिक बचतें** (Internal Economies)—ऐसी बचतों का सम्बन्ध औद्योगिक इकाई की भीतरी व्यवस्था से है। इसमें उन सब सुविधाओं को सम्मिलित किया जाता है जो किसी इकाई के भीतरी सङ्गठनों की दशाओं में सुधार के कारण उत्पन्न होती हैं। ऐसी सुविधाओं का सम्बन्ध इकाई विशेष से होता है, सारे उद्योग से नहीं। ऐसे प्रमुख लाभ एवं बचतें निम्नलिखित हैं :—

(१) **श्रम-विभाजन से लाभ**—बड़े आकार वाली औद्योगिक इकाइयों में श्रम-विभाजन की पद्धति को आसानी से कार्यान्वित किया जा सकता है। इसके लागू होने से सम्बन्धित औद्योगिक इकाई को अनेक प्रकार की बचतें प्राप्त होती हैं, जैसे—कुशल व्यक्तियों की नियुक्ति के लाभ, बड़ी-बड़ी मशीनों की स्थापना से होने वाली बचतें तथा बड़े पैमाने पर उत्पादन के लाभ आदि।

(२) **वैज्ञानिक अनुसंधान एवं अन्वेषण के लाभ**—आधुनिक युग वैज्ञानिक अनुसंधान एवं अन्वेषण का युग है। बड़े आकार वाली औद्योगिक इकाइयों में एक पृथक् से वैज्ञानिक अनुसंधान एवं अन्वेषण विभाग स्थापित किया जा सकता है। इससे कम लागत पर उच्चकोटि का माल उत्पादित किया जा सकता है।

(३) **स्वचालित मशीनों के प्रयोग से लाभ**—बड़े आकार वाली औद्योगिक इकाइयों

में स्वचालित मशीनों का प्रयोग किया जा सकता है। इनकी उत्पादन क्षमता अपेक्षाकृत कहीं अधिक होती है। इससे प्रति इकाई उत्पादन व्यय कम हो जाता है।

(४) **विशेषज्ञों की नियुक्ति से लाभ**—बड़े आकार वाली औद्योगिक इकाइयों में प्रशिक्षित एवं योग्य कर्मचारियों की नियुक्ति करना सम्भव हो जाता है। ऐसी इकाइयों में साहसी कारखाने की सामान्य समस्यायें अपने प्रवन्धक, फोरमैन आदि को सौंपकर स्वयं नीति आदि निर्माण के कार्य कर सकता है। इसके विपरीत, एक छोटे आकार वाली औद्योगिक इकाई में साहसी को सभी कार्य या तो स्वयं ही करने पड़ते हैं अथवा इन कार्यों के लिये उसे साधारण योग्यता वाले व्यक्तियों पर निर्भर रहना पड़ता है।

(५) **उच्च तकनीकी की बचतें**—एक छोटे उपक्रम की तुलना में बड़े आकार वाले उपक्रमों में उच्च तकनीकी युक्त बड़े-बड़े यन्त्रों (जैसे बिजली का कम्प्यूटर) की स्थापना की जा सकती है। इन यन्त्रों की सहायता से जटिल से जटिल एवं घण्टों में होने वाला कार्य बटन दबाते ही केवल कुछ सैकिण्ड में ही सम्पन्न हो जाता है। इनसे प्रति इकाई औसत लागत में पर्याप्त कमी हो जाती है।

(६) **मरम्मत की सुविधायें**—एक बड़े आकार वाली इकाई में विभिन्न प्रकार की मशीनों का प्रयोग होता है, जिनमें टूट-फूट होती रहती है। उत्पादन कार्यक्रम में बाधा न आने देने के लिये यह आवश्यक हो जाता है कि टूटी अथवा बिगड़ी हुई मशीनों की तुरन्त मरम्मत कराई जाय। एक बड़े आकार वाली इकाई स्वयं अपना एक पृथक् मरम्मत विभाग स्थापित कर सकती है। इससे उत्पादन में रुकावट न आने के साथ-साथ धन तथा समय की भी बचत होती है। उदाहरण के लिये, टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी लि० के यहाँ एक पृथक् मरम्मत विभाग होने के कारण उसमें निरन्तर उत्पादन कार्य होता रहता है।

(७) **अवशिष्ट पदार्थों (Bye Products) के उपयोग से बचत**—प्रत्येक उत्पादन कार्य में किसी न किसी प्रकार की अवशिष्ट उपज अथवा बेकार सामान अवश्य निकलता है। छोटे आकार की इकाइयों में इसका उपयोग न होकर फेंक दिया जाता है। किन्तु बड़े आकार वाली इकाइयों में इसका उपयोग करके सहायक उत्पादन प्राप्त किया जाता है। उदाहरण के लिये, बड़े आकार वाली सूती वस्त्र कारखाने में टूटे-फूटे सूत के धागों से दरियाँ तैयार की जा सकती हैं।

(८) **अन्य बचतें**—उपरोक्त बातों के अतिरिक्त एक बड़े आकार वाली इकाई में और भी कई प्रकार की बचतें प्राप्त होती हैं, जैसे—शक्ति के उपयोग में बचत (आधुनिक मशीनों में पुरानी घिसी-पिटी मशीनों की तुलना में कम शक्ति का उपयोग होता है), पैकिंग विभाग में बचतें, कार्यालय में बचत, एकस्व अधिकार (Patent right) प्राप्त करने में बचत आदि।

(II) प्रबन्ध में बचत (Economies in Management)—

एक बड़े आकार वाली व्यावसायिक अथवा औद्योगिक इकाई को प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक बचत प्राप्त होती हैं। प्रमुख बचतें निम्नलिखित हैं :—

(१) **कुशल एवं अनुभवी व्यक्तियों की नियुक्ति से लाभ**—एक व्यावसायिक अथवा औद्योगिक इकाई में प्रबन्ध सम्बन्धी अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ सकता है। इनके समाधान के लिये अनुभवी व्यक्तियों की सेवाओं की आवश्यकता पड़ती है। एक बड़े आकार वाली इकाई में ऐसे व्यक्तियों की सेवाओं का लाभ उठाया जा सकता है। इसके विपरीत, एक छोटे आकार की इकाई इनकी सेवाओं का भार वहन करने में असमर्थ रहती है, क्योंकि वे मँहगी पड़ती हैं।

(२) **क्रियात्मक सङ्गठन की स्थापना**—बड़े उपक्रम में क्रियात्मक सङ्गठन (Fun c-

tional organisation) की पद्धति को लागू किया जा सकता है। इससे विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। क्रियात्मक सङ्गठन तथा विशिष्टीकरण से अनेक लाभ प्राप्त होते हैं, जिनका वर्णन सम्बन्धित अध्यायों के अन्तर्गत पहले ही किया जा चुका है।

(३) **ऊपरी व्यय में कमी**—बड़े आकार वाली इकाई में उत्पत्ति की प्रति इकाई के अनुपूरक व्यय (Supplementary Cost) अथवा ऊपरी व्यय (Overhead Expenses) अपेक्षाकृत कम आते हैं। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के व्यय साधारणतया निश्चित अथवा स्थिर होते हैं। चूँकि बड़े आकार वाली इकाई में उत्पत्ति की मात्रा अधिक होती है, अतएव प्रति इकाई ऊपरी व्यय कम हो जाता है।

(III) वित्त सम्बन्धी बचतें (Economies in Finance)—

बड़े आकार वाली व्यावसायिक अथवा औद्योगिक इकाइयों में वित्त सम्बन्धी अनेक बचतें प्राप्त होती हैं। महत्त्वपूर्ण बचतें निम्नलिखित हैं:—

(१) **पूँजी के उपयोग में बचत**—बड़े आकार वाली इकाई में उत्पादक अथवा निर्माता को पूँजी के उपयोग में भी बचत होती है, क्योंकि ऐसे उत्पादक की बाजार में साख ऊँची होती है, जिससे उसे कम ब्याज तथा उचित शर्तों पर अधिक मात्रा में ऋण मिल जाते हैं।

(२) **पूँजी की प्राप्ति में सुगमता**—बड़े आकार वाली इकाइयों में छोटे आकार वाली इकाइयों की तुलना में आसान शर्तों पर सुगमता से पर्याप्त मात्रा में पूँजी की प्राप्ति की जा सकती है। पूँजी की प्राप्ति अंश एवं ऋण-पत्रों का निर्गमन करके तथा विशिष्ट संस्थाओं (जैसे—औद्योगिक वित्त निगम) से ऋण लेकर की जा सकती है।

(३) **अर्जित आय का पुनर्विनियोजन**—एक बड़े आकार वाली औद्योगिक इकाई में लाभ की मात्रा भी अपेक्षाकृत अधिक होती है। समस्त लाभ का वितरण न करके उसका कुछ भाग रोक लिया जाता है। इस रोके गये लाभ के भाग का इकाई में पुनर्विनियोजन कर दिया जाता है। यह पद्धति प्रति वर्ष अपनाई जाती है। अतएव धीरे-धीरे यह राशि विशाल पूँजी का रूप धारण कर लेती है। इस प्रकार उक्त औद्योगिक इकाई को स्वयं अपने ही साधनों से बिना ब्याज के पूँजी उपलब्ध हो जाती है। छोटे आकार वाली व्यावसायिक इकाई में लाभ की मात्रा कम होने के कारण ऐसा करना सम्भव नहीं हो पाता है।

(४) **उधार विक्रय की वसूली में सुविधा**—उद्योग अथवा व्यापार की इकाई चाहे छोटी हो अथवा बड़ी, सभी में नकद बिक्री के साथ-साथ माल का उधार विक्रय भी करना पड़ता है। माल का उधार विक्रय होने के कारण उसकी वसूली करने का प्रश्न उत्पन्न होता है, अन्यथा वह डूब जाता है। बड़े आकार वाली इकाइयों में इसकी वसूली के लिये विशेष व्यक्तियों की नियुक्ति की जा सकती है, जिसके कारण वसूली व्ययों में बचत रहती है तथा ऋण के डूबने का भय भी कम हो जाता है, जिसका कारण यह है कि माल उधार लेने वाला क्रेता जानता है कि यदि मैंने भुगतान नहीं किया तो मुझे भविष्य में उधार माल नहीं मिलेगा तथा इसके साथ मुझे वैधानिक मुसीबतों का सामना भी करना पड़ेगा।

(IV) विपणन में बचतें (Economies in Marketing)—

एक वस्तु उपभोक्ता तक पहुँचते-पहुँचते कितने ही हाथों में से होकर निकलती है। प्रत्येक व्यापारी अपने श्रम की लागत सम्बन्धित वस्तु के मूल्य में जोड़ देता है। कभी-कभी यह मूल्य वृद्धि वस्तु के लागत व्यय के बराबर या इससे अधिक भी हो जाती है। अतएव एक छोटे आकार वाली व्यावसायिक इकाई का उत्पादक विपणन सम्बन्धी सुविधाओं का समुचित उपयोग नहीं कर पाता है। इसके विपरीत, एक बड़े आकार वाली व्यावसायिक इकाई में इनका विस्तृत

प्रयोग करना सम्भव होता है, क्योंकि इसमें निम्नलिखित विपणन सम्बन्धी बचतें प्राप्त होती हैं :—

(१) **विक्रय में बचत**—एक बड़े आकार वाली व्यावसायिक इकाई योग्य विक्रेताओं, एजेण्टों और बिक्री विशेषज्ञों की सेवाओं को प्राप्त कर बड़ी मात्रा में विक्रय करने में समर्थ हो जाती है। ऐसा करने से जहाँ विक्रय में पर्याप्त वृद्धि होती है वहाँ प्रति इकाई वितरण व्यय में भी कमी हो जाती है। जैसे-जैसे विक्रय की मात्रा बढ़ती जाती है, वैसे-वैसे प्रति इकाई विक्रय व्यय भी कम होता जाता है।

(२) **विज्ञापन व्यय में कमी**—आधुनिक युग विज्ञापन का युग है। माल की बिक्री में वृद्धि करने हेतु आधुनिक विज्ञापनों के साधनों (जिनका वर्णन इस पुस्तक में एक पृथक अध्याय के अन्तर्गत किया गया है) का प्रयोग करना पड़ता है। एक बड़े आकार की व्यावसायिक इकाई में प्रभावपूर्ण विज्ञापन के साधनों का सहारा लेकर विक्रय की मात्रा में पर्याप्त वृद्धि की जा सकती है। इसके विपरीत, छोटे आकार की व्यावसायिक इकाइयों में आधुनिक विज्ञापन के साधनों का उपयोग करना आर्थिक कारणों से सम्भव नहीं हो पाता है।

(३) **सामूहिक विक्रय के लाभ**—बड़े आकार वाली व्यावसायिक इकाइयों में उपभोक्ताओं की पसन्दगी के अनुसार विभिन्न प्रकार का उत्पादन होता है। साहसी इन सभी वस्तुओं का विक्रय अपने कुशल विक्रय-सङ्गठन के द्वारा सामूहिक विक्रय करने में समर्थ हो जाता है।

उदाहरण के लिये, डी० सी० एम० की रिटेल की दूकानों पर अपने ही क्लॉथ मिल्स द्वारा निर्मित सभी प्रकार के कपड़ों का सामूहिक रूप में विक्रय किया जाता है, जिससे विक्रय में सुविधा तथा बचत दोनों ही रहती हैं।

(४) **सेवा सम्बन्धी सुविधाओं का विकास**—एक बड़े आकार वाली इकाई में कम लागत पर ग्राहकों के लिए सेवा सम्बन्धी सुविधाओं का विकास किया जाना सम्भव होता है, जैसे गर्मियों में पीने के लिये ठण्डे पानी की व्यवस्था करना, ग्राहकों के घर पर माल पहुँचाये जाने की सुविधा (Home Delivery Service) तथा अन्य निःशुल्क सेवाओं की व्यवस्था किया जाना।

अनुकूलतम आकार अथवा आदर्श आकार
(Optimum Size)

अनुकूलतम आकार का अर्थ (Meaning of Optimum Size)—

भिन्न-भिन्न उद्योगों में भिन्न-भिन्न आकार की औद्योगिक इकाइयाँ देखने में आती हैं। उदाहरण के लिये, लौह एवं इस्पात उद्योग में इकाइयों का आकार अपेक्षाकृत बड़ा होता है। जबकि कृषि उद्योग में व्यक्तिगत कृषक के फार्म का आकार छोटा होता है। आकार की विभिन्नता का मूल कारण यह है कि एक निश्चित आकार की औद्योगिक इकाई एक विशेष प्रकार के उद्योग की दशाओं के अनुकूल होती है। यही नहीं, एक ही उद्योग के अन्तर्गत भी विभिन्न आकार की इकाइयाँ हो सकती हैं और प्रत्येक इकाई की उत्पादन लागत तथा लाभ कमाने की क्षमता भी अलग-अलग होती है। भारतीय वस्त्र उद्योग इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस उद्योग में छोटी से छोटी तथा बड़ी से बड़ी औद्योगिक इकाई विद्यमान है। किन्तु प्रतियोगिता के इस युग में केवल वही औद्योगिक इकाई सफल हो पाती है, जिसके अन्तर्गत न्यूनतम व्यय पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त होता हो। यही वास्तव में किसी औद्योगिक इकाई का सही आकार होता है, **अतएव अनुकूलतम आकार से हमारा अभिप्राय ऐसे आकार से है जिसमें न्यूनतम व्यय पर अधिकतम उत्पादन होता है।** साधारण शब्दों में, अनुकूलतम आकार की इकाई वह है, जिसकी क्षमता सर्वा-

धिक हो। अतएव यदि औद्योगिक इकाई अनुकूलतम आकार से बड़ी या छोटी होगी, तो वह आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त इकाई नहीं हो सकती।

अनुकूलतम आकार की परिभाषाएँ—

प्रो० रोबिन्सन के अनुसार, "अनुकूलतम फर्म से हमारा अभिप्राय ऐसी फर्म से है, जिसमें तकनीकी तथा संगठन की योग्यता की वर्तमान दशा के कारण प्रति इकाई औसत लागत मूल्य निम्नतम हो तथा वे सभी लागत व्यय जिन्हें दीर्घकाल में पूरा कर लेना चाहिये, सम्मिलित हों।"[1]

बाई तथा हिवेट के अनुसार, अनुकूलतम आकार की औद्योगिक इकाई "व्यावसायिक उपक्रम का वह संगठन है जो तान्त्रिकता की निश्चित दशाओं तथा उसके द्वारा उत्पादित वस्तु के बाजार की दशाओं में दीर्घकाल में अपना माल सबसे कम औसत लागत पर उत्पादित कर सकती है।"[2]

प्रो० ए० बीकम के अनुसार, "एक आदर्श संसार में सब फर्मों को उस समय तक बढ़ने देना चाहिए जब तक कि वे अन्य उत्पादकों की तुलना में कम औसत लागत पर उत्पादन न करने लगें।"[3]

प्रो० घोष के अनुसार, "पूर्ण प्रतिस्पर्धा की दशाओं में सभी इकाइयाँ उस सीमा तक विकसित होती हैं जहाँ पर उत्पादन के सभी साधनों का सबसे प्रभावी उपयोग हो सके। जब औद्योगिक इकाई इस सीमा पर पहुँच जाती है तो उसे अनुकूलतम आकार की इकाई कहते हैं।"

डॉ० पी० एस० लोकनाथन के अनुसार, "प्रत्येक उद्योग में तथा प्रत्येक उद्योग की प्रचलित प्रत्येक उत्पादन पद्धति में प्लाण्ट का एक निश्चित आकार होता है, जिससे कम आकार होने पर तकनीकी कारणों से उत्पादन असम्भव तथा आर्थिक कारणों से लाभरहित होता है।"

निष्कर्ष—विशेषताएँ—उपरोक्त महत्त्वपूर्ण परिभाषाओं का अध्ययन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अनुकूलतम इकाई में निम्न विशेषताएँ होती हैं :—(१) औसत लागत न्यूनतम होती है। (२) औसत लागत में समस्त अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन लागतों को सम्मिलित कर लिया जाता है। (३) उत्पादन अधिकतम होता है। (४) कार्यक्षमता अधिकतम होती है। (५) अधिकतम लाभ होना अनिवार्य नहीं है। (६) व्यवसाय से सम्बन्धित सभी प्रकार की क्षति एवं बरबादी रुक जाती है। (७) उत्पादन के विभिन्न घटकों (जैसे—भूमि, श्रम, पूँजी, साहस, प्रबन्ध आदि) के बीच आदर्श समन्वय स्थापित हो जाता है। दूसरे शब्दों में, अनुकूलतम इकाई तथा अधिकतम लाभ में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता।

---

[1] "Firm in which existing condition of technique and organizing ability have the lowest average cost production per unit, when all those costs which must be covered in the long run are included."—**E. A. G. Robinson** : *The Structure of Competitive Industry*, p. 15.

[2] "That organisation of business enterprize which in given circumstances of technology and the market for its product can produce its goods at the lowest average costs in the long run."—**Bye & Hewett** : *Applied Economics*, p. 53.

[3] "In an ideal world—all firms should expand until they are producing these outputs which they produce at a lower average cost than any other output."—**A. Beacham** : *Economics of Industrial Organization.*

अनुकूलतम आकार की आलोचनायें—

कुछ विद्वानों का कहना है कि अनुकूलतम आकार की धारणा केवल मानसिक कल्पना मात्र ही है, अतएव यह आलोचनाओं के परे नहीं है। अनुकूलतम आकार की मुख्य आलोचनाएँ निम्नलिखित हैं :—(१) यह विचार पूर्ण प्रतिस्पर्धा का होना मानता है, जो वास्तविकता नहीं है, अतएव यह कोरी कल्पना ही है। (२) प्रो० शुम्पीटर (Prof. Schumpeter) के अनुसार, यद्यपि पूर्ण प्रतिस्पर्धा का होना यह बतलाता है कि इकाई का आकार अनुकूलतम है, परन्तु पूर्ण प्रतिस्पर्धा के न होने का कदापि यह अर्थ नहीं है कि इकाइयों का आकार अनुकूलतम नहीं है। (३) यह मालूम करना कठिन है कि विभिन्न उद्योगों में कौन-सी इकाई अनुकूलतम आकार की है।

मार्शल का प्रतिनिधि फर्म सम्बन्धी विचार

परिभाषा—

फर्म के आकार के सम्बन्ध में मार्शल ने बहुत ही स्पष्ट एवं प्रभावशाली शब्दों में अपने विचार प्रकट किये हैं। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'प्रतिनिधि फर्म' के विचार का प्रतिपादन किया है। उनके शब्दों में, "प्रतिनिधि फर्म एक ऐसी फर्म है जिसका जीवन काफी लम्बा रहा हो, जिसे यथेष्ट सफलता मिली हो, जिसका प्रबन्ध एक सामान्य योग्यता वाले व्यक्ति द्वारा किया जाता हो और जिसे सामूहिक उत्पत्ति की आन्तरिक एवं बाहरी बचतें सामान्य रूप से प्राप्त होती हों, जबकि उत्पन्न की हुई वस्तुओं की किस्म, इनके विक्रय के लिए प्रस्तुत करने की दशा तथा आर्थिक वातावरण को ध्यान में रक्खा जाता हो।"[1]

मार्शल ने आगे चलकर यह बताया है कि प्रतिनिधि फर्म का आकार सदैव एकसा रहता है। दूसरे शब्दों में, प्रतिनिधि फर्म का आकार न तो बढ़ाया जा सकता है और न घटाया जा सकता है, अर्थात् इसका आकार सदैव एकसा रहता है। अपने इस विचार को उन्होंने बहुत ही सुन्दर शब्दों में इस प्रकार व्यक्त किया है—"फर्में बढ़ती हैं और गिरती हैं किन्तु प्रतिनिधि फर्म का आकार सदैव लगभग समान रहता है, बिल्कुल उसी प्रकार जिस प्रकार से एक अकेले वन में एक प्रतिनिधि वृक्ष का आकार सदैव समान रहता है।"[2]

प्रतिनिधि फर्म के विचार की पुष्टि—

मार्शल ने जगली वृक्षों के आकार पर अपने इस महत्त्वपूर्ण विचार की पुष्टि की है। उन्होंने जङ्गल के वृक्षों को तीन भागों में विभाजित किया है :—(१) बहुत छोटे वृक्ष, अर्थात् जो अभी-अभी उगे होते हैं, (२) युवा वृक्ष, अर्थात् जो न तो बिल्कुल बच्चे ही होते हैं और न पूर्णतया बूढ़े ही, (३) पुराने वृक्ष, अर्थात् जो पुराने होकर सूखने लगते हैं। ठीक इसी प्रकार प्रत्येक उद्योग में तीन आकार की फर्में होती हैं। कुछ तो ऐसी होती हैं जो अभी बिल्कुल शिशु अवस्था (Infant Stage) में होती हैं और धीरे-धीरे बढ़कर अधिक बचत प्राप्त करती रहती हैं। कुछ इतनी पुरानी

---

1 "........one which had a fairly long life and fair success, which is managed by a person with fair ability, and which has normal access to the economies, external and internal, which belong to that aggregate volume of production, account being taken of the class of goods produced, the conditions of marketing them and the economic environments........"

—Dr. Alfred Marshall.

2 "The firms rise and fall but the representative firm remains always of about the same size as does the representative tree of a virgin forest."

—*Ibid.*

होती हैं कि अपनी कार्यक्षमता को खो चुकी होती हैं और कुछ बीच की अवस्था में होती हैं, जिन्हें सामान्य बचत तथा सामान्य कुशलता प्राप्त होती है। ऐसी फर्म की ख्याति स्थापित हो जाती है। इस तीसरी श्रेणी में कई फर्में हो सकती हैं, किन्तु वे सभी प्रतिनिधि फर्म नहीं होंगी। केवल वही फर्म प्रतिनिधि फर्म कहलायेगी, जो सभी दृष्टिकोणों से एक सामान्य अथवा औसत फर्म होगी।

प्रतिनिधि फर्म के लक्षण—

(१) यह एक औसत फर्म होती है। (२) इसका आकार सदैव समान रहता है। (३) यह न तो बिल्कुल नई फर्म होती है और न बहुत पुरानी फर्म ही, बल्कि मध्यम श्रेणी की फर्म होती है। (४) इसका न विकास होता है और न संकुचन। (५) ऐसी फर्म एक या एक से अधिक हो सकती हैं।

प्रतिनिधि फर्म की आलोचनायें—

मार्शल की प्रतिनिधि फर्म की अर्थशास्त्रियों द्वारा बहुत ही कटु शब्दों में आलोचना की गई है। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(१) मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार एक कोरी कल्पना है तथा इसका व्यावहारिक जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं है। वास्तविक जीवन में प्रतिनिधि फर्म का किसी भी उद्योग में पता लगाना असम्भव है। एक विद्वान के शब्दों में, "मार्शल की प्रतिनिधि फर्म केवल मस्तिष्क की उपज है और वास्तविकता से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।"

(२) कुछ लोगों का कहना है कि मार्शल का प्रतिनिधि फर्म का विचार अपूर्ण तथा अस्पष्ट है। रॉबर्टसन (Robertson) का विचार है कि मार्शल ने यह स्पष्ट नहीं किया है कि प्रतिनिधि फर्म उद्योग के विस्तार का प्रतिनिधित्व करती है या व्यय का। उनके अनुसार यह केवल उद्योग की सामान्य लागत का द्योतक है।

(३) प्रतिनिधि फर्म का विचार केवल स्थिर दशा (Static State) से ही सम्बन्धित है, जबकि वास्तव में संसार सदा प्रावैगिक दशा (Dynamic State) में ही रहता है, क्योंकि संसार में प्रत्येक दशा में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं।

(४) यह आवश्यक नहीं है कि प्रतिनिधि फर्म केवल वही हो जिसका जीवन काफी लम्बा रहा हो। उदाहरण के लिए, ऐसी बहुत-सी फर्में हैं जोकि शुरू से ही काफी बड़ी हैं तथा उनकी गिनती अनुकूलतम इकाई में हो सकती है। इसी प्रकार ऐसी भी कई छोटी फर्में हो सकती हैं जो काफी लम्बे जीवन के पश्चात् भी अपना विकास करना आर्थिक दृष्टि से उपयुक्त न समझें।

पीगू की साम्य फर्म
(The Equilibrium Firm of Pigou)

साम्य फर्म से आशय—

पीगू ने साम्य फर्म के विचार का प्रतिपादन किया है। पीगू का कथन है कि यह सम्भव है कि जब पूरा उद्योग साम्य की दशा में हो पर उसके अन्तर्गत सभी फर्म साम्य की दशा में न हों। जबकि उद्योग विशेष में न तो विस्तार ही होता है और न संकुचन ही तब भी व्यक्तिगत रूप से कुछ फर्मों का विस्तार हो सकता है, कुछ का संकुचन। परन्तु सम्भव है कि कोई फर्म विशेष साम्य की दशा में हो, अर्थात् न तो उसका विस्तार होता हो और न संकुचन ही। ऐसी फर्म को 'साम्य फर्म' कहते हैं। पीगू के अनुसार, "इसका आशय यह है कि कोई ऐसी फर्म हो सकती है, जो उस समय जबकि समस्त उद्योग साम्य की दशा में है, अर्थात् जबकि वह एक सामान्य पूर्ति मूल्य 'ग' पर 'क' मात्रा में उत्पादन करती है, व्यक्तिगत रूप से स्वयं भी साम्य में

हो और एक निश्चित मात्रा 'अ' का उत्पादन करती हो ।"[1] पीगू के मतानुसार साम्य फर्म कहलाने के लिए यह आवश्यक है कि उद्योग का पूर्ति मूल्य साम्य फर्म की सीमित लागत के बराबर ही नहीं, वरन् उसकी औसत लागत के बराबर भी हो । ऐसी फर्म सैद्धान्तिक भी हो सकती है और व्यावहारिक भी । साथ ही, ऐसी एक से अधिक फर्मे भी हो सकती हैं ।

साम्य फर्म की आलोचनायें—

मार्शल की प्रतिनिधि फर्म की भाँति पीगू की साम्य फर्म भी आलोचनाओं से परिपूर्ण है । आलोचकों का कहना है कि दोनों के विचारों में कोई विशेष अन्तर नहीं है । पीगू स्वयं भी इस बात को मानते हैं, क्योंकि वे स्वयं इस बात को कहते हैं कि उनका उद्देश्य मार्शल के विचार का स्पष्टीकरण ही है । अतएव वे सभी आलोचनायें जो प्रतिनिधि फर्म के सम्बन्ध में की जा सकती हैं, साम्य फर्मों पर भी ठीक उतरती हैं । इस सम्बन्ध में मुख्य आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(१) पीगू की विचारधारा बहुत ही कम व्यावहारिक उपयोगिता की है, क्योंकि साम्य बिन्दु को निर्धारित करने की समस्या सदैव बनी रहेगी । कोई भी उत्पादक जैसा कि इन विचारों में अपेक्षित है, अपने फर्म के आकार के सम्बन्ध में प्रयोग या खिलवाड़ नहीं करेगा ।

(२) साम्य फर्म का वास्तविक जीवन में उतना ही अस्तित्त्व है, जितना कि प्रतिनिधि फर्म का । पीगू स्वयं इस बात को मानते हैं कि उनकी साम्य फर्म केवल कल्पना मात्र ही हो सकती है । आलोचकों का कथन है कि दोनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है ।

(३) पीगू का कहना है कि एक उद्योग उसी समय साम्य की स्थिति में होगा जबकि उसमें संलग्न सभी फर्में साम्य की स्थिति में हों । यह एक हास्यप्रद कथन है, क्योंकि यदि सभी फर्में साम्य की स्थिति में हों तो फिर साम्य फर्म का महत्त्व ही क्या रह जाता है ।

अनुकूलतम आकार को निर्धारित करने वाली शक्तियाँ अथवा तत्त्व
(Factors determining Optimum Size)

प्रो० रॉबिन्सन के अनुसार, अनुकूलतम आकार को निर्धारित करने वाली शक्तियों को निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है । इनमें से प्रत्येक शक्ति अपने अनुभव के अनुसार अनुकूलतम इकाई का निर्धारण करती है । ये शक्तियाँ तथा इनसे निर्धारित होने वाली अनुकूलतम इकाइयाँ निम्नलिखित हैं :—

आकार को निर्धारित करने वाली शक्तियाँ	शक्तियों द्वारा निर्धारित होने वाली अनुकूलतम इकाइयाँ
[१] तकनीकी शक्तियाँ (Technical Forces)	[१] अनुकूलतम तकनीकी इकाई (Optimum Technical Unit)
[२] प्रबन्धकीय शक्तियाँ (Managerial-Forces)	[२] अनुकूलतम प्रबन्धकीय इकाई (Optimum Managerial Unit)
[३] वित्तीय शक्तियाँ (Financial Forces)	[३] अनुकूलतम वित्तीय इकाई (Optimum Financial Unit)
[४] विपणीय शक्तियाँ (Marketing Influences)	[४] अनुकूलतम विपणीय इकाई (Optimum Marketing Unit)
[५] जोखिम एवं उच्चावचन की शक्तियाँ (Forces of Risks and Fluctuations)	[५] अनुकूलतम जोखिम एवं उच्चावचन इकाई (Optimum Survival Unit)

1 "It means that when there can be a firm which when the whole industry is in equilibrium *i. e.*, when at a general supply price *g* produces a fixed quantity *k* is itself in equilibrium producing a fixed quantity *a*."

—A. C. Pigou.

इन पाँचों शक्तियों के मिलने पर अनुकूलतम् आकार की औद्योगिक इकाई की स्थापना होती है। एक प्रकार की शक्तियों के दोषों का दूसरे वर्ग की शक्तियों के लाभों से सन्तुलन हो जाता है। इसी के फलस्वरूप अनुकुलतम् आकार की औद्योगिक इकाई को सबसे अधिक मितव्ययितायें प्राप्त हो जाती हैं। प्रो० रॉबिन्सन के शब्दों में, "अनुकूलतम् आकार की औद्योगिक इकाई में इन शक्तियों से होने वाला सन्तुलन रस्सा-कसी (Tug-of-War) के रस्से की भाँति होता है, जो दो दशाओं में स्थिर रहता है। प्रथम, जब किसी भी ओर उसको न खींचा जाय तथा द्वितीय, जबकि दोनों ओर की टीमों की शक्ति बिल्कुल समान हो।"[1] जैसे-जैसे तकनीकी तथा प्रबन्धकीय ज्ञान में विकास होता जाता है, वैसे-वैसे औद्योगिक इकाई के अनुकूलतम् आकार में भी परिवर्तन होता जाता है। उपरोक्त पाँचों अनुकूलतम् इकाइयों का अलग-अलग वर्णन इस प्रकार है :—

(१) **अनुकूलतम् तकनीकी इकाई** (Optimum Technical Unit)—तकनीकी विशेषज्ञ के द्वारा अनुकूलतम् तकनीकी इकाई का निर्धारण होता है और शेष अनुकूलतम् बिल्कुल छोड़ दिये जाते हैं। यह श्रम-विभाजन तथा प्राविधियों के एकीकरण (Integration of processes) के आर्थिक लाभ का परिणाम है। श्रम-विभाजन के मुख्य आर्थिक लाभ हैं :—[अ] श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि; [ब] श्रम तथा समय की बचत; [स] विशिष्टीकरण; तथा [द] बड़ी-बड़ी मशीनों का आविष्कार। श्रम-विभाजन के सिद्धान्त को लागू करने के लिये यह आवश्यक है कि औद्योगिक इकाई का आकार बड़ा हो। इस प्रकार जैसे-जैसे तकनीकी विकास होता जाता है वैसे-वैसे औद्योगिक इकाई का आकार भी बढ़ता जाता है। इसका कारण यह है कि इससे कई मितव्ययितायें होती हैं, जैसे स्थायी अतिरिक्त व्ययों (over-head expenses) में कमी होना, कार्यक्षमता में वृद्धि होना, उत्पादन वृद्धि के अनुपात में निर्माण तथा संचालन व्ययों में कमी होना, श्रम-विभाजन के लाभ, मशीनों के प्रयोग से होने वाले लाभ तथा भीमकाय उत्पादन के लाभ आदि। किन्तु आगे चलकर एक ऐसा बिन्दु आता है जबकि औद्योगिक इकाई का और आगे विकास करना अनार्थिक हो जाता है। इसका कारण यह है कि श्रम-विभाजन अथवा प्राविधियों के एकीकरण में प्राप्त होने वाली मितव्ययितायें समाप्त होकर अमितव्ययितायें आ जाती हैं। उदाहरण के लिए, एक दो मंजिल वाली बस की कीमत एक मंजिल वाली दो बसों के मुकाबले में काफी कम होती है। किन्तु यह दो मंजिल वाली बस एक मंजिल वाली बस के मुकाबले में दुगने मुसाफिरों को ले जा सकती है तथा इसको चलाना भी अपेक्षाकृत सुविधाजनक रहता है। इस प्रकार दो मंजिल वाली बस में मितव्ययिता रहती है। परन्तु यदि इसी बस को तीन या चार मंजिल वाली बस में परिवर्तित कर दिया जाय तो यह बहुत भारी हो जायगी तथा इसके लिये नये-नये पुलों के निर्माण की आवश्यकता प्रतीत होगी और इसको चलाना तथा इसमें बैठकर यात्रा करना खतरे से खाली नहीं रहेगा। अतएव मितव्ययिता समाप्त होकर अमितव्ययिता आ जावेगी।

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि तकनीकी अनुकूलतम् इकाई का निर्धारण श्रम-विभाजन तथा प्रविधियों के एकीकरण के द्वारा होता है।

(२) **अनुकूलतम प्रबन्धकीय इकाई** (Optimum Managerial Unit)—औद्यो-

[1] "The equilibrium may be similar either to that of the tug-of-war rope, which is motionless because no one is yet pulling in either direction, or to the tug-of-war rope which is motionless because the two teams are for the moment equally matched."—**E. A. G. Robinson.**

गिक इकाई के आकार में वृद्धि होने से प्रबन्ध के क्षेत्र में भी मितव्ययिता आती है। इसका कारण यह है कि औद्योगिक इकाई के आकार की वृद्धि के अनुपात में प्रबन्धकीय व्यय नहीं बढ़ता। एक बड़ी औद्योगिक इकाई अपने प्रबन्धकीय कार्यों को कई भागों में बाँट सकती है तथा उनके लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति कर सकती है। प्रबन्ध कार्य में श्रम-विभाजन अपनाने से व्यक्ति अपने-अपने कार्य में विशिष्टता प्राप्त कर सकते हैं तथा उनके ज्ञान एवं अनुभव से प्रबन्धकीय कुशलता बढ़ती है। कुशलता का अपव्यय नहीं हो पाता। कार्यक्षमता में दिन-दूनी रात चौगुनी गति से वृद्धि होती है। अनुसन्धान कार्य को प्रोत्साहन मिलता है। उत्पादन नियोजित ढङ्ग से होने लगता है और प्रति इकाई लागत भी कम हो जाती है। परन्तु एक सीमा के पश्चात् औद्योगिक इकाई के आकार में वृद्धि हो जाने पर केवल न प्रबन्धकीय मितव्ययिताओं में कमी आ जाती है बल्कि अमितव्ययितायें दृष्टिगोचर होने लगती हैं। इसका कारण यह है कि औद्योगिक इकाई का आकार आवश्यकता से अधिक बढ़ जाने पर विभिन्न विभागों में समन्वय करना कठिन हो जाता है तथा व्यक्तिगत सम्पर्क कम रह जाता है। लालफीताशाही का बोलबाला हो जाता है तथा कार्यक्षमता का भी हनन होने लगता है। **प्रो० रॉबिन्सन** के शब्दों में, "एक बड़ी फर्म पहियों के अन्दर पहियों की शृङ्खला है, एक बड़ी विस्तृत मशीन है, जिसमें प्रत्येक निर्णय के लिये एक व्यक्ति से परामर्श लेना, दूसरे से पूछना, तीसरे की अनुमति लेना तथा चौथे से समझौता करना पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप निर्णय लेने में काफी विलम्ब हो जाता है।"[1] अतएव कुशल प्रबन्ध बनाये रखने हेतु एक सीमा के पश्चात् औद्योगिक इकाई के आकार की वृद्धि को रोका जाता है। इसी सीमा पर अनुकूलतम् प्रबन्धकीय इकाई का निर्माण होता है।

(३) **अनुकूलतम वित्तीय इकाई** (Optimum Financial Unit)—वित्त सभी आर्थिक क्रियाओं का जीवन-रक्त होता है। औद्योगिक इकाई बड़ी हो अथवा छोटी, सभी को वित्त की आवश्यकता पड़ती है। जैसे-जैसे औद्योगिक इकाई का आकार बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसकी वित्तीय आवश्यकतायें भी बढ़ती जाती हैं। दूसरे शब्दों में, जैसे-जैसे किसी औद्योगिक इकाई के वित्तीय साधन बढ़ते जाते हैं वैसे-वैसे उसका आकार भी बढ़ता जाता है। वित्त के क्षेत्र में सदैव बड़े आकार की औद्योगिक इकाई लाभ में रहती है, क्योंकि इकाई आकार में जितनी ही बढ़ेगी उसे उतनी ही सस्ती दर पर पूँजी प्राप्त होगी। निजी एवं सरकारी दोनों ही वर्ग की वित्तीय संस्थायें बड़े आकार वाली औद्योगिक इकाइयों को बड़ी आसानी से कम ब्याज पर अधिक मात्रा में पूँजी उपलब्ध कर देती हैं। अतएव उत्पादन जिस रीति से बढ़ता जायगा, वित्तीय व्यय उसी रीति से कम होता जायगा। इस प्रकार वित्तीय शक्तियाँ बड़े आकार की औद्योगिक इकाई के पक्ष में होती हैं।

(४) **अनुकूलतम् विपणन इकाई** (Optimum Marketing Unit)—एक अनुकूलतम् विपणन इकाई बड़े पैमाने पर क्रय किये जाने वाली तथा विक्रय के फलस्वरूप होने वाली मितव्ययिताओं तथा अमितव्ययिताओं का फल है।[2] एक बड़ी औद्योगिक इकाई बड़े पैमाने पर कच्चे माल आदि का क्रय करती है, अतएव उसकी सौदा करने की शक्ति बढ़ जाती है और वह कम भाव पर माल का क्रय कर सकती है। इस कार्य के लिये वह विशेषज्ञों की नियुक्ति भी कर

---

1 "The big firm is a series of wheels within wheels, an elaborate hierarchy, in which every decision requires the consulting of this man, the referring to that man, the permission of a third the agreement of a fourth, so that decision becomes endlessly delay."—**E. A. G. Robinson.**

2 **Prof. S. C. Kuchhal** : *The Industrial Economy of India.*

सकती है तथा वैज्ञानिक साधनों को प्रयोग में ला सकती है। इससे यातायात में भी मितव्ययिता रहती है। यही नहीं, उच्च कोटि का कच्चा माल खरीदने से अच्छा माल तैयार होता है और उसे अपेक्षाकृत अधिक मूल्य पर बेचा जा सकता है। इसी प्रकार बड़े पैमाने पर माल का विक्रय करने से अनेक मितव्ययितायें होती हैं, जैसे सामूहिक विज्ञापन करने से विज्ञापन व्यय में मितव्ययिता, वितरण व्यय में मितव्ययिता, विक्रय विशेषज्ञों की नियुक्ति से होने वाले लाभ, कम स्टॉक, ब्याज में बचत आदि। इस प्रकार बड़ी मात्रा में क्रय-विक्रय से अनेक लाभ होते हैं, परन्तु इससे हानियाँ भी हैं। उदाहरण के लिये, यदि गलती से निम्न कोटि का कच्चा माल खरीद लिया जाय तो हानि भी अधिक होगी। इसके साथ-साथ औद्योगिक इकाई का आकार बढ़ने से विक्रय संगठन का व्यय भी बढ़ता जाता है और एक सीमा के पश्चात् माल का विक्रय करना अपेक्षाकृत अधिक खर्चीला हो जाता है। इस सीमा पर अनुकूलतम् विपणन इकाई की स्थापना होती है।

(५) **अनुकूलतम् जोखिम एवं उच्चावचन इकाई** (Optimum Survival Unit)—अब तक हमने यह मान रखा है कि उत्पादित माल की माँग बराबर कायम रहती है। लेकिन व्यवहार में माँग सम्बन्धी परिवर्तन बहुत अधिक हुआ करते हैं, अतएव औद्योगिक इकाई के आकार की योजना बनाते समय साहसी को माँग में होने वाले परिवर्तनों को भी ध्यान में रखना पड़ता है। इसका कारण यह है कि माँग में परिवर्तन की सम्भावना एक प्रकार से अनिश्चितता तथा जोखिम का तत्त्व उत्पन्न कर देती है। अर्थशास्त्रियों ने माँग में होने वाले परिवर्तनों को निम्न चार भागों में विभाजित किया है :—

(अ) **स्थायी परिवर्तन** (Permanent Changes)—स्थायी परिवर्तन से हमारा अभिप्राय उपभोक्ताओं की रुचि में परिवर्तन अथवा तकनीकी सुधारों के कारण उत्पादन की विधियों में सुधार होने से है। इनके कारण वस्तुओं की माँग में स्थायी परिवर्तन हो जाते हैं। ऐसी कोई भी औद्योगिक इकाई, जोकि इन परिवर्तनों के अनुकूल आसानी से तथा मितव्ययिता से अपने आप को पुनर्गठित कर सके, सबसे अधिक शक्तिशाली होती है। इस दृष्टिकोण से छोटे आकार की इकाई लाभ में रहती है, क्योंकि उसमें अपने आप को पुनर्गठित करने की क्षमता अपेक्षाकृत अधिक होती है।

(ब) **चक्रित परिवर्तन** (Cyclical Variations)—माँग और पूर्ति के बीच समन्वय स्थापित न होने के कारण चक्रित परिवर्तन होते हैं। इससे भावों में अनावश्यक तेजी तथा मन्दी आती है। मन्दी काल में लोगों के पास वस्तुएँ खरीदने के लिये धन का अभाव रहता है, अतएव माँग में भारी कमी हो जाती है। अतः औद्योगिक इकाई के आकार का विस्तार करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। ऐसी स्थिति में या तो कमजोर इकाइयाँ समाप्त हो जाती हैं अथवा समस्त या अधिकतम् इकाइयाँ अपने उत्पादन में कमी कर देती हैं अथवा इकाइयाँ आपस में मिलने लगती हैं। इसके विपरीत तेजी काल में लोगों के पास वस्तुयें खरीदने के लिये अधिक धन होता है, अतएव वस्तुओं की माँग बढ़ जाती है। परिणामस्वरूप नई औद्योगिक इकाइयाँ दृष्टिगोचर होने लगती हैं।

(स) **सामयिक परिवर्तन** (Seasonal Variations)—यदि किसी वस्तु की माँग किसी विशेष मौसम अथवा समय में रहती है, तो माँग में सामयिक परिवर्तन होते रहते हैं, जैसे—गर्मी में सूती कपड़े की माँग तथा सर्दी में ऊनी कपड़े की माँग।

(द) **अनिश्चित परिवर्तन** (Erratic Variations)—माँग का सही अनुमान न लगाये जाने के कारण अनिश्चित परिवर्तन होते हैं। इससे भी बड़ी इकाइयों के मुकाबले में छोटी इकाइयाँ ठीक रहती हैं, क्योंकि छोटी इकाइयाँ अपने को शीघ्र परिवर्तनों के अनुकूल बना सकती हैं।

उपरोक्त कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जोखिम एवं उच्चावचन की शक्तियाँ बड़ी औद्योगिक इकाइयों के मुकाबले में छोटी औद्योगिक इकाइयों को अधिक प्रोत्साहन देती हैं, क्योंकि वे शीघ्र अपने आप को परिवर्तनों के अनुकूल बना लेती हैं।

विभिन्न अनुकूलतम् का समन्वय (Reconciliation of Different Optimum)—

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक इकाई का अनुकूलतम् आकार समन्वय रूप से विभिन्न शक्तियों, जैसे—तकनीकी, प्रबन्धकीय, वित्तीय, विपणीय, जोखिम एवं उच्चावचन के समन्वय से स्थापित होता है। शक्तियाँ इकाई के आकार को बढ़ने तथा घटने के लिये विवश कर देती हैं। सभी शक्तियों की क्रियाओं में समन्वय स्थापित हो जाने पर इकाई को सर्वोत्तम क्षमता प्राप्त होती है और उत्पादन लागत न्यूनतम् होती है, अतएव साहसी के सामने विभिन्न शक्तियों में समन्वय करने की समस्या उत्पन्न होती है। एक उत्पादक को चाहिये कि वह उत्पादन के विभिन्न साधनों का इस मात्रा और अनुपात में संयोजन करे कि उसकी उत्पत्ति यथासम्भव अधिकतम् हो तथा प्रति इकाई लागत भी कम से कम हो। इस प्रकार जब एक उत्पादन अधिक उत्पादन तथा न्यूनतम व्यय का सिद्धान्त लागू करेगा तभी वह अनुकूलतम् आकार की प्राप्ति कर सकेगा, अन्यथा नहीं। यह एक जटिल समस्या है, अतएव इसका समाधान बिना धैर्य तथा अनुभव के सम्भव नहीं है। इस सम्बन्ध में हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिये कि जिस प्रकार जनसंख्या के सम्बन्ध में 'अनुकूलतम् जनसंख्या का बिन्दु सदैव के लिये स्थायी नहीं होता, उसी प्रकार औद्योगिक इकाई के लिये भी अनुकूलतम् आकार सदैव के लिये निश्चित नहीं किया जा सकता एवं इसका समय विद्यमान परिस्थितियों के अनुसार बदलता रहना स्वाभाविक ही है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१, बृहताकार उत्पादन पद्धति से जो उद्योग को आन्तरिक व बाहरी अर्थ लाभ होते हैं, उनका वर्णन कीजिये। (सागर, १९६८)
Describe the internal and external economies of large scale production.
[संकेत—बृहताकार उत्पादन पद्धति से आशय; आन्तरिक लाभ; बाहरी आर्थिक लाभ।]

२. अनुकूलतम् सार्थ शब्द को बतलाइये तथा उन घटकों को समझाइये जिन पर किसी ऐसी इकाई का आकार निर्भर करता है। (इन्दौर, १९५९; विक्रम, १९६१, ६५, ६७, ६८ एवं ६९; पंजाब, १९६७; सागर, १९६७; देहली, १९५९, ६१ एवं ६६; लखनऊ, १९६३)
Explain the term 'Optimum Size.' Explain the factors which determine the size of such a unit.
[संकेत—अनुकूलतम् आकार का अर्थ; परिभाषायें; निष्कर्ष एवं विशेषतायें; अनुकूलतम् आकार को निर्धारित करने वाले तत्त्व।]

३. उन तत्त्वों की विवेचना कीजिये जिन पर उद्योग के आकार की सीमायें आधारित होती हैं।
[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में अनुकूलतम आकार को निर्धारित करने वाली शक्तियों का वर्णन करना चाहिये।]

४. व्यावसायिक इकाई के आकार पर टिप्पणी लिखिये। (सागर, १९६८)

५. वे कारण बताइये जिससे छोटे आकार वाली इकाइयों को उसके प्रतिद्वन्द्वी बड़े आकार वाली इकाइयों की अपेक्षा पसन्द किया जाता है। छोटे आकार वाली इकाइयों के लाभ और हानि क्या हैं ? (आगरा, १९६६)

Indicate the factors that favour small-sized business units in their competition with large-sized business rivals. What are the advantages and disadvantages of small-size business units ?

६. अनुकूलतम आकार (Optimum Size) का अर्थ स्पष्ट कीजिये। (विक्रम, १९६८)

७. 'आदर्श सार्थ से हमारा तात्पर्य उस सार्थ से होना चाहिये जिसमें तन्त्र तथा सङ्गठन की वर्तमान परिस्थितियों में, प्रति इकाई न्यूनतम् औसत लागत हो, जब कि वे सभी लागतें जो अन्ततोगत्त्वा पूरी होनी चाहिये, सम्मिलित कर ली जाती हैं।' स्पष्टीकरण कीजिये और उद्योग में आदर्श इकाई की विभिन्न कसौटियाँ समझाइये। (इन्दौर, १९६८)

By optimum firm we must mean that firm, which in existing conditions of technique and organising ability, has the lowest average cost of production per unit, when all those costs which must be covered in the long run are included. Elucidate and explain different touchstones of optimum unit in industry.

८. उन तत्त्वों की विवेचना कीजिये जो एक औद्योगिक इकाई के आकार को निश्चित करते हैं। (विक्रम, १९६९)

Discuss the factors which govern the size of an industrial unit.

९. अनुकूलतम् आकार की व्याख्या कीजिये तथा उन घटकों का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये जो इ० ए० जी० रॉबिन्सन के अनुसार एक औद्योगिक इकाई के अनुकूलतम् आकार को निर्धारित करते हैं। (जीवाजी, १९७०)

Explain the term 'optimum size' and critically examine the factors that determine the optimum size of a unit according to E. A. G. Robinson.

ए

औद्योगिक प्रवर्तन अथवा कम्पनियों का प्रवर्तन

(Industrial Promotion or Promotion of Companies)

प्रारम्भिक—प्रवर्तन की आवश्यकता

संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी विधान द्वारा निर्मित एक कृत्रिम व्यक्ति है। अतएव इसका निर्माण स्वयं न होकर अन्य व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। इसकी स्थापना के लिये कई वैधानिक औपचारिकताओं का पालन करना पड़ता है। यह कार्य किसी सामान्य व्यक्ति के काबू का न होकर इसके लिये तो कुशल एवं अनुभवी व्यक्तियों अथवा विशिष्ट संस्थाओं की सेवाओं की आवश्यकता होती है, जो कि इस कार्य के 'विशेषज्ञ' कहलाते हैं इन्हें हम **'प्रवर्तक'** के नाम से पुकारते हैं तथा इनके द्वारा सम्पन्न किया जाने वाला कार्य **'प्रवर्तन'** कहलाता है।

औद्योगिक प्रवर्तन का अर्थ एवं परिभाषा

प्रवर्तन का अर्थ—

प्रवर्तन का अर्थ प्रारम्भ करने से है। प्रवर्तन के आधार पर ही कम्पनी के निर्माण की योजना बनाई जाती है एवं कम्पनी के समामेलन के लिये आवश्यक वैधानिक कार्यवाही की जाती है। प्रवर्तन के द्वारा ही कम्पनी अपना जीवन ग्रहण करती है। **बावेन** के शब्दों में, "प्रवर्तन शब्द विधान का शब्द नहीं है बल्कि व्यापार का शब्द है। इस एक ही शब्द में कई व्यापारिक क्रियायें निहित हैं जो कि वाणिज्य जगत में प्रचलित हैं और जिनके द्वारा कम्पनी को अस्तित्व में लाया जाता है।"[1]

प्रवर्तन की परिभाषायें—

कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गई प्रवर्तन की परिभाषायें निम्नलिखित हैं :—

श्री ग्रेस्टनबर्ग (Grestenberg) के अनुसार, "प्रवर्तन में व्यापार-सम्बन्धी सुअवसरों की खोज की जाती है। इसके बाद लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से पूँजी, सम्पत्ति तथा प्रबन्ध कला का सङ्गठन किया जाता है।"[2]

---

[1] "The term promotion is not a term of law but of business usually summing up in a single word a number of business operations familiar in the commercial world by which a company is brought into existence."

—Bowen

[2] "Promotion may be defined as the discovery of business opportunities, and the subsequent organisation of funds, property and managerial ability into a bnsiness concern for the purpose of making profits therefrom."

—C. W. Grestenberg.

श्री होगलैण्ड के अनुसार, "एक सफल प्रवर्तक धन का निर्माता तथा आर्थिक भविष्य का वक्ता है, क्योंकि वह अदृश्य वस्तु के सम्बन्ध में कल्पना कर लेता है तथा जनसाधारण को वस्तुयें उपलब्ध कराने के लिए व्यावसायिक इकाइयों का संगठन करता है।"[1]

मैसर्स गथमैन एण्ड डूगल के अनुसार, "प्रवर्तन उस विचारधारा के साथ आरम्भ होता है, जिससे किसी व्यवसाय का विकास किया जाना है, और इसका कार्य तब तक चलता रहता है जब तक कि वह व्यवसाय एक चालू संस्था के रूप में अपना कार्य पूर्णरूप से प्रारम्भ करने के लिए तैयार नहीं हो जाता।"[2]

निष्कर्ष—उपरोक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रवर्तन के अन्तर्गत व्यापारिक सुअवसरों की खोज से लेकर कम्पनी को कार्यशील स्थिति में लाने तक की समस्त क्रियायें सम्मिलित की जाती हैं।

प्रवर्तन और निर्माण में अन्तर

सामान्यत: कम्पनी के प्रवर्तन और निर्माण से एक ही अर्थ लगाया जाता है। लेकिन इन दोनों शब्दों में पर्याप्त अन्तर पाया जाता है। प्रवर्तन का अर्थ कम्पनी के प्रकाश में आने से पूर्व प्रारम्भिक कार्यों के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की योजनायें बनाने से है। इसके विपरीत निर्माण से अभिप्राय उस विधि से है, जबकि कम्पनी की स्थापना हो जाती है। स्थापना के पश्चात् कम्पनी की व्यवस्था तथा सञ्चालन का कार्य निर्माण के अन्तर्गत आता है। जीव जब तक माँ के गर्भ में रहता है उसके अंगों का विकास गर्भ में ही होता है। इसे प्रवर्तन की संज्ञा दी जा सकती है। किन्तु जैसे ही जीव गर्भ के बाहर आता है उसके तुरन्त लालन-पालन, भरण-पोषण आदि की समस्यायें उत्पन्न होती हैं। इस क्रिया को निर्माण की संज्ञा दी जा सकती है। यह कार्य प्रवर्तकों द्वारा सम्पन्न होता है।

'प्रवर्तक' का अर्थ तथा परिभाषा
(Meaning and Definition of Promoter)

'प्रवर्तक' का अर्थ—

वह व्यक्ति जिसके मस्तिष्क में सबसे पहले कम्पनी के निर्माण की विचारधारा आती है; जो व्यापार-सम्बन्धी अनुसन्धान करता है; किसी निश्चित योजना के अनुसार कम्पनी का निर्माण करता है; आवश्यक सामग्री एकत्रित करता है; अपने पास से प्रारम्भिक व्यय करता है तथा कम्पनी का सञ्चालन करता है; **'प्रवर्तक'** कहलाता है। इस प्रकार वह अपने ऊपर सारी जोखिम लेता है, क्योंकि यदि कम्पनी असफल रहती है, तो समस्त हानि का भार उसी को सहन करना पड़ेगा।

परिभाषायें—

यद्यपि किसी भी सन्नियम में प्रवर्तक की परिभाषा नहीं दी गई है, किन्तु फिर भी कुछ विद्वानों ने इसकी व्याख्या अग्रलिखित प्रकार से की है।

---

[1] "Promotion is the process of creating a specific business enterprise. The aggregate of activities contributed by all those who participate in the building of the enterprise constitutes Promotion."—**H. E. Hoagland.**

[2] "Promotion starts with the conception of the idea from which the business is to evolve and continues down to the point at which the business is full, ready to begin operations as a going concern."—M/s. **Guthmann & Dougall.**

सर फ्रैन्सिस पामर के अनुसार, "प्रवर्तक का तात्पर्य एक ऐसे व्यक्ति से है, जो कम्पनी के निर्माण की योजना बनाता है, पार्षद् सीमानियम तथा पार्षद् अन्तर्नियम तैयार करवाता है, उनका पंजीयन करवाता है और प्रथम सञ्चालकों को चुनता है, प्रारम्भिक अनुबन्धों को तय करता है और यदि आवश्यकता हो तो विवरण-पत्रिका बनवाता है और उसे प्रकाशित करने का एवं पूँजी एकत्रित करने का प्रबन्ध करता है।"

न्यायाधीश कॉकबर्न (Justice C. Cockburn) के अनुसार, "प्रवर्तक निश्चित उद्देश्यों के आधार पर कम्पनी का निर्माण करता है और अपने उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए आवश्यक कार्यवाही करता है।"

लॉर्ड जस्टिस बावेन (Lord Justice Bowen) के अनुसार, "प्रवर्तक कोई वैधानिक शब्द नहीं, वरन् व्यापारिक शब्द है, जिसके द्वारा समस्त संसार के व्यावसायिक (Business) ज्ञान के प्राप्त होने पर कम्पनी का प्रादुर्भाव होता है।"

मैसर्स गथमैन एण्ड डूगल के अनुसार, "प्रवर्तक वह व्यक्ति होता है, जो पूँजी एवं सामग्री का एक चालू सस्था के रूप में एकीकरण करता है।"

लॉर्ड लिण्डले (Lord Lindley) के अनुसार, "प्रवर्तक शब्द का कोई निश्चित अर्थ नहीं है, कम्पनी के सम्बन्ध में प्रवर्तन का अर्थ प्रभावपूर्ण क्रिया से होता है, जो कम्पनी का निर्माण करने, प्रारम्भ करने तथा प्रचलन में लाने के लिए आवश्यक है।"

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रवर्तक वह व्यक्ति होता है, जो औद्योगिक एवं व्यापारिक सुअवसरों की खोज करने तथा उनसे लाभ उठाने के लिए व्यापारिक उपक्रमों की स्थापना करता है। स्थापना सम्बन्धी जोखिम भी वह स्वयं ही उठाता है।

प्रवर्तकों के गुण
(Qualities of the Promotors)

डॉ० हेनरी ई० हॉगलैण्ड के अनुसार, "एक सफल प्रवर्तक धन का निर्माता और आर्थिक पैगम्बर होता है। वह उस वस्तु की कल्पना करता है, जिसका अस्तित्व नहीं है। वह जनता को वस्तुयें तथा सेवायें उपलब्ध कराने के लिये व्यावसायिक उपक्रमों का निर्माण करता है।"[1] विद्वान लेखक के इस कथन से प्रवर्तक के महत्त्व की कल्पना की जा सकती है। प्रवर्तक कम्पनी की नींव रखता है तथा भरण-पोषण करता है। स्पष्ट है कि प्रवर्तन के कार्यों को सम्पन्न करने के लिये प्रवर्तक में कुछ विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक है, जोकि निम्न हैं :—

(१) **दूरदर्शिता**—प्रवर्तक का सबसे मुख्य गुण दूरदर्शिता का होना है। दूरदर्शिता से अभिप्राय पहले से ही भविष्य की बातों के बारे में अनुमान लगाना है। जो व्यक्ति भविष्य की बातों का अनुमान नहीं लगा सकते, वे कभी भी सफल प्रवर्तक नहीं बन सकते।

(२) **साहसी**—प्रवर्तक के लिए साहसी होना भी आवश्यक है, अन्यथा वह कैसे कम्पनी के निर्माण मे होने वाली कठिनाइयों एवं खर्चों को सहन कर सकेगा। जोखिम उठाना साहसी व्यक्तियों का ही कार्य है। बिना जोखिम उठाये प्रवर्तक को अपने कार्य में सफलता नहीं मिल सकती है।

---

[1] "A successful promotor is a creater of wealth. He is an economic prophet. He is able to visualise what does not yet exist and to organise business enterprises to make the products available to the using public."

—Dr. Henry E. Hoagland.

(३) **संगठनकर्त्ता**—प्रवर्तक को एक कुशल सङ्गठनकर्त्ता होना भी आवश्यक है, क्योंकि कम्पनी की स्थापना में उसे तीन 'एम' अर्थात् मानव, मशीन एवं सामग्री (Man, Machine and Material) को एकत्रित करके उनमें समन्वय करना पड़ता है। यह कार्य केवल कुशल सङ्गठन-कर्त्ता ही सम्पन्न कर सकता है।

(४) **ईमानदार एवं परिश्रमी**—यह कहा जाता है कि प्रवर्तक बेईमान तथा धूर्त होते हैं, जो लोगों को तरह-तरह के सब्ज-बाग दिखाकर उनसे पैसा ठगने में सफल हो जाते हैं। परन्तु, यह धारणा सर्वथा मिथ्यापूर्ण है। वास्तविकता यह है कि अपने परिश्रम तथा ईमानदारी के कारण ही वह अन्य व्यक्तियों का विश्वासपात्र बनकर अपने कार्य में सफलता प्राप्त करता है। अतएव प्रवर्तक में ईमानदारी एवं परिश्रमी होने का गुण भी होना आवश्यक है।

(५) **आत्म-विश्वास**—आत्म-विश्वास के सहारे बड़े से बड़ा कार्य सरलता से पूर्ण किया जा सकता है। कम्पनी का निर्माण करना एक बड़ा कार्य है, जो बिना आत्म-विश्वास के पूर्ण होना सम्भव नहीं है। अतएव एक प्रवर्तक को आत्म-विश्वासी भी होना चाहिये, अर्थात् उसे अपने ऊपर विश्वास होना चाहिये।

(६) **कम्पनी अधिनियम एवं अन्य अधिनियमों का ज्ञान होना**—कम्पनी का निर्माण कम्पनी अधिनियम के आधार पर होता है। जब तक कम्पनी अधिनियम का ज्ञान न हो तब तक कम्पनी का निर्माण कैसे किया जा सकता है। अतएव प्रवर्तक के लिये यह आवश्यक है कि उसे कम्पनी अधिनियम का विस्तृत ज्ञान हो। यही नहीं, उसे कम्पनी निर्माण के सम्बन्ध में कई अन्य लोगों से विभिन्न प्रकार के अनुबन्ध करने पड़ते हैं। अत: उसे अनुबन्ध अधिनियम आदि का भी ज्ञान होना चाहिये।

(७) **साधन सम्पन्नता**—सफल प्रवर्तक होने के लिये उसे साधन सम्पन्न होना चाहिये। उसके आर्थिक साधन इतने विस्तृत होने चाहिये कि कम्पनी में होने वाले भारी प्रारम्भिक व्ययों को वहन कर सके।

प्रवर्तकों के प्रकार
(Kinds of Promoters)

प्रवर्तक निम्न प्रकार के हो सकते हैं :—

(१) **आकस्मिक प्रवर्तक** (Accidental Promoters)—इस श्रेणी के अन्तर्गत छोटे पैमाने पर व्यापार करने वाले लोग आते हैं, जो किसी 'विचार' में व्यापारिक सफलता के चिन्ह देखते हैं। इन लोगों की क्रियायें अधिकांशत: उन्हीं क्षेत्रों तक सीमित रहती हैं, जहाँ ये निवास करते हैं। अत: यदि ये अपने प्रयास में सफल नहीं होते, तो यह कोई महत्त्वपूर्ण बात नहीं मानी जाती।

(२) **इन्जीनियरिंग फर्म या निर्माता** (Engineering Firms or Manufacturers)—कभी-कभी इन्जीनियरिंग फर्म या निर्माता कम्पनियाँ नई कम्पनियों का प्रवर्तन इस उद्देश्य से करते हैं, जिनसे उनके द्वारा प्रवर्तित कम्पनियों के चालू होने पर उनके निर्मित माल की खपत भली प्रकार होने लगे। संक्षेप में, ऐसे प्रवर्तक अपने व्यक्तिगत स्वार्थ की पूर्ति के लिये ही कम्पनी का प्रवर्तन करते हैं।

(३) **पेशेवर प्रवर्तक** (Professional Promoters)—कुछ बड़े-बड़े व्यवसायी तथा बैंकिंग संस्थायें सदा व्यावसायिक सुअवसरों की खोज में लगी रहती हैं। ये लोग नई कम्पनियों का निर्माण करके समामेलन कराते हैं तथा विद्यमान कम्पनियों का विस्तार कराते हैं। कभी-कभी

पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करने तथा सहयोग की भावना को बढ़ाने की दृष्टि से ये 'संयोग' (Combination) स्थापित करते हैं।

(४) **वित्तीय प्रवर्तक** (Financial Promoters)—कभी-कभी कुछ वित्तीय संस्थायें भी प्रवर्तन का कार्य करती हैं। यह नई कम्पनी की सम्पूर्ण पूँजी को खरीद लेती हैं और बाद में सुअवसर देखकर कुछ लाभ लेकर बाजार में बेच देती हैं।

(५) **प्रबन्ध अभिकर्त्ता** (Managing Agents)—प्रबन्ध अभिकर्त्ता भी कभी-कभी प्रवर्तक का कार्य करते हैं। हमारे देश में विशिष्ट संस्थाओं के अभाव में ये लोग ही प्रवर्तन करते हैं।

(६) **विशिष्ट संस्थायें** (Specialised Institutions)—कुछ विशिष्ट संस्थायें भी प्रवर्तन के कार्य में लगी हुई हैं; जैसे—इङ्गलैण्ड में ट्रेडिंग एस्टेट्स ऑफ यूनाइटेड किंगडम और भारत में नेशनल इन्डस्ट्रियल डेवलपमेन्ट कॉरपोरेशन।

(७) **राज्य एक प्रवर्तक के रूप में**—समाजवादी अर्थ-व्यवस्था वाले देशों में राज्य प्रवर्तक के रूप में कार्य करता है, अर्थात् औद्योगिक एवं व्यावसायिक इकाइयों की स्थापना स्वयं राज्य के द्वारा की जाती है। इस सम्बन्ध में रूस का उदाहरण हमारे सामने है।

प्रवर्तन की अवस्थायें
(Stages of Promotion)

प्रसिद्ध विद्वान **प्रो० ई० एस० मीड** (Prof. E. S. Mead) के अनुसार किसी औद्योगिक अथवा व्यावसायिक इकाई के प्रवर्तन की निम्न पाँच महत्त्वपूर्ण अवस्थायें होती हैं:—(i) व्यावसायिक सुअवसरों की खोज करना; (ii) विस्तृत जाँच या अनुसन्धान करना; (iii) साधनों का एकत्रीकरण; (iv) पूँजी की व्यवस्था; तथा (v) योजना को कार्यान्वित करना।

(I) व्यावसायिक सुअवसरों की खोज करना—

किसी भी औद्योगिक इकाई के प्रवर्तन की सबसे प्रथम सीढ़ी व्यावसायिक सुअवसरों की खोज करना है। प्रवर्तक ही एक ऐसा व्यक्ति है जिसके मस्तिष्क में सबसे पहले किसी औद्योगिक इकाई की स्थापना का विचार आता है। अपनी योग्यता एवं अनुभव के आधार पर वह इस बात का निर्णय लेता है कि अमुक औद्योगिक इकाई की स्थापना करनी चाहिये अथवा नहीं। इस कार्य के लिये वह उस औद्योगिक इकाई से सम्बन्धित व्यावसायिक सुअवसरों की खोज करता है, अर्थात् वह उसकी सफलता का अनुमान लगाता है। व्यावसायिक सुअवसरों की खोज करने के विचार को जन्म देने वाले निम्न तीन कारण हो सकते हैं:—(अ) किसी नवीन कम्पनी को प्रारम्भ करने का विचार, (ब) किसी पूर्व स्थापित कम्पनी का विस्तार करने का विचार, तथा (स) वर्तमान कम्पनियों के संयोजन करने का विचार।

(II) विस्तृत जाँच या अनुसन्धान करना—

जब प्रवर्तक व्यावसायिक सुअवसरों की खोज करने का कार्य पूरा कर लेता है, अर्थात् उसे यह विश्वास हो जाता है कि अमुक औद्योगिक इकाई को स्थापित करना लाभदायक रहेगा, तो वह विस्तृत जाँच का कार्य प्रारम्भ कर देता है। इसके अन्तर्गत वह अपने विचार को व्यावहारिक रूप प्रदान करने के लिये आगे की क्रियायें सम्पन्न करता है। ये क्रियायें निम्नलिखित हैं:—(i) प्रारम्भिक जाँच का कार्य पूरा करना, (ii) नई खोज सम्बन्धी विचार का रजिस्ट्रेशन कराना, अर्थात् पेटेण्ट (Patent) कराना, ताकि अन्य व्यक्ति उससे लाभ न उठा सकें, (iii) भावी प्रतिस्पर्धा का अनुमान लगाना, (iv) उत्पादन एवं निर्माण सम्बन्धी समस्याओं की जाँच करना, तथा वितरण सम्बन्धी समस्याओं की जाँच करना।

(III) साधनों का एकत्रीकरण—

यह प्रवर्तन की तृतीय सीढ़ी है। विस्तृत जाँच-पड़ताल के पश्चात् जब प्रवर्तक को उद्योग की सफलता के बारे में पक्का विश्वास हो जाता है तो वह उद्योग के लिए आवश्यक साधनों का एकत्रीकरण करना प्रारम्भ कर देता है। इस सम्बन्ध में वह औद्योगिक इकाई का आकार निश्चित करता है। आकार के अनुसार अचल सम्पत्तियों (जैसे—भूमि, भवन, यन्त्र तथा अन्य पूँजीगत सामग्री) के क्रय के लिए अनुबन्ध करता है। इसके पश्चात् प्रबन्धकीय नियन्त्रण की योजना तैयार की जाती है। प्रबन्ध किस प्रकार का होगा तथा उसका उत्तरदायित्व किन व्यक्तियों के हाथों में सौंपा जायगा, इसकी स्पष्ट योजना तैयार करता है। इसके पश्चात् वित्तीय योजना तैयार की जाती है। वित्तीय योजना उद्योग की किस्म व औद्योगिक इकाई के आकार के अनुसार तैयार की जानी चाहिए। बाद में उद्योग की स्थापना के सम्बन्ध में आवश्यक वैधानिक कार्यवाहियों को पूरा करना पड़ता है। उदाहरण के लिए, यदि १० लाख रुपये से अधिक पूँजी का निर्गमन करना हो तो केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति प्राप्त करना आवश्यक होता है। इसी प्रकार उद्योग की स्थापना के लिए लाइसेंस तथा रजिस्ट्रेशन आदि के लिए भी आवश्यक वैधानिक कार्यवाही पूरी करनी पड़ती है। यदि किसी नये आविष्कार का लाभ उठाने के लिए उद्योग की स्थापना की जानी है तो उसका पेटेण्ट प्राप्त करने के लिए आवश्यक वैधानिक कार्यवाही पूरी करनी पड़ती है।

(IV) पूँजी की व्यवस्था—

वित्तीय योजना तैयार हो जाने के पश्चात् यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि यह किन साधनों के द्वारा प्राप्त की जाय। पूँजी प्राप्ति के अनेक साधन हो सकते हैं, जैसे—अंशों के निर्गमन द्वारा, ऋण-पत्रों के निर्गमन द्वारा, बैंकों से ऋण लेकर, विशिष्ट अर्थ निगमों से ऋण लेकर आदि। इन साधनों में से कौन-सा साधन काम में लाया जाय, यह प्रत्येक मामले की व्यक्तिगत परिस्थितियों, उद्योग एवं व्यापार की किस्म एवं उस समय की सामाजिक व आर्थिक दशाओं पर निर्भर करेगा। पूँजी प्राप्ति के लिए अभिगोपकों से भी अनुबन्ध किये जा सकते हैं।

(V) योजना को कार्यान्वित करना—

किसी औद्योगिक इकाई के प्रवर्तन की अन्तिम सीधी योजना को कार्यान्वित करना है। इसके अन्तर्गत आवश्यक पूँजी प्राप्त हो जाने के पश्चात् प्रवर्तक सम्पूर्ण योजना को व्यावहारिक रूप देने के लिए कुशल एवं अनुभवी प्रबन्धकों के हाथों में सौंप देता है। चूँकि भारत में पृथक् प्रवर्तकों का अभाव है अतएव प्रवर्तन एवं प्रबन्ध का कार्य प्रायः उसी व्यक्ति द्वारा सम्पन्न किया जाता है। प्रवर्तन की इस सीढ़ी के अन्तर्गत औद्योगिक इकाई वास्तव में अपना कारोबार प्रारम्भ कर देती है। इसके साथ ही प्रवर्तन सम्बन्धी समस्त कार्यवाहियों का अन्त हो जाता है।

संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी का निर्माण अथवा प्रवर्तन
(Floatation or Formation of a Joint Stock Co.)

उस समय से जब कम्पनी के निर्माण का विचार आता है, उस समय तक, जबकि कम्पनी अपना कार्य आरम्भ कर देती है, जितनी कार्यवाहियाँ की जाती हैं, उन्हें निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :—(I) कम्पनी का प्रवर्तन (Promotion); (II) कम्पनी का पंजीयन (Registration); (III) समामेलन का प्रमाण-पत्र (Certificate of Incorporation); एवं (IV) व्यापार का आरम्भ (Commencement of Business)।

कम्पनी के निर्माण की उपर्युक्त चार अवस्थायें निम्न तालिका से स्पष्ट हैं:—

(I) कम्पनी का प्रवर्तन
(Promotion of a Company)

यह कम्पनी के निर्माण की प्रमुख तथा सबसे महत्त्वपूर्ण सीढ़ी है। **'प्रवर्तन'** (Promotion) का अर्थ **'प्रारम्भ'** से है। इसके द्वारा कम्पनी अपना जीवन ग्रहण करती है। वे व्यक्ति जो कम्पनी का प्रवर्तन अर्थात् प्रारम्भ करते हैं, प्रवर्तक (Promotors) कहलाते हैं।

प्रवर्तन की श्रेणियाँ (Stages of Promotors)—

एक नई कम्पनी के प्रवर्तन की क्रमागत श्रेणियाँ निम्नलिखित होती हैं :—

(१) **विचार की खोज तथा प्रारम्भिक अनुसन्धान** (Discovery of the Idea and Preliminary Investigation)—यह कम्पनी के प्रवर्तन की सबसे पहली श्रेणी होती है, जिसके अन्तर्गत प्रवर्तक के मस्तिष्क में कम्पनी का निर्माण का सर्वप्रथम विचार उत्पन्न होता है तथा उसको साकार रूप प्रदान करने के लिये वह प्रारम्भिक अनुसन्धान प्रारम्भ कर देता है। वह कम्पनी की स्थापना सम्भावना का पता लगाता है।

(२) **विस्तृत रूप में जाँच-पड़ताल करना** (Detailed Investigation)—प्रारम्भिक अनुसन्धान का कार्य पूरा हो जाने के पश्चात् प्रवर्तक कम्पनी रूपी विचार की विस्तृत रूप में जाँच-पड़ताल करने का कार्य प्रारम्भ कर देता है। इसके अन्तर्गत यह जाँच-पड़ताल की जाती है कि कम्पनी का समामेलन करने के पश्चात् सचमुच लाभ होगा या नहीं और उससे सम्बन्धित व्यक्तियों को सन्तोषजनक हिस्सा मिल सकेगा या नहीं। इसके पश्चात् कम्पनी के निर्माण की स्पष्ट रूपरेखा तैयार की जाती है, अर्थात् कितनी पूँजी की आवश्यकता होगी, पूँजी किस प्रकार से प्राप्त की जा सकेगी, कच्चा माल कहाँ मिलेगा, यन्त्र एवं श्रमिकों की व्यवस्था कैसे होगी, कम्पनी का भवन कैसा एवं कहाँ बनेगा, सरकारी नीति उस उद्योग के प्रति कैसी है, विक्रय का क्षेत्र कैसा है आदि। इसके लिये विशेषज्ञों से भी परामर्श लिया जाना चाहिये।

(३) **आवश्यक सामान एकत्रित करना** (Assembling the Preposition)—विस्तृत जाँच-पड़ताल पूरी हो जाने के पश्चात् प्रवर्तक कम्पनी के निर्माण के लिये आवश्यक सामान एकत्रित करना प्रारम्भ कर देता है। इस कार्य के लिये वह विभिन्न विशेषज्ञों तथा संस्थाओं से सम्पर्क स्थापित करता है तथा आवश्यक अनुबन्ध आदि करता है।

(४) **धन की व्यवस्था करना** (Financing the Preposition)—किसी भी व्यवसाय अथवा उद्योग का वित्त जीवन-रक्त होता है। पर्याप्त वित्त के अभाव में अच्छी से अच्छी योजना भी फाइलों तक सीमित रह जाती है। अतएव शुरू से ही उपर्युक्त योजना को कार्यान्वित करने हेतु आवश्यक पूँजी के सम्बन्ध में सही-सही अनुमान लगा लेना चाहिये तथा उसकी प्राप्ति के प्रस्ताविक साधनों का भी अच्छी तरह से अध्ययन कर लेना चाहिये।

(५) **प्रारम्भिक अनुबन्ध** (Preliminary Contracts)—'**प्रारम्भिक अनुबन्ध**' से आशय उन सभी समझौतों अथवा अनुबन्धों से है जोकि कम्पनी की ओर से तथा उनके लाभ के लिये प्रवर्तक विभिन्न पक्षों के साथ कम्पनी के समामेलन से पूर्व करता है, जैसे—विक्रेताओं और कम्पनी के प्रवर्तकों के बीच सम्पत्ति क्रय करने का अनुबन्ध। चूँकि ये अनुबन्ध कम्पनी बनने से पूर्व किये जाते हैं, अतएव कम्पनी का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता, वरन् प्रवर्तक इसके लिये व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होते हैं। अतः इन अनुबन्धों के द्वारा प्रवर्तक अपने ऊपर एक बहुत बड़ी जोखिम लेते हैं, क्योंकि हो सकता है कि कम्पनी निर्माण के बाद उन अनुबन्धों को मान्यता प्रदान न करे। इसी कारण कम्पनी के लिये आवश्यक है कि जब उसका निर्माण हो जाय, तो प्रवर्तक के दायित्व की रक्षा हेतु पूर्व पक्षकारों से अनुबन्धों का नवकरण (Renewal) कर ले। इसी को प्रारम्भिक अनुबन्धों की पुष्टि कहते हैं।

(६) **आवश्यक प्रलेखों को तैयार करना**—कम्पनी के प्रवर्तन के सम्बन्ध में प्रवर्तक को निम्न प्रलेखों तथा अनुबन्धों को तैयार करना होगा :—(अ) पार्षद सीमानियम; (ब) पार्षद अन्तर्नियम, (स) प्रारम्भिक अनुबन्ध (यदि किसी चालू व्यवसाय को खरीदा गया हो) आदि।

(७) **पूँजी निर्गमन के लिए केन्द्रीय सरकार से अनुमति लेना**—पूँजी-नियन्त्रण अधिनियम (Company Control Order, 1956) के अन्तर्गत कोई भी कम्पनी २५ लाख रु० तक की पूँजी बिना केन्द्रीय सरकार की राय के निर्गमित कर सकती है। किन्तु यदि इससे अधिक पूँजी का निर्गमन करना हो, तो केन्द्रीय सरकार को एक प्रार्थना-पत्र देकर सहमति प्राप्त करनी चाहिये।

(८) **कम्पनी का नाम निश्चित करना**—कम्पनी का नाम निर्धारण करने के लिये यह देखना चाहिये कि नाम ऐसा हो जो कि किसी विद्यमान कम्पनी के नाम से मिलता-जुलता न हो अथवा उसके प्रयोग पर कोई वैधानिक प्रतिबन्ध नहीं होना चाहिए। इसके लिये रजि-

स्ट्रार से यह मालूम करना चाहिये कि प्रस्ताविक कम्पनी के नाम पर उसे कोई ऐतराज तो नहीं है।

(६) **उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, १९५१ के अन्तर्गत लाइसेन्स प्राप्त करना**—देश में सन्तुलित विकास हेतु सन् १९५१ में उद्योग विकास एवं नियमन अधिनियम पास किया गया था। सन् १९५३ में इस अधिनियम में कुछ संशोधन किये गये थे। इस अधिनियम के अन्तर्गत आने वाले उद्योगों की स्थापना के सम्बन्ध में वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय से लाइसेन्स लेना आवश्यक होता है। इसे प्राप्त करने के लिये निर्धारित फार्म पर आवेदन-पत्र भेजना चाहिये। लाइसेन्स मिल जाने अथवा मिल जाने की पूर्ण आशा हो जाने के उपरान्त ही आगे की कार्यवाही की जानी चाहिये। नवीन लाइसेन्स नीति के अन्तर्गत ऐसे नये कारखानों को स्थापित करने अथवा विद्यमान कारखानों के विस्तार के लिये लाइसेन्स की आवश्यकता नहीं होगी जहाँ १ करोड़ रु० या इससे कम की पूँजी लगाने की आशा हो।

(II) कम्पनी का पंजीयन
(Registration of Companies)

रजिस्ट्रेशन या पंजीयन कम्पनी के निर्माण की द्वितीय महत्त्वपूर्ण सीढ़ी है। कम्पनी का रजिस्ट्रेशन हो जाने पर ही कम्पनी का वास्तविक अस्तित्त्व कायम होता है और तभी वह राजनियम द्वारा एक कृत्रिम व्यक्ति मानी जाती है।

कम्पनी के समामेलन अथवा पंजीयन की विधि—

एक सार्वजनिक कम्पनी के रजिस्ट्रेशन के लिये उस राज्य के रजिस्ट्रार के पास, जिसमें कम्पनी का रजिस्टर्ड कार्यालय होता है, निम्नलिखित प्रपत्रों को प्रस्तुत करना चाहिये :—

(१) **पार्षद् सीमानियम**—इसको कम्पनी विधान की धारा १३ के अनुसार तैयार कराना चाहिये। सार्वजनिक कम्पनी की दशा में कम से कम सात व्यक्तियों के तथा निजी कम्पनी की दशा में कम से कम दो व्यक्तियों के इस पर हस्ताक्षर होने चाहिये। इसके अतिरिक्त यह मुद्रांकित (Stamped) भी होना चाहिये।

(२) **पार्षद् अन्तर्नियम**—इसमें कम्पनी के सीमानियम में दिये गये उद्देश्यों की पूर्ति के लिये तथा कम्पनी को सुचारु रूप से चलाने के लिये नियमों का उल्लेख होता है। इस पर भी उन्हीं व्यक्तियों के हस्ताक्षर होने चाहिये जो पार्षद् सीमानियम पर हस्ताक्षर करते हैं। यदि अंशों द्वारा सीमित दायित्त्व वाली सार्वजनिक कम्पनी अन्तर्नियमों को नहीं बनाती है, तो इसके स्थान पर सारणी 'अ' (Table A) में दिये गये नियम उस पर लागू होंगे। ऐसी दशा में पार्षद् सीमानियम को रजिस्ट्रार के पास भेजते समय '**बिना अन्तर्नियमों के रजिस्टर्ड**' लिख देना चाहिये।

(३) **प्रबन्धक, सचिव तथा कोषाध्यक्ष के साथ किया गया अनुबन्ध**—यदि कम्पनी का प्रबन्ध, प्रबन्धक, सचिव तथा कोषाध्यक्ष द्वारा किया जाता है तो इन व्यक्तियों के साथ किये गये अनुबन्ध की एक प्रतिलिपि (copy) कम्पनी रजिस्ट्रार के कार्यालय में फाइल करनी पड़ती है। निजी कम्पनी की दशा में इसे फाइल करना आवश्यक नहीं है। [धारा ३३ (१) (c)]

(४) **संचालकों की सूची** (List of Directors)—उन व्यक्तियों की सूची जो कम्पनी के संचालक पद पर कार्य करने के लिये सहमति प्रदान कर चुके हैं। निजी कम्पनी की दशा में इसको भेजने (File) की आवश्यकता नहीं है।

(५) **संचालकों की लिखित सहमति** (Written Consent of the Directors)—यदि प्रथम संचालकों की नियुक्ति अन्तर्नियमों के द्वारा हुई है, तो प्रत्येक संचालक की लिखित स्वीकृति कम्पनी के रजिस्ट्रार के पास भेज देनी चाहिये। इसके साथ यह घोषणा (प्रमाण सहित)

भी भेजनी चाहिए कि प्रत्येक संचालक ने अपने योग्यता अंश, यदि कोई हैं, अपने नाम में रजिस्टर्ड करा लिये हैं तथा वह उनको लेने व भुगतान करने के लिये तैयार है।

[निम्नलिखित दशाओं में उपरोक्त प्रलेख नं० (iv) तथा (v) को रजिस्ट्रार के पास फाइल करने की आवश्यकता नहीं :—(१) बिना अंश-पूँजी वाली कम्पनी की दशा में; (२) निजी कम्पनी की दशा में; तथा (३) ऐसी कम्पनी, जोकि सार्वजनिक कम्पनी बनने से पहले निजी कम्पनी थी।]

(६) कम्पनी के **रजिस्टर्ड कार्यालय** के स्थान की सूचना (Notice) भी समामेलन के समय रजिस्ट्रार के पास भेज देनी चाहिये। यह सूचना रजिस्ट्रेशन के बाद २८ दिन के अन्दर दी जा सकती है।

(७) **वैधानिक घोषणा** (Statutory Declaration)—सुप्रीम कोर्ट (Supreme Court) या हाईकोर्ट के एडवोकेट, वकील या मुख्तार, जोकि हाईकोर्ट में कम्पनी की ओर से जा सकते हैं या भारतवर्ष में कार्य (Practice) करने वाले ऐसे चार्टर्ड एकाउन्टेण्ट जोकि कम्पनी के निर्माण से सम्बन्धित हैं, या अन्तर्नियमों में उल्लेखित कम्पनी के संचालक, प्रबन्ध-अभिकर्त्ता, सचिव एवं कोषाध्यक्ष अथवा मैनेजर को इस आशय की एक घोषणा, रजिस्ट्रार के पास भेजनी (File) पड़ती है कि कम्पनी ने पंजीयन से सम्बन्धित सभी वैधानिक कार्यवाहियाँ पूरी कर ली हैं।

[धारा ३३ (२)]

(८) **निश्चित शुल्क** (Prescribed Fees)—समामेलन हेतु उपर्युक्त प्रलेखों के साथ निश्चित शुल्क भी, जो कम्पनी की पूँजी के अनुसार होता है, रजिस्ट्रार के पास भेजना चाहिये। इसके अतिरिक्त ५ रु० फाइलिंग शुल्क के भी भेजने चाहिये।

रजिस्ट्रार का यह कर्त्तव्य है कि वह देखे कि उपर्युक्त समस्त वैधानिक कार्यवाहियों का पालन किया गया है अथवा नहीं। यदि उसको यह सन्तोष हो जाता है कि कम्पनी के पंजीयन के लिए निर्धारित सभी वैधानिक कार्यवाहियाँ पूरी हो चुकी हैं, तो वह पार्षद् सीमानियम तथा पार्षद् अन्तर्नियमों की रजिस्ट्री कर देगा।

(III) समामेलन का प्रमाण-पत्र
(Certificate of Incorporation)

कम्पनी के पंजीयन के पश्चात् रजिस्ट्रार अपने हस्ताक्षरों द्वारा तथा कार्यालय की सील के अन्तर्गत एक प्रमाण-पत्र देता है, जिसे **समामेलन का प्रमाण-पत्र** कहते हैं। इसमें यह लिखा रहता है कि कम्पनी समामेलित हो गई है और (सीमित दायित्व वाली कम्पनी की दशा में) यह एक सीमित दायित्व वाली कम्पनी है।

समामेलन के प्रमाण-पत्र का नमूना
(Specimen of Certificate of Incorporation)

"मैं यह प्रमाणित करता हूँ कि…. ………..कम्पनी लिमिटेड आज के दिन कम्पनी अधिनियम, १९५६ के अन्तर्गत समामेलित हुई है और यह कम्पनी सीमित दायित्व वाली कम्पनी है।"

…………में आज एक जुलाई सन् उन्नीस सौ इकत्तर को मेरे हस्ताक्षर से दिया गया।

सार्व मुद्रा

हस्ताक्षर…………………
कम्पनी रजिस्ट्रार

समामेलन का प्रभाव—

जब रजिस्ट्रार द्वारा कम्पनी के समामेलन का प्रमाण-पत्र प्राप्त हो जाता है, तो इसके निम्न प्रभाव पड़ते हैं :—(१) पार्षद् सीमानियम तथा पार्षद् अन्तर्नियम विधान के अनुसार बनाये गये हैं। (२) कम्पनी का समामेलन वैधानिक रूप से हुआ है तथा कम्पनी उन सब कर्त्तव्यों के करने योग्य हो जाती है, जोकि एक समामेलित कम्पनी को करने चाहिये। (३) निजी कम्पनी अपने इस प्रमाण-पत्र के प्राप्त होने पर अपना व्यवसाय प्रारम्भ कर सकती है। (४) कम्पनी एक वैधानिक व्यक्ति बन जाती है और उसका प्रतीक सार्व-मुद्रा (Common Seal) है। इसका अस्तित्व सदस्यों से पृथक हो जाता है। (५) कम्पनी के अस्तित्व की तिथि समामेलन के प्रमाण-पत्र की तिथि से मानी जाती है।

(IV) व्यापार प्रारम्भ करने का प्रमाण-पत्र
(Certificate of Commencement of Business)

निजी कम्पनी समामेलन का प्रमाण-पत्र प्राप्त होते ही अपना व्यापार आरम्भ कर सकती है, किन्तु अन्य कम्पनियाँ निम्नलिखित वैधानिक कार्यवाही पूरी करने के पश्चात् ही व्यापार आरम्भ कर सकती हैं :—

(१) विवरण-पत्रिका निर्गमित करने वाली कम्पनी की दशा में—

एक अंश पूँजी वाली सार्वजनिक कम्पनी जिसने विवरण-पत्रिका का निर्गमन किया है, तब तक अपना व्यापार प्रारम्भ नहीं कर सकती अथवा ऋण लेने के अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकती, जब तक कि निम्न कार्यवाहियाँ न कर ले :—(i) पूर्णतया नकद दिये जाने वाले अंशों का आबन्टन न्यूनतम् प्रार्थित पूँजी (Minimum Subscription) के बराबर किया गया हो। (ii) कम्पनी के प्रत्येक संचालक ने अपने द्वारा क्रय किये गये अंशों पर अन्य व्यक्तियों के समान प्रार्थना-पत्र व आबण्टन की बकाया राशि का भुगतान कर दिया हो। (iii) कम्पनी द्वारा यह घोषणा कि किसी मान्य स्कन्ध विपणि (Recognised Stock Exchange) में अंशों या ऋण-पत्रों के क्रय-विक्रय की आज्ञा प्राप्त करने का आवेदन-पत्र नहीं दिया गया है अथवा स्वीकृति न मिलने के कारण उनके आवेदकों को समस्त धनराशि लौटा दी गयी है तथा अब कोई धनराशि लौटाना शेष नहीं है। (iv) किसी सचालक या सचिव (Secretary) द्वारा इस बात की प्रमाणित घोषणा रजिस्ट्रार के पास फाइल करनी चाहिये कि उपर्युक्त सभी बातें पूरी की जा चुकी हैं।

[धारा १४९(१)]

(२) विवरण-पत्रिका निर्गमित न करने वाली कम्पनी की दशा में—

एक अंश-पूँजी वाली सार्वजनिक कम्पनी, जिसने विवरण-पत्रिका का निर्गमन नहीं किया है, तब तक अपना व्यापार नहीं कर सकती या ऋण लेने के अपने अधिकार का प्रयोग नहीं कर सकती, जब तक निम्न कार्यवाहियाँ पूरी न कर ली जायें :—(i) विवरण-पत्रिका के स्थान पर एक स्थानापन्न कथन (Statement in lieu of Prospectus) रजिस्ट्रार के पास फाइल करना। (ii) कम्पनी के प्रत्येक सचालक ने अपने द्वारा क्रय किये गये अंशों पर अन्य व्यक्तियों के समान बकाया राशि (प्रार्थना-पत्र व आबण्टन से सम्बन्धित) का भुगतान कर दिया हो। (iii) किसी सचिव या संचालक द्वारा इस बात की प्रमाणित घोषणा रजिस्ट्रार के पास फाइल करनी चाहिये कि उपर्युक्त सभी बातें पूरी की जा चुकी हैं। [धारा १४९ (२)]

कम्पनी रजिस्ट्रार द्वारा किसी कम्पनी को व्यापार प्रारम्भ करने के लिये निर्गमित किये जाने वाले प्रमाण पत्र का नमूना पृष्ठ ९७ पर दिया गया है

व्यवसाय प्रारम्भ करने के प्रमाण-पत्र का नमूना
(Specimen of Certificate of Commencement of Business)

"मैं यह प्रमाणित करता हूँ कि.......कम्पनी, लिमिटेड जो कम्पनी अधिनियम, १९५६ के अन्तर्गत दिनांक........१९........को समामेलित हुई थी और जिसने आज निर्धारित फार्म पर इस आशय का प्रमाणित घोषणा-पत्र जमा कर दिया है कि कम्पनी अधिनियम की धारा १४९ की शर्तें पूरी कर दी गई हैं, व्यवसाय प्रारम्भ करने की अधिकारी है।"

........में आज.... ....तिथि..............महीना.......उन्नीस सौ........को दिया गया।

सार्व मुद्रा	हस्ताक्षर......... कम्पनी रजिस्ट्रार

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि एक सार्वजनिक कम्पनी के निर्माण की कार्यवाही प्रवर्तन से प्रारम्भ होती है तथा व्यवसाय प्रारम्भ करने का प्रमाण-पत्र मिलने पर समाप्त हो जाती है।

प्रवर्तकों की स्थिति
(Position of Promoters)

जब तक कि कम्पनी का समामेलन नहीं हो जाता, अर्थात् जब तक समामेलन का प्रमाण-पत्र प्राप्त नहीं हो जाता तब तक कानून की दृष्टि में कम्पनी का कोई अस्तित्त्व ही नहीं होता। इसी प्रकार प्रवर्तक कम्पनी के न तो प्रन्यासी ही हो सकते हैं और न अभिकर्त्ता ही। अतएव अब प्रश्न यह उठता है कि प्रस्तावित कम्पनी तथा प्रवर्तक का क्या सम्बन्ध है? अतएव सन्नियम में उसकी स्थिति का ठीक-ठीक उल्लेख करने के लिये यह कहा जा सकता है कि उसका कम्पनी के साथ 'विश्वासाश्रित-सम्बन्ध' (Fiduciary Relation) है। प्रवर्तकों को कम्पनी के सब रुपयों का हिसाब समझना पड़ता है। उन्हें एक ओर तो कम्पनी का ध्यान रखना पड़ता है और दूसरी ओर उन लोगों में अपने प्रति विश्वास उत्पन्न करना पड़ता है जो कि कम्पनी के अंश आदि खरीदना चाहते हैं।

प्रवर्तक के कार्य
(Functions of a Promoter)

कम्पनी प्रवर्तक के मुख्य कार्य निम्न हैं :—(१) कम्पनी के निर्माण की कल्पना करना और इस विचारधारा को पूर्ण करने का प्रयत्न करना। (२) कम्पनी के प्रारम्भ करने से पूर्व की समस्याओं, जैसे—स्थान, कच्चा माल, शक्ति, श्रम, बाजार आदि पर विस्तृत रूप से विचार करना। (३) ऐसे व्यक्तियों की खोज करना जो पार्षद् सीमानियम पर हस्ताक्षर करें तथा सर्वप्रथम संचालक बनने के लिये अपनी सम्मति दें। (४) कम्पनी का नाम, उद्देश्य तथा पूँजी का निश्चय करना। (५) कम्पनी के लिये बैंकों, अंकेक्षकों, दलालों, अभिगोपकों (Underwriters) तथा वैधानिक सलाहकारों को नियुक्त करना। (६) कम्पनी के लिये पार्षद् सीमानियम, पार्षद् अन्तर्नियम तथा विवरण-पत्रिका तैयार करना। (७) यदि कोई चालू व्यवसाय खरीदना है, तो उसके लिये आवश्यकतानुसार बातचीत करना तथा इस सम्बन्ध में विशेषज्ञों की राय प्राप्त करना। (८) कम्पनी के पंजीयन के समय उपस्थित होना। (९) विक्रेता, अभिगोपक तथा प्रबन्ध-अभि-

कर्त्ता आदि के साथ कम्पनी के हित में अनुबन्ध करना। (१०) व्यापार को प्रारम्भ करने के लिये रजिस्ट्रार से व्यापार प्रारम्भ करने का प्रमाण-पत्र प्राप्त करना। (११) प्रारम्भिक व्ययों का भुगतान करना। (१२) विवरण-पत्रिका के प्रकाशन तथा विज्ञापन का प्रबन्ध करना। (१३) अंश, ऋण-पत्र आदि का आबण्टन करना। (१४) न्यूनतम् चन्दे (Minimum Subscription) का प्रबन्ध करना। (१५) कम्पनी की व्यवस्था के लिये कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति करना तथा उनके साथ अनुबन्ध करना। (१६) कम्पनी के कार्यालय का उचित प्रबन्ध करना तथा कच्चा माल व मशीनरी का प्रबन्ध करना।

प्रवर्तकों के कर्त्तव्य एवं अधिकार

प्रवर्तकों के कर्त्तव्य (Duties of Promoters)—

प्रवर्तक के कम्पनी के साथ विश्वासाश्रित सम्बन्ध होने के नाते निम्न महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य हो जाते हैं :—(१) प्रवर्तकों को कम्पनी से किसी भी प्रकार का गुप्त लाभ नहीं करना चाहिये। यह पता लगने पर कि उसने कम्पनी की ओर से किये गये किसी भी व्यवहार में अपने लिये कोई गुप्त लाभ किया है तो उसे वह लाभ कम्पनी को फौरन देना होगा। (२) वह कम्पनी को अपनी कोई निजी सम्पत्ति बेच कर लाभ प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक कि उसने समस्त महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट नहीं कर दिये हों। (३) प्रवर्तक को कम्पनी के निर्माण के सम्बन्ध में सब महत्त्वपूर्ण तथ्य प्रकट कर देने चाहिये। यदि कोई प्रारम्भिक प्रसंविदा किया हो तो उसके सम्बन्ध में भी समस्त सूचना देनी चाहिये।

प्रवर्तकों के अधिकार (Rights of Promoters)—

प्रवर्तकों को यह अधिकार है कि कम्पनी को निर्माण करने में जो भी वैधानिक व्यय किये गये हों उन्हें कम्पनी से वसूल कर लें। किन्तु इनका भुगतान कम्पनी के समामेलन हो जाने पर ही हो सकता है, इससे पूर्व नहीं। इस सम्बन्ध में कम्पनी के अन्तर्नियमों का पालन करना चाहिये।

प्रवर्तक का पारिश्रमिक
(Promoter's Remuneration)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि प्रवर्तक कम्पनी के निर्माण में घोर परिश्रम करते हैं, अतएव कम्पनियाँ उन्हें उनके इस कठोर परिश्रम के प्रतिफल के रूप में पारिश्रमिक देती हैं। यद्यपि यह पारिश्रमिक विभिन्न कम्पनियों द्वारा विभिन्न प्रकार से दिया जाता है, परन्तु फिर भी इसके देने के प्रमुख तरीके निम्न हैं :—(१) **कमीशन**—व्यवसाय या सम्पत्ति के क्रय-मूल्य पर उसे कमीशन दिया जा सकता है। (२) **लाभ**—प्रवर्तक व्यवसाय या सम्पत्ति को खरीद कर कम्पनी को पुनः लाभ पर बेच सकता है अथवा लाभ पर, स्वयं का व्यवसाय कम्पनी को बेच सकता है। (३) **एकमुश्त रकम** (Lump Sum)—प्रवर्तक के पारिश्रमिक का भुगतान उसे एक-मुश्त नकद रकम देकर या अंशों अथवा ऋण-पत्रों में किया जा सकता है अथवा अंशतः नकद व अंशतः अंशों एवं ऋण-पत्रों में किया जा सकता है। (४) **प्रबन्ध अभिकर्त्ता के रूप में नियुक्त करके**—भारत में प्रवर्तक के पारिश्रमिक का भुगतान उसे प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के रूप में नियुक्त करके किया जाता है। (५) **प्रतिभूतियों के रूप में**—प्रवर्तकों का पारिश्रमिक उन्हें अंशों व ऋण-पत्रों को देकर भी चुकाया जाता है।

प्रवर्तकों के दायित्व
(Promoter's Liabilities)

(१) कम्पनी स्थापित होने के बाद कम्पनी की ओर से यदि कोई 'गुप्त लाभ' प्राप्त किया है, तो उसे वापस करना होगा। (२) कम्पनी की ओर से किये गये **अनुबन्धों के लिये वे**

व्यक्तिगत रूप से तब तक उत्तरदायी रहेंगे, जब तक कि कम्पनी द्वारा उनकी पुष्टि न हो जाय। (३) प्रवर्तक, जोकि विवरण-पत्रिका के निर्गमन में भाग लेते हैं, उसमें किये गये कपट के लिये अंशधारियों के प्रति उत्तरदायी होंगे, इसी प्रकार कम्पनी के समापन की दशा में यदि वे विश्वास भंग करते हैं, तो व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होंगे। (४) किसी **प्रवर्तक की मृत्यु हो जाने पर उसकी सम्पत्ति उसके द्वारा दिये जाने वाले रुपयों के लिये उत्तरदायी होगी,** अर्थात् उसकी सम्पत्ति उसके दायित्व तथा विश्वासाश्रित कर्त्तव्यों से मुक्त नहीं हो सकती। (५) **यदि प्रवर्तक कम्पनी का बिना पूर्ण विवरण दिये हुये किसी सम्पत्ति का क्रय करते हैं, जिससे कम्पनी को हानि पहुँचती है,** तो कम्पनी इन हानियों के लिये उन पर वाद प्रस्तुत कर सकती है तथा वे उसके लिये उत्तरदायी होंगे। (६) यदि **प्रवर्तक** कम्पनी के प्रवर्तन के सम्बन्ध में कोई गुप्त लाभ कमाता है तो उसे उसका हिसाब देना होगा। (७) **यदि प्रवर्तक दिवालिया हो जाता है तो भी उसकी सम्पत्ति कम्पनी के प्रति उत्तरदायी होगी।** (८) प्रवर्तक कम्पनी अधिनियम की व्यवस्थाओं के **अधीन दण्डित भी किया जा सकता है।**

भारत में कम्पनी प्रवर्तन
(Promotion of Companies in India)

भारत में पश्चिमी राष्ट्रों की भाँति प्रवर्तन हेतु विशिष्ट संस्थाओं का अभाव होने के कारण प्रवर्तन का कार्य प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं द्वारा ही सम्पादित किया जाता रहा है। सर्वश्री **एम० ए० मुल्की** (M. A. Mulky) के अनुसार **भारत में १० औद्योगिक संस्थाओं में से ६ का निर्माण प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं द्वारा हुआ है।** प्रशुल्क आयोग सन् १९४९-५० ने भी प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली की महत्ता को स्वीकार करते हुये लिखा है कि "उद्योगों की स्थापना के प्रारम्भिक जीवन काल में, जबकि न तो साहस और न पूँजी ही पर्याप्त थे, प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं ने इन दोनों अनिवार्य साधनों को सार्थों के नवजीवन संचार हेतु समन्वित किया। इन्हीं के प्रयत्नों के फलस्वरूप भारत में सूती वस्त्र मिल उद्योग, जूट उद्योग, लौह एवं इस्पात उद्योग आदि जैसे सुसंगठित उद्योग स्थापित हुये। वास्तव में यदि प्रबन्ध-अभिकर्त्ता कम्पनियों के प्रवर्तन एवं निर्माण में इतना भाग न लेते, तो वर्तमान औद्योगिक विकास कभी भी सम्भव नहीं होता।"

भारतीय प्रवर्तन के दोष

भारतीय प्रवर्तन में पाये जाने वाले प्रमुख दोष अग्रलिखित हैं :—

(१) **अत्यधिक प्रवर्तन व्यय**—भारतीय प्रवर्तकों द्वारा प्रवर्तन कार्य में अत्यधिक व्यय किये जाने के कारण औद्योगिक क्षेत्र में प्रवेश करने वाली नवीन कम्पनियों की कमर आर्थिक दृष्टि से टूट-सी जाती है। प्रबन्ध-अभिकर्त्तागण अधिकतर नवीन कम्पनियों को अपनी सम्पत्ति मनमाने मूल्यों पर बेच देते हैं। इस प्रकार नई कम्पनी की पूँजी का बहुत बड़ा भाग '**अवास्तविक सम्पत्ति**' (Intangible Assets) के क्रय करने में फँस जाता है, जिसका कम्पनी के आर्थिक कलेवर पर गहरा कुप्रभाव पड़ता है।

(२) **आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण**—भारत के औद्योगिक संगठन का अध्ययन करने से यह स्पष्ट पता लगता है कि हमारे देश की ६०० से अधिक औद्योगिक इकाइयाँ किंचित प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के नियन्त्रण में हैं। यही नहीं, लगभग २५० औद्योगिक इकाइयों का प्रबन्ध और नियन्त्रण केवल ९ प्रमुख प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के हाथ में केन्द्रित है। इसमें निम्न के नाम उल्लेखनीय हैं—एण्ड्रीयूल (Andrew Yule), मैक लाइड (Mc Leods), मार्टिन (Martin), बर्ड (Bird), जारडिन हैन्डर्सन (Jaidin Handerson), गिलेन्डर्स (Giliaindars), ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन (B. I. C.), डन्कन (Duncan), आक्टवियस स्टील (Octavious Steel)। एण्ड्रीयूल तथा मैकलायड मिलकर ९० औद्योगिक इकाइयों से अधिक का प्रबन्ध एवं नियन्त्रण करते हैं। भारतीय

प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं में से टाटा, बिरला, डालमिया, सिंघानिया, पोद्दार, थापर, नारंग सेक्सरिया इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। आजकल सिंघानिया के प्रबन्ध एवं नियन्त्रण के अन्तर्गत ४२ कम्पनियाँ, डालमियाँ के नियन्त्रण में ४० कम्पनियाँ, थापर के नियन्त्रण में ३२, टाटा के नियन्त्रण में २९ और बिरला के नियन्त्रण में २४ कम्पनियाँ हैं। इन आँकड़ों से आर्थिक एवं औद्योगिक सत्ता के केन्द्रीयकरण का पता लगता है तथा ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे देश में प्रबन्धकीय क्षमता की कमी है।

(३) **आधारभूत उद्योगों के प्रवर्तन का अभाव**—जिन कम्पनियों का प्रवर्तन किया गया है वे प्रायः या तो अपनी निर्मित वस्तुओं का निर्यात करती हैं अथवा उपभोग के वास्ते वस्तु निर्माण करती हैं। परिणामस्वरूप इससे हमारे आर्थिक कलेवर में एक बहुत बड़ा दोष आ गया और इस प्रकार हमारा आर्थिक विकास पंगु-सा (Lopsided) हो गया। इस प्रकार आधारभूत उद्योगों का विकास न हो सका।

(४) **प्रवर्तित कम्पनियों का शोषण**—प्रायः जो लोग प्रारम्भ में कम्पनी प्रवर्तन का कार्य करते हैं, वे तुरन्त उसके प्रबन्ध-अभिकर्त्ता बन जाते हैं। इस प्रकार अपने असीम साधनों द्वारा कम्पनी का शोषण करते हैं (इसका विस्तृत वर्णन इसी पुस्तक के प्रबन्ध-अभिकर्त्ता नामक अध्याय के अन्तर्गत किया जा चुका है)।

नवीन कम्पनी अधिनियम, १९५६ के अन्तर्गत प्रवर्तन

प्रवर्तन सम्बन्धी उपरोक्त दोषों का निवारण करने के लिए कम्पनी अधिनियम में सन् १९५६ में आवश्यक संशोधन किये गये थे। इन संशोधनों का प्रमुख उद्देश्य विनियोक्ताओं को अधिक से अधिक संरक्षण प्रदान करना है। इस सम्बन्ध में प्रमुख आदेश निम्नलिखित हैं :—

(१) **अपर्याप्त पूँजी वाली कम्पनियों के प्रवर्तन पर प्रतिबन्ध**—अंश निर्गमन करने हेतु प्रकाशित विवरण-पत्रिका में न्यूनतम् अभिदान राशि (Minimum Subscription) का पूर्ण विवरण देना चाहिये। यह राशि कम से कम इतनी अवश्य होनी चाहिए, जिससे निम्न की व्यवस्था की जा सके :—(अ) क्रय की गई या क्रय की जाने वाली सम्पत्ति के क्रय मूल्य का भुगतान; (ब) प्रारम्भिक व्यय तथा निर्गमित अंशों के अभिगोपन के कमीशन का भुगतान; (स) उपरोक्त व्ययों के सम्बन्ध में उधार ली गई राशि का पुनर्भुगतान; (द) कार्यशील पूँजी की व्यवस्था; तथा (य) अन्य कोई व्यय का भुगतान।

(२) **अंशों के निर्गमन के सम्बन्ध में स्वेच्छाधिकार एवं पूर्वाधिकार**—इसके अनुसार यदि किसी व्यक्ति को किसी महत्त्वपूर्ण अनुबन्ध या समझौते के सम्बन्ध में कोई स्वेच्छाधिकार (Option) या पूर्वाधिकार (Preferencial Right) दिया गया हो तो उसे विवरण-पत्रिका में स्पष्ट रूप से देना चाहिए।

(३) **प्रारम्भिक व्यय**—वास्तविक या अनुमानित प्रारम्भिक व्ययों तथा उनको करने वाले व्यक्तियों के सम्बन्ध में विवरण-पत्रिका में पूर्ण सूचना देना अनिवार्य है।

(४) **महत्त्वपूर्ण अनुबन्ध**—विवरण-पत्रिका में सभी महत्त्वपूर्ण अनुबन्धों, जो प्रबन्ध संचालकों, प्रबन्ध अभिकर्त्ता, सचिव तथा कोषाध्यक्ष की नियुक्ति तथा पारिश्रमिक से सम्बन्धित होते हैं, की तिथि, पक्षों के नाम तथा अनुबन्धों की प्रकृति के सम्बन्ध में पूर्ण सूचना देना अनिवार्य कर दिया गया है।

(५) **अंश पूँजी का विवरण**—विवरण-पत्रिका में अंश पूँजी के सम्बन्ध में पूर्ण विवरण जैसे पूँजी की मात्रा, उसका विभिन्न प्रकार के अंशों में विभाजन, उन पर मत (Vote) देने का अधिकार, लाभांश तथा पुनर्भुगतान सम्बन्धी अधिकारों की सूचना देना अनिवार्य है।

(६) **अंशों का प्रव्याजि पर निर्गमन**—कुछ कम्पनियाँ अपने अंशों का निर्गमन

प्रव्याजि (Premium) पर और प्रवर्तकों को सम मूल्य (At-Par) पर अथवा कम प्रव्याजि पर करती हैं। इसका उल्लेख विवरण-पत्रिका में करना अनिवार्य है।

(७) **सम्पत्ति का क्रय तथा उसके विक्रेताओं के नाम**—विवरण-पत्रिका में कम्पनी के लिये क्रय की जाने वाली सम्पत्ति तथा उसके विक्रेताओं के नाम देना अनिवार्य है।

(८) **संचालकों तथा प्रवर्तकों का हित**—प्रत्येक संचालक और प्रवर्तक के कम्पनी के प्रवर्तन तथा सम्पत्ति के क्रय में, विवरण-पत्रिका के निर्गमन की तिथि से दो वर्ष पूर्व तक के हित की प्रकृति तथा सीमा के सम्बन्ध में पूर्ण सूचना देना आवश्यक है।

(९) **संचित कोषों तथा अर्जित लाभों का पूँजीकरण तथा सम्पत्ति का पुनर्मूल्यांकन**—कम्पनी के संचित कोषों तथा अर्जित लाभों के पूँजीकरण एवं सम्पत्ति के पुनर्मूल्यांकन के सम्बन्ध में सूचना देनी चाहिये।

(१०) **अंकेक्षकों, लेखपालों तथा विशेषज्ञों की रिपोर्ट**—नये अधिनियम के अनुसार कम्पनी के लाभ एवं हानि तथा लाभांशों के सम्बन्ध में पिछले ५ वर्षों की रिपोर्ट देनी चाहिये। इसके विपरीत पिछले कम्पनी विधान में केवल पिछले तीन वर्षों की रिपोर्ट देनी होती थी।

(११) यदि कोई व्यक्ति जानबूझ कर जनता को धोखा देने के उद्देश्य से झूठी रिपोर्ट देता है अथवा महत्त्वपूर्ण बातों को छिपाता है तो उसे ५ वर्ष तक का कारावास या १०,००० रु० तक का आर्थिक दण्ड अथवा दोनों भुगतने पड़ेंगे।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. एक सीमित दायित्व वाली कम्पनी को चालू करने में प्रवर्तन से व्यापार आरम्भ करने तक की क्रमिक अवस्थाओं का वर्णन कीजिये। (राँची, १९७०; राजस्थान, १९६०, ६४, ६८; इन्दौर, ६८; विक्रम, ६४; आगरा, ६३)

Describe successive stages involved in floating a limited liability company from promotion to commencement of business.

[**संकेत**—कम्पनी के प्रवर्तन से व्यापार आरम्भ करने तक की क्रमिक अवस्थाओं को निम्नलिखित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है :—(१) **प्रवर्तन**—इसके अन्दर प्रवर्तन का अर्थ समझाते हुए प्रवर्तन की श्रेणियों का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। (२) **पंजीयन**—इसके अन्तर्गत रजिस्ट्रार के पास फाइल किये जाने वाले प्रपत्रों का संक्षिप्त विवरण देना चाहिये। (३) **समामेलन का प्रमाण-पत्र** तथा उसका प्रभाव। (४) **व्यापार प्रारम्भ करने का प्रमाण-पत्र**।]

२. प्रवर्तक से आपका क्या अभिप्राय है ? किसी कम्पनी के निर्माण के पूर्व किन औपचारिकताओं की परिपूर्ति करनी पड़ती है ? (इन्दौर, १९७०; गोरखपुर, १९६७)

What do you understand by a Promotor ? What are the formalities that are to be observed before the incorporation of a company ?

[**संकेत**—कम्पनी प्रवर्तक से आशय एवं परिभाषा; कम्पनी के समामेलन से पूर्व की प्रवर्तन की श्रेणियों (Stages of Promotion) १-९ तक का वर्णन कीजिये।]

३. प्रमण्डल के निर्माण की विधि को समझाइए। प्रमण्डल के समामेलन से किन औपचारिकताओं की परिपूर्ति करना आवश्यक होता है ? (विक्रम, १९७०)

४. प्रवर्तक किसे कहते हैं ? प्रवर्तक के कार्यों एवं प्रमण्डल प्रवर्तन की विभिन्न स्थितियों का वर्णन कीजिए। (आगरा, १६६६; इन्दौर, १६६८)
Define Promotor. Describe the functions of promotor and stages of company fomation.

५. कम्पनी प्रवर्तन की परिभाषा दीजिये और इसकी विभिन्न अवस्थायें बताइये। प्रवर्तक को उसकी सेवाओं का पारिश्रमिक किस प्रकार दिया जाता है ? (विक्रम, १६६५)
Define Company Promotion and explan its various stages. How is promotor paid for his services ?

६. प्रवर्तक कौन होता है ? उसके कार्यों की व्याख्या कीजिये। उसका पारिश्रमिक प्राय: किस प्रकार दिया जाता है ? (जीवाजी, १६६८; विक्रम १६६३)
Who is a Promotor ? Discuss his functions. How is he usually remunerated ?

७. एक सीमित दायित्व वाले प्रमण्डल की स्थापना में प्रवर्तन से व्यापार आरम्भ करने तक की विभिन्न अवस्थाओं का स्पष्ट वर्णन कीजिये। (आगरा, १६६७; विक्रम, १६६४)
State clearly the different stages in the formation of a limited liability company from promotion to the commencement of business.

८. प्रवर्तक कौन होता है ? किसी कम्पनी के प्रवर्तन के सम्बन्ध में वह क्या कार्य करता है ? उसका पारिश्रमिक किस प्रकार दिया जाता है ? (कानपुर, १६६८)
What is a Promotor ? What functions does he perform to promote a joint stock company ? How is he remunerated ?

६. किसी संयुक्त स्कन्ध प्रमण्डल का प्रवर्तन कैसे किया जा सकता है ? पूर्ण रूप से वर्णन कीजिये। (कानपुर, १६६६)
Describe fully how a Joint Stock Company can be promoted ?

१०

औद्योगिक प्रबन्ध में प्रबन्धकीय क्रम-व्यवस्था

(Managerial Hierarchy in an Industrial Concern)

प्रारम्भिक—प्रबन्धकीय क्रम-व्यवस्था से आशय

एक छोटे आकार के औद्योगिक उपक्रम में प्रबन्ध का कार्य उसके स्वामी द्वारा ही सम्पन्न होता है। किन्तु बड़े आकार वाले औद्योगिक क्रम में प्रबन्ध का कार्य विभिन्न व्यक्तियों की एक मिश्रित क्रम-व्यवस्था द्वारा सम्पन्न होता है। उसमें प्रबन्ध के कई समूह होते हैं, जैसे—उच्च-स्तरीय प्रबन्ध, मध्यम-स्तरीय प्रबन्ध तथा निम्न-स्तरीय प्रबन्ध। प्रबन्ध के इस क्रम को जिसके माध्यम से किसी औद्योगिक इकाई के प्रबन्ध का कार्य पूरा किया जाता है, प्रबन्धकीय क्रम व्यवस्था कहते हैं। इस प्रकार प्रबन्धकीय क्रम-व्यवस्था में इकाई के प्रबन्ध से सम्बन्धित सभी स्तर के लोगों को सम्मिलित किया जाता है?

औद्योगिक प्रबन्ध के विभिन्न स्तर
(Different Levels of Industrial Management)

विभिन्न विद्वानों ने औद्योगिक प्रबन्ध को विभिन्न स्तरों में विभाजित किया है। यही कारण है कि विभिन्न औद्योगिक संस्थाओं में प्रबन्ध के विभिन्न स्तर देखने में आते थे। श्री एल० पी० अलफोर्ड तथा एच० बीटी के अनुसार औद्योगिक प्रबन्ध को निम्न पाँच स्तरों में विभाजित किया जा सकता है:—

(I) उच्च प्रबन्ध (Top Management)

(II) उच्च-मध्यम प्रबन्ध (Tope-Middle Management)

(III) मध्यम प्रबन्ध (Middle Management)

(IV) पर्यवेक्षक प्रबन्ध (Supervisor Management)

(V) क्रियाशील शक्ति (Operating Force)
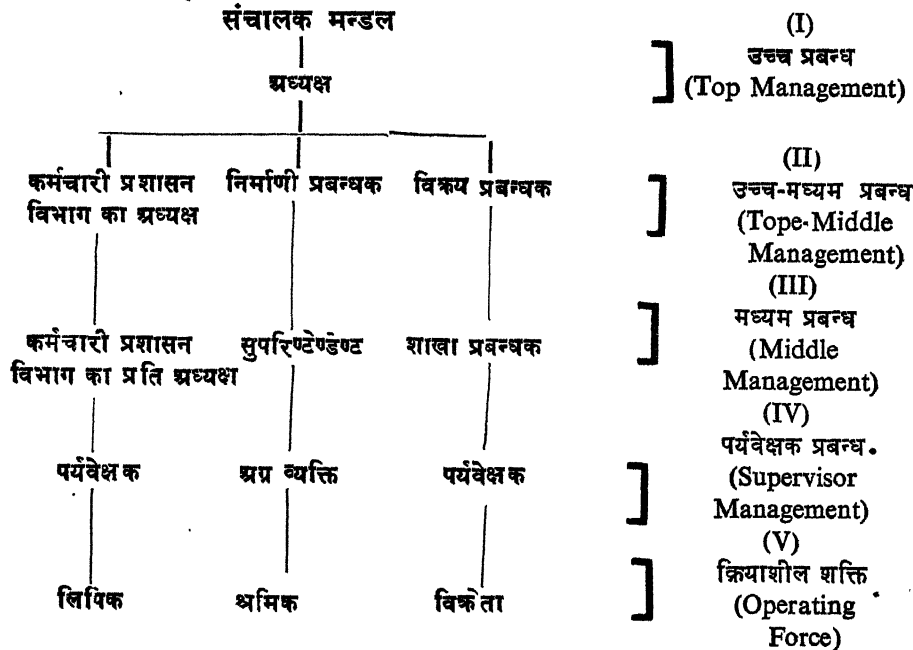
(I) उच्च प्रबन्ध (Top Management)—

किसी औद्योगिक उपक्रम के उच्च-स्तरीय प्रबंध में हम संचालक मण्डल, अध्यक्ष, प्रबन्ध संचालक तथा जनरल मैनेजर को सम्मिलित करते हैं। जैसा कि इसके नाम से स्पष्ट है, यह प्रबन्ध का सबसे ऊँचा स्तर होता है। औद्योगिक इकाई के प्रबन्ध का सम्पूर्ण दायित्त्व उच्च-स्तरीय प्रबन्ध के कन्धों पर ही होता है। उच्च-स्तरीय प्रबन्ध का प्रमुख कार्य संचालन हेतु नीति निर्धारण करना, उपक्रम के उद्देश्य एव लक्ष्य निर्धारित करना होता है। **लिविंगटन** (Livington) ने उच्च प्रबन्ध के कार्यों को मुख्यत: निम्न दो भागों में विभाजित किया है :—

(१) निर्णय लेना (Decision Making)—

(अ) निर्णय का अनुमोदन करना (Confirmation)

(ब) नियोजन करना (Planning)—

(१) लक्ष्यों को निर्धारित करना (Setting of Goals)—
(क्या, कितना, किस कीमत पर, कब और कहाँ ?)

(२) तान्त्रिकता (Mechanism)—

(i) पद्धति (Process)

(ii) सगठन संरचना एवं समन्वय (Structural Organisation and Co-ordination)

(iii) प्रमुख कर्मचारी वर्ग की नियुक्ति (Appointment of Key Personnel)

(स) नीति (Policy)—

(१) परिभाषा—सामान्य तथा विशिष्ट

(२) निर्वचन (Interpretation)

(द) परिपालन (Implementation)—

(१) अधिकार देना (Release of Authority)

(२) एकीकरण करना (Integration)

(य) वित्तीय (Financial)—

(१) सुरक्षित किये जाने वाले कोषों के प्रकार का चुनाव (Selection of Types of Funds to be secured)

(२) लाभों का वितरण (Distribution of Profits)

(२) न्यायिक (Judicial)—

(अ) तुलना (Comparison)—
उपलब्धियों का लक्ष्य से (of accomplishment with goal)

(व) मूल्यांकन (Evaluation)—

(१) उपलब्धियों का लागत से (of accomplishment with the cost)

(२) वैकल्पिक सम्भावनाओं का (of alternative possibilities)

(स) परामर्श (Counsel)—
निर्णय या निर्देश के स्थान पर (in place of decision or command)

(II) उच्च-मध्यम-प्रबन्ध (Top-middle-management)—

उच्च मध्यम-प्रबन्ध के अन्तर्गत हम कर्मचारी प्रशासन विभाग का अध्यक्ष, निर्माणी प्रबन्धक, विक्रय-प्रबन्धक तथा इसी समान स्तर के अन्य पदाधिकारियों को सम्मिलित करते हैं।

अथवा फोरमैन के प्रति उत्तरदायी होता है। कार्य के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश, सामग्री, यन्त्र आदि पर्यवेक्षक अथवा फोरमैन द्वारा प्रदान किये जाते हैं।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. औद्योगिक उपक्रम में प्रबन्धकीय क्रम-व्यवस्था किसे कहते हैं ? प्रबन्ध के विभिन्न स्तरों की विवेचना कीजिये ? (मेरठ, १९७१)

What is meant by managerial hierarchy in an industrial concern ? Discuss the different levels of management.

२. किसी औद्योगिक उपक्रम में प्रबन्धकीय क्रम-व्यवस्था पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये। (मेरठ, १९७०)

Write a short note on Managerial Hierarchy in an industrial concern.

११

भारत में प्रबन्धकीय प्रशिक्षण

(Managerial Training in India)

प्रारम्भिक—प्रबन्धकीय प्रशिक्षण का सामान्य महत्त्व (Importance of Managerial Training)

प्रबन्धकीय प्रशिक्षण स्वस्थ प्रबन्ध की आधार-शिला है। यदि आप चाहते हैं कि आपके कर्मचारी अपने कार्य को ठीक प्रकार से करें, तो उनके लिये विधिवत् प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी। आप अपने कर्मचारियों का चुनाव कितनी भी सावधानीपूर्वक क्यों न करें, उनमें कार्य करने की क्षमता कितनी भी अधिक क्यों न हो, यदि आप चाहते है कि उनका कार्य करने का स्तर सन्तोषजनक हो तो उनके लिये विधिवत् प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी। प्रशिक्षण की व्यवस्था नये एवं पुराने दोनों ही प्रकार के कर्मचारियों के लिये आवश्यक है। एक नये कर्मचारी को कार्य के सम्बन्ध में शुरू से ही प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये। इसके विपरीत पुराने कर्मचारियों को कार्य करने के आधुनिक तरीकों (जैसे-जैसे उनका विकास होता जाय) के सम्बन्ध में प्रशिक्षण देने की व्यवस्था होनी चाहिये। एक नियोजित प्रशिक्षण कार्यक्रम के माध्यम से प्रबन्धक अपने कर्मचारियों को कम्पनी की नीतियों, नियमों एवं व्यवस्थाओं के सम्बन्ध में स्पष्टत: जानकारी प्रदान करने में समर्थ हो जाता है। यही कारण है कि आधुनिक प्रबन्ध प्रशिक्षण को बहुत अधिक विचारणीय महत्त्व प्रदान करता है। उद्योग बहुत बड़ी पूँजी प्रशिक्षण गतिविधियों पर खर्च करते हैं। कुछ उद्योग स्वयं अपने ही यहाँ प्रशिक्षण विभागों की स्थापना करके अपने कर्मचारियों को प्रशिक्षण देते हैं। अन्य उद्योग अपने कर्मचारियों को विशिष्ट प्रशिक्षण संस्थाओं के पास प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिये भेजते हैं। कुछ उद्योग, यद्यपि जो बहुत ही नगण्य से हैं, प्रशिक्षण के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये सेमिनारों, सभाओं आदि का आयोजन करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि प्रशिक्षण प्रत्येक संस्था के लिये आवश्यक बन गया है। दूसरे शब्दों में, प्रत्येक सङ्गठन को अब यह छूट ही नहीं रह गयी है कि अपने कर्मचारियों को प्रशिक्षण दे अथवा न दे। यदि कोई छूट रही है तो केवल मात्र प्रशिक्षण विधियों के निर्वाचन की। बढ़ते हुये औद्योगीकरण, वाणिज्य एवं व्यवसाय के विकास एवं इन क्षेत्रों में बढ़ते हुये विज्ञान तथा तकनीकी प्रगति के प्रयोग के कार्यों ने कार्य-विधियों में एवं कार्य-औजारों व मशीनों में जो जटिलतायें पैदा कर दी हैं, उनका एकमात्र हल प्रशिक्षण प्रदान करना है, प्रशिक्षण को मानव-शक्ति की समस्याओं के समाधान की युक्ति बताया गया है। अच्छे को और अधिक अच्छा बनाने के लिये प्रशिक्षण के महत्त्व को निर्विवाद रूप से स्वीकार किया गया है।

भारत में प्रबन्धकीय शिक्षा एवं प्रशिक्षण का महत्त्व

व्यावसायिक इकाई चाहे छोटी हो अथवा बड़ी, तकनीकी हो अथवा स्वचालित, सभी में कुशल प्रबन्धक की आवश्यकता पड़ती है। भारत एक विकासशील देश है। देश में सर्वतोमुखी विकास हेतु हमने पंचवर्षीय योजनाओं का सहारा लिया है। पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से नये-

नये उद्योग-धन्धों की स्थापना होती जा रही है। इन उद्योग-धन्धों की सफलता बहुत कुछ उनके कुशल निर्देशन पर निर्भर करती है। अतएव इस कार्य हेतु कुशल प्रबन्धकों की आवश्यकता पड़ती है। जैसे-जैसे उद्योग-धन्धों का आकार तथा उनकी संख्या बढ़ती जाती है वैसे-वैसे उनके निर्देशन के लिये कुशल प्रबन्धकों की माँग भी बढ़ती जाती है। भारत के सार्वजनिक क्षेत्र में स्थापित बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों की असफलता का मुख्य कारण हमारे देश में कुशल प्रबन्धकों का अभाव ही हो सकता है। आखिर कब तक भारत व्यावसायिक तथा औद्योगिक क्षेत्र में विदेशी प्रबन्धकों पर आश्रित रह सकता है ? वास्तविकता यह है कि जब तक हमारे देश में प्रचुर मात्रा में कुशल प्रबन्धक उपलब्ध नहीं होते तब तक हमारी औद्योगिक प्रगति की योजनाएँ, चाहे वे देखने में कितनी भी आकर्षक प्रतीत क्यों न होती हों, पूर्णरूप में सफल नहीं हो सकतीं।

श्री एस० सी० साहू के शब्दों में, "भारत में शीघ्र औद्योगिक विकास के लिये एक महत्त्वपूर्ण आवश्यकता पर्याप्त मात्रा में प्रशिक्षित अधिशासियों—वाणिज्यिक, विपणन तथा प्रबन्धकों की पूर्ति है।"

प्रबन्धकीय प्रशिक्षण का अर्थ एवं परिभाषायें
(Meaning and Definitions of Managerial Training)

प्रबन्धकीय प्रशिक्षण से आशय फोरमैन, सहायक एवं मध्य-प्रबन्धकों तथा उच्च प्रबन्धकों के प्रशिक्षण से है। जिस प्रकार कारखानों में कार्य करने वाले श्रमिकों के लिए प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार श्रमिकों का नेतृत्व, मार्ग-दर्शन व नियन्त्रण करने वाले प्रबन्धकीय पदाधिकारियों के लिये भी आवश्यक प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है। प्रशिक्षण के द्वारा कर्मचारी कार्य की आवश्यकताओं को आसानी से पूरा कर सकते हैं। अतएव सरल शब्दों में, प्रशिक्षण को किसी कार्य को विशिष्ट ढङ्ग से करने का एक शिक्षण माना जा सकता है। **जूसियस** (Jucius) के अनुसार, "प्रशिक्षण एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा विशिष्ट कार्यों के सम्पादन हेतु कर्मचारियों की अभिवृत्तियों, निपुणताओं एवं योग्यताओं में अभिवृद्धि की जाती है।"[1] **फिलिप्पो** (Flippo) के शब्दों में, "प्रशिक्षण किसी विशेष कार्य को करने हेतु एक कर्मचारी के ज्ञान एवं कौशल में अभिवृद्धि करने की एक क्रिया है।"[2]

प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के उद्देश्य
(Objects of Managerial Training)

प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के प्रसार से एक ऐसे सजग, कुशल, योग्य तथा सफल प्रबन्धकीय वर्ग का विकास होता है, जो उत्पादन के निर्जीव साधनों (भूमि, पूँजी आदि) तथा सजीव साधन अर्थात् मानव दोनों के मध्य प्रभावी समन्वय स्थापित कर सकता है और दोनों की उत्पादकता में वृद्धि करते हुये अन्ततः उत्पादन बढ़ाने में सफल होता है। संक्षेप में, प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :—(१) अपने चुने हुये कार्य-क्षेत्र के विषय में सामान्य ज्ञान की उपलब्धि करना, (२) तर्क करने तथा समस्याओं का आवश्यक विश्लेषण करने की योग्यता का विकास करना, (३) विभिन्न औद्योगिक तथा प्रबन्धकीय मूल्यों की जानकारी प्राप्त करना, (४) लिखित तथा मौखिक रूप से प्रबन्ध सिद्धान्तों का संवहन करना, (५) परम्परागत तथा समयातीत प्रणा-

---

1 "The term "training" is used here to indicate only process by which the aptitudes, skills and abilities of employees to perform specific jobs are increased."—**Michael J. Jucius**, *op. cit.*, p. 224.

2 "Training is the act of increasing the knowledge and skill of an employee for doing a particular job."—**dwin B. Flippo**, *op. cit.*, p. 201.

लियों के स्थान पर नवीनतम, वैज्ञानिक एवं समयानुकूल विधियों का अनुकरण करना, तथा (६) कर्मचारियों पर प्रभावी नियन्त्रण स्थापित करने में समर्थ होना आदि ।

जॉन मार्श (John Marsh) के शब्दों में, "प्रबन्धकीय प्रशिक्षण शिक्षा का एक भाग है तथा व्यक्ति विशेष के लिये उसे निम्न दो बातें करनी हैं :—(i) वर्तमान युग की समस्याओं, जोकि उसके कार्य पर प्रभाव डालें, के प्रति उसका मस्तिष्क खोलना तथा बाद में उसे खोले रखना एवं उन्हें समझाने की भावना प्रदान करना, (ii) उनके कार्य तथा जीवन के सामान्य व्यवहार के लिये आवश्यक बहुत से कौशलों को प्राप्त करने एवं सुधार करने के लिये योग्य बनाना ।"

प्रशिक्षण की आवश्यकता
(Need for Training)

कर्मचारियों के अधिकतम वैयक्तिक विकास एवं उत्पादकता वृद्धि के लिये प्रशिक्षण की आवश्यकता को अनुभव किया गया है । वैज्ञानिक एवं तकनीकी प्रगति ने कार्य-प्रणालियों, औजारों, मशीनों एवं कार्य-सञ्चालन विधियों में क्रान्तिकारी किन्तु अत्यधिक जटिल परिवर्तन कर दिये हैं । प्रत्येक दिन कुछ न कुछ परिवर्तन के साथ उदय होता है । परिवर्तन के प्रति अनुकूलता को बनाये रखना आधुनिक प्रतियोगिता की दौड़ में विजयी होने के लिये नितान्त आवश्यक है । पुराने कर्मचारियों को नये तकनीकी परिवर्तनों से परिचित करना एवं नये कर्मचारियों को कार्य-सम्पादन हेतु ज्ञान, योग्यता एवं कौशल प्रदान करना प्रत्येक सङ्गठन के लिये आवश्यक हो गया है । प्रत्येक सङ्गठन पूर्ण कार्यक्षमता पर कार्य करना चाहता है, कम लागत पर उत्पादन करना चाहता है और अपने लाभों के परिमाण में बढ़ोत्तरी करना चाहता है । इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये प्रशिक्षण आवश्यक है । कर्मचारी प्रशिक्षण की आवश्यकता के संक्षेप में मुख्य कारण निम्नांकित हैं :—

(१) **कर्मचारियों में मनोबल का विकास करने हेतु** (For developing Employees Morale)—प्रशिक्षण कर्मचारियों को कार्य सम्पादन के लिये आवश्यक कौशल एवं प्रवीणता प्रदान करता है । यह कौशल कर्मचारियों को सुरक्षा एवं आत्मसन्तुष्टि जैसी मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति में सहायता प्रदान करता है । कर्मचारियों का कार्य उनके लिये एक गर्व की भावना उत्पन्न करता है, जिससे कि कर्मचारियों का मनोबल बढ़ता है, संस्था के प्रति आस्था एवं निष्ठा की भावना पैदा होती है एवं अपनत्व जाग्रत होता है ।

(२) **कर्मचारियों की उत्पादकता में वृद्धि करने हेतु** (For increasing Employee Productivity)—जैसा कि स्पष्ट किया जा चुका है, प्रशिक्षण कर्मचारियों को विशेष कार्यों के सम्पादन हेतु विशेष विधियों का ज्ञान प्रदान करता है । यह ज्ञान एवं कौशल उनकी कार्यकुशलता में वृद्धि करता है । कार्यकुशलता में वृद्धि का स्वतः परिणाम सङ्गठन के उत्पादन परिमाण में वृद्धि एवं उत्पाद गुण में सुधार का होना है । इस प्रकार प्रशिक्षण उत्पादकता को बढ़ाने, उत्पादन लागत को कम करने एवं सङ्गठन की सर्वाङ्गीण कार्य-कुशलता को बढ़ाने के लिये आवश्यक है ।

(३) **दुर्घटनाओं में कमी करने हेतु** (For Reducing Accidents)—प्रशिक्षण कर्मचारियों को कार्य करने का ढङ्ग सिखलाता है । मशीनों को किस प्रकार चलाया जाय, इसकी विधि बतलाता है । दुर्घटनाओं से किस प्रकार बचा जाय, उसके लिये सुरक्षात्मक युक्तियों की जानकारी देता है, जिससे दुर्घटनाओं में कमी होती है, मशीनों की टूट-फूट नहीं होती है, संगठन पर किसी प्रकार की आर्थिक जिम्मेदारी क्षति-पूर्ति करने के लिये पैदा नहीं होती है एवं कार्य में अवरोध उत्पन्न नहीं होने पाता है ।

(४) **पर्यवेक्षण एवं निर्देशन में कमी करने हेतु** (Reducing Supervision and

Direction)—पर्यवेक्षण एवं निर्देशन में कमी होना कुशल, अनुभवी एवं योग्य कर्मचारियों का सूचक है। सङ्गठन की सफलता, प्रसिद्धि एवं योग्यता इसी बात का संकेत है कि पर्यवेक्षण एवं निर्देशन में पर्याप्त कमी हुई है, कर्मचारी स्वयं ही अपने कार्यों का पर्यवेक्षण करते हैं एवं स्वयं से ही निर्देश प्राप्त करते हैं। प्रशिक्षण कर्मचारियों में इन्हीं योग्यताओं का विकास करता है। कर्मचारी स्वतन्त्रतापूर्वक अपना कार्य सम्पन्न करते रहते हैं। कर्मचारियों की पर्यवेक्षकों पर निर्भरता समाप्त होने लगती है।

(५) **कर्मचारियों की गतिशीलता में विकास करने हेतु** (For developing Employee mobility)—प्रशिक्षण कर्मचारियों का वैयक्तिक विकास करता है। कर्मचारियों को कार्य के प्रति उपयुक्त बनाता है। प्रशिक्षण कर्मचारियों की पदोन्नति के द्वार खोलता है। अन्य विभागों एवं कार्यों के लिये स्थानान्तरण को सम्भव बनाता है।

(६) **संगठनात्मक स्थिरता एवं लचीलेपन में वृद्धि करने हेतु** (For increasing Organisational Stability and Flexibility)—प्रशिक्षण सङ्गठनात्मक स्थिरता एवं लचीलेपन को बढ़ाता है। भविष्य के लिये पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित कर्मचारियों की उपलब्धि को सम्भव बनाता है। इसके साथ ही थोड़े से प्रशिक्षण के पश्चात् अल्पकालीन कार्य-भार को सम्भालने के लिये कर्मचारियों में आवश्यक योग्यता का विकास करता है। इससे अन्य कर्मचारियों की भर्ती एवं चयन की समस्या उत्पन्न नहीं होती है।

संक्षेप में, यह कहा जा सकता है कि प्रशिक्षण दुरुपयोग में कमी लाता है, कार्य-प्रणालियों में सुधार करता है, सयन्त्र की मशीनरी एवं औजारों के सर्वोत्तम प्रयोग में सहायता करता है, कार्यक्षमता, उत्पादकता एवं मनोबल को बढ़ाता है, पर्यवेक्षण में कमी करता है, कर्मचारियों की अनुपस्थिति एवं श्रम-परिवर्तन में कमी करता है, कर्मचारियों की कठिनाइयों को दूर करता है, दुर्घटनाओं में कमी लाता है और उत्पाद की किस्म में सुधार लाता है। इन समस्त बातों को देखते हुये प्रशिक्षण की आवश्यकता को वर्तमान में कम महत्त्व दिया जाना सम्भव नहीं है।

प्रशिक्षण के पहलू
(Aspects of Training)

प्रशिक्षण कार्य के निम्न अङ्ग होते हैं :—

(१) **प्रशिक्षण की आवश्यकता का अनुमान लगाना**—सर्वप्रथम प्रशिक्षण की आवश्यकता का अनुमान लगाया जाता है कि कौन से स्तर पर, किस श्रेणी के कर्मचारियों को प्रशिक्षण की आवश्यकता है। इसके साथ ही कैसे प्रशिक्षण की आवश्यकता है, इसका निर्धारण किया जायेगा।

(२) **प्रशिक्षण की योजना**—प्रशिक्षण की आवश्यकता के अनुमान के पश्चात् प्रशिक्षण की योजना तैयार की जायेगी, प्रशिक्षण प्रणाली निर्धारित की जायेगी, प्रशिक्षण नीति तैयार की जायेगी तथा प्रशिक्षण की तकनीक तय की जायेगी।

(३) **संगठन के साधनों पर विचार**—प्रशिक्षण के उद्देश्यों को ध्यान में रखते हुये सङ्गठन के साधनों एवं सुविधाओं के अधिकतम एवं सर्वोत्तम उपयोग पर विचार किया जायेगा। तत्पश्चात् प्रशिक्षण दिया जायेगा।

(४) **प्रशिक्षण के परिणामों पर विचार**—प्रशिक्षण देने के बाद प्रशिक्षण के परिणामों पर विचार किया जायेगा और उसके बाद सुधार के लिये कदम उठाये जायेंगे। प्रशिक्षण के दौरान बजटीय नियन्त्रण भी रखा जायेगा।

प्रशिक्षण व्यवस्था एवं विधि
(Training Arrangement & Procedure)

प्रशिक्षण व्यवस्था एवं विधि निम्नलिखित बातों पर जोर देती है—(१) प्रशिक्षण के लिये एक समय विभाग चक्र (Time Table) होना चाहिये। उसी के अनुसार कार्य शुरू होना चाहिये, जिससे प्रशिक्षणार्थी द्वारा हासिल किया गया ज्ञान प्रमाणित हो सके। (२) कार्य का विभाजन प्रमुख क्रियाओं के बीच होना चाहिये। कृत्य-विश्लेषण एवं कृत्य-विवरण प्रशिक्षण के पहले की अवस्थायें हैं। (३) प्रत्येक वस्तु तैयार रखी जानी चाहिये, जिससे देरी न हो। (४) कार्य-स्थान की व्यवस्था, जहाँ प्रशिक्षण दिया जाना है, ठीक होनी चाहिये। (५) इन उपर्युक्त व्यवस्थाओं के उपरान्त प्रशिक्षक की तैयारी, एवं प्रशिक्षणार्थियों की तैयारी का निरीक्षण किया जाना चाहिये। (६) इसके बाद कार्य प्रस्तुतीकरण और कार्य की जाँच भी प्रशिक्षण व्यवस्था का एक अंग बनती है। (७) कार्य की जाँच के उपरान्त कर्मचारी को अकेले छोड़ दिया जाना चाहिये, जिससे कि वह स्वयं ही कार्य कर सके। वह किसी की सहायता भी माँग सकता है। इससे वह स्वयं कार्य में निपुण हो जायगा।

प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के विभिन्न स्तर
(Different Levels of Managerial Training)

अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के स्तरों को निम्न तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है :—(I) फोरमैन प्रशिक्षण, (II) सहायक अथवा छोटे प्रबन्धकों का प्रशिक्षण, तथा (III) उच्च अथवा बड़े प्रबन्धकों का प्रशिक्षण।

(I) फोरमैन प्रशिक्षण (Foreman Training)—

श्रमिकों के एक समूह पर नियन्त्रण रखने वाला व्यक्ति 'फोरमैन' कहलाता है। समूह में सम्मिलित होने वाले व्यक्तियों की संख्या कार्य की प्रकृति पर निर्भर है। फोरमैन का श्रमिकों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है। फोरमैन अधिक पढ़ा-लिखा व्यक्ति नहीं होता है, अपितु अधिक समय तक एक विशेष कार्य करते रहने के कारण उसे पर्याप्त अनुभव एवं ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ऐसे व्यक्ति में उत्साह, महत्त्वाकांक्षा तथा मौलिक सूझ-बूझ की भी कमी नहीं होती। चूँकि यह अनुभव के आधार पर ही श्रमिकों से कार्य लेता है, अतएव इसका श्रमिकों से कार्य लेने का तरीका लगभग अवैज्ञानिक होता है। परिणामस्वरूप फोरमैन को ऐसे प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, जिसमें निम्न बातों का समावेश हो :—(१) श्रमिकों के चुनाव तथा प्रशिक्षण देने का आधुनिक तरीका; (२) श्रमिकों में अनुशासन बनाये रखने तथा मनोबल ऊँचा बनाये रखने के सम्बन्ध में प्रशिक्षण; (३) उत्पादन प्रबन्ध, अर्थात् कार्य की मात्रा एवं गुण नियन्त्रण, लागत नियन्त्रण, उत्पादकता में वृद्धि तथा श्रेष्ठकर विधियों का उपयोग करने के सम्बन्ध में प्रशिक्षण; (४) नेतृत्व सम्बन्धी प्रशिक्षण; (५) दुर्घटनाओं की रोकथाम करने के सम्बन्ध में प्रशिक्षण; (६) समन्वय सिद्धान्तों का ज्ञान; (७) सामग्री तथा संयन्त्रों की देखभाल तथा उनके आधुनिकतम उपयोग के सम्बन्ध में नियन्त्रण; (८) श्रम-सन्नियमों का ज्ञान एवं उनका अनुसरण; (९) उपक्रम के आन्तरिक नियमों, विधियों, परम्पराओं व मर्यादाओं सम्बन्धी ज्ञान; (१०) श्रम-संघों के साथ किये गये समझौतों के पालन करने की विधि; (११) श्रमिकों की पूर्ण कुशलता से कार्य लेने के सम्बन्ध में प्रशिक्षण; (१२) अन्य विभागों के साथ मिल-जुल कर कार्य करने के सम्बन्ध में प्रशिक्षण; तथा (१३) पत्राचार-योग्यता।

(II) सहायक अथवा छोटे प्रबन्धकों का प्रशिक्षण (Junior Executive Training)—

प्रबन्ध की इस श्रेणी के अन्तर्गत वे व्यक्ति आते हैं जिनको प्रबन्ध सम्बन्धी सैद्धान्तिक

ज्ञान तो होता है किन्तु अनुभव का अभाव होता है। ये व्यक्ति विश्वविद्यालयों अथवा विशिष्ट प्रबन्ध संस्थानों से निकले हुये स्नातक होते हैं। ऐसे व्यक्तियों में ऊँचे दर्जे की बुद्धि, समस्याओं को वैज्ञानिक दृष्टि से परखने की क्षमता, पत्राचार योग्यता प्रबन्ध के सिद्धान्तों की जानकारी तथा सफल प्रबन्धक बनने की उत्कट अभिलाषा होती है। इतना होते हुए भी इन्हें न तो उप-क्रम की गतिविधियों की 'ही जानकारी होती है और न प्रबन्ध-कार्य सम्बन्धी व्यावहारिक अनुभव ही। अतएव ऐसे व्यक्तियों के प्रशिक्षण कार्यक्रम में मुख्यत: निम्न दो बातों का समावेश होना चाहिए :—

(१) **उपक्रम सम्बन्धी जानकारी**—सर्वप्रथम उपक्रम सम्बन्धी पूर्ण जानकारी करानी चाहिए, अर्थात् उपक्रम का विगत इतिहास, उद्देश्य, नीतियाँ, संगठन-संरचना, राष्ट्र के आर्थिक एवं औद्योगिक कलेवर में उसका स्थान तथा उसका भविष्य आदि के सम्बन्ध में विस्तृत जानकारी दी जानी चाहिए।

(२) **प्रबन्ध सम्बन्धी व्यावहारिक ज्ञान**—चूँकि इनमें प्रबन्धकीय अनुभव का अभाव रहता है, अत: इन्हें अल्पकाल में ही प्रबन्ध के कार्यों सम्बन्धी अधिकाधिक ज्ञान प्रदान करने का प्रयत्न किया जाना चाहिये। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये इनसे प्रबन्ध के भिन्न-भिन्न पदों पर कार्य कराना चाहिए, ताकि इन्हें अधिकांश कार्यों के सम्बन्ध में जानकारी एवं अनुभव दोनों ही हो जाय।

(III) उच्च अथवा बड़े प्रबन्धकों का प्रशिक्षण (Senior Executive Training)—

उच्च-प्रबन्धकों को दिया जाने वाला प्रशिक्षण अन्य दो (अर्थात् फोरमैन तथा छोटे प्रबन्धकों को प्रशिक्षण) को दिये जाने वाले प्रशिक्षण से भिन्न होता है। इन्हें प्रबन्ध का सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों प्रकार का ज्ञान एवं अनुभव होता है। ये लोग उपक्रम के उच्च-पदों पर विद्यमान होते हैं। सम्बन्धित उपक्रम में कई वर्षों तक निरन्तर कार्य करते रहने के कारण इन्हें उपक्रम सम्बन्धी विस्तृत जानकारी भी होती है। अतएव ऐसे व्यक्तियों के प्रशिक्षण कार्यक्रम में मुख्य रूप में निम्न बातों का समावेश होना चाहिए :—

(१) **उपक्रम के बाहरी सम्बन्धों का प्रशिक्षण**—इसका आशय अन्य संस्थाओं के साथ सम्बन्धों की रूपरेखा, विभिन्न क्षेत्रों में किया गया अनुसन्धान एवं विकास का स्तर, राजकीय नियमन तथा नियन्त्रण की प्रकृति एवं उसके प्रभाव आदि का मूल्यांकन करने से है। इन बातों का प्रशिक्षण प्रदान करने हेतु उच्च प्रबन्धकों को अन्य औद्योगिक संस्थानों, प्रबन्ध संस्थानों, राजकीय उपक्रमों, श्रम-संघों, राजकीय अधिकारियों आदि से उपक्रम की ओर से प्रतिनिधित्व करने एवं सम्पर्क स्थापित करने का अवसर मिलना चाहिए। आज के युग में इसका भारी महत्त्व है।

(२) **सामाजिक दर्शन की शिक्षा**—सम्बन्धित उपक्रम को समाज की एक महत्त्व-पूर्ण इकाई के रूप में प्रतिष्ठित कराने का दायित्व भी उच्च प्रबन्धकों का ही है। इसके लिए उन्हें सामाजिक गतिविधियों की जानकारी होना आवश्यक है। इस प्रकार की जानकारी प्राप्त करने हेतु उच्च प्रबन्धकों को विभिन्न प्रकार की सामाजिक गोष्ठियों, सम्मेलनों आदि में भाग लेना चाहिए तथा देश के नेताओं एवं सामाजिक कार्यकर्त्ताओं से सम्पर्क स्थापित करना चाहिए।

कर्मचारी प्रशिक्षण के विभिन्न स्तर (Different Levels of Workers Training)—

कर्मचारी प्रशिक्षण विभिन्न स्तरीय कर्मचारियों के लिये विभिन्न प्रकार का होता है। प्रशिक्षण के विभिन्न स्तर अग्र प्रकार हैं[1]।

---

[1] C. B. Mamoria : *Industrial Organisation*, pp. 261 to 271.

(१) **अकुशल श्रमिकों के लिये प्रशिक्षण** (Training for unskilled workers)—अकुशल श्रमिकों को प्रशिक्षण की आवश्यकता कार्य के तरीकों में सुधार करने के लिये, उत्पादन लागत को कम करने के लिये तथा कार्य को मितव्ययी ढङ्ग से करने के लिये होती है। ऐसे श्रमिकों को कार्य पर ही प्रशिक्षण दिया जाता है। ऐसा प्रशिक्षण उनके तत्कालीन बौस (Boss) द्वारा अथवा फोरमैन द्वारा दिया जा सकता है।

(२) **अर्द्ध-कुशल श्रमिकों के लिये प्रशिक्षण** (Training for semi-skilled workers)—ऐसे श्रमिकों को जो कि अर्ध-कुशल होते हैं, प्रशिक्षण की आवश्यकता किसी उद्योग के कार्य विशेष की आवश्यकताओं की पूर्ति के कारण होती है तथा ऐसी विशेष आवश्यकतायें विशेष मशीनों तथा विवेकीकरण के कारण पैदा होती हैं। ऐसा प्रशिक्षण या तो विभागीय प्रशिक्षण हो सकता है अथवा प्रशिक्षण कक्षों में भी दिया जा सकता है। ऐसा प्रशिक्षण अधिक कुशल प्रशिक्षकों द्वारा दिया जा सकता है।

(३) **कुशल श्रमिकों के लिये** (Training for skilled workers)—कुशल श्रमिकों को प्रशिक्षण नव प्रशिक्षण प्रणाली (Apprenticeship) द्वारा एक लम्बे समय तक की अवधि, जो कि ५ वर्ष तक भी हो सकती है, दिया जाता है। कला-प्रशिक्षण (Crafts training) प्रशिक्षण केन्द्रों तथा उद्योग के भीतर भी दिया जा सकता है।

(४) **अन्य प्रशिक्षण स्तर** (Training for Others)—उपर्युक्त कर्मचारियों के अलावा कुछ विशेष दिशाओं में भी प्रशिक्षण दिया जाता है, जैसे—कम्प्यूटर संचालन के लिये, स्टेनोग्राफर के लिये, टाइपिस्ट के लिये आदि।

(५) **पर्यवेक्षकीय कर्मचारियों के लिये प्रशिक्षण** (Training for Supervisory Staff)—पर्यवेक्षकीय कर्मचारी प्रबन्ध के स्तम्भ होते हैं क्योंकि वे कर्मचारियों के निरीक्षण एवं पर्यवेक्षण के कार्य से सम्बन्धित होते हैं और उनका यह कार्य प्रशासन एवं प्रबन्ध का आधार माना जाता है। पर्यवेक्षकीय कर्मचारियों को अधिकतर जो प्रशिक्षण दिया जाता है, वह (i) उत्पादन, अनुरक्षण एवं सामग्री नियन्त्रण आदि के सम्बन्ध में इकाई स्तर पर, (ii) नियोजन, वितरण एवं सेविवर्गीयों तथा कार्य नियन्त्रण; (iii) स्वयं के कार्य नियोजन; (iv) कार्य अध्ययन; (v) कार्य-मूल्यांकन; (vi) लागत नियन्त्रण; (vii) दुर्घटनाओं की रोकथाम; (viii) मानवीय समस्याओं के निवारण; एवं (ix) नेतृत्व, कला आदि क्षेत्रों को समाविष्ट करता है।

(६) **प्रबन्धकीय अधिकारियों के लिए** (Training for Executives)—प्रबन्धकीय अधिकारियों को दिया जाने वाला प्रशिक्षण कर्मचारियों के प्रशिक्षण से भिन्न होता है। इसलिये उनके लिये अलग प्रशिक्षण प्रणालियाँ काम में ली जाती हैं। मुख्यतया उनके लिए कार्य पर प्रशिक्षण (on the job training) या कार्य से पृथक् प्रशिक्षण (off the job training) की प्रणालियाँ अपनायी जाती हैं। कार्य पर प्रशिक्षण वरिष्ठ प्रबन्ध अधिकारियों द्वारा दिया जाता है। प्रशिक्षार्थी प्रबन्धकों को निर्णय लेना, निर्देश देना, प्रेरणा देना, सङ्गठन करना, नियोजन करना, नियन्त्रण करना, समन्वय करना आदि सिखाया जाता है। मानवीय समस्याओं को निपटाने की शिक्षा भी दी जाती है। पृथक् रूप से प्रशिक्षण के अन्तर्गत विशिष्ट कक्षाओं में प्रशिक्षार्थी प्रबन्धकों को प्रबन्ध के सामान्य सिद्धान्तों एवं व्यवहारों का ज्ञान कराया जाता है, उन पर चर्चायें की जाती हैं। भूमिका-निर्वाह (Role Playing) के तरीकों द्वारा समस्याओं को सुलझाने का अभ्यास कराया जाता है, निर्णय लेने की योग्यता का परीक्षण आदि भी किया जाता है।

उपर्युक्त वर्णित विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षणों के अतिरिक्त उद्देश्यों के आधार पर भी

प्रशिक्षण को अनेक भागों में वर्गीकृत किया जा सकता है। उद्देश्यों के आधार पर प्रशिक्षण के मुख्य प्रकार इस प्रकार हैं :—(i) **प्रवेशात्मक प्रशिक्षण या परिचय प्रशिक्षण** (Induction training)—ऐसा प्रशिक्षण कर्मचारियों को उनके चयन किन्तु कार्य पर नियुक्ति (Placement) के पश्चात् दिया जाता है। इस प्रकार के प्रशिक्षण में कर्मचारियों को उनके कार्यों, उत्तरदायित्वों, स्थितियों, कार्य समूहों, विभागों, अधिकारियों, कम्पनी की नीतियों, व्यवस्थाओं एवं संगठन के उद्देश्यों आदि के बारे जानकारी प्रदान करना होता है। इस प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य कर्मचारियों में विश्वास उत्पन्न करके संस्था का स्थायी अंग बनाना होता है। (ii) **कार्य-प्रशिक्षण** (Job training)—ऐसे प्रशिक्षण में कर्मचारियों को कार्य से सम्बन्धित सर्वाङ्गीण प्रक्रिया में शिक्षित करना होता है, जिसका उद्देश्य कार्य करने की सर्वोत्तम प्रणाली को समझाना, सामग्री को काम में लाना एवं मशीनों को संचालित करने का तरीका सिखाना आदि होता है। (iii) **पदोन्नति प्रशिक्षण** (Promotional training)—जब पुराने कर्मचारियों को उच्च पदों पर नियुक्त किया जाता है तो उनको उच्च-पदों के दायित्वों का भली प्रकार निर्वाह करने योग्य बनाने के लिये ऐसा प्रशिक्षण दिया जाता है। (iv) **पुनर्अभ्यास प्रशिक्षण** (Refresher)—यह प्रशिक्षण पुराने कर्मचारियों को नई तकनीकों एवं उन्नत कार्य प्रणालियों का ज्ञान देने के लिये दिया जाता है, जिससे कि वे परिवर्तित एवं संशोधित कार्य-पद्धतियों के अनुसार कार्य कर सकें और उनकी कार्यकुशलता में किसी प्रकार की कमी न आने पाये।

प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के ढङ्ग अथवा विधियाँ
(Methods of Managerial Training)

जैसे-जैसे उपक्रम का आकार बढ़ता जाता है वैसे-वैसे उसमें कार्य करने वाले कर्मचारियों की संख्या भी बढ़ती जाती है। कर्मचारियों की संख्या में वृद्धि होने से उनसे कार्य लेना एवं उन पर प्रभावी नियन्त्रण स्थापित करना भी कठिन हो जाता है। फलतः कर्मचारी तथा प्रबन्धक दोनों एक दूसरे से दूर हो जाते हैं। अतएव प्रबन्धकीय प्रशिक्षण की आवश्यकता पड़ती है। वर्तमान समय में प्रबन्धकों को प्रशिक्षण प्रदान करने के लिये विभिन्न विधियाँ काम में लायी जाती हैं। प्रबन्धकीय प्रशिक्षण की प्रमुख विधियाँ निम्नलिखित हैं :—

(१) **उपक्रम के अन्दर से एवं बाहर से भाषणों की व्यवस्था करना**—प्रबन्धकीय प्रशिक्षण प्रदान करने का सबसे अधिक लोकप्रिय एवं सरल ढङ्ग सम्बन्धित उपक्रम में विभिन्न प्रबन्धकीय समस्याओं पर प्रबन्धकीय विद्वानों के भाषणों का आयोजन करना है। ये भाषण उपक्रम में ही उच्च पदों पर कार्य करने वाले अनुभवी प्रबन्धकों तथा बाहरी प्रबन्ध विज्ञान विशेषज्ञों के द्वारा दिलवाये जा सकते हैं। भाषणों का यह क्रम प्रायः तीन या चार दिन तक निरन्तर चालू रहता है। इनमें विभिन्न प्रबन्ध विशेषज्ञ आधुनिक प्रबन्धकीय समस्याओं पर बोलते हैं तथा बाद में सब लोग मिलकर उनका कोई उपयुक्त समाधान खोजने का प्रयास करते हैं। इससे प्रबन्धकों के ज्ञान में वृद्धि होती है, एक-दूसरे के सम्पर्क में आने का सुअवसर मिलता है तथा पारस्परिक सम्बन्धों का विकास होता है।

(२) **विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा प्रबन्ध संस्थानों द्वारा आयोजित विशिष्ट प्रबन्ध विकास कार्यक्रमों में भाग लेना**—प्रबन्धकों की निरन्तर बढ़ती हुई माँग को पूरा करने के लिये भारत स्थित विभिन्न विश्वविद्यालयों तथा प्रबन्ध संस्थानों ने अपने यहाँ अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन दोनों प्रकार के विशिष्ट प्रबन्ध विकास पाठ्यक्रमों की व्यवस्था की है, जहाँ भेजकर प्रबन्धकों को प्रशिक्षित किया जा सकता है। इस प्रशिक्षण विधि का प्रमुख लाभ यह है कि प्रशिक्षार्थियों को प्रबन्ध विज्ञान के आधुनिक सिद्धान्तों का अध्ययन, विश्लेषण, व्यावहारिक अनुभव के आधार पर उनकी समीक्षा व उनमें आवश्यक संशोधन करने का सुअवसर मिलता है।

(३) **केस (Case) अध्ययन विधि**—प्रबन्धकीय प्रशिक्षण देने की इस विधि का उपयोग हारवर्ड व्यावसायिक स्कूल, अमरीका तथा भारतीय प्रबन्ध संस्थान, अहमदाबाद में होता है। इस समय भारत में स्थित अन्य प्रबन्धकीय संस्थानों में भी प्रशिक्षण देने की केस अध्ययन विधि काम में लायी जाती है। इसके अन्तर्गत प्रशिक्षार्थी को केस देकर निर्धारित उपक्रम में उसका अध्ययन करने के लिये भेजा जाता है। वह वहाँ पर जाकर उक्त केस का विस्तृत अध्ययन करके अपनी रिपोर्ट निश्चित अवधि में प्रस्तुत करता है। बाद में उसकी रिपोर्ट का मूल्यांकन किया जाता है। यदि कोई गलती रह जाती है तो उसे पुनः उक्त उपक्रम में आवश्यक अध्ययन करने हेतु भेजा जाता है। इससे प्रशिक्षार्थी को व्यावहारिक ज्ञान प्राप्त करने का सुअवसर मिलता है।

(४) **भूमिका निभाना (Role Playing)**—प्रशिक्षण प्रदान करने की प्रस्तुत विधि के अन्तर्गत कुछ प्रशिक्षार्थियों से विभिन्न भूमिकायें निभाने के लिये कहा जाता है तथा शेष प्रशिक्षार्थी उनके निर्णयों की आलोचना करते हुए सर्वोत्तम समाधान खोजने के लिये परस्पर विचार-विनिमय करते हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण का प्रमुख ध्येय प्रशिक्षार्थियों को सम्बन्धित कृत्रिम समस्या से अधिकाधिक अवगत कराना तथा उसका उपयुक्त समाधान खोजने में सहायता प्रदान करना है। उदाहरण के लिये, एक ओर तो प्रबन्धक को किसी कर्मचारी द्वारा अनुशासन भङ्ग किये जाने की समस्या को लेकर श्रम सङ्घ के नेता की भूमिका निभाने का कार्य सौंपा जा सकता है तथा दूसरी ओर किसी श्रम सङ्घ के नेता को प्रबन्धक की भूमिका निभाने का कार्य सौंपा जा सकता है। ऐसा करने से दोनों को एक दूसरे की समस्या को समझने एवं उसे सुलझाने का अवसर प्राप्त होगा। प्रशिक्षण देने की यह विधि रोचक होने के साथ-साथ लाभदायक भी है, क्योंकि समस्या के दोनों पहलुओं पर खुले दिल से विचार-विमर्श होने से प्रशिक्षार्थियों का दृष्टिकोण व्यापक होता है।

(५) **व्यावसायिक खेल (Business Game)**—प्रबन्धकों को प्रशिक्षण देने का यह ढङ्ग भी बड़ा ही निराला है। इसके अन्तर्गत सबसे पहले प्रशिक्षक किसी विषय के सम्बन्ध में व्यावसायिक संस्थाओं से आवश्यक आँकड़े एवं अन्य सामग्री लेकर एक खेल लिखता है। उदाहरण के लिये, विपणन सम्बन्धी खेल में लेखक किसी उद्योग, निगम, वित्त, बाजार, सङ्गठन सेविवर्गीय आदि से सम्बन्धित सभी आँकड़े प्रदान करता है तथा निगम द्वारा प्राप्त किया जाने वाला लक्ष्य निर्धारित करता है। प्रशिक्षार्थियों को कई समूहों में विभक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक समूह खेल की अवधि तक एक पृथक निगम (Corporation) के रूप में कार्य करता है। प्रत्येक समूह निगम द्वारा निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये समय-समय पर बैठकर नीति तथा मोर्चाबन्दी को तय करता है तथा उसके लिए क्रियायें निर्धारित करता है। बाद में प्रशिक्षक प्रत्येक समूह के द्वारा लिये गये निर्णयों का खेल के सन्दर्भ में विश्लेषण करता है। यह खेल कुछ घण्टों, कुछ दिनों अथवा कुछ सप्ताहों तक चलता रहता है। प्रत्येक समूह को खेल के सम्बन्ध में आवश्यक निर्देश भी दे दिये जाते हैं। कुछ खेलों में तो कम्प्यूटर तक का उपयोग किया जाता है। इन खेलों के माध्यम से भी प्रबन्धकों के ज्ञान में वृद्धि तथा उनकी सोचने-विचारने एवं निर्णय लेने की शक्ति का विकास होता है।

(६) **सहायक पदों का निर्माण करना**—सम्बन्धित उपक्रम में विभिन्न सहायक पदों का निर्माण करके भी आवश्यक ज्ञान एवं अनुभव प्राप्त करने का सुअवसर प्रदान किया जाता है। उदाहरण के लिये, विक्रय प्रबन्धक का सहायक (Assistant to the Sales Manager), अध्यक्ष का सहायक (Assistant of the President) आदि। सहायक पद स्थायी अथवा अस्थायी

अथवा दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। इन पदों का निर्माण होने से सम्बन्धित अधिकारी का कार्य सरल हो जाता है और उसकी अनुपस्थिति में कार्य रुकता नहीं है। इसके साथ-साथ उपक्रम को ऐसे व्यक्ति मिल जाते हैं, जो सम्बन्धित व्यक्ति द्वारा अवकाश-ग्रहण करने अथवा उपक्रम को छोड़ देने अथवा मृत्यु हो जाने पर उसका स्थान सरलता से ग्रहण कर लेते हैं।

(७) **प्रशिक्षार्थियों का कार्य-चक्रण** (Job rotation)—प्रशिक्षण देने की इस विधि के अन्तर्गत प्रशिक्षार्थियों को सर्व-प्रथम उपक्रम के विभिन्न-विभागों में प्रबन्धकीय पदों पर कार्य करने हेतु नियुक्त किया जाता है। इसके उपरान्त उनको एक-दूसरे के कार्यों का अनुभव व ज्ञान प्राप्त कराने के लिए कुछ समयान्तरों पर एक-दूसरे के स्थान पर अदला-बदली कर दी जाती है। इस प्रकार के प्रशिक्षण देने का प्रमुख ध्येय सम्बन्धित प्रशिक्षार्थी को उपक्रम के सभी कार्यों से भली प्रकार परिचित होने का अवसर मिलना है।

(८) **सिण्डीकेट** (Syndicate) **विधि**—प्रबन्धकीय प्रशिक्षण देने की इस विधि का उपयोग प्रशासनिक स्टाफ कॉलेज, हैदराबाद तथा अन्य समान स्तर के कॉलेजों में किया जाता है। इस विधि के अन्तर्गत प्रशिक्षार्थियों को विभिन्न विषयों पर कार्य करने के लिये अलग-अलग कई समूहों में विभक्त कर दिया जाता है। इन समूहों को सिन्डीकेट के नाम से पुकारते हैं। प्रत्येक सिण्डीकेट को प्रशिक्षक द्वारा तैयार किया गया संक्षिप्त पेपर (Paper) दे दिया जाता है। प्रत्येक सिण्डीकेट उक्त पेपर के आधार पर आवश्यक विचार-विमर्श करने के उपरान्त एक विस्तृत पेपर तैयार करता है सिण्डीकेट का एक अध्यक्ष तथा एक सचिव होता है। प्रत्येक सिण्डीकेट का सदस्य किसी दूसरे सिण्डीकेट में अध्यक्ष अथवा सचिव का पद भी ग्रहण करता है। इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक सदस्य को किसी न किसी सिण्डीकेट में अध्यक्ष अथवा सचिव के पद पर कार्य करना पड़ता है। जिस समय किसी सिण्डीकेट में सम्बन्धित पेपर के सम्बन्ध में विचार-विनिमय होता है, उस समय आवश्यक परामर्श देने के हेतु प्रशिक्षक भी उपस्थित रहता है। अन्त में, अध्यक्ष तथा सचिव दोनों सिण्डीकेट में हुए विचार-विमर्श के सम्बन्ध में अपना अलग-अलग प्रतिवेदन प्रशिक्षक को देते हैं, जो उनका विश्लेषण एवं मूल्यांकन करता है। इसमें प्रत्येक प्रशिक्षार्थी को एक सदस्य के रूप में तथा पदाधिकारी के रूप में अर्थात् दोनों रूपों में विचार-विमर्श में भाग लेने का अवसर मिलता है। इससे प्रशिक्षार्थी को व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक दोनों प्रकार का ज्ञान प्राप्त होता है।

कर्मचारी प्रशिक्षण के ढंग अथवा पद्धतियाँ
(Methods of Personnel Training)

कर्मचारी प्रशिक्षण के प्रमुख प्रचलित ढङ्ग निम्नलिखित हैं :—

(१) **कार्य पर प्रशिक्षण** (On the Job training)—कर्मचारियों को कार्य पर प्रशिक्षण देने का उद्देश्य उन्हें कार्य की वास्तविक परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं से कम से कम समय में परिचित कराना है। जब कर्मचारी कार्य पर प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं तो वे स्वयं समस्त क्रियाओं को देखते हैं और उन्हें क्रिया द्वारा सीखते हैं। इससे प्रशिक्षण के समय में पर्याप्त कमी हो जाती है। प्रशिक्षण व्यय भी काफी कम हो जाता है। यह प्रशिक्षण व्यावहारिक होता है, जिससे प्रशिक्षार्थी भी रुचि के साथ कार्य सीखता है। कार्य का वास्तविक वातावरण मिलने के कारण उसका कार्य-अभ्यास भी काफी अच्छा हो जाता है। कर्मचारी को अपने कार्य की प्रगति देखने का अवसर प्राप्त होता है, जिससे वह अधिक अच्छा कार्य करने की ओर प्रयास करता है। इस प्रकार की प्रशिक्षण प्रणाली का उपयोग द्वितीय विश्व युद्ध के समय हजारों श्रमिकों को प्रशिक्षण देने हेतु बड़े पैमाने पर किया गया था। इस प्रशिक्षण प्रणाली के अन्तर्गत प्रशिक्षक-पर्यवेक्षकों का काफी दक्ष, निपुण एवं कार्यकुशल होना आवश्यक होता है। यह प्रशिक्षण प्रणाली

कार्य में बाधाएँ उपस्थित करती है और उत्पादन को नीचा गिराती है। इस प्रकार की प्रशिक्षण विधि का एक संशोधित रूप "त्रिस्थितीय योजना" (Three position plan) है। इस विधि में एक कर्मचारी को उसका वरिष्ठ कर्मचारी प्रशिक्षण देता है और वह प्रशिक्षार्थी कर्मचारी अपने से नीचे वाले कर्मचारी को प्रशिक्षण देता है।

(२) **प्रशिक्षण केन्द्रों पर प्रशिक्षण** (Training centre training)—इसके अन्तर्गत सबसे पहले विशिष्ट प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जाती है। अलग-अलग प्रशिक्षण केन्द्र अलग-अलग व्यवसायों के लिए प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। यही कारण है कि इन्हें तकनीकी प्रशिक्षण केन्द्र भी कहते हैं। नये अथवा पुराने कर्मचारी विशिष्ट व्यवसाय अथवा कार्य के सम्बन्ध में यहाँ पर प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण केन्द्र सरकार द्वारा तथा निजी उद्योगों द्वारा अपने-अपने यहाँ के कर्मचारियों के प्रशिक्षण हेतु चलाये जाते हैं। सामान्यतः यहाँ पर सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही प्रकार का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। किन्तु सैद्धान्तिक प्रशिक्षण की तुलना में व्यावहारिक प्रशिक्षण पर अधिक बल दिया जाता है। ऐसी प्रशिक्षण प्रणाली में उत्पादन कार्य में कोई बाधा नहीं आती है।

(३) **अनुभवी कारीगरों द्वारा प्रशिक्षण** (Training by experienced workmen)—अनुभवी कारीगरों द्वारा दिया जाने वाला प्रशिक्षण उस स्थिति में विशेष उपयुक्त रहता है, जिसमें अनुभवी कारीगरों को सहायकों की आवश्यकता रहती है। प्रशिक्षण देने की यह पद्धति उन विभागों के लिये भी उपयुक्त है जिनमें कारीगर उत्तरोत्तर कृत्यों (Successive Jobs) द्वारा क्रियाओं की एक शृंखला निष्पादित करने के लिये आगे बढ़ता है।

(४) **निरीक्षकों या पर्यवेक्षकों द्वारा प्रशिक्षण** (Training by Supervisors)—पर्यवेक्षकों के द्वारा प्रशिक्षण का आयोजन करने से प्रशिक्षणार्थियों को अपने अधिकारियों से परिचित होने का सुअवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त पर्यवेक्षकों को भी कार्य-उत्पादन के दृष्टिकोण, प्रशिक्षणार्थियों की योग्यताओं एवं सम्भावनाओं को परखने का सुअवसर मिल जाता है।

(५) **शिक्षार्थी प्रशिक्षण** (Apprenticeship training)—शिक्षार्थी प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य सर्व-कुशल कारीगरों एवं कर्मचारियों का विकास करना होता है। इस प्रकार का प्रशिक्षण उन व्यवसायों या कार्यों हेतु प्रदान किया जाता है जहाँ कार्य में पूर्ण कुशलता हासिल करने के लिये एक दीर्घ अवधि तक काम का अभ्यास करना आवश्यक होता है। प्रत्येक शिक्षार्थी को एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार कार्य सौंप दिया जाता है। नियोजित कार्यक्रम कुशल प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रशिक्षण प्राप्त करने में लगभग ५ या ६ वर्ष का समय लग जाता है। प्रशिक्षण की यह विधि बहुत ही खर्चीली होती है। प्रशिक्षण समाप्ति के उपरान्त भी शिक्षार्थी को यह विश्वास नहीं दिया जा सकता है कि उसे कार्य मिल ही जायेगा। इस प्रशिक्षण विधि के अन्तर्गत कुछ पारिश्रमिक भी दिया जाता है।

(६) **द्वार-प्रकोष्ठ प्रशिक्षण** (Vestibule Training)—द्वार-प्रकोष्ठ प्रशिक्षण को काम से पृथक एक अलग विशेष प्रशिक्षणशाला में दिया जाता है। इसे द्वार-प्रकोष्ठ-प्रशिक्षण इसीलिये कहते हैं कि इस प्रशिक्षण को कारखाने में हो रहे कार्य से दूर रह कर दिये जाने पर भी उस विशिष्ट प्रकोष्ठ में अर्थात् प्रशिक्षण कक्ष में, जहाँ यह दिया जाता है, कारखाने जैसा वातावरण तथा कार्यस्थिति उपलब्ध कराने का प्रयत्न किया जाता है। प्रशिक्षण प्राप्त कर लेने के उपरान्त प्रशिक्षणार्थी को कारखाने में कार्य पर नियुक्त कर लिया जाता है। ऐसे प्रशिक्षणार्थी को कार्य प्रारम्भ पर किसी प्रकार की घबड़ाहट अनुभव नहीं होती है। अतएव द्वार-प्रकोष्ठ प्रशिक्षण कारखाने के कार्य-स्थल से हट कर एक विशेष प्रशिक्षण कक्ष में दिया जाता है, किन्तु

मशीनें एवं औजार आदि कारखाने की मशीनों एवं औजारों के समान होते हैं। ऐसा प्रशिक्षण कर्मचारियों को अधिक कार्यकुशल बना देता है।

(७) **संयुक्त प्रशिक्षण** (Internship Training)—इस प्रशिक्षण का मुख्य उद्देश्य प्रशिक्षणार्थियों को सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रशिक्षण उपलब्ध कराना होता है। तकनीकी संस्थान एवं व्यावसायिक संस्थान मिल कर अपने सदस्य-प्रशिक्षणार्थियों को संयुक्त एवं सन्तुलित प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। ऐसे प्रशिक्षण में सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक प्रशिक्षण में सन्तुलन स्थापित किया जाता है। यह प्रशिक्षण बहुत समय लेता है, किन्तु कार्य का व्यावहारिक ज्ञान कर्मचारियों को बड़ा अच्छा हो जाता है।

प्रशिक्षण के सिद्धान्त
(Principles of Training)

मोरिस विटल्स (Morris Viteles) ने कार्य में निपुणता प्राप्त करने हेतु निम्नांकित सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है—(१) एक कर्मचारी को केवल सही कार्य-विधि बतायी जानी चाहिये एवं कर्मचारी द्वारा सही कार्य-विधियों का अभ्यास किया जाना चाहिये। (२) कार्य-विश्लेषण, समय एवं गति अध्ययन आदि तकनीकों के माध्यम से सर्वप्रथम कार्य करने का सर्वोत्तम ढङ्ग निर्धारित किया जाना चाहिये। ( ) कार्य में सर्वोत्तम गतियों के सिद्धान्त का अनुगमन किया जाना चाहिये। (४) वास्तविक कार्य की दशाओं में दिया जाने वाला कार्य-प्रशिक्षण, प्रशिक्षण कक्ष के प्रशिक्षण एवं औपचारिक अर्थात् विधिवत प्रशिक्षण से अधिक अच्छा होता है। (५) प्रशिक्षण में सहीपन (Accuracy) को गति (Speed) की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिये। (६) वह प्रशिक्षण अधिक कार्यकुशल होता है जो कम समय में प्रदान कर दिया जाता है। (७) अभ्यास के उद्देश्यों को ध्यान में रखना चाहिये। (८) नये एवं पुराने कर्मचारियों को प्रशिक्षण दिया जा सकता है।

इन उपर्युक्त वर्णित सिद्धान्तों के अतिरिक्त **फिलिप्पो** (Flippo) ने भी प्रशिक्षण के निम्न मुख्य ६ **सिद्धान्तों** का वर्णन किया है :—(१) **अभिप्रेरणा का सिद्धान्त** प्रशिक्षण से पूरी होने वाली आवश्यकताओं को सम्बन्धित करता है। उदाहरण के लिये, प्रशिक्षण से पैसा, कार्य, मान्यता या पदोन्नति आदि क्या प्राप्त होगा। प्रशिक्षणार्थियों की कौनसी आवश्यकताओं की पूर्ति होगी, जिससे कि वह लगन के साथ प्रशिक्षण प्राप्त करें। (२) **प्रगति प्रतिवेदन का सिद्धान्त** प्रशिक्षणार्थी की कार्य-कुशलता में शीघ्रता एवं प्रभावशीलता उत्पन्न करता है। () **पुनर्प्रवर्तन का सिद्धान्त** प्रशिक्षण की समाप्ति पर होने वाले लाभों को प्रदान कराने की बात पर जोर देता है। यदि वेतन बढ़ाया जाना है तो वेतन वृद्धि की जानी चाहिये। यदि पदोन्नति की जानी है तो पदोन्नति की जानी चाहिये, जिससे कि अन्य प्रशिक्षणार्थी-कर्मचारियों को प्रशिक्षण प्राप्त करने की ओर आकृष्ट किया जा सके। (४) **व्यवहार या अभ्यास का सिद्धान्त** प्रभावपूर्ण शिक्षा प्राप्ति के लिये बारम्बार अभ्यास किये जाने पर बल देता है। (५) **पूर्ण बनाम आंशिक सिद्धान्त** के अनुसार इस बात को तय करना है कि क्या प्रशिक्षण सम्पूर्ण कार्य को सिखलाने के लिये दिया जाना चाहिये या केवल कार्य के आंशिक भागों के सम्पादन का ही शिक्षण दिया जाना चाहिये। यह कार्य की प्रकृति एवं कर्मचारी की योग्यता पर निर्भर करता है। (६) **वैयक्तिक भिन्नताओं का सिद्धान्त** इस बात पर जोर देता है कि प्रशिक्षण प्रदान करते समय कर्मचारियों में विद्यमान भिन्नताओं को ध्यान में रखा जाना चाहिये। ये भिन्नतायें शारीरिक, बौद्धिक, मानसिक एवं व्यवहार सम्बन्धी हो सकती हैं। कर्मचारियों की भिन्न-भिन्न अभिवृत्तियों को देखते हुये भिन्न-भिन्न प्रकार का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये।

प्रशिक्षण के लाभ
(Advantages of Training)

नियोजित प्रशिक्षण व्यवस्था किसी भी औद्योगिक इकाई की मूल्यवान सम्पत्ति है, क्योंकि इससे निम्नांकित लाभ प्राप्त होते हैं :—(i) पूर्ण प्रवीणता का अधिक गति से विकास होता है। (ii) उत्पादित माल की किस्म एवं मात्रा में सुधार होता है। (iii) सामग्री का अपेक्षाकृत कम अपव्यय होता है। (iv) मशीनों एवं औजारों का श्रेष्ठतम उपयोग सम्भव होता है। (v) पर्यवेक्षण की मात्रा एवं व्यय में कमी आती है। (vi) मशीनों एवं औजारों की कम हानि होती है। (vii) कर्मचारियों की अनुपस्थिति एवं काम-निकासी में कमी आती है। (viii) कर्मचारियों की कार्य-क्षमता में वृद्धि होती है। (ix) उत्पादन लागतों में कमी एवं कम्पनी के लाभों में वृद्धि होती है। (x) कर्मचारियों के मनोबल एवं व्यक्तित्व का विकास होता है। (xi) पदाधिकारियों के लिये अपने अधीनस्थों पर नियन्त्रण स्थापित करना सरल हो जाता है।

भारत में प्रबन्धकीय प्रशिक्षण का विकास
(Development of Management Training in India)

स्वतन्त्रता के पूर्व भारत में प्रबन्धकीय शिक्षा एवं प्रशिक्षण के प्रति लगभग पूर्ण अनभिज्ञता थी। इसे दिसम्बर सन् १९४८ में उस समय मान्यता मिली जबकि अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद् (All India Council for Technical Education) के सुझाव पर औद्योगिक प्रशासन एवं व्यवसाय प्रशासन संयुक्त मण्डल की स्थापना की गई। इस संयुक्त मण्डल ने अपनी सभा में दिनाङ्क २२ अप्रैल सन् १९४८ को निम्न आशय का एक प्रस्ताव पास किया—"उत्पादकीय एवं वितरण सम्बन्धी कार्य-विधि की क्षमता में सुधार करने से हमारे देशवासियों के सामान्य जीवन-स्तर में वृद्धि एवं उत्पादन वृद्धि की सर्वप्रमुख आवश्यकता को देखते हुए सभी क्षेत्रों में एवं सभी स्तरों पर विशिष्ट रूप से प्रबन्धकों की माँग है। हमें अधिक वैज्ञानिक एवं तकनीकियों की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि उन लोगों की है जो प्रशासन एवं सङ्गठन का कार्य कर सकें।" इस प्रस्ताव के स्वीकृत हो जाने के पश्चात् हमारी राष्ट्रीय सरकार ने भारत में प्रबन्ध की शिक्षा एवं प्रशिक्षण पर बल देना प्रारम्भ किया। परिणामस्वरूप केन्द्रीय सरकार ने सन् १९५४ में एक **'प्रबन्धकीय अध्ययन मण्डल'** (Board of Management Studies) की स्थापना की। इस मण्डल में उद्योग एवं व्यापार, तकनीकी संस्थाओं, पेशेवर सङ्गठनों, विश्वविद्यालयों तथा सरकार के प्रतिनिधि सम्मिलित किये गये। प्रस्तुत अध्ययन मण्डल का सबसे प्रमुख उद्देश्य भारत में प्रबन्धकीय शिक्षा तथा प्रशिक्षण का प्रसार करना है।

प्रबन्धकीय शिक्षा तथा प्रशिक्षण का विस्तार—

यह हर्ष का विषय है कि मंडल अनेक स्थानों पर प्रबन्ध की शिक्षा की व्यवस्था कराने में सफल हुआ है। औद्योगिक प्रबन्ध; व्यावसायिक प्रबन्ध तथा औद्योगिक इंजीनियरिङ्ग में स्नातकोत्तर प्रशिक्षण प्रदान कराने के लिये निम्न संस्थाओं में विभिन्न योजनायें चालू की गई हैं :—(१) इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी, खड़गपुर, (२) इन्स्टीट्यूट ऑफ बिजनैस मैनेजमेण्ट, कलकत्ता; () इन्स्टीट्यूट ऑफ बिजनैस मैनेजमेण्ट, अहमदाबाद; (४) बिड़ला इन्स्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी, पिलानी; (५) विक्टोरिया जुबिली टेक्नीकल इन्स्टीट्यूट, बम्बई; (६) इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स, बङ्गलौर; (७) व्यावसायिक प्रबन्ध विभाग, मद्रास विश्वविद्यालय; (८) व्यावसायिक प्रशासन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय; एवं (९) व्यावसायिक प्रशासन विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय।

उपरोक्त के अतिरिक्त पेशेवर सङ्गठनों, अखिल भारतीय तकनीकी शिक्षा परिषद्,

राष्ट्रीय उत्पादक परिषद् तथा कई शिक्षण संस्थाओं ने भी अपने यहाँ प्रबन्धकीय शिक्षा से सम्बन्धित प्रशिक्षण की व्यवस्था की है। निजी क्षेत्र के कुछ उत्साही उद्योगपतियों (जैसे—डी० सी० एम०, दिल्ली; हिन्दुस्तान लीवर्स आदि) ने भी अपने यहाँ प्रबन्धकीय प्रशिक्षण की व्यवस्था की है। भारत की चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में लगभग २½ लाख प्रबन्धकों की आवश्यकता का अनुमान लगाया गया है। इसके अतिरिक्त २ अप्रैल सन् १९७० के बाद प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के समाप्त होने के कारण भी भारी मात्रा में कुशल प्रबन्धकों की आवश्यकता है। इस माँग को पूरा करने के लिये प्रति वर्ष बड़ी सख्या में लोग विदेश जा रहे हैं, जिससे वे आवश्यक प्रशिक्षण प्राप्त करके देश की भावी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें। किन्तु यह देखा गया है कि जो लोग बाहर प्रबन्धकीय प्रशिक्षण प्राप्त करने हेतु जाते हैं वे उसकी प्राप्ति के उपरान्त वहाँ से लौट आने की अपेक्षा वहीं पर कार्य करना अधिक पसन्द करते हैं। उनकी इस प्रवृत्ति को हमें रोकना होगा। साथ ही भारत में विद्यमान प्रबन्धकीय प्रशिक्षण सुविधाओं का विस्तार करना होगा, क्योंकि वर्तमान सुविधायें देश की आवश्यकता की तुलना में अपर्याप्त हैं।

सार्वजनिक उपक्रमों में प्रबन्धकीय प्रशिक्षण की उपयोगिता
(Utility of Management Training in State Enterprises)

भारत में सार्वजनिक उपक्रमों का प्रबन्ध प्रशासकीय सेवाओं (I. A. S. & P. C. S.) के व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। इन व्यक्तियों को सभी क्षेत्रों के प्रबन्ध के लिये सर्वगुणसम्पन्न मान लिया गया है। उदाहरण के लिये, आज यदि एक प्रशासनिक अधिकारी (I. A. S. Officer) को किसी स्थान पर कलेक्टर के पद पर नियुक्त किया जाता है तो कुछ दिन पश्चात् उसी व्यक्ति को किसी सरकारी व्यावसायिक संस्थान में संचालक के पद पर नियुक्त कर दिया जाता है। यही नहीं, उसी व्यक्ति को बाद में सचिव के पद पर तथा शिक्षा संस्थानों में संचालक के पद पर भी नियुक्त कर दिया जाता है। अधिकांशतः इनकी नियुक्तियाँ राजनैतिक आधारों पर की जा रही हैं। इनकी योग्यता, अनुभव, पसन्द तथा कार्यकुशलता आदि का तनिक भी ध्यान नहीं रखा जाता है। भारतीय सरकारी औद्योगिक व्यावसायिक संस्थानों को इसका कटु अनुभव है। परिणाम यह निकलता है कि जो औद्योगिक एवं व्यावसायिक संस्थान पहले से लाभ पर चल रहे होते हैं वे धीरे-धीरे करके घाटे में चलने शुरू हो जाते हैं, और जो पहले से ही घाटे पर चल रहे थे उनके घाटे में तेजी से वृद्धि होने लग जाती है। प्रायः लोगों को यह कहते हुये सुना गया है कि अमुक उद्योग अथवा व्यावसायिक संस्थान सरकार के अधिकार में चले जाने से घाटे पर चल रहा है। यही नहीं, ऐसे संस्थानों में लाल-फीताशाही, तानाशाही तथा घुटाला आदि पनपता है। आखिर ऐसा क्यों ? प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि ऐसे लोगों को प्रबन्धकीय प्रशिक्षण का लेशमात्र भी ज्ञान नहीं होता जो कि उनकी असफलता का मूल कारण है। इस सम्बन्ध में हमारा यह मत है कि यह आवश्यक नहीं कि कुशल प्रशासक (जैसे--कलेक्टर) एक कुशल प्रबन्धक भी सिद्ध हो। चूँकि प्रशासन एवं प्रबन्ध इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है, अतएव कुशल प्रबन्धक बनने के लिये प्रबन्धकीय प्रशिक्षण प्राप्त करना होगा। अतएव आवश्यक है कि इन औद्योगिक एवं व्यावसायिक उपक्रमों को सफलतापूर्वक चलाने के लिये जिस वाणिज्य, व्यापार, उद्योग, विधान, प्राविधिक ज्ञान तथा प्रशासकीय क्षमता—अर्थात् जिस चतुर्मुखी प्रतिमा की आवश्यकता होती है वह इन प्रशिक्षित प्रबन्धकों के माध्यम से प्राप्त की जाय। ऊँचे वेतनों के आकर्षण तथा कार्य करने एवं स्वतन्त्र निर्णय लेने का सुअवसर देकर सरकार को प्रबन्धकीय संस्थानों (Management Institutes) से निकले स्नातकों को अवसर देना चाहिये और उनकी सेवा से लाभ उठाना चाहिये। निःसन्देह, ये प्रशिक्षित प्रबन्धक वर्तमान अधिकारियों से अधिक कुशल एवं सफल सिद्ध होंगे तथा सार्वजनिक उपक्रमों को लाभ पर संचालित कर सकेंगे। इससे न केवल भारत में प्रबन्धकीय

शिक्षा की आवश्यकता एवं उसके विकास की माँग को ही बल मिलेगा अपितु सरकार ऐसा करके निजी क्षेत्र के उद्योगों के लिये भी आदर्श स्थापित करेगी ।

निष्कर्ष—उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सार्वजनिक उपक्रमों को कुशलतापूर्वक चलाने के लिये प्रबन्धकीय प्रशिक्षण की नितान्त उपयोगिता है ।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के महत्त्व पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये । (मेरठ, १९७२)
Write a note on importance of Management Training.

२. श्रमिकों को प्रशिक्षण देने का क्या महत्त्व है ? प्रशिक्षण के विभिन्न रूपों एवं विधियों की विवेचना कीजिये । (आगरा, बी० कॉम० भाग २, १९७१)

३. भारत में प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के महत्त्व पर एक लेख लिखिये ।

४. प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के महत्त्व, उद्देश्य तथा भारत में इसके विकास पर प्रकाश डालिये ।

५. भारत में प्रबन्धकीय प्रशिक्षण का क्या महत्त्व है ? भारत के सरकारी उपक्रमों के लिये इसकी उपयोगिता की विवेचना कीजिये । (मेरठ, १९७०)

६. भारत में प्रबन्धकीय प्रशिक्षण पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये । (इन्दौर, १९७०)

७. भारत में प्रबन्ध विज्ञान की शिक्षा पर एक टिप्पणी लिखिये ।
(आगरा, बी० कॉम० भाग २, १९७०)

८. अब तक प्रबन्धकीय प्रशिक्षण के बारे में भारत में जो कुछ हुआ है उसे संक्षेप में समझाइये । (मेरठ, १९६९)

१२

भारतीय सूती वस्त्र तथा जूट उद्योगों का आधुनिकीकरण

(Modernisation of Indian Cotton Textile and Jute Industries)

प्रारम्भिक—आधुनिकीकरण शब्द की परिभाषा

सामान्यत: आधुनिकीकरण से आशय किसी कारखाने में पुरानी घिसी-पिटी मशीनों के स्थान पर आधुनिक मशीनों के लगाने से लगाया जाता है। इस प्रकार जब हम किसी कारखाने में पुरानी मशीनों के स्थान पर नई एवं आधुनिक मशीनों की स्थापना करते हैं, तो यह कहा जाता है कि उक्त कारखाने का आधुनिकीकरण कर लिया गया है। व्यापक दृष्टिकोण में, आधुनिकीकरण की योजना के अन्तर्गत नई मशीनों के लगाने के अतिरिक्त उन्नत तकनीकी ज्ञान, कुशल प्रबन्ध, प्रशिक्षित कर्मचारियों की नियुक्ति तथा कार्य करने की सुधरी हुई विधियों को भी सम्मिलित किया जाता है।

भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में आधुनिकीकरण का महत्त्व एवं आवश्यकता
(Need & Importance of Modernisation in Indian Cotton Textile Industry)

कहने को तो यह कहा जाता है कि सूती वस्त्र उद्योग भारत का सबसे बड़ा सङ्गठित उद्योग है। किन्तु वास्तविकता यह है कि आज उद्योग के समक्ष कई गम्भीर समस्यायें हैं, जिनके कारण चारों ओर से इसके पूर्ण आधुनिकीकरण की माँग की जा रही है। इसमें से प्रमुख समस्यायें निम्नलिखित हैं :—

(१) **स्वचालित करघों की कमी**—यद्यपि कपड़ा उत्पादन के क्षेत्र में विश्व में भारत का दूसरा स्थान है, किन्तु स्वचालित करघों की दृष्टि से अभी तक भारत बहुत पिछड़ा हुआ है, जोकि निम्न तालिका से स्पष्ट है :—

स्वचालित करघों का अनुपात

देश	कुल करघों का प्रतिशत स्वचालित करघे	
संयुक्त राज्य अमेरिका	१००	प्रतिशत
जापान	७७·४८	,,
ब्रिटेन	२०·२०	,,
पश्चिमी जर्मनी	३२·६०	,,
पाकिस्तान	५९·७०	,,
भारत	८·३०	,,

इस सम्बन्ध में श्री रामास्वामी मुदालियर के नेतृत्व में एक अध्ययन दल नियत किया गया था। इसको करीब ४५० मिलों में से १११ मिलों ने ही आवश्यक जानकारी भेजी थी। इस अध्ययन दल ने अपनी रिपोर्ट में कहा था कि मिलों के तकुओं व करघों के अभिनवीकरण के लिये ४९ करोड़ रुपये की आवश्यकता होगी।

(२) **पुरानी घिसी-पिटी मशीनों का होना**—भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में जो भी मशीनरी है वह लगभग ४५ वर्ष से भी अधिक पुरानी है, जिसकी उपयोगिता लगभग समाप्त हो चुकी है। ऐसी मशीनों के उपयोग से जहाँ एक ओर उत्पादन घटिया किस्म का होता है वहाँ दूसरी ओर उसकी लागत भी अधिक होती है। यह निर्यात सम्वर्द्धन आन्दोलन में भी सबसे बड़ी रुकावट है।

(३) **अनार्थिक इकाइयों का होना**—देश में लगभग १५० अनार्थिक छोटी-छोटी इकाइयाँ हैं, जोकि या तो उत्पादन बन्द कर चुकी हैं अथवा घाटे पर चल रही हैं। बन्द मिलों के सम्बन्ध में राष्ट्रीय श्रम आयोग के अध्ययन दल का सुझाव था कि (i) जिन मिलों में काफी पुरानी मशीनरी है तथा आधुनिकीकरण द्वारा उनका ठीक किया जाना सम्भव नहीं है उन्हें तुरन्त बन्द कर दिया जाना चाहिये। इन मिलों के स्थान पर नई मिलों की स्थापना की जानी चाहिये। (ii) जिन मिलों में आधुनिकीकरण सम्भव हो, उनमें शीघ्रातिशीघ्र आधुनिकीकरण किया जाना चाहिये।

(४) **अधिक लागत व्यय**—मशीनरी की खराब दशा में होने से लागत व्यय में भी वृद्धि होती है, जिसके कारण यह उद्योग पनप नहीं पाता है। श्रमिक लागत व्यय भी अपेक्षाकृत बहुत बढ़ जाता है।

(५) **प्रतिस्पर्धा की समस्या**—भारतीय सूती वस्त्र उद्योग को आज आन्तरिक व विदेशी दोनों बाजारों में कटु प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ रहा है। आन्तरिक बाजारों में इस उद्योग को टेरिलीन, नायलॉन, रेयन, हाथकरघा व खादी से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ रही है। विदेशों में इस उद्योग को जापान, चीन, हाँगकाँग व ब्रिटेन आदि देशों में निर्मित वस्त्रों से प्रतिस्पर्धा करनी पड़ रही है। इन देशों की वस्त्र मिलों में आधुनिक मशीनें लगी होने के कारण उनका उत्पादन व्यय कम होता है, जबकि वस्त्र की किस्म अच्छी होती है। यही कारण है कि भारतीय सूती वस्त्र के निर्यात दिनों-दिन कम होते चले जा रहे हैं।

(६) **माल की घटिया किस्म होना**—आज भारत में जो वस्त्र का उत्पादन होता है वह विदेशों की तुलना में घटिया किस्म का है। यदि हम चाहते हैं कि भारत में निर्मित वस्त्रों की किस्म में सुधार हो, तो आधुनिकीकरण की योजना को लागू करना होगा।

(७) **उद्योग के विकास में बाधा**—भारत में प्रति व्यक्ति कपड़े का उपभोग अन्य देशों की तुलना में बहुत कम है। इसके दो कारण हो सकते हैं :—(अ) जनता की गरीबी, तथा (ब) कपड़े की कीमत अधिक होना। अतएव यदि हम चाहते हैं कि कपड़े की उपभोग की मात्रा में वृद्धि हो, ताकि इस उद्योग को विकास करने का सुअवसर मिल सके, तो हमें उसके लिये आधुनिकीकरण की योजना को प्राथमिकता देनी होगी।

भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के आधुनिकीकरण की दिशा में उठाये गये कदम—

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारतीय सूती वस्त्र उद्योग में आधुनिकीकरण की तुरन्त आवश्यकता है। इस समस्या का समाधान करने के लिये निम्नलिखित कदम उठाये गये हैं :—

(१) स्वचालित करघों की स्थापना पर बल दिया जा रहा है। औसतन प्रति वर्ष लगभग १,००० नये स्वचालित करघे लगाये जाते हैं। तृतीय योजना में २५,००० नये स्वचालित करघे लगाये जाने की अनुमति दी गई थी।

(२) नये तकुओं के लगाये जाने पर बल दिया जा रहा है। तृतीय योजना में ४० लाख नये तकुये लगाये जाने की अनुमति दी गई।

(३) अनेक मिलों में प्रबन्ध की आधुनिक विधियों को अपनाया गया है, जिससे उत्पादकता में वृद्धि हुई है तथा उत्पादित माल की किस्म में पर्याप्त सुधार हुआ है।

(४) कर्मचारियों के प्रशिक्षण पर बल दिया जा रहा है। हिन्दुस्तान मशीन औजार प्रशिक्षण केन्द्र इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान कर रहा है।

(५) गत कुछ वर्षों में पर्याप्त मात्रा में सहकारी मिलों की स्थापना की गई है।

(६) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम ने सूती वस्त्र ऋण परामर्श समिति (Cotton Textiles Loans Advisory Committee) की स्थापना की थी। इस समिति ने उद्योग के आधुनिकीकरण के लिए कम ब्याज पर ऋण देना प्रारम्भ कर दिया है। ये ऋण १५ वार्षिक किस्तों में चुकाने होते हैं।

(७) **जोशी कार्यशील दल की रिपोर्ट** (Joshi Working Group Report)—अगस्त सन् १९५९ में राष्ट्रीय औद्योगिक विकास समिति ने सूती वस्त्र उद्योग में पूर्ण आधुनिकीकरण के उपाय सुझाने के लिए, तत्कालीन टैक्सटाइल कमिश्नर श्री डी० एस० जोशी की अध्यक्षता में एक कार्यशील दल की नियुक्ति की। इस दल ने देश व विदेश के विभिन्न सूती वस्त्र-उत्पादक केन्द्रों का भ्रमण करने के पश्चात् मई सन् १९६० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसे भारत सरकार ने सन् १९६१ में स्वीकार कर लिया। सुविधा की दृष्टि से समिति के सुझावों को मुख्य रूप से निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) **अनार्थिक इकाइयाँ** (Uneconomic Units)—सन् १९६० में २९ सूती वस्त्र मिलें अनार्थिक होने के कारण बन्द थीं। दल ने इनमें से २० मिलों को बन्द करने का तथा शेष १९ का पुनर्स्थापन करके पुनः चालू करने का सुझाव दिया।

(२) **वित्त** (Finance)—सूती वस्त्र उद्योग के आधुनिकीकरण तथा पुनर्स्थापन हेतु १८० करोड़ रु० की आवश्यकता होगी, जिसमें उद्योग कम से कम ८० करोड़ रुपये अपने निजी साधनों से जुटा सकेगा। दल ने यह सुझाव दिया कि शेष धनराशि राष्ट्रीय औद्योगिक विकास समिति तथा अन्य सार्वजनिक वित्तीय संस्थाओं से प्राप्त की जानी चाहिए।

(३) **नई मशीनरी** (New Machinery)—टेक्सटाइल्स कमिश्नर के कार्यालय में 'मशीनरी जाँच समिति' (Inspectorate of Machinery) की स्थापना की जाय। इसके अतिरिक्त आवश्यक वस्त्र मशीनरी का देश में निर्माण करने के लिए भरसक प्रयत्न किये जायें। इसके लिए आवश्यक मात्रा में विदेशी विनिमय भी उपलब्ध कराया जाना चाहिए।

(४) **पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण सङ्गठन** (Rehabilitation and Modernization Organisation)—उद्योग की आधुनिकीकरण की समस्याओं को सुलझाने के लिए एक 'सूती वस्त्र उद्योग पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण सङ्गठन' स्थापित किया जाय।

(५) **उद्योग द्वारा सामूहिक प्रयत्न** (Joint Action by Industry)—विवेकीकरण की विभिन्न योजनाओं को उद्योग को श्रमिकों के सहयोग से स्वयं ही लागू करना चाहिए। प्रबन्ध व्यवस्था में सुधार तथा तकनीकी ज्ञान की वृद्धि पर बल दिया जाना चाहिए।

(६) **नवीन इकाइयाँ** (New Units)—प्रयोगात्मक दृष्टि से पूर्णतः आधुनिक मशीनों से परिपूर्ण नवीन इकाइयाँ स्थापित की जानी चाहिए। प्रत्येक में २५,००० तकुए और ५०० स्वयं संचालित करघे होने चाहिए। इनमें निर्मित माल निर्यात किया जाना चाहिए।

(७) **राष्ट्रीय वस्त्र निगम की स्थापना**—अप्रैल, १९६८ को भारत सरकार ने भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत राष्ट्रीय वस्त्र निगम (The National Textiles Corpo-

ration) की स्थापना की। इसकी प्रारम्भिक अधिकृत पूँजी १० करोड़ रु० है। इस निगम की स्थापना के निम्न उद्देश्य हैं :—(अ) केन्द्रीय सरकार जिन मिलों का प्रबन्ध इस निगम को सौंपे, उन्हें चलाना। (ब) नवीन वस्त्र मिलों की स्थापना करना एवं उन्हें चलाना। (स) विभिन्न प्रकार के धागों का निर्माण करना। (द) वस्त्र व्यवसाय में लगी किसी कम्पनी, फर्म अथवा व्यक्ति के साथ साझेदारी करना।

भारतीय जूट उद्योग का आधुनिकीकरण
(Modernisation of Indian Jute Industry)

भारतीय जूट-उद्योग में आधुनिकीकरण की आवश्यकता—

जूट उद्योग भारत का एक महत्त्वपूर्ण सङ्गठित उद्योग है। सन् १९६४ में इस उद्योग से १७० करोड़ रु० की विदेशी मुद्रा अर्जित की गई, जोकि कुल निर्यात का लगभग २१% थी। इतना होते हुए भी आज यह उद्योग संकट में है तथा इसमें आधुनिकीकरण की कई वर्षों से माँग की जा रही है। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) **घिसी-पिटी मशीनों का होना**—भारतीय जूट उद्योग में लगी हुई अधिकांश मशीनें पुरानी, घिसी-पिटी एवं अप्रचलित हैं। इसके विपरीत दूसरे देशों में जूट उद्योग को नये यन्त्रों से सुसज्जित किया गया है।

(२) **प्रतिस्पर्धा**—जूट उद्योग को विदेशी प्रतिस्पर्धा का भी सामना करना पड़ता है। जूट के उपभोक्ता देश अपने यहाँ स्वयं इस उद्योग का विकास कर रहे हैं, ताकि आत्म-निर्भरता प्राप्त कर सकें। अतः इन देशों में जूट उद्योग के विकास के कारण भारतीय जूट की माँग कम हो रही है। इण्डियन जूट मिल्स एसोसिएशन ने पाकिस्तान की प्रतिस्पर्धा को बहुत खतरनाक बताते हुए कहा है कि पाकिस्तान में जहाँ जूट की किस्म अच्छी होती है, वहाँ निर्यात पर मिलने वाले बोनस की स्कीम (१५० रु० प्रति टन) भी उसके निर्यात व्यापार को बढ़ा रही है। इन सुविधाओं के कारण पाकिस्तान का उत्पादन व्यय ३००-४०० रुपया प्रति टन कम हो रहा है। पाकिस्तान सरकार १०% और अधिक सहायता देने की योजना पर विचार कर रही है। यदि पाकिस्तान की योजना पर अमल किया गया तो आगामी २ वर्षों में वहाँ का उत्पादन २०% बढ़ जायेगा। इसके अतिरिक्त bulk handling की पद्धति भी, जो यूरोपीय देशों द्वारा अपनाई जा रही है, इस उद्योग के लिए प्रतिस्पर्धा का कार्य कर रही है। अतः यह आवश्यक है कि भारत सरकार भी जूट उद्योग को अधिक से अधिक प्रोत्साहन दे, ताकि विदेशी प्रतिस्पर्धा से संघर्ष किया जा सके।

(३) **स्थानापन्न वस्तुओं का भय**—पश्चिमी देशों में जूट की पूरक वस्तुओं का प्रयोग प्रारम्भ हो गया है। एक समाचार के अनुसार अमेरिका में जूट का एक नया स्थानापन्न पदार्थ तैयार किया गया है। यह जूट से अधिक सस्ता तथा मजबूत है। यह पेट्रो-केमिकल के तन्तुओं से बनाया जाता है। इसे बुनने की आवश्यकता नहीं है जिसे पीट-पीट कर इसको नमदा सा बना लेते हैं। जूट के गलीचों से भी यह सुन्दर, कलापूर्ण और मजबूत बनता है। इस पदार्थ का निर्माण अब व्यापारिक स्तर पर भी होने लगा है। यह पदार्थ हमारे जूट निर्यात व्यापार को बहुत नुकसान पहुँचायेगा। इसलिए हमें जूट के उद्योग में क्रान्तिकारी परिवर्तन करना होगा और उसका उत्पादन व्यय यथासम्भव कम करना होगा।

(४) **अनार्थिक इकाइयों का होना**—इस समय कुछ जूट मिलों को छोड़कर अन्य सभी जूट मिलें घाटे पर चल रही हैं। उन्हें आर्थिक बनाने के लिए आधुनिकीकरण की तुरन्त आवश्यकता है।

भारतीय जूट उद्योग के आधुनिकीकरण की दिशा में उठाये गये कदम—

(१) **सरकार द्वारा आर्थिक सहायता**—पिछले १० वर्षों में इस उद्योग के आधुनिकीकरण पर ५० करोड़ रुपये खर्च किये जा चुके हैं। ४० लाख रुपये की लागत से एक आदर्श संयन्त्र (Pilot Plant) की स्थापना की गई है। अनुमान है कि अगले चार वर्षों में इस उद्योग के आधुनिकीकरण के लिये ४० करोड़ रुपये की अतिरिक्त आवश्यकता होगी। सरकार ने सन् १९६८-६९ में इस उद्योग को ५ करोड़ रुपये की सहायता दी है।

(२) **मशीनों का आयात व निर्माण**—आधुनिक मशीनों की कमी को दूर करने के लिये सरकार ने पिछले कुछ वर्षों में जूट मिलों की मशीनों का आयात करने के लिये लाइसेन्स दिये तथा देश में भी जूट मिलों में काम में आने वाली मशीनों का निर्माण प्रारम्भ किया। अब तक ९०% श्रेष्ठ कताई तथा १००% सामान्य कताई की मशीनों में आधुनिक ढङ्ग के नये तकुये लगाये जा चुके हैं।

(३) **तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जूट उद्योग**—तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जूट निर्मित वस्तुओं का उत्पादन लक्ष्य १३ लाख टन निर्धारित किया गया था, जो योजना के मध्य में अर्थात् १९६३-६४ में ही पूरा हो गया। इसकी किस्म सुधार की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया। जूट की खेती में आधुनिक तरीकों को काम में लाकर इसकी प्रति एकड़ उपज में वृद्धि तथा उत्पादन-व्यय में कमी करने का प्रयत्न किया गया। इसके अतिरिक्त इस योजना के अन्तर्गत शेष बचे हुये २०% जूट मिलों में भी आधुनिकीकरण की योजनायें लागू करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। अब तक उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राय: सभी जूट मिलों में आधुनिकीकरण योजनायें लागू की जा चुकी हैं।

(४) **ऋण दिया जाना**—राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (National Industrial Development Corporation) द्वारा जूट मिलों के आधुनिकीकरण के लिये ऋण मंजूर किये जा रहे हैं। आधुनिकीकरण की गति तेज करने के लिये निगम ने किस्तों पर मशीनें खरीदने की एक और योजना प्रारम्भ की है।

(५) **चतुर्थ योजना में महत्त्व**—भारतीय जूट उद्योग राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व का उद्योग है। अतएव भारत की चतुर्थ योजना में कच्चे जूट के उत्पादन में वृद्धि करने, मशीनों का आधुनिकीकरण करने तथा निर्यात में वृद्धि करने हेतु विशेष प्रावधान किये गये। चतुर्थ योजना के अन्तर्गत कच्चे जूट का उत्पादन लक्ष्य ७४ लाख गाँठें तथा जूट निर्मित माल का उत्पादन लक्ष्य १५ लाख टन निर्धारित किया गया था। सन् १९७१-७२ में कच्चे जूट का उत्पादन ६३ लाख गाँठें तथा जूट निर्मित माल का उत्पादन ११·२९ लाख टन था। इसी वर्ष में (१९७१-७२ में) भारत ने २१४·४ करोड़ रु० के जूट के माल का निर्यात किया।

चतुर्थ योजना में जूट उद्योग के आधुनिकीकरण पर विशेष रूप में जोर दिया गया। अब तक लगभग ९० प्रतिशत तकुओं व करघों को बदला जा चुका है। आशा है कि जूट उद्योग के आधुनिकीकरण का शेष कार्य पाँचवीं योजना में पूर्ण हो जायगा।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. उद्योग के अभिनवीकरण का अर्थ समझाइये। भारत के जूट उद्योग के अभिनवीकरण की समस्यायें क्या हैं? (कानपुर, १९७०)

Explain the meaning of modernisation of industry. What are the problems involved in the modernisation of Jute Industry in India ?

२. भारत में सूती वस्त्र उद्योग के आधुनिकीकरण का महत्त्व बताइये। इस मार्ग में क्या कठिनाइयाँ हैं और उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ? (आगरा, १९६६; एवं १९६८)
Explain the importance of modernising the Cotton Textile Industry in India. What are the difficulties in the path of modernisation and how they can be removed ?

३. आधुनिकीकरण किसे कहते हैं ? भारतीय जूट उद्योग के आधुनिकीकरण की आवश्यकता तथा इस दिशा में की गई प्रगति की विवेचना कीजिये।

४. जूट उद्योग के आधुनिकीकरण पर एक टिप्पणी लिखिये। (आगरा, १९६९)

१३

पर्यवेक्षण
(Supervision)

प्रारम्भिक—पर्यवेक्षण से आशय

वह कर्मचारी जो कि अन्य कर्मचारियों द्वारा काम कराता है एवं यह देखता है कि काम सन्तोषजनक ढङ्ग से हो रहा है या नहीं, 'पर्यवेक्षक' कहलाता है। पर्यवेक्षक श्रमिकों के काम करने में नेतृत्व एवं मार्गदर्शन करते हैं तथा ठीक प्रकार से काम करने के लिये आवश्यक निर्देशन भी देते हैं। **वाइटल्स** (Viteles) के अनुसार, "पर्यवेक्षण से आशय किसी कार्य के निष्पादन में कार्य करने वाले कर्मचारियों को प्रत्यक्ष एवं तुरन्त परामर्श दिये जाने एवं उन पर नियन्त्रण स्थापित करने से है।"[1] पर्यवेक्षक द्वारा किया जाने वाला यह कार्य 'पर्यवेक्षण' कहलाता है। पर्यवेक्षक वर्ग में सभी स्तर के फोरमन, जूनियर कार्यकारी, मध्यम-प्रबन्ध तक के सभी कार्यकारी व्यक्ति सम्मिलित होते हैं।

पर्यवेक्षण के प्रकार
(Types of Supervision)

प्रबन्ध विज्ञान विशेषज्ञ मैसर्स राल्फ और लिपिट (Ralph and Lippitt) ने पर्यवेक्षण को निम्न तीन भागों में विभक्त किया है :—(१) प्रजातान्त्रिक पर्यवेक्षण (Democratic Supervision), (२) स्वतन्त्र पर्यवेक्षण, तथा (३) अधिकारात्मक पर्यवेक्षण (Authoritarian Supervision)।

(१) **प्रजातान्त्रिक पर्यवेक्षण** (Democratic Supervision)—प्रजातान्त्रिक पर्यवेक्षण के अन्तर्गत प्रजातन्त्र के विशुद्ध सिद्धान्तों का पालन किया जाता है। इसकी प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं :—(i) इसके अन्तर्गत पर्यवेक्षक अपने अधीनस्थों को उत्साहित करता है, आवश्यक प्रेरणा प्रदान करता है तथा उनके साथ समानता का व्यवहार करता है। कार्य की पद्धति तथा नीति निर्धारण में अधीनस्थों का परामर्श लिया जाता है तथा सारा कार्य पारस्परिक परामर्श एवं विचार-विनिमय के आधार पर किया जाता है। (ii) कार्य के वितरण के सम्बन्ध में कर्मचारियों को इस बात की पूरी छूट रहती है कि वे चाहे जिस सहयोगी के साथ कार्य करें। दूसरे शब्दों में, कार्य करने वाले कर्मचारियों को अपने सहयोगियों का चुनाव करने में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। (iii) पर्यवेक्षक दो या दो से अधिक कार्य-विधियों को कर्मचारियों के सम्मुख रखता है, जिनमें से वे किसी एक को चुनने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र हैं। (iv) इसमें शुरू से अन्त तक मानवीय सम्बन्धों का पूरा ध्यान रखा जाता है।

(२) **स्वतन्त्र पर्यवेक्षण** (Independent Supervision)—इस प्रकार के पर्यवेक्षण

---

1 "Supervision refers to the direct and immediate guidance and control of subordinates in this performance of their taste."—Viteles

में अधीनस्थों को पारस्परिक विवादों के सुलझाने के लिये स्वतन्त्रता रहती है। ऐसे विवादों के निपटारे में पर्यवेक्षक को मध्यस्थ बनाया जाता है।

(३) **अधिकारात्मक पर्यवेक्षण** (Authoritarian Supervision)—इस प्रकार के निरीक्षण में पर्यवेक्षक को विस्तृत अधिकार प्रदान किये जाते हैं। अधीनस्थों को तो केवल आदेश ही दिया जाता है, जिसका पालन करना उनके लिये अनिवार्य होता है। नीति-निर्धारण आदि का समस्त कार्य वह स्वयं ही करता है। पर्यवेक्षण की क्रिया के किसी भी स्तर पर अधीनस्थों से परामर्श करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

व्यावसायिक प्रबन्ध में प्रभावी पर्यवेक्षण का महत्त्व

एक समय था जबकि पर्यवेक्षक को 'चालक' अथवा 'जंगली सांड' कहा जाता था। उच्च प्रबन्ध द्वारा इसकी उपेक्षा की जाती थी। किन्तु आज व्यावसायिक प्रबन्ध के क्षेत्र में इसका भारी महत्त्व अनुभव किया जाने लगा है। पर्यवेक्षक प्रतिदिन श्रमिकों के प्रत्यक्ष सम्पर्क में आता है, उन्हें आदेश तथा निर्देश देता है, उनकी समस्याओं को समझने तथा हल करने का प्रयत्न करता है। उच्च-प्रबन्ध के आदेशों को उन तक पहुँचाता है तथा निर्धारित कार्यक्रम के अनुसार उनसे काम कराता है। इस प्रकार वह 'श्रमिकों का मित्र, दार्शनिक एवं मार्गदर्शक' (Friend Philosopher and Guide) होता है। श्रमिकों की कुशलता बहुत कुछ हद तक उसकी स्वयं की कुशलता पर निर्भर करती है। वह श्रम-पूंजी के मध्य मधुर सम्बन्ध बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है। जोजेफ टिफिन तथा अर्नेस्ट जेमेक कार्मिक के अनुसार—"स्वस्थ मानवीय सम्बन्धों के विकास में पर्यवेक्षक को सामान्यतः आधारशिला के रूप में मान्यता प्रदान की जाती है। अपने अधीनस्थों (Subordinates) में वह संगठन का प्रतिनिधित्त्व करता है। उसका व्यक्तित्त्व तथा व्यवहार उन व्यक्तियों के, जिनका वह पर्यवेक्षण करता है, दृष्टिकोण एवं व्यवहार पर प्रभाव डालते हैं। उनकी संगठन के प्रति प्रतिक्रिया में, पर्यवेक्षक के प्रति उनकी प्रतिक्रिया की बू (Elavour) आयेगी, चाहे वह अच्छी हो अथवा बुरी।" इस प्रकार व्यावसायिक प्रबन्ध की प्रत्येक सीढ़ी में प्रभावी पर्यवेक्षण का भारी महत्त्व होता है। व्यावसायिक प्रबन्ध की सफलता बहुत कुछ अंशों तक श्रमिकों पर निर्भर करती है और श्रमिकों से काम लेने की सफलता प्रभावी पर्यवेक्षण पर निर्भर करती है।

पर्यवेक्षणात्मक तकनीक
(Supervisory Technique)

पर्यवेक्षणात्मक तकनीक निम्न होती हैं—(१) परामर्शात्मक तकनीक (Consultative Technique), (२) निरंकुशता की तकनीक (Autocratic Technique), एवं (३) खुली छूट की तकनीक (Free Rein Technique)।

(१) **परामर्शात्मक तकनीक** (Consultative Technique)—पर्यवेक्षण की यह तकनीक प्रजातान्त्रिक सिद्धान्तों पर आधारित है। परामर्शात्मक तकनीक का आशय है कि उपक्रम सम्बन्धी सभी महत्त्वपूर्ण बातों पर कर्मचारियों का परामर्श लिया जाय। इस प्रकार परामर्शात्मक तकनीक का उद्देश्य उपक्रम की समस्याओं के सम्बन्ध में कर्मचारियों को सुझाव देने के लिये अवसर प्रदान करना है। यदि उनके द्वारा दिया गया कोई सुझाव उपयोगी हो तो उसे मान भी लिया जाता है। अतएव इसमें यह आवश्यक नहीं है कि प्रत्येक सुझाव को आवश्यक रूप से मान ही लिया जाय। इस तकनीक के लागू किये जाने से कर्मचारी अपने महत्त्व को समझने लगते हैं और यह अनुभव करते हैं कि पर्यवेक्षक उनके विकास, साख वृद्धि एवं प्रगति में सहायक हैं, बाधक नहीं। इस तकनीक में अधिक बल प्रबन्धक के प्रजातन्त्रीय व्यवहार पर दिया जाता है।

उसकी कर्मचारियों को विभागीय योजनाओं में भाग लेने देने तथा संयुक्त कार्यवाही के प्रति ईमानदारी पर इस तकनीक की सफलता निर्भर करती है। इस तकनीक में विभिन्न स्तरों पर कर्मचारियों तथा उनकी क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने तथा अन्य कार्यों के लिये औपचारिक सम्मेलन आयोजित किये जाते हैं।

(२) **निरंकुशता की तकनीक** (Autocratic Technique)—निरंकुशता की तकनीक के अन्तर्गत समस्त अधिकार पर्यवेक्षक के पास केन्द्रित रहते हैं तथा वह निश्चित आदेश देता है, जिनका कि कठोरता से पालन होता है। वह अपने अधीन कर्मचारियों की समस्त क्रियाओं पर पूर्ण नियन्त्रण रखता है। इस तकनीक के अपनाने का कारण यह है कि कुछ पर्यवेक्षकों का यह मत है कि अपने अधीन कर्मचारियों पर अधिक विश्वास नहीं किया जा सकता है तथा वे स्वयं ठीक काम नहीं कर सकते हैं। उनके लिये कठोर पर्यवेक्षण की आवश्यकता होती है। सामान्यतया इस तकनीक का उपयोग कम ही होता है। कठिन परिस्थितियों में या अपने अधीन कर्मचारियों में आवश्यक योग्यता के अभाव की दशा में इस तकनीक को अपनाना आवश्यक हो सकता है।

(३) **खुली छूट की तकनीक** (Free Rein-Technique)—यह तकनीक निरंकुशता की तकनीक के ठीक विपरीत है। इसमें कर्मचारियों को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने का अवसर देकर उनकी छुपी योग्यताओं को विकसित करने का प्रयत्न किया जाता है। इसमें पर्यवेक्षक नीति, विधि एवं कार्यक्रम की सीमायें स्पष्ट कर देता है और फिर कर्मचारियों को कार्य करने की पूर्ण स्वतन्त्रता देता है। वह केवल सामान्य मार्ग-प्रदर्शन (General guidance) का ही कार्य करता है। भविष्य में प्रबन्धकों के निर्माण के लिए यह तकनीक बहुत ही प्रभावी है। यह तकनीक तभी सफल हो सकती है जबकि अधिकारों के हस्तान्तरण की स्वेच्छा हो, बाधाहीन पर्यवेक्षण हो, खुला संवाद-वाहन हो तथा पिछले निर्णयों का विश्लेषण हो।

पर्यवेक्षक के गुण
(Qualities of a Supervisor)

पर्यवेक्षक किसी औद्योगिक एवं व्यावसायिक उपक्रम का एक आधारभूत स्तम्भ होता है। उसका प्रमुख उत्तरदायित्व कर्मचारियों के कार्य की देखभाल करना तथा न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन कराना होता है। वह उच्च प्रबन्धकों के प्रति तो उत्तरदायी होता ही है, किन्तु कुछ रूप में वह कर्मचारियों, श्रम-संघों तथा सरकार के प्रति भी उत्तरदायी होता है। अतएव अपने उत्तरदायित्व को निभाने के लिये उसे अपना कार्य अत्यन्त सावधानी के साथ करना पड़ता है। इसके लिये उसमें विशिष्ट गुणों का होना आवश्यक है। "उसमें घोड़ा गाड़ी किराये पर देने वाले का सा धैर्य, गेंडे की सी खाल, लोमड़ी जैसी चतुराई, शेर जैसा साहस, चिमगादड़ जैसा अन्धापन होना चाहिये। उसे सभी का ज्ञान हो, सभी को देखता हो, कुछ कहना न हो, किन्तु हर समस्या को सुलझा लेता हो।" अपने कार्य में सफलता पाने के लिये पर्यवेक्षक में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है :—

(१) **पर्यवेक्षण की तकनीकों का ज्ञान**—पर्यवेक्षक को पर्यवेक्षण की तीनों तकनीकों, अर्थात् (i) परामर्शात्मक तकनीक, (ii) निरंकुशता की तकनीक, तथा (iii) खुली छूट की तकनीक का विस्तृत ज्ञान होना चाहिये। उसे केवल एक तकनीक पर ही निर्भर नहीं रहना चाहिये, अपितु परिस्थिति के अनुसार तकनीक का उपयोग किया जाना चाहिये। साथ ही परिस्थितियों के अनुसार तकनीकों में आवश्यक परिवर्तन भी करते रहना चाहिये।

(२) **प्रशासनिक कुशलता**—पर्यवेक्षक को अपने अधीनस्थ कर्मचारियों को आदेश देने पड़ते हैं, काम करने की योजना तैयार करनी पड़ती है, उसके अनुसार कर्मचारियों से काम लेना

पड़ता है तथा उन पर नियन्त्रण भी स्थापित करना होता है। इस सम्बन्ध में तनिक-सी चूक किये जाने पर गम्भीर परिणाम निकल सकते हैं। अतएव उसमें पर्यवेक्षण की तकनीकों के ज्ञान के अतिरिक्त प्रशासनिक कुशलता भी होनी चाहिये। प्रशासनिक कुशलता में निम्न बातों को सम्मिलित किया जाता है—(i) व्यवहार कुशलता, (ii) अनुशासन की व्यवस्था, (iii) आदेशों की स्पष्टता एवं अनुकूलता, (iv) नियन्त्रण स्थापित करने की क्षमता, (v) अधीनस्थों की सम्पूर्ण योग्यता का लाभ उठाने की कला, (vi) अधीनस्थों में उत्पन्न होने वाले असन्तोष को दूर करने की योग्यता, तथा (vii) कार्य के सम्पादन में अधीनस्थों का सहयोग प्राप्त करने की कला आदि।

(३) **अधीनस्थों (Subordinates) की क्षमता को समझने तथा विकास करने की योग्यता**—पर्यवेक्षक के बारे यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'हीन' पर्यवेक्षक वस्तुओं के बारे में ध्यान रखता है तथा 'श्रेष्ठ' पर्यवेक्षक व्यक्तियों के बारे में ध्यान रखता है। किन्तु हमारी सम्मति में तो श्रेष्ठतम पर्यवेक्षक वही है, जोकि व्यक्तियों तथा वस्तुओं दोनों के बारे में ध्यान रखता हो। परन्तु इन दोनों में से प्राथमिकता व्यक्तियों को मिलनी चाहिये। पर्यवेक्षक में अपने अधीनस्थ कर्मचारियों की क्षमता को समझने तथा उसका विकास करने की योग्यता होनी चाहिये, ताकि उपक्रम के हित में उसका अधिकतम उपयोग किया जाना सम्भव हो। श्रम एक मानवीय शक्ति है, अतएव उसके साथ मानवीय ढङ्ग का ही व्यवहार किया जाना चाहिये। ऐसा व्यक्ति जो श्रमिकों को केवल एक मशीन के पुर्जे की भाँति ही समझता है, जरा-सी बात पर नाराज होकर फटकारने लग जाता है तथा कर्मचारियों में सदैव कमी की ही तलाश करता रहता है, कभी भी सफल पर्यवेक्षक नहीं बन सकता।

(४) **सामाजिक संवेदनशीलता (Social Sensitibility)**—सामाजिक संवेदनशीलता से आशय विभिन्न व्यक्तियों के गुणों, आदतों एवं स्वभावों को समझने की योग्यता से है। एक अच्छे पर्यवेक्षक में इस गुण का होना नितान्त आवश्यक है। इसके आधार पर पर्यवेक्षक अधीनस्थ कर्मचारियों से उनके गुणों, आदतों एवं स्वभाव के अनुरूप ही व्यवहार करता है एवं काम लेता है।

(५) **निष्पक्षता**—पर्यवेक्षक को पूर्णतया निष्पक्ष होना चाहिये, अर्थात् उसे विभिन्न कर्मचारियों के मध्य भेदभाव नहीं करना चाहिये। यदि वह ऐसा करेगा तो अपने कार्य में कभी भी सफलता प्राप्त नहीं कर सकेगा। इसके विपरीत कर्मचारी उसके विरुद्ध विद्रोह कर देंगे।

(६) **दलीय भावना (Team Spirit) से काम लेने की क्षमता**—पर्यवेक्षक को किसी विशिष्ट कर्मचारी से काम नहीं लेना होता, अपितु कर्मचारियों के एक पूरे समूह से काम लेना होता है। यह तभी सम्भव है जबकि उसमें दलीय भावना से काम लेने की क्षमता हो। इसका अर्थ यह है कि उसे कर्मचारियों के मध्य मिल-जुल करके काम करने की भावना को प्रोत्साहित करना चाहिये। मिल-जुल कर कार्य करने से कठिन कार्य भी सफल बन जाता है। इसके अभाव में सरल से सरल कार्य भी जटिल बन जाता है। उसे अपने कर्मचारियों के मन में यह बात सदा के लिये बिठा देनी चाहिये कि दलीय भावना के बिना कार्य में सफलता की कल्पना करना व्यर्थ होगा। कर्मचारियों के आपसी विवादों को तुरन्त निपटाना चाहिये। समय-समय पर उनके मध्य बैठकर उनकी समस्याओं को सुनना चाहिये तथा हल करने का प्रयत्न चाहिये।

संयुक्त राज्य अमेरिका की पुस्तिका के आधार पर—

संयुक्त राज्य अमेरिका के वाणिज्य संकाय द्वारा प्रकाशित पुस्तिका "What a Company should expect of its Supervisors" में निरीक्षक के निम्नलिखित गुणों पर बल दिया गया है :—(१) उच्च स्तरीय स्वामिभक्तिता, (२) अपने कार्य के प्रति रुचि, (३) कार्यारम्भ करने

की उच्च स्तरीय भावना, (४) स्वच्छ व्यक्तित्व, (५) अपना समय निरीक्षण कार्य में लगाना, (६) अपने विभाग के लिये श्रेष्ठ उदाहरण प्रस्तुत करना, (७) अपने विभाग के कार्य का निर्देशन करना, (८) कर्मचारियों को प्रशिक्षित करना, (९) रिकार्ड रखना व जानकारी देना, (१०) प्रत्येक कर्मचारी को उचित काम सौंपना, (११) अपने पदाधिकारियों को सूचित करते रहना, (१२) विभागीय शिकायतों को दूर करना, (१३) कर्मचारियों के साथ मनुष्य का सा बर्ताव करना, (१४) कर्मचारियों को अपने विचारों को प्रयोग में लाने के अवसर देना, (१५) तत्काल कार्य करना, तथा (१६) कर्मचारियों को जानकारी देते रहना आदि हैं।

UNIVERSITY QUESTIONS ;

१. पर्यवेक्षक किसे कहते हैं ? व्यावसायिक प्रबन्ध में प्रभावी पर्यवेक्षण का महत्त्व बताइये।

२. व्यावसायिक प्रबन्ध में प्रभावी पर्यवेक्षण के महत्त्व का विवेचन तथा मुख्य पर्यवेक्षणात्मक तकनीकों का वर्णन कीजिये।

३. सफल पर्यवेक्षक बनने के लिये किन-किन बातों का होना आवश्यक है ? विवेचना कीजिये।

१

संयोग अथवा संयोजन-आन्दोलन

(Combination Movement)

प्रारम्भिक—संयोग का उद्‌गम क्यों और कैसे ?

१८वीं शताब्दी के अन्त में इङ्गलैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् इङ्गलैण्ड एवं विश्व के अनेक राष्ट्रों में पूँजीवाद का बोलबाला हो गया। यह "स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा" तथा "मुक्त व्यापार" *(Laissez Faire)* के सिद्धान्तों पर आधारित था। ये ही सिद्धान्त निर्बाध (Non-intervention) रूप से अठारहवीं शताब्दी तथा १९वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक चलते रहे। इन सिद्धान्तों के आधार पर व्यवसाय तथा उद्योगों में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप पसन्द नहीं किया जाता था। उद्योगों में तथा व्यवसाय में प्रतियोगिता का द्वार सभी के लिये खुला हुआ था। ऐसा विचार किया जाता था कि प्रतिस्पर्धा की प्रवृत्ति प्रतियोगी व्यवसायियों को उत्पादन में अधिक से अधिक मितव्ययिता लाने के लिये प्रोत्साहित करेगी। इसके अतिरिक्त मुक्त व्यापार नीति (Free Trade Policy) के आधार पर यह आशा की जाती थी कि माँग, पूर्ति, मूल्य, वेतन, लाभ आदि का निर्धारण उचित रूप से हो सकेगा, परन्तु शीघ्र ही उपर्युक्त नीति के दुष्परिणाम दिखाई देने लगे। यह प्रतिस्पर्धा धीरे-धीरे ऐसी विषम स्थितियों में पहुँचने लगी कि कमजोरों का गला निरर्थक ही काटा जाने लगा। ऐसा मालूम होने लगा कि जो उद्योगपति औद्योगिक दौड़ में आगे बढ़ चुके हैं वही सफल हो सकते हैं और जो पीछे रह गये हैं उन्हें पुन: अपना सिर उठाने अर्थात पनपने का अवसर नहीं दिया जायेगा। गलाकाट प्रतिस्पर्धा के कारण श्रमिकों का शोषण होने लगा। भ्रष्टाचार का बाजार गर्म हो गया। एक-दूसरे को समाप्त करने की नीति जाग्रत होने लगी। फलत: इसी तीव्र प्रतिस्पर्धा के विरोध में अर्थशास्त्रियों, उद्योगपतियों, श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं ने अपनी आवाजें बुलन्द कीं। उन देशों को भी जो कि औद्योगिक दौड़ में काफी आगे बढ़ गये थे, प्रतीत होने लगा कि मुक्त व्यापार की नीति उसी समय सफल हो सकती है जबकि समस्त देश में औद्योगिक एवं आर्थिक समानता हो जावे, अन्यथा यह नीति देश में ही नहीं, अपितु अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भी सफल नहीं हो सकती। इस प्रकार की प्रतिस्पर्धा में ऐसी परिस्थिति आ जाती है कि सम्पूर्ण व्यवसाय केवल कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में आ जाता है। आर्थिक स्वतन्त्रता के सुनहरे स्वप्न अधूरे रह जाते हैं, जिनके स्थान पर आर्थिक विदोहन (Exploitation) का ताण्डव नृत्य होने लगता है।

अत: उपर्युक्त गलाकाट प्रतिस्पर्धा के कारण लोगों को यह अनुभव होने लगा कि वे प्रतियोगिता में तभी टिक सकेंगे, जबकि वे सामूहिक रूप से इसका सामना करें। इस प्रकार १९वीं शताब्दी के द्वितीय अर्द्ध भाग में उत्पादकों एवं उद्योगपतियों ने इस प्रतिस्पर्धा को समाप्त करने के लिये अनेक योजनायें बनाईं, जिनको कि आज हम विभिन्न प्रकार के संयोगों में देखते हैं। श्रीयुत हैने ने भी अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'व्यावसायिक संगठन' में इस कथन की पुष्टि करते हुये लिखा है कि "प्रतिस्पर्धा संयोगों की जननी है।" आरम्भ में संयोगों का विकास प्रतिस्पर्धा के कारण ही

हुआ था, लेकिन बाद में यातायात के साधनों में सुधार तथा संयुक्त स्कन्ध पद्धति आदि के विकास ने भी संयोगों के निर्माण में अपना अमूल्य सहयोग दिया।

हमारे देश में संयोगों का जन्म विशेष रूप से अँग्रेजों की 'प्रबन्ध-अभिकर्त्ता पद्धति' के कारण हुआ। एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत अनेक कम्पनियों के संचालन करने का भार होने से इन कम्पनियों में संगठन की भावना जाग्रत हुई और धीरे-धीरे जूट, कपड़ा, सीमेंट, शक्कर आदि उद्योगों में संयोग पद्धति का जन्म हुआ।

संयोग का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Combination)

दो या दो से अधिक व्यापारिक अथवा औद्योगिक इकाइयों द्वारा पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करते हुये अधिकतम लाभ के उद्देश्य से मिलने को 'संयोग' कहते हैं। गलाकाट प्रतिस्पर्धा से व्यवसायियों, उद्योगपतियों, श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं आदि सभी को हानि होती है। अतएव इस हानि से बचने के लिये एक ही वस्तु के विभिन्न निर्माता अथवा एक ही वस्तु के निर्माण में लगे हुये विभिन्न वस्तु निर्माता एक समूह में सामूहिक अर्थव्यवस्था, प्रबन्ध अथवा सामूहिक उत्पादन हेतु एकत्रित होते हैं, ताकि उस उद्योग में लगी हुई पूँजी पर अधिकतम लाभ मिल सके। आपस में लड़ने वाली विभिन्न शक्तियों को संयोग के द्वारा एक ही सूत्र में बाँध दिया जाता है, जिससे वे सामूहिक शक्ति का लाभ उठा सकें। अनार्थिक इकाइयों में भी लाभ होने लगता है। श्री हैने के शब्दों में, **"संयोग द्वारा सम्पूर्ण का एक भाग हो जाता है अथवा व्यक्तियों का एक संघ है, जिससे सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति हेतु सम्पूर्ण अथवा समूह बन जाता है।"**[1] एक अन्य विद्वान के शब्दों में, **"पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करने, सहयोग की भावना को प्रोत्साहित करने एवं जन-हित की दृष्टि से किया हुआ विभिन्न औद्योगिक इकाइयों का एकीकरण ही संयोग कहलाता है।"** इसके निर्माण हेतु अनेक प्रणालियाँ अपनाई जाती हैं, जिनका वर्णन आगे किया गया है। प्रायः संयोग एक ही प्रकार के उद्योग अथवा व्यापार में स्थापित होते हैं।

संयोग आन्दोलन के आधार अथवा कारण
(Causes or Basis for Combination Movement)

संयोग आन्दोलन के कारण अत्यन्त जटिल एवं मिश्रित हैं। विभिन्न कारण आपस में इतने अधिक मिलते-जुलते हैं कि उनका स्पष्टीकरण सहज रूप में सम्भव नहीं। उदाहरणार्थ; प्राकृतिक कारणों में आर्थिक कारण मिल गये हैं। यहाँ पर उनका संक्षिप्त स्पष्ट वर्णन करने का प्रयास गया किया है। इस प्रकार संयोग आन्दोलन के निम्नलिखित कारण हैं :—

(I) प्रमुख कारण (Primary Causes)—

(१) गलाकाट प्रतिस्पर्धा का अन्त करने के लिए—स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा जब अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है तो वह गलाकाट प्रतिस्पर्धा का रूप धारण कर लेती है। इससे मूल्यों का तेजी से गिरना प्रारम्भ हो जाता है और यहाँ तक कि सभी व्यापारियों तथा उद्योगपतियों को हानि होने लगती है। यह प्रतिस्पर्धा इङ्गलैण्ड में सन् १८७५-९५ की अवधि में अधिक तीव्र हो गई थी, जबकि व्यापार में लाभ की अपेक्षा हानि होना ही एक साधारण-सी बात थी।[2] इस प्रकार की परिस्थिति अधिक समय तक नहीं चल सकती, अतएव शीघ्र ही प्रतिस्पर्द्धा करने

---

[1] "To combine" says Haney, "is to become one of the parts of a whole and combination is merely a union of persons to make whole or group for the prosecution of some common purpose."

[2] **Shields** : *Evolution of Industrial Organisation*, p. 80.

वाले व्यवसायी आपस में कोई न कोई समझौता करने के लिये बाध्य हो जाते हैं। इस प्रकार संयोगों का निर्माण होता है।

(२) **बड़े पैमाने पर उत्पादन से लाभों का आकर्षण**—आधुनिक युग बड़े पैमाने के उत्पादन का युग कहलाता है। उत्पादकों को बड़े पैमाने पर उत्पादन करने से आन्तरिक तथा बाहरी (Internal and External) मितव्ययिताओं का लाभ होता है। इससे न केवल उत्पादन तथा वितरण सम्बन्धी व्यय कम होते हैं बल्कि उनकी साख तथा अन्य साधन भी पर्याप्त विस्तृत हो जाते हैं तथा प्रतिस्पर्द्धा करने की शक्ति भी बढ़ जाती है। अतएव संयोगों का निर्माण होता है।

(३) **व्यापारिक चक्रों को रोकने के लिए**—वर्तमान अर्थव्यवस्था का मुख्य लक्षण समृद्धि तथा अवसाद (Boom and Depression) है। व्यापारिक चक्रों ने भी अनेक संयोगों का निर्माण किया है। व्यापार चक्र के कारण समृद्धि अथा अवसाद का सामना औद्योगिक तथा व्यवसायियों को करना पड़ता है। समृद्धि के समय नूतन सार्थों का विकास होता है। अधिक लाभ प्राप्त करने के उद्देश्य से नये-नये सार्थों की स्थापना होने लगती है। समृद्धि के समय कमजोर सार्थों को भी जीवित रहने का अवसर मिलता है। यदि अर्थव्यवस्था इसी प्रकार की रहे तो उद्योग की विभिन्न सार्थों की प्रवृत्ति संयोग की ओर नहीं होगी, किन्तु ऐसा नहीं हाता। तेजी के बाद मन्दी और मन्दी के बाद तेजी होती रहती है। मन्दी के समय निर्बल सार्थों का जीवित रहना असम्भव हो जाता है तथा व्यवसाय की जोखिम में वृद्धि होने लगती है। परिणामस्वरूप संयोगों का निर्माण होने लगता है।

(II) गौण कारण (Secondary Causes)—

(१) **औद्योगिक महत्त्वाकांक्षा**—बड़ा बनने और बड़प्पन प्राप्त करने की मानवीय महत्त्वाकांक्षा ने भी औद्योगिक संयोजनों के निर्माण में सहयोग दिया है। इतिहास इस बात का साक्षी है कि अतीत में विभिन्न प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं ने विभिन्न प्रकार की कम्पनियों का प्रवर्तन करके उन पर एकक्षत्र नियन्त्रण स्थापित किया।

(२) **एकाधिकार की अभिलाषा**—व्यापार में एकाधिकार प्राप्त करने की अभिलाषा ने इतना जोर पकड़ा कि प्रतियोगियों ने अपने व्यक्तिगत हितों की उपेक्षा करके सामूहिक तरीके से कार्य करना प्रारम्भ किया। यह प्रवृत्ति इतनी अधिक बढ़ी कि जनता के हितों की रक्षा करने के लिए सरकारों को इस दिशा में हस्तक्षेप करना आवश्यक हो गया। **लीफमैन** (Liefman) के अनुसार, पूँजी की जोखिम, लाभ की विषमता, एकाधिकार की इच्छा ने संयोग आन्दोलन को जन्म दिया है, अनुकूल प्रतीत होता है।

(३) **उद्योग की विभिन्न क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने के लिए**—एक ही उद्योग की विभिन्न क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने से उस उद्योग की कार्यक्षमता में वृद्धि होकर उत्पादन शीघ्रता एवं सुगमता से किया जा सकता है। इससे संयोग आन्दोलन को प्रोत्साहन मिलता है।

(४) **प्रशुल्क एवं संरक्षण नीति** (Tariff and Protection Policy)—कभी-कभी प्रशुल्क एवं संरक्षण नीति भी संयोग का कारण बन जाती है। जब औद्योगिक सरक्षण के कारण सरकार विदेशी माल को देश में आने से रोक देती है तो देश के उत्पादकों को इस बात का सुअवसर मिलता है कि देश के अन्दर भी प्रतिस्पर्द्धा समाप्त कर दें। भारतवर्ष का सुगर सिंडीकेट (Sugar Syndicate of India) इसका ज्वलन्त उदाहरण है।

(५) **यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनों में सुधार**—यातायात तथा सन्देशवाहन के साधनों में सुधार हो जाने से बाजार का क्षेत्र अधिक व्यापक हो जाता है, जिसके कारण राष्ट्रीय

तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिस्पर्द्धा होने लगती है। अतएव प्रतिस्पर्द्धा से होने वाली हानि को रोकने के लिए संयोगों का निर्माण होता है।

(६) **सरकारी नीति**—सरकारी नीति संयोग के विकास में सहायक अथवा बाधक हो सकती है। कभी-कभी सरकार संयोग को प्रोत्साहित करती है, जैसे—भारत में रिजर्व बैंक के आदेश पर पंजाब नेशनल बैंक तथा भारत बैंक का संयोग किया गया। सरकार राष्ट्रीयकरण के द्वारा भी प्रत्यक्ष रूप से संयोग की स्थिति उत्पन्न कर देती है। जर्मनी में उत्पादक सङ्घों का विकास सरकारी प्रोत्साहन के कारण ही हुआ।

(७) **नियन्त्रण की सुविधा के लिए**—व्यवसायी समान उद्योग तथा बाजारों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिये आपस में मिल जाते हैं, जिससे उनको अत्यधिक लाभ हो सके तथा मन्दी के काल में उद्योग एवं व्यापार की रक्षा की जा सके। ऐसे सङ्गठन व्यवसायों, उद्योगपति तथा सटोरियों तीनों के ही हो सकते हैं।

(८) **औद्योगिक एवं तान्त्रिक परिस्थिति**—औद्योगिक एवं तान्त्रिक परिस्थितियों के कारण संयोग आन्दोलन को काफी शक्ति मिली है। मशीन युग के आवागमन से विश्व की माँग तथा आवश्यकतायें विभिन्न हो गई हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए बड़ी-बड़ी निर्माणशालाओं और उत्पादनशालाओं की आवश्यकता होती है। यातायात की उन्नति ने विश्व के बाजार का क्षेत्र और भी विस्तृत कर दिया है। औद्योगिक सङ्गठन एवं यन्त्र के कारण बड़े पैमाने पर उत्पादन होने लगा। इस परिस्थिति से विवश होकर वैज्ञानिकों ने नूतन आविष्कार किये, इसलिए औद्योगिक एवं तान्त्रिक परिस्थिति के कारण उद्योगों का संयोजन होने लगा। विश्वव्यापक बाजार में यह असम्भव हो गया कि कोई भी एक उद्योग अपना व्यापार अलग से चालू रख सके, इसलिए विभिन्न व्यापारों को परस्पर संयोग में आना अनिवार्य हो गया।

(९) **अधिक पूँजी प्राप्त करने के लिए**—बड़े-बड़े व्यवसायों तथा उद्योगों को चलाने के लिए अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। अर्थशास्त्रियों के मतानुसार पूँजी उद्योग व व्यवसाय का जीवन रक्त (Life Blood) होती है, अतएव इसकी पूर्ति के लिए भी व्यावसायिक तथा औद्योगिक संयोगों का निर्माण होता है।

(१०) **विवेकीकरण की सफलता हेतु**—छोटे-छोटे उद्योगों अथवा इकाइयों में विवेकीकरण कभी सफल नहीं हो सकता, अपितु उसके लिए औद्योगिक सङ्गठन बड़े पैमाने पर होना अनिवार्य है। अतएव औद्योगिक विवेकीकरण के लिए तथा उसकी मितव्ययिता का लाभ उठाने की दृष्टि से संयोग का निर्माण होने लगा।

(११) **युद्ध तथा युद्धोपरान्त परिस्थितियाँ**—युद्ध के समय साधारण माँग की अपेक्षा सैनिक माँग अधिक बढ़ जाती है और उसको पूरा करना भी उतना ही आवश्यक होता है जितना सामान्य काल में साधारण माँग को। फिर युद्ध काल में मूल्य भी बढ़ जाते हैं। इसलिए या तो संयोगों का निर्माण आवश्यक है अथवा सरकार के द्वारा ही संयोगों का निर्माण किया जाता है। इस क्रिया से युद्ध के समय मजदूरी, उत्पादन, लाभ आदि पर भी पूर्ण नियन्त्रण किया जा सकता है। युद्ध के बाद भी माँग के गिर जाने तथा उद्योगों के नष्ट हो जाने के कारण उद्योगों की रक्षा के लिए उद्योगपतियों का आपस में मिलना स्वाभाविक होता है। उनकी स्थिति सुदृढ़ बन जाती है।

(१२) **अनुसन्धान कार्यों को प्रोत्साहन देने के लिये**—व्यवसाय तथा उद्योग की प्रगति के लिए आधुनिक ढंग की प्रयोगशालाओं का निर्माण करना पड़ता है। इस पर प्रारम्भिक अवस्था में भारी व्यय होता है. जोकि छोटी-छोटी इकाइयों अथवा एक इकाई के लिये सम्भव नहीं है, अतएव संयोग की आवश्यकता होती है।

(१३) **मुद्रा की नीति**—राष्ट्रों की मुद्रा-नीति में निरन्तर परिवर्तन होते रहते हैं, जिसके कारण प्रत्येक इकाई समुचित योजना बनाने में असमर्थ हो जाती है तथा जोखिम भी बढ़ने लगती है। आर्थिक अस्थिरता के दुष्परिणामों को दूर करने के लिये इकाइयों को संयोगों के लिये विवश होना पड़ता है। जोखिम (Risk) जितनी अधिक हो जाती है, उतनी ही अधिक प्रेरणा संयोग के लिये मिलती है।

(१४) **पेटेन्ट अधिनियम** (Patent Laws)—पेटेन्ट अधिनियम ने भी संयोगों के निर्माण में सहयोग दिया है। पेटेन्ट अधिनियम ने न केवल एकाकी फर्मों को एकाधिकार की स्थिति प्रदान की है अपितु उत्पादक संघों की स्थिति को सुदृढ़ बनाने में विशेष सहायता प्रदान की है। पेटेन्ट प्रयोग का उद्देश्य यह भी है कि बाहरी लोगों को संघ में न आने दिया जाय।

(१५) **औद्योगिक अनुकूलतम**—औद्योगिक अनुकूलतम हेतु भी संयोगों का निर्माण होता है। अमरीका में औद्योगिक अनुकूलतम हेतु अनेक संयोगों का निर्माण हुआ है।

(१६) **व्यक्तिगत योग्यता**—शील्ड के अनुसार व्यक्ति या व्यक्तियों की सङ्गठन योग्यता, कुशल प्रतिभा अथवा व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा भी संयोगों के निर्माण में सहायक रही है। व्यवसाय बुद्धि की कमी कुछ लोगों के हाथ में अधिकार के केन्द्रीयकरण का एक कारण बन गया है। इससे संयोग आन्दोलन पनपा है। भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली इसका जीता-जागता उदाहरण है।

(१७) **संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी का उदय**—संयोग आन्दोलन को संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के उदय से बड़ा प्रोत्साहन मिला है। इस संगठन के फलस्वरूप उद्योगपति न केवल अपने औद्योगिक संस्थानों को बड़े पैमाने पर संगठित कर सकते हैं, अपितु, उन्हें दूसरे संस्थानों के साथ भी आसानी से मिला सकते हैं। इसके विपरीत, एक साझेदारी संस्थान में ऐसा करना कठिन कार्य है, क्योंकि ऐसा करने के लिये सभी साझेदारों की सहमति होना अनिवार्य होता है, जोकि मुश्किल से ही होती है। कम्पनी में बहुमत द्वारा ऐसा किया जा सकता है। उद्योगपति आसानी से दूसरी कम्पनियों के बहुमत अंशों का क्रय करके आसानी से संयोजन का निर्माण कर सकते हैं। प्रो० हैने ने इन्हें सुविधाजनक परिस्थितियाँ कहकर पुकारा है और बताया है कि "संयुक्त अंशों के माध्यम से अनेक व्यावसायिक सङ्गठनों का नियन्त्रण कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित किया जा सकता है।"

संयोगों के उद्देश्य
(Objects of Combinations)

संयोग का निर्माण मुख्यतः निम्न उद्देश्यों की पूर्ति हेतु किया जाता है :—(१) विषम प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करके तथा संयोग में समाविष्ट (Merged) उद्योगों में परस्पर सहायता एवं सहकार्य की भावना का निर्माण करना। (२) सदस्य उद्योगों में उत्पादन, वितरण, क्रय तथा विक्रय पद्धतियों के केन्द्रीयकरण में उनके व्यय में कमी करना तथा उनको पर्याप्त लाभ प्रदान करना। (३) प्रत्येक सदस्य उद्योग के आर्थिक एवं औद्योगिक साधनों के केन्द्रीयकरण से सम्पूर्ण उद्योग का आर्थिक कलेवर सुदृढ़ बनाना। (४) प्रत्येक सदस्य उद्योग को प्रबन्ध एवं नियन्त्रण के केन्द्रीयकरण से न्यूनतम व्यय में कार्यक्षम एवं समुचित प्रबन्ध तथा नियन्त्रण सुविधायें प्रदान करना। (५) बड़े पैमाने पर उत्पादन एवं औद्योगिक विवेकीकरण के लाभ प्रदान करना। (६) प्रत्येक सदस्य की विनियोजित पूँजी पर समुचित प्रत्याय (Return) देना।

बृहत् व्यापार
(Big Business)

उपर्युक्त उद्देश्यों की पूर्ति के लिये प्रायः व्यापारीगण संयोग का निर्माण करते हैं।

अमेरिका में संयोग का दूसरा नाम 'बृहत् व्यापार' (Big Business) भी है। इसका तात्पर्य आर्थिक साधनों तथा समान व्यापारों का कुछ व्यक्तियों के हाथों में एकत्रीकरण हो जाने से है। व्यक्तियों की ही भाँति कुछ व्यापार जन्म से ही विशाल रूप वाले होते हैं, कुछ क्रमशः बड़प्पन प्राप्त करते हैं और कुछ पर बड़प्पन बरबस लादा जाता है। यदि कोई कम्पनी बहुत अधिक पूँजी से आरम्भ की जाती है तो वह जन्म से ही बड़ी कहलाती है, जैसे—पंजाब नेशनल बैंङ्क लिमिटेड। यदि कोई व्यापार उत्तम प्रबन्ध तथा उत्पादित वस्तु की लगातार माँग बढ़ने से धीरे-धीरे उन्नति करता है, तो कहेंगे कि उसने क्रमशः प्रगति की, जैसे—टाटा का लोहा एवं स्पात का कारखाना। यदि कोई संस्था अन्य संस्थाओं को क्रय कर लेती है तो कहेंगे कि बड़प्पन उस पर लादा गया है, जैसे—ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन लिमिटेड।

संयोग के लाभ-दोष
(Advantages and Disadvantages of Combination)

संयोग से लाभ (Advantages of Combination)—

संयोग से होने वाले लाभ विशेषतः उनके स्वरूप पर निर्भर करते हैं, अर्थात् जिस ढंग पर उनका निर्माण किया गया हो, उस ढंग पर निर्भर रहते हैं। संयोगों से प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन होता है, भीमकाय उत्पादन के समस्त लाभ प्राप्त होते हैं तथा औद्योगिक इकाइयों में परस्पर सहयोग एवं सङ्गठन की भावना जाग्रत होती है। इस प्रकार इनसे निम्न लाभ प्राप्त होते हैं :—

(१) **उत्पादन में मितव्ययिता**—संयोग का निर्माण हो जाने के कारण कच्चे माल की खरीद, मशीनरी के हिस्सों तथा स्टोरों की खरीद बड़ी सुगमता के साथ तथा अच्छी तरह छाँट कर, अच्छे अनुबन्धों पर तथा यातायात के कम व्यय पर अधिक से अधिक मात्रा में हो सकती है। इसमें मध्यस्थ (Middlemen) की आवश्यकता नहीं रहती तथा वस्तुओं के स्रोतों पर भी नियन्त्रण रहता है। जहाँ तक उत्पादक-कार्य का सम्बन्ध है, इसके द्वारा समस्त उद्योग में सभी जगह उसकी क्रियाओं का प्रमापीकरण (Standardisation) किया जा सकता है। उत्पादन में सस्ते से सस्ते मूल्य पर कार्य हो सकता है तथा एक यन्त्र की सामग्री का दूसरे यन्त्रों में विनिमय सुगमता के साथ उपयोग हो सकता है। संयोग के कारण कार्य का विभाजन भी सुचारु रूप में हो जाता है। इससे भी पर्याप्त मितव्ययिता रहती है।

(२) **पूँजी के उपयोग में मितव्ययिता**—संयोग का निर्माण होने से पूँजी के उपयोग में पर्याप्त मितव्ययिता रहती है। यदि किसी उद्योग के पास पूँजी की कमी रहती है तथा दूसरे उद्योग में पूँजी बेकार पड़ी हुई होती है तो पूँजी के आधिक्य को कमी वाले उद्योग में सरलता से भेजा जा सकता है।

(३) **प्रबन्ध एवं व्यवस्था में मितव्ययिता**—पृथक्-पृथक् रूप में कार्य करने की अपेक्षा संयोग में आ जाने पर सभी उद्योगों के लिये सञ्चालकों, प्रबन्धकों तथा साधारण कर्मचारियों की आवश्यकता कम हो जाती है। अब व्यर्थ में अलग-अलग व्यय करने की अपेक्षा उद्योगों की आवश्यकतानुसार केवल अनुभवी एवं योग्य व्यक्तियों को ही नियन्त्रण एवं व्यवस्था के लिये नियुक्त किया जाता है। ये सभी लोग विशेषज्ञ होते हैं और पृथक् रहने वाले उद्योगों में कार्य करने की अपेक्षा अधिक कौशल एवं योग्यता के साथ कार्य करते हैं। कारण यह है कि उन्हें आवश्यकतानुसार उनकी योग्यता देखकर उद्योगों में कार्य करने के लिये भेजा जाता है। इस प्रकार के कार्य के प्रवर्तन एवं उन्नति के लिए योग्य एवं अनुभवी लोग इन संयोगों के कारण प्राप्त हो जाते हैं, जिनकी नियुक्ति में भी पर्याप्त मितव्ययिता हो जाती है।

(४) **वितरण में मितव्ययिता**—संयोग के कारण विज्ञापन आदि का व्यय कम हो जाता है एवं वे अधिक प्रभावशाली हो सकते हैं। यदि सभी उद्योग पृथक्-पृथक् रहते तो उन्हें अपनी वस्तु के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने के लिए अलग-अलग विज्ञापन करना पड़ता तथा अपनी ख्याति के निमित्त भी पर्याप्त कार्य करने पड़ते। परन्तु संयोग हो जाने के कारण सामूहिक रूप से विज्ञापन आदि हो जाते हैं, इससे विज्ञापन-व्यय में मितव्ययिता हो जाती है। इसके साथ ही आवश्यक स्थानों पर सुगमता से विज्ञापन हो जाता है तथा विज्ञापन के अच्छे से अच्छे ढङ्ग भी प्रयोग में लाये जाते हैं। इन संयोगों के कारण ही ग्राहकों को अच्छी प्रकार से साख पर तथा उनकी इच्छानुसार अच्छी वस्तुयें देने का प्रबन्ध किया जाता है। भ्रमणकर्त्ताओं तथा विक्रेताओं के रखने में भी मितव्ययिता हो जाती है। यातायात व्यय में भी पर्याप्त कमी हो जाती है।

(५) **अनुचित प्रतिस्पर्धा का अन्त**—पहले आपसी कटु प्रतिस्पर्धा के कारण श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं सभी का शोषण होता था। उपभोक्ताओं को असली माल नहीं मिल पाता था। कारखानों में तालाबन्दी होना आम बात थी। प्रचार तथा वितरण-सम्बन्धी कार्यों में बहुत-सा धन व्यय करना पड़ता था। उपरोक्त परिस्थिति का सामना करने के लिए संयोग के अन्तर्गत समस्त उत्पादन की इकाइयाँ मिलकर एक संगठन बना लेती हैं, जिससे अनुचित प्रतिस्पर्धा का अन्त हो जाता है तथा व्यावसायिक क्षेत्र भी विस्तृत हो जाता है। पूँजी लगाने वालों को पूँजी डूबने का भय कम हो जाता है।

(६) **एकाधिकार की अभिलाषा**—व्यक्तिगत व्यापार में उत्पादन तथा वस्तु-विक्रय में बहुत बड़ी सीमा तक प्रतियोगिता होने के कारण किसी भी बाजार को हस्तगत नहीं किया जा सकता और इसी कारण उत्पादकों तथा व्यापारियों को बहुत कम लाभ हो सकता है, किन्तु संयोगों का निर्माण करके वे सम्मिलित रूप से कार्य करने लगते हैं तथा उनका बाजारों में सुगमता से एकाधिकार हो जाता है। इसका उदाहरण हमारे देश का 'सुगर सिण्डीकेट' (Sugar Syndicate) था। इसके अलावा वस्तुओं का मूल्य भी आसानी से निश्चित किया जा सकता है, जिससे उपभोक्ताओं को सुविधा रहती है।

(७) **भौगोलिक विकेन्द्रीयकरण**—संयोग की स्थापना से भौगोलिक विकेन्द्रीयकरण सम्भव हो जाता है। इससे समान उद्योगों में अस्थिरता के स्थान पर स्थिरता आती है।

(८) **औद्योगिक अनुसन्धान में सुविधा**—एक ही प्रकार की औद्योगिक इकाइयों का संगठन बन जाने पर ये सम्मिलित रूप से अनुसन्धान की व्यवस्था भी कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में कलकत्ते के जूट मिल एसोसियेशन तथा अहमदाबाद के सूती मिल एसोसियेशन ने सराहनीय कार्य किया है। आज के वैज्ञानिक युग में इस प्रकार के अनुसन्धानों का भारी महत्त्व है।

(९) **विदेशी व्यापार में सुविधा**—विदेशी व्यापार में संयोग का अत्यन्त व्यापक स्थान है। ये राष्ट्रीय स्तर पर दूसरे राष्ट्रों के साथ व्यापारिक सम्बन्ध को दृढ़ कर सकते हैं। विदेशों में प्रतिनिधियों के रखने में भी मितव्ययिता रहती है।

(१०) **योग्यता का विनिमय**—संयोग के फलस्वरूप प्रत्येक सदस्य उद्योग को एक दूसरे के व्यापारिक भेद का उचित प्रयोग करने का स्वर्ण अवसर मिलता है। इस प्रकार कुशल एवं उपयुक्त कार्य-प्रणाली का उपयोग सामूहिक रूप से सभी उद्योगों के हित में किया जाता है।

(११) **माँग और पूर्ति का सन्तुलन**—यदि संयोग में सम्मिलित होने वाली इकाइयों की संख्या पर्याप्त है तो उनके द्वारा पूर्ति पर भी नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। इस

प्रकार के बाजार का विस्तृत अध्ययन करके माँग का अनुमान लगाकर वस्तुओं का उत्पादन करते हैं, जिससे माँग और पूर्ति में निरन्तर सन्तुलन रहता है, अर्थात् अधिक अथवा कम उत्पादन की परिस्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती।

(१२) **सरकारी नियन्त्रण में सुविधा**—संयोग के द्वारा अनेक छोटी-छोटी व दूर-दूर तक बिखरी हुई इकाइयाँ आपस में संगठित हो जाती हैं, जिससे सरकार को उन पर नियन्त्रण रखने तथा अपनी नीति को लागू करने में सुविधा होती है।

(१३) **सहकारिता की भावना**—संयोग के निर्माण से उन संस्थाओं में, जो पहले एक-दूसरे को समाप्त कर देने के लिए सोचती थीं, **'स्वयं जीओ और दूसरों को जीने दो'** की भावना जाग्रत हो गई है और इस प्रकार वे एक-दूसरे को सहायता पहुँचाने तथा अपनी उन्नति के साथ-साथ उनकी उन्नति की बात भी सोचने लगी हैं। सहकारिता की इस भावना ने व्यावसायिक तथा औद्योगिक उन्नति के क्षेत्र में एक व्यापक प्रगति की है।

(१४) **नया व्यापार सम्भव**—संयोग आन्दोलन ने उन व्यवसायों तथा उद्योगों को भी जन्म प्रदान किया है जो पहले असम्भव प्रतीत होते थे, क्योंकि उनमें अधिक पूँजी, जोखिम, नियन्त्रण, सुरक्षा आदि की आवश्यकता थी।

(१५) **व्यापारिक चक्रों के प्रति सुरक्षा**—संयोगों की स्थापना का एक उद्देश्य व्यापारिक चक्रों से सुरक्षा प्राप्त करना भी होता है। अतएव इनका निर्माण होने से व्यापारिक चक्रों के प्रति काफी सीमा तक सुरक्षा प्राप्त हो जाती है। जो उतार-चढ़ाव आते भी हैं उनके प्रभावों को सभी इकाइयाँ मिलकर सरलता से सहन करने में समर्थ हो जाती हैं।

संयोग के दोष (Evils or Disadvantages of Combination)—

उपरोक्त लाभों के होते हुए भी संयोग में निम्नलिखित दोष अथवा हानियाँ विद्यमान हैं :—

(१) **सामूहिक शक्ति का दुरुपयोग**—जब अनेक छोटी-छोटी इकाइयाँ परस्पर सगठिग होकर शक्तिशाली बन जाती हैं, तो वे प्राय: अपनी शक्ति का दुरुपयोग करने लगती हैं। वे माल की कृत्रिम कमी करके मनमाने ढंग से वस्तुओं की कीमतें वसूल करते हैं। यही नहीं, वे कभी-कभी अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर संगठन करके पिछड़े हुए देशों का शोषण करना आरम्भ कर देते हैं और इस प्रकार प्रगति के स्थान पर बाधायें उत्पन्न हो जाती हैं।

(२) **व्यवस्था में शिथिलता**—संयोग निर्माण करने में औद्योगिक संगठन का प्राय: विस्तार हो जाता है। इससे व्यक्तिगत सम्पर्क एवं नियन्त्रण में शिथिलता आना स्वाभाविक है तथा कार्यक्षमता का हनन होता है। **प्रो० जॉन ए० शुबिन** के अनुसार अधिक बड़ी औद्योगिक इकाई के प्रबन्ध में कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगती हैं।

(३) **साहस का अभाव**—यदि सभी उद्योग अलग-अलग रहते हैं तो प्रत्येक उद्योग का साहसकर्त्ता दिन-रात कठिन परिश्रम करके अपने उद्योग की वृद्धि करने में संलग्न रहता है, क्योंकि उसे पता रहता है कि जितना अधिक वह परिश्रम करेगा उतना ही अधिक उसे लाभ प्राप्त होगा। किन्तु जब सभी उद्योग संयोग में सम्मिलित हो जाते हैं तो उनके साहसी व्यक्ति फिर उतना परिश्रम नहीं करते, क्योंकि वे जानते हैं कि उनके परिश्रम का फल केवल उन्हें न मिलकर समस्त संयोग के सदस्यों को प्राप्त होगा। अत: उनमें साहस का सर्वथा अभाव पाया जाता है।

(४) **पूँजीवाद का जन्म**—संयोग में पूँजी की अधिकता होने के कारण इसके सभी स्वामी बड़े-बड़े पूँजीपति होते हैं। इस प्रकार संयोगों से पूँजीवाद का जन्म होता है, अतएव पूँजीवाद के समस्त दोष इनमें (संयोगों में) विद्यमान हो जाते हैं।

(५) **श्रमिकों का शोषण**—संयोग के द्वारा प्रबन्धकों को श्रमिकों पर मनमानी करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है, क्योंकि उनकी (श्रमिकों की) अनुबन्ध करने की शक्ति क्षीण हो जाती है। परिणामस्वरूप कम मजदूरी देना, मनमाने ढङ्ग से छँटनी करना तथा अधिक काम लेना आदि आम बात हो जाती हैं।

(६) **उपभोक्ताओं को हानि**—प्रतिस्पर्धा के समाप्त हो जाने पर संयोगों का बाजार पर प्रायः नियन्त्रण हो जाता है और इस प्रकार वे मनचाहे ढंग से वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि करने में सफल हो जाते हैं। इससे उपभोक्ताओं को भारी क्षति पहुँचती है।

(७) **आय का असमान वितरण एवं भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन—कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) के अनुसार इन संयोगों के द्वारा धन का सीमित हाथों में केन्द्रीयकरण होता है तथा धनी एवं निर्धन व्यक्तियों का अन्तर गहरा होता है। इसमें वर्गवाद, संघर्ष तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय हानि होती है। अपनी स्थिति को मजबूत रखने के लिये वे सरकारी कर्मचारियों को रिश्वत देकर उनका नैतिक पतन कर देते हैं। इस प्रकार ये समाज के शत्रुओं के रूप में कार्य करते हैं। अतएव कई बार उनके हित के लिये आम जनता का अहित होता है।

(८) **कच्चे माल के उत्पादकों का शोषण**—संयोग के रूप में औद्योगिक निर्माता संगठित होकर कच्चे माल के उत्पादकों का माल मनमाने भाव पर खरीद कर वे उनका शोषण करने में सफल हो जाते हैं, क्योंकि कच्चे माल के उत्पादक असंगठित, दूर-दूर तक बिखरे हुये और प्रायः अशिक्षित होते हैं, अतः वे सहज ही इन शक्तिशाली संयोगों के शिकार बन जाते हैं।

(९) **जन-कल्याण के विरुद्ध**—जन-कल्याण की दृष्टि से संयोग संगठनों की सदैव आलोचनायें की जाती हैं, क्योंकि प्रायः इनकी समस्त प्रवृत्तियाँ असामाजिक रहती हैं, जिससे जनसाधारण को क्षति पहुँचती है। यही कारण है कि सरकार को समय-समय पर इनकी गतिविधियों पर नियन्त्रण लगाना पड़ता है। इनकी दूषित प्रवृत्तियों के कारण अमेरिका में अनेक प्रकार के संयोगों को अवैधानिक घोषित किया गया है।

(१०) **औद्योगिक जड़ता**—संयोगों द्वारा जब प्रतिस्पर्धा का अन्त हो जाता है तो उद्योग में प्रगति के स्थान पर जड़ता उत्पन्न हो जाती है, उत्पादन विधियों के सुधार करने का प्रोत्साहन समाप्त हो जाता है तथा उत्पादन कम व अधिक करके अधिकतम लाभ कमाने की इच्छा प्रबल हो जाती है। इससे औद्योगिक प्रगति मन्द पड़ जाती है।

(११) **अकुशल इकाइयों को संरक्षण**—संयोगों की स्थापना के कारण अकुशल इकाइयों को, जो देश की अर्थ-व्यवस्था पर भार होती हैं, अनावश्यक रूप में संरक्षण प्राप्त होता है।

निष्कर्ष—संयोजन के उपरोक्त लाभ-दोषों के अध्ययन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जन-हित में सरकार का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि औद्योगिक संयोजन की कार्यवाहियों पर समुचित निगरानी एवं नियन्त्रण रखे तथा उन्हें किसी भी हालत में जन-हित विरोधी कार्यों में संलग्न न होने दे। उल्लंघन की दशा में उनके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही की जानी चाहिये। यदि आवश्यकता हो तो जन-हित विरोधी कार्य करने वाले संयोजनों का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाना चाहिये।

संयोगों के प्रकार
(Kinds or Types of Combinations)

दो या दो से अधिक संस्थाओं के ऐच्छिक अथवा परस्पर एकीकरण को संयोग कहते हैं। संयोगों को मुख्यत: निम्नलिखित पाँच भागों में विभाजित किया जा सकता है :—(I) क्षैतिज या समतल संयोग (Horizontal Combination); (II) शीर्ष या उदग्र संयोग (Vertical

Combination); (III) पार्श्व संयोजन (Lateral Combination); (IV) वृत्तीय या चक्रित संयोग (Circular Combination); एवं (V) विकर्ण या कर्ण संयोग (Diagonal Combination)।

(I) क्षैतिज या समतल संयोग (Horizontal Combination)—

परिभाषा—जब एक ही प्रकार का काम करने वाली दो या दो से अधिक व्यापारिक अथवा औद्योगिक इकाइयाँ परस्पर मिल जाती हैं (अर्थात् एक ही प्रबन्ध के अन्तर्गत सङ्गठित हो जाती हैं) तो इस मिलन को क्षैतिज, समतल, अनुप्रस्थ अथवा व्यापारिक संयोग कहते हैं। इस प्रकार के संयोग प्राय: व्यापारिक क्षेत्र में ही पाये जाते हैं और उस समय निर्माण किये जाते हैं जबकि बाजार में गलाकाट प्रतिस्पर्धा विद्यमान हो। चीनी उद्योग का शक्कर सिण्डीकेट; सीमेंट उद्योग की एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी लिमिटेड (A. C. C.); जूट उद्योग का जूट मिल्स एसोसियेशन; हिन्दुस्तान स्टील (जो तीनों स्पात के कारखाने चलाता है) इसके अद्वितीय उदाहरण हैं।

क्षैतिज संयोग को निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट किया जा सकता है :—
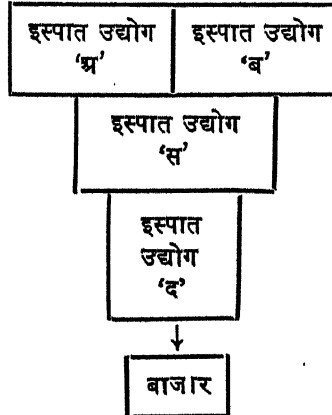
उद्देश्य—(१) परस्पर गलाकाट प्रतिस्पर्धा का अन्त करना। (२) भीमकाय उत्पादन के लाभ प्राप्त करना। (३) पूर्ति पर नियन्त्रण करके माँग-पूर्ति का सन्तुलन स्थापित करना। (४) उत्पादन की विधियों में समानता लाना तथा उत्पादन सम्बन्धी सूचनाओं का आदान-प्रदान करना। (५) उद्योग का प्रतिनिधित्व करने के लिये स्थायी सङ्गठन का निर्माण करना। (६) उस वस्तु के बाजार को अपने एकाधिकार में लेना।

लाभ (Merits)—(१) अनुचित एवं अनार्थिक प्रतिस्पर्धा का अन्त होना—इस प्रकार के संयोग पारस्परिक गलाकाट प्रतिस्पर्धा को जड़ से उखाड़कर स्वस्थ व लाभप्रद प्रतिस्पर्धा की स्थापना करते हैं। इससे व्यावसायिक एवं औद्योगिक उन्नति होती है तथा उपभोक्ताओं को सुन्दर व टिकाऊ वस्तुयें उपलब्ध होती हैं।

(२) विशेषज्ञों की सेवाओं के लाभ—संयोग के कारण सभी सदस्य उद्योगों को तान्त्रिक सलाहकार एवं विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ होता है, जो उन्हें अलग-अलग रखते हुए नहीं मिल सकता था।

(३) विवेकीकरण में सुविधा—समतल संयोग में उद्योग के अन्दर विवेकीकरण की योजना आसानी से कार्यान्वित की जा सकती है।

(४) सामूहिक सङ्गठन के लाभ—इसके अन्दर औद्योगिक इकाइयाँ आपस में मिलकर विशाल क्रय-विक्रय संगठन का निर्माण कर सकती हैं। इससे सभी को लाभ होगा।

(५) आर्थिक सुदृढ़ता—इसमें सम्मिलित होने वाली छोटी-छोटी इकाइयों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो जाती है।
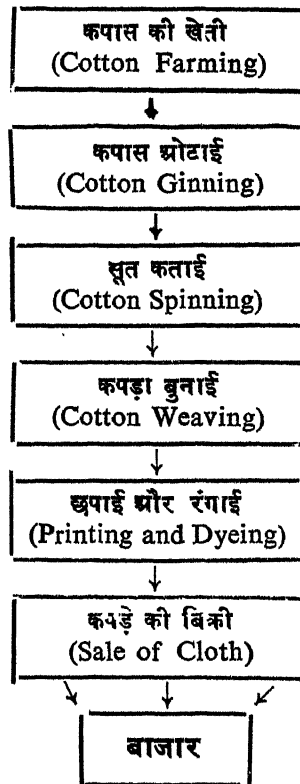
प्रो० ई० ए० जी० रॉबिन्सन के अनुसार शीर्ष संयोजन दो प्रकार का होता है :—(i) अग्रगामी (Forward) संयोजन, तथा (ii) प्रतिगामी (Backward) संयोजन। अग्रगामी संयोजन की स्थापना उत्पादित माल के विक्रय के बाजारों पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिये की जाती है। इसके विपरीत, प्रतिगामी संयोजन की स्थापना कच्चे माल की पूर्ति पर नियन्त्रण स्थापित करने के लिये की जाती है।

उद्देश्य—(१) उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं में होने वाले निरर्थक व्यय को कम करना। (२) यातायात, विज्ञापन, क्रय-विक्रय आदि में मितव्ययिता लाना। (३) मध्यस्थों को दिए जाने वाले लाभ को समाप्त करना। (४) माल की किस्म पर नियन्त्रण करना। (५) संयोग में सम्मिलित होने वाले विभिन्न उद्योगों की क्रियाओं के सुव्यवस्थित एकीकरण में प्रत्येक सम्बन्धित उद्योग के लाभ को बढ़ाना। (६) तैयार माल की खपत की अनिश्चितता को समाप्त करना।

लाभ—(१) **बिक्री की निश्चयात्मकता**—पहली सीढ़ी पर स्थित उद्योगों को बिक्री की चिन्ता नहीं रहती, क्योंकि ऊपर के उद्योग उनका समस्त अथवा अधिकांश माल क्रय कर लेते हैं।

(२) **कच्चे माल की निश्चयात्मकता**—पहली सीढ़ी के उद्योग के अलावा अन्य सम्बन्धित उद्योगों को अपने लिये कच्चा माल प्राप्त करने की चिन्ता नहीं रहती है, क्योंकि प्रत्येक सम्बन्धित उद्योग को अपनी निचली सीढ़ी वाले उद्योग से कच्चा माल मिल जाता है।

(३) **मितव्ययिता**—कच्चे माल की खरीद, निर्मित माल की बिक्री, विज्ञापन संग्रह

एव यातायात पर होने वाले व्यय तथा प्रबन्ध व्यय में मितव्ययिता होती है, जिससे प्रत्येक सदस्य उद्योग के लाभ में वृद्धि होती है।

(४) **उत्पादन-विधि का सूत्रीकरण**—समस्त उत्पादन-विधि का सूत्रीकरण हो जाता है। इससे उद्योग में स्वस्थ वातावरण उत्पन्न होता है तथा माल की किस्म में सुधार होता है। विभिन्न विधियों के निर्माता परस्पर मिलकर उत्पादन-विधियों तथा किस्म का निर्णय करते हैं।

(५) **व्यापारिक चक्रों के कुप्रभाव से सुरक्षा**—संयोग में सम्मिलित होने वाले उद्योगों पर आर्थिक तेजी-मन्दी का विशेष प्रभाव नहीं होता, क्योंकि एक ही नियन्त्रण एवं प्रबन्ध में होने के कारण उत्पादन-विधियों का सञ्चालन आर्थिक परिस्थितियों के अनुसार किया जाता है।

(६) **मध्यस्थों का लाभ समाप्त**—उत्पादन-विधि का सूत्रीकरण हो जाने से बीच के मध्यस्थों का लाभ समाप्त हो जाता है। इस प्रणाली में विभिन्न विधियों के निर्माताओं में सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध हो जाने से मध्यस्थों की आवश्यकता नहीं रहती है।

(७) **उत्पादन में विशिष्टीकरण**—इसमें एक ही उद्योग की विभिन्न क्रियायें सदस्य कारखाने में अलग-अलग होती हैं, जिससे उनका विशिष्टीकरण हो जाता है। अतएव उद्योग की कार्यक्षमता एवं उत्पादनशीलता बढ़ जाती है।

हानियाँ—(१) **बड़ी मात्रा में उत्पादन के लाभों का अभाव**—इसमें विभिन्न औद्योगिक इकाइयों को बड़े पैमाने के उत्पादन से होने वाले समस्त लाभ नहीं मिलते, क्योंकि इसमें सदस्य उद्योगों की क्रियायें भिन्न-भिन्न होती हैं।

(२) **किसी एक इकाई में शिथिलता आने पर क्षति**—यदि इन विभिन्न इकाइयों में से किसी एक में भी किसी प्रकार से शिथिलता आ जाय तो उदग्र संयोग की समस्त अर्थ-व्यवस्था शिथिल तथा छिन्न-भिन्न हो जाती है।

(३) **अनुसन्धान का अभाव**—इसमें औद्योगिक अनुसन्धान के लिये कम अवसर होता है, अतएव औद्योगिक कार्यक्षमता का पर्याप्त विकास नहीं हो पाता।

(४) **पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का अन्त न होना**—ऐसे संयोग पूर्ण होते हुये भी अन्य उद्योगों से होने वाली प्रतिस्पर्धा को नहीं टाल सकते।

(५) **रुचि-परिवर्तन का कुप्रभाव**—यदि किसी कारणवश अथवा जनता की रुचि में परिवर्तन होने से उस उद्योग के उत्पादन की माँग न रहे तो उस संयोजन से सम्बन्धित सभी उद्योगों को हानि होती है, क्योंकि शीर्ष उद्योग (Apex Industry) की अवनति होते ही अन्य मध्य उद्योगों (Intermediate Industries) के माल की माँग नहीं रहती।

(६) **सीमित क्षेत्र में उपयोग**—इस प्रकार के संयोग का उपयोग अत्यन्त सीमित क्षेत्र में होता है, क्योंकि बहुत बड़ी संख्या में औद्योगिक इकाइयों का संयोग सम्भव नहीं है। इससे व्यक्तिगत इकाइयों को तो थोड़ा-सा लाभ हो भी सकता है, किन्तु समस्त उद्योग को कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचता।

(III) पार्श्व संयोजन (Lateral or Allied Combination)—

परिभाषा—जब ऐसी अलग-अलग वस्तुओं, जिनका कि आपस में किसी न किसी रूप में सम्बन्ध हो, का उत्पादन अथवा निर्माण करने वाली विभिन्न इकाइयाँ आपस में सहयोग स्थापित करती हैं तो यह पार्श्व-संयोजन कहलाता है। इस प्रकार के संयोजन का प्रमुख उद्देश्य किसी बड़ी इकाई को कच्चा माल अथवा आधारभूत वस्तुओं को उपलब्ध करना अथवा उससे कराना होता है। यह बड़ी इकाई ऐसे संयोजन का केन्द्र बिन्दु होती है।

उदाहरण—एक प्रिंटिंग प्रेस को ही लीजिये। वह कागज, टाइप, स्याही, कार्ड-बोर्ड आदि आधारभूत वस्तुओं के उद्योगों के सहयोग से एक संयोजन का निर्माण करता है। इस

प्रकार का संयोजन केन्द्रित पार्श्व संयोजन कहलायेगा। इसके विपरीत, यदि चमड़ा उद्योग विभिन्न उद्योगों (जैसे—जूता उद्योग, चप्पल उद्योग, चमड़े के थैलों का उद्योग, सूटकेसों का उद्योग, सीट उद्योग) को चमड़ा सप्लाई करने के लिये संयोजन का निर्माण करता है तो वह भी पार्श्व सहयोग कहलायेगा।

(IV) वृत्तीय या चक्रित संयोग (Circular Combination)—

परिभाषा—इस प्रकार के संयोग को मिश्रित (Mixed) अथवा पूरक (Complementary) संयोग भी कहते हैं। इसमें सहायक व्यापार करने वाले अथवा एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न कार्य करने वाले आपस में मिलकर कार्य करते हैं और उसके लिए अपने अलग-अलग सिद्धान्तों को छोड़कर एक 'केन्द्रीय नियन्त्रण संस्था' की स्थापना करते हैं। इस प्रकार के चक्रित संयोगों की विशेषता उनका आकस्मिक निर्माण है, क्योंकि सदस्य उद्योगों का मिलन उन पर नियन्त्रण व प्रबन्ध प्राप्त करने के उद्देश्य से होता है।

उदाहरण—भारत की प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली इस प्रकार के संयोग का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, जैसे—बिड़ला ब्रादर्स लिमिटेड, जे० के० ग्रुप, मार्टिन, बर्न एण्ड कम्पनी, एण्ड्रयूल एण्ड कम्पनी, डालमियाँ जैन एण्ड कम्पनी इत्यादि। चूँकि बड़े-बड़े पूँजीपतियों को विभिन्न उद्योगों पर नियन्त्रण रखने की लालसा होती है, अतएव इसी लालसा से प्रेरित होकर वे अपने हाथ विभिन्न उद्योगों में फँसाते चले जाते हैं।

(V) विकर्णीय संयोग या कर्ण संयोग (Diagonal Combination)—

परिभाषा—यदि किसी मुख्य उद्योग के साथ सहायक उद्योग भी मिल जाते हैं तो ऐसे संयोग को विकर्णीय-कर्ण अथवा कार्यशील संयोग भी कहते हैं, जैसे—लौह एवं इस्पात उद्योग तथा मरम्मत उद्योग। इस प्रकार के संयोग का मुख्य लाभ यह है कि कारखाने की मशीनें निरन्तर कार्य करती रहती हैं, टूट-फूट के समय उनकी मरम्मत सरलता से हो सकती है, श्रमिकों को खाली समय अथवा बेकार समय का वेतन नहीं देना पड़ता। इस प्रकार इसमें मितव्ययिता भी रहती है।

संयोगों के प्ररूप अथवा वर्गीकरण
(Forms of Combinations)

उपर्युक्त पाँच प्रकार के संयोगों का अध्ययन करने के पश्चात् हमारे सामने यह प्रश्न उठता है कि क्या हम इन्हें औद्योगिक विश्व में सरलता से पहचान सकते हैं, अथवा नहीं। इन संयोगों का विकास देश एवं विदेश के उद्योगों की भिन्न-भिन्न परिस्थितियों के अनुसार विश्व के महान् औद्योगिक राष्ट्रों में हुआ तथा वे भिन्न-भिन्न नामों से पहचाने जाने लगे। उन्हें कोई एक ही विशेष नाम नहीं दिया जा सकता, अत: उनकी क्रियाओं पर यह निर्भर करता है कि कौन-सा संयोग किस प्रकार का है और यह देखने के लिए, यह आवश्यक है कि हम संयोगों के विभिन्न प्ररूपों का अध्ययन यहाँ करें।

श्री हैने के अनुसार संयोगों को मुख्य रूप से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—(१) सरल संयोग तथा (२) संयुक्त संयोग। सरल संयोग प्राकृतिक व्यक्तियों का समूह है, जबकि संयुक्त संयोग में अनेक सङ्घ सम्मिलित हो जाते हैं। इस प्रकार हम संयोगों का निम्न प्रकार से वर्गीकरण कर सकते हैं :—

(I) साधारण पार्षद् (Simple Associations)—

(१) व्यापारिक पार्षद् (Trade Association),
(२) चैम्बर ऑफ कॉमर्स (Chamber of Commerce),
(३) श्रमिक सङ्घ (Trade Union),

(४) अनौपचारिक अथवा सज्जनों के समझौते (Informal or Gentlement's Agreements)।

(II) **संयुक्त पार्षद् (Compound Associations)—**

(१) सन्धान (Federation) :

(अ) सङ्घ (Pool),

(ब) उत्पादन सङ्घ (Cartels)।

(२) सङ्घनन (Consolidations) :

(१) अपूर्ण सङ्घनन (Incomplete Consolidations) :

(अ) प्रन्यास (Trusts),

(ब) सामुदायिक हित (Community of Interest),

(स) सन्धारी कम्पनी (Holding Co.)।

(२) पूर्ण सङ्घनन (Complete Consolidations) :

(अ) सम्मिश्रण (Amalgamation),

(ब) संविलयन (Merger)।

(I) साधारण पार्षद्
(Simple Associations)

जब विभिन्न प्रकार की कम्पनियाँ, साधारण व्यापारिक सुविधाओं के लिए अपना एक समूह बना लेती हैं, तो वे साधारण पार्षद् कहलाते हैं। इस प्रकार के पार्षद् प्राय: व्यापारिक क्षेत्र में होते हैं। यदि किसी उद्योग के कर्मचारीगण अपना कोई संघ बना लेते हैं तो वह भी उसी वर्ग में आते हैं। इस प्रकार के पार्षद् निम्न प्रकार के होते हैं :—

(१) **व्यापारिक पार्षद् (Trade Association)—**

प्रत्येक उद्योग तथा व्यापार में कुछ सामान्य समस्याओं को सुलझाने के लिए उद्योगपति, व्यापारी इत्यादि मिलकर सङ्घ या पार्षद् बनाते हैं। इन पार्षदों या सङ्घों को व्यापार सङ्घ या व्यापारिक पार्षद् कहते हैं। ये सङ्घ अथवा पार्षद्, उद्योग या स्थान के आधार पर बनाये जाते हैं। इनका निर्माण करने के लिए किसी प्रकार की वैधानिक कार्यवाही नहीं करनी पड़ती। ये मुख्यत: व्यक्तिगत विश्वास पर निर्भर रहते हैं। भारतवर्ष में अनेक व्यापारिक पार्षद् सफलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं; जैसे—अहमदाबाद सूती वस्त्र मिल-मालिक सङ्घ, कलकत्ता व्यापारिक सङ्घ, ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन, दी इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन, बम्बई मिल-मालिक सङ्घ इत्यादि।

उपर्युक्त पार्षद् के कार्य-सञ्चालन के लिए एक सचिव (Secretary) होता है। इसमें एक कार्यकारिणी (Executive) होती है, जिसके सदस्य प्राय: २ वर्षों से ५ वर्षों के लिए साधारण सदस्यों में से चुने जाते हैं। कार्यकारिणी का एक सभापति (President) व अन्य पदाधिकारी होते हैं जोकि पार्षद् का कार्य करते हैं। यदि कोई व्यापारी, व्यापारिक पार्षद् का सदस्य बनना चाहता है तो उसको सचिव के पास एक आवेदन-पत्र भेजना पड़ता है। कार्यकारिणी की अनुमति पर उसको सदस्यता मिल जाती है। पार्षद् के खर्चे प्राय: सदस्यता-शुल्क आदि से चलते हैं।

उद्देश्य—पार्षद् के उद्देश्य उसके सदस्यों की आवश्यकता को देखते हुए प्राय: निम्न प्रकार के होते हैं :—(१) उत्पादन में तान्त्रिक वृद्धि तथा योग्यता लाना; (२) बाजार तथा वस्तु-विक्रय का अध्ययन करना; (३) नवीन वस्तुओं के उत्पादन तथा उत्पादित वस्तुओं की उपयोगिता के लिए प्रयोग करना; (४) सामूहिक रूप से विज्ञापन, वस्तु-निर्धारण एवं अन्य व्यक्तियों

से व्यापारिक सम्बन्ध स्थापित करना; (५) व्यापार का बहुमुखी विकास करना तथा आपस की प्रतियोगिता को समाप्त करना; (६) सरकार से सम्बन्ध स्थापित करना तथा उसको व्यापार की प्रगति से अवगत कराना; (७) सरकार को हितकारी अधिनियमों को पास करने के लिए प्रेरित करना; तथा (८) श्रम, पूँजी, उपभोक्ताओं तथा व्यापार में सम्बन्ध स्थापित करना।

(२) चैम्बर ऑफ कॉमर्स (Chamber of Commerce)—

ये व्यापारिक वर्ग के लाभ के लिए स्थापित किये जाते हैं। पार्षद् विशेष उद्योग अथवा व्यवसाय के लिए निर्मित किये जाते हैं। जबकि चैम्बर ऑफ कॉमर्स समस्त व्यापारिक वर्ग के हित के लिए स्थापित किये जाते हैं। चैम्बर ऑफ कॉमर्स स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय होते हैं। चैम्बर या तो व्यापारी वर्ग द्वारा निर्मित किये जाते हैं अथवा सरकार व निजी व्यापारियों द्वारा सम्मिलित रूप से निर्मित किये जाते हैं। भारत और इङ्गलैण्ड में ये चैम्बर निजी व्यापारियों द्वारा निर्मित किये जाते हैं, जबकि फ्रांस में व्यापारिक समाज तथा सरकार के प्रतिनिधियों के द्वारा इनका निर्माण होता है।

उदाहरण—स्थान के आधार पर बंगाल चैम्बर ऑफ कॉमर्स, बॉम्बे चैम्बर ऑफ कॉमर्स, आगरा चैम्बर ऑफ कॉमर्स आदि हैं। **जातीयता** के आधार पर मारवाड़ी चैम्बर ऑफ कॉमर्स (१६२०) है। **राष्ट्रीयता** के आधार पर इण्डियन चैम्बर ऑफ कॉमर्स है। **अन्तर्राष्ट्रीयता** के आधार पर इण्टरनेशनल चैम्बर ऑफ कॉमर्स (फ्रांस) है। सन् १६२८ में भारतवर्ष में इस चैम्बर की शाखा खुली थी, जिसका मुख्य कार्यालय नई दिल्ली में है।

उद्देश्य—चैम्बर ऑफ कॉमर्स तथा व्यापारिक पार्षद् के उद्देश्य प्रायः समान ही हैं।

(३) श्रमिक सङ्घ (Trade Union)—

श्रमिक सङ्घ से तात्पर्य मजदूरों के संघ से है। श्रमिक अपने हितों की रक्षार्थ तथा अपनी समस्याओं को सामूहिक रूप से सुलझाने के लिए इन सङ्घों का निर्माण करते हैं। **कार्ल मार्क्स** (Karl Marx) के नारे कि **'हे दुनियाँ के मजदूरो ! एक हो जाओ, यदि तुम्हारे अन्दर एकता रही तो तुम्हें कोई भी हानि नहीं हो सकती'** ने इनके निर्माण में सक्रिय सहयोग दिया। भारत में इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस, हिन्द मजदूर सभा, अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस, यूनाइटेड ट्रेड यूनियन कॉंग्रेस इसके उदाहरण हैं।

श्रमिक संघ के उद्देश्य एवं कार्य—(१) श्रमिकों में परस्पर बन्धुत्व एवं सहयोग की भावनाओं का विकास करना तथा उन्हें सङ्गठित करना। (२) श्रमिकों एवं उनके अधिकारियों में सहयोग की भावना उत्पन्न करना। (३) उनके काम एवं मजदूरी के सम्बन्ध में, उनकी विभिन्न अक्षमताओं पर विचार करना तथा उन्हें वैधानिक रूप से दूर करने का प्रयत्न करना। (४) रोग, बीमा, प्रॉवीडेन्ट-फण्ड, सहकारी साख, डॉक्टरी सुविधा, आदि लाभदायक योजनाओं की व्यवस्था करना। (५) हड़ताल की घोषणा करना, सङ्गठित करना एवं उसे सफलतापूर्वक चलाना, नियोक्ताओं से वार्त्ता करना और झगड़ों को शान्ति से तय करना। (६) आवश्यकता पड़ने पर नियम की सुविधाएँ देना। (७) श्रमिकों को उचित मजदूरी दिलाना, काम के घण्टे तथा काम करने की दशाओं का सुधार करना। श्रमिकों के हितों के लिए नियोक्ताओं से लड़ना। (८) श्रमिकों की शिक्षा का प्रबन्ध करना, उनके जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना, बीमारी, बेकारी, दुर्घटना, हड़ताल, तालाबन्दी इत्यादि मुसीबतों में श्रमिकों के लिए सामाजिक सुरक्षा का प्रबन्ध करना।

(४) अनौपचारिक समझौते (Informal Agreements)—

जब कुछ व्यापारी अपने विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए नैतिक आधार पर कुछ प्रतिबन्धित समझौता करते हैं तो उसको 'अनौपचारिक समझौता' अथवा 'सज्जनों का समझौता' या

'कार्यवाहक समझौता' इत्यादि नामों से पुकारते हैं। इस प्रकार इन समझौतों में समझौता करने वाले व्यापारी आपस में किसी भी निश्चित बात के लिए, जैसे—'मूल्य-नियन्त्रण का समझौता" 'बाजार-विभाजन का समझौता', 'भुगतान-मूल्य समझौता' कर लेते हैं, किन्तु स्वयं अपना व्यापार मुक्त रूप से ही करते हैं। यह संगठन शिथिल रहता है और सदस्य केवल नैतिक बन्धन में रहते हैं। इस प्रकार के समझौते लिखित रूप में भी नहीं होते, अतएव उनका उल्लंघन करने पर किसी प्रकार के दण्ड की व्यवस्था नहीं रहती है। इस प्रकार के समझौते प्राय: थोड़े समय के लिये ही होते हैं।

(II) संयुक्त पार्षद्
(Compound Association)

संयुक्त पार्षद् का क्षेत्र साधारण पार्षद् की अपेक्षा विस्तृत होता है। साधारण पार्षद् के दोषों को दूर करने के लिए ही इनका निर्माण किया गया। संयुक्त पार्षद् दो प्रकार के होते हैं :—

(१) सन्धान (Federations)—

सन्धान में विभिन्न व्यवसाय करने वाली कम्पनियाँ अपने व्यवसाय पर निजी नियन्त्रण रखते हुए व्यापार एवं उद्योग के अलावा अन्य बातों के विषय में आपस में समझौता कर लेती हैं। उद्योग की विभिन्न इकाइयों को आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है, किन्तु बाहरी मामलों में कुछ अथवा सभी के लिए आपस में पूर्ण समझौता कर लेती हैं। यह समझौता सामान्य हित के लिये होता है। इनका निर्माण निम्न दो रूप में हो सकता है :—

(अ) संघ (Pools) **या सन्निधियाँ : परिभाषा—श्री हैने** के अनुसार, "संघ व्यापारिक सङ्गठन का वह प्ररूप है जो विभिन्न व्यापारिक इकाइयों के सन्धान से बनाया जाता है। इसके सदस्य मूल्य के ऊपर कुछ सीमा तक नियन्त्रण करने का प्रयत्न करते हैं और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मूल्य-निर्धारण करने वाले साधन में कुछ अंश सम्मिलित करते हैं और बाद में उस समूह की शेष राशि का विभाजन संयोग के सदस्य इकाइयों में करते हैं।"[1] **बॉन-बेकरेत** के अनुसार, "संघ स्वतन्त्र व्यापारियों का एक मिला-जुला संयोग है, जिससे व्यापारिक एकाधिकार प्राप्त किया जा सकता है।"

लक्षण (Characteristics)—उपरोक्त परिभाषाओं के आधार पर यह कहा जा सकता है कि एक सङ्घ में निम्नलिखित बातें होनी चाहिये :—(i) स्वतन्त्र सङ्गठन, (ii) स्वतन्त्र हित, (iii) मूल्य नियन्त्रण, (iv) एकाधिकार प्राप्त करना, (v) उत्पादन तथा उसके अंगों पर नियन्त्रण, (vi) सामूहिक हित के लिये प्रयत्न।

उद्देश्य (Objects)—संघों के निर्माण का मुख्य उद्देश्य प्रतिस्पर्धा को दूर कर कीमतों को स्थायी रखने का प्रयत्न होता है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वे माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन बनाये रखने की कोशिश करते हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि सब सदस्य इकाइयों को समान रूप से बराबर-बराबर लाभ प्राप्त हो जाता है। सङ्घ की विभिन्न इकाइयों को आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता होती है, परन्तु सामान्य मामलों में केन्द्रीय संस्था हस्तक्षेप करती है।

---

[1] Haney defines Pool as "A form of business organisation established through federation of business units whose members seek a degree of control over prices by combining some factors in the price marking process in a common aggregate and apportioning aggregate among the units."—**Haney**: *Business Organisation and Combination.*

निम्न चित्र में A, B, C, D, E, F, G, H औद्योगिक कम्पनियाँ हैं, जो कि केन्द्र में स्थित संघ की सदस्य हैं।

संघ का चित्र द्वारा प्रदर्शन
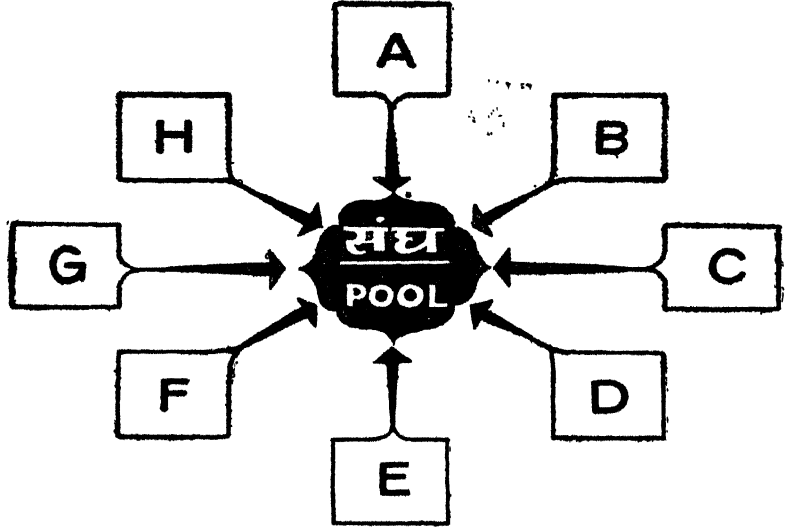
संघों का उदय होना (Origin of Pools)—संघों का उदय सर्वप्रथम अमेरिका में १८४० के बाद हुआ। इस वर्ष वहाँ गृह-युद्ध हो जाने के कारण संघों के निर्माण को भारी प्रोत्साहन मिला और इस प्रकार १८६० तक वे प्रायः वहाँ व्यापक रूप से फैल गये। धीरे-धीरे वे अन्य देशों में भी कुछ परिवर्तनों के साथ फैलने लगे। आज भी वे विभिन्न राष्ट्रों में भिन्न-भिन्न प्ररूपों में विद्यमान हैं।

संघों के प्ररूप (Forms of Pools)—समझौतों की शर्तों के अनुसार सङ्घों के विभिन्न रूप हो सकते हैं, जिनमें से निम्नलिखित विशेष उल्लेखनीय हैं :—

(i) **मूल्य संघ** (Price Pools)—इस प्रकार के सङ्घ समान मूल्य-निर्धारण पर विशेष जोर देते हैं। मूल्य-निर्धारण करने के लिये एक आधार सार्थ चुन लिया जाता है और जो उसका उत्पादन-व्यय होता है वही अन्य सार्थ का भी उत्पादन-व्यय मान लिया जाता है। इस व्यय में विभिन्न क्षेत्रों के सार्थों का यातायात-व्यय भी सम्मिलित कर लिया जाता है। विभिन्न क्षेत्रों के सार्थों को सङ्घ द्वारा निश्चित किये मूल्य (जोकि उनके क्षेत्र के लिये निश्चित किया गया है) पर वस्तु का विक्रय करना पड़ता है। सङ्घ निर्धारित मूल्य में आवश्यकतानुसार परिवर्तन करता रहता है। सङ्घ के सदस्य इकाइयों की विक्रय नीति, विज्ञापन नीति, अपहार व साख की अवधि आदि में समानता लाने का प्रयत्न करते हैं।

(ii) **प्रादेशिक अथवा बाजार संघ** (Territorial or Market Pool)—इस प्रकार के संघ में प्रत्येक सदस्य सार्थ के लिये एक प्रदेश अथवा बाजार निश्चित कर दिया जाता है। प्रत्येक सार्थ को अपने-अपने प्रदेश अथवा बाजार में वस्तुओं का विक्रय करने का एकाधिकार होता है। इकाइयों को अपने-अपने क्षेत्र की माँग का पूर्ण ज्ञान हो जाता है। कोई सार्थ दूसरे सार्थों के क्षेत्र में जाकर अपनी वस्तुओं का विक्रय नहीं कर सकता है। इस प्रकार वे अपने-अपने क्षेत्र में उचित मूल्यों पर अथवा सङ्घ द्वारा निर्धारित मूल्य पर वस्तु विक्रय करते हैं।

(iii) **उत्पादन संघ** (Output Pool)—जब कभी अत्यधिक उत्पादन (Over

Production) तथा प्रतिस्पर्द्धा के कारण वस्तुओं के मूल्य में कमी आती है तो उत्पादन सङ्घ का निर्माण किया जाता है, ताकि साथों को घाटे न उठाने पड़ें। उत्पादन सङ्घ द्वारा माँग का अनुमान भी लागाया जाता है। सङ्घ विभिन्न साथों से एक निश्चित समय पर किये गये उत्पादन तथा उसके विक्रय की सूचना प्राप्त कर लेता है। इसी सूचना के आधार पर विभिन्न साथों का अभ्यंश अथवा कोटा (Quota) निश्चित कर दिया जाता है। उत्पादन-व्यय का अनुमान लगाकर मूल्य भी निर्धारित कर दिया जाता है। यदि कोई सदस्य निश्चित कोटा से अधिक उत्पादन करता है तो उसको दण्ड दिया जाता है। इस प्रकार संघ का मुख्य उद्देश्य अति-उत्पादन को दूर करना तथा मूल्य में स्थिरता रखना है। इस प्रकार के सङ्घ में कुछ दोष हैं :—यह संघ वस्तु की माँग पर विशेष ध्यान नहीं देता है। दूसरे, साथों की कार्य-कुशलता (Efficiency) को बढ़ाने का प्रयास नहीं किया जाता है।

(iv) **आय अथवा लाभ संघ** (Income and Profit Pools)—इस प्रकार के संघ का उद्देश्य कम्पनियों की आय अथवा लाभ का वितरण सदस्यों में निश्चित अनुपात अथवा समान रूप से करना होता है। प्रत्येक सदस्य अपने निश्चित कोटे के अनुसार उत्पादित माल संघ को बेचने के लिये देता है। संघ माल का विक्रय करता है। माल के विक्रय के बाद जो धनराशि प्राप्त होती है उसमें से विक्रय-व्यय तथा संघ के अन्य खर्चे निकाल दिये जाते हैं और इस प्रकार शेष लाभ को सदस्य साथों के समझौते की शर्तों के अनुसार एक निश्चित अनुपात में बाँट दिया जाता है।

(v) **पेटेन्ट अथवा एकस्वी संघ** (Patent Pool)—यह सङ्घ एक ही वस्तु के बहुत से एकस्वी अधिकार प्राप्त करके तथा उसके अनुसार माल तैयार करके देश अथवा विदेश में बेचते हैं। इनका मुख्य उद्देश्य किसी एक वस्तु के उत्पादन का एकस्वी अधिकार प्राप्त करना होता है। इस प्रकार ये सङ्घ धीरे-धीरे प्रतिस्पर्द्धा के सभी क्षेत्रों पर अपना अधिकार कर लेते हैं। संघ का यह प्ररूप अमेरिका में सबसे अधिक प्रचलित है। सुप्रसिद्ध जी० ई० सी० (General Electric Co.) द्वारा स्थापित 'दि रेडियो कॉरपोरेशन ऑफ अमेरिका' ने विभिन्न कम्पनियों से शनैः-शनैः ४,००० से भी अधिक पेटेण्ट प्राप्त किये हैं।

(vi) **निर्यात संघ** (Export Pool)—इस प्रकार के सङ्घ का निर्माण विदेशी निर्माताओं से प्रतियोगिता करने एवं देश का निर्यात बढ़ाने के उद्देश्य से किया जाता है। अमेरिका में सर्वप्रथम इस प्रकार के सङ्घों का निर्माण हुआ।

(vii) **व्यावसायिक संघ** (Traffic Pool)—इस प्रकार के सङ्घ प्रायः जहाजी कम्पनियों द्वारा स्थापित किये जाते हैं। आपसी प्रतिस्पर्द्धा को दूर करने के उद्देश्य से जहाजी कम्पनियाँ 'जहाजी परिषद्' (Shipping Conference) का निर्माण करती हैं। ये सङ्घ निश्चित मार्गों के लिये किराया निर्धारित कर देते हैं तथा नवीन कम्पनियों को क्षेत्र से हटाने के लिये 'छूट प्रणाली' (Rebate System) को अपनाते हैं। यह छूट (Rebate) उन व्यापारिक संस्थाओं को दी जाती है जो अपना सामान सङ्घ के सदस्यों द्वारा विदेशों में भेजते हैं अथवा मँगाते हैं।

(viii) **कृषि संघ** (Agricultural Pool)—इस प्रकार के सङ्घों की स्थापना का मुख्य उद्देश्य कृषि-उत्पादन के विक्रय से सम्बन्धित प्रतिस्पर्द्धा को दूर करना होता है। इससे कृषकों को अपनी उपज का उचित मूल्य मिल जाता है और उनकी आर्थिक स्थिति भी सुदृढ़ हो जाती है। इस प्रकार के सङ्घ अमेरिका में सर्वप्रथम कृषि-उत्पादन के गिरते हुये मूल्य को रोकने के उद्देश्य से स्थापित किये गये थे। भारत में भी इनको अपनाया जा सकता है।

संघों के लाभ—(१) आपसी प्रतिद्वन्द्विता का अन्त—सदस्य साथों की आपसी प्रति-

द्वन्द्विता का अन्त हो जाता है। इसके स्थान पर पारस्परिक सहयोग की भावना पनपती है। (२) **सरल स्थापना**—इसकी स्थापना सरलता से हो सकती है, क्योंकि निर्माण में वैधानिक शिष्टाचार की आवश्यकता नहीं पड़ती है। (३) **आन्तरिक स्वतन्त्रता**—सदस्य सार्थों को आन्तरिक मामलों में पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है। (४) **लोच**—संघों के आकार एवं व्यवस्था को उसके सदस्यों की इच्छानुसार निर्धारित किया जा सकता है। इस प्रकार लाभ वितरण, बाजार का विभाजन, उत्पादनों का परिणाम आदि सदस्यों की इच्छा पर निर्भर होता है। (५) **अधिक स्थायी**—संघों का जीवनकाल अपेक्षाकृत अधिक स्थायी होता है। (६) **इनमें अधिपूँजीयन** (Over Capitalisation) का भय नहीं रहता है। (७) **प्रति-भाटक** (Cross Freights) पर व्यर्थ में व्यय नहीं किया जाता है। (८) **बड़े पैमाने के उत्पादन की सुविधायें**—इनके द्वारा बड़े पैमाने के उत्पादन की सुविधायें प्राप्त हो सकती हैं। विज्ञापन आदि में मितव्ययिता रहती है। (९) **उत्पादकों को प्रेरणा**—संघ उत्पादकों को अपने व्यय कम करने तथा कुशलता में वृद्धि करने की प्रेरणा प्रदान करता है।

संघों के दोष—(१) **शोषण की मनोवृत्ति**—वस्तु उत्पादन पर कृत्रिम रोक लगाकर समाज में वस्तु प्रदाय की असुविधा हो जाती है, जिससे उपभोक्ताओं का शोषण होने लगता है। (२) **अस्थिरता**—समझौतों में अस्थिरता रहती है, क्योंकि इसके समझौतों को किसी प्रकार से न्यायालय द्वारा कार्यान्वित नहीं कराया जा सकता है। इसके अतिरिक्त कोई भी व्यक्ति जरा-सा मतभेद होने पर संस्था को छोड़ देता है। (३) **गुण का अभाव**—वस्तुओं के उत्पादन में उनके गुण बढ़ाने की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया जाता है। (४) **दीर्घकालीन योजनाओं का अभाव**—इनका जीवन अल्पकालीन होने के कारण दूरदर्शितापूर्ण योजनाओं को बनाना बड़ा कठिन कार्य हो जाता है। चतुर प्रबन्धकों तथा संचालकों को अपनी कार्य-कुशलता बढ़ाने का अवसर नहीं मिलता है। (५) **एकाधिकार को जन्म**—सामाजिक दृष्टि से भी इनमें एकाधिकार की भावना के कारण ये समाज के लिये अहित कर सिद्ध होते हैं।

(ब) उत्पादक संघ (Cartels)—परिभाषायें—समस्त व्यवसाय में लगे हुए विभिन्न स्वतन्त्र व्यवसायी, जब अपनी इच्छा से तथा विपणि पर एकाधिकार प्राप्त करने के उद्देश्य से एक पारस्परिक अनुबन्ध में बँध जाते हैं तो वह उत्पादक सङ्घ बन जाता है। **श्री लाइफमन** के अनुसार, उत्पादक संघ स्वतन्त्र व्यापारियों की एक ऐच्छिक संस्था है, जो किसी बाजार में एकाधिकार प्राप्त करना चाहती है। **डॉक्टर इस्से** के शब्दों में, "उत्पादक संघ स्वतन्त्र व्यवसायियों का एक संघ है, जो सदस्य इकाइयों के उत्पादन, क्रय-मूल्य निर्धारण अथवा व्यावसायिक शर्तों से सम्बन्धित दायित्वों को क्रियात्मक रूप देता है तथा स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा के विरुद्ध बाजार को प्रभावित करता है।"[1]

लक्षण—ऊपर दी गई परिभाषाओं के अनुसार उत्पादक संघ के निम्न लक्षण हैं :—(१) इनमें भाग लेने वाले व्यापारी स्वतन्त्र होने चाहिए। (२) उनके बीच में किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये समझौता होना चाहिये। (३) इनमें भाग लेने वाले व्यापारियों अथवा उद्योगपतियों का समान व्यापार या उद्योग होना चाहिए। (४) संघ का उद्देश्य स्वतन्त्र प्रतिस्पर्द्धा को समाप्त करके मूल्यों को इच्छानुसार प्रभावित करना होना चाहिये। (५) इनमें किसी प्रकार

---

[1] **Dr. Issay** defines cartels as : "An association of independent undertakings which enforces obligations as to the treatment of output. Market Purchases, price calculation or trade terms and therefore serves to influence the market against the working of free competition."—**C/f. Warriner :** *Combines and Rationalization in Germany.*

के दबाव का प्रयोग नहीं होना चाहिये। (६) सदस्यों को चाहे जब सङ्गठन छोड़ने का अधिकार होना चाहिये।

उत्पादक संघों का उदय (Origin of Cartels)—उत्पादक सङ्घों का उदय जर्मनी में सर्वप्रथम १८६० में लोहे, नमक तथा टीन के कारखानों में हुआ था। वहाँ पर विदेशी प्रतिस्पर्धा के कारण उनका उद्योग तथा व्यापार नष्ट हो रहा था, जिसके कारण जर्मनी की सरकार ने अपने उद्योग तथा व्यापार की रक्षा के लिए इन उत्पादक सङ्घों का निर्माण किया और उनकी व्यवस्था जनतन्त्रीय ढङ्ग से करके अपने उद्योगों को ही प्रोत्साहन नहीं दिया अपितु विदेशी बाजार में प्रतिस्पर्धा करने की शक्ति भी प्रदान की। यही कारण है कि उनकी उपयोगिता को देखते हुए उत्पादक सङ्घ का क्षेत्र जर्मनी में ही सीमित न रहकर फ्रांस, बेल्जियम, नीदरलैंड आदि में फैल गया और धीरे-धीरे अमेरिका और ब्रिटेन भी इससे वंचित न रह सके। आज उत्पादक सङ्घ प्राय: विश्व के सभी राष्ट्रों में किसी न किसी रूप में अवश्य विद्यमान है।

निर्माण क्यों हुआ ? उत्पादक सङ्घ 'सङ्कट के बच्चे' (Children of Distress) कहलाते हैं, क्योंकि जब उन्मुक्त रूप से प्रतिस्पर्धा चारों ओर फैलने लगती है, तब समस्त औद्योगिक एवं व्यावसायिक इकाइयों का विनाश होना प्रारम्भ हो जाता है। परिणामस्वरूप, उद्योगों में तालाबन्दी तथा छँटनी होने लगती है।

आर्थिक इकाइयाँ अनार्थिक इकाइयों में परिणत होने लगती हैं। छोटी-छोटी इकाइयों का तो अस्तित्व भी खतरे में पड़ जाता है। इस सङ्कट का मुकाबला करने के लिए उत्पादक सङ्घों का निर्माण किया गया है।

उत्पादक संघों के विभिन्न प्ररूप (Forms of Cartels)—उत्पादक सङ्घों के प्रमुख प्ररूप निम्नलिखित हैं :—

(i) **मूल्य निर्धारण संघ** (Price Cartel)—इनका मुख्य उद्देश्य यह होता है कि कोई भी सदस्य सार्थ उत्पादक सङ्घ द्वारा निर्धारित मूल्य से कम मूल्य पर अपनी वस्तुयें न बेचे। इनमें एक सामान्य मूल्य (Fixed Price) तय कर लिया जाता है, जिस पर सदस्यों को माल बेचना पड़ता है। आवश्यकतानुसार समय-समय पर सदस्यों के परामर्श से मूल्य में परिवर्तन भी किये जाते हैं।

(ii) **गुण निर्धारक उत्पादक संघ** (Quality Cartel)—इनका प्रमुख उद्देश्य यह होता है कि प्रत्येक सदस्य सार्थ उत्पादक सङ्घ द्वारा निश्चित प्रमाप के अनुसार वस्तु उत्पादन करे। उसी प्रमाप के अनुसार वस्तुओं के मूल्य निर्धारित किये जाते हैं।

(iii) **शर्त-निर्धारक उत्पादक संघ** (Condition Cartel)—इस प्रकार के उत्पादक सङ्घ प्राय: विक्रय सम्बन्धी शर्तें निश्चित करते हैं, जिन शर्तों के अनुसार ही सदस्य सार्थ अपने माल का विक्रय करते हैं। उदाहरणार्थ, साख की मर्यादा एवं अवधि, अपहार (Discount) दर, बीमा, पैकिंग, माल की सुपुर्दगी आदि समान बातों की शर्तें।

(iv) **प्रदेश-निर्धारक उत्पादक संघ** (Territory Cartel)—ये उत्पादक सङ्घ प्रत्येक सदस्य सार्थ के लिए बाजार निर्धारित कर देते हैं, जिसमें वह अपना माल बेचने में स्वतन्त्र होता है। अन्य कोई भी सदस्य सार्थ इस निश्चित बाजार-क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

(v) **कोटा निर्धारक संघ** (Quota Cartel)—ये प्रत्येक सदस्य सार्थ के लिये उसकी उत्पादन क्षमता के अनुसार उत्पादन का कोटा निर्धारित करते हैं। वह इससे अधिक उत्पादन नहीं कर सकता।

(vi) **क्षेत्रीय उत्पादक संघ** (Zonal Cartel)—इस प्रकार के सङ्घ सम्पूर्ण बाजार

को विभिन्न क्षेत्रों में विभाजित कर देते हैं तथा प्रत्येक सदस्य इकाई के लिये माल बेचने का क्षेत्र निश्चित कर देते हैं। इस प्रकार प्रत्येक इकाई अपने-अपने क्षेत्रों में अपने-अपने माल का विक्रय करती है।

(vii) **विक्रय उत्पादक संघ** (Selling Cartel)—इस प्रकार के संघ सदस्य इकाइयों से माल के विक्रय का कार्य अपने ऊपर ले लेते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण उत्पादन की बिक्री का कार्य केन्द्रीय सङ्गठन द्वारा किया जाता है।

(viii) **क्रय उत्पादक संघ** (Buying Cartel)—इस प्रकार के संघ सदस्य इकाइयों के लिए कच्चे माल के क्रय का कार्य अपने ऊपर ले लेते हैं। इस प्रकार सम्पूर्ण कच्चे माल का क्रय सामूहिक रूप से किया जाता है।

(ix) **व्यापारी संघ** (Syndicate)—कुछ जर्मन लेखकों के अनुसार उत्पादक संघ और व्यापारी संघ (Syndicate) में अन्तर है। उनके अनुसार, जबकि प्रथम प्रकार का संयोग मूल्य-निर्धारण, उत्पादन नियमन, विपणि नियोजन करता है तो व्यापारी संघ केवल सदस्यों के विपणन हेतु एक विक्रय-सङ्गठन का निर्माण करता है, जिससे उनकी वस्तुओं का मितव्ययिता से विक्रय हो सके। विक्रय से होने वाला लाभ सदस्य इकाइयों के मध्य उनके द्वारा व्यापारी संघ को दिये गये माल के अनुपात में बाँट दिया जाता है। किन्तु अधिकांश लेखकों के मतानुसार व्यापारी संघ, उत्पादक संघ का ही एक प्ररूप है। इसका वर्णन एवं चित्र द्वारा प्रदर्शन आगे किया गया है।

अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक संघ (International Cartels)—उत्पादक संघ का निर्माण राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर हो सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी विश्व में अनेक उत्पादक संघों का निर्माण हुआ है। सबसे प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर उत्पादक संघ सन् १९२७ में स्वीडन तथा अमेरिका के बीच दियासलाई के उत्पादन तथा बिक्री के लिये निर्मित हुआ। इसके लिये इण्टरनेशनल मैच कॉरपोरेशन की स्थापना की गई। कॉरपोरेशन ने दक्षिणी अमेरिका, चीन, भारतवर्ष, बेल्जियम, हॉलैंड, स्विट्जरलैंड आदि अनेक देशों में कई फर्मों को खरीद लिया है तथा समस्त संसार में अपनी शाखायें स्थापित की हैं।

श्री बेण्डलवर्ग के अनुसार, द्वितीय विश्व-युद्ध के प्रारम्भ में करीब १७५ अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक सङ्घ आवश्यक वस्तुओं में व्यापार कर रहे थे, किन्तु अब इनकी कार्यक्षमता धीरे-धीरे शिथिल पड़ती जा रही है। अतएव अब ये जनता की राय को अधिक महत्त्व देने लगे हैं। उदाहरणार्थ, 'अन्तर्राष्ट्रीय चीनी सङ्गठन', जिसकी स्थापना १९३१ में हुई, जिसमें सामूहिक नियन्त्रण पर विशेष जोर दिया गया है। 'अन्तर्राष्ट्रीय रबर (Rubber) नियन्त्रण कमेटी', जो १९३४ से कार्य करने लगी है, उसके सदस्य-देशों के रबर व्यापार पर आवश्यक नियन्त्रण लगा दिया गया है। इसी प्रकार चाय में व्यापार करने वाले देशों ने भी इस प्रकार के अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक सङ्घों की स्थापना करके इनका स्वरूप अत्यन्त व्यापक बना दिया है।

उत्पादक संघों के लाभ—उत्पादक सङ्घों के निर्माण से सदस्यों तथा उद्योग को अनेक लाभ होते हैं, जिनमें प्रमुख लाभ इस प्रकार हैं :—

(१) **पारस्परिक प्रतिस्पर्धा का अन्त**—किसी भी प्रकार के बाहरी एवं अनिवार्य नियन्त्रण की अपेक्षा ऐच्छिक नियन्त्रण सदैव प्रभावशाली रहता है। इस दृष्टि से व्यवसायियों के बीच होने वाली गलाकाट प्रतिस्पर्धा का अन्त सुगमता से हो जाता है। इस प्रकार उत्पादकों में परस्पर सहयोग एवं समन्वय की भावना बढ़ती है।

(२) **मध्यस्थों का अन्त**—मध्यस्थों के कारण वस्तु का मूल्य अनावश्यक रूप से

अधिक हो जाता है। उत्पादक संघ के निर्माण से इन मध्यस्थों का प्रायः अन्त हो जाता है। फलतः जनता को सस्ती वस्तुयें उपलब्ध होने लगती हैं।

(३) **उपभोक्ताओं को लाभ**—चूँकि इनके द्वारा निश्चित किये हुए मूल्य प्रायः न्यायोचित होते हैं, अतएव उपभोक्ताओं को उचित मूल्य पर वस्तुयें मिल जाती हैं।

(४) **उत्पादकों को लाभ**—मध्यस्थों का अन्त हो जाने से विक्रय के खर्चों में कमी आ जाती है, जिसका लाभ उत्पादकों को मिलता है, अर्थात् उनका उत्पादन कम होने से उनके लाभ में वृद्धि हो जाती है।

(५) **वितरण-व्यय में कमी**—केन्द्रीय विक्रय संगठन के कारण विज्ञापन, प्रति-भाटक (Cross Freights) आदि में मितव्ययिता रहती है। विक्रय-क्षेत्र निश्चित हो जाने से वितरण की विभिन्न क्रियाओं में समन्वय (Co-ordination) हो जाता है।

(६) **स्थापना में सुगमता**—इसमें व्यक्तिगत इकाइयों को अपनी स्वतन्त्रता का त्याग नहीं करना पड़ता है, जिसके परिणामस्वरूप इनका निर्माण अत्यन्त सरलता के साथ हो जाता है। कोई भी सदस्य सार्थ किसी भी समय इसकी सदस्यता स्वीकार कर सकता है अथवा त्याग कर सकता है।

(७) **उत्पादन तन्त्रिका में विकास**—एक ही प्रकार के उत्पादक सङ्घ में सम्मिलित होने से उत्पादन-तन्त्र (Technique of Production) में विकास होता है। सामूहिक प्रयत्नों द्वारा उत्पादन क्रियाओं को मितव्ययी बनाने का प्रयत्न किया जाता है। वस्तुओं के प्रमापीकरण की ओर उत्पादकों को अधिक ध्यान देना पड़ता है, जिससे नये-नये अन्वेषणों को प्रोत्साहन मिलता है।

(८) **प्रजातन्त्रात्मक प्रबन्ध**—उत्पादक संघों का प्रबन्ध अत्यन्त प्रजातन्त्रात्मक तरीकों से होता है। सभी सदस्यों को अपनी बात कहने का अधिकार रहता है। निर्णय बहुमत से लिये जाते हैं, जिससे किसी को शिकायत करने का अवसर नहीं मिलता है।

(९) **मध्यस्थ का कार्य**—उत्पादक संघ उद्योगपतियों तथा सरकार के बीच में मध्यस्थ का काम भी देते हैं। इससे सरकार को अपनी नीति कार्यान्वित करने में सुविधा रहती है, क्योंकि अनेक उद्योगपतियों की अपेक्षा एक संघ से व्यवहार करने में सदैव सुविधा रहती है।

(१०) **मूल्यों में अनावश्यक उतार-चढ़ाव पर रोक**—उत्पादक संघ पूर्ति पर नियन्त्रण रख कर मूल्यों के अनावश्यक उतार-चढ़ाव (Fluctuation) को रोक सकते हैं तथा भावों में स्थिरता लाते हैं, जिससे कि बाजार सक्रिय हो जाता है।

उत्पादक संघों के दोष—उत्पादक संघ उपरोक्त लाभों के होते हुये भी दोषों से मुक्त नहीं हैं। इसके मुख्य दोष निम्नलिखित हैं—(१) **उपभोक्ताओं का शोषण**—उत्पादक संघ धीरे-धीरे वस्तुओं के विक्रय पर एकाधिकार प्राप्त करने में सफल हो जाते हैं और इस प्रकार उप-भोक्ताओं से मनमाने दाम वसूल करते हैं, इससे उपभोक्ताओं का विदोहन (Exploitation) होता है, जो समाज के हित की दृष्टि से न्यायोचित नहीं है।

(२) **विदेशी प्रतिस्पर्धा**—उत्पादक संघ को सदैव विदेशी प्रतियोगिता का भय बना रहता है, जिसको दूर करने के लिये अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक संघों का निर्माण होता है, जो राज-नैतिक दृष्टि से अवांछनीय है। अन्तर्राष्ट्रीय उत्पादक संघों के बनने से आर्थिक दृष्टि से दुर्बल राष्ट्रों का सुदृढ़ राष्ट्रों द्वारा आर्थिक शोषण होने लगता है।

(३) **शीघ्र निर्माण एवं अन्त**—उत्पादक संघों का जितनी आसानी से निर्माण होता है, उतनी ही शीघ्रता से उनका अन्त हो जाता है। वे 'सङ्कट के बच्चे' (Children of

Distress) कहे जाते हैं, क्योंकि आर्थिक संकट में प्राय : उनका निर्माण हो जाता है, किन्तु संकट समाप्त होते ही तुरन्त ही उनका अन्त हो जाता है।

(४) **अक्षम इकाइयों का बना रहना**—उत्पादक संघ की अक्षम इकाइयाँ क्षमता वाली इकाइयों के खर्चे पर बनी रहती हैं। वे अपने में सुधार करना आवश्यक नहीं समझतीं। इससे विकास में बाधा पड़ती है।

(५) **सदस्यों की मनमानी**—इनका संगठन सुदृढ़ न होने के कारण प्राय: सदस्य मनमानी करने लगते हैं। इसका कारण यह है कि संघ का अधिकार उनके निजी प्रबन्ध में नहीं रहता है।

(६) **राजनैतिक भ्रष्टाचार**—उत्पादक संघ अपने सुदृढ़ आर्थिक साधनों के द्वारा राज्य की आर्थिक नीति को प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं, जिससे राज्य में भ्रष्टाचार का बोलबाला हो जाता है।

उत्पादक संघों की कठिनाइयाँ—उत्पादक संघों को प्राय: निम्नलिखित कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है :—(i) **सदस्यों द्वारा विश्वासघात**—उत्पादक संघों का अस्तित्त्व केवल सदस्यों के परस्पर विश्वास तथा इनकी सद्भावना पर निर्भर रहता है। यदि कोई सदस्य संघ से विश्वासघात करता है तो सङ्घ उसके विरुद्ध कोई भी वैधानिक कार्यवाही नहीं कर सकता। जब ऐसे विश्वासघाती सदस्यों की संख्या अधिक हो जाती है तो उत्पादक संघ का अस्तित्त्व ही खतरे में पड़ जाता है।

(ii) **नवीन विकास के कारण**—उत्पादक संघों में बहुधा इतनी शक्ति नहीं होती कि वे नये उद्योगों के विकास को रोक सकें। जब नये-नये उद्योग स्थापित हो जाते हैं तो इन संघों के अस्तित्त्व को भारी खतरा उत्पन्न हो जाता है।

(iii) **सदस्यों की कमी**—संघ के अस्तित्त्व को स्थायी बनाने के लिये एवं प्रतिस्पर्धा को जड़ से उखाड़ फेंकने के लिये यह आवश्यक है कि एक ही वस्तु के अधिक से अधिक निर्माता उसके सदस्य हों, किन्तु ऐसा न होने पर सङ्घ कमजोर पड़ जाता है, क्योंकि वह निश्चित उद्देश्य सिद्ध करने में असफल रहता है।

(iv) **सदस्यों का स्वार्थ**—जब तक सदस्यों का स्वार्थ पूरा होता रहता है तब तक वे संघ के नियमों का पूर्ण पालन करते हैं, परन्तु स्वार्थ पूरा न होने पर वे असन्तुष्ट हो जाते हैं और किसी न किसी बहाने से उसको समाप्त करने का प्रयत्न करते हैं।

(v) **निर्माण की विशेष परिस्थिति न होना**—इनका निर्माण किसी विशेष परिस्थिति में ही होता है, जो न रहने पर सघ का अस्तित्त्व रहेगा ही अथवा उसको चालू रखने के लिये सदस्य तैयार होंगे ही; यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता।

सिण्डीकेट या व्यापारी संघ (Syndicate)—सिण्डीकेट से अभिप्राय वस्तुओं के विक्रय संघ से है। इसके अन्तर्गत संगठित इकाइयाँ आपस में मिलकर विक्रय संघ का निर्माण करती हैं। सदस्य इकाइयाँ अपने माल को विक्रय हेतु लेखा मूल्य (Accounting Price) पर इस विक्रय संघ को दे देती हैं। यह विक्रय संघ निर्धारित मूल्य पर माल का विक्रय करता है तथा इस विक्रय से होने वाले लाभ को सदस्य इकाइयाँ निश्चित अनुपात में आपस में बाँट लेती हैं। आगे इसकी कार्य प्रणाली का चित्र द्वारा प्रदर्शन किया गया है।

नीचे के चित्र में अ, ब तथा स सदस्य इकाइयाँ हैं, जो माल को विक्रय हेतु सिण्डीकेट को सौंप देती हैं तथा लाभ को आपस में निश्चित अनुपात में बाँट लेती हैं :—
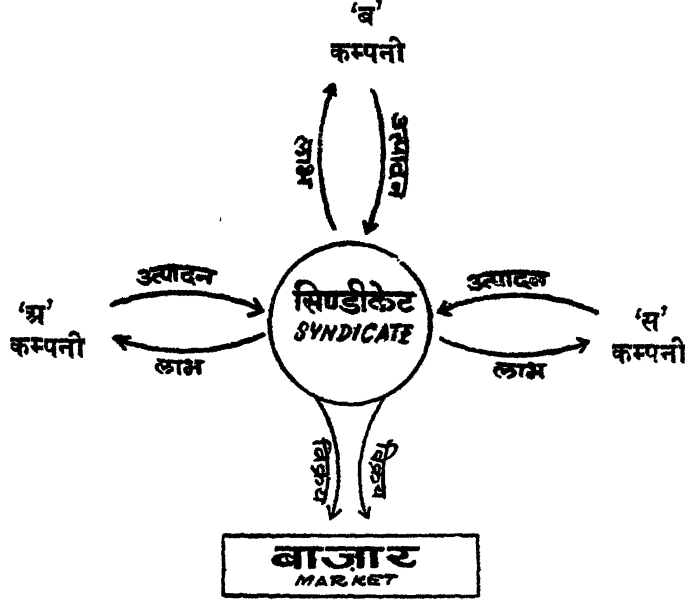
(२) सङ्घनन (Consolidation)—

संघनन में उद्योग की विभिन्न इकाइयाँ आन्तरिक तथा वाह्य (Internal and External) मितव्ययिताओं को प्राप्त करने के उद्देश्य से आपस में मिल जाती हैं। इस प्रकार के मिलन को संघनन कहते हैं। यह दो प्रकार का होता है :—(१) अपूर्ण संघनन, तथा (२) पूर्ण संघनन। अपूर्ण संघनन में उद्योग की विभिन्न इकाइयों का अस्तित्व बना रहता है, जबकि पूर्ण संघनन में सभी इकाइयों का अथवा एक को छोड़कर शेष सभी इकाइयों का अस्तित्त्व समाप्त हो जाता है।

(१) अपूर्ण संघनन के रूप : (अ) प्रन्यास (Trust) उत्पत्ति—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका प्रन्यास की जन्मभूमि है। संयोग का यह प्ररूप सर्वप्रथम सन् १८७९ में स्टैण्डर्ड ऑयल कम्पनी ने स्टैण्डर्ड ऑयल प्रन्यास बनाकर प्रस्तुत किया। इनके निर्माण का प्रमुख कारण जनता द्वारा प्रचलित संयोग विरोधी आन्दोलन था। इस प्रकार १९वीं शताब्दी में जब अमेरिका की अनेक रियासतों में संयोग आन्दोलन के विरुद्ध कदम उठाये जा रहे थे, उस समय वहाँ की 'मैसाचैस्ट्स' (Massachusetts) नामक रियासत में संयोग नामक प्रन्यास की नींव पड़ी और इसी के नाम से ही ये बाद में पहिचाने जाने लगे। इसके बाद इङ्गलैंड में भी इनका निर्माण हुआ, जिनमें स्थायी (Fixed) अथवा इकाई (Unit) प्रन्यास प्रमुख हैं, परन्तु आजकल इस स्वरूप के संयोग उसकी जन्म-भूमि अमेरिका में नहीं मिलते, क्योंकि अमेरिकी शासन ने 'शेरमन ट्रस्ट-विरोधी अधिनियम, १८९०' (Sherman Anti-Trust Act, 1890) बनाकर इनको अवैधानिक घोषित किया।

प्रन्यास से आशय—प्रन्यास का विभिन्न परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया जाता है। साधारण व्यवहार तथा व्यापार में इस शब्द का प्रयोग विभिन्न अभिप्राय से किया जाता है। अंग्रेजी शब्द 'ट्रस्ट' का शाब्दिक अर्थ है 'विश्वास' (Confidence) अर्थात् जब कि सम्पत्ति का प्रबन्ध कुछ व्यक्तियों को इस उद्देश्य से सौंप दिया जाता है कि वे लोग किसी विशेष कार्य में

जैसे—धार्मिक (Religious) उसकी आय का उचित प्रयोग करेंगे तो कहा जाता है कि अमुक सम्पत्ति 'ट्रस्ट' अर्थात् प्रन्यास के सुपुर्द कर दी गई है। जिन सुयोग्य एवं विश्वास-पात्र व्यक्तियों के हाथों में सम्पत्ति सौंप दी जाती है, उन व्यक्तियों को हम व्यक्तिगत रूप में "ट्रस्टी" (Trustee) अर्थात् प्रन्यासी कहते हैं तथा ऐसे समस्त व्यक्तियों को 'ट्रस्ट' (Trust) अथवा 'प्रन्यास' तथा उनके हाथों में सौंपी गई सम्पत्ति को 'ट्रस्ट प्रॉपर्टी' (Trust property) अर्थात् प्रन्यास सम्पत्ति कहते हैं। भारत में इस प्रकार के प्रन्यास मन्दिरों, अस्पतालों तथा शिक्षा-संस्थाओं में पाये जाते हैं। दूसरे अर्थ में प्रन्यास हम औद्योगिक संगठन के उस स्वरूप को कह सकते हैं जिसमें विभिन्न उद्योगों के अंशधारी (Shareholders) अपने-अपने उद्योगों की व्यवस्था अपने विश्वासपात्र व्यक्तियों के हाथों में सौंप देते हैं। इसके बदले में प्रन्यास विभिन्न कम्पनियों के अंशधारियों को उनके अंश-प्रमाण-पत्र (Share Certificates) के बदले में प्रन्यास प्रमाण-पत्र (Trust Certificates) दे देते हैं, जिससे उनको प्राप्त होने वाला लाभांश निरन्तर मिलता रहे। इस प्रकार प्रन्यास का निर्माण करने से विभिन्न उद्योगों की व्यापारिक एवं औद्योगिक नीति का केन्द्रीयकरण होकर उसमें समानता आ जाती है। भारतीय उद्योगों में इस प्रकार के प्रन्यास देखने में नहीं आते हैं।

परिभाषायें—श्री हैने (Haney) के अनुसार, "प्रन्यास स्कन्ध-धारी (Stock-holders) व्यापारियों का एक संयुक्त संगठन है, जिसको कि संरक्षकों के अधीन प्रन्यास प्रमाण-पत्र प्राप्त कर प्रबन्ध अभिकर्त्ता के लिये छोड़ देते हैं। यह प्रमाण-पत्र सदस्यों के अंश अधिकार का एक सबूत होता है तथा उसमें होने वाले लाभ को प्राप्त करने का एक साधन है। इस संगठन में सदस्य यद्यपि सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं, किन्तु उनका व्यापारिक व्यक्तित्व पृथक् होता है।"

श्री रॉबर्टसन (Robertson) ने अपनी पुस्तक 'दी कन्ट्रोल ऑफ इण्डस्ट्री' में प्रन्यास की परिभाषा इस प्रकार की है, "इस प्ररूप से, जोकि अब समाप्त हो गया है, विभिन्न कम्पनियों के अंशधारी कुछ प्रन्यासियों (Trustees) को अपने सम्पूर्ण स्कन्ध हस्तान्तरित कर देते हैं, जिसके बदले में उन्हें प्रन्यास प्रमाण-पत्र (Trust Certificate) मिल जाते हैं, जिससे उन्हें (मूल अंशधारियों) लाभांश (Dividend) प्राप्त करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है तथा प्रन्यासियों को उन कम्पनियों का प्रबन्ध अधिकार प्राप्त हो जाता है।"[1] अतएव उनको 'लाभाधिकारी' (Beneficiaries) भी कहते हैं।

प्रन्यास अन्य प्रकार के संयोगों की अपेक्षा अधिक विस्तृत रहता है। इसके अन्तर्गत समस्त सदस्यों को अपना आन्तरिक तथा बाहरी नियन्त्रण (Internal and External Control) प्रन्यास के अधीन देना पड़ता है। दूसरे शब्दों में, सम्पूर्ण सदस्यों के माल उत्पादन की विधियों (Productive Processes) से लेकर विक्रय-नीति (Marketing Policy) तक के अधिकार केवल एक नियन्त्रण में रहते हैं।

---

[1] "Under this form, which is now obsolete, the shareholders of the separate companies made over all their stock to a number of trustees, who received power of attorney to deal with it as they thought fit, and who issued instead of it trust certificates, carrying a claim to the payments of dividends to the original shareholders."—**Robertson :** *The Control of Industry.*

चित्र द्वारा प्रदर्शन—चित्र से स्पष्ट है कि A, B, C, D, E, F औद्योगिक इकाइयों
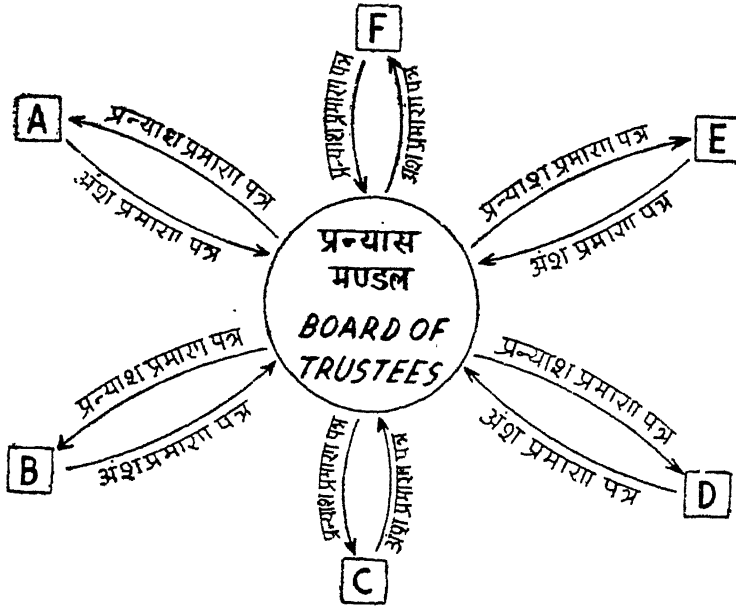
ने प्रन्यास मण्डल को अपने सम्पूर्ण अंशों का हस्तान्तरण कर दिया है और उनके बदले में उन्हें प्रन्यास प्रमाण-पत्र प्राप्त हो गये हैं।

प्रन्यास के रूप—प्रन्यासियों के विभिन्न अधिकारों के आधार पर प्रन्यासों के विभिन्न प्ररूप हो सकते हैं, जिनमें से मुख्य इस प्रकार हैं :—(i) **मैसाचैस्ट्स प्रन्यास** (Massachusetts Trust)—प्रन्यास के इसी प्ररूप का विकास अमेरिका की इसी रियासत में हुआ था, इसीलिए इनको 'मैसाचैस्ट्स प्रन्यास' कहते हैं। इनकी विशेषता यह है कि इनमें सम्मिलित होने वाली इकाइयों का पृथक अस्तित्त्व होते हुए भी अंशधारियों के सम्पूर्ण अंशों का हस्तान्तरण कुछ प्रन्यासियों को सौंप दिया जाता है, जोकि उनका नियन्त्रण करते हैं। इस प्रकार से प्रन्यास अब अमेरिका में भी दिखाई नहीं देते हैं।

(ii) **मतदान प्रन्यास** (Voting Trust)—दूसरे प्रन्यास जिनका जन्म अमेरिका में हुआ, मताधिकारी प्रन्यास हैं। इनमें कम्पनियों के बहुसंख्यक अंशधारी अपने अंशों को प्रन्यास को सौंप देते हैं और यह हस्तान्तरण केवल मतदान तक ही सीमित रहता है, ताकि वे अपने बहुमत का सदुपयोग कर सकें। ये अपने अंशों को प्रन्यास में बहुत कम अवधि तक ही रखते हैं और जब यह अवधि समाप्त हो जाती है तो वे अपने अंशों को वापस ले लेते हैं। नवीन कम्पनियों का जनता में विश्वास उत्पन्न करने के लिए यह पद्धति उत्तम है।

(iii) **विनियोग प्रन्यास** (Investment Trust)—इस प्रकार के प्रन्यास कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत निर्मित होते हैं, अतएव इनकी स्थापना वैधानिक होती है। इनके निर्माण का प्रमुख उद्देश्य नव-निर्मित कम्पनियों को सुगमता से पूँजी प्राप्त करने में सहायता प्रदान करना होता है। इस प्रकार के प्रन्यास अंशों तथा ऋण-पत्रों के निर्गमन से अपनी पूँजी प्राप्त करते हैं और प्राप्त पूँजी का विनियोग विभिन्न उद्योगों के अंश आदि खरीदने में करते हैं, अतएव अंशों तथा ऋण-पत्रों का क्रय-विक्रय करना इनका मुख्य कार्य होता है और इस प्रकार से जो लाभ अथवा ब्याज मिलता है उसको ये अपने अंशधारियों में लाभांश (Dividend) के रूप में बाँट देते

हैं। भारतवर्ष में जे० के० विनियोग प्रन्यास, बिड़ला विनियोग प्रन्यास आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं।

(iv) **स्थायी अथवा इकाई प्रन्यास** (Fixed or Unit Trust)—स्थायी अथवा इकाई प्रन्यास 'विनियोग प्रन्यास' के समान होते हैं। इनका उद्देश्य भी उद्योगों को आवश्यक पूँजी देना होता है, लेकिन ये प्रन्यास पूँजी का विनियोग विशेष उद्योगों में करते हैं, इसलिये इन्हें स्थायी अथवा इकाई प्रन्यास कहते हैं। इनका विकास अवपात् के समय अमेरिका में हुआ था, जबकि उद्योगों को काफी पूँजी की आवश्यकता थी, क्योंकि उस समय पूँजी सरलता से उपलब्ध न थी। ये प्रन्यास केवल निर्धारित उद्योगों में पूँजी का विनियोग करने के लिये तैयार रहते थे। ये प्रन्यास निश्चित अवधि के लिये निर्मित किये जाते हैं और अवधि के समाप्त होने पर इनको समाप्त कर दिया जाता है। ये प्रन्यास स्थायी कहलाते हैं, लेकिन स्वयं स्थायी नहीं होते हैं। इनको स्थायी इस अर्थ में कहा जाता है कि पूँजी का विनियोजन निश्चित प्रमण्डलों में होता है और जब तक यह प्रन्यास कारोबार करता रहता है तब तक विनियोग नीति में परिवर्तन नहीं किया जाता है।

प्रन्यास से लाभ—(१) इनका सङ्गठन अन्य संयोगों की तुलना में **अधिक** शक्तिशाली तथा स्थायी होता है। अतएव दीर्घकालीन योजनायें सुविधापूर्वक तैयार की जा सकती हैं तथा उन्हें प्रभावपूर्ण ढङ्ग से कार्यान्वित किया जा सकता है। (२) इनके प्रबन्ध तथा सञ्चालन में केन्द्रीयकरण होने से बड़ी मात्रा में **उत्पादन के समस्त लाभ प्राप्त** हो जाते हैं। (३) साधनों के विकास के साथ-साथ प्रन्यास आधुनिक मशीनों की स्थापना कर सकता है। **अनुसन्धान कार्य भी** अधिक सुविधापूर्वक किया जा सकता है। (४) प्रन्यास छोटी-छोटी तथा अनार्थिक इकाइयों को आर्थिक इकाइयों में परिणत कर सकता है। (५) उत्पादन की प्रमापित विधियों का उपयोग किया जा सकता है। इस प्रकार माल की किस्म में सुधार होने के साथ-साथ उत्पादन की मात्रा में भी वृद्धि हो सकती है। (६) विक्रय तथा उत्पादन पर पूर्ण नियन्त्रण होने से मूल्य-निर्धारण में सुविधा रहती है। (७) इसमें प्रबन्ध का एकीकरण होने से इकाइयों के निजी लाभ की समस्या समाप्त हो जाती है, क्योंकि लाभ का विभाजन सामूहिक रूप से होता है। (८) अन्य संयोगों की अपेक्षा इसमें सदस्यों के बीच अधिक सहयोग की भावना जाग्रत होती है।

प्रन्यास के दोष—(१) **शील्ड्स** (Shields) के अनुसार, "प्रन्यासों का सबसे बड़ा दोष यह है कि संस्थापक अथवा प्रन्यासी (Trustee) मिथ्या-वर्णन (Misrepresentation) तथा तथ्यों को छिपाकर विनियोगिताओं का शोषण करते हैं तथा अपने अन्य मित्रों के लिए विशेष लाभ प्राप्त करते हैं।"[1] (२) प्रन्यास प्रायः सामूहिक शक्ति का दुरुपयोग करते हैं। वे कृत्रिम रूप से वस्तु की कमी करके वस्तु के मूल्यों में वृद्धि कर देते हैं। अत्यन्त शक्तिशाली प्रन्यास राजनैतिक क्षेत्र में भी अनुचित रूप से हस्तक्षेप करने लगते हैं। (३) ये अनुचित प्रतिस्पर्धा करके अपने बाहर की छोटी-छोटी इकाइयों का शोषण करते हैं। (४) प्रन्यासों में प्रायः अधि-पूँजीयन का भय रहता है। अमेरिका में औद्योगिक संयोग तथा प्रन्यास के समक्ष गवाही देते हुए एक डिस्टिलरी (Distillery) के स्वामी ने बताया कि प्रत्येक डिस्टिलरी की वास्तविक कीमत से चौगुने मूल्य के प्रन्यास-पत्र निकाले गये थे। (५) **प्रोफेसर जे० बी० क्लार्क** (Prof. J. B. Clark) के अनुसार प्रन्यास कभी-कभी अधिक कार्यक्षमता वाली औद्योगिक इकाइयों को भी समाप्त करने में सफल हो जाते हैं। (६) ये जितनी कठिनाई से स्थापित होते हैं उतनी ही कठिनाई से इनका अन्त होता है।

---

1 **Shields** : *Evolution of Industrial Organisation.*

प्रन्यास तथा उत्पादक सङ्घ में अन्तर (Difference between Trust and Cartel)—

कभी-कभी यह भ्रम हो जाता है कि उत्पादन सङ्घ तथा प्रन्यास दोनों एक ही हैं, क्योंकि साधारणतः दोनों की ही निर्माण-विधि का उद्देश्य प्रतियोगिता निवारण तथा बाजार पर एकाधिकार प्राप्त करने का होता है। दोनों ही संयोग की प्रमुख प्रणालियाँ हैं, किन्तु दोनों में पर्याप्त अन्तर है। यह अन्तर इस प्रकार है :—

क्रम संख्या	अन्तर का आधार	प्रन्यास (Trust)	उत्पादक संघ (Cartel)
१.	जन्मभूमि	प्रन्यास की जन्मभूमि अमेरिका है।	उत्पादक सङ्घ की जन्मभूमि जर्मनी है।
२.	नियन्त्रण	प्रन्यास का इकाइयों पर कड़ा नियन्त्रण रहता है, यहाँ तक कि आन्तरिक प्रबन्ध में भी व्यापक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं।	उत्पादक सङ्घ का अपनी इकाइयों पर बहुत ही सीमित नियन्त्रण रहता है। यह प्रायः मूल्य-निर्धारण, उत्पादन पर नियन्त्रण तथा वितरण तक ही सीमित रहता है।
३.	स्थायित्व	प्रन्यास अधिक स्थायी होते हैं। एक बार स्थापित हो जाने के पश्चात् मुश्किल से ही समाप्त होते हैं।	उत्पादक सङ्घ प्रायः अल्प-कालीन तथा अस्थायी होते हैं, उनका निर्माण जितनी शीघ्रता से होता है उतनी ही शीघ्रता से वे समाप्त हो जाते हैं।
४.	व्यक्तिगत स्वामित्व	प्रन्यास में सम्मिलित होने वाली इकाइयों का व्यक्तिगत स्वामित्व समाप्त हो जाता है।	उत्पादक संघ में सम्मिलित होने वाली इकाइयों का व्यक्तिगत स्वामित्व कायम रहता है।
५.	उद्देश्य	प्रन्यास का उद्देश्य प्रायः प्रबन्ध के एकीकरण द्वारा लम्बे पैमाने पर उत्पादन के लाभ प्राप्त करना होता है।	इनका उद्देश्य प्रायः पूर्ति पर नियन्त्रण करके मूल्यों में वृद्धि करना होता है।
६.	क्षेत्र	प्रन्यास में सम्मिलित होने वाली इकाइयों की संख्या सीमित होने के कारण इनका क्षेत्र भी सीमित होता है।	उत्पादक संघ का क्षेत्र व्यापक होता है। राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर अनेक उत्पादक संघों का निर्माण हुआ है।
७.	लोच	प्रन्यास के संगठन में प्रायः लोच का अभाव होता है।	उत्पादक सङ्घ अपेक्षाकृत अधिक लोचदार होते हैं। इनकी शर्तों में परिवर्तन सुविधापूर्वक किया जा सकता है।
८.	निर्माण विधि	प्रन्यास का निर्माण अंशधारियों द्वारा अपने अंशों को विश्वसनीय व्यक्तियों (Trustees) को हस्तान्तरित करने से होता है, जिससे वे आन्तरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं कर सकते।	उत्पादक संघों का निर्माण उत्पादकों के परस्पर ऐच्छिक समझौते से होता है।
९.	सदस्यों की संख्या	इसमें सदस्यों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है।	इसमें सदस्यों की संख्या अपेक्षाकृत अधिक होती है, क्योंकि इनका निर्माण राष्ट्रीय व अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर भी होता है।

(ब) सामुदायिक हित संयोग (Community of Interest Combination)—**उदय**—अमेरिका में सन् १८६० में 'शेरमन प्रन्यास विरोधी अधिनियम' द्वारा प्रन्यासों की स्थापना अवैध कर दी गई थी। अतएव उद्योगों को विनाश से बचाने के लिये नवीन प्रकार के संयोग का निर्माण किया गया, जिसका नाम "सामुदायिक हित संयोग" पड़ा।

परिभाषा—सामुदायिक हित संयोग में केन्द्रीय शासन अथवा प्रबन्ध नहीं होता है, बल्कि विभिन्न इकाइयों के संचालक व्यापारिक तथा औद्योगिक नीति की महत्त्वपूर्ण समस्याओं पर सामूहिक विचार करने के बाद एक निर्णय करते हैं। यह निर्णय उद्योग की विभिन्न इकाइयों (अर्थात् सदस्यों) के हित में होता है। इस प्रकार के संयोग दो रूप धारण कर सकते हैं। पहले रूप में सामुदायिक हित केवल स्वामित्त्व के लिये होता है और दूसरे में सामुदायिक हित स्वामित्त्व तथा संचालन दोनों ही के लिये होता है। सामुदायिक हित संयोग प्राय: दूसरे रूप में पाया जाता है। इसमें एक कम्पनी के अधिकारी अथवा संचालक अन्य कम्पनियों की संचालक सभा में सम्मिलित कर लिये जाते हैं। इस प्रणाली को "पाश सञ्चालक प्रबन्ध" (Inter-locking Directorate) भी कहते हैं।

ओवन्स (Owens) के अनुसार, "जब एक ही व्यक्ति के हाथ में कई कम्पनियों के अंश आ जाते हैं तो उन कम्पनियों के बीच एकतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।" इसको ही सामुदायिक हित सयोग कहते हैं।[1] इनका विकास प्राय: विश्व में सर्वत्र हुआ है। भारत में यह प्रथा अधिक चलन में है। भारत की प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली तथा सामुदायिक हित संयोग में काफी समानता पाई जाती है।

(स) संधारी या सूत्रधारी कम्पनी (Holding Company)—**उदय**—संधारी कम्पनियों का निर्माण सबसे पहले अमेरिका में १९वीं शताब्दी के अन्त में, जबकि वहाँ पर प्रन्यासों को अधिनियम द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया था, हुआ। भारतवर्ष में इनका निर्माण १९१३ से भारतीय कम्पनी अधिनियम बनने के बाद हुआ।

परिभाषा—संधारी कम्पनी उस कम्पनी को कहते हैं जो किसी उद्योग विशेष की अन्य कम्पनियों को अपने प्रबन्ध-नियन्त्रण में लेने के लिये अन्य कम्पनियों के बहुमतधारी अंश एवं स्कन्ध उन कम्पनियों से अथवा बाजार से खरीद लेती है। ऐसी कम्पनी को सन्धारी अथवा सूत्रधारी कम्पनी भी कहते है। कम्पनियाँ, जिसके प्रबन्ध पर नियन्त्रण किया जाता है, यद्यपि वे अपना अस्तित्त्व पृथक् ही रखती हैं, फिर भी संधारी कम्पनी के इशारों पर नाचती हैं। सन्धारी कम्पनी की नियन्त्रित कम्पनियों को 'सहायक कम्पनियाँ' (Subsidiary Companies) कहते हैं।

भारतीय कम्पनी अधिनियम, १९५६ के अनुसार कोई भी कम्पनी जो अन्य कम्पनियों के अंशों व स्कन्धों को किसी मनोनीत व्यक्ति के माध्यम से धारण करती है, तथा (अ) ऐसे क्रय किये गये अश कुल निर्गमित अंशों के ५०% से अधिक हों, (ब) क्रय किये हुए अशों पर ५०% अधिक मताधिकार प्राप्त हो, (स) इस कम्पनी को अन्य कम्पनियों की सचालक सभा में बहुसंख्यक (Majority) सञ्चालकों को नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त हो, तो ऐसी कम्पनी को 'सन्धारी' अथवा 'सूत्रधारी' कम्पनी कहते हैं। भारत में बैरकपुर कोयला कम्पनी लि०, ए० सी० सी० आदि इसके उदाहरण हैं।

उद्देश्य—(१) परस्पर प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करना। (२) विभिन्न कम्पनियों का अस्तित्त्व पृथक् होते हुए भी उनके प्रबन्ध एवं औद्योगिक नीति में केन्द्रीयकरण लाना। (३)

---

1 "A harmonious relationship established between two or more companies as a result of the ownership of their stock by the same persons."—**Owens.**

अपनी पूँजी का लाभ अन्य साधनों में लगाना। (४) सम्मिश्रण तथा विलयन के दोषों को दूर करना।
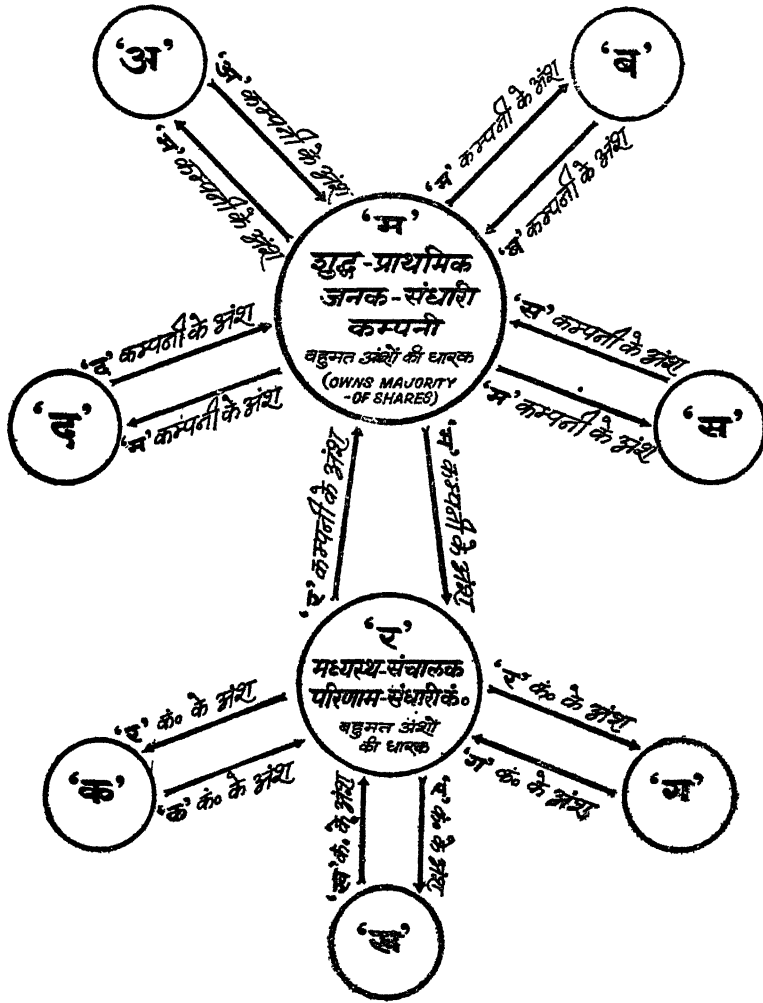
संधारी कम्पनियों के प्ररूप—(i) प्राथमिक अथवा प्रमुख संधारी कम्पनी (Primary Holding Company)—यह कम्पनी अन्य कम्पनियों को अपने नियन्त्रण में रखती है, किन्तु स्वयं अन्य किसी कम्पनी द्वारा नियन्त्रित नहीं होती। यह प्रमुख कम्पनी कहलाती है और अन्य सभी इसकी सहायक कम्पनियाँ होती हैं। उपरोक्त चित्र में 'म' प्रमुख संधारी कम्पनी है तथा अ, ब, स एवं द उसकी सहायक कम्पनियाँ हैं।

(ii) मध्यस्थ संधारी कम्पनी (Intermediate Sub-holding Company)—वह कम्पनी जोकि अन्य सहायक कम्पनियों पर नियन्त्रण करती है, किन्तु स्वयं प्रमुख सहायक कम्पनी द्वारा नियन्त्रित होती है, मध्यस्थ संधारी कम्पनी कहलाती है। इस प्रकार प्रमुख संधारी कम्पनी के लिये मध्यस्थ संधारी कम्पनी होती है। उपरोक्त चित्र में 'र' कम्पनी मध्यस्थ संधारी कम्पनी

है, क्योंकि यह 'क', 'ख' तथा 'ग' तीनों कम्पनियों पर नियन्त्रण रखती है तथा स्वयं 'म' कम्पनी की प्रमुख सहायक कम्पनी है ।

(iii) **जनक सन्धारी कम्पनी** (Parent Holding Company)--वह कम्पनी जिसका निर्माण सबसे पहले होता है तथा बाद में वह अपनी सहायक कम्पनियों का निर्माण करती है, 'जनक संधारी कम्पनी' कहलाती है । उपरोक्त चित्र में 'म' कम्पनी जनक सन्धारी कही जा सकती है, क्योंकि सबसे पहले इसी कम्पनी का निर्माण हुआ था । तत्पश्चात अन्य कम्पनियों का निर्माण हुआ है ।

(iv) **स्वामित्व सन्धारी कम्पनी** (Proprietory Holding Company)—वह कम्पनी जोकि अपनी सहायक कम्पनियों की सम्पूर्ण पूँजी पर अपना अधिकार कर लेती है, स्वामित्व सन्धारी कम्पनी कहलाती है । इस प्रकार कम्पनी की सहायक कम्पनियों पर पूर्ण नियन्त्रण हो जाता है ।

(v) **अर्थ-सन्धारी कम्पनी** (Finance Holding Company)—जब कोई कम्पनी अपने अधीन कम्पनियों पर नियन्त्रण नहीं रखना चाहती बल्कि उनकी आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करके ही लाभ प्राप्त करना चाहती है, तो ऐसी कम्पनी को अर्थ-सन्धारी कम्पनी कहते हैं । ऐसी कम्पनियाँ ब्याज पर अपनी सहायक कम्पनियों को पूँजी देती हैं । ये अपनी पूँजी अन्य औद्योगिक कम्पनियों के अंश खरीदने में भी लगाती हैं, जिस पर इनको लाभांश मिलता है ।

(vi) **शुद्ध सन्धारी कम्पनी** (Pure Holding Company)—वह कम्पनी जोकि बहुमतधारी अंशों को खरीद लेती है, किन्तु सहायक कम्पनियों के आन्तरिक प्रबन्ध में हस्तक्षेप नहीं करती, शुद्ध सन्धारी कम्पनी कहलाती है । जैसे; बारकपुर कोल कम्पनी व एसोसियेटेड सीमेन्ट कम्पनी आदि । उपरोक्त चित्र में 'म' शुद्ध सन्धारी कम्पनी है, क्योंकि उसने अ, ब, स तथा द कम्पनियों के अधिकांश अंशों का क्रय कर लिया है ।

(vii) **संचालक अथवा मिश्रित सन्धारी कम्पनी** (Operative or Mixed-Holding Company)—इसमें सहायक कम्पनियों के बहुमतधारी अंश संधारी कम्पनी द्वारा खरीद लिये जाते हैं । संचालक अपनी सहायक कम्पनियों में विशेष रुचि रखते हैं एवं उनकी व्यवस्था, उत्पादन, विक्रय आदि पर नियन्त्रण रखते हैं । उपरोक्त चित्र में 'र' संचालक सन्धारी कम्पनी हैं ।

(viii) **परिणाम सन्धारी कम्पनी** (Offspring Holding Company)—वह कम्पनी जिनकी स्थापना सब सहायक कम्पनियों के पश्चात् होती है, परिणाम सन्धारी कम्पनी कहलाती है । उपरोक्त चित्र में 'र' परिणाम संधारी कम्पनी है, क्योंकि इसका निर्माण सबसे बाद में हुआ है ।

सन्धारी कम्पनी के लाभ—(i) **वैधानिक सुगमता**—इसका निर्माण कम्पनी अधिनियम के अनुसार होता है, अतएव इसको वह सब अधिकार मिल जाते हैं, जो एक साधारण संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी को मिलते हैं । इसमें प्रसंविदा करने की क्षमता होती है ।

(ii) **प्रतिस्पर्धा का अन्त**—इसके द्वारा सहायक कम्पनियों में सहकारिता की भावना उत्पन्न होती है, जिससे आपसी प्रतिस्पर्धा का अन्त हो जाता है ।

(iii) **मितव्ययिता**—सहायक कम्पनियों के प्रबन्ध एवं संचालन सम्बन्धी व्यय सधारी कम्पनी द्वारा सामूहिक रूप से किये जाते हैं । इससे आन्तरिक व्यय में मितव्ययिता आ जाती है ।

(iv) **स्थायित्व**—चूँकि इसका निर्माण सदस्यों की स्वेच्छा से नहीं होता, अतः इसका समापन भी सदस्यों की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं होता । इस प्रकार इसका अस्तित्व अन्य संयोगों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है ।

(v) **पूँजी प्राप्त करने में सुविधा**—संधारी कम्पनियों के निर्माणकर्त्ता एवं प्रवर्तक

बड़े-बड़े पूँजीपति होते हैं। इनका सम्बन्ध बड़े-बड़े पूँजीपतियों से होता है। अतः वे बड़ी सुगमता से अंशों व ऋण-पत्रों का निर्गमन करके पूँजी प्राप्त कर सकते हैं।

(vi) **सहायक कम्पनियों का पृथक् अस्तित्व**—संधारी कम्पनी में अनेक सहायक कम्पनियाँ होते हुए भी प्रत्येक सहायक कम्पनी का अस्तित्व पृथक रहता है। यदि किसी एक कम्पनी की ख्याति कम भी हो जाती है तो उसका धब्बा अन्य कम्पनियों पर नहीं लगता।

(vii) **तान्त्रिक एवं औद्योगिक कार्यक्षमता**—सन्धारी कम्पनी के अन्तर्गत अनेक सहायक कम्पनियों के होने के कारण तान्त्रिक एवं औद्योगिक विशेषज्ञों की सेवायें प्राप्त की जा सकती हैं। इन सेवाओं का लाभ सभी सहायक कम्पनियों को हो सकता है। यह औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक है।

(viii) **निर्माण सुगमता**—संयोग के विभिन्न प्ररूपों की तुलना में इनका निर्माण अत्यन्त सरलता से होता है, क्योंकि प्रायः सभी कम्पनियों के अंश खुले स्कन्ध बाजार में बिकते हैं, जो सरलता से खरीदे जा सकते हैं।

(ix) **जोखिम में कमी**—सन्धारी कम्पनी के निर्माण से सदस्य इकाइयों की जोखिम कम हो जाती है, क्योंकि ऐसे अवसर पर सन्धारी कम्पनी अपनी-अपनी सहायक कम्पनियों की सहायता करती है।

(x) **औद्योगिक एवं व्यापारिक नीति में समानता**—सन्धारी कम्पनी सहायक कम्पनियों के प्रबन्ध पर नियन्त्रण रखती है। अतएव प्रत्येक सहायक कम्पनी की व्यापारिक एवं औद्योगिक नीति में समानता आ जाती है। इससे कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

संधारी कम्पनियों से हानियाँ—(i) **पूँजी का केन्द्रीयकरण**—वर्तमान औद्योगिक विकास योग्य, अनुभवी एवं कुशल व्यक्तियों के नियन्त्रण में न रहकर कुछ चुने हुये पूँजीपतियों के समूह के नियन्त्रण में चला जाता है, जो अपने निजी लाभ के लिए उनका नियन्त्रण करते हैं। यह जन-हित एवं राष्ट्र के लिये हानिकारक है।

(ii) **विनियोक्ताओं से छल**—प्रबन्ध का केन्द्रीयकरण होने से सन्धारी कम्पनी के संचालकगण अपनी सहायक कम्पनियों से छल-साधन (Manipulation) द्वारा उनमें होने वाले लाभ का अधिकांश भाग (Lion's Share of Profit) स्वयं ले लेते हैं, जिससे विनियोक्ताओं को हानि होती है।

कुछ वर्ष पूर्व बम्बई शेयरहोल्डर्स एसोसियेशन के द्वारा किये गये अनुसन्धान के अनुसार शुद्ध लाभ का वितरण इस प्रकार से होता था :—

प्रमण्डल संख्या	उद्योग	प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं का लाभांश	अंशधारियों का लाभांश
१६	जूट उद्योग	३६·६%	७६·००%
१४	कलकत्ता	५४·२%	७३·२०%
	सूती वस्त्र उद्योग		
३६	बम्बई	३८·८%	४६·२७%
	सूती वस्त्र उद्योग		
२२	अहमदाबाद	७०·५%	३१·००%

(iii) **देश की आर्थिक नीति पर नियन्त्रण**—धीरे-धीरे ये चुने हुए पूँजीपति अपने असीम साधनों के द्वारा राष्ट्र के आर्थिक कलेवर को भी प्रभावित करने में सफल हो जाते हैं। इससे राष्ट्र अवनति की ओर अग्रसर होने लगता है।

(iv) **प्रतियोगिता का अन्त**—सन्धारी कम्पनी के द्वारा सहायक कम्पनियों के बीच

होने वाली प्रतियोगिता का अन्त हो जाता है। इससे उद्योग व व्यापार में होने वाली प्रगति रुक जाती है, क्योंकि इनके विकास के लिये स्वस्थ प्रतियोगिता का होना अत्यन्त आवश्यक है।

(v) **पूँजी की अधिकता**—सन्धारी कम्पनियों में प्राय: पूँजी की अधिकता रहती है, जिससे विनियोक्ताओं का विदोहन होता है, क्योंकि अधिक पूँजी के बल पर ये विनियोक्ताओं की दृष्टि से हानिकारक क्रियायें करते रहते हैं तथा निजी लाभ की ओर अधिक प्रयत्नशील रहते हैं।

(vi) **सहायक कम्पनियों के साथ छल-व्यवहार** (Manipulation)—सन्धारी कम्पनी अपनी सहायक कम्पनियों के साथ इस चालाकी से छल-व्यवहार करती हैं, जिससे विनियोक्ताओं को, जो अल्पमत में होते हैं, हानि होती है, जैसे—एक कम्पनी से दूसरी कम्पनी को कम ब्याज पर अथवा बिना किसी जमानत के रुपया उधार दे देना, एक कम्पनी की हानि की दूसरी कम्पनी के लाभ में से पूर्ति करना अथवा एक कम्पनी का माल दूसरी कम्पनी को बाजार-मूल्यों से कम पर बेचना आदि।

(vii) **दबाव का भय**—सन्धारी कम्पनी कमजोर स्थिति वाली कम्पनियों पर अनुचित दबाव डाल कर उनको अपने अधीन कर लेती है।

(viii) **एकाधिकार का भय**—सन्धारी कम्पनी की क्रियायें प्राय: असामाजिक होती हैं और प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन होने से एकाधिकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं।

संधारी कम्पनी तथा प्रन्यास में अन्तर (Difference between Holding Company and a Trust)—

यद्यपि सन्धारी कम्पनी तथा प्रन्यास में काफी समानता पाई जाती है, परन्तु फिर भी दोनों में निम्नलिखित अन्तर विद्यमान हैं :—

क्रम संख्या	अन्तर का आधार	सन्धारी कम्पनी (Holding Company)	प्रन्यास (Trust)
१.	उत्पत्ति	संधारी कम्पनी की उत्पत्ति अन्य कम्पनियों के बहुमत अंशों के क्रय किये जाने से होती है।	प्रन्यास की उत्पत्ति पारस्परिक समझौते द्वारा होती है।
२.	अस्तित्त्व	सन्धारी कम्पनी का निर्माण कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत होने के कारण अस्तित्त्व वैधानिक होता है।	प्रन्यास का अस्तित्त्व पूर्णत: विश्वास पर निर्भर करता है।
३.	संख्या	सदस्य इकाइयों की संख्या अपेक्षाकृत कम होती है तथा वह प्रधान कम्पनी के साधनों पर निर्भर करती है।	इसमें सदस्य इकाइयों की संख्या सन्धारी कम्पनी के मुकाबले में अधिक होती है।
४.	प्रमाण-पत्र का निर्गमन	सन्धारी कम्पनी में अंशों की एवज में प्रमाण-पत्र नहीं दिये जाते हैं।	प्रन्यास में अंशों की एवज में प्रन्यास प्रमाण-पत्र निर्गमित किये जाते हैं।
५.	इकाइयों की स्वतन्त्रता	इसमें सम्मिलित होने वाली इकाइयों की स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है तथा समस्त अधिकार सन्धारी कम्पनी के हाथ में चले जाते हैं।	प्रन्यास में सम्मिलित होने वाली इकाइयों की स्वतन्त्रता कायम रहती है।
६.	इकाइयों की निर्भरता	इसमें सहायक कम्पनियाँ एक दूसरे पर आश्रित नहीं होतीं।	इसके अन्तर्गत सदस्य इकाइयाँ एक दूसरे पर आश्रित होती हैं।
७.	लाभों का विभाजन	सहायक कम्पनियों को सन्धारी कम्पनी के लाभों में से कोई भाग नहीं मिलता।	इसके लाभों में से सदस्य इकाइयों को हिस्सा मिलता है।

८.	प्रबन्ध एवं नियन्त्रण	सन्धारी कम्पनी मे सहायक कम्पनियों का प्रबन्ध एवं नियन्त्रण सन्धारी कम्पनियों के सञ्चालक करते हैं, जिसे सञ्चालक सभा कहते हैं। इनकी संचालक सभा में प्रत्येक सहायक कम्पनी की सञ्चालक सभा का प्रतिनिधित्त्व आवश्यक नहीं होता।	प्रन्यास मे सम्मिलित होने वाली कम्पनियों के प्रबन्ध एवं नीति पर प्रन्यासियों का नियन्त्रण होता है, जिसे प्रन्यासी सभा (Board of Trustee's) कहते हैं। इसमें प्रत्येक सदस्य कम्पनी की सञ्चालक सभा का प्रतिनिधित्त्व करता है।

(२) **पूर्ण संघनन** (Complete Consolidation)—जब समान व्यवसाय करने वाली दो या दो से अधिक कम्पनियाँ एक-दूसरे के साथ पूर्ण रूप से विलीन हो जाती हैं तथा पृथक अस्तित्त्व नहीं रखतीं, तो उसे पूर्ण सङ्घनन कहते हैं। इस प्रकार के सङ्घनन करने से अनेक इकाइयों के स्थान पर एक बड़ी इकाई रह जाती है।

पूर्ण संघनन के प्ररूप—पूर्ण सङ्घनन के प्राय: दो रूप होते हैं, जिनका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है:—

(अ) **सम्मिश्रण** (Amalgamation)—जब समान व्यवसाय करने वाली दो या दो से अधिक कम्पनियाँ एक साथ मिल जायें और उनके मिलने से एक नवीन कम्पनी का निर्माण हो तथा विभिन्न कम्पनियों का अस्तित्त्व समाप्त हो जाये, तो सङ्घनन के इस प्ररूप को सम्मिश्रण कहते हैं। यह कार्य एक निश्चित योजना के अनुसार किया जाता है। नवीन कम्पनी विभिन्न कम्पनियों की सम्पत्ति (Assets) तथा दायित्त्व (Liabilities) का भार सम्हाल लेती है।

(ब) **सम्मिश्रण** (Absorption)—जब कोई वर्तमान कम्पनी, अन्य कम्पनियों का व्यापार अथवा उद्योग अपने व्यापार अथवा उद्योग के साथ मिला लेती है, तो ऐसी दशा को संविलयन कहते हैं। इसी विधि को अमेरिका में समावेशन (Merger) कहते हैं। इस प्रकार के संविलयन के पश्चात् एक बड़ी इकाई रह जाती है तथा अन्य सभी का अस्तित्त्व समाप्त हो जाता है। इसका उद्देश्य मितव्ययिता तथा लाभ प्राप्त करना होता है।

सम्मिश्रण तथा संविलयन में कोई विशेष अन्तर नहीं है।

पूर्ण-संघनन के लाभ—(१) पूर्ण एकीकरण के कारण विभिन्न इकाइयों में **पारस्परिक द्वेष-भाव समाप्त** हो जाता है। (२) प्रबन्ध एवं व्यवस्था का केन्द्रीयकरण हो जाने से **भारी मितव्ययिता** रहती है। (३) बड़ी मात्रा में उत्पादन के सभी लाभ मिलते हैं। (४) अनुसन्धान तथा अन्वेषण के लिए क्षेत्र विस्तृत हो जाता है। (५) इनका अस्तित्त्व अन्य संयोग के प्ररूपों के मुकाबले में अधिक स्थायी होता है। (६) बड़े-बड़े तान्त्रिक, आर्थिक तथा औद्योगिक विशेषज्ञों की सेवायें सुगमता से प्राप्त की जा सकती हैं। (७) अन्य इकाइयों का अस्तित्त्व समाप्त हो जाने से प्रतिस्पर्धा का अन्त हो जाता है तथा एकाधिकार प्राप्त करने में विशेष सुविधा रहती है।

पूर्ण संघनन के दोष—(१) विभिन्न इकाइयों को क्रय करने में अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है। (२) इकाइयों का पृथक अस्तित्त्व न रहने के कारण उनकी पृथक ख्याति, स्थान तथा विपणि क्षेत्र का लाभ सङ्घनन को नहीं होता है। (३) प्रतिस्पर्धा समाप्त होने तथा एकाधिकार कायम होने से उपभोक्ताओं का शोषण होता है। (४) इनका निर्माण कठिनाई से होता है। (५) बड़ी इकाई होने के कारण प्रबन्ध एवं सञ्चालन के लिये अत्यन्त कार्यकुशल व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जिनका मिलना प्राय: दुर्लभ हो जाता है।

तथाकथित संयोगों के अन्य प्ररूप
(Other Forms of so called Combinations)

कोण बनाना (Cornering or Corners)—यह अवांछनीय कार्यों द्वारा बहुत ऊँचा लाभ (Heavy Surplus Profits) कमाने का एक तरीका है। कभी-कभी बाजार के कुछ प्रमुख धनाड्य सटोरिये अपना समूह अथवा सङ्घ स्थापित करके बाजार के सम्पूर्ण अथवा अधिकांश माल का क्रय करके बाजार पर एकाधिकार स्थापित कर लेते हैं और इस प्रकार उस माल को बाद में मनमाने ढङ्गों से निर्धारित उच्चतम भावों (Highest Prices) पर बेचते हैं। उस समय उनके इस समूह अथवा सङ्घ को **'कोण' अथवा 'मुट्ठी में करना'** कहते हैं। इस प्रकार यह संयोग न होकर एक प्रकार की व्यापारिक चाल है, जोकि एक व्यापारी ही चल सकता है। कोण प्राचीन काल और मध्ययुग दोनों में विद्यमान थे और आज भी स्कन्ध बाजारों में दिखलाई देते हैं।

संघ (Rings)—सङ्घ भी कोण की भाँति ही अवांछनीय कार्यों द्वारा बहुत ऊँचा लाभ कमाने का एक तरीका है। सङ्घ कई व्यक्तियों का एक संयोजन है, जिनका उद्देश्य कोण का निर्माण करना होता है। आमतौर पर इसे उत्पादक सङ्घ के समान ही समझा जाता है। इसका उद्देश्य समस्त उपलब्ध माल अपने नियन्त्रण में करके अभाव की स्थिति उत्पन्न करना होता है, ताकि कीमतों में अत्यधिक वृद्धि हो जाय और इस प्रकार भारी लाभ कमाया जा सके। सङ्घ अन्य क्रेताओं की तुलना में अधिक कीमत देकर सारा माल खरीदता है और उत्पादकों को अधिक से अधिक कीमतें देता है, ताकि अधिक से अधिक माल उसके नियन्त्रण में आ सके। इसकी क्षति-पूर्ति के लिए वह स्वयं ऊँची कीमतें लेता है, जिससे माल उपभोक्ताओं के लिए अत्यधिक महँगा हो जाता है। माल की कमी के दिनों में सङ्घ विशेष रूप में सक्रिय हो जाते हैं। ये माल की कृत्रिम कमी करके अत्यधिक लाभ कमाते हैं, जोकि नैतिक दृष्टि से अवांछनीय है। जब इनकी क्रियायें अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती हैं, तो सरकार को बाध्य होकर इनके विरुद्ध कदम उठाना पड़ता है। सङ्घों का निर्माण प्रायः कच्चे माल के बाजार में होता है। ये अपनी क्रियाओं में शीघ्र सफलता पाने के लिये परिकल्पना का सहारा भी लेते हैं।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. एक उत्पादक संघ, एक मूल्य संघ और एक प्रन्यास की मुख्य विशेषताओं की विवेचना कीजिये। (राजस्थान, १९७३)

२. 'व्यावसायिक संयोगों' के निर्माण के लिए कौन-कौन से कारण उत्तरदायी हैं ? व्यावसायिक संयोगों के गुणों को संक्षेप में समझाइये। (आगरा, १९७२)

३. व्यावसायिक संयोगों के क्या कारण हैं ? आपकी सम्मति में ऐसे संयोग के प्रति सरकार की क्या नीति होनी चाहिये ? (दिल्ली, १९७२)

४. 'व्यावसायिक संयोजन एकाधिकार की ओर ले जाते हैं। 'क्या आप इस कथन से सहमत हैं ? अपने उत्तर की पुष्टि में कारणों का उल्लेख कीजिये। (मेरठ, १९७२)

५. औद्योगिक सम्मिलन (संयोजन) के निर्माण में किन परिस्थितियों का योगदान होता है ? भारतीय अनुभव के आधार पर उदाहरण सहित लिखिये। (दिल्ली, बी० कॉम०, १९७१)

६. सूत्रधारी कम्पनी क्या है ? यह प्रन्यास तथा विक्रय सङ्घ से किस प्रकार भिन्न है ? सूत्रधारी कम्पनी के गुण-दोषों का वर्णन कीजिये। (रांची, १९७०)

७. औद्योगिक संयोगों के मुख्य कारण क्या हैं ? उनमें मुख्य दोष क्या हैं ? विवेचन कीजिये । (जीवाजी, १९६९)

८. "संयोजन एकाधिकार को जन्म देकर उपभोक्ताओं के हितों को हानि पहुँचाते हैं।" संयोजन लागत को घटाकर उपभोक्ताओं को वस्तुयें तथा सेवायें कम मूल्य पर प्रदान करते हैं।" उपरोक्त विचारधाराओं का समायोजन कीजिये । (पंजाब, १९७२; आगरा, १९७०; नागपुर, १९६४; जोधपुर, १९६४; विक्रम, १९६८; राजस्थान, बी० कॉम०, ऑनर्स, १९६९)
[सङ्केत—(I) संयोग एकाधिकार का निर्माण करके उपभोक्ताओं के हितों के लिये हानिकारक हैं। इस कथन के पक्ष में यह तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—(१) सामूहिक शक्ति का दुरुपयोग; (२) उपभोक्ताओं का शोषण; (३) जनकल्याण के विरुद्ध; (४) औद्योगिक जड़ता; (५) पूँजीवाद का जन्म; (६) एकाधिकार वस्तु की किस्म के सुधार में रुकावट है; (७) एकाधिकार प्रगति में बाधक है; (८) उत्पादन में विभिन्नता का अभाव। (II) लागत मूल्य घटाकर संयोग उपभोक्ताओं को कम दामों पर वस्तु तथा सेवा प्रदान करता है। इस कथन के पक्ष में निम्न तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—(१) उत्पादन में मितव्ययिता; (२) वितरण में मितव्ययिता; (३) माँग और पूर्ति का सन्तुलन; (४) व्यापारिक चक्रों से सुरक्षा; (५) सरकारी नियन्त्रण में सुविधा; (६) भावों में एकरूपता; (७) माल की किस्म में एकरूपता; (८) सभी स्थानों पर उपलब्धता। (III) निष्कर्ष—निर्माताओं एवं उत्पादकों की स्वार्थ सिद्धि के कारण संयोगों का उचित लाभ उपभोक्ताओं को नहीं होता। अतएव इन पर सरकार की समुचित निगरानी की आवश्यकता होती है।

९. व्यापार संयोगों के गुण-दोषों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (लखनऊ, १९७०; उदयपुर, १९६९; राज०, ६३; आगरा, ६१; जीवाजी, ६७)

१०. वे कौन से कारण हैं जो उद्योग व व्यापार में संयोग को बढ़ावा देते हैं ? क्या यह उपभोक्ता के हित में हैं ? विवेचना कीजिये। (जोधपुर, १९७१; विक्रम, १९७०; राजस्थान, १९६९; रांची, १९६८; पंजाब, १९६७; विक्रम, १९६२)

११. औद्योगिक संयोजनों के कारणों की विवेचना कीजिये। (दिल्ली, १९६५, ६६, ६८; सागर, १९६७; विक्रम, १९६७)

१२. उत्पादक संघ से आप क्या समझते हो ? उसके कार्यों एवं उद्देश्यों को समझाइये। यह प्रन्यास से किस प्रकार भिन्न है ? (राज०, १९७२; इन्दौर, १९७०; जीवाजी, १९६५; गोरखपुर, १९६९)

१३. प्रन्यास किसे कहते हैं ? प्रन्यास कितने तरह के होते हैं ? प्रन्यास व सूत्रधारी कम्पनी में क्या अन्तर है ? (राज०, १९७०)

१४. व्यावसायिक संयोगों के निर्माण में कौन-कौन-सी परिस्थितियाँ योग देती हैं ? भारतीय अनुभवों से अपने उत्तर में उदाहरण दीजिये। (विक्रम, १९७०)

१५. उद्योगों में शीर्ष या उदग्र और क्षैतिज या समतल संयोगों के स्वभाव, उद्देश्य और मितव्ययिताओं का विवेचन कीजिए। (राज०, १९६८; इन्दौर, १९६७)

१६. आधुनिक उद्योगों में संयोगों की स्थापना के क्या कारण हैं ? संघों, उत्पादक तथा सन्धारी कम्पनियों में अन्तर बताइये। (सागर, १९६७)

१७. कौन से तत्त्व उद्योग एवं व्यापार में संयोगों के बनने में सहायक होते हैं ? ये उत्पादन तथा मूल्यों को किस प्रकार प्रभावित करते हैं ? (जीवाजी, १९७०)

१८. सूत्रधारी कम्पनी पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (राज०, १९७२)

२

भारतीय उद्योगों में संयोग आन्दोलन

(Combination Movement in Indian Industries)

प्रारम्भिक—

संयोग आन्दोलन का जन्म एवं विकास अमेरिका में १९वीं शताब्दी के अन्त में प्रारम्भ हुआ। यद्यपि शुरू में इसका विरोध जनता व सरकार दोनों ही के द्वारा किया गया, परन्तु फिर भी किसी न किसी प्ररूप में इसका विकास होता गया और इस प्रकार २०वीं शताब्दी तक उसका पूर्ण विकास हो गया। संयोग का विकास केवल अमेरिका तक सीमित न रहा, बल्कि अन्य प्रगतिशील पश्चिमी राष्ट्रों में भी हुआ और इस प्रकार २०वीं शताब्दी के प्रथम चरण से भारतीय उद्योगों में भी यह आन्दोलन प्रारम्भ हो गया, परन्तु इसका विकास अत्यन्त धीमी गति से हुआ और यहाँ तक कि आज भी इसका पूर्ण विकास नहीं हो पाया है, क्योंकि भारत की औद्योगिक पृष्ठभूमि ही कुछ ऐसी है जो अन्य देशों से बिल्कुल भिन्न है।

भारत में संयोग आन्दोलन की धीमी गति क्यों और कैसे ?

(१) **पिछड़ा हुआ एवं अविकसित औद्योगिक कलेवर—**औद्योगिक क्षेत्र में भारत अन्य प्रगतिशील देशों की अपेक्षा अभी बहुत पिछड़ा हुआ है। यहाँ पर भीमकाय उत्पादन करने वाले उद्योगों की संख्या अपेक्षाकृत कम है। भारत में विशाल उद्योग-धन्धों का विकास ही १९वीं अर्द्ध-शताब्दी के बाद प्रारम्भ हुआ, जबकि विकसित औद्योगिक देशों में संयोग आन्दोलन का विकास हो रहा था।

(२) **व्यापारियों में व्यक्तिवाद—**भारतीय व्यापारी शंकालु तथा व्यक्तिवादी दृष्टिकोण के हैं, अतः वे संयोग बनाकर उद्योगों पर से अपना नियन्त्रण खोना नहीं चाहते। इसलिये वे सदैव संयोग आन्दोलन के विपक्ष में रहते हैं। इस क्षेत्र में जो कुछ भी थोड़े से प्रयत्न किये गये हैं, उन्हें उङ्गलियों पर गिना जा सकता है।

(३) **प्रबन्ध-अभिकर्त्ता पद्धति की विद्यमानता—**अतीत में भारत में औद्योगिक एव व्यावसायिक संगठन में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता पद्धति का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अपने विशाल आर्थिक साधनों के कारण ये जिन उद्योगों व व्यापारों को प्रारम्भ करते थे उनके संयोग करने में अपने आत्म-सम्मान का हनन समझते थे। पारस्परिक प्रतिस्पर्धा, गोपनीयता तथा वैमनस्य के कारण भी वे दूसरों के साथ सम्मिलित होना अहितकर समझते थे। प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के नियन्त्रण में अनेक कम्पनियाँ होती थीं, जिसके कारण संयोग न होते हुए भी उसके समस्त लाभ उनको प्राप्त हो जाते थे, अतएव संयोग क्यों और कैसे ? ३ अप्रैल, १९७० से प्रबन्ध-अभिकर्त्ता का उन्मूलन कर दिये जाने से अब यह बाधा समाप्त हो गई है।

(४) **प्रतिस्पर्धा का अभाव—**हमारे देश का क्षेत्रफल विशाल तथा आबादी घनी होने के कारण, उद्योगों को अपने निर्मित माल के विक्रय के लिये संघर्ष एव प्रतिस्पर्धा नहीं करनी पड़ती है। भारत में औद्योगिक विकास हेतु विस्तृत क्षेत्र विद्यमान है, अतएव गलाकाट प्रतिस्पर्धा का अभाव है, जिसके कारण संयोगों का अभाव है।

(५) कुछ उद्योगों का बृहत आकार—भारत में कुछ महत्त्वपूर्ण उद्योग, जैसे—लोहा एवं स्पात उद्योग; कुछ राजकीय उद्योग आदि पहले से ही इतने बड़े पैमाने पर प्रारम्भ किये गये हैं कि अब नवीन संस्थाओं को उनमें मिलाना अत्यन्त कठिन है। यह भी संयोग निर्माण में महत्त्वपूर्ण रुकावट है।

(६) राष्ट्र की उदासीन आर्थिक एवं औद्योगिक नीति—जर्मनी में सरकार ने संयोग आन्दोलन को सक्रिय प्रोत्साहन दिया। इसके विपरीत भारत सरकार की आर्थिक एवं औद्योगिक नीति संयोग निर्माण की दिशा में उदासीन रही है। यही नहीं, विद्यमान संयोगों के विरुद्ध आन्दोलन चल रहा है।

(७) विदेशी प्रतिस्पर्धा तथा अंग्रेज नीति—अंग्रेज सदैव भारत को कच्चे माल के निर्यातक तथा पक्के माल के उपभोक्ता के रूप में ही देखना चाहते थे। इस नीति के कारण उन्होंने भारतीय उद्योगों का विकास अत्यन्त सीमित कर दिया था। भारतीय उद्योगों के संरक्षण के लिये जो भी प्रयत्न किये गये थे वे केवल उन्हीं वस्तुओं के लिये थे, जिनमें उनके हितों को क्षति पहुँचने की सम्भावना नहीं थी। इसके अतिरिक्त यदि कुछ साहसी व्यक्तियों ने कुछ उद्योगों की स्थापना की भी तो वे विदेशी प्रतिस्पर्धा के कारण पनप नहीं पाये। अतएव संयोग प्रश्न विचारणीय ही रहा।

भारत में उद्योगानुसार संयोजन आन्दोलन की प्रगति
(Industry-wise Progress of Combination Movement in India)

भारत में संयोगों की स्थापना एवं विकास की दिशा में अनेक बाधाओं के होते हुये भी भारतीय उद्योगों में अनेक संयोजनों की स्थापना हुई है। इनकी प्रगति का अवलोकन निम्न विवरण से हो सकता है :—

(१) सूती वस्त्र उद्योग (Cotton Textile Industry)—

भारत में सूती वस्त्र उद्योग इतना अधिक फैला हुआ है कि इसमें संयोग स्थापित करना पूर्णतया सम्भव नहीं हो सका है। हमारे देश में इस समय ४८२ सूती वस्त्र मिल कार्य कर रहे हैं, परन्तु फिर भी उनमें संयोग हैं, वे अपना विशेष स्थान रखते हैं। उदाहरणार्थ; मद्रास में बकिंघम कर्नाटिक मिल्स तीन वस्त्र मिलों के संयोग से बना है। इसके निर्माण का मुख्य कारण तीनों मिलों का एक ही प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के नियन्त्रण में होना है। यह क्षैतिज संयोग का एक अनुपम उदाहरण है। लम्बरूप संयोग 'बंगलौर कॉटन, वूलन एण्ड सिल्क मिल्स' एक सुन्दर उदाहरण है; इसने 'कैसर हिन्द वूलन एण्ड कॉटन मिल्स' को क्रय किया। इसी प्रकार 'मदुरा मिल्स' के अन्तर्गत 'कोरल मिल्स' तथा 'टेनेवेली मिल्स' हैं, जिनका विलयन 'मदुरा मिल्स' में हो गया।

सन् १६२० में निम्नलिखित ६ कम्पनियों के मिलने से 'ब्रिटिश इण्डिया कॉरपोरेशन' (B. I. C.) का निर्माण हुआ। इसमें शामिल होने वाली निम्न कम्पनियाँ थीं—(१) कानपुर कॉटन मिल्स; (२) कानपुर वूलन मिल्स लि०; (३) कूपर एण्ड कम्पनी लि०; (४) नॉर्थ-वैस्टर्न टेनरी कम्पनी लि०; (५) एम्पायर इन्जीनियरिंग कम्पनी लि०; तथा (६) न्यू ईगर्टन वूलन मिल्स लि०। यह चक्रित संयोग का अनुपम उदाहरण है। सन् १६३० में कुछ मिल-मालिकों द्वारा ३४ वस्त्र मिलों के संयोग का एक प्रस्ताव रखा गया था, किन्तु यह प्रयत्न असफल रहा। सूती वस्त्र मिलों के हितों के रक्षार्थ कुछ 'व्यापारिक सङ्घ' अवश्य स्थापित किये गये हैं; जैसे—'बॉम्बे मिल-मालिक संघ' (यह संघ (Pool) का उदाहरण है) तथा 'अहमदाबाद मिल स्टोर्स संघ' इत्यादि। बिरला ब्रादर्स, जे० के० इण्डस्ट्रीज, डालमियाँ जैन एण्ड कम्पनी के नियन्त्रण में बैंक, बीमा कम्पनी, वस्त्र उद्योग, कागज उद्योग, इत्यादि अनेक विविध उद्योगों के कारखाने हैं।

इसलिये इन्हें भी चक्रित संयोग कहा जा सकता है। इस दिशा में क्रमशः अन्य संयोगों की भी स्थापना की जा रही है। सरकार ने एक सूती वस्त्र निगम की भी स्थापना की है। यह निगम सरकार द्वारा ली गई असफल एवं बीमार मिलों का अभिनवीकरण एवं पुनर्निर्माण का कार्य कर रहा है। इस समय यह निगम ५२ बीमार सूती वस्त्र मिलों का कार्यभार सम्भाले हुए है।[1]

(२) जूट उद्योग (Jute Industry)—

भारत का जूट उद्योग सबसे संगठित एवं महत्त्वपूर्ण उद्योग है, क्योंकि इस उद्योग के सभी कारखानों में परस्पर सहयोग है, जो अन्य उद्योगों में देखने को नहीं मिलता है। सन् १८८६ में भारतीय जूट मिल्स एसोसियेशन का निर्माण किया गया था। इसका कार्य अपने सदस्य कारखानों के उत्पादन, मूल्य एवं बिक्री पर तथा कच्चे माल की खरीद पर नियन्त्रण रखना है। अतः इसको उत्पादन संघ (Output Pool) अथवा कार्टेल (Cartel) भी कहते हैं। यह ९५% पटसन उद्योग पर नियन्त्रण रखता है तथा लगभग ७५% कारखाने इसके सदस्य हैं। मुश्किल से १० या १२ मिल्स इसके नियन्त्रण के बाहर हैं, परन्तु उन्होंने भी इसकी क्रियाओं के साथ अपना सहयोग प्रदान किया है।

सन् १९२९ में जूट उद्योग में विवेकीकरण अपनाया गया तथा उनके कार्य-काल, पालियों (Shifts), उत्पादन आदि पर नियन्त्रण कर दिया गया। सन् १९३० में पुनः उनके कार्य-काल में कमी की गई तथा सन् १९४२ में करीब १०% जूट मिलों को बन्द कर दिया गया। १९४७ के विभाजन होने के कारण इस संस्था को भारी धक्का लगा। इस एसोसियेशन ने उसके पश्चात् भी उद्योग की बड़ी सेवा की।

(३) शक्कर उद्योग (Sugar Industry)—

शक्कर उद्योग में सन् १९३७ के बाद, जबकि 'सुगर सिन्डीकेट' (Sugar Syndicate) की स्थापना की गई, संयोग प्रारम्भ होता है। इसी सिण्डीकेट के प्रयत्नस्वरूप शक्कर के मूल्यों में पर्याप्त वृद्धि हुई। सन् १९३८ से १९३९ तक सिण्डीकेट ने सफलतापूर्वक कार्य किया, परन्तु १९३९ से १९४० तक अति-उत्पादन (Over-production) फिर से हो जाने के कारण सिण्डीकेट को कठिनाई का सामना करना पड़ा। सिण्डीकेट ने शक्कर के मूल्य बहुत ऊँचे निर्धारित किये थे जोकि अप्रैल १९४० में सिण्डीकेट को बाध्य होकर गिराने पड़े। जून १९४० में उत्तर प्रदेश और बिहार की सरकारों ने इसकी मान्यता (Recognition) वापस ले ली, किन्तु यह मान्यता शीघ्र ही अर्थात् अगस्त १९४० में पुनः दे दी गई। बाद में सन् १९४३ से १९४७ तक शक्कर पर सरकारी नियन्त्रण (Control) हो जाने के कारण सिण्डीकेट का कार्य रुक गया। नियन्त्रण हटते ही (नवम्बर १९४७ से दिसम्बर १२, १९४९ तक पुनः उस सिण्डीकेट ने) शक्कर के मूल्य-निर्धारण व वितरण इत्यादि में सक्रिय भाग लिया। सन् १९४९ में भारतीय सदन के सदस्यों ने तथा अन्य कई श्रमिक तथा व्यापारी संस्थाओं ने सदन में इसका तीव्र विरोध किया। इस प्रकार सन् १९५० में 'सुगर सिण्डीकेट' का समापन कर दिया गया है। 'सुगर सिन्डीकेट' का निर्माण आपसी प्रतिस्पर्धा का उन्मूलन करने के लिए हुआ था। इस समय 'अखिल भारतीय सुगर एसोसियेशन' विद्यमान है, जिसका निर्माण भारतवर्ष की सम्पूर्ण मिलों ने मिल कर किया है। विभिन्न राज्य सरकारें, जिनमें उत्तर-प्रदेश प्रमुख है, शक्कर उद्योग का राष्ट्रीयकरण करने का दृढ़ संकल्प किये हुए प्रतीत होती हैं। आशा है कि इस सम्बन्ध में शीघ्र ही कोई कदम उठाया जायेगा।

(४) सीमेण्ट उद्योग (Cement Industry)—

भारत में संयोग निर्माण की दिशा में सर्वप्रथम सीमेण्ट उद्योग में सन् १९२५ में कदम उठाया गया था। इस उद्योग को संरक्षण प्रदान नहीं किया गया था। प्रतिद्वन्द्विता के युद्ध में

---

[1] *A. I. R. Broadcast dt.* 1 October, 1972.

अनेक सीमेंट के कारखाने नष्ट हो रहे थे और शेष अपने जीवन की अन्तिम घड़ियाँ गिन रहे थे। परिणामस्वरूप, सन् १९२६ में एक एसोसियेशन का निर्माण किया गया, जिसका नाम 'भारतीय सीमेण्ट मैन्युफैक्चरर्स एसोसियेशन' था। इसके बाद सन् १९३० में सीमेंट का वितरण एवं विक्रय नियन्त्रित करने के लिए 'सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी' का निर्माण किया गया, जिसको हम 'उत्पादक संघ' या 'सिण्डीकेट' कह सकते हैं, किन्तु दुर्भाग्यवश यह प्रयत्न असफल रहा। अतः सन् १९३७ में इन दोनों के सम्मिश्रण से एक नई कम्पनी 'दी एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी' (A. C. C.) का निर्माण किया गया। इसमें ११ सीमेंट कम्पनियों का संविलयन (Merger) हुआ, जिनमें 'कटनी सीमेंट कम्पनी लि०,' 'इण्डियन सीमेंट कम्पनी लि०,' 'दी सी० पी० सीमेंट कम्पनी लि०' इत्यादि प्रमुख थीं।

धीरे धीरे 'एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी' ने अनेक सीमेंट कम्पनियों का निर्माण कर लिया है। 'दी पटियाला सीमेंट कम्पनी लि०' इसकी सहायक कम्पनी है। इसके अतिरिक्त 'सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इण्डिया' तथा 'बर्मा सीमेंट कम्पनी' की पूँजी में इसका काफी भाग है। बाद में इस बड़े संयोग के भी प्रतिस्पर्धी के रूप में 'डालमिया ग्रुप' आया और पुनः विषम प्रतिस्पर्धा प्रारम्भ हो गई। फलतः सन् १९४१ में एक दूसरा कदम उठाया गया और 'डालमिया ग्रुप' तथा 'एसोसियेटेड सीमेंट कम्पनी' में एक समझौता हुआ, जिसके अनुसार दोनों ने बाजार का क्षेत्र विभाजित कर लिया। दोनों वर्गों ने गत वर्षों में अनेक सीमेंट कम्पनियों की स्थापना की है। इस संयोजन के अन्तर्गत उद्योग का लगभग ८०% उत्पादन आ जाता है।

(५) लोहा एवं इस्पात उद्योग (Iron & Steel Industry)—

लोहा एवं इस्पात उद्योग में संयोग के लिये विशेष क्षेत्र नहीं है, क्योंकि इस क्षेत्र में औद्योगिक इकाइयाँ न्यून हैं। फिर भी अक्टूबर २९, १९५२ को राष्ट्रपति के विशेष अध्यादेश (Ordinance) के अनुसार १ जनवरी १९५३ से 'स्टील कॉरपोरेशन ऑफ बंगाल' (Steel Corporation of Bengal or SCOB) तथा 'इण्डियन आइरन स्टील कम्पनी' (Indian Iron Steel Co.) का संयोग हो गया। यह इस क्षेत्र की सबसे प्रमुख एवं महत्त्वपूर्ण घटना है। सरकारी क्षेत्र में निम्न तीन विशाल इस्पात के कारखाने खोले गये हैं :—(i) रूरकेला, (ii) दुर्गापुर, तथा (iii) भिलाई। इन तीनों कारखानों का प्रबन्ध 'दि हिन्दुस्तान स्टील लि०' द्वारा किया जाता है। सरकारी क्षेत्र में एक चौथा इस्पात का कारखाना भी शीघ्र लगने वाला है।

(६) कोयला उद्योग (Coal Industry)—

कोयला उद्योग में अनेक संयोगों का निर्माण हुआ है। 'दी न्यू वीरभूमि कोल कम्पनी' ने अनेक कोयला खान उद्योगों का सम्मिश्रण किया है। सन् १९३७ में 'कोयला जाँच समिति' ने भी सम्मिश्रण पर जोर दिया था, इसलिये सम्मिश्रणात्मक संयोगों की आवश्यकता कोयले के खान उद्योग में अधिक है, जिसमें वे प्रमण्डलों के लघु परिमाण पर होने के कारण उत्पादन की दृष्टि से अक्षम हैं। श्री बलवन्तराय मेहता की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गई थी, जिसने कोयले की खानों के एकीकरण के सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये हैं।

(७) नौवहन चक्र तथा सम्मेलन (Shippings Ring and Conference)—

नौवहन चक्र तथा सम्मेलन पारस्परिक समझौते के आधार पर निर्माण किये जाते हैं; जैसे—ब्रिटिश इण्डिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी लि० तथा सिंधिया स्टीम नेवीगेशन कम्पनी लि० में हुआ था। इस प्रकार के नौवहन चक्र देश के आन्तरिक भागों में जूट को तटवर्तीय बाजारों तक ले जाने के लिये स्थापित किये गये हैं।

(८) बैंक एवं बीमा उद्योग (Banks and Insurance Companies)—

बैंकिंग उद्योग भी संयोग के क्षेत्र से अछूता नहीं बच सका। उदाहरणार्थ; कलकत्ते की चार बैंकों—कोमिल्ला बैंकिंग कॉर्पोरेशन, बङ्गाल सेण्ट्रल बैंक, हुगली बैंक तथा कोमिल्ला बैंकिंग यूनियन आदि के सविलयन से 'दि यूनाइटेड बैंक ऑफ इण्डिया लिमिटेड' का निर्माण हुआ। इसी प्रकार भारत बैंक का सम्मिश्रण 'दी पंजाब नेशनल बैंक' से हो गया। संविलयन की एक और योजना चल रही है; जिसके अनुसार 'दी राजस्थान बैंक', 'जोधपुर बैंक' एवं 'जयपुर बैंक' के एकीकरण की शीघ्र सम्भावना है। बैंकिंग क्षेत्र में संयोग आन्दोलन सफल हो, इसके लिए स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया विशेष रूप में सक्रिय है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु 'भारतीय बैंकिंग अधिनियम' में भी आवश्यक संशोधन कर दिये गये हैं। १९ जुलाई, १९६९ को १४ प्रमुख व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण किया गया।

बीमा उद्योग में संयोग अधिक प्रचलित हैं। न्यू इण्डिया इन्श्योरेन्स कम्पनी लि० बम्बई, ओरियन्टल इन्श्योरेन्स कम्पनी लि० बम्बई के नाम उल्लेखनीय हैं। जीवन बीमा निगम द्वारा समस्त जीवन बीमा व्यवसाय पर नियन्त्रण किया जा चुका है। इस विषय में नया विधान बनने की आशा है, जिससे विलयन एवं संयोग बढ़ेगा। १३ मई, १९७१ को सामान्य बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण किया गया, जिसके परिणामस्वरूप १०७ सामान्य बीमा कम्पनियों का संविलयन हो गया।

(९) तेल एवं पेट्रोल उद्योग (Oil and Petrol Industry)—

तेल एवं पैट्रोल उद्योग में भी क्रय एवं विक्रय की कीमतों को स्थायी एवं नियन्त्रित रखने के लिए मूल्य संघ (Price Pool) का निर्माण किया गया है। 'बर्मा पैट्रोल कम्पनी', 'रॉयल एण्ड शैल ग्रुप', 'बर्मा ऑयल कम्पनी' तथा 'असम ऑयल कम्पनी' इसके सदस्य हैं।

(१०) दियासलाई उद्योग (Match Industry)—

दियासलाई बनाने वाली कम्पनियों में 'वैस्टर्न इण्डियन मैच कम्पनी' (Western Indian Match Co.) जो कि विमको (Wimco) के नाम से प्रसिद्ध है, एक शक्तिशाली स्वीडिश (Sweedish) संयोग है। इसके नियन्त्रण में लगभग एक दर्जन कारखाने हैं। इसके अतिरिक्त वह अप्रत्यक्ष रूप से बहुत-सी भारतीय कम्पनियों में भाग लेकर उन पर नियन्त्रण रखती है।

(११) कागज उद्योग (Paper Industry)—

कागज उद्योग में 'इण्डियन पेपर मेकर्स एसोसियेशन' के अन्तर्गत बहुत-सी कम्पनियाँ सम्मिलित हैं। यह एसोसियेशन कागज की कीमतों को निश्चित करता है तथा कागज सम्बन्धी अनुबन्धों को केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों से तय करता है। यह एसोसियेशन 'मूल्य संघ' (Price Pool) का अद्‌भुत उदाहरण है। कागज उद्योगों के विकास के लिये सरकार ने एक कागज निगम की स्थापना की है।

(१२) सन्धारी कम्पनी (Holding Companies)—

सन्धारी कम्पनियों का निर्माण भारत में विशेषतः सन् १९१३ में प्रारम्भ हुआ। इस प्रकार की कम्पनी विभिन्न प्रकार की व्यापारिक नीति एवं प्रबन्ध में नियन्त्रण हेतु उनके अंश इत्यादि क्रय कर लेती हैं। यह कार्य उस समय विशेष रूप से पाया जाता है, जब विभिन्न कम्पनियाँ एक ही प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के अन्तर्गत कार्य करती हैं। भारत के विभिन्न व्यवसायों में धन लगाने के लिये तथा उन पर नियन्त्रण स्थापित करने के उद्देश्य से पर्याप्त मात्रा में विनियोग प्रन्यास स्थापित हुए हैं, परन्तु शक्तिशाली प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के कारण उनका नियन्त्रण अधिक प्रभावशाली दिखाई नहीं देता।

भारत में कुछ विशेष संयोगों के उदाहरण (Special Combinations in India)—

(१) **पार्षदें** (Associations)—भारत में पार्षदों की भरमार है। इनमें निम्न प्रमुख हैं :—(i) अहमदाबाद सूती वस्त्र मिल-मालिक एसोसियेशन, (ii) इण्डियन जूट मिल्स एसोसियेशन, (iii) इण्डियन सुगर मिल्स एसोसियेशन, (iv) इण्डियन टी एसोसियेशन, (v) भारतीय कोयला खान मालिक एसोसियेशन, (vi) ऑल इण्डिया मैन्यूफैक्चर्स एसोसियेशन एवं (vii) इण्डियन सोप मेकर्स एसोसियेशन। भारत के प्रायः सभी बड़े नगरों में पार्षद स्थापित हो चुकी हैं।

(२) **चैम्बर ऑफ कॉमर्स** (Chamber of Commerce)—भारत के प्राय: सभी महत्त्वपूर्ण व्यापारिक एवं औद्योगिक केन्द्रों पर चैम्बर ऑफ कॉमर्स की स्थापना हो चुकी है। प्रमुख चैम्बर ऑफ कॉमर्स, निम्न हैं :—(i) इण्डियन चैम्बर ऑफ कामर्स, कलकत्ता; (ii) मारवाड़ी चैम्बर ऑफ कॉमर्स, बम्बई; (iii) उत्तर प्रदेश चैम्बर ऑफ कॉमर्स; एवं (iv) दि फेडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर ऑफ कॉमर्स एण्ड इण्डस्ट्री, दिल्ली।

(३) **संघ** (Pools)—भारत में सङ्घों के विभिन्न प्ररूपों का प्रचलन है, जैसे—(i) इण्डियन पेपर मेकर एसोसियेशन; (ii) शिपिंग पूल; (iii) मिट्टी के तेल का सङ्घ; (iv) भारतीय जूट मिल्स एसोसियेशन; एवं (v) ए० सी० सी०।

(४) **उत्पादन संघ** (Cartels)—भारत में उत्पादन सङ्घों का भी निर्माण किया गया है, जैसे—(i) सीमेण्ट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इण्डिया, (ii) भारतीय जूट मिल एसोसियेशन, एवं (iii) सुगर सिण्डीकेट आदि।

(५) **सन्धारी कम्पनियाँ** (Holding Companies)—भारत में सन्धारी कम्पनियों का निर्माण मुख्यत: सन् १९१३ से प्रारम्भ हुआ है। कुछ प्रमुख सन्धारी कम्पनियों के नाम निम्न हैं :—(i) बैरकपुर कोल कम्पनी, (ii) ब्रुक बॉण्ड इण्डिया लि०, (iii) ए० सी० सी०, (iv) दि वैस्टर्न इण्डिया माचिस कम्पनी, (v) शॉ वॉलेस एण्ड कम्पनी, एवं (vi) पैरी एण्ड कम्पनी आदि।

(६) **सम्मिश्रण एवं संविलयन** (Amalgamation and Merger)—भारत में सम्मिश्रण एवं संविलयन के प्रमुख उदाहरण निम्न हैं :—(i) ब्रिटिश कॉरपोरेशन, (ii) जीवन बीमा निगम, (iii) बैरकपुर कोल कम्पनी, (iv) दि बकिंघम कर्नाटक कम्पनी, (v) हिन्दुस्तान लीवर लिमिटेड, एवं (vi) मार्टिन बर्न एण्ड कम्पनी आदि।

(७) **सामुदायिक हित** (Community Interest)—भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली ने भारतीय उद्योगों की विभिन्न इकाइयों के बीच सामुदायिक हित की भावना को जाग्रत किया है। सामुदायिक हित भारतीय जूट उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग आदि में विद्यमान है।

भारतीय उद्योगों में आर्थिक केन्द्रीयकरण
(Economic Concentration in Indian Industries)

यह सर्वविदित है कि भारत औद्योगिक विकास के क्षेत्र में अन्य पश्चिमी राष्ट्रों की अपेक्षा काफी पिछड़ा हुआ है। जो कुछ भी औद्योगिक विकास की झलक देखने में आती है वह अँग्रेजों व कुछ चुने हुये भारतीयों की ही देन है। जहाँ तक आर्थिक केन्द्रीयकरण का प्रश्न है, भारतवर्ष में तथाकथित औद्योगिक क्रान्ति के पूर्व प्राय: समस्त व्यापार छोटे-छोटे व बिखरे हुये व्यापारियों के अधीन ही था। इसका प्रमुख कारण भारत का पिछड़ापन ही कहा जा सकता है। किन्तु धीरे-धीरे यातायात व संचार साधनों में सुधार होने, उत्पादन की इकाई में वृद्धि होने तथा व्यावसायिक सुविधाओं के प्राप्त होने के कारण 'देश का आर्थिक नियन्त्रण' भूमि स्वामियों से पूँजीपतियों के हाथ में चला गया। इसका कारण देश की आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक

परिस्थितियाँ थीं। शहरों में उद्योगों की स्थापना होने के कारण उनका तेजी से विकास होने लगा। अतएव रोजगार की तलाश में देश की आबादी गाँवों से हटकर शहरों में जाने लगी। इस प्रकार औद्योगिक विकास, भीमकाय उत्पादन की प्रणाली तथा बाजारों के विकास आदि से आर्थिक केन्द्रीयकरण गाँवों से हटकर शहरों में चला गया। देश के अपार प्राकृतिक साधनों का शोषण करने के लिये भी आर्थिक शक्तियों का केन्द्रीयकरण आवश्यक समझा जाने लगा। इस प्रकार देश में भीमकाय उत्पादन की प्रणाली को पर्याप्त प्रोत्साहन मिला।

भारत में औद्योगिक विकास के स्वामित्व तथा नियन्त्रण के केन्द्रीयकरण की एक विशेषता है। हमारे देश में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता पद्धति के द्वारा जितना आर्थिक तथा प्रबन्धकारिता को योग मिला है, उतना सम्भवत: विश्व के किसी भाग में नहीं मिला। प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं ने उद्योग को उस समय उठाया जबकि देश उद्योगों में प्रवेश करने में हिचकिचाता था तथा उसकी जोखिम को लेने में सहमत नहीं था। उन्होंने समस्त जोखिम को अपने ऊपर उठाकर स्त्रियों के गहने बेचकर तथा अपने सम्बन्धियों व मित्रों की पूँजी लगाकर उद्योगों की रक्षा की। शीघ्र ही उन्होंने देखा कि भारत जैसे पिछड़े राष्ट्र में उद्योगों का भविष्य अति उज्ज्वल है। अत: उन्होंने भारत के हर प्रकार के उद्योगों में अपना प्रभुत्त्व कायम कर दिया। उदाहरणार्थ; प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली के उन्मूलन के पूर्व कपड़ा उद्योग के ४५८ मिलों का $\frac{१}{३}$ लगभग ३० प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के हाथ में था। अहमदाबाद की कुल मिलों का $\frac{३}{४}$ केवल १८ परिवारों के हाथ में था। इसी प्रकार सन् १९४९ में जूट की ८५ मिलों में ३३ मिलें ४ प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के हाथों में थीं तथा १६६ चीनी मिलों में से ५१ का प्रबन्ध १६ प्रबन्ध-अभिकर्त्ता करते थे, जिनमें से डालमिया, नागर व थापर ३१ मिलों का नियन्त्रण करते थे। कोयले की ६० कम्पनियों का प्रबन्ध १४ प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के हाथ में था, जिनमें से ३० का प्रबन्ध केवल ४ प्रबन्ध-अभिकर्त्ता करते थे। इसी प्रकार चाय की १२० कम्पनियाँ ११ प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं के अधीन थीं, जिनमें से ९६ केवल ६ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के हाथ में थीं तथा ३ प्रबन्ध अभिकर्त्ता क्रमश: २५, १९ और १८ कम्पनियों का प्रबन्ध करते थे। एसोसियेटेड सीमेण्ट कम्पनीज आज प्राय: देश के अधिकांश सीमेण्ट उत्पादन का नियन्त्रण करती है। ३ अप्रैल, १९७० तक भारत में प्रबन्ध-अभिकर्त्ता लगभग ७०० औद्योगिक कम्पनियों का नियन्त्रण करते थे।

यही नहीं, कम्पनियों के संचालन में भी घोर केन्द्रीयकरण है। देश के समस्त उद्योगों के संचालन की बागडोर वास्तव में चोटी के केवल २० व्यक्तियों के हाथों में है। ऐसा अनुमान है कि सन् १९४७ तक भारत की ५०० प्रमुख औद्योगिक संस्थाओं पर २,००० संचालकों का प्रबन्ध था, किन्तु इन २,००० संचालकों के पद पर केवल ८५० व्यक्ति कार्य कर रहे थे। इनमें से १०० पदों पर केवल ७० व्यक्ति ही कार्य कर रहे थे और शेष १,००० पर ७८० व्यक्ति। चोटी पर केवल १० व्यक्ति थे, जो ३०० संचालकों का भार अपने ऊपर लिये हुये थे।

भारत सरकार की संयोगों के प्रति नीति
(Government Policy towards Combinations)

भारत सरकार की नीति आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण और एकाधिकार के विरुद्ध है। इसका उल्लेख देश के संविधान में किया गया है। इसके अतिरिक्त पंचवर्षीय योजनाओं में भी जो आर्थिक कार्यक्रम निश्चित किये गये हैं, उनका उद्देश्य भी आर्थिक शक्ति का विकेन्द्रीयकरण करना है। भारत सरकार ने आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण तथा एकाधिकार की प्रवृत्तियों को रोकने के लिये निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कदम उठाये हैं :—

(१) **निजी क्षेत्र एवं सहकारी क्षेत्र को प्रोत्साहन**—भारत सरकार ने विभिन्न कार्यक्रमों तथा पंचवर्षीय योजनाओं के माध्यम से निजी क्षेत्र के उद्योगों को प्रोत्साहन एवं सहकारिता

के विस्तार पर जोर दिया है, ताकि आर्थिक विषमता दूर हो सके तथा प्रगति का लाभ जन-साधारण को सामान्य रूप में हो सके।

(२) **सार्वजनिक क्षेत्र का द्रुतगति से विस्तार**—भारत सरकार पंचवर्षीय योजनाओं में सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार पर निरन्तर जोर दे रही है। इससे देश का आर्थिक ढाँचा सुदृढ़ होने के साथ-साथ धन का विकेन्द्रीयकरण होता है तथा व्यक्तिगत पूँजीवाद का उन्मूलन होता है।

(३) **कम्पनी अधिनियम में उपयुक्त संशोधन**—आर्थिक सत्ता का केन्द्रीयकरण तथा प्रबन्धकीय एवं प्रशासकीय एकीकरण का उन्मूलन हो, इसके लिये भारतीय कम्पनी अधिनियम में सन् १९५६, १९५९, १९६०, १९६२, १९६४, १९६५, १९६७, १९६९, १९७० एवं १९७१ में कई महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गये हैं। इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण संशोधन निम्न हैं:—(i) ३ अप्रैल १९७० से प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का उन्मूलन किया जाना। (ii) **संचालकों पर प्रतिबन्ध**—पहले भारतीय कम्पनियों के संचालन में घोर केन्द्रीयकरण (Interlocking of Directorships) की दूषित मनोवृत्ति विद्यमान थी। अब कम्पनी अधिनियम में हुये संशोधन के अनुसार कोई भी व्यक्ति एक समय में २० से अधिक सार्वजनिक कम्पनियों में संचालक नहीं रह सकेगा। (iii) **कम्पनी की जाँच-पड़ताल**—आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय सरकार किसी भी कम्पनी की सदस्यता एवं अन्य मामलों में जाँच-पड़ताल करने एवं रिपोर्ट देने के लिये निरीक्षकों की नियुक्ति कर सकती है। (iv) **राष्ट्रीय हित की दृष्टि से कम्पनियों के सम्मिश्रण की व्यवस्था**—केन्द्रीय सरकार को यह भी अधिकार प्राप्त है कि वह सरकारी गजट में सूचना द्वारा दो या दो से अधिक कम्पनियों के सम्मिश्रण का आदेश दे दे, बशर्ते ऐसा करना केन्द्रीय सरकार की राय में जन हित में हो।

(४) **कराधान की नीति**—करों के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार ने ऐसी नीति अपनाई है कि जिससे अधिक आय वाले वर्ग पर कर का अधिकतम बोझ पड़े। ऐसा आर्थिक विषमता को दूर करने के लिये किया गया है।

(५) **एकाधिकार प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक पद्धति अधिनियम में संशोधन**—भारत सरकार ने एकाधिकार की प्रवृत्ति को रोकने के लिये १२ जनवरी, १९७१ को सरकारी गजट में अधिसूचना जारी करके **'एकाधिकार प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक पद्धतियाँ अधिनियम, १९६९'** (Monopolies Restrictive Trade Practice Rules, 1969) में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये हैं। इन परिवर्तनों के अनुसार अब एकाधिकार के समझौतों का इस अधिनियम के अन्तर्गत पंजीयन कराना अनिवार्य कर दिया गया है। ऐसे समझौतों की चार प्रतियाँ रजिस्ट्रार, 'एकाधिकार प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक समझौते, नई दिल्ली' के पास फार्म (VIII) पर निर्धारित प्रमाण पत्र सहित भेजना अनिवार्य कर दिया गया है। ऐसे सभी विद्यमान समझौतों के पंजीयन कराने की अन्तिम तिथि २९ जनवरी, १९७१ निर्धारित की गई थी। अब यह तिथि समाप्त हो चुकी है। इस तिथि के उपरान्त एकाधिकार समझौतों का पंजीयन बड़ी देखभाल के उपरान्त एवं सीमित दशाओं में ही किया जाता है।

(६) **बड़े व्यवसायों के विरुद्ध आरोपों की जाँच के लिये आयोग की नियुक्ति**—भारत सरकार ने १८ फरवरी, १९७० को बड़ी औद्योगिक संस्थाओं के विरुद्ध आरोपों की जाँच के लिये भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधीश श्री ए० के० सरकार की अध्यक्षता में एक सदस्यीय जाँच आयोग का गठन किया। इस आयोग का मुख्य उद्देश्य दत्त समिति द्वारा बतलायी गयी अनियमितताओं की विस्तारपूर्वक जाँच करना था। इसके अतिरिक्त यह आयोग बिड़ला-समूह द्वारा लाइसेन्स आदि प्राप्त करने के लिये सरकार को प्रभावित करने के लिये भ्रष्ट तरीकों की भी

जाँच करेगा। यही नहीं, इसे विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं द्वारा दिये जाने वाले ऋणों के सम्बन्ध में भी जाँच करने का भार सौंपा गया है, जैसे—औद्योगिक वित्त निगम।

(७) **विभिन्न नीतियों में संशोधन**—उपर्युक्त प्रयत्नों के अतिरिक्त केन्द्रीय सरकार ने इस दिशा में और भी कई कदम उठाये हैं, जैसे :—(i) औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम, (ii) औद्योगिक नीति का निर्माण, (iii) प्राशुल्किक नीति का निर्धारण, (iv) एकाधिकार आयोग की सिफारिशों को कार्यान्वित किया जाना।

एकाधिकार आयोग एवं भारत सरकार
(Monopolies Commission and the Govt. of India)

एकाधिकार आयोग की नियुक्ति—

१६ अप्रैल, सन् १९६४ को सुप्रीम कोर्ट के जज श्री के० सी० दास गुप्त की अध्यक्षता में एकाधिकार आयोग की नियुक्ति की गई। इस आयोग को निम्न कार्य सौंपे गये थे :—(१) निजी क्षेत्र में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण की वर्तमान स्थिति का अध्ययन करना; (२) केन्द्रीयकरण एवं एकाधिकार को जन्म देने वाले कारणों का पता लगाना तथा उनके आर्थिक एवं सामाजिक परिणामों का अध्ययन करना; तथा (३) आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण एवं एकाधिकार को रोकने के सम्बन्ध में वैज्ञानिक एवं अन्य उपाय सुझाना।

एकाधिकार आयोग की रिपोर्ट—

आयोग ने १ मई, सन् १९६४ से अपना कार्य प्रारम्भ करके २८ अक्टूबर १९६५ के अन्त तक भारत सरकार के समक्ष अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। रिपोर्ट की प्रमुख बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) **आर्थिक एवं औद्योगिक सत्ता के केन्द्रीयकरण के कारण**—आयोग के अनुसार भारतीय उद्योगों में आर्थिक एवं औद्योगिक सत्ता के केन्द्रीयकरण के प्रमुख कारण निम्न हैं :—(i) दूसरे विश्व-युद्ध काल में कुछ प्रमुख उद्योगपतियों ने बहुत-सा धन एकत्रित किया था। स्वतन्त्रता के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने जो औद्योगिक विकास की विस्तृत रूपरेखा प्रस्तुत की उसमें इन उद्योगपतियों को उक्त धन के विनियोजन का सुअवसर मिलना। (ii) स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् अधिकांश विदेशियों द्वारा अपने उद्योग-धन्धों को केवल कुछ धनाढ्य उद्योगपतियों को बेचा जाना। (iii) भारतीय उद्योगों में प्रचलित शक्तिशाली प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का होना। (iv) नियोजित आर्थिक विकास के लिए सरकार ने औद्योगिक नियमन, नियन्त्रण तथा अनुज्ञापत्र पद्धति का आश्रय लिया। आयात पर नियन्त्रण लगाकर निर्यात को प्रोत्साहन दिया। आयोग के मतानुसार इन सभी उपायों का लाभ केवल बड़े-बड़े उद्योगपतियों ने ही उठाया। (v) बड़े पैमाने पर कम्पनियों की स्थापना होने तथा तकनीकी विकास के कारण केन्द्रीयकरण को ही प्रोत्साहन मिलना। (vi) बड़े पैमाने के उपक्रमों को छोटे पैमाने के उपक्रमों के मुकाबले में सुलभ साख मिलना। (vii) पेटन्ट अधिनियम के कारण भी केन्द्रीयकरण पनपा। (viii) बड़े पैमाने वाले उपक्रमो को प्राप्त होने वाली मितव्ययिताओं का होना।

(२) **केन्द्रीयकरण के परिणाम**—आयोग के मतानुसार एकाधिकारियों ने मनमाने ढङ्ग पर औद्योगिक उत्पादन पर नियन्त्रण स्थापित कर रखा है तथा छोटे उत्पादकों को उखाड़ फेंका है। ये लोग माल की कृत्रिम कमी करके उपभोक्ताओं का शोषण करने में समर्थ होते हैं तथा देश में भ्रष्टाचार भी फैला रहे है। यहाँ तक कि सरकार भी इन लोगों के इशारे पर नाचती है। इन दोषों के साथ-साथ आयोग की राय में केन्द्रीयकरण की मनोवृत्ति से कुछ लाभ भी हुआ है। इन्होंने पूंजी निर्माण में सहयोग दिया है तथा प्रबन्ध-क्षमता का विकास किया है। किन्तु हानियों की तुलना में ये लाभ नाम-मात्र के ही कहे जा सकते हैं।

(३) **आयोग के सुझाव**—आर्थिक सत्ता के केन्द्रीयकरण को रोकने के लिए आयोग ने एक स्थायी निगरानी आयोग (Permanent Vigilance Commission) की नियुक्ति का सुझाव दिया। यह आयोग सरकार या किसी भी व्यक्ति से प्राप्त किसी भी शिकायत की न्यायोचित जाँच करे और आवश्यक आदेश जारी करे। इस आयोग के निर्णय के विरुद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील किये जाने की व्यवस्था होनी चाहिए। किसी भी बड़ी व्यावसायिक इकाई के कार्य-क्षेत्र का विस्तार बिना आयोग की अनुमति के नहीं होने देना चाहिये। आयोग को देश के औद्योगिक ढाँचे के सम्बन्ध में समय-समय पर सुझाव देते रहना चाहिए।

उपरोक्त आयोग की स्थापना के सुझाव के अतिरिक्त निम्न सुझाव भी प्रस्तुत किये गये :—(i) लाइसेन्स देने की नीति में उदारता से काम लिया जाना चाहिए। (ii) राजनैतिक दलों द्वारा व्यापारियों से चुनाव लड़ने हेतु धन लेने पर प्रतिबन्ध लगाया जाना चाहिए। (iii) सहकारी उपभोक्ता भण्डारों की स्थापना पर बल दिया जाना चाहिये। (iv) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार होना चाहिए। (v) भ्रष्टाचार के उन्मूलन पर जोर दिया जाना चाहिए। (vi) प्रेस तथा समाचार-पत्रों की स्वतन्त्रता को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। (vii) प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली के उन्मूलन के सम्बन्ध में आयोग के सदस्यों के बीच मतभेद था। आयोग के सदस्य श्री आर० सी० दत्त प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली के पूर्ण उन्मूलन के पक्ष में थे।

आयोग की रिपोर्ट के सम्बन्ध में सरकार की प्रतिक्रिया—

भारत सरकार ने आयोग की सिफारिशों को स्वीकार करके उन्हें कार्यान्वित करना शुरू कर दिया है। (i) ३ अप्रेल, १९७० से भारत में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली का उन्मूलन कर दिया गया है। (ii) लाइसेन्स देने की नीति में आवश्यक संशोधन कर दिये गये हैं। (iii) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार किया जा रहा है। (iv) सहकारी उपभोक्ता भण्डारों की स्थापना पर अधिकाधिक बल दिया जा रहा है। (v) कम्पनियाँ राजनैतिक दलों को धन न दे सकें, इस सम्बन्ध में कम्पनी अधिनियम में आवश्यक कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। (vi) अब बड़ी औद्योगिक इकाइयों (जिनमें २० करोड़ रु० या इससे अधिक की पूँजी हो) का विस्तार बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के नहीं हो सकेगा। 'निगरानी आयोग' की स्थापना तथा उसके कार्य-क्षेत्र की सीमा निर्धारित की जा चुकी है। (vii) एकाधिकार की प्रवृत्ति को रोकने के लिए संसद ने एकाधिकार प्रतिबन्धात्मक व्यापारिक पद्धतियाँ अधिनियम, १९६९ पारित किया है। इस अधिनियम को २७ दिसम्बर, १९६९ को राष्ट्रपति की स्वीकृति प्राप्त हुई और इस प्रकार यह १ जून, १९७० से समूचे भारत में लागू हो गया है। फरवरी, १९७१ में इस अधिनियम में कुछ परिवर्तन किये गये, जिनका कि वर्णन पहले ही किया जा चुका है। (viii) १८ फरवरी, १९७० को भारत सरकार द्वारा बड़ी औद्योगिक संस्थाओं के विरुद्ध आरोपों की जाँच के लिए भारत के भूतपूर्व न्यायाधीश श्री ए० के० सरकार की अध्यक्षता में एक सदस्यीय आयोग का गठन किया गया है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. व्यावसायिक संयोगों के क्या कारण हैं ? आपकी सम्मति में ऐसे संयोगों के प्रति सरकार की क्या नीति होनी चाहिए ? (दिल्ली, १९७२)

What are the causes of business combinations ? What in your opinion should be the government policy tawards such combinations ?

२. विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक संयोजन की विवेचना कीजिये। भारत में संयोजन आन्दोलन का संक्षेप में वर्णन कीजिये। (जोधपुर, १९७२)
[संकेत :—संयोजनों के प्रकार के लिए पिछले अध्याय को पढ़िये। भारत में संयोजन आन्दोलन का विवेचन इस अध्याय में किया गया है।]

३. संयोग के उद्गम के क्या कारण हैं ? भारत में संयोग आन्दोलन की धीमी प्रगति के कारण बताइये। (मेरठ, १९६८; राजस्थान, १९६८; इन्दौर, १९६६; लखनऊ, १९६४)
What are the causes of the origin of combination ? Account for the slow growth of combinations in India.

४. औद्योगिक संयोजन से आप क्या समझते हैं ? भारत में किसी एक उद्योग के संयोजन की कार्यविधि को समझाइए। (गोरखपुर, १९७०)
What do you understand by industrial combination ? Explain the working of combination in any one industry in India.

५. क्या आप यह समझते हैं कि भारत में संयोग आन्दोलन की प्रगति बहुत धीमी रही है ? इस समस्या का आलोचनात्मक विश्लेषण प्रस्तुत कीजिए।
(उदयपुर, १९७०; पंजाब, १९६५; नागपुर, १९६७)
Do you think that the progress of combination movement in India has been rather slow ? Pesent a critical analysis of this problem.

६. भारत में प्रचलित विभिन्न प्रकार के व्यावसायिक संयोगों की विवेचना कीजिये। इनके क्या गुण-दोष हैं ? (इन्दौर, १९६८; विक्रम, १९६४)

७. भारतीय उद्योगों में पाये जाने वाले विभिन्न प्रकार के संयोजनों की विवेचना कीजिये। क्या आप उन पर कोई प्रतिबन्ध लगाने का सुझाव देंगे ? यदि हाँ, तो क्यों ?
(जोधपुर, १९७०; आगरा, बी० कॉम० भाग १, १९६९)
Examine the various types of combination in Indian industries. Would you suggest any restriction on them ? If so, why ?

८. भारतीय उद्योगों में संयोजन आन्दोलन के विकास का संक्षिप्त वर्णन कीजिए। व्यावसायिक क्षेत्र में संयोगों के नियमन के लिये भारत सरकार द्वारा किये गये उपायों को भी बतलाइए। (आगरा, बी० कॉम० भाग १, १९७० एवं १९७३)

राजकीय हस्तक्षेप के उद्देश्य
(Objects of State Interference)

साधारणतः औद्योगिक तथा व्यापारिक क्षेत्र में राजकीय हस्तक्षेप के निम्नलिखित उद्देश्य होते हैं :—

(१) **उद्योगों में स्थिरता लाने के लए**—उद्योगों के अनियन्त्रित विकास से प्रायः व्यापार चक्रों (Trade Cycles) का जन्म होता है। इन व्यापार चक्रों का उद्योगों पर कुप्रभाव पड़ता है। अत्यधिक तेजी अथवा मन्दी (Excessive Boom or Depression) दोनों ही उद्योगों के लिये अहितकर हैं। मूल्यों में भारी वृद्धि होने से उपभोक्ताओं का शोषण होने लगता है तथा मन्दीकाल में उद्योग विशेष के पैर लड़खड़ाने लगते हैं। अतएव उद्योग व उपभोक्ताओं की रक्षा हेतु राजकीय हस्तक्षेप अनिवार्य-सा हो जाता है।

(२) **राष्ट्र सुरक्षा के लिए**—जो उद्योग सैन्य सामग्री को बनाने के लिए होते हैं, उन पर केवल राज्य का नियन्त्रण ही पर्याप्त नहीं अपितु वे पूर्ण रूप से राज्य के हाथ में ही होने चाहिये।

(३) **समाज में धन के उचित वितरण के लिए**—पूँजीवाद के दोषों (जैसे—श्रमिकों व उपभोक्ताओं का शोषण आदि) को दूर करके समाज में धन के उचित वितरण के लिए राजकीय हस्तक्षेप आवश्यक है।

(४) **अधिक जोखिम वाले उद्योगों तथा व्यवसायों के लिए**—जिन कार्यों की अधिक जोखिम को देखते हुये साधारण लोग उनमें हाथ डालने का साहस नहीं करते, सरकार को उन्हें अपना सबल योग देना आवश्यक है, जैसे सड़कों, पुलों, बाँधों तथा बड़ी पूँजी वाले उद्योगों की स्थापना करना आदि।

(५) **एकाधिकार के लिये**—उद्योग एवं व्यापार में, जिनकी समाज को अत्यधिक आवश्यकता होती है, सरकार का जनता की सुरक्षा के लिये हस्तक्षेप आवश्यक समझा जाता है। इसके उदाहरण पानी, बिजली, डाक तार, रेल आदि हैं।

(६) **जनकल्याण के लिये**—आधुनिक काल में औद्योगिक उन्नति का मूल उद्देश्य जन-कल्याण कार्यों का विकास है। जन-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर ही राज्य औद्योगिक नियन्त्रण सम्बन्धी अधिनियमों का निर्माण करता है। उदाहरणार्थ, श्रमिकों के आवास व इलाज की व्यवस्था, वृद्धावस्था में पेंशन आदि।

(७) **अर्थ-नियन्त्रण के लिए**—उद्योग तथा व्यापार में आवश्यक पूँजी प्राप्त करने के लिए तथा उस पर समुचित नियन्त्रण के लिये भी राज्य का हस्तक्षेप आवश्यक है। जैसे—भारत में सन् १९४७ का पूँजी निर्गमन नियन्त्रक विधेयक, उद्योग वित्त निगम, राज्य वित्त निगम आदि।

राजकीय हस्तक्षेप केढंग

किसी भी उद्योग में सम्बन्धित देश की आवश्यकतानुसार राज्य का हस्तक्षेप होना चाहिये। यह हस्तक्षेप निम्न प्रकार से किया जा सकता है :—

(१) **राज्य द्वारा प्रत्यक्ष सुविधायें प्रदान किया जाना**—जब किसी राष्ट्र में निजी उपक्रम का विकास न हुआ हो तो राज्य प्रत्यक्ष सुविधायें देकर उद्योगों के विकास में सहायक होता है। संरक्षण, वित्तीय सहायता, यातायात-सम्बन्धी सुविधायें, तान्त्रिक परामर्श तथा अनुसन्धान-सम्बन्धी सुविधा, औद्योगिक शिक्षा, क्रय-नीति निर्धारण आदि के आधार पर राज्य उद्योगों की सहायता करता है। जिस उद्योग को प्रोत्साहन देना होता है, सरकार उसे संरक्षण

प्रदान कर सकती है। इससे विदेशी प्रतिस्पर्धा समाप्त हो जाती है। भारत में प्रायः सभी बड़े-बड़े उद्योगों को प्रारम्भिक अवस्था में संरक्षण प्रदान किया गया था। उदाहरणार्थ, लौह एवं इस्पात उद्योग, चीनी उद्योग आदि।

(२) **अप्रत्यक्ष सुविधायें प्रदान किया जाना**—राज्य द्वारा उद्योगों की सहायता का दूसरा तरीका अप्रत्यक्ष सुविधायें प्रदान करना है। अप्रत्यक्ष सुविधायें प्रायः अधिनियम द्वारा प्रदान की जाती हैं। उद्योगों से सम्बन्धित अनेकों नियमों का निर्माण किया जाता है। उदाहरणार्थ, श्रम सम्बन्धी नियन्त्रण, उद्योगों की स्थापना सम्बन्धी नियन्त्रण (लाइसेन्स पद्धति), ट्रेडमार्क अधिनियम, प्रसंविदा अधिनियम, संचालन तथा संगठन सम्बन्धी अधिनियम, (भारतीय कम्पनी अधिनियम साझेदारी अधिनियम, विक्रय अधिनियम, वितरण सम्बन्धी अधिनियम आदि)।

(३) **आर्थिक क्रियाओं के नियमन** (Control) **द्वारा**—सहायता करने का तीसरा ढङ्ग आर्थिक क्रियाओं पर राज्य का नियन्त्रण होना है। आर्थिक क्रियाओं के नियमन में उत्पादन, पूँजी का विनियोग (Capital Control Order), आयात एवं निर्यात, विदेशी विनिमय आदि का नियन्त्रण होता है। इसी प्रकार वह (राज्य) काम करने वाले श्रमिकों के हितार्थ कई अधिनियम; जैसे—औद्योगिक संघर्ष अधिनियम (Industrial Disputes Act), बाल श्रमिक नियोजन अधिनियम, श्रमिक हानिपूर्ति अधिनियम, प्रसूति सुविधायें, कारखाना अधिनियम, शिशु कल्याण आदि बनाये जाते हैं। इनका एकमात्र उद्देश्य यही है कि देश में उचित उत्पादन हो तथा श्रमिकों को उचित सुरक्षा प्राप्त हो।

(४) **सरकार द्वारा स्थापित उद्योग**—राजकीय हस्तक्षेप का अन्तिम ढङ्ग सरकार द्वारा उद्योगों की स्थापना किया जाना है। जब हर प्रकार के प्रोत्साहन से भी कोई उद्योग देश में नहीं पनपता तो सरकार स्वयं ही उस उद्योग को विकसित करती है। ऐसा प्रायः उस समय होता है जब उद्योग विशेष के लिये अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता हो तथा लाभ की दर अत्यन्त धीमी हो। तान्त्रिक ज्ञान का अभाव भी प्रायः निजी उद्योगों के विकास में बाधक होता है। उदाहरणार्थ, अणु शक्ति का विकास।

(५) **राष्ट्रीयकरण द्वारा**—उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण की सबसे प्रभावपूर्ण विधि उनका राष्ट्रीयकरण है। इसमें उद्योग का स्वामित्व जन-विशेष के हाथों में न रहकर सरकार के हाथों में चला जाता है। इस प्रकार इनमें किसी विशेष व्यक्ति को लाभ न मिलकर समस्त लाभ सरकार के हाथों में चला जाता है। अभी हाल ही में जीवन बीमे का राष्ट्रीयकरण इसका ज्वलन्त उदाहरण है। इस पद्धति का विस्तृत वर्णन आगे किया गया है।

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण
(Nationalisation of Industries)

उद्योगों का राष्ट्रीयकरण तथा उसमें सरकारी हस्तक्षेप का प्रश्न भारत में ही नहीं सारे संसार में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं जटिल प्रश्न है। राष्ट्रीयकरण का अर्थ है कि उद्योगों में निजी स्वामित्त्व एवं प्रबन्ध के स्थान पर सरकार का प्रबन्ध एवं स्वामित्त्व पर नियन्त्रण हो। दूसरे शब्दों में, सरकार द्वारा उत्पादन के साधनों पर स्वामित्त्व का नियन्त्रण ही राष्ट्रीयकरण है। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होना चाहिए अथवा नहीं, इस सम्बन्ध में पर्याप्त मतभेद है। परन्तु आजकल यह सभी देशों में मान लिया गया है कि पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था देश एवं समाज-हित के दृष्टिकोण से हानिकारक है, राष्ट्रीयकरण का नारा तीव्र गति से जाग्रत होता जा रहा है।

राष्ट्रीयकरण के गुण एवं दोष

राष्ट्रीयकरण के गुण (Merits of Nationalisation)—

प्रोफेसर के० टी० शाह के शब्दों में, "राष्ट्रीयकरण द्वारा सरकार तथा श्रमिकों में

अच्छा सामंजस्य रहेगा तथा मितव्ययिता रहेगी; समस्त देश में उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण हो जायेगा, जिससे लोगों को अधिक काम मिलेगा तथा कच्चे माल का पूर्ण रूप से उपयोग किया जा सकेगा। इस प्रकार उद्योगों में होने वाला लाभ जनता के हित के लिए व्यय किया जा सकेगा। इनके द्वारा लाभ की ओर विशेष ध्यान न देकर सेवा की ओर ध्यान दिया जा सकेगा। श्रमिकों का शोषण सम्भव नहीं हो सकेगा तथा जन-साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठेगा।" इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के पक्ष में कुछ तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) **देश-कल्याण में वृद्धि**—उत्पादन से होने वाला विस्तृत लाभ कुछ ही व्यक्तियों के पास न रहकर राज्य के पास पहुँचेगा, जिससे देश-कल्याण की योजनायें अधिक प्रभावपूर्ण ढङ्ग से कार्यान्वित की जा सकेंगी।

(२) **उपभोक्ताओं को लाभ**—उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से उपभोक्ताओं के हितों की रक्षा होगी। उन्हें वस्तु उचित मूल्यों पर उपलब्ध होगी। यदि किसी कारणवश उन्हें कुछ अधिक मूल्य भी देना पड़े, तो भी उस अतिरिक्त धन से किसी व्यक्ति विशेष का लाभ न होकर समूचे समाज का कल्याण होगा।

(३) **समाजवाद की स्थापना**—राष्ट्रीयकरण समाजवाद का आधार है। उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से देश में समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की स्थापना होगी। इससे पूँजीपतियों का विनाश होगा तथा जन-साधारण को लाभ पहुँचेंगे। औद्योगिक इकाइयों पर कुछ इने-गिने पूँजीपतियों का अधिकार न होकर समूचे समाज का अधिकार होगा।

(४) **उत्पादन लागत में मितव्ययिता**—राष्ट्रीयकरण से प्रतिस्पर्धा तथा विज्ञापन-बाजी पर होने वाले विनाशकारी तथा दोहरे व्यय समाप्त हो जायेंगे। परिणामस्वरूप, उत्पादन लागत में भी कमी होगी।

(५) **पूँजी की प्राप्ति सुलभ**—उद्योगों की बागडोर राज्य के हाथ में आ जाने से पूँजी प्राप्त करने में सुविधा रहेगी। राज्य अपनी साख पर कम ब्याज पर देश तथा विदेश दोनों में पूँजी प्राप्त करने में सफल हो सकेगा।

(६) **तान्त्रिक योग्यता का विकास**—राष्ट्रीयकरण से उद्योगों के नियन्त्रण के एकीकरण होने से अनेक तान्त्रिक लाभ होंगे। सभी उद्योगों के लिये कुशल इन्जीनियरों तथा तकनीकी विशेषज्ञों की सेवायें सरकार को कम लागत पर उपलब्ध होंगी, क्योंकि सरकारी नौकरियों में अपेक्षाकृत अधिक आकर्षण रहता है।। इससे उद्योगों में नये-नये प्रयोगों द्वारा नवीनतम आविष्कार अधिकाधिक होंगे। इससे सभी उद्योगों का तेजी से विकास होगा।

(७) **सन्तुलित औद्योगिक विकास**—समस्त उद्योग राज्य के अधिकार में आ जाने से देश के समस्त भागों में सन्तुलित औद्योगिक विकास सम्भव हो सकेगा।

(८) **दूषित मनोवृत्तियों का विनाश**—घूसखोरी, चोरबाजारी, मिलावट, कपट आदि समाजविरोधी प्रवृत्तियाँ हमारे व्यावसायिक क्षेत्र में अपना घर कर गई हैं। बेईमान व्यवसायी हमारे जीवन से खिलवाड़ करने में नहीं चूकते। इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ राष्ट्रीयकृत उद्योगों में नहीं पनप पातीं, क्योंकि वहाँ पर व्यक्तिगत हित को कोई स्थान नहीं होता। वास्तव में एक सरकार माता-पिता के तुल्य होती है जो अपने पुत्रों को रोटी के स्थान पर पत्थर देना कभी भी नहीं चाहेगी।

(९) **राष्ट्रीय स्रोतों का पूर्ण उपयोग**—यदि व्यक्तिगत नियन्त्रण में उद्योगों का

विकास होने दिया गया तो देश के उपलब्ध स्रोतों का पूर्णतः विदोहन नहीं हो पायगा। अतएव राष्ट्रीय स्रोतों का पूर्णतः विदोहन करने के लिए उद्योगों का राष्ट्रीयकरण परम आवश्यक है।

(१०) **उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण**—राष्ट्रीयकरण होने से उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण सम्भव हो सकेगा। इससे सभी को लाभ होगा।

(११) **दूषित प्रतियोगिता का अन्त**—आज का युग भीषण प्रतिस्पर्धा का युग है। निजी क्षेत्र में गलाकाट प्रतिस्पर्धा विद्यमान है। इसमे उद्योगों का शोषण होता है। इसके विपरीत उद्योगों का राष्ट्रीयकरण होने से दूषित प्रतिस्पर्धा का अन्त हो जाता है।

(१२) **श्रमिकों की दशा में सुधार**—श्रमिकों का शोषण समाप्त हो जाता है तथा श्रम-कल्याण सम्बन्धी कार्यों को भारी प्रोत्साहन मिलता है। वेतन में वृद्धि होती है तथा रोजगार में स्थिरता आती है।

(१३) **धन के वितरण की विषमता कम**—उद्योगों का राष्ट्रीयकरण हो जाने से धन के वितरण की विषमता कम हो जाती है।

(१४) **उद्योगों में स्थिरता**—राष्ट्रीयकरण से उद्योगों में स्थिरता आती है। जब समस्त उद्योग एक ही संस्था द्वारा संचालित होते हैं तो उनमें समन्वय स्थापित करना अत्यन्त सरल हो जाता है। उद्योगों में दीर्घकालीन योजनायें आसानी से लागू की जा सकती हैं।

(१५) **बड़े पैमाने के उपक्रमों की स्थापना**—प्रायः निजी क्षेत्र छोटे पैमाने पर ही सफल होता है। बड़े पैमाने के उपक्रम की सफलता राज्य-नियन्त्रण द्वारा सफलतापूर्वक हो सकेगी। नवीन उद्योग भी आसानी से स्थापित किये जा सकते हैं।

(१६) **सेवा तत्त्व**—उद्योगों के राष्ट्रीयकरण का प्रमुख ध्येय केवल लाभ कमाना ही नहीं अपितु जन-सेवा होता है, जबकि निजी क्षेत्र में अत्यधिक लाभ कमाना ही प्रमुख उद्देश्य होता है।

राष्ट्रीयकरण के दोष (Demerits of Nationalisation)—

राष्ट्रीयकरण के विपक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) **एकाधिकार की मनोवृत्ति**—एक अँग्रेजी कहावत है कि 'शक्ति भ्रष्ट करती है और पूर्ण शक्ति पूर्णतया भ्रष्ट करती है।' राष्ट्रीयकरण होने से उद्योग तथा व्यापार पर राज्य का एकाधिकार हो जाता है, जिसके कारण जन-साधारण उससे प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकता, क्योंकि इससे सरकार को मनमानी करने का अवसर मिलता है। प्रतिस्पर्धा के समाप्त हो जाने से अन्य वस्तुओं के मुकाबले में अनिवार्यताओं की कीमतों में सबसे अधिक वृद्धि होती है। परिणामस्वरूप गरीबों का शोषण सबसे अधिक होने लगता है।

(२) **औद्योगिक कार्यक्षमता का ह्रास**—राष्ट्रीयकरण से औद्योगिक कार्यक्षमता का ह्रास होता है। इसका मुख्य कारण व्यक्तिगत रुचि का अभाव है। राष्ट्रीयकरण किये हुए उद्योगों का संचालन सरकारी अधिकारियों के हाथ में रहता है, जिन्हें उद्योगों के लाभ-हानि से कोई सरोकार नहीं। अतः वे उसमें व्यक्तिगत रुचि नहीं लेते। इसका परिणाम यह होता है कि एक तरफ तो प्रति व्यक्ति उत्पादन घटता जाता है तथा दूसरी तरफ लागत-व्यय में वृद्धि होती जाती है।

(३) **अस्थिरता का वातावरण**—आधुनिक सरकारें अस्थायी संस्थाय होती हैं। सामाजिक निर्वाचन के कारण उनमें परिवर्तन व हेर-फेर हुआ करते हैं। परिणामस्वरूप, औद्यो-

गिक नीतियाँ भी स्थायी न रहकर अस्थायी ही रहती हैं। इससे औद्योगिक जगत में अस्थिरता का वातावरण रहता है।

(४) सरकार द्वारा सञ्चालित उद्योग-धन्धों में प्रतिस्पर्धा का अभाव रहता है, अतएव शिथिलता एवं मन्दता आ जाती है। मितव्ययिता व उत्साह रफूचक्कर हो जाते हैं।

(५) **उपभोक्ताओं को क्षति**—राष्ट्रीयकरण से उपभोक्ताओं के हितों को क्षति पहुँचती है। औद्योगिक प्रबन्ध की अयोग्यता तथा उत्पादन सम्बन्धी दोषों का समस्त भार उन्हीं के कन्धों पर पड़ता है। परिणामस्वरूप या तो वस्तु के मूल्यों में वृद्धि हो जाती है अथवा सरकारी खजाने से उक्त हानि-पूर्ति का प्रयत्न किया जाता है। इसके अतिरिक्त उपभोक्ताओं की स्वतन्त्रता का भी हनन हो जाता है क्योंकि उन्हें विविध प्रकार का उत्पादित माल उपलब्ध न होकर केवल कुछ निश्चित किस्म का माल क्रय करने के लिए बाध्य होना पड़ता है। एकाधिकार के दुष्परिणाम सामने आते हैं।

(६) **विवेकीकरण की धीमी गति**—सरकार को विवेकीकरण की योजनायें लागू करने में श्रमिकों के विरोध का सामना करना पड़ता है, क्योंकि इनसे श्रमिकों में बेकारी फैलने का भय उत्पन्न हो जाता है। परिणामस्वरूप, उद्योगों में विवेकीकरण की गति धीमी पड़ जाती है।

(७) **शासन-व्यवस्था में ढिलाई**—राज्य का प्रमुख कार्य शासन-व्यवस्था करना है। अतएव यदि राज्य उद्योगों की स्थापना करना प्रारम्भ कर दे तो शासन-व्यवस्था में ढील आना स्वाभाविक है, जिसके गम्भीर परिणाम हो सकते हैं। आज यदि कोई व्यापारी किसी भी प्रकार की त्रुटि करता है तो सरकार उसके विरुद्ध आवश्यक कार्यवाही कर सकती है तथा दोषी पाये जाने पर उसको सजा भी दी जाती है, किन्तु यदि वही त्रुटि राज्य द्वारा हो (क्योंकि त्रुटि आखिर मनुष्य के द्वारा होती हैं।[1]) तो जनता का हित सुरक्षित कौन करेगा ?

(८) **लालफीताशाही को प्रोत्साहन—श्री एमरसन** (Emerson) के शब्दों में—"व्यापार एक दक्षता का खेल है, जिसे प्रत्येक व्यक्ति नहीं खेल सकता। धैर्य, ईमानदारी, परिश्रम, ज्ञान, चातुर्य, प्रभावशाली व्यक्तित्व, चरित्र, साख, अनुभव, सामान्य ज्ञान आदि गुणों का होना एक सफल व्यवसायी के लिए आवश्यक है। कार्यक्षमता की दृष्टि से परम्परागत गुण भी महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है, भारत की प्रबन्ध-अभिकर्त्ता प्रणाली इस कथन का जीता-जागता चित्रण ह, किन्तु उपर्युक्त गुण एक सरकारी कर्मचारी में नहीं पाये जाते। इसके विपरीत, सरकारी कर्मचारियों की अफसरी शान तथा लाल-फीताशाही (Red-tapism) उद्योगों को अवनति की ओर खींचकर ले जाती है।"

(९) **सरकार की पक्षपातपूर्ण नीति से बुरे प्रभाव**—सरकार पक्षपातपूर्ण नीति अपनाती है। सरकार के लिए एक पक्ष के मूल्य पर दूसरे पक्ष को लाभ पहुँचाना अनिवार्य-सा हो जाता है, विशेषकर जबकि कुछ स्वार्थ-हित विद्यमान हो। उदाहरणार्थ, जनसाधारण से बिजली का शुल्क अधिक इसलिए लिया जाता है ताकि छोटे-छोटे उद्योगों के वास्ते सस्ते मूल्य पर बिजली उपलब्ध हो सके। इस नीति से औद्योगीकरण को क्षति पहुँचती है।

(१०) **निजी क्षेत्र को क्षति**—अमेरिका की आर्थिक सम्पन्नता का एकमात्र कारण निजी साहस (Private Enterprise) की सफलता ही है। यदि राज्य स्वयं ही उद्योग व व्यापार

---

[1] To err is human.

की स्थापना करना प्रारम्भ कर दे तो निजी क्षेत्र के लिए रह ही क्या जाता है ? जिन देशों में धन की कमी है, वहाँ पर राष्ट्रीयकरण की नीति अपनाना खतरे से खाली नहीं है ।

(११) **उत्पादकों की स्वतन्त्रता का हनन**—इसमें उत्पादक स्वेच्छापूर्वक उत्पादन-कार्य को नहीं चुन सकता है ।

(१२) **औद्योगिक नीति में स्थिरता का अभाव**—आज की शासन-प्रणाली में जनता के चुने हुए व्यक्ति ही शासन करते हैं । इन लोगों का निर्वाचन अधिकांशतः योग्यता के आधार पर न होकर, दलबन्दी के प्रभाव, अधिक व्यय तथा जनता को धोखा देकर किया जाता है, जिससे तान्त्रिक योग्यता के व्यक्ति इसमें प्रवेश नहीं कर पाते । परिणामस्वरूप, व्यापारिक एवं औद्योगिक नीतियाँ सुन्दर नहीं बन पातीं, क्योंकि हर पार्टी की अपनी औद्योगिक नीति होती है । इसके कारण शासन-सत्ता बदलने के साथ-साथ औद्योगिक नीति भी बदलती रहती है । इससे देश को क्षति पहुँचती है ।

क्या राष्ट्रीयकरण उचित है ?—

राष्ट्रीयकरण के पक्ष व विपक्ष दोनों में दिये गये तर्क अत्यन्त प्रभावपूर्ण हैं । अतः अब हमारे सामने स्वाभाविक प्रश्न होता है, क्या राष्ट्रीयकरण उचित है ? इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि जहाँ तक हो सके, राज्य को औद्योगिक प्रबन्ध अपने हाथों में नहीं लेना चाहिए । उसे अपना कार्य-क्षेत्र औद्योगिक नियन्त्रण तथा नियमन तक ही सीमित रखना चाहिए, परन्तु निम्न परिस्थितियों में राष्ट्रीयकरण अवश्य होना चाहिए :—(१) **एकाधिकार सम्बन्धी उद्योग**—ऐसे उद्योग जिनमें एकाधिकार द्वारा मितव्ययिता प्राप्त हो सकती है :—जैसे—रेल, डाक-तार, पानी, विद्युत आदि । (२) **जनहितकारी उद्योग**—ऐसे उद्योग जिनमें लाभ शीघ्र प्राप्त नहीं होता, जिससे कि वैयक्तिक उपक्रम उस ओर प्रोत्साहित नहीं होता । इन उद्योगों अथवा कार्यों में भूमि-सुधार, वनारोपण, सड़कों का निर्माण, पुल निर्माण, नहरें खुदवाना आदि शामिल हैं । (३) **सुरक्षा सम्बन्धी उद्योग**—राज्य की सुरक्षा से सम्बन्धित उद्योग; जैसे—युद्ध सामग्री का निर्माण । (४) **व्यक्तिगत उपक्रम की असमर्थता पर**—ऐसे उद्योग जिनसे सभी उद्योगपतियों को लाभ मिले, किन्तु व्यक्तिगत उपक्रम उनको स्थापित करने में असमर्थ हों; जैसे—रसायन एवं औषधियाँ तैयार करना, खाद्यान्न में मिलावट करना आदि । (५) **निर्धारित लक्ष्य प्राप्त न होने पर**—ऐसे उद्योग जोकि राज्य द्वारा निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ होते हैं । (६) **जनहित के लिए**—जन-कल्याण की दृष्टि से अथवा नियोजन की सफलता के लिए किसी भी उद्योग का राष्ट्रीयकरण किया जा सकता है ।

भारत सरकार ने अभी हाल में जो १४ बड़े व्यापारिक बैंकों और सामान्य बीमा व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण किया है तथा विदेशी व्यापार के राष्ट्रीयकरण की जो माँग जोर पकड़ रही है, उससे प्रतीत होता है कि वर्तमान नीति राष्ट्रीयकरण की नीति है ।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. व्यापार और उद्योग पर सरकारी नियन्त्रण लगाने के मुख्य कारण बताइये ।

(दिल्ली, १९६८)

State the main grounds for Govt. regulation of business and industry.

२. भारत सरकार की उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की नवीनतम नीति पर एक सारगर्भित टिप्पणी लिखिए। (दिल्ली, १९५८)

Write a reasoned note on the Govt. of India's latest policy on nationalisation of industries.

३. क्या राष्ट्रीयकरण से तात्पर्य राजकीय स्वामित्त्व एवं प्रबन्ध से है और क्या यह मत आवश्यक रूप से निजी उद्योग से अधिक अच्छा है? विस्तारपूर्वक विवेचना कीजिये। (आगरा, १९६२, ६८)

४

औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन

(Industrial Finance)

प्रारम्भिक—अर्थ-प्रबन्धन का अर्थ एवं महत्त्व

आधुनिक युग में पूँजी वह धुरी है जिसके चारों ओर आर्थिक संसार घूमता है। किसी भी व्यापार एवं उद्योग को, चाहे वह बड़े पैमाने पर हो अथवा छोटे पैमाने पर, प्रारम्भ करने एवं उसके भावी विस्तार के लिए पर्याप्त पूँजी की आवश्यकता होती है। आधुनिक समय में देश की औद्योगिक उन्नति अर्थ-प्रबन्धन पर ही निर्भर है। अर्थ-प्रबन्धन की उचित व्यवस्था के अभाव में अनेक औद्योगिक विकास की योजनायें फायलों व कागजों तक ही सीमित रहकर असफल हो जाती हैं। जिस प्रकार एक इन्जन के चलाने के लिए कोयले अथवा बिजली की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यापार एवं उद्योग को स्थापित करने तथा चलाने के लिए अर्थ-प्रबन्धन की आवश्यकता होती है। अतएव अर्थ-प्रबन्धन ही उद्योगों का सर्वस्व है। भारत की आशातीत औद्योगिक उन्नति न होने का मुख्य कारण पर्याप्त अर्थ-प्रबन्धन का ही अभाव होना है। विदेशी सरकार की इस ओर कोई विशेष रुचि न थी, क्योंकि इसमें उसका स्वार्थ छिपा हुआ था। अँग्रेज भारत को इंगलैण्ड के उद्योगों के लिए केवल कच्चे माल के निर्यातक के रूप में ही देखना चाहते थे। परिणामस्वरूप, भारत उस समय इंगलैण्ड के निर्मित माल की खपत का मुख्य केन्द्र बना हुआ था। स्वतन्त्रता प्राप्त करने पर राष्ट्रीय सरकार ने पंचवर्षीय योजनाओं के द्वारा देश के औद्योगिक विकास पर जोर दिया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना-काल में देश में कई बड़े-बड़े उद्योगों की स्थापना की गई। आज जबकि हमारा देश चतुर्थ योजना के चतुर्थ चरण में प्रवेश कर चुका है, यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन की समुचित व्यवस्था की जाये, ताकि औद्योगिक विकास की सभी योजनाओं को क्रियात्मक रूप प्रदान किया जा सके। जैसे-जैसे उत्पादन की इकाई में वृद्धि एवं जटिलता आती जा रही है वैसे-वैसे अर्थ-प्रबन्धन का महत्त्व बढ़ता जा रहा है। भारत में पर्याप्त औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन के अभाव में आज हम विश्व के किसी भी राष्ट्र से ऋण लेने के लिये तत्पर हैं।

पूँजी के प्रकार
(Kinds of Capital)

आधुनिक व्यावसायिक औद्योगिक गृहों को दो प्रकार की पूँजी की आवश्यकता होती है—(I) स्थायी या अचल पूँजी (Fixed or Block Capital), एवं (II) कार्यशील या चल पूँजी (Working or Circulating Capital)।

(I) स्थायी या अचल पूँजी से आशय (Fixed or Blocked Capital)—

जो पूँजी स्थायी सम्पत्ति पर विनियोग करने के लिये ली जाती है उसको स्थायी पूँजी कहते हैं। यह पूँजी व्यवसाय में स्थायी रूप से रहती है और उसे इच्छानुसार वापस नहीं

लिया जा सकता। अतएव इसको अचल पूँजी भी कहते हैं। इस प्रकार की पूँजी का प्रयोग स्थायी सम्पत्ति का क्रय करने के लिये किया जाता है। इसका आशय भूमि, भवन, मशीन तथा प्रारम्भिक व्ययों से है। इसकी मात्रा उद्योग व व्यवसाय की प्रकृति व आकार पर निर्भर करती है। जितनी बड़ी इकाई होगी, उतनी ही अधिक पूँजी की आवश्यकता होगी। साधारणतः एकाकी व्यापार में साझेदारी के मुकाबले में कम पूँजी की आवश्यकता होती है। इसी प्रकार संयुक्त पूँजी कम्पनी के मुकाबले में साझेदारी में कम पूँजी की जरूरत होती है।

स्थायी पूँजी की आवश्यकता (Need of Fixed Capital)—

एक संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी में निम्न कार्यों के लिये स्थायी पूँजी की आवश्यकता पड़ती है :—(१) **वास्तविक सम्पत्ति** (Tangible Assets) : (अ) भूमि; (ब) भवन; (स) प्लान्ट तथा मशीनरी, फर्नीचर; तथा (द) विविध स्थायी सम्पत्ति। (२) **अवास्तविक सम्पत्ति** (Intangible Investments) : (अ) प्रवर्तन व्यय (Promotion Expenses); (ब) व्यवस्थापन व्यय (Organisation Expenses); (स) प्रारम्भिक व्यय (Preliminary Expenses); (द) अर्थ-प्रबन्धन व्यय (Cost of Financing); तथा (य) ख्याति तथा पेटेन्ट्स (Goodwill & Patents)।

स्थायी पूँजी प्राप्त करने के साधन (Sources of Fixed Capital)—

चूँकि स्थायी पूँजी बहुत बड़े समय तक व्यापार व उद्योग में रहती है, अतएव इसको 'दीर्घकालीन पूँजी' भी कहते हैं। एकाकी व्यापार व साझेदारी की दशा में यह पूँजी संस्था के स्वामी अपने निजी साधनों, मित्रों एवं सम्बन्धियों से ऋण लेकर उपलब्ध करते हैं, किन्तु कम्पनी की दशा में स्थायी पूँजी निम्न साधनों से एकत्रित की जाती है :—(अ) अंश-पत्रों का निर्गमन करके, (ब) ऋण-पत्रों का निर्गमन करके, (स) विशिष्ट अर्थ-प्रबन्धन संस्थाओं से ऋण लेकर।

[उपरोक्त सभी साधनों का वर्णन विस्तृत रूप से अगले अध्याय में किया गया है।]

(II) कार्यशील पूँजी या चल पूँजी से आशय (Meaning of Working Capital)—

वह पूँजी जोकि उद्योग के साधारण कार्यों में लगाई जाती है, कार्यशील पूँजी कहलाती है। इसका प्रयोग कार्यकर्त्ताओं की मजदूरी व वेतन, विज्ञापन, चल सम्पत्ति के क्रय, उत्पादन व्यय, विक्रय व्यय तथा अन्य सामान्य खर्चों के भुगतान में किया जाता है। कार्यशील पूँजी का कार्यकाल स्थायी पूँजी की अपेक्षा कम होता है, अतएव इसको 'अल्पकालीन' अथवा 'अस्थायी' पूँजी भी कहते हैं। कार्यशील पूँजी की परिभाषा के सम्बन्ध में दो विभिन्न विचारधारायें विद्यमान हैं :—प्रथम विचारधारा के अनुसार कार्यशील पूँजी का आशय चालू सम्पत्ति (Current Assets) और चालू देनदारियों (Current Liabilities) से है और इसका समर्थन लिंकन (Lincoln), स्टैविन्स (Stavens) तथा सलियर्स (Saliers) जैसे अर्थ-प्रबन्धन विशेषज्ञों ने किया है। इसके विपरीत दूसरी विचारधारा के अनुसार कार्यशील पूँजी का अभिप्राय केवल चालू सम्पत्ति से है और इस विचारधारा के समर्थक फील्ड (Field), मैलोट (Mallot), मीड (Mead) तथा बेकर हैं।

कार्यशील पूँजी की मात्रा (Amount of Working Capital)—

व्यवसाय में कार्यशील पूँजी की मात्रा कितनी होनी चाहिये, यह उत्पादन के आकार पर निर्भर करता है। इसका अनुमान निम्न सिद्धान्तों के आधार पर लगाया जा सकता है :—(१) वस्तु के उत्पादन में लगने वाला समय। (२) क्रय की शर्तें। (३) विक्रय की शर्तें। (४) उत्पादन की मात्रा। (५) चल सम्पत्ति को द्रव्य में परिवर्तित करने की सुविधा। (६) बाजार के रीति-रिवाज। (७) सामयिक उतार-चढ़ाव।

यदि वस्तु के उत्पादन में अधिक समय लगता है तो व्यवसाय में अधिक कार्यशील

पूँजी की आवश्यकता होगी। इसके विपरीत यदि वस्तु-उत्पादन में कम समय लगता है तो कम कार्यशील पूँजी की आवश्यकता होगी, क्योंकि पूँजी का आवागमन शीघ्रता से होगा। इसी प्रकार यदि उत्पादन को कच्चा माल खरीदने में अधिक समय के लिये साख (उधार) मिल जाती है तो उसे कम पूँजी चाहिये। इसके विपरीत यदि कच्चे माल के विक्रेता कम समय के लिए साख-सुविधायें देते हैं तो अधिक मात्रा में कार्यशील पूँजी की जरूरत होगी। यदि वह पक्के माल को बेचने में अधिक समय के लिए साख-सुविधायें देता है, अर्थात् अधिक समय के लिये उधार माल बेचता अथवा बाजार के रीति-रिवाज के अनुसार दो या तीन महीनों के लिये उधार पक्का माल बेचा जाता है तो उसे अधिक कार्यशील पूँजी चाहिए। इसके विपरीत अवस्थाओं में कम पूँजी की आवश्यकता होगी। इसी प्रकार यदि व्यवसाय में समय-समय पर काफी उतार-चढ़ाव (Fluctuations) आते रहते हैं तो उसे अधिक कार्यशील पूँजी रखनी पड़ेगी। यदि सामयिक परिवर्तन कम होते हैं, तब कम कार्यशील पूँजी चाहिये।

कार्यशील पूँजी प्राप्त करने के साधन (Sources of Working Capital)—

(I) **स्वामित्वधारी अथवा वैयक्तिक संस्थाओं** (Proprietory Concerns) **की दशा में**—इन संस्थाओं से हमारा अभिप्राय एकाकी व्यापार, संयुक्त परिवार व्यवसाय तथा साझेदारी से है। इनके व्यापार का आकार प्रायः छोटी मात्रा में होता है, क्योंकि इनके आर्थिक साधन सार्वजनिक संस्थाओं (अर्थात् कम्पनी) के मुकाबले में सीमित होते हैं। स्वामित्वधारी संस्था को निम्न स्रोतों (Sources) के द्वारा कार्यशील पूँजी प्राप्त हो सकती है :—(१) मित्रों तथा सम्बन्धियों से ऋण लेकर, (२) बैंकों से ऋण लेकर, (३) हुण्डियों द्वारा ऋण लेकर, (४) जन-निक्षेप लेकर, (५) किसी पूँजी वाले नये साझेदार को लेकर, एवं (६) विशिष्ट संस्थाओं तथा सरकार से ऋण लेकर।

(१) **मित्रों तथा सम्बन्धियों से ऋण लेकर**—यदि व्यवसाय के स्वामी स्वयं इतने धनाड्य नहीं होते कि व्यवसाय अथवा उद्योग की बढ़ती हुई पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओं को पूरा कर सकें तो उन्हें अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से उधार धन लेना पड़ता है। यह धन निश्चित ब्याज-दर पर तथा निश्चित अवधि के लिये लिया जा सकता है।

(२) **बैंकों से ऋण लेकर**—आवश्यकता पड़ने पर व्यापारिक बैंकों से भी ऋण लिया जा सकता है। बहुधा व्यापारिक बैंक अस्थायी रूप से ऋण दिया करती हैं तथा ऋण देने से पूर्व ये ऋण लेने वाले की साख तथा प्रतिष्ठा आदि का भी विचार करती हैं। इन बैङ्कों में प्रायः ऐसे विभाग होते हैं जो बाजार की स्थिति तथा ग्राहकों की आर्थिक दशा एवं व्यवहार का पूरा ज्ञान रखते हैं। ये विभाग बहुधा ग्राहकों के स्थितिविवरण (State of Affairs) तथा अन्य लेखों का निरीक्षण करके और गुप्त रूप से अन्य स्रोतों द्वारा सूचनायें प्राप्त करके अपनी पूरी-पूरी जानकारी रखते हैं। अतः किसी भी व्यापारी अथवा उद्योगपति को ऋण देने से पूर्व बैंक अपने इस विभाग को विस्तृत जानकारी प्राप्त करने का आदेश देते हैं। इसके पश्चात् ही यह निर्णय किया जाता है कि ऋण दिया जाय अथवा नहीं। यदि ऋण दिया जाना है तो उसकी मात्रा, अवधि व शर्तें क्या होनी चाहिये—यह सब उपरोक्त विभाग की रिपोर्ट पर ही निर्भर करता है। भारत में यह ऋण ग्राहक की जमानत या प्रतिभूति लेकर ही दिया जाता है।

(३) **हुण्डियों** (Hundies) **द्वारा**—सबसे अधिक प्रचलित एवं प्रसिद्ध पद्धति जोकि भारत में व्यावसायिक अर्थ-पूर्ति के लिए अपनाई जाती है वह हुण्डियों द्वारा धन लेना है। जनता से व्यापार के लिये धन लेने की यह अत्यन्त प्राचीन पद्धति है और विशेषकर यहाँ के निवासियों से ही ऋण लेने की यह बड़ी पुरानी रीति है। कुछ लेखकों की राय से "हुण्डी" शब्द

फ़ारसी का जान पड़ता है और इसका अर्थ "संग्रह करना" या "इकट्ठा करना" होता है। कुछ लेखक इस "हुण्डी" शब्द को हिन्दी या हिन्दू शब्द का अपभ्रंश रूप बतलाते हैं। कुछ भी हो, हिन्दू या हिन्दी का हुण्डी होना कुछ यथार्थ प्रतीत होता है, क्योंकि इस हुण्डी की प्रथा का प्रचलन भी अत्यन्त प्राचीन काल से पाया जाता है। इसके लिए एक पौराणिक कथा भी प्रचलित है कि प्राचीन काल में वस्तुपाल तेजपाल ने अहमदाबाद के नगरसेठ से १० करोड़ की एक हुण्डी भुनाई थी और उसी धन से आबू के पर्वत पर दिलवारा के मन्दिरों का निर्माण कराया था। इसी प्रकार लगभग २,५०० वर्ष पहले की एक और कहानी प्रचलित है कि श्रीकृष्ण के जीवन-काल में जूनागढ़ के नरसिंह मेहता ने द्वारिका के सेठ सालमशाह से एक हुण्डी भुनाई थी।

यद्यपि यह हुण्डी की पद्धति अत्यन्त प्राचीन काल से प्रचलित है, परन्तु फिर भी अभी तक इसकी कोई वैधानिक परिभाषा नहीं मिलती। १८८१ के भारतीय परक्राम्य विलेख विधान (Indian Negotiable Instrument Act of 1881) की धारा ५ में विनिमय-पत्र (Bill of Exchange) की परिभाषा मिलती है, जोकि विपत्रों (Bills), प्रतिज्ञा-पत्रों (Promissory Note) तथा धनादेशों (Cheques) पर लागू होती है। हुण्डी उक्त विधान के अन्तर्गत दी हुई परिभाषा के अन्दर नहीं आती। हुण्डी तो यहाँ की रूढ़ियत वस्तु है, जो कितनी ही व्यापारिक एवं सामाजिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों के व्यवहार में आती है तथा इसकी अवधि निश्चित रहती है और उसी अवधि पर भुगतान करना आवश्यक होता है। विधान की दृष्टि से जब कोई परिभाषा नहीं मिलती तो हुण्डी को विनिमय-पत्र (Bill of Exchange) कह सकते हैं। साधारण शब्दों में तो हुण्डी की व्याख्या इस प्रकार हो सकती है कि हुण्डी एक लिखित आदेश होता है, जो प्रायः एक निर्बन्ध-रहित (Unconditional) रहता है और जो एक निश्चित अवधि पर एक व्यक्ति द्वारा दूसरे को भुगतान करने के लिये किया जाता है एवं भुगतान करने वाली निश्चित राशि तथा उस व्यक्ति का नाम उसमें लिखा जाता है। संक्षेप में, उधार लिये धन के लिये धन के निश्चित अवधि पर भुगतान करने के लिये निर्बन्ध-रहित लिखित आदेश को हुण्डी कहते हैं।

इसके साथ ही यह ध्यान रखना चाहिये कि हुण्डी एक अन्तर्देशीय विनिमय-पत्र (Inland Bill of Exchange) नहीं है। हुण्डी का प्रमुख कार्य एक व्यापारी को धन प्राप्त करने के लिए समर्थ बनाना होता है। एक व्यापारी, जिसे धन की आवश्यकता होती है तो वह अपने अभिकर्त्ता (Agent) द्वारा स्वयं हुण्डी लेता है तथा उसमें दिये हुये व्यक्ति को निश्चित अवधि पर उस धन को देने के लिये बाध्य होता है। जिस व्यक्ति के लिये हुण्डी बनाई जाती है वह उधार लेने वाला होता है तथा उसमें लिखी हुई धनराशि का वह देनदार होता है और उसमें निश्चित की हुई अवधि तक ही वह धन का उपयोग कर सकता है। उस अवधि के बीतने पर उस धन को निश्चित ब्याज-सहित लौटाना पड़ता है। इस प्रकार की हुण्डी 'मुद्दती' या 'मिती हुण्डी' कहलाती है।

(४) **जन-निक्षेप (Public Deposit) लेकर**—यदि व्यापारी की साख है एवं लोगों को उसकी आर्थिक दशा पर पूरा-पूरा विश्वास हो तो लोग उसके पास अपनी धन-राशि जमा कर देते हैं। इस प्रकार व्यापारी को बिना किसी प्रकार का ब्याज दिये हुये अथवा नाम-मात्र का ब्याज देने पर पर्याप्त मात्रा में कार्यशील पूँजी प्राप्त हो जाती है। आवश्यकता पड़ने पर जमा करने वाला चाहे जब अपने धन को वापस माँग सकता है। ऐसी दशा में उनको वह धन वापस करना ही पड़ता है, क्योंकि वापस न करने पर उसकी व्यापारिक साख समाप्त हो जाती है तथा लोगों का विश्वास समाप्त हो जाता है। इस प्रकार का जन-निक्षेप ग्रामों में, अहमदाबाद व बम्बई में अधिक मात्रा में मिलता है।

(५) **किसी पूँजी वाले नये साझेदार को लेकर**—साझेदारी संस्था में जब अधिक पूँजी की आवश्यकता होती है तो उपरोक्त दी गई रीतियों का प्रयोग न करके व्यापार में किसी

ऐसे नये साझेदार को सम्मिलित कर लेते हैं जिसके पास पर्याप्त मात्रा में पूँजी हो। इस प्रकार व्यवसाय के लिये बिना ब्याज के अतिरिक्त पूँजी मिल जाती है। साथ में प्रबन्ध-सम्बन्धी अन्य लाभ भी प्राप्त हो जाते हैं।

(६) **विशिष्ट संस्थाओं एवं सरकार से ऋण लेकर**—भारत को स्वतन्त्रता मिलने से पूर्व यहाँ ऋण देने वाली संस्थाओं का भारी अभाव था, किन्तु हमारी राष्ट्रीय सरकार ने ऐसी कई संस्थाओं की स्थापना की है जोकि उचित शर्तों पर व्यापार एवं उद्योग के विकास-कार्यक्रमों के लिए ऋण देने को तैयार हैं। इनका वर्णन अगले अध्याय में किया गया है। यही नहीं, भारत तथा राज्य सरकारें भी इस दिशा में ऋण देने को तत्पर हैं।

(II) **कम्पनी या अवैयक्तिक संस्थाओं का अर्थ-प्रबन्धन** (Financing of Companies or Non-Proprietory Concerns)—कम्पनी या अवैयक्तिक संस्थायें निम्न स्रोतों (Sources) द्वारा कार्यशील पूँजी प्राप्त कर सकती हैं :—(१) व्यापारिक बैंकों से ऋण द्वारा। (२) सार्वजनिक निक्षेप द्वारा। (३) प्रबन्ध अभिकर्त्ता द्वारा। (४) देशी बैंकर्स के द्वारा। (५) अर्जित आय के पुन: विनियोग द्वारा। (६) ह्रास-कोष (Depreciation Fund) द्वारा। (७) औद्योगिक वित्त निगम द्वारा। एवं (८) अन्य विशिष्ट संस्थाओं के द्वारा।

[उपर्युक्त स्रोतों का विस्तृत वर्णन अगले अध्याय के अन्तर्गत किया गया है।]

द्रवित पूँजी (Watered Capital)—

जिस समय कम्पनी में उसकी सम्पत्ति यथार्थ मूल्य से अधिक दिखाई जाती है तो उस समय अधिक धन के बराबर वाली पूँजी को 'द्रवित पूँजी' कहते हैं। दूसरे शब्दों में, यदि कोई कम्पनी सम्पत्ति को उसके वास्तविक मूल्य से अधिक पर खरीदती है तो कहा जाता है कि उस कम्पनी की पूँजी 'द्रवित' है। **डॉक्टर हसबैंड** (Dr. Husband) **तथा डॉ० डॉकरे** (Dr. Dockeray) के अनुसार, "द्रवित स्कन्ध होने की प्रमुख पहिचान प्रवर्तकों की इच्छा पर निर्भर करती हैं, जोकि स्कन्ध का विक्रय करते हैं। यदि जानबूझकर अंशधारियों के शोषण के उद्देश्य से सम्पत्ति का मूल्य बढ़ा दिया जाता है तो 'द्रवित दशा' का होना निश्चित है।"[1]

पूँजीकरण या अर्थ-प्रबन्धन योजना
(Capitalisation or Financial Plan)

पूँजीकरण किसे कहते हैं ?—

कम्पनी की अर्थ-प्रबन्धन योजना को 'पूँजीकरण' कहते हैं। 'पूँजीकरण' 'पूँजी' तथा 'पूँजी स्कन्ध' से भिन्न है। पूँजी स्कन्ध में केवल वह पूँजी शामिल होती है जिस पर कम्पनी का स्वामित्त्व है। स्वामित्त्व वाली प्रतिभूतियों में केवल अंश आते हैं। इसके विपरीत पूँजीकरण में स्वामित्त्व वाली पूँजी तथा ऋण द्वारा प्राप्त पूँजी, दोनों ही सम्मिलित होती हैं। ऋण द्वारा प्राप्त पूँजी में ऋण-पत्र तथा बन्ध-पत्र (Bond) दोनों ही सम्मिलित होते हैं।

किसी भी कम्पनी की सफलता अथवा असफलता उसके 'पूँजीकरण' अथवा अर्थ-प्रबन्धन योजना पर निर्भर करती है। किसी भी उद्योग की अर्थ-व्यवस्था में पूँजी की अधिकता एवं न्यूनता दोनों ही अहितकर होती हैं। ऐसा होने से कम्पनी की कार्यक्षमता एवं मितव्ययिता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। पूँजीकरण में पहले कुल सम्पत्ति निश्चित कर ली जाती है। इसके पश्चात् इस पूँजी को विभिन्न साधनों (Sources) में बाँट दिया जाता है। कितनी पूँजी होनी चाहिए और उसको किस प्रकार से एकत्रित किया जाय, इसका उचित अनुमान कम्पनी का प्रवर्तक (Promotor) लगाता है। कम्पनी की पूँजी कितनी होनी चाहिए और उस पूँजी को

---

1 **Dr. Husband & Dr. Dockeray** : *Modern Corporation Finance*, p. 194.

विभिन्न प्रकार के अंशों में किस प्रकार से बाँटना चाहिए, इसके लिए कोई निश्चित नियम नहीं है। इसको निश्चित करने के लिए कम्पनी की प्रकृति, उत्पादन की मात्रा और द्रव्य बाजार की स्थिति को ध्यान में रखना पड़ता है।

पूंजीकरण अथवा अर्थ-प्रबन्धन योजना की विशेषतायें—

किसी भी संयुक्त पूंजी वाली कम्पनी में पूंजीकरण करते समय अथवा अर्थ-प्रबन्धन की योजना बनाते समय निम्न बातों का विशेष रूप से ध्यान रखना चाहिये :—

(१) **सरलता** (Simplicity)—पूंजी एकत्रित करने के साधन सरल तथा कम से कम होने चाहिये। इससे पूंजीकरण की योजना में भारी सुविधा रहेगी।

(२) **पूर्ण विवेकपूर्ण योजना** (Foresighted Plan)—कम्पनी के पूंजीकरण अथवा अर्थ-प्रबन्धन की कोई भी योजना तैयार करने से पूर्व विवेक से काम लेना चाहिये। इसके लिये आवश्यक है कि कम्पनी के उद्देश्य तथा क्षेत्र को ध्यान में रखकर ही कोई योजना तैयार की जाय।

(३) **मितव्ययिता** (Economy)—कम्पनी की पूंजीकरण की योजना तैयार करते समय मितव्ययिता का भी ध्यान रखा जाना चाहिये। पूंजी प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार के व्यय करने पड़ते हैं, जैसे—विवरण पत्रिका आदि के विज्ञापन पर व्यय, छपाई व्यय, अभिगोपन कमीशन, दलाली आदि। पूंजीकरण की योजना ऐसी हो, जिसमें कि पूंजी प्राप्ति के व्यय न्यूनतम् हों।

(४) **लोच** (Flexibility)—कम्पनी की अर्थ-प्रबन्धन अथवा पूंजीकरण की कोई भी योजना क्यों न तैयार की जाय, उसमें पर्याप्त 'लोच' होना आवश्यक है। लोच से अभिप्राय आवश्यकतानुसार धन उपलब्ध करने से है।

(५) **पूर्ण उपयोगिता** (Fullest Utility)—पूंजीकरण की योजना ऐसी होनी चाहिये कि जिसमें पूंजी की पूर्ण उपयोगिता का लाभ उठाया जा सके। अति-पूंजीकरण तथा अव-पूंजीकरण दोनों ही हानिकारक हैं। पूर्ण उपयोगिता के लिये उचित पूंजीकरण होना चाहिये।

(६) **तरलता** (Liquidity)—प्रत्येक कम्पनी को अपनी सम्पत्ति का एक निश्चित प्रतिशत भाग नकद (Cash) के रूप में अवश्य रखना चाहिये। इसके अभाव में कम्पनी का कार्य चाहे जब रुक सकता है।

(७) **आकस्मिक घटनाओं के लिये व्यवस्था** (Provision for Emergency)—कम्पनी के पूंजीकरण की योजना तैयार करते समय भावी आकस्मिक घटनाओं के लिये कुछ न कुछ व्यवस्था अवश्य रखनी चाहिये; अर्थात् पूंजी का कुछ भाग कोष (Reserve) के रूप में अवश्य रखना चाहिये।

अति पूंजीकरण
(Over Capitalisation)

अति पूंजीकरण से आशय—

जब कम्पनी की लाभोपार्जन शक्ति कम हो और उसमें आवश्यकता से अधिक पूंजी लगा दी हो तो उसे अतिपूंजीकरण कहेंगे। श्री घोष तथा ओमप्रकाश के अनुसार अति पूंजीकरण का अर्थ है कि "कम्पनी इतना भी लाभोपार्जन नहीं करती, जिससे उसकी प्रतिभूतियां सम मूल्य (At Par) पर बिक सकें।"[1] **श्री गर्स्टनबर्ग** (Gerstenburgh) के अनुसार, "एक निगम अति

---

[1] **Ghosh and Om Prakash** : *Principles and Problems of Industrial Organisation.*

पूँजीकरण से ग्रस्त उस समय होता है जबकि इसकी आय निर्गमित अंशों तथा बन्धकों (Bonds) पर समुचित दर से लाभांश बाँटने के लिये अपर्याप्त हो अथवा प्रतिभूतियों का देय मूल्य सम्पत्तियों के चालू मूल्य से अधिक हो।"[1] अमेरिका में निगम से अभिप्राय कम्पनी से लगाया जाता है। इस प्रकार अतिपूँजीकरण वाली कम्पनी में विनियोग किये गये धन का उचित उपयोग नहीं होता है।

अति पूँजीकरण के कारण—

एक व्यावसायिक अथवा औद्योगिक संस्था में परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में अतिपूँजीकरण के निम्न कारण हो सकते हैं :—(१) आवश्यकता से अधिक पूँजी का निर्गमन, (२) ऋणों पर अत्यधिक दर से ब्याज देना, (३) समृद्धिकाल में कम्पनी का निर्माण होना, (४) घिसावट आदि के लिये समुचित व्यवस्था का अभाव होना, (५) समुचित कोषों का अभाव होना, (६) अत्यधिक मूल्यों पर सम्पत्ति का क्रय करना, (७) अत्यधिक पूँजीगत व्यय होना, एवं (८) किसी कम्पनी का अति पूँजीकरण सरकार द्वारा अत्यधिक कर लगाये जाने के कारण भी हो सकता है।

अति पूँजीकरण के दोष—

(१) अंशों का अङ्कित मूल्य (Face Value) बाजार मूल्य (Market Value) से कम रह जाता है, जिससे अंशधारियों को हानि होती है। (२) श्रमिकों की हानि होती है, क्योंकि उन्हें उचित मजदूरी व कल्याण (Welfare) सम्बन्धी सुविधायें यह कहकर नहीं दी जातीं कि लाभ कम हुआ है। (३) अंशों के बाजार मूल्यों में गिरावट आ जाने से कम्पनी की साख को भारी क्षति पहुँचती है और भविष्य में अतिरिक्त पूँजी प्राप्त करना दुर्लभ हो जाता है। (४) अति पूँजीकरण से उद्योग में अनिश्चितता का वातावरण उत्पन्न हो जाता है। ऐसे वातावरण से विवेकहीन सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। (५) कभी-कभी अनुचित रीतियों से लाभ को बढ़ा हुआ दिखाया जाता है अथवा लाभ के अभाव को छिपाया जाता है। (६) लाभ कम होने के कारण विभिन्न प्रकार के कोषों की स्थापना नहीं हो पाती, जिससे कम्पनी की भावी कार्यक्षमता कम हो जाती है। (७) अति पूँजीकरण की दशा में सुरक्षा की एक भ्रान्तिमूलक धारणा उत्पन्न हो जाती है, क्योंकि अनार्जित लाभ (Unearned Profits) देकर समृद्धि का प्रदर्शन मात्र किया जाता है। (८) औद्योगिक विनियोग से लाभों का विश्वास हटने लगता है। (९) अति-पूँजीकरण से देश के आर्थिक साधनों का दुरुपयोग होता है। (१०) अतिपूँजीकरण से कम्पनियों का अस्तित्व तक खतरे में पड़ जाता है। (११) एक अति पूँजीकृत संस्था अपने उत्पादन की कीमतों में वृद्धि करने अथवा उसका स्तर गिराने का प्रयत्न करती है, जिससे उपभोक्ताओं का शोषण होता है। (१२) लाभों की मात्रा बढ़ा कर दिखाई जाती है अथवा यह स्पष्ट नहीं किया जाता कि वास्तव में लाभ है भी कि नहीं।

अव या अल्प पूँजीकरण
(Under-Capitalisation)

अव-पूँजीकरण किसे कहते हैं ?—

यदि व्यवसाय अथवा उद्योग में आवश्यकता से कम पूँजी लगी है तो उसे अवपूँजी-

---

1 "A corporation is overcapitalised when its earnings are not large enough to yield a fair return on the amount of stocks and bonds that have been issued, or when the amount of securities outstanding exceeds the current value of the assets."—**Gerstenburgh.**

करण कहेंगे। 'अव-पूँजीकरण' 'अतिपूँजीकरण' का बिल्कुल विलोम होता है। 'अतिपूँजीकरण' की दशा में पूँजी की बहुतायत होती है, जबकि 'अवपूँजीकरण' में प्रारम्भ से ही पूँजी का भारी अभाव होता है। **श्री गर्टस्नबर्ग के अनुसार,** "एक कम्पनी (निगम) उस समय अव-पूँजीकरण से ग्रस्त होती है जबकि इसके द्वारा अपनी प्रतिभूतियों पर लाभांश की दर अपने ही वर्ग की अन्य कम्पनियों की तुलना में अत्यधिक हो अथवा उसके पास इतनी कम पूँजी हो कि उसका व्यापार चलाना कठिन हो।" इसका दुखद परिणाम यह होता है कि कुछ अवधि के बाद ही उद्योग अथवा व्यवसाय के पैर लड़खड़ाने लगते हैं और उसका अन्त हो जाता है। यही कारण है कि भारतीय कम्पनी अधिनियम, १९५६ में न्यूनतम् अभिदान राशि (Minimum Subscription) की व्यवस्था की गई, जिसको प्राप्त किये बिना कोई भी सार्वजनिक संयुक्त-पूँजी वाली कम्पनी अपने अंशों का आबण्टन नहीं कर सकती।

अव-पूँजीकरण के कारण—

एक व्यावसायिक अथवा औद्योगिक संस्था में अव-पूँजीकरण के परोक्ष अथवा अपरोक्ष रूप में निम्न कारण हो सकते हैं:—(१) पूँजी सम्बन्धी आवश्यकताओं का ठीक-ठीक अनुमान न लगाया जाना, (२) भविष्य में आय का कम अनुमान लगाना, (३) आय में अदृश्य वृद्धि होना (जैसे—सम्पत्तियों के मूल्यों में भारी वृद्धि होना), (४) अत्यधिक कोषों की स्थापना होना, (५) पूँजी न मिलने का भय होना, तथा (६) कम्पनी पर नियन्त्रण रखने की भावना होना।

अव-पूँजीकरण के दोष—

(१) कम्पनी के समापन का भय उत्पन्न होना, (२) ऋण-पूँजी पर निर्भर होना, (३) श्रमिकों तथा अन्य कर्मचारियों की माँगों में वृद्धि होना, (४) कम्पनी के अंशों में परिकल्पना का पनपना, (५) उपभोक्ताओं में यह भ्रम उत्पन्न होना कि उनसे वस्तुओं का मूल्य अधिक लिया जा रहा है, तथा (६) आय का एक बड़ा भाग ब्याज के रूप में देना।

पूँजी मिलान
(Capital Gearing)

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि किसी भी व्यवसाय अथवा उद्योग में 'अति-पूँजीकरण' (अर्थात पूँजी की अधिकता) तथा 'अव-पूँजीकरण' (अर्थात पूँजी की न्यूनता) दोनों ही अहितकर होते हैं। अतएव योजनाकर्त्ता को पहले ही पूँजी को इस प्रकार व्यवस्थित करना चाहिए कि उसका मिलान (Gearing) हो सके। पूँजी-मिलान का आशय यह है कि विभिन्न प्रतिभूतियों के कुल मूल्य का सम्पूर्ण पूँजी से कुछ निश्चित सम्बन्ध होता है। यदि सम्पूर्ण पूँजी के अनुपात में साधारण अंश (Ordinary Shares) कम निर्गमित किये जायें अर्थात् साधारण अंश-पूँजी के मुकाबले में उधार ली गई पूँजी (Debentures and Loans) का अनुपात अधिक हो तो उसे अंशों का अधिक मिलान (High Gearing Capital) कहेंगे। उदाहरणार्थ; यदि किसी कम्पनी में उसकी कुल २० लाख रु० की पूँजी में से ६ लाख रु० केवल साधारण अंशों के लिये रखा जाता है तथा शेष धन ऋण-पत्रों आदि के लिये रखा जाता है तो कम्पनी की पूँजी अधिक मिलान (High Gearing) वाली होगी और उसके साधारण अंश उच्च मिलान वाले (High Geared) अंश कहे जायेंगे। जितना अधिक उच्च मिलान होता है उतनी ही अधिक साधारण अंशों में परिकल्पना पाई जाती है। इसके विपरीत यदि साधारण अंश-पूँजी का अनुपात ऋणात्मक (Debentures and Bonds) से अधिक हो तो उसको निम्न (Low) मिलान कहते हैं, जैसे—यदि किसी कम्पनी की कुल पूँजी २० लाख रु० है अथवा १५ लाख रु० के साधारण अंश निर्गमित करती है तो उस अनुपात को निम्न मिलान (Low Gearing) कहा

जायेगा। अतएव पूँजी की स्थिति दृढ़ रखने तथा उद्योग एवं व्यवसाय की साख में दिनों-दिन वृद्धि के लिये यह आवश्यक है कि पूँजी का उचित मिलान (Proper Gearing) हो।

पूँजी कलेवर का आदर्श स्वरूप
(Ideal Form of Capital Structure)

किसी कम्पनी के व्यापार को प्रारम्भ करने से पूर्व उसके लिए आवश्यक पूँजी का अनुमान लगा लिया जाता है। उसके उपरान्त यह विचार करना चाहिए कि वह पूँजी किस रूप में एकत्रित की जायेगी। कम्पनी विधान, १९५६ के अनुसार अंश दो प्रकार के होते हैं: (१) साधारण अंश (Ordinary Shares), तथा (२) पूर्वाधिकारी अंश (Preaferential Shares)। कौनसे अंश का निर्गमन किया जाय? क्या ऋण-पत्र (Debentures) एवं जनता से निक्षेप (Public Deposits) द्वारा पूँजी प्राप्त की जाय? यदि हाँ, तो किस सीमा तक इस स्रोत से पूँजी प्राप्त की जाय? ये सभी बातें विभिन्न घटकों पर निर्भर करती हैं, जो निम्नलिखित हैं:—

(१) **शक्तिशाली विनियोक्ताओं की आवश्यकतायें** (Requirements of Potential Investors)—बहुधा सभी कम्पनियाँ अधिक से अधिक मात्रा में विनियोक्ताओं को सुविधायें देने के लिए विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ निर्गमित किया करती हैं। सभी विनियोक्ता एक जैसे स्वभाव के नहीं होते, कुछ उनमें अधिक चौकन्ने होते हैं, कुछ कम होते हैं; और कुछ साहसी मनोवृत्ति के होते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ विनियोक्ताओं के पास पर्याप्त धन विनियोग के लिये रहता है, जिसे वे सुगमतापूर्वक लगा भी सकते हैं, जबकि कुछ लोगों के पास अधिक धन न होकर केवल आय का थोड़ा-सा भाग ही लगाने के लिये शेष रहता है और उसका विनियोग करते समय भी वे दस बार सोचते हैं। इस तरह विनियोक्ताओं में स्वभाव एव आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त अन्तर होता है। इसी कारण उनके विभिन्न स्वभाव एवं उनकी भिन्न-भिन्न आर्थिक दशाओं को देखकर कम्पनियाँ भी विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियाँ (Securities) निर्गमित किया करती हैं और उनकी आवश्यकताओं के अनुसार ही उनके लेने के लिए प्रस्ताव किया करती हैं।

(२) **कम्पनी के व्यवसाय का स्वरूप** (Nature of Company's Business)—पूँजी के स्वरूप का निश्चय करने के लिये कम्पनी के व्यापार का स्वरूप जानना नितान्त आवश्यक होता है। उदाहरणार्थ, जिन कम्पनियों की आय प्राय: निश्चित होती है (जैसे—जूट मिल, चीनी की मिलें, जनता की उपयोगी संस्थायें आदि) उनमें पूर्वाधिकारी अंशों (Preference Shares) का निर्गमन हितकर होता है, क्योंकि उन पर निश्चित लाभांश सुविधापूर्वक दिया जा सकता है। इसी प्रकार जिस कम्पनी की सम्पत्ति तरल (Liquid) है, अर्थात् जिसे सुगमता से बेचा जा सकता है तथा जिसके लाभ में अधिक परिवर्तन होने की सम्भावना नहीं है तो ऐसी दशा में उसके लिये ऋण-पत्र निर्गमित करना सुविधाजनक रहता है। इस सम्बन्ध में यह ध्यान रखना चाहिये कि कोई भी कम्पनी जोकि पूर्वाधिकारी अंशों अथवा ऋण-पत्रों का निर्गमन करना चाहती है, उसे ऐसे व्यापार में लगा रहना चाहिये जो परिकाल्पनिक (Speculative) प्रकृति का न हो तथा जिसमें नियमपूर्वक पूर्वाधिकारी अंशों, ऋण-पत्रों आदि का व्याज देने के लिये पर्याप्त लाभ होता रहता है। इसके विपरीत, यदि कोई व्यवसाय परिकाल्पनिक प्रकृति का है या अधिक जोखिम उठाने वाला अथवा लाभ की मात्रा अनिश्चित है, या पर्याप्त लाभ कमाने वाला नहीं है तो व्यापार की पूँजी का अधिकांश भाग साधारण अंशों (Ordinary Shares) के रूप में ही रहना चाहिए।

(३) **नियन्त्रण की अभिलाषा** (Desire to Retain Control)—यदि कम्पनी के प्रवर्तक अथवा प्रबन्ध-अभिकर्त्ता व्यवसाय का नियन्त्रण अपने ही हाथों में सुरक्षित रखना चाहते

हैं, तो प्राय: ऐसी प्रतिभूतियाँ निर्गमित की जाती हैं, जिनमें अधिक सुविधायें हों क्योंकि कुछ विनियोगक इन विशेष सुविधाओं के लिये अपना मताधिकार त्यागने को प्रस्तुत हो जायेंगे। इस प्रकार अधिक मताधिकार वाले अधिक अंशों का क्रय करके प्रवर्तक प्रबन्ध-अभिकर्त्ता कम्पनी के व्यापार पर अपना नियन्त्रण स्थापित करने में सफल हो जाते हैं।

(४) **मुद्रा-बाजार की स्थिति** (Money Market Condition)—पूँजी का कलेवर निश्चित करते समय मुद्रा-बाजार की स्थिति का पूर्ण रूप से ध्यान रखना चाहिये। यदि समृद्धि-काल (Boom Period) है तो अंशों का निर्गमन करना लाभदायक होगा, क्योंकि अधिक लाभ होने के कारण इन्हें प्रब्याजि (Premiums) पर भी निर्गमित किया जा सकता है। इसके विपरीत मन्दीकाल (Depression Period) में ऋण-पत्रों का निर्गमन करना हितकर होगा, क्योंकि ब्यांज की दर कम होने के कारण इन्हें कम ब्याज पर निर्गमित किया जा सकता है। इसके स्थान पर अंशों का निर्गमन किया जाय तो लाभ कम होने के कारण जनता अंश खरीदना पसन्द नहीं करेगी।

(५) **पूँजी निर्गमन पर व्यय**—अंश निर्गमित करते समय उनके निर्गमन पर होने वाले व्यय को भी ध्यान में रखा जाना चाहिये। अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि कोई कम्पनी एक ही प्रकार के अंशों का निर्गमन करके पूँजी प्राप्त करती है तो उसे विभिन्न प्रकार के अंशों के निर्गमन पर होने वाले व्यय की तुलना में अधिक व्यय सहन करना पड़ता है। अतएव विभिन्न प्रकार के अंशों को निर्गमित करना सदैव मितव्ययी रहता है।

(६) **पूँजी कलेवर की लोच** (Elasticity of Capital Structure)—पूँजी का कलेवर ऐसा होना चाहिये कि भविष्य में किसी भी प्रकार की बाधायें उत्पन्न न हों, अर्थात् कम्पनी का भावी विकास सुविधापूर्वक किया जा सके। अतएव वर्तमान अर्थ-प्रबन्धन की आवश्यकताओं के साथ-साथ भावी (Future) आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना चाहिये। इसके लिए अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) की मात्रा सदैव आवश्यकता से अधिक निर्धारित करनी चाहिये। अतएव अधिक अच्छी (सुदृढ़) कम्पनियाँ अपने ऋण-पत्रों को प्रारम्भ में निर्गमित न करके उन्हें किसी आवश्यकता के समय के लिए उठा रखती हैं।

(७) **पूँजी मिलान** (Capital Gearing)—इनका वर्णन इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों पर किया जा चुका है।

(८) **पारस्परिक अधिकार** (Mutual Rights)—पूँजी कलेवर निर्धारित कर लेने के उपरान्त प्रवर्तकों को यह भी देखना चाहिये कि विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों पर जो मताधिकार हैं, वे समुचित एवं न्याय-संबत (Fair and Reasonable) हैं। पूर्वाधिकार अंशों तथा ऋण-पत्रों सम्बन्धी आय की दर का निश्चय सदैव उनके निर्गमन के समय बाजार में उसी प्रकार की प्रतिभूतियों का अध्ययन करने के पश्चात् करना चाहिए। ऋण-पत्रों तथा विमोचनशील (Redeemable) पूर्वाधिकार अंशों का पुनर्भुगतान (Repayment) भली प्रकार कम्पनी की शक्ति के अन्तर्गत ही होना चाहिए।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. "अव एवं अतिपूँजीकरण में अव-पूँजीकरण अपेक्षाकृत कम बुरा है, किन्तु फिर भी दोनों को हतोत्साहित करना चाहिए तथा हमारा आदर्श होना चाहिए उचित पूँजीकरण।" विवेचना कीजिए।

[संकेत—अव-पूँजीकरण से आशय तथा उसके दोष: अतिपूँजीकरण से आशय तथा उसके दोष: अतिपूँजीकरण बनाम अवपूँजीकरण। निष्कर्ष—अतिपूँजीकरण की तुलना में अव-पूँजीकरण श्रेष्ठ है परन्तु दोनों प्रवृत्तियों को हतोत्साहित किया जाना चाहिए, क्योंकि दोनों ही दोषों से परिपूर्ण हैं। उपाय—उचित पूँजीकरण पर बल दिया जाना चाहिये।]

२. एक औद्योगिक सङ्गठन में पूँजी की आवश्यकताओं का अनुमान आप कैसे करेंगे ?
(मेरठ, १९७२)

३. एक नई कम्पनी की प्रारम्भिक पूँजी निर्धारित करने के लिये आप जिन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करते हों उनकी विवेचना कीजिये। यह पूँजी आप किस प्रकार जुटायेंगे ?
(मेरठ, १९७१)

४. एक व्यापारी किन-किन साधनों द्वारा अपने लिए पूँजी प्राप्त कर सकता है ?
(उदयपुर, १९६९; आगरा, १९६४)

[सङ्केत—एक व्यापारी अथवा वैयक्तिक संस्था के पूँजी प्राप्ति के साधन—(i) निजी पूँजी लगाकर; (ii) मित्रों तथा सम्बन्धियों से ऋण लेकर; (iii) महाजनों से ऋण लेकर; (iv) बैंकों से ऋण लेकर; (v) सरकार से ऋण लेकर।]

५. आधुनिक व्यापार की आर्थिक आवश्यकतायें क्या हैं ? भारत में इन आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार से होती है ?
(आगरा, १९६५)

६. प्रस्तावित सार्वजनिक कम्पनी की पूँजी कलेवर का निर्माण करते समय किन-किन बातों को ध्यान में रखना चाहिये ?

७. कार्यशील पूँजी की परिभाषा दीजिये तथा एक निर्माणी संस्था के लिये इसके महत्त्व की विवेचना कीजिये। एक नवीन व्यावसायिक संस्था की कार्यशील पूँजी सम्बन्धी आवश्तकताओं का अनुमान लगाने के लिये आप किन घटकों को ध्यान में रखेंगे ?
(जीवाजी, १९६९)

८. (i) अति पूँजीकरण तथा (ii) अव-पूँजीकरण की परिभाषा दीजिये। प्रत्येक स्थिति को जन्म देने वाली परिस्थितियों को उदाहरण सहित समझाइये। इनको दूर करने के लिये कौन से उपाय अपनाने चाहिये और क्यों ?

९. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—(i) द्रवित पूँजी (Watered Capital); (ii) चल पूँजी (Floating Capital); (iii) अतिपूँजीकरण (Over-capitalisation); (iv) पूँजी मिलान (Capital Gearing)। (दिल्ली, १९६७ एवं १९७१)
(v) अव-पूँजीकरण (Under Capitalisation)। (दिल्ली, १९७२)
(vi) कार्यशील पूँजी (Working Capital) (जोधपुर, १९७२)

५

भारत में औद्योगिक पूँजी प्राप्त करने के साधन

(Methods of Raising Industrial Capital in India)

प्रारम्भिक—

भारत में एक संयुक्त पूँजी वाली सार्वजनिक कम्पनी औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन की व्यवस्था निम्न साधनों द्वारा करती है :—(I) स्थायी पूँजी—(१) अंश-निर्गमन द्वारा। (२) ऋण-पत्र निर्गमन द्वारा। (II) कार्यशील पूँजी—(१) व्यापारिक बैंकों से ऋण द्वारा। (२) सार्वजनिक निक्षेप द्वारा। (३) प्रबन्ध अभिकर्त्ता द्वारा। (४) देशी बैंकर्स द्वारा। (५) अर्जित आय के पुन: विनियोग द्वारा। (६) ह्रास-कोष (Depreciation Fund) द्वारा। (७) औद्योगिक वित्त निगम द्वारा। एवं (८) अन्य विशिष्ट संस्थाओं द्वारा।

(I) स्थायी पूँजी प्राप्त करने के साधन
(Methods of Raising Fixed Capital)

(१) अंश-निर्गमन (Issue of Shares)—

उद्योगों के लिये पूँजी प्राप्त करने का सर्वोत्तम एवं सबसे सरल साधन अंश-पत्रों का निर्गमन है। अंश-पूँजी की मात्रा कम्पनी के पार्षद् सीमानियम द्वारा निर्धारित की जाती है। इस पूँजी को प्राप्त करने के लिये विभिन्न प्रकार के विनियोक्ताओं को आकर्षित किया जाता है। इस उद्देश्य से कई प्रकार के अंशों का निर्गमन किया जाता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के अंशों में विनियोक्तागण अपनी रुचि के अनुसार धन का विनियोग करते हैं।

अंशों का निर्गमन अंकित मूल्य पर (Nominal or Face Value), अधिक मूल्य पर (At Premium) अथवा कम मूल्य पर (At Discount) किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, यदि १०० रु० का अंश १०० रु० पर ही निर्गमित किया जाय तो यह अंकित मूल्य पर निर्गमन होगा। यदि यही अंश ११० रु० पर निर्गमित हो तो यह प्रब्याजि (Premium Rs. 10/-) पर निर्गमन होगा। इसके विपरीत, यदि यही अंश १०० रु० के स्थान पर केवल ९० रु० पर ही निर्गमित कर दिया जाय तो इस प्रकार का निर्गमन छूट पर (At Discount) कहलायेगा।

अंशों के प्रकार—

भारतीय कम्पनी अधिनियम, १९५६ के अनुसार केवल दो प्रकार के अंश (क) साधारण अंश अथवा सामान्य अंश (Ordinary Share of Equity), तथा (ख) पूर्वाधिकार अंश का ही निर्गमन किया जा सकता है।

(I) साधारण अंश (Ordinary Share of Equities)—साधारण अंश ऐसे अंशों को कहते हैं जिन पर लाभांश तथा समापन के समय पूँजी की वापसी पूर्वाधिकार अंशों के बाद की जाती है। सही रूप में साधारण अंशधारी ही कम्पनी के वास्तविक स्वामी होते हैं। कम्पनी की अंश-पूँजी में साधारण अंशों का सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। अतएव यदि इनको औद्योगिक वित्त-व्यवस्था की आधारशिला कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी।

साधारण अंशों को भी अनेक श्रेणियों में बाँटा जा सकता है। ये श्रेणियाँ प्राय:

लाभांश प्राप्त करने की प्राथमिकता के अनुसार होती हैं और उनके स्वामियों को अंशों की श्रेणियों के अनुसार ही लाभांश दिया जाता है, जैसे—श्रेणी 'अ' साधारण अंश, श्रेणी 'ब' साधारण अंश इत्यादि। अन्य साधारण अंशधारियों की अपेक्षा श्रेणी 'अ' के अंशधारियों को पहले लाभांश दिया जायेगा। इस प्रकार के अंशों को पूर्वाधिकार साधारण अंश (Preferred Ordinary Shares) भी कहते हैं।

(II) **पूर्वाधिकार अंश अथवा अधिमान अंश** (Preference Shares)—वे अंश जिन पर अंशधारियों को कुछ विशेष पूर्वाधिकार प्राप्त होते हैं, पूर्वाधिकार अंश कहलाते हैं। पूर्वाधिकार अंशधारियों को लाभांश का एक निश्चित भाग पाने का अधिकार होता है अर्थात् लाभांश वितरण के समय ऐसे अंशधारी सबसे आगे होते हैं। इनको लाभांश देने के बाद ही अन्य प्रकार के अंशधारियों का नम्बर आता है। लाभांश का भुगतान वार्षिक अथवा अर्द्ध-वार्षिक (Half-Yearly) किया जा सकता है। पूर्वाधिकार अंशों को अधिक आकर्षक एवं लोकप्रिय बनाने के लिए समय-समय पर विभिन्न प्रकार के अधिकार दिये जाते हैं, जोकि निम्नलिखित हैं :—

(१) **लाभांश सम्बन्धी अधिकार** (Dividends)—लाभांश का सबसे पहले भुगतान पूर्वाधिकार अंशधारियों को किया जाता है। इसके उपरान्त ही अन्य अंशधारियों का नम्बर आता है। इन पर मिलने वाला लाभांश संचयी (Cumulative), असंचयी (Non-cumulative) या आंशिक संचयी (Partly Cumulative) तथा आंशिक असंचयी (Partly Non-cumulative) हो सकता है। यदि लाभांश प्राप्त करने का अधिकार संचयी है तो इसका अर्थ यह हुआ कि इनको लाभांश का पूर्णतः भुगतान न होने की दशा में, अन्य अंशधारियों को उस लाभ में से वितरण करने से पूर्व संचयी पूर्वाधिकार अंशधारियों (Cumulative Preference Shareholders) को समस्त लाभांश चुकाना होगा। यदि किसी वर्ष लाभ कम हो अथवा न हो तो अगले वर्षों में सबसे पहले इनके पिछले लाभांश का शेष (Balance of Dividend) चुकाना होगा। इसके पश्चात् ही उसका वितरण अन्य में किया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, इनके लाभांश प्राप्त करने के अधिकार का संचय हो जाता है। इसके विपरीत यदि पूर्वाधिकार अंश असञ्चयी है तो उस अवस्था में अंशधारी लाभांश केवल उसी वर्ष प्राप्त कर सकेगा जबकि लाभ हुआ हो, अन्यथा नहीं; अर्थात् इसके अधिकार का सञ्चय नहीं होता।

(२) **पूँजी का पुनर्भुगतान** (Repayment of Capital)—यदि कम्पनी के अन्तर्नियमों में व्यवस्था हो तो कम्पनी के समापन की दशा में पूर्वाधिकार अंशधारियों की पूँजी का भुगतान अन्य अंशधारियों की अपेक्षा पहले होता है।

(३) **बचे हुये लाभ एवं सम्पत्ति में भाग लेना** (Participation in Surplus Profits and Assets)—कभी-कभी कम्पनी जब अधिक परिकाल्पनिक (Speculative) व्यापार में व्यस्त रहती है तो पूर्वाधिकार अंशधारियों को अपने अंशों पर निश्चित लाभांश तो मिलता ही है, परन्तु इसके साथ ही अन्य अंशधारियों को निश्चित लाभांश देने के उपरान्त जो शेष रहता है उसमें भाग लेने का भी उन्हें अधिकार होता है। जिन अंशों को यह अधिकार होता है उन्हें सञ्चयी-भागयुक्त पूर्वाधिकार अंश (Cumulative Participating Preference Shares) कहते हैं। ऐसे अंश सुरक्षा की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माने जाते हैं।

(४) **व्यापक सभा के अधिकार** (Rights at General Meeting)—पूर्वाधिकार अंशधारियों के व्यापक सभा सम्बन्धी सूचना, उपस्थिति, मतदान आदि के अधिकारों का समावेश कम्पनी के अन्तर्नियमों (Articles) में किया जाता है। पूर्वाधिकार अंशधारियों की ही भाँति मत देने का अधिकार होता है, परन्तु जब तक लाभांश का वितरण नहीं होता, उस समय तक इनके मताधिकारों को सीमित कर दिया जाता है, अथवा उस काल तक प्रायः रोक दिया जाता है।

(५) **सञ्चालकों की नियुक्ति का अधिकार** (Right to appoint Directors)—बहुधा पूर्वाधिकार अंशों को अधिक आकर्षक बनाने के लिए पूर्वाधिकार अंशधारियों को एक या अधिक कम्पनी के सञ्चालक नियुक्त करने का भी अधिकार दे दिया जाता है।

(६) **परिवर्तन सम्बन्धी अधिकार** (Right of Conversion)—यदि किसी पूर्वाधिकार अंश को परिवर्तन करने का अधिकार होता है तो वह पूर्वाधिकार अंशधारी दूसरी श्रेणी के अंशों में उसे परिवर्तित कर सकता है। इसका अर्थ यह है कि वह पूर्वाधिकार को साधारण अंशों में एक निर्दिष्ट समय तक परिणत कर सकता है। परिवर्तन का यह अधिकार प्राय: विमोचनशील पूर्वाधिकार अंशों (Redeemable Preferenee Shares) को दिया जाता है। जब पूर्वाधिकार अंशों का परिवर्तन का अधिकार रहता है तो वे परिवर्तनशील पूर्वाधिकार अंश (Convertible Preference Shares) कहलाते हैं।

(७) **प्रत्याभूति सम्बन्धी अधिकार** (Guarantee Rights)—एक कम्पनी द्वारा निर्गमित पूर्वाधिकार अंश दूसरी कम्पनी द्वारा लाभांश तथा पूँजी का पुनर्भुगतान करने के लिए प्रत्याभूति (Guaranteed) होते हैं। ये प्रत्याभूतित पूर्वाधिकार अंश अपने विनियोक्ताओं को पर्याप्त जमानत भी प्रदान करते हैं।

(८) **विमोचन सम्बन्धी अधिकार** (Redemption Rights)—पूर्वाधिकार अंशों का निर्गमन करने वाली कम्पनी एक निश्चित अवधि के उपरान्त अथवा एक निर्दिष्ट सूचना भेजने के बाद उन अंशों का विमोचन (Redemption) कर सकती है, अर्थात् इस प्रकार के पूर्वाधिकार अंशों का भुगतान कोई निश्चित सूचना देकर करने का अधिकार कम्पनी का होता है। ऐसे अंश विमोचनशील पूर्वाधिकार अंश (Redeemable Preference Shares) कहलाते हैं। इन अंशों का निर्गमन प्राय: निम्न परिस्थितियों में किया जाता है :—(i) जब कोई कम्पनी स्थायी रूप से पूँजी न चाहते हुए केवल अस्थायी पूँजी का ही संग्रह करती है तब एक निश्चित अवधि के उपरान्त भुगतान करने के लिए ऐसे अंशों को वह निर्गमित किया करती है। (ii) जब कम्पनी को अधिक पूँजी के लिए ऊँची दर पर ब्याज देना पड़ता है और उस ब्याज-दर के गिरने की सम्भावना होती है तो पूर्वाधिकार अंशों का निर्गमन करना कम्पनी के लिए लाभप्रद रहता है, क्योंकि आगे चलकर वह उनको निम्न दर वाले अंशों में परिवर्तित कर सकती है। (iii) जब कम्पनी अपने लाभों को भी पूँजी में सम्मिलित करने की दृष्टि से अधिलाभांश या बोनस अंशों का निर्गमन करना चाहती है, तो वह ऐसे अंशों को पूर्वाधिकार अंशों के रूप में उचित ढङ्ग से निर्गमित कर सकती है। इससे यह लाभ होता है कि कम्पनी अतिरिक्त लाभ होने पर भविष्य में उन अंशों का भुगतान कर सकती है।

सामान्य अंश तथा पूर्वाधिकार अंश में अन्तर (Difference between Ordinary Share and Preference Share)—

सामान्य अंश तथा पूर्वाधिकारी अंश दोनों का निर्गमन भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत किया जाता है। इन दोनों में पर्याप्त अन्तर है, जोकि अग्रिम तालिका से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है।

क्रम-संख्या	अन्तर का आधार	पूर्वाधिकारी अंश	सामान्य अंश
१.	अधिमान (Denomination)	ये अपेक्षाकृत ऊँचे अधिमान के होते हैं।	ये सामान्यतः पूर्वाधिकारी अंश की तुलना में नीचे अधिमान के होते हैं।
२.	संचालकों को नियुक्त करना	इनके धारकों को संचालकों की नियुक्ति करने का सामान्यतः अधिकार नहीं होता है।	इन्हें संचालकों को नियुक्त करने का अधिकार होता है।
३.	लाभांश की दर	इन पर लाभांश दर प्रायः अन्तर्नियमों द्वारा निश्चित रहती है।	इन पर लाभांश की दर लाभों के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है।
४.	पूँजी की वापसी	कम्पनी के समापन पर सामान्य अंशधारियों की तुलना में इन्हें पहले पूँजी की वापसी होती है।	कम्पनी का समापन होने पर, सामान्य अंशधारियों को सबसे अन्त में पूँजी वापस की जाती है।
५.	विमोचन (Redemption)	इनके पूर्णदत्त (Fully paid) होने पर निर्गमन की शर्तों के अनुसार इनका विमोचन किया जा सकता है।	इनके विमोचन का प्रश्न ही नहीं उठता।
६.	लाभांश का अधिकार	अन्य अंशधारियों की तुलना में पूर्वाधिकारी अंशधारियों को सबसे पहले लाभांश मिलता है।	इन्हें पूर्वाधिकारी अंशधारियों के बाद ही लाभांश पाने का अधिकार होता है।
७.	मत देने का अधिकार	सामान्यतः इन्हें मत देने का अधिकार नहीं होता है। केवल विशेष परिस्थितियों में ही ऐसा अधिकार प्राप्त है।	सामान्य अंशधारियों को मत देने का अधिकार प्राप्त है।
८.	विनियोक्तागण	पूर्वाधिकारी अंश प्रायः ऐसे विनियोक्तागणों द्वारा क्रय किये जाते हैं जो नियत दर से आय निरन्तर प्राप्त करते रहना चाहते हैं।	इनमें प्रायः ऐसे लोग अपने धन का विनियोजन करते हैं जो आय प्राप्त करने के साथ-साथ अंशों के मूल्यों में उतार-चढ़ाव में अधिक दिलचस्पी रखते हैं, जैसे सटोरिये।

अंश निर्गमन से लाभ एवं हानियाँ (Advantages and Disadvantages of Shares)—

लाभ : कम्पनी की दृष्टि से लाभ—(१) कम्पनी को अपनी सम्पत्ति पर बिना किसी प्रकार के झंझट के स्थायी पूँजी प्राप्त हो जाती है। यही नहीं, वह आवश्यकतानुसार भविष्य में अपनी सम्पत्ति पर अतिरिक्त ऋण भी ले सकती है। (२) उपरोक्त अंशों पर लाभांश का वितरण उसी समय किया जाता है जबकि पर्याप्त लाभ होता हो, अतएव लाभांश देना अनिवार्य नहीं। (३) केवल विमोचनशील पूर्वाधिकार अंशों (Redeemable Preference Shares) को छोड़कर शेष किसी भी प्रकार की अंश-पूँजी का भुगतान करने के लिये कम्पनी अपने जीवन-काल में बाध्य नहीं होती। (४) अंश-निर्गमन से पूँजी संग्रह करने में सबसे अधिक मितव्ययिता रहती है। (५) पूर्वाधिकार अंशों का निर्गमन उस समय आवश्यक हो जाता है जब कम्पनी के पास ऋण-पत्र निर्गमन करने के लिये पर्याप्त प्रतिभूति नहीं होती है। (६) कम्पनी को अधिक लाभ होने की दशा में अंशों को अधिक मूल्य पर (At Premium) भी निर्गमित किया जा सकता है। (७) अंशों की छोटी-छोटी इकाइयाँ विशाल पूँजी का रूप धारण कर लेती हैं।

विनियोक्ताओं की दृष्टि से लाभ—(१) अंशधारियों को मताधिकार प्राप्त होने से वे कम्पनी की व्यवस्था में भाग ले सकते हैं। (२) अंशधारियों को लाभांश के रूप में अधिक आय होती है। (३) कम पूँजी वाले व्यक्ति भी कम्पनी के अंश क्रय करके देश के औद्योगिक विकास में अपना सक्रिय सहयोग प्रदान कर सकते हैं।

हानियाँ : कम्पनी की दृष्टि से—(१) अंशधारियों का अधिकार कम्पनी पर हो जाता है और उनकी तनिक भी भ्रष्टता से साधारण व्यापारिक कार्यों में रुकावट पड़ सकती है। (२) साधारण अंशों पर अनुपाततः अधिक लाभांश देना पड़ता है। (३) अधिक अंश निर्गमन का प्रभाव अति पूँजीकरण हो सकता है। (४) अंशधारी बदलते रहते हैं और नये अंशधारी कम्पनी की स्थायी नीति को बदलने अथवा प्रभावित करने का प्रयत्न करते हैं और किसी सीमा तक इस प्रयास में सफल भी हो जाते हैं। (५) यदि कम्पनी की पूँजी बढ़ाने की आवश्यकता होती है तो अंशधारियों से भी स्वीकृति लेनी पड़ती है और यदि किसी विशेष अधिकार वाले अंशों का निर्गमन करना होता है तो वर्तमान अंशधारियों के निश्चित बहुमत की सम्मति प्राप्त किये बिना कम्पनी ऐसे अंशों का निर्गमन नहीं कर सकती और यह सम्मति मिलना कोई आसान कार्य नहीं होता। अतएव बड़ी कठिनाई के साथ कम्पनी अपने इस कार्य में सफल होती है। (६) यदि अंशों के अधिकार में कोई परिवर्तन करना हो तो कम्पनी के ऐसे अंशधारियों की सम्मति के बिना जिनके अधिकार इस परिवर्तन से प्रभावित होते हैं, परिवर्तन नहीं किया जा सकता।

विनियोक्ताओं की दृष्टि से—(१) अन्य अंशधारियों की अपेक्षा पूर्वाधिकार अंशधारियों को मतदान का अधिकार बहुत ही सीमित मात्रा में प्राप्त होता है। (२) अंशों में विनियोक्ता राशि, कम्पनी के समापन की दशा में डूब जाने की सम्भावना होती है। (३) पूर्वाधिकार अंशों के अतिरिक्त अन्य अंशों में आय का स्थायित्त्व नहीं होता है।

(२) ऋण-पत्रों का निर्गमन (Issue of Debentures)—

अंशों के अतिरिक्त औद्योगिक पूँजी प्राप्त करने का दूसरा महत्त्वपूर्ण साधन ऋण-पत्रों (Debentures) तथा बन्धों (Bonds) का निर्गमन है। ऋण-पत्र रक्षित (Secured) व अरक्षित (Unsecured) दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं। अमेरिका में अरक्षित बन्धों को ही ऋण-पत्र कहते हैं, किन्तु भारत में इस प्रकार का कोई भेद नहीं किया जाता है। यहाँ बन्धों व ऋण-पत्रों का प्रयोग एक ही अर्थ में किया जाता है। भारतीय अधिनियम, १९५६ ऋण-पत्रों का परिभाषित नहीं करता, वरन् केवल इतना बताता है कि इसके अन्तर्गत ऋण-पत्र स्कन्ध (Debenture Stock) सम्मिलित होते हैं। [धारा (२) १२] ऋण-पत्र कम्पनी द्वारा निर्गमित वह प्रलेख है, जिसके आधार पर लोगों से उस पर लिखित पूँजी प्राप्त की जा सकती है, अर्थात् यह ऋण-पत्र ऋणदाता (Lender) को उसके धन की प्राप्ति के प्रमाण में दिया जाता है। ऋण-पत्र धारक कम्पनी का ऋणदाता होता है और इस प्रकार उसके भुगतान का उत्तरदायित्त्व कम्पनी पर होता है। उस पर मूलधन (Principal) का भुगतान न होने तक किसी निश्चित सामयिक अवधि में निश्चित प्रतिशत ब्याज देने की प्रतिज्ञा होती है। यह ब्याज प्रायः अर्द्ध-वार्षिक (Half Yearly) दिया जाता है। ऋण-पत्रों का निर्गमन प्रायः कम्पनी की दीर्घकालीन अर्थ-पूर्ति के लिये किया जाता है। कम्पनी अधिनियम (धारा १०३) के अनुसार जब तक किसी कम्पनी को व्यापार प्रारम्भ करने का प्रमाण-पत्र (Certificate of Commencement of Business) नहीं मिल जाता, तब तक ऋण-पत्रों का निर्गमन नहीं किया जा सकता। ऋण-पत्रों की व्यवस्था का उल्लेख कम्पनी के पार्षद् सीमानियम तथा अन्तर्नियमों में किया जाता है। उसमें यह भी स्पष्ट रूप से लिखा रहता है कि कम्पनी की व्यापक सभा ने ऋण-पत्रों के निर्गमन का अधिकार संचालकों को दे

दिया है। संचालक उसी आधार पर ऋण-पत्रों का निर्गमन करते हैं। इनका निर्गमन अंशों की भाँति समता पर (At Par) या अव्याजि पर (At Premium) अथवा छूट पर (At Discount) किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त ऋण-पत्रों का निर्गमन अंशों की ही भाँति विवरण-पत्रिका (Prospectus) द्वारा किया जाता है। सन् १९६१-७० के मध्य भारत में निर्गमित पूँजी का लगभग २५% भाग ऋण-पत्रों से प्राप्त किया गया।

ऋण-पत्रों का निर्गमन प्रायः दो प्रकार की संस्थाओं के लिए लाभदायक होता है :— (१) वे सस्थायें जिनकी सम्पत्ति का उपयोग कितने ही प्रकार से किया जा सकता है और (२) जिनकी सम्पत्ति का उपयोग निश्चित उद्योगों में बड़ी सुविधा के साथ किया जा सकता है और उनसे एक निश्चित आय सम्भव होती है। पहले प्रकार की संस्थाओं को धन संग्रह करने में इसलिए सुविधा होती है कि आवश्यकता पड़ने पर सम्पत्ति का उपयोग किसी भी प्रकार से किया जा सकता है तथा दूसरी संस्थाओं में निश्चित आय की सुरक्षा के कारण उन को भी धन संग्रह करना सम्भव हो जाता है। बिजली, रेलवे, बड़े-बड़े उद्योग इसके लिए बड़े उपयोगी सिद्ध होते हैं। जिन संस्थाओं का व्यापार परिकल्पित ढंग का होता है, उनके द्वारा ऋण-पत्रों का निर्गमन प्रायः कठिनाई के साथ किया जाता है।

ऋण-पत्रों के प्रकार (Kinds of Debentures)—

ऋण-पत्र अनेक प्रकार के होते हैं :—

(१) **रक्षित तथा अरक्षित ऋण-पत्र** (Secured and Unsecured or Naked Debentures)—सुरक्षा के दृष्टिकोण से ऋण-पत्र दो प्रकार के हो सकते हैं— (अ) रक्षित तथा (ब) अरक्षित। यदि ऋण-पत्रों का निर्गमन कम्पनी की सम्पत्ति को रेहन अथवा बन्धक के रूप में रखकर किया गया है तो ऐसे ऋण-पत्र रक्षित ऋण-पत्र कहलायेंगे। इसके विपरीत यदि ऋण-पत्रों का निर्गमन बिना किसी प्रतिभूति के किया गया तो वे अरक्षित अथवा नग्न (Unsecured or Naked) ऋण-पत्र कहलायेंगे।

(२) **अचल ऋण-पत्र तथा चल ऋण-पत्र** (Fixed and Floating Debentures)—रक्षित ऋण-पत्र दो प्रकार के होते हैं। जिन ऋण-पत्रों का निर्गमन अचल अथवा अस्थायी सम्पत्ति (Fixed) के बन्धक (Mortgage) पर होता है उन्हें अचल अथवा स्थायी ऋण-पत्र कहते हैं। अचल ऋण-पत्रों से सम्बन्धित सम्पत्ति का विक्रय नहीं हो सकता और न वह पुनः बन्धक के रूप में ही रखी जा सकती है। इसके विपरीत जिन ऋण-पत्रों का निर्गमन चल सम्पत्ति के बन्धक पर किया जाता है उन्हें चल ऋण-पत्र (Floating Debentures) कहते हैं। चल ऋण-पत्रों की सम्पत्ति कम्पनी अपने दैनिक व्यापार के लिये उसी प्रकार प्रयोग में ला सकती है, जैसे कि उसका प्रयोग पहले होता था। समापन (Winding-up) के समय इन ऋण-अंशधारियों को ऐसी सम्पत्ति से भुगतान लेने का अधिकार होता है।

(३) **पंजीकृत तथा वाहक ऋण-पत्र** (Registered and Bear Debentures)—पंजीकृत ऋण-पत्र वह होते हैं जिनके धारणकर्त्ता का नाम कम्पनी के ऋण-पत्र रजिस्टर में लिख दिया जाता है और उनका हस्तान्तरण निश्चित शर्तों का पालन किये जाने पर ही किया जा सकता है। ऋण-पत्र रजिस्टर कम्पनी के कार्यालय में ऋण-पत्रधारियों की जाँच के लिये दो घण्टे रोज खुला रहता है। केवल पंजीकृत धारणकर्त्ताओं को ही इनका भुगतान तथा ब्याज पाने का अधिकार होता है। इसके विपरीत वाहक ऋण-पत्र वे ऋण-पत्र होते हैं, जिनका हस्तान्तरण किसी भी समय हो सकता है तथा उनका कोई भी धारक (Holder) भुगतान अथवा ब्याज प्राप्त कर सकता है।

(४) **विमोचनशाल तथा अविमोचनशील ऋण-पत्र** (Redeemable and Irredemable Debentures)—वे ऋण-पत्र जिनका भुगतान किसी निश्चित अवधि के बाद कर दिया जाता है, विमोचनशील ऋण-पत्र कहलाते हैं। इसके विपरीत अविमोचनशील ऋण-पत्र वे होते है जिनका भुगतान कम्पनी के अन्त होने पर ही किया जाता है। अतएव कम्पनी के अन्त होने (समापन) से पूर्व ऐसे ऋण-पत्रधारी भुगतान की माँग नहीं कर सकते।

ऋण-पत्रों से लाभ तथा हानियाँ—

लाभ : कम्पनी की दृष्टि से लाभ—(१) निश्चित समय के लिये ऋण का मिलना— ऋण-पत्रों के निर्गमन से कम्पनी को निश्चित समय एवं निश्चित रूप से ऋण-पत्र प्राप्त हो जाता है और वह निश्चितता से अपना कार्य सुचारु रूप से चला सकती है। (२) **मितव्ययिता—** यह साधन अत्यन्त मितव्ययी है, क्योंकि इस प्रकार का ऋण यदि अन्य रीति से लिया जाय तो अधिक ब्याज देना पड़ता है, किन्तु ऋण-पत्रों पर निश्चित रूप से कम ब्याज चुकाया जाता है। (३) **कम्पना की अर्थ-व्यवस्था में लोच—**कुछ ऋण-पत्र ऐसे होते हैं जिसके भुगतान का अधिकार कम्पनी अपने हाथ में रखती है। इस प्रकार कम्पनी की अर्थ-व्यवस्था में लोच रहती है, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर विमोचनशील ऋण-पत्रों का निर्गमन किया जा सकता है तथा आवश्यकता से अधिक पूँजी होने पर उन्हीं में से कुछ ऋण-पत्रों का भुगतान भी किया जा सकता है। (४) **अंशधारी को अधिक लाभांश—**यदि कम्पनी ने ऋण-पत्रों का निर्गमन पर्याप्त मात्रा में किया है और पूँजी कम मात्रा में है तो अंशधारियों को लाभांश अधिक मिल सकता है, क्योंकि ऋण-पत्रधारियों को ब्याज एक निश्चित दर से ही दिया जाता है तथा शेष लाभ अंशधारियों में वितरित हो जाता है। (५) **रूढ़िवादी विनियोक्ताओं का आकर्षण—**ऋण-पत्रों द्वारा उन रूढ़िवादी विनियोक्ताओं से भी पर्याप्त मात्रा में धन प्राप्त किया जा सकता है जोकि बिना अधिक जोखिम उठाये निश्चित आय चाहते हैं।

विनियोक्ताओं को लाभ : (१) निश्चित आय—चाहे कम्पनी को लाभ हो अथवा हानि, विनियोक्ताओं (ऋण-पत्रधारियों) को तो निश्चित दर से इन पर ब्याज मिलता रहता है। (२) **सुरक्षित विनियोग—**सुरक्षा की दृष्टि से यह सर्वश्रेष्ठ विनियोग है, क्योंकि साधारणतः ऋण-पत्रों पर कम्पनी की सम्पत्ति बन्धक के रूप में रहती है और समापन के समय भी ऋण-पत्रधारी कम्पनी के सुरक्षित लेनदार होते है।

हानियाँ : कम्पनी की दृष्टि से हानियाँ—(१) कम्पनी का भार—चाहे कम्पनी को लाभ हो अथवा हानि, परन्तु ऋण-पत्र पर तो ब्याज का भुगतान करना ही होगा। इस प्रकार यह विशेषतः आर्थिक मन्दी के समय भार-स्वरूप प्रतीत होने लगते हैं। (२) **कम्पनी की साख में कमी—**ऋण-पत्रों के निर्गमन के लिए कम्पनी की सम्पत्ति बन्धक हो जाती है, जिसके कारण कम्पनी की साख कम हो जाती है। भारतीय बैंक ऐसी कम्पनियों को साख-सुविधायें मुश्किल से बहुत ही सीमित मात्रा में प्रदान करते हैं। (३) **संकट के समय ऋण-पत्र निर्गमित करना असम्भव—**कम्पनी के सङ्कटग्रस्त होने पर अथवा अप्रगतिशील होने पर ऋण-पत्रों के निर्गमन द्वारा धन प्राप्त करना प्रायः असम्भव हो जाता है। (४) **कम्पनी का अस्तित्व खतरे में—**इनके ब्याज का भुगतान न होने की दशा में ये न्यायालय में आवेदन-पत्र देकर कम्पनी का समापन करा सकते हैं, जिससे कम्पनी का अस्तित्व भी खतरे में पड़ सकता है।

विनियोक्ताओं की दृष्टि से हानियाँ—(१) मत देने तथा कम्पनी की व्यवस्था में भाग लेने का अधिकार नहीं—अंशधारियों की भाँति ऋण-पत्रधारी न तो कम्पनी की सभाओं में भाग लेकर अपना मत दे सकते हैं और न कम्पनी की व्यवस्था में भाग ले सकते हैं। (२) **लाभांश**

से वंचित होना—ऋण-पत्रधारियों को केवल एक निश्चित दर से ब्याज मिलता है जोकि साधारणतः कम होता है, वे अंशधारियों की भाँति लाभांश पाने के अधिकारी नहीं होते।

भारत में ऋण-पत्र लोकप्रिय न होने के कारण—

भारत में अन्य देशों की भाँति ऋण-पत्र निर्गमन की पद्धति अधिक लोकप्रिय नहीं हो पाई है। इसके प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) **बैंकों की विपरीत धारणा** (Adverse Attitude of Banks)—जो कम्पनियाँ ऋण-पत्रों का निर्गमन करती हैं उनकी प्रतिष्ठा बैंकों की दृष्टि में कम हो जाती है और बैंक ऐसी कम्पनियों को साख-सुविधा प्रदान करने में उदासीन रहती हैं। अतः कम्पनियों को आवश्यकता पड़ने पर बैंकों से आर्थिक सहायता नहीं मिल पाती। इसका कारण यह है कि बैंक समझते हैं कि उन कम्पनियों में धन लगाने से उनका धन असुरक्षित रहेगा, क्योंकि ऋण के भुगतान में पहला अधिकार ऋण-पत्रधारियों का होता है।

(२) **स्वतन्त्र व सुसङ्गठित पूँजी बाजार का अभाव** (Absence of Free and Organised Capital Market)—भारतवर्ष में ऋण-पत्रों के निर्गमन के लिए कोई स्वतन्त्र तथा सुसङ्गठित पूँजी बाजार नहीं है। परिणामस्वरूप, ऋण-पत्रों के लिए नियमित तथा तत्काल माँग नहीं रहती है। इसके अतिरिक्त भारतीय विनियोक्ता तब तक अपना धन किसी उद्योग या व्यापार में नहीं लगाते जब तक कि उन्हें लाभ का पूर्ण आश्वासन नहीं हो जाता। यह मनोवृत्ति भी इनके विकास में प्रमुख रुकावट रही है (क्योंकि भारतीय कम्पनियाँ व सरकारी नीति पर्याप्त विश्वास उत्पन्न करने में असमर्थ रही हैं)।

(३) **ऋण-पत्र निर्गमन पर अधिक व्यय** (Expensive Issue of Debentures)—इनका निर्गमन व्यय पूँजी बाजार की स्थिति तथा अभिगोपकों (Underwriters) की प्रतिष्ठा पर निर्भर करता है। व्यय अभिगोपकों के कमीशन, ऋण-पत्र मुद्रांकन शुल्क, बाजार का अन्य खर्च आदि के कारण बढ़ जाता है।

(४) **शर्तों के आकर्षण का अभाव** (Terms not Attractive)—साधारणतः कम्पनियाँ जो ऋण-पत्र निर्गमित करती हैं, वे अधिक विशेषतायें लिए हुए नहीं होते तथा न उनमें ऐसा आकर्षण ही होता है जिससे जनता स्वयं लालायित होकर उन्हें खरीदने के लिए दौड़े। दूसरे देशों में ऋण-पत्र निर्गमन की विभिन्न रीतियाँ प्रचलित हैं; जैसे—वहाँ कुछ ऋण-पत्र प्रत्याभूतित (Guaranteed) होते हैं, कुछ ऋण-पत्रों के लिए भुगतान होने पर अधिक प्रब्याजि (High Premium) देने का प्रलोभन दिया जाता है, कुछ ऋण-पत्र ऐसे निर्गमित किये जाते हैं जो कम्पनी के एक या अधिक सञ्चालकों की नियुक्ति का अधिकार रखते हैं तथा कुछ ऋण-पत्र ऐसे हैं जो साधारण अंशों को कम मूल्य पर खरीदने के अधिकारी होते हैं। इस तरह अनेक प्रकार के प्रलोभन देकर विदेशों में ऋण-पत्रों के लिए जनता में आकर्षण उत्पन्न किया जाता है, परन्तु भारत जैसे देश में, जहाँ पर न तो मुद्रा-मण्डी ही सुसंगठित है और न मुद्रा-बाजार ही विकसित हुआ है, वहाँ पर यह अत्यावश्यक है कि ऋण-पत्र के निर्गमन की शर्तें बड़ी उदार एवं आकर्षक हों।

(५) **प्रचार का अभाव** (Lack of Publicity)—वर्तमान युग प्रचार का युग है। प्रत्येक वस्तु के विक्रय के लिए पर्याप्त प्रचार की आवश्यकता होती है, परन्तु भारतवर्ष में अंशों की भाँति ऋण-पत्रों का प्रचार नहीं किया जाता। बम्बई में थोड़ा-बहुत ऋण-पत्रों का प्रचलन है और जूट कम्पनियों के अतिरिक्त अन्य व्यावसायिक इकाइयों में इनका पर्याप्त प्रचार न होने के कारण जनता आकर्षित नहीं हो पाती है।

(६) **निर्गमन गृहों तथा अभिगोपन गृहों का अभाव** (Lack of Issue and Underwriting Houses)—भारतवर्ष में अन्य देशों की भांति निर्गमन गृहों (Issue Houses) तथा अभिगोपन गृहों (Underwriting Houses) का भारी अभाव होने के कारण ऋण-पत्र निर्गमन करने वाली कम्पनियों को भारी असुविधा रहती है।

(७) **सलाहकार संस्थाओं का अभाव** (Lack of Advisory Bodies)—भारतवर्ष में विनियोक्ताओं की सहायता के लिए कोई ऐसी मान्य संस्था नहीं है, जो ऋण-पत्रों पर विनियोग करने वाले व्यक्तियों तथा संस्थाओं को उचित सलाह दे सके। बड़े व्यापारिक केन्द्रों पर इस प्रकार की सलाह उपलब्ध हो सकती है, किन्तु वह जनसाधारण के लिये साधारणत: सम्भव नहीं है।

(८) **ऋण-पत्रों का ऊँचा अङ्कित मूल्य होना** (High Nominal Value or Denomination of Debentures)—भारतवर्ष में निर्गमित किये जाने वाले ऋण-पत्र प्राय: ऊँचे अङ्कित मूल्य के होते हैं। ये अधिकतर ५०० रु० से लेकर १,००० रु० तक के होते हैं। इस प्रकार के ऋण-पत्र केवल धनी वर्ग के लोग ही क्रय कर सकते हैं, साधारण विनियोक्तागण नहीं।

(९) **सरकार की सार्वजनिक अर्थ-नीति में उदारता का अभाव** (Government Fiscal Policy)—भारतीय कम्पनियों की अर्थ-पूर्ति में ऋण-पत्रों की कमी इसलिए भी दिखाई देती है, क्योंकि सरकार की सार्वजनिक अर्थ-नीति (Fiscal Policy) उदार नहीं रही है। जब कोई नई कम्पनी स्थापित होती है तो सरकार की ओर से उसे ऐसा कोई भी आश्वासन नहीं दिया जाता जिससे यह प्रतीत होता हो कि सरकार विदेशी प्रतिस्पर्धा की स्थिति में उक्त उद्योग को आवश्यक संरक्षण प्रदान करेगी। परिणामस्वरूप भारतीय विनियोगकर्त्ता भी कम्पनियों में अपना धन विनियोग करने में हिचकते रहे हैं।

(१०) **प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नीति** (Managing Agent's Policy)—भारतवर्ष में अधिकतर औद्योगिक कम्पनियाँ प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं के नियन्त्रण में थीं। प्रबन्ध अभिकर्त्तागण इन कम्पनियों की अर्थ-व्यवस्था अपने निजी साधनों से तथा नियन्त्रित कम्पनियों के धन के अन्त-विनियोग के द्वारा करते रहते थे और इस प्रकार वे ऋण-पत्रों के निर्गमन को आवश्यक प्रोत्साहन प्रदान नहीं करते थे। उन्हें भय रहता था कि स्वतन्त्र अर्थ-व्यवस्था होने के कारण कम्पनियाँ उनके नियन्त्रण से निकल जायेंगी। प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली में इन दोषों तथा इसी प्रकार के अन्य दोषों के कारण भारत सरकार को इस प्रणाली का उन्मूलन करने के लिए बाध्य होना पड़ा। अब ३ अप्रैल सन् १९७० के बाद से सार्वजनिक कम्पनियों में प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति नहीं हो सकेगी।

(११) **बन्धक की कठिनाई** (Mortgage Difficulties)—ऋण-पत्रों पर प्राय: यथोचित बन्धक नहीं माना जाता है। इसके अतिरिक्त कुछ विशेष विनियोक्ता वर्ग; जैसे—बीमा कम्पनियाँ अपने धन का विनियोग ऋण-पत्रों पर नहीं कर सकती हैं।

उपरोक्त कारणों से भारतीय कम्पनियों में ऋण-पत्रों का निर्गमन अधिक प्रचलित नहीं हो पाया है।

ऋण-पत्रों को लोकप्रिय बनाने के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव—

(१) ऋण-पत्रों का अङ्कित मूल्य कम होना चाहिये, ताकि जन-साधारण उसको खरीद सके। (२) मुद्रांक-कर (Stamp-Duty), हस्तान्तरण कर (Transfer Duty) तथा अन्य व्ययों में समुचित कमी होनी चाहिये। (३) ऋण-पत्रों का निर्गमन अधिक आकर्षक शर्तों तथा उनके अधिकारों की समुचित सुरक्षा सहित करना चाहिए। (४) निकासी गृहों एवं अभिगोपन की सुविधायें उपलब्ध होनी चाहिये। (५) बैंकों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होना चाहिये तथा उन्हें स्वेच्छा से ऋण-पत्रों में धन का विनियोग करना चाहिए। (६) सुसंगठित तथा नियमित पूँजी

बाजार का विकास होना चाहिये। (७) विशेष विनियोक्ता वर्ग (जैसे—बीमा कम्पनियों) पर से ऋण-पत्रों में विनियोग सम्बन्धी वैधानिक प्रतिबन्धों को दूर करना चाहिये। (८) राजकीय-अर्थ-नीति में उदासीनता के स्थान पर उदारता होनी चाहिये। एवं (९) ऋण-पत्रधारियों को उचित सलाह देने वाली संस्थाओं की सेवायें उपलब्ध होनी चाहिये।

समामेलित अथवा औद्योगिक प्रतिभूतियों का अभिगोपन
(Underwriting of Corporate Securities)

परिभाषायें—

श्री गर्स्टनबर्ग (Gerstenburgh) के अनुसार, "अभिगोपन अंशों को जनता के सामने रखने से पूर्व किया जाने वाला वह अनुबन्ध है जिसमें समझौते के अनुसार कमीशन के बदले में अभिगोपक (Underwriter) ऐसे सब अंशो को, जो जनता द्वारा ले लिये जायें, स्वयं लेने के लिए तथा आबण्टन करने के लिये समझौता करता है।"

अभिगोपन को विस्तृत परिभाषा इस प्रकार की जा सकती है :—यह प्रवर्तकों (Promotors) द्वारा व्यक्ति अथवा व्यक्तियों (जैसे—दलाल, बैंङ्क, बीमा कम्पनियाँ, सिंडीकेट अथवा अन्य विनियोगी संस्थाओं) के साथ, जिन्हें अभिगोपक कहते हैं, किया गया एक अनुबन्ध है, जिसके अनुसार ये निर्धारित कमीशन के बदले, जो अंशों की निर्गमित कीमत से ५% से अधिक नहीं होना चाहिये, निर्गमित अंशों की सम्पूर्ण राशि अथवा उस हिस्से को खरीद लेते हैं जो जन-साधारण द्वारा आवेदित नहीं हुआ है। वे एक निश्चित अवधि के अन्दर उनको (प्रतिभूतियों को) बेचने का प्रयत्न करते हैं और जो जन-साधारण द्वारा नहीं खरीदी जाती हैं, उन्हें वे स्वयं खरीद लेते हैं तथा उनका मूल्य चुका देते हैं। इस प्रकार अभिगोपक इस बात की गारन्टी देते हैं कि निश्चित अवधि के अन्दर वे निश्चित अंशों का विक्रय कर देंगे अथवा उनको स्वयं खरीद लेंगे। इसके बदले में उनको निश्चित दर से कमीशन मिलता है, जो कि ५% से अधिक नहीं हो सकता।

उद्गम—

१७वीं शताब्दी में अभिगोपन की प्रवृत्ति का उद्गम जलयानों द्वारा करने के कारण हुआ। लन्दन के प्रसिद्ध जलयान व्यापारी बहुधा लायड्स कॉफी हाउस (Lloyds Coffee House) में पारस्परिक व्यापार का आदान-प्रदान करने के लिये एकत्रित हुआ करते थे। कुछ समय उपरान्त जलयान-यात्रा की जोखिम का विभाजन अन्य विभिन्न व्यापारियों में होने की पद्धति चली, जिसमें एक इस प्रकार का अनुबन्ध किया जाता था कि कितनी हानि का कौन हिस्सेदार होगा तथा उससे होने वाले कितने लाभ को कौन-कौन कितना लेगा। जब यह अनुबन्ध कर लिया जाता था तो फिर उसे मान्यता दी जाती थी और उस अनुबन्ध से सम्बन्धित व्यक्ति उसके नीचे हस्ताक्षर कर देते थे। यही नीचे हस्ताक्षर करने की शर्त अभिगोपन (Underwriting) के नाम से प्रचलित हुई। यह तो सर्वविदित बात है कि इस शर्त का प्रयोग बीमा सम्बन्धी जोखिम के विभाजन के लिये प्रमुख रूप से होता है। यद्यपि यह शर्त औद्योगिक प्रतिभूतियों अर्थात् अंशों और ऋण-पत्रों पर भी लागू होती है, परन्तु इसका एकमात्र उद्देश्य यही होता है कि उक्त प्रतिभूतियों की जोखिम का विभाजन किया जाय।

अभिगोपन से लाभ—

(१) जिन प्रतिभूतियों का अभिगोपन हो जाता है उनका बिकना प्राय: निश्चित-सा हो जाता है, जिससे कम्पनी उसके अनुसार अपनी पूँजी की योजना बना सकती है। (२) कम्पनी साख-सम्बन्धी तथा अन्य आर्थिक सङ्कट जो कि प्रतिभूतियों के न बिकने के कारण उपस्थित हो सकते हैं, सर्वथा कम हो जाते हैं, क्योंकि अभिगापक शेष प्रतिभूतियों को स्वयं ही चुपचाप

स्वीकार कर लेता है। (३) नवीन कम्पनी को अभिगोपक के बहुमूल्य अनुभव तथा निर्णय आदि का भी लाभ होता है, क्योंकि वे मुद्रा बाजार के सम्पर्क में रहते हैं। इससे वे प्रतिभूति निर्गमन सम्बन्धी अनेक बातों पर आवश्यक परामर्श दे सकते हैं, जिससे प्रतिभूतियों के निर्गमन में मितव्ययिता तथा सुविधा रहती है। (४) अभिगोपकों की प्रतिष्ठा के कारण कम्पनी की प्रतिष्ठा भी बढ़ जाती है, जिससे लोग सरलता से उसके अंश आदि में विनियोग कर लेते हैं। (५) अभिगोपन के द्वारा सर्वसाधारण विनियोक्ताओं को भी लाभ होता है, क्योंकि वे जानते हैं कि जिन कम्पनियों की प्रतिभूतियों का अभिगोपन अच्छे व्यक्तियों द्वारा किया गया है उनकी स्थिति निश्चित रूप से सुदृढ़ होनी चाहिये। (६) अभिगोपन प्रतिभूतियों के भौगोलिक वितरण में सहायता प्रदान करता है। इससे प्रतिभूतियाँ न केवल विस्तृत क्षेत्र में वितरित हो जाती हैं, बल्कि उनका वितरण काफी समय तक चलता है। इसका शुभ परिणाम यह होता है कि विनियोग बाजार में मूल्यों की आकस्मिक तेजी-मन्दी से कम्पन नहीं आता, जो प्रतिभूतियों को बाजार में एक साथ ला फेंकने से होता है। (७) कम्पनी को निश्चित पूँजी समय में प्राप्त हो जाती है (८) अभिगोपक प्रारम्भ में ही किसी कम्पनी के वित्तीय कलेवर को ठोक-बजा लेते हैं, तो बाद में उक्त कम्पनी की असफलता की सम्भावना बहुत कम हो जाती है। इससे औद्योगिक स्थिरता आती है।

अभिगोपन पद्धति (Underwriting Procedure)—

साधारण अभिगोपन के लिये बहुधा दो योजनायें अपनाई जाती हैं। पहली योजना के अनुसार जिन प्रतिभूतियों को कम्पनी निर्गमित करती है, वे सभी जनता को बेचने के लिये उपस्थित कर दी जाती हैं। अभिगोपक तो केवल उन प्रतिभूतियों के पीछे रहता है, अर्थात् यदि उनमें से कुछ प्रतिभूतियाँ निश्चित अवधि तक जनता नहीं खरीदती तो यह उन सभी को खरीद लेता है। यहाँ पर वह अभिगोपक निर्बन्धित क्रेता (Conditional Purchaser) होने का समझौता करता है।

दूसरी योजना के अनुसार व्यावहारिक रूप से अभिगोपक समस्त प्रतिभूतियों को खरीद लेता है और खरीदते समय जैसा समझौता होता है, उसी के अनुसार निश्चित अवधि पर कम्पनी को धन देता रहता है। यह पद्धति "दृढ़ अभिगोपन" (Firm Underwriting) कहलाती है। ऐसी दशा में या तो वह अभिगोपक उन सभी प्रतिभूतियों को एक साथ बेच देता है या कुछ समय के लिये उन्हें अपने यहाँ रोक लेता है और अधिक लाभ लेकर फिर उनको बेचता है। अभिगोपक चाहे कुछ भी करे, परन्तु कम्पनी को केवल अपने निश्चित धन से मतलब होता है, वह उसके अन्य कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करती।

भारत में अभिगोपन पद्धति की अधिक लोकप्रियता न होने के कारण (Why Underwriting is less popular in India)—

इङ्गलैण्ड और अमेरिका से जनता के लिये निर्गमन होने वाले अधिकांश अंशों तथा ऋण-पत्रों का अभिगोपन किया जाता है, परन्तु भारत में ऐसा नहीं होता। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) **अभिगोपन संस्थाओं का अभाव**—इङ्गलैण्ड, अमेरिका तथा अन्य औद्योगिक देशों में निर्गमन-गृह (Issue Houses), विनियोग प्रन्यास (Investment Trusts), विनियोग बैंक तथा अन्य इसी प्रकार की कितनी ही ऐसी विशेष संस्थायें हैं जो औद्योगिक प्रतिभूतियों के अभिगोपन का कार्य करती हैं, परन्तु भारत में शुरू से ही ऐसी संस्थाओं का भारी अभाव रहा है। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाने से गत कुछ वर्षों में कुछ संस्थायें अभिगोपन का कार्य कर

रही हैं, जैसे—इनवेस्टमेंट कॉर्पोरेशन ऑफ इण्डिया लिमिटेड, हिन्दुस्तान इनवेस्टमेण्ट कॉर्पोरेशन (कलकत्ता), इनवेस्टमेण्ट इन्डस्ट्रियल कॉर्पोरेशन इत्यादि। इसके अतिरिक्त कुछ मध्यस्थ भी भारत में अभिगोपन का कार्य करते हैं : जैसे—श्री बाटलीवाला एण्ड कम्पनी, बम्बई; श्री रोडवर्ड एण्ड कम्पनी, कलकत्ता; राइट एण्ड कम्पनी, मद्रास; आदि।

(२) **प्रबन्ध अभिकर्त्ता पद्धति**—प्रबन्ध-अभिकर्त्ता-पद्धति (Managing Agency System) भी अभिगोपन की उन्नति में अत्यन्त बाधक सिद्ध हुई है। जब कोई अभिगोपक किसी कम्पनी की प्रतिभूतियों का अभिगोपन करना चाहता है तो पहले वह कम्पनी की आर्थिक परिस्थिति तथा व्यवस्था की जाँच करेगा, परन्तु यह बात भारतीय प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को पसन्द नहीं होती। इसी कारण यहाँ अभिगोपन प्रणाली नहीं पनप पाई। इनके दोषों के कारण ही भारत सरकार ने अप्रैल १६७० के बाद से प्रथम अभिकर्त्ता प्रणाली का उन्मूलन कर दिया है।

(३) **विनियोक्ताओं की उपेक्षा**—विनियोक्ताओं की उपेक्षा के कारण अभिगोपन पद्धति लोकप्रिय नहीं हो पायी है। हमारे विनियोक्ता तो स्वर्ण संचय तथा भूमि आदि क्रय में ही अधिक रुचि लेते हैं। अतएव किसी भी कम्पनी के अंशों का चाहे अभिगोपन हो या नहीं, उनके लिये महत्त्वहीन है।

(४) **अत्यधिक जोखिम का होना**—अन्य देशों की अपेक्षा भारत में अभिगोपन करने में अधिक जोखिम उठानी पड़ती है, क्योंकि यहाँ पर लगातार कम्पनियों के असफल होने के कारण विनियोक्ताओं का विश्वास प्रतिभूतियाँ खरीदने के लिये अभी तक जमा हुआ दिखाई नहीं देता। इसके अलावा जो प्रतिभूतियाँ सुदृढ़ एवं सुसंगठित कम्पनियों द्वारा निर्गमित की जाती हैं, वे बिना अभिगोपकों की सहायता के सुगमता से बिक जाती हैं और दुर्बल कम्पनियों द्वारा निर्गमित प्रतिभूतियाँ जिनके लिये कि अभिगोपन की आवश्यकता होती है, उनका अभिगोपन करने के लिये ये कम्पनियाँ ऐसे व्यक्तियों से अपील नहीं करतीं जोकि आगे आकर उनका अभिगोपन कर सकें।

(II) कार्यशील पूँजी प्राप्त करने के साधन
(Method of Raising Working Capital)

(१) व्यापारिक बैंकों से ऋण (Loans from Commercial Banks)—

भारतीय उद्योगों के अर्थ-प्रबन्धन में व्यापारिक बैंकों ने प्रारम्भ से ही उदासीनता की नीति अपनाई है। वे केवल व्यापारिक कार्यों के लिये अल्पकालीन ऋण सुविधायें ही प्रदान करते हैं तथा दीर्घकालीन ऋण देना व्यापार की दृष्टि से अनुचित समझते हैं। **श्री एस० के० बसु** के शब्दों में इस कथन की और पुष्टि हो जाती है। उनके अनुसार, "बैंकिंग पद्धति का निर्माण युद्ध पूर्व अंग्रेजी डिपॉजिट बैंकिंग आधार पर हुआ है, जिसकी प्राचीन परम्परा उद्योगों से दूर रहने की रही है।"[1] केन्द्रीय बैंकिंग अनुसन्धान समिति ने इस प्रश्न पर कि व्यापारिक बैंक औद्योगिक कम्पनियों को कितनी मदद देती हैं, अनुसन्धान किया और अपनी रिपोर्ट में बताया कि व्यापारिक बैंक उद्योगों को दीर्घकालीन ऋण पर्याप्त मात्रा में नहीं देती हैं। जब कभी वे ऋण देती हैं तो कम से कम ३०% अन्तर पक्ष में रखती हैं।

बैंकों की आर्थिक सहायता में दोष (Defects in Bank's Financial Help)—

बैंकों के ऋण देने की पद्धति में निम्नलिखित दोष हैं :—

(१) **केवल आसानी से विक्रय योग्य वस्तुओं पर ऋण**—बैंक जमानत के रूप में

---

[1] "The Banking System is modelled on the lines of pre-war English Deposit Banking which has a long tradition of maintaining an attitude of all aloofness from industry."—**S. K. Basu.**

केवल ऐसी वस्तुओं को लेना चाहते हैं, जोकि आसानी से बेची जा सकें और स्थायी सम्पत्ति; जैसे—भूमि, भवन या मशीन को नहीं चाहते ।

(२) **मार्जिन का अधिक होना**—ये जमानत के मूल्य पर केवल ५०% से ७०% तक ही ऋण देते हैं, जिससे कि मन्दी में उद्योगपतियों को भारी कठिनाई का सामना करना पड़ता है ।

(३) **माल को लाने व ले जाने में अनावश्यक व्यय**—जमानत के रूप में प्राप्त माल को बैंक अपने गोदामों में रखती है, जिससे कि माल के लाने व ले जाने पर अधिक व्यय होता है तथा उद्योगपतियों को माल का प्रयोग करने में बहुत बड़ी कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(४) **प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली को प्रोत्साहन**—जब किसी के स्टॉक का रहन (Mortgage) करके कोई बैंक ऋण देती है तो वह ऋण लेने वाली कम्पनी से एक प्रतिज्ञा-पत्र (Promissory Note) लिखवाती है, जिस पर कम्पनी तथा उसके प्रबन्ध-अभिकर्त्ता के हस्ताक्षर होते हैं । इस प्रकार बैंक प्रबन्ध-अभिकर्त्ता पद्धति को प्रोत्साहन देती है ।

(५) **कम अवधि तथा नवीनीकरण में कठिनाई**—यह ऋण प्रारम्भ में केवल १२ महीने के लिए ही दिया जाता है, बाद में उसका नवीनीकरण (Renewal) बैंक की इच्छा पर निर्भर करता है ।

(६) **बैंक मैनेजरों द्वारा पक्षपात**—बैंकों के ऋण देने की पद्धति में उनके मैनेजरों का बहुत बड़ा दोष रहता है, क्योंकि वे प्रायः जिन लोगों के प्रभाव में होते हैं उनको ही अधिकांश ऋण दे देते हैं ।

(७) **अनिश्चित ब्याज दर**—ब्याज की दर ऋण लेने वाली कम्पनी की साख के अनुसार कम अथवा अधिक होती है । जो कम्पनियाँ सुदृढ़ होती हैं उनसे कम ब्याज लिया जाता है, किन्तु यदि किसी कम्पनी कम्पनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ नहीं होती तो उनसे ये बैंक १% से २% अधिक ब्याज लिया करती हैं।

(८) **समस्त राशि एक साथ नहीं**—नकद साख (Cash Credit) पर ब्याज की दर अधिक रखी जाती है। इसके अतिरिक्त ये बैंक दिये गये धन का लगभग आधा ब्याज इत्यादि के लिए रोक लेती हैं ।

(९) **ऋण की वसूली में कठोरता**—ऋण का भुगतान प्राप्त करने में अत्यन्त कठोरता से काम लिया जाता है और केवल सीमित दशाओं में ही कर्जदार को छूट दी जा सकती है।

(१०) **लालफीताशाही**—ऋण स्वीकार करने में बहुत देरी लगती है । इस प्रकार लालफीताशाही का बोलबाला है ।

ऋण देने में बैंकों की कठिनाइयाँ—

ऋण देने में बैंकों को निम्न कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है :—(१) बैंकों को अपने पास सदैव पर्याप्त मात्रा में तरल कोष रखना पड़ता है, ताकि भुगतान क्षमता स्थिर रहे । अतएव बैंक केवल अल्पकालीन औद्योगिक प्रतिभूतियों में ही धन का विनियोजन करना श्रेष्ठ समझते हैं । (२) अधिनियम के अनुसार बैंकों को अपने अधिकांश धन का विनियोजन सरकारी प्रतिभूतियों में करना पड़ता है । अतएव उसके पास औद्योगिक प्रतिभूतियों में विनियोजन के लिए कम धन बच पाता है । (३) बैंकों के पास सुरक्षित गोदामों का भारी अभाव है । (४) बैंकों के पास ऐसे विशेषज्ञों का भी अभाव है जोकि ऋण लेने वाली कम्पनी की आर्थिक स्थिति का शीघ्र पता लगा सकें । (५) स्वयं बैंकों को ऊँची ब्याज दर पर निक्षेप मिलता है, अतएव वे भी ऋणों पर ब्याज की ऊँची दर वसूल करते हैं । (६) अच्छे विपत्रों का अभाव

होने के कारण बैंक ऋण देने में कठिनाई का अनुभव करते हैं। (७) बैंकों के पास धन का अभाव रहने के कारण भी औद्योगिक प्रतिभूतियों में धन का विनियोजन करना कठिन होता है। इसका कारण यह है कि भारत स्वयं एक गरीब राष्ट्र है तथा साथ ही लोगों में बैंकिंग की आदत अभी पूरी तरह से विकसित नहीं हो पायी है। (८) भारत में बिलों के पुनः भुनाने की सुविधाओं का अभाव होने के कारण भी बैंक पर्याप्त औद्योगिक वित्त प्रदान करने में असमर्थ रहते हैं।

कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव—

उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि बैंकों के ऋण देने की पद्धति में अनेक दोषों का समावेश होने से बैंकों की स्वयं की अनेक कठिनाइयों के कारण औद्योगिक तथा व्यापारिक संस्थाओं को वित्त की कमी का सामना करना पड़ता है। अतः नीचे कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये जाते हैं, जिनके अपनाने पर व्यापारिक बैंकें कम्पनियों के लिए अधिक ऋण की सुविधा प्रदान करने में समर्थ हो सकती हैं :—

(१) **जर्मन बैंकों का आदर्श**—अंशों एवं ऋण-पत्रों का निर्गमन करने वाली कम्पनियों को यदि भारतीय सुदृढ़ एवं सुसंगठित बैंकें कुछ सुविधा प्रदान करना चाहती हैं तो उन्हें जर्मनी की बैंकिंग पद्धति का अनुकरण करना चाहिए। जर्मनी में कम्पनी तथा बैंक के बीच चल-लेखा (Current A/c.) द्वारा व्यापार होता है, जिसका सन्तुलन दैनिक न होकर सामयिक, विशेषतः षट्मासिक होता है, किन्तु इन चल-लेखों में तथा भारतीय बैंकों में पाये जाने वाले प्रचलित चल-लेखों में काफी अन्तर है। वहाँ दोनों के बीच पहले से ही निश्चित हो जाता है कि—(अ) उद्योग अधिक से अधिक कितना ऋण बैंक से ले सकेगा, (ब) लिया हुआ ऋण कितना अवधि के भीतर वापस करना होगा, (स) लिए हुए ऋण की प्रतिभूति क्या होगी, तथा (द) अन्य शर्तें क्या होंगी। जो राशि बैंक से मिलती है वह कार्यशील पूँजी के रूप में ही प्रयोग की जानी चाहिए, ऐसा अनिवार्य नहीं होता। उस ऋण राशि का उपयोग उद्योग के विकास के लिए भी किया जा सकता है। नवीन उद्योग को प्रारम्भ करने के लिए अंश-पूँजी की आवश्यकता होती है, उसका अधिकांश भाग भी उन्हीं अधिकोषों द्वारा दिया जाता है। यदि कोई एक संस्था सम्पूर्ण भार को नहीं सम्भाल पाती तो इस प्रकार की अनेक संस्थायें मिलकर उत्तरदायित्व को अपने ऊपर ले लेती हैं। उनके इस प्रकार के संगठन को कन्सोरेट पद्धति (Consortium Model) कहते हैं। इस कार्य को करने के लिए बैंक अपना एक पृथक् उद्योग रखती थी, जिसकी विनियोग पूँजी भी पृथक् रखी जाती थी। इस विभाग के संचालन के लिए तान्त्रिक सलाह देने हेतु एवं औद्योगिक सम्पत्ति का मूल्यांकन करने के लिए विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती थी।

(२) **उदार नीति का पालन**—भारतीय व्यापारिक बैंकों को ऋण देने में उदार नीति का पालन करना चाहिए। बन्धन की शर्तों को ढीला करना चाहिए। व्यक्तिगत साख को उचित प्रोत्साहन देना चाहिये।

(३) **आधुनिक गोदामों की स्थापना**—जमानती साख को रखने के लिये आधुनिक किस्म के मालगोदामों की व्यवस्था अमेरिकी पद्धति के अनुसार की जानी चाहिए, जिससे बैंक तथा उद्योगपति दोनों को लाभ हो सके।

(४) **औद्योगिक क्षेत्र के अनुभवी व्यक्तियों की नियुक्ति**—बैंकों को अपनी प्रबन्ध-समिति में ऐसे व्यक्तियों को भी रखना चाहिये जिन्हें उद्योगों की समस्याओं का विस्तृत ज्ञान हो।

(५) **सुधारों की आवश्यकता**—चल-सम्पत्ति की जमानत के नियमों में पर्याप्त सुधार किये जाने चाहिए।

(६) **सलाहकार समितियों की स्थापना**—प्रत्येक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र में बैंकों की एक-एक स्थानीय सलाहकार समिति होनी चाहिये। इससे ऋण पर विचार करके स्वीकृति प्रदान करने में भारी सुविधा रहेगी।

(७) **सञ्चालक नियुक्त करने का अधिकार**—जिन उद्योगों को ऋण दिया जाता है उनकी संचालन समिति (Board of Directors) में इन बैंकों को भी अपना संचालक नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिये।

(८) **औद्योगिक बैंकों की स्थापना**—देश के भावी औद्योगिक विकास के लिए देश में पर्याप्त मात्रा में और औद्योगिक बैंकों की स्थापना की जानी चाहिये, ताकि दीर्घकालीन ऋण की आवश्यकताएँ पूरी की जा सकें।

(२) सार्वजनिक अथवा लोक निक्षेप (Public Deposits)—

भारतीय कम्पनियों के अर्थ-प्रबन्धन के लिये सार्वजनिक निक्षेप स्वीकार करना इस देश के औद्योगिक विकास में एक अद्वितीय घटना है। प्रारम्भ में बैंकों में जनता का अधिक विश्वास था, जिसके कारण कम्पनियों को पर्याप्त मात्रा में सार्वजनिक निक्षेप प्राप्त हो जाते थे। बम्बई, अहमदाबाद तथा कुछ हद तक शोलापुर की सूती वस्त्र मिलों ने तथा बङ्गाल व असम के चाय बागों ने सार्वजनिक निक्षेप के द्वारा ही अपनी स्थायी पूँजी का संचय किया है, अर्थात् उन्होंने सीधे जन-साधारण से निर्धारित अवधि के लिये निश्चित ब्याज-दर पर निक्षेप स्वीकार किया है। सार्वजनिक निक्षेप छः महीने से लेकर बारह-पन्द्रह साल तक के लिये किये जाते रहे हैं। सार्वजनिक निक्षेप के द्वारा पूँजी सचय प्रणाली की कड़ी आलोचना की गई है और सन्देह नहीं, इस प्रणाली में अनेक त्रुटियाँ हैं, लेकिन इस सत्य से इन्कार नहीं किया जा सकता कि बम्बई व अहमदाबाद की सूती वस्त्र मिलों का अधिकतर विकास इसी प्रणाली के कारण हुआ है। निम्न तालिका (जोकि पुरानी किन्तु महत्त्वपूर्ण है) से अन्य वित्तीय स्रोतों की तुलना मे सार्वजनिक निक्षेप की महत्ता का ज्ञान हो जायेगा।

बैंकिंग जाँच समिति सन् १९३६ की रिपोर्ट के अनुसार

पूँजी का स्रोत	बम्बई		अहमदाबाद		शोलापुर	
	रु० लाखों में	कुल पूँजी का प्रतिशत	रु० लाखों में	कुल पूँजी का प्रतिशत	रु० लाखों में	कुल पूँजी का प्रतिशत
१. प्रबन्ध अभिकर्त्ता	७६४	५९·७	३२९	३१·७	२१	१५·४
२. सार्वजनिक निक्षेप	१२७	१०·२	५२९	५०·९	१५	११·०
३. बैंक	११९	९·२	५८	५·६	२५	१८·४
४. ऋण-पत्र	१७०	१३·५	—	—	४४	३२·४
५. अन्य	८९	७·४	१२३	११·८	३१	२२·८
कुल योग	१,२५१	१००	१,०३९	१००	१३६	१००

इस तालिका में दिये गये आंकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि उक्त अवधि में अहमदाबाद में सार्वजनिक निक्षेप पद्धति सबसे अधिक लोकप्रिय रही है। यह उल्लेखनीय है कि

वर्तमान समय में भी यह निक्षेप वहाँ वित्त का महत्त्वपूर्ण स्रोत है, किन्तु भारत के अन्य औद्योगिक केन्द्रों में यह पद्धति प्रचलित नहीं है। इन सार्वजनिक निक्षेपों पर ब्याज की दर साधारणतः ४½% से लेकर ६½% तक भिन्न-भिन्न मिलों में रहती है। जिन कम्पनियों की साख अच्छी होती है वे कम ब्याज पर भी निक्षेप आकर्षित करने में सफल हो जाती हैं, किन्तु मन्दी के समय निक्षेप प्रायः कठिनाई से मिलते हैं।

निक्षेपों से लाभ तथा हानियाँ—

लाभ—(१) ब्याज की दर कम होती है—सार्वजनिक निक्षेपों पर ब्याज की दर साधारणतः ४½% से लेकर ६½% तक होती है। जिन कम्पनियों की साख अच्छी होती है उन्हें कम ब्याज की दर पर भी निक्षेप मिल जाते हैं। इसके विपरीत, अन्य साधनों से ऋण लेने पर प्रायः ब्याज की दर अधिक रहती है। (२) **अधिक लाभांश—**निक्षेप के रूप में धन प्राप्त करने के कारण अंश पूँजी कम रखी जा सकती है। परिणामस्वरूप, अंशधारियों को ऊँचे लाभांश दिये जा सकते हैं। बम्बई और अहमदाबाद मिलों में ऊँचे लाभांशों का घोषित होना इसका ज्वलन्त उदाहरण है। (३) **पूँजी के कलेवर में लोच का होना—**निक्षेपों के कारण पूँजी का कलेवर लोचदार हो जाता है। पूँजी की मात्रा अधिक होने पर निक्षेपों को अस्वीकार किया जा सकता है अर्थात् उनके नवीनीकरण से इन्कार किया जा सकता है। इसके विपरीत पूँजी की कमी होने पर इनको आसानी से स्वीकार किया जा सकता है अथवा नवीनीकरण की सुविधाएँ देकर अधिक पूँजी को आकर्षित किया जा सकता है। (४) **सम्पत्ति को रेहन रखने की आवश्यकता नहीं—**निक्षेप प्राप्त करने के लिये कम्पनी को अपनी सम्पत्ति रेहन (Mortgage) रखने के लिये आवश्यकता नहीं होती, जैसा कि ऋण पत्रों के निर्गमन में होता है। (५) **विकास के लिये संचित कोष—**अधिक लाभ होने पर लाभों का एक भाग भावी विकास की योजनाओं को सफल बनाने हेतु सुरक्षित रखा जा सकता है और आवश्यकता के समय उसे नवीन पूँजी का रूप भी प्रदान किया जा सकता है। (६) **मितव्ययिता—**ऋण-पत्रों की अपेक्षा सार्वजनिक निक्षेप निर्गमन से भारी मितव्ययिता रहती है।

हानियाँ—सार्वजनिक निक्षेप-पद्धति में निम्नलिखित दोषों का समावेश हो गया है, जिसके कारण यह पद्धति धीरे-धीरे लोप होती जा रही है :—(१) **अच्छे समय का साथी—**निक्षेपों का सबसे महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि मन्दी अथवा प्रापत्ति के समय में जनता भयभीत होकर उनको वापस माँग लेती है और ऐसी परिस्थिति में कम्पनी को भारी हानि उठानी पड़ती है। इसका सबसे अच्छा उदाहरण विश्वव्यापी मन्दी १६२६ के समय में बम्बई व अहमदाबाद की मिलों में मिलता है। उस समय जनता का विश्वास कम होने के कारण सब प्रकार की मिलों से तेजी से धन वापस लिया गया था। परिणामस्वरूप, कुछ मिलों को तो बन्द होना पड़ा और शेष ने देशी बैंकरों व अन्य साधनों से ऋण लेकर जैसे-तैसे इस भयंकर आर्थिक संकट से छुटकारा पाया। यही कारण है कि इनको 'अच्छे समय का साथी' कहा जाता है। (२) **परिकल्पना को प्रोत्साहन—**सरल एवं न्यूनतम ब्याज-दर पर ऋण प्राप्त किये जाने के कारण परिकाल्पनिक व्यापार को भारी प्रोत्साहन मिलता है। परिणामस्वरूप, कम्पनियाँ अति-व्यवसाय (Over Trading) के प्रलोभन में फँस जाती हैं, जिसका दुष्परिणाम अंशधारियों व निक्षेपकों—दोनों को ही भोगना पड़ता है। (३) **साख गिरने का भय—**यदि निक्षेप को स्थायी एवं दीर्घकालीन कार्यों में लगा दिया जाय तो सम्भव है कि माँगने पर भुगतान न करने की स्थिति में कम्पनी की साख ही गिर जाय। (४) **विनियोग बाजार की क्षति—**सार्वजनिक निक्षेप के अधिक प्रचलन के कारण अच्छी औद्योगिक प्रतिभूतियों की पूर्ति कम हो जाती है (क्योंकि अधिक लाभांश मिलने के प्रलोभन से माँग बढ़ जाती है), जिससे विनियोग बाजार का क्षेत्र सीमित हो जाता है।

(३) प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं (Managing Agents) द्वारा ऋण—

संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के प्रबन्ध एवं उनके अर्थ-प्रबन्धन में प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं का प्रारम्भ से ही अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। फिस्कल कमीशन (Fiscal Commission 1949-50) के अनुसार, "औद्योगीकरण के प्रारम्भिक दिनों में जबकि न तो साहस और न पूँजी ही प्राप्त थी— प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं ने दोनों को ही प्रदान किया।" भारत में औद्योगीकरण की प्राथमिक अवस्था में इन्होंने नये-नये उद्योगों का प्रवर्तन एवं निर्माण किया, उनका प्रबन्ध किया तथा निजी साधनों द्वारा उनका अर्थ-प्रबन्ध किया और कर भी रहे हैं। इतना ही नहीं, कहीं-कहीं अंश एवं ऋण-पत्रों का ४०% भाग तक इन्होंने स्वय खरीदा अथवा अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों से क्रय कराया। सार्वजनिक निक्षेप भी उन्हीं की निजी साख के कारण प्राप्त होते हैं। कम्पनियों को बैंकों आदि से ऋण दिलाने में भी इनका अमूल्य सहयोग रहा है, क्योंकि उनकी व्यक्तिगत जमानत के बिना भारतीय बैंक ऋण नहीं देते। अपने असीम आर्थिक साधनों के कारण प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं ने अपने नियन्त्रित उद्योगों को सदैव आर्थिक कठिनाइयों से सुरक्षा प्रदान की है। इनके सम्बन्ध में विस्तृत वर्णन अगले अध्यायों में किया गया है। यहाँ पर केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि इन्होंने भारतीय कम्पनियों की प्रारम्भिक अवस्था में तथा आर्थिक कठिनाइयों के समय आर्थिक सहायता देकर उनको जीवन-दान दिया है। ३ अप्रैल सन् १९७० के बाद से सार्वजनिक कम्पनियों मे प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं की नियुक्ति न हो सकेगी, अतएव अब इनका महत्त्व लगभग समाप्त हो गया।

(४) देशी बैंकर्स (Indigenous Bankers) से ऋण—

यद्यपि देशी बैंकरों का औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन में बहुत कम हाथ रहा है, किन्तु इन्होंने देश के आन्तरिक व्यापार को महत्त्वपूर्ण साख-सुविधायें प्रदान की हैं। ये गत कुछ वर्षों से अहमदाबाद व बम्बई की सूती मिलों, असम तथा बङ्गाल के चाय उद्योग में, तेल, चमड़ व चावल आदि की मिलों में साख-सुविधाएँ प्रदान कर रहे हैं, किन्तु इनकी अत्यधिक ब्याज-दर (जोकि १२% से २४% तक होती है), रूढ़िवादी नीति, सीमित आर्थिक साधन तथा व्यापारिक बैंकों की प्रतियोगिता के कारण धीरे-धीरे इनका लोप होता जा रहा है। इतना होते हुये भी देशी बैंकर उन उद्योगों के लिये अत्यन्त लाभदायक हैं जो अपनी पूँजी साधारण जनता से प्राप्त नहीं कर सकते, जिनके यहाँ सार्वजनिक निक्षेप उपलब्ध नहीं हैं, जहाँ पर आधुनिक बैंकिंग का विकास नहीं हुआ है तथा जो जमानत के नियमों को कठोरता से पालन नहीं करते। यदि देखा जाय तो भारतवर्ष में देशी बैंकर ही एकमात्र ऐसी संस्था है जोकि व्यक्तिगत जमानत पर भी ऋण देने को तत्पर है। श्री नावा गोपालदास के अनुसार, "कम्पनियाँ देशी बैंकर्स को ऊँची ब्याज की दर देना इसीलिये पसन्द करती थीं, जिससे संयुक्त स्कन्ध बैंकों द्वारा की गई जाँच-पड़ताल, उनके नियमित ढंग, अपेक्षाकृत अधिक जोखिम तथा बैंक के काउन्टर (Counter) तथा दरवाजे पर आरूढ़ सुसज्जित चौकीदार के दर्शन न करने पड़ें।" छोटे-छोटे उद्योगों में अब भी देशी बैंकर पर्याप्त मात्रा में आर्थिक सहायता देते हैं। सहकारी साख समितियों की स्थापना से इनके व्यवसाय को भारी क्षति पहुँची है।

(५) अर्जित आय का पुनः विनियोग (Ploughing back of earned Profits)—

प्रत्येक प्रगतिशील उद्योग के भावी विकास के लिये पर्याप्त मात्रा में पूँजी चाहिये। यदि वह पूँजी बाहरी लोगों से ली जाय तो उसमें अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। अतएव लाभ के एक हिस्से का पुनः विनियोग करना विस्तार और उन्नति की सर्वश्रेष्ठ विधि है। इस पद्धति के अनुसार कम्पनी अपनी सम्पूर्ण आय का वितरण लाभांश के रूप में न करती हुई उसका एक भाग बचाकर संचय-कोष में रख लेती है और इस संचित-कोष का प्रयोग कम्पनी की

भावी विकास की योजनाओं में करनी है । कम्पनी के इस प्रकार के अर्थ-प्रबन्धन को 'अर्जित आय का पुनः विनियोग' अथवा 'आन्तरिक अर्थ-व्यवस्था' कहते हैं । यह पद्धति कम्पनी की आर्थिक दृढ़ता के लिये अधिक लाभकर है, क्योंकि ऋण से विकास योजनाओं की पूर्ति करने से कम्पनी पर ब्याज के भुगतान का बोझ बढ़ता है और यदि इन ऋणों का भुगतान अचानक एक साथ मांग लिया जाय तो कम्पनी की आर्थिक स्थिति शिथिल पड़ जाती है । अतएव जो देश औद्योगिक उन्नति कर रहे हैं, उनमें पूंजी बढ़ाने के लिये यह पद्धति बड़ी व्यापकता से अपनाई गई है । पाश्चात्य देशों के औद्योगिक विकास में इस पद्धति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है । उस दशा में जबकि पूंजी का प्राप्त करना कठिन हो, यह पद्धति अत्यन्त लाभदायक सिद्ध हो सकती है ।

लाभ तथा दोष—

लाभ—(१) इस कोष के होने से कम्पनी मौसमी तथा व्यापारिक अवसादों (Depressions) का सामना करने के लिये सुदृढ़ हो जाती है । (२) विवेकीकरण तथा उन्नति की योजनाओं को सुविधापूर्वक कार्यान्वित किया जा सकता है । (३) अंशधारियों के अंशों का मूल्य बाजार में बढ़ जाता है । (४) अंशधारियों के विनियोग व्यापारिक उतार-चढ़ावों (Fluctuations) से सुरक्षित हो जाते हैं । (५) देश में तेजी से औद्योगीकरण होने लगता है, जिससे समाज में आर्थिक सम्पन्नता आती है तथा लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है ।

दोष—(१) कम्पनी संचालक उस पूंजी को अनावश्यक तत्त्वों में खर्च करते हैं । (२) आय के एक बड़े भाग को संचित कोष में डाल कर आय-कर (Income-tax) बचाया जा सकता है । भारतीय आय-कर अधिनियम की धारा २३ 'अ' इस प्रकार की प्रथा पर रोक लगाती है । (३) गुप्त कोष के दोष उत्पन्न हो जाने का भय पैदा हो सकता है ।

(६) ह्रास कोष (Depreciation Fund)—

मशीनों व यन्त्र की मरम्मत तथा उनका पुनर्स्थापन करने के लिए ह्रास-कोष की व्यवस्था की जाती है । इससे कम्पनी का कार्य सुचारु रूप से चलता रहता है । मशीनों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है । रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की खोज के अनुसार भारत में पिछले कुछ वर्षों से ह्रास-कोष द्वारा अर्थ-प्रबन्धन का महत्त्व निरन्तर बढ़ता जा रहा है ।

(७) औद्योगिक वित्त निगम द्वारा—

अगला अध्याय पढ़िए ।

(८) अन्य विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं से ऋण लेकर—

अगला अध्याय पढ़िये ।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. भारत में औद्योगिक वित्त प्राप्त करने के विभिन्न साधनों का संक्षेप में वर्णन कीजिये ।
(राँची, १९७०; जोधपुर, १९६९; उदयपुर, १९६९; आगरा, १९६५ एवं ६७)

[संकेत—भारत में एक संयुक्त पूंजी वाली सार्वजनिक कम्पनी औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन का व्यवस्था निम्न साधनों द्वारा करती है :—(I) **स्थायी पूंजी**—(१) अंश-निर्गमन द्वारा । (२) ऋणपत्र निर्गमन द्वारा । (II) **कार्यशील पूंजी**—(१) बैंकों से ऋण द्वारा । (२) सार्वजनिक निक्षेप द्वारा । (३) अर्जित आय का पुनः विनियोग । (४) देशी बैंकर्स

द्वारा । (५) ह्रास कोष । (६) वित्तीय संस्थाओं से ऋण लेकर । (७) विदेशों से ऋण लेकर ।]

२. अभिगोपन शब्द को परिभाषित कीजिये । उसके क्या लाभ व हानियाँ हैं ? भारत में उसकी क्या स्थिति है ? बतलाइये । (राजस्थान, १९७१)

३. भारतीय व्यवसायी को पूँजी प्राप्त करने के कौन-कौन से विभिन्न स्रोत उपलब्ध हैं ? संक्षेप में उल्लेख कीजिए । (राजस्थान, १९७० एवं १९७३)

४. बृहत् आकार के उद्योगों को औद्योगिक वित्त प्राप्त करने के लिये कौन-कौन से साधन हैं ? पूर्णतया समझाइये । (विक्रम, १९६९)

५. संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों द्वारा पूँजी प्राप्त करने की कौन-कौनसी पद्धतियाँ अपनाई जाती हैं ? (आगरा, १९६८; राजस्थान, १९६९ एवं १९७२)

६. निम्नलिखित के लिये पर्याप्त वित्त प्राप्त करने की विधि का वर्णन कीजिये :—
(अ) एक नवीन साहस की वित्तीय आवश्यकताओं के लिए,
(ब) एक चालू व्यापार का विस्तार करने के लिये । (पंजाब, १९६७)

७. औद्योगिक वित्त के साधन के रूप में अंश, डिबेन्चर और जननिक्षेपों के परस्पर गुण-दोष संक्षेप में बतलाइये । (आगरा, १९६९; दिल्ली, १९६८; राजस्थान, १९६७)

८. उद्योगों के लिए पूँजी प्राप्त करने के साधन के रूप में ऋण-पत्रों का क्या स्थान है ? भारत में इस प्रकार के वित्त के साधन की कमी के क्या कारण हैं ? (इन्दौर, १९६७)

९. उद्योगों की अल्पकालीन व दीर्घकालीन पूँजी आवश्यकताएँ क्या हैं ? इन आवश्यकताओं को पूरा करने की सर्वोत्तम विधियाँ बताइये । (सागर, १९६७)

१०. प्रतिभूतियों के अभिगोपन पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये । (दिल्ली, १९७१; आगरा भाग २, १९६९)

११. कम्पनी के वित्तीय साधन के रूप में अंशों और ऋण-पत्रों के सापेक्षित गुणों और सीमाओं का विवेचन कीजिये । (इन्दौर, १९७०)

१२. पंजीकृत तथा वाहक ऋण-पत्रों में अन्तर बतलाइये । कम्पनी के दृष्टिकोण से वित्त प्राप्त करने के साधन के रूप में ऋण-पत्रों तथा पूर्वाधिकारी अंशों के सापेक्षित लाभों की तुलना कीजिए । (दिल्ली, बी० कॉम०, १९७०)

१३. भारत में कम्पनियाँ किस प्रकार पूँजी प्राप्त करती हैं ? उद्योगों को दीर्घावधि पूँजी प्रदान करने के सम्बन्ध में हाल में क्या विकास हुए हैं ? (गोरखपुर, १९७०)

१४. स्थायी पूँजी प्राप्त करने के लिए भारतीय कम्पनियाँ कौन-कौन से साधन काम में लेती हैं ? (जोधपुर, १९७२)

१५. इस कथन की सार्थकता पर टिप्पणी कीजिये कि व्यावसायिक पूँजीकरण में अभिगोपन शक्ति और दुर्बलता दोनों का समावेश होता है । (मेरठ, १९७२)

उत्पादन एवं वितरण आदि उद्योगों में संलग्न हों। अब तक सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योग, निजी सीमित दायित्त्व वाली कम्पनियों तथा लघु एवं कुटीर उद्योग आदि इससे ऋण नहीं ले सकते थे। किन्तु अगस्त, १९७० से सार्वजनिक क्षेत्र की लोक कम्पनियों (Public Co's) को भी वित्तीय सहायता प्रदान करने का निर्णय किया गया है। इससे वित्तीय सहायता केवल उसी दशा में प्राप्त की जा सकती है जबकि किसी उद्योग के लिये पूँजी निर्गमन के द्वारा धन प्राप्त करना सम्भव न हो अथवा बैंकों द्वारा दी गई सहायता अपर्याप्त हो। इस प्रकार यह सामान्य बैंकिंग सुविधाओं के पूरक रूप में कार्य करता है।

निगम के आर्थिक साधन

(१) **स्थायी पूँजी**—औद्योगिक वित्त निगम की अधिकृत (Authorised) पूँजी १० करोड़ रुपये है जोकि ५,००० रु० के २०,००० अंशों में विभाजित है। शुरू में ५ करोड़ रु० मूल्य के केवल १० हजार अंशों का निर्गमन किया गया और शेष अंशों का निर्गमन समय समय पर किया जायेगा। अंशों की मूल राशि तथा २$\frac{1}{2}$% न्यूनतम वार्षिक लाभांश देने की गारन्टी केन्द्रीय सरकार ने दी। अधिकतम लाभांश देने की दर ५% निर्धारित की गई है, किन्तु इस दर से लाभांश उसी अवस्था में दिया जा सकता है जबकि निगम का संचित कोष चुकता पूँजी (paid up capital) के बराबर हो गया हो और केन्द्रीय सरकार को गारन्टी के अन्तर्गत दी गई धन-राशि चुका दी गई हो। इन अंशों को केन्द्रीय सरकार तथा अन्य विनियोग संस्थायें इस अनुपात में खरीद सकती हैं—केन्द्रीय सरकार २०%, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया २०%, अनुसूचित बैंक २५%, बीमा कम्पनियाँ, विनियोग करने वाले प्रन्यास आदि २५% तथा सहकारी बैंक १०%। अधिनियम के अनुसार अंशों का हस्तान्तरण नहीं किया जा सकता है, परन्तु उपरोक्त विभिन्न वर्गों के बीच अंशों के हस्तान्तरण पर किसी भी प्रकार का प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु शर्त यह है कि किसी भी वर्ग के पास उसके निश्चित हिस्से के १०% से अधिक अंश एकत्रित नहीं होने चाहिये। ३० जून, १९७२ को भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की चुकता पूँजी १० करोड़ रु० थी। अर्थात् समस्त अधिकृत पूँजी का निर्गमन किया जा चुका था। निगम ने जून, १९७२ में अपनी शेष पूँजी (अर्थात् ३,३०८ अंश प्रत्येक ५,००० रु० का अंश) का भी निर्गमन कर लिया।

(२) **कार्यशील पूँजी**—निगम जन निक्षेप प्राप्त करके ऋण-पत्र व बन्धों को निर्गमित करके रिजर्व बैंक से विदेशी मुद्रा में ऋण लेकर अपनी कार्यशील पूँजी का निर्माण कर सकेगा, किन्तु इन पर दिया जाने वाला ब्याज केन्द्रीय सरकार के निर्धारित ब्याज से अधिक नहीं हो सकेगा।

(३) **बॉण्ड एवं ऋण-पत्र**—निगम को अपनी चुकता पूँजी तथा संचित कोषों के दस गुने तक के बॉण्ड अथवा ऋण-पत्र निर्गमित करने का अधिकार है। सन् १९७१-७२ के वर्ष में निगम की बॉण्ड एवं ऋण-पत्र पूँजी ६१·२५ करोड़ रु० थी, जबकि गत वर्ष यह पूँजी ऋण-पत्र एवं बॉण्ड पूँजी केवल ५७·६९ करोड़ थी। अक्टूबर, १९७२ में निगम ने १० करोड़ रुपये के बॉण्ड निर्गमित किये।

(४) **ऋण लेना** (Borrowings)—औद्योगिक वित्त निगम को रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया, सरकार तथा विदेशी मुद्रा में ऋण लेने का अधिकार है। ३१ मार्च, १९७२ को औद्योगिक वित्त निगम ने अग्र प्रकार से ऋण ले रखा था।

(अ) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया से ऋण	०·३६ करोड़ रु०
(ब) भारत सरकार से ऋण	७५·६७ ,, ,,
(स) विदेशी मुद्रा में ऋण	२२·०३ ,, ,,
	योग ९८·०६ करोड़ रु०

इस प्रकार सन् १९७१-७२ में निगम ने केवल ९८·०६ करोड़ रु० का ऋण ले रखा था जबकि गत वर्ष (१९७०-७१) में निगम ने १०१·८२ करोड़ रु० का ऋण ले रखा था।

(५) **संचित कोष**—निगम का संचित कोष भी उसके वित्तीय साधनों का एक महत्वपूर्ण अंग है। ३० जून सन् १९७२ को निगम का संचित कोष १६·२ करोड़ रुपये था। इसमें से ९·१७ करोड़ रु० का साधारण संचित कोष तथा ६·८५ करोड़ रु० के शेष कोष थे। ३० जून सन् १९७१ को समाप्त होने वाले वर्ष में ७४·५४ लाख रु० की राशि संचित कोष में हस्तान्तरित की गई।

(६) **भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से ऋण**—धारा २१ (४) के अन्तर्गत, निगम भारतीय औद्योगिक विकास बैंक एवं सरकार से भी ऋण ले सकता है।

(७) **रिजर्व बैंक एवं केन्द्रीय सरकार से ऋण**—आवश्यकता पड़ने पर निगम रिजर्व बैंक एवं केन्द्रीय सरकार से भी ऋण ले सकता है।

निगम का प्रबन्ध

औद्योगिक अर्थ-प्रबन्ध निगम संशोधित अधिनियम, १९५५ (Industrial Finance Corporation Amendment Act, 1955) के अन्तर्गत १८ दिसम्बर सन् १९५४ से निगम के प्रबन्ध में भारी परिवर्तन किये गये हैं। इस तिथि से पूर्व अधिनियम की धारा १० के अनुसार निगम का प्रबन्ध एक संचालक समिति (Board of Directors) द्वारा होता था, जिसमें १२ सदस्य थे। इसकी सहायता के लिये एक शासकीय समिति (Executive Committee) भी थी।

अब उपरोक्त परिवर्तन के अनुसार औद्योगिक अर्थ-निगम का प्रबन्ध एक पूर्णकालीन (Full Time) वृत्ति पाने वाले 'चेयरमैन' (Chairman) द्वारा होता है, जिसकी सहायता के लिए एक 'जनरल मैनेजर' (General Manager) भी होता है। चेयरमैन की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार निगम की संचालक सभा की सलाह से तीन वर्ष की अवधि के लिए करती है। संचालक सभा में विभिन्न संस्थाओं के कुल मिलाकर १२ सदस्य होते हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

क्रम संख्या	संस्थायें	सदस्यों की संख्या
१.	केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत (Nominated)	२
२.	भारतीय औद्योगिक विकास बैंक द्वारा मनोनीत	४
३.	अनुसूचित बैंकों द्वारा निर्वाचित (Elected)	२
४.	बीमा कम्पनियों तथा अन्य विनियोग संस्थाओं द्वारा निर्वाचित	२
५.	सहकारी बैंक द्वारा निर्वाचित	२
	योग	१२

इसके अतिरिक्त उपरोक्त संशोधन के अनुसार शासकीय समिति के स्थान पर केन्द्रीय

समिति (Central Committee) का निर्माण किया गया है, इसमें चेयरमैन सहित कुल मिलाकर ५ सदस्य होंगे। संचालक सभा का चेयरमैन ही केन्द्रीय समिति का चेयरमैन होगा।

निगम का मुख्य कार्यालय नई दिल्ली में तथा शाखा कार्यालय (Branch Offices) बम्बई, कलकत्ता, मद्रास तथा कानपुर में हैं।

औद्योगिक अर्थ-निगम के कार्य
(Functions of I. F. C.)

औद्योगिक अर्थ-निगम निम्न कार्य कर सकता है :—(१) औद्योगिक संस्थाओं को अधिक से अधिक २५ वर्ष की अवधि के लिये ऋण तथा अग्रिम (Advance) देना तथा उनके द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रों, जिनकी अवधि २५ वर्ष से अधिक नहीं हो, क्रय करना। (२) औद्योगिक संस्थाओं के ऋणों पर जिसे उन्होंने सार्वजनिक बाजार से लिया है और जिसके भुगतान की अवधि अधिक से अधिक २५ वर्ष है, निगम गारन्टी दे सकता है। (३) औद्योगिक संस्थाओं के अंश एवं ऋण-पत्र इत्यादि का अभिगोपन करना, इस जिम्मेदारी के कारण रहने वाले अंश एवं ऋण-पत्र इत्यादि का समावेश इसकी सम्पत्ति में हो सकता है, परन्तु इनको ७ वर्ष के पहले जनता को वेच देना होगा। (४) अर्थ-निगम किसी ऋण लेने वाले उद्योग को तान्त्रिक सलाह का प्रबन्ध करने के लिए सलाहकार समितियों की नियुक्ति कर सकता है। (५) इसके अलावा अपने अधिकारों का उपयोग करने के लिये एवं कार्यों की पूर्ति हेतु अन्य आवश्यक कार्य यह निगम कर सकता है। (६) यदि कोई औद्योगिक संस्था केन्द्रीय सरकार अथवा अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष से किसी प्रकार का व्यवसाय करती है तो निगम मध्यस्थ का काम करेगा। (७) निगम कम से कम पाँच वर्ष के लिये जनता से जमा के रूप में रुपया ले सकता है, किन्तु जमा के रूप में लिया गया रुपया दस करोड़ रुपये से अधिक नहीं होना चाहिये। (८) निगम औद्योगिक संस्थाओं के लिए केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त करने के उपरान्त अन्तर्राष्ट्रीय अधिकोष से विदेशी मुद्रा में ऋण ले सकता है। (९) अर्थ-निगम अधिक से अधिक १ करोड़ रुपये का ऋण दे सकता है। (१०) सन् १९५३ के संशोधन के अनुसार अर्थ-निगम अपनी राशि रिजर्व बैंक की सलाह से किसी भी अनुसूचित तथा सरकारी बैंक में रख सकेगा।

निषेध कार्य—

निगम निम्न कार्य नहीं कर सकेगा :—(१) दस करोड़ रुपये से अधिक की जमा प्राप्त करना। (२) प्रत्यक्ष रूप से सीमित दायित्व वाले प्रमण्डलों के अंश अथवा स्कन्ध का क्रय करना। (३) अपने अंशों की प्रतिभूति पर ऋण देना। (४) १ करोड़ रुपये से अधिक का ऋण नहीं दे सकता। (५) ७ वर्ष की अवधि से अधिक के अंशों अथवा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना।

ऋण देने की शर्तें—

निगम किसी भी सार्वजनिक कम्पनी तथा सहकारी समिति को निम्न शर्तों पर ऋण दे सकता है :—(१) निगम बिना उचित प्रत्याभूति के कोई भी ऋण अथवा अभिगोपन नहीं करता है। (२) दिये गये ऋण का समुचित उपयोग हो रहा है या नहीं, इस बात को निश्चित करने के लिये ऋण लेने वाली कम्पनियों के सञ्चालक से उनकी व्यक्तिगत स्थिति में तथा सामूहिक रूप से जमानत ली जाती है। (३) यदि ऋण लेने वाली कम्पनी ऋण का भुगतान करने में अथवा निगम द्वारा निर्धारित शर्तों के पालन करने में कोई त्रुटि करती है तो निगम कम्पनी के विरुद्ध उचित कार्यवाही करने, उस कम्पनी की सञ्चालक सभा में दो सञ्चालक नियुक्त करने तथा उसके प्रबन्ध को अपने हाथ में लेने का अधिकार रखता है। (४) ऋण का भुगतान

सामान्यत: समान किस्तों (Equal Instalments) में होना चाहिए, परन्तु ये किस्तें कितनी होंगी यह दोनों की सहमति से निश्चित होता है। (५) निगम के पास रेहन रखी हुई सम्पत्ति का आग, साम्प्रदायिक झगड़े, विद्रोह आदि से सुरक्षा के लिये किसी अच्छी बीमा कम्पनी से बीमा कराना अनिवार्य है। (६) १ करोड़ रु० से अधिक राशि का ऋण बिना केन्द्रीय सरकार की गारण्टी के नहीं दिया जा सकेगा। (७) ऋण के भुगतान की अवधि १५ वर्ष रखी गई है, किन्तु साधारणत: वह १२ वर्ष ही रहेगी। (८) निगम को कम्पनी की किसी भी समय जाँच करने का अधिकार होगा। (९) जब तक ऋण लेने वाली कम्पनी निगम के ऋण का भुगतान न कर दे तब तक वह ६% से अधिक (सामान्य अंशों का १०% से अधिक) लाभांश घोषित नहीं कर सकेगी, किन्तु दोनों की सहमति से इस दर में परिवर्तन किया जा सकता है। (१०) अचल सम्पत्ति को क्रय करने के लिये जो ऋण दिया जायेगा, उसके लिए अचल सम्पत्ति पर निगम का पहला अधिकार होगा।

निगम की कार्य-विधि
(Working of the I. F. C.)

औद्योगिक वित्त निगम किसी भी कम्पनी को ऋण देने से पूर्व अग्रलिखित बातों के बारे में विस्तृत सूचना प्राप्त कर लेता है :—(i) कम्पनी की आर्थिक स्थिति; (ii) ऋण चुकाने की क्षमता; (iii) उद्योग का राष्ट्रीय महत्त्व; (iv) उसके द्वारा निर्मित वस्तुओं की देश में माँग; (v) कारखाने की स्थिति, बिजली व पानी की उपलब्धता; (vi) तान्त्रिक व्यक्तियों एवं कच्चे माल की उपलब्धता; (vii) प्रबन्ध की योग्यता; (viii) सहायता लेने का उद्देश्य; (ix) प्रस्तावित योजना की सम्भावना तथा लागत; (x) दी गई प्रतिभूति की प्रकृति; तथा (xi) लाभ कमाने की क्षमता।

इसके पश्चात् निगम के अधिकारी ऋण लेने वाली कम्पनी का पूर्ण रूप से निरीक्षण करते हैं। पूर्ण रूप से सन्तुष्टि प्राप्त करने के पश्चात् ही ऋण की स्वीकृति प्रदान की जाती है।

निगम के कार्यों की प्रगति का अवलोकन (१९७१-७२)—

२८ सितम्बर, १९७२ को आयोजित औद्योगिक वित्त निगम की २४वीं वार्षिक व्यापक सभा में निगम के चेयरमैन श्री सी० डी० खन्ना ने इसकी सन् १९७१-७२ की प्रगति की वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसकी प्रमुख उल्लेखनीय बातें निम्न थीं :—

(१) **कुल वित्तीय सहायता** (Total Financial Assistance)—निगम का मुख्य कार्य भारत के प्रगतिशील उद्योगों को मध्यम तथा दीर्घकालीन ऋण प्रदान करना है। ऋण के लिए प्रार्थना-पत्र निगम के बम्बई, कलकत्ता, मद्रास अथवा नई दिल्ली के कार्यालय में दिये जा सकते हैं। ३० जून, १९७२ तक स्वीकृत तथा वितरित किये गये ऋणों का व्योरा इस प्रकार है :—

वर्ष ३० जून	स्वीकृत ऋण रु०	वितरित ऋण रु०
	(करोड़ में)	(करोड़ में)
१९४९	३·४२	१·३३
१९५६	४३·२१	१६·७३
१९६५	२२७·००	१५७·००
१९६६	२९२·७५	२०१·५३
१९६७	३८१·८१	२३९·३४
१९६८	३०५·०५	२६६·१९

१९६९	३२१·४७	२८२·५८
१९७०	३३७·०८	३०१·३९
१९७१	३६५·६७	३१८·७६
१९७२	३९७·८६	३४०·८६

(Source : 24th Annual Report of I. F. C.)

उपरोक्त तालिका से यह स्पष्ट हो जाता है कि ३० जून १९७२ तक (अर्थात् २५ वर्ष की अवधि में) भारतीय औद्योगिक वित्त निगम ने ५६५ औद्योगिक इकाइयों को कुल मिलाकर ३९७·८६ करोड़ रुपये के लिए स्वीकृति प्रदान की है। इसमें से ३४०·८६ करोड़ रुपये वितरित किये जा चुके हैं। यह स्वीकृत की गई राशि का ८५·७% भाग है।

(२) **सन् १९७१-७२ के वर्ष में ऋणों की स्वीकृति**—३० जून, १९७२ को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष में औद्योगिक वित्त निगम ने ६८ औद्योगिक इकाइयों के लिए कुल मिला कर ३९·१२ करोड़ रु० की आर्थिक सहायता के लिए स्वीकृति प्रदान की, जबकि गत वर्ष केवल ३५·०३ करोड़ रु० के ऋणों के लिए ही स्वीकृति प्रदान की गई थी।

(३) **सन् १९७१-७२ वर्ष में सहायता का वितरण**—सन् १९७१-७२ के वर्ष में निगम ने ऋणों के रूप में २१·९९ करोड़ रु० की राशि का वितरण किया, जबकि गत वर्ष (१९७०-७१) केवल १७·१५ करोड़ रु० के ऋणों का वितरण किया गया था। इस प्रकार चालू वर्ष में पिछले वर्ष की तुलना में वितरण की गई राशि में वृद्धि हुई।

(४) **अतिरिक्त कार्यालयों की स्थापना**—निगम की क्रियाओं का विस्तार होने के कारण इसने सन् १९७१ में अतिरिक्त कार्यालयों की स्थापना का निर्णय किया। ३० जून, १९७२ तक ऐसे सात कार्यालयों की स्थापना की जा चुकी थी। ये कार्यालय गौहाटी, अहमदाबाद, बंगलौर, कानपुर, पटना, हैदराबाद तथा भुवनेश्वर में हैं।

(५) **राज्य-वार वितरण** (State-wise Allocation)—निगम से अब तक महाराष्ट्र को सबसे अधिक सहायता मिली है। दूसरे स्थान पर तमिलनाडू है। निगम ने अब अविकसित क्षेत्रों के प्रार्थना-पत्रों पर अधिक ध्यान देना आरम्भ कर दिया है। ३० जून, १९७२ तक निगम ने १०७·११ करोड़ रुपये ऋणों की स्वीकृति अविकसित क्षेत्रों में स्थित १४८ औद्योगिक परियोजनाओं के लिये प्रदान की। यह कुल सहायता का लगभग २७% भाग है। ऐसी औद्योगिक परियोजनाएँ आन्ध्र प्रदेश, असम, बिहार, मध्य प्रदेश, मेघालय, उड़ीसा, राजस्थान, गोआ, उत्तर-प्रदेश तथा अण्डमान-निकोबार जैसे कम विकसित राज्यों में स्थापित की गई हैं।

(६) **सहकारी उद्योगों को सहायता** (Assistance to Co-operative Industries)—निगम ने देश में सहकारिता आन्दोलन को भी विकसित होने में काफी सहायता की है। औद्योगिक सहकारी इकाइयों को आर्थिक सहायता प्रदान करना निगम की क्रियाओं का प्रमुख अङ्ग रहा है। ३० जून, १९७२ तक निगम ने १०४ औद्योगिक सहकारी इकाइयों को कुल मिलाकर ८७·४५ करोड़ रु० की आर्थिक सहायता स्वीकृत की थी, जोकि कुल रुपये में दी जाने वाली सहायता का २२% भाग थी।

(७) **अभिगोपन के कार्य** (Underwriting Work)—२४ दिसम्बर सन् १९५६ से औद्योगिक इकाइयों द्वारा निर्गमित पूँजी का (अंशों व ऋण-पत्रों का) अभिगोपन भी आरम्भ कर दिया है। इस कार्य के करने से पूर्व सम्बन्धित औद्योगिक इकाई की आर्थिक स्थिति, प्रबन्ध-व्यवस्था तथा भावी योजनाओं की विस्तृत रूप में विशेषज्ञों द्वारा जाँच कर ली जाती है। इस

क्षेत्र में निगम की प्रगति विशेष रूप से प्रशंसनीय रही है। ३० जून सन् १९७२ तक निगम ने कुल मिलाकर ३४·६८ करोड़ रु० का अभिगोपन कार्य किया।

(८) **आय** (Income)—३० जून सन् १९७२ को समाप्त होने वाले वर्ष में भारतीय औद्योगिक वित्त निगम की सकल आय ४·८४ करोड़ रु० थी, जबकि गत वर्ष में केवल ४·४७ करोड़ रु० की आय थी।

(९) **राजकीय उपक्रमों को वित्तीय सहायता**—३० जून, १९७२ को समाप्त होने वाले वित्तीय वर्ष में निगम ने एक राजकीय उपक्रम को १ करोड़ रु० की वित्तीय सहायता स्वीकृत की है। यह राजकीय उपक्रम केरल राज्य में स्थित है। अब तक (३० जून, १९७२ तक) निगम कुल मिलाकर ६ राजकीय उपक्रमों के हेतु ६·९२ करोड़ रु० की वित्तीय सहायता हेतु स्वीकृति प्रदान कर चुका है।

(१०) **शुद्ध लाभ** (Net Profit)—३० जून, १९७२ को समाप्त होने वाले वर्ष में निगम का शुद्ध लाभ २·१७ करोड़ रु० था, जबकि गत वर्ष में केवल २·१० करोड़ रु० ही शुद्ध लाभ था।

(११) **ब्याज दर**—५ दिसम्बर १९७० से रुपयों में दिये जाने वाले ऋणों पर ब्याज दर ८½ प्रतिशत प्रतिवर्ष (इससे पूर्व रुपयों में ब्याज-दर ८ प्रतिशत ही थी) कर दी गई। भुगतान की निश्चित तिथियों पर किस्तों का भुगतान प्राप्त होने पर ½ प्रतिशत की छूट दी जाती है। इसी प्रकार २७ फरवरी, १९७१ से विदेशी मुद्रा में दिये गये ऋणों पर ब्याज-दर बढ़ाकर ९ प्रतिशत प्रति वर्ष कर दी गई है। सन् १९७१-७२ के वर्ष में भी ब्याज-दर ९ प्रतिशत ही रही।

(१२) **लाभांश-दर**—३० जून, १९७२ के वर्ष में निगम ने अपनी पूँजी पर ५% लाभांश देने की घोषणा की। गत वर्ष भी लाभांश इसी दर से घोषित किया गया था। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि अधिनियम के अनुसार निगम की अधिकतम लाभांश दर ५% ही हो सकती है।

(१३) **निगम की नई क्रियाएँ—सूती वस्त्र मिलों के लिए सुलभ वित्तीय सहायता कार्यक्रम (सितम्बर, १९७२)**—२१ सितम्बर, १९७२ को भारतीय औद्योगिक वित्त निगम ने निर्यात करने वाले सूती वस्त्र मिलों के लिए एक सुलभ वित्तीय सहायता कार्यक्रम की घोषणा की। इस वित्तीय सहायता योजना के अन्तर्गत ऐसे सभी सूती वस्त्र मिलों को जिन्होंने गत दो वर्षों (अर्थात् १९७०-७१ तथा १९७१-७२) में अपने कुल उत्पादन का १५ प्रतिशत से अधिक भाग का निर्यात किया है, १५ वर्ष की अवधि के लिये रियायती ब्याज-दर पर ऋण प्रदान किये जाने का प्रावधान है। निगम द्वारा दिये जाने वाले ऋणों के ८० प्रतिशत भाग तक की गारण्टी देने की केन्द्रीय सरकार ने घोषणा की है। इस योजना से सूती वस्त्र मिलों को उत्पादित माल के निर्यात के लिए निश्चित रूप में प्रोत्साहन मिलेगा। इस सम्बन्ध में यह बता देना आवश्यक प्रतीत होता है कि सरकार ने अगस्त सन् १९७२ से समस्त सूती वस्त्र निर्यात कारोबार का राष्ट्रीयकरण कर लिया है, क्योंकि उद्योग सन् १९७१-७२ के वर्ष में निर्धारित निर्यात लक्ष्य की पूर्ति करने में असमर्थ रहा था।

औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम में संशोधन

औद्योगिक वित्त निगम कार्यवाहियों का विस्तार करने हेतु औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम (सन् १९४८) में सन् १९६० में कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गये थे। **यह संशोधित अधिनियम २९ दिसम्बर, १९६० से लागू हो गया है।** इन संशोधनों का सार इस प्रकार है :—

(अ) निगम द्वारा निम्न दशाओं में ऋणों की गारण्टी देना :—(१) औद्योगिक संस्थाओं द्वारा अनुचित तथा सहकारी बैंकों से ऋण लिये जाने पर; (२) भारत में औद्योगिक संस्थाओं से पूँजीगत माल के क्रय के सम्बन्ध में शेष स्थगित भुगतानों हेतु; (३) केन्द्रीय सरकार की पूर्व सहमति प्राप्त होने पर, औद्योगिक संस्थाओं द्वारा भारत के बाहर विदेशी मुद्रा में ऋण अथवा साख-सुविधायें लेने पर। (ब) किसी भी औद्योगिक इकाई के अंश अथवा ऋण-पत्रों में निगम अपने धन का विनियोग कर सकेगा। (स) माल को रखकर (Preservation of Goods) ऋण देना। (द) केन्द्रीय सरकार की केवल स्वीकृति (Approval) पर ही निगम एक करोड़ रुपये से अधिक धन-राशि का ऋण दे सकेगा। अब केन्द्रीय सरकार की गारण्टी की आवश्यकता नहीं है।

निगम की कठिनाइयाँ
(Difficulties of Corporation)

निगम निम्न व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण भारतीयों को आशाजनक साख-सुविधायें देने में असमर्थ रहा है :—(१) **उचित योजना का अभाव**—निगम के समक्ष ऐसी अनेक अपूर्ण योजनायें प्रस्तुत की गईं जिनमें तान्त्रिक पहलुओं तथा वित्त-व्यवस्थाओं पर पूर्ण विचार नहीं किया गया था। कुछ में तो यह भी नहीं बताया गया कि भूमि, इमारत, मशीन व अन्य सामग्री पर पृथक्-पृथक् कितनी राशि व्यय होगी। (२) **अपर्याप्त साधन**—अनेक ऐसे उदाहरण हैं जिनमें पूँजी आवश्यकता से बहुत कम है। ऐसी औद्योगिक इकाइयों को ऋण देना सुरक्षा की दृष्टि से अहितकर था। (३) **रेहन रखी जाने वाली सम्पत्ति में त्रुटि**—रेहन रखी जाने वाली भूमि, सम्पत्ति या भवन को या तो पहले से ही रेहन रख दिया गया था अथवा उनका उचित मूल्यांकन नहीं किया गया था। (४) **वैधानिक औपचारिकताओं को पूरा न करना**—ऐसी भी कम्पनियाँ हैं जो ऋण स्वीकृत हो जाने पर वैधानिक औपचारिकताओं को पूरा नहीं करतीं और न इस दिशा में प्रयत्न ही करती हैं। (५) **अपूर्ण आवेदन-पत्र**—ऋण सम्बन्धी आवेदन-पत्रों पर उद्योग आवश्यक विवरण नहीं देते हैं, जिससे उन पर विचार करना मुश्किल होता है। (६) **प्रशिक्षित व्यक्तियों का अभाव**—निगम के चेयरमैन श्री सी० डी० खन्ना ने सन् १६७१ की वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करते हुए निगम की इस समस्या की ओर सदस्यों का ध्यान आकर्षित किया कि इसके पास वित्तीय क्षेत्र में प्रशिक्षण प्रबन्धकीय पदाधिकारियों का अभाव है। इससे भी ऋण स्वीकृत किये जाने में देरी होती है।

औद्योगिक वित्त निगम की आलोचनायें

संसद के अन्दर तथा बाहर निगम की कार्यविधि तथा संगठन की व्यापक आलोचनायें हुई हैं। उनमें से मुख्य निम्न हैं :—(१) निगम को पक्षपात तथा द्वेषपूर्ण नीति के लिए दोषी ठहराया गया है। (२) यह केवल सार्वजनिक कम्पनियों तथा सहकारी संस्थाओं को ही ऋण देता है, जिसके कारण अन्य संस्थायें वंचित रह जाती हैं। (३) निगम सरकार के अधीन है, अतएव जिन पूँजीपतियों का सरकार पर प्रभाव है। वे निगम को अपनी इच्छानुसार चलाते हैं। (४) निगम पिछड़े उद्योगों तथा राज्यों के अविकसित उद्योगों को पर्याप्त मात्रा में सहायता देने में पूर्ण असमर्थ रहा है। लघु तथा कुटीर उद्योगों की भारी उपेक्षा की गई है। (५) निगम की ब्याज दर अत्यधिक ऊँची रही है। (६) अधिकांश ऋण उन उद्योगों को दिया गया है जो पहले से व्यवस्थित हैं और जिनकी वास्तव में सहायता की जानी चाहिये थी, नहीं की गई है। (७) उन उद्योगों को भी ऋण दिया गया जो भारत की पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत नहीं आते। इस प्रकार आधारभूत तथा पूँजीगत माल उत्पादन करने वाले उद्योगों को अधिक योग न मिलकर उपभोगों के उद्योगों को अधिक योग मिला। (८) निगम ऋण लेने वाली कम्पनियों के द्वारा व्यय की जाने वाली राशि की देखभाल करने में असफल रहा है, जिससे वस्तुओं के उत्पादन तथा

उत्पादन-क्षमता में कोई वृद्धि नहीं हुई। (६) निगम क्षेत्रीय एवं प्रादेशिक विकास में असफल रहा है। सन् १६६७-६८ में स्वीकृत ऋणों का ६६% भाग केवल चार विकसित राज्यों (पश्चिमी बंगाल, मद्रास, गुजरात तथा महाराष्ट्र) तक सीमित है। (१०) निगम अपने व्ययों में मित-व्ययिता नहीं रख सका है। (११) निगम कम्पनियों को सामान्य पूँजी प्रदान नहीं करता है और उनको अन्य संस्थाओं का मुँह ताकना पड़ता है। (१२) निगम की गतिविधियों पर पूर्ण नियन्त्रण नहीं रखा जाता। (१३) निगम ने ऐसी कम्पनियों को भी ऋण दिया है जो पहले से ही खूब लाभ कमा रही थीं और अपनी ख्याति के कारण खुले बाजार से भी ऋण प्राप्त कर सकती थीं। (१४) उद्योगों की आवश्यकताओं को देखते हुये बहुत ही कम मात्रा में ऋण दिये गये हैं। (१५) ऋण स्वीकृत करने में अनावश्यक रूप से देरी की जाती है। इसके अतिरिक्त इनकी प्रबन्ध व्यवस्थाओं में अनेक त्रुटियाँ बताई गई हैं और यहाँ तक कहा गया है कि उसमें व्यवस्था-व्यय के नाम पर अपव्यय किया जाता है।

श्रीमती कृपलानी समिति के सुझाव
(I. F. C. Enquiry Committee's Findings)

उपरोक्त दोषों एवं आलोचनाओं के आधार पर भारत सरकार ने निगम की क्रियाओं का पर्यवेक्षण कराने के लिये दिसम्बर सन् १६५२ में श्रीमती सुचेता कृपलानी एम० पी० की अध्यक्षता में एक जाँच समिति नियुक्त की। इस समिति के अन्य सदस्य श्री बी० बी० गाँधी, सर्वश्री नारायण मेहता, श्री आर० सूर्यनारायण राव, श्री पी० ए० नारियलवाला तथा श्री जी० बसु थे। समिति ने अपनी रिपोर्ट ७ मई सन् १६५३ को प्रस्तुत की।

सुविधा की दृष्टि से समिति द्वारा दिये गए सुझावों का अध्ययन हम निम्नलिखित तीन भागों के अन्तर्गत कर सकते हैं :—

(I) **प्रशासन एवं सङ्गठन सम्बन्धी सुझाव**—(१) निगम के वर्तमान अवैतनिक-चेयरमैन (Honorary Chairman) तथा वैतनिक प्रबन्ध-संचालक के स्थान पर पूर्ण वैतनिक चेयरमैन (Whole Time Paid Chairman) तथा एक जनरल मैनेजर की नियुक्ति होनी चाहिये। (२) प्रबन्ध-संचालक के हाथ में अधिक अधिकारों का केन्द्रीयकरण उचित नहीं। प्रबन्ध-संचालक तथा उप-प्रबन्ध संचालक के अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या होनी चाहिये। (३) ऐसी व्यवस्था होनी चाहिये, जिससे निगम के संचालक मण्डल (Board of Directors) पर उद्योगपतियों का आधिपत्य न हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये सरकार को निगम के संचालक मण्डल में एक अर्थशास्त्री, एक प्रबन्धकीय विशेषज्ञ (Managerial Expert) तथा एक चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट को मनोनीत (Nominate) करना चाहिए। (४) प्रत्येक उप-कार्यालय (Branch Office) के लिये एक क्षेत्रीय सलाहकार परिषद् (Regional Panel of Advisors) होनी चाहिये। इसके अतिरिक्त कभी-कभी निगम के संचालक मण्डल की सभायें कलकत्ता, मद्रास व बम्बई में भी होनी चाहिये। सभी सुझावों को मानकर कार्यरूप में भी परिणत कर दिया गया है।

(II) **कार्य प्रणाली (Procedure) सम्बन्धी सुझाव**—(१) यदि निगम का कोई संचालक किसी ऋण लेने वाली कम्पनी में अपना हित रखता हो तो उसे अपने हित को अवश्य प्रकट कर देना चाहिये। (२) निगम के ऐसे संचालक को किसी ऋण लेने वाली कम्पनियों के नाम, उसकी क्रियाओं तथा उद्योगों के विकास के सम्बन्ध में अधिक से अधिक सूचनायें प्रकाशित करनी चाहिये। (३) ऋणों के स्वीकृत करने तथा उनको चुकाने में कम समय लगाना चाहिये। (४) ऋण देते समय कम से कम ५०% का अन्तर (Margin) रखना चाहिये। (५) निगम के पास

तान्त्रिक विशेषज्ञों का दल होना चाहिये। (६) यदि निगम किसी कम्पनी का ले लेता है तो उसका प्रबन्ध अभिकर्त्ता के हाथ में न रह कर मनोनीत संचालकों की सभा को देना चाहिये।

(III) **नीति (Policy) सम्बन्धी सुझाव**—(१) निगम को पंचवर्षीय योजना में दी गई प्राथमिकताओं के अनुसार तथा योजना आयोग के द्वारा ४२ उद्योगों के अनुसूचित कार्यक्रम का पालन करना चाहिये। (२) निगम को ऐसे उद्योगों को ऋण नहीं देना चाहिये जोकि उन्नति की चरम सीमा पर हों। (३) ऋण स्वीकार करते समय निगम को सरकार के आदेशों का पालन करना चाहिये। (४) निगम को ५० लाख रुपये से अधिक धनराशि वाले आवेदन-पत्रों को तीन वर्ष तक सरकार के सामने रखना चाहिये। (५) संसद के सदस्यों को निगम के दैनिक शासन में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। (६) निगम की नीति सामान्य रूप से केवल लाभ कमाने की नहीं अपितु सहायता देने की होनी चाहिए।

उपरोक्त सुझावों में से कुछ को छोड़कर शेष सभी सुझाव भारत सरकार द्वारा स्वीकार कर लिए गये है। इस प्रकार औद्योगिक वित्त निगम भारत के औद्योगिक क्षेत्र में अपनी अमूल्य सेवायें प्रदान कर रहा है। भारत में इसका भविष्य अति उज्ज्वल है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. भारत में औद्योगिक वित्त निगम के क्या उद्देश्य तथा कार्य हैं ? इस संस्था की सफलताओं का संक्षेप में वर्णन कीजिये। (दिल्ली, १९६६; राजस्थान, १९६९)
What are the objects and functions of Industrial Finance Corporation of India ? Give a brief outline of its achievements.

२. भारत में औद्योगिक वित्त निगम के संविधान तथा कार्य-विधि का वर्णन कीजिये तथा इसके द्वारा दी गई सहायता की जाँच कीजिये। (आगरा, १९६९)
Explain the constitutiols and working of the Industrial Finance Corporation of India and review the assistance rendered by them.

३. भारतीय औद्योगिक वित्त निगम के उद्देश्यों तथा कार्य व्यवहार की व्याख्या कीजिये। (विक्रम, १९६८; इन्दौर, १९६५)
Explain the costitution and working of the Industrial Finance Corporation of India.

४. औद्योगिक वित्त निगम के संविधान और कार्यों की रूपरेखा दीजिये। (दिल्ली, १९६८)
Outline the constitution and functions of the Industrial Finance Corporation.

५. भारत के औद्योगिक-वित्त-निगम के संविधान तथा उसकी कार्य-विधि को समझाइये। इसकी श्रेष्ठ कार्य-विधि के लिये सुझाव दीजिये। (इन्दौर, १९६७; आगरा, १९५४, ५७, ६०; लखनऊ, ५९)
Explain the constitution and working of the Industrial Finance Corporation of India. Offer suggestions for its better working.

६. प्रारम्भ से आज तक औद्योगिक वित्त निगम के कार्यों का संक्षेप में आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये (जीवाजी, १९६९)
Briefly examine the working of the Industrial Finance Corporation of India since it sinception.

६

अन्य विशिष्ट वित्त संस्थायें
(Other Financing Agencies)

(I) राज्य वित्त निगम
(State Financial Corporation)

वित्त निगम का उद्‌गम—

चूँकि अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम विशेषत: बड़े-बड़े उद्योगों को ही ऋण देता है, जिनका स्वामित्व सार्वजनिक कम्पनियों तथा सहकारी समितियों के हाथों में है और इस प्रकार यह भारतीय उद्योग की सम्पूर्ण वित्तीय आवश्यकता (यह माध्यमिक तथा छोटे-छोटे पैमाने के उद्योगों और साझेदारी एवं निजी कम्पनियों को ऋण नहीं देता है) के दायित्त्व के वहन करने में असमर्थ है, अतएव यह आवश्यक समझा गया है कि विभिन्न राज्यों में भी वैसे ही वित्त निगमों की स्थापना हो। इसी हेतु संसद ने २८ दिसम्बर १९५१ को राज्य वित्त-प्रबन्ध निगम अधिनियम पास किया, जिसके अनुसार राज्य सरकारों को अपने-अपने राज्य में वित्त-प्रबन्ध निगम स्थापित करने का अधिकार मिल गया। इस अधिनियम की बहुत-सी बातें अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम अधिनियम, १९४८ से मिलती-जुलती हैं। केवल निम्न तीन बातों में भिन्नता है :— (१) औद्योगिक इकाइयों की परिभाषा को विस्तृत कर दिया गया है और इसके अन्तर्गत निजी कम्पनियाँ, साझेदारी एवं यहाँ तक कि एकल व्यापार (Sole Trader) संस्थायें आती हैं। (२) जन-साधारण और बैंक, जो अनुसूचित नहीं हैं, राज्य वित्त निगम के अंशों को खरीद सकते हैं। (३) राज्य वित्त-निगम केवल २० वर्ष के लिये ऋण दे सकता है।

राज्य वित्त निगम की पूँजी—

प्रत्येक राज्य वित्त निगम की पूँजी सम्बन्धित राज्य सरकारों द्वारा निश्चित की जाती है, जो कम से कम ५० लाख रु० तथा अधिक से अधिक ५ करोड़ रु० हो सकती है। जनता उस पूँजी का केवल २५% भाग (अर्थात् १/४ भाग) क्रय कर सकती है और शेष भाग राज्य सरकार, रिजर्व बैंक, अनुसूचित बैंक, बीमा कम्पनियाँ तथा अन्य इसी प्रकार की संस्थायें क्रय कर सकती हैं। राज्य सरकार द्वारा निर्धारित शर्तों पर मूलधन के पुन: भुगतान तथा वार्षिक लाभांश की गारण्टी दी जाती है। लाभांश ५% से अधिक नहीं दिया जा सकता है और शेष भाग राज्य सरकार को दे दिया जाता है। ऋण-पत्रों एवं बन्धों (Debentures and Bonds) का निर्गमन किया जा सकता है, किन्तु इस प्रकार प्राप्त किये गये ऋण की राशि संचित कोष के ५ गुने से अधिक नहीं हो सकती है। निगम जन-निक्षेप (Public Deposits) भी स्वीकार कर सकता है, किन्तु इकाई अवधि कम से कम ५ वर्ष के लिये होनी चाहिये। ऐसे जन-निक्षेप की कुल राशि निगम की चुकता पूँजी (Paid-up Capital) से अधिक नहीं होनी चाहिये।

राज्य वित्त निगम का प्रबन्ध—

प्रत्येक राज्य वित्त निगम के प्रबन्ध के लिए १० सदस्यों की एक संचालक सभा

Board of Directors) होगी, जिसके सदस्यों का चुनाव निम्न प्रकार से होगा :—(१) राज्य सरकार द्वारा मनोनीत ३, (२) रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत १, (३) अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम द्वारा मनोनीत १, (४) राज्य सरकार द्वारा निर्वाचित प्रबन्ध संचालक १, (५) अनुसूचित बैंक द्वारा निर्वाचित १, (६) सहकारी बैंक द्वारा निर्वाचित १, (७) अन्य आर्थिक संस्थाओं द्वारा निर्वाचित १, तथा (८) अन्य अशधारियों द्वारा निर्वाचित १।

उपर्युक्त संचालक सभा के अतिरिक्त एक कार्यकारिणी समिति (Executive Committee) भी होगी, जिसमें चार सदस्य होंगे। प्रबन्ध संचालक समिति का अध्यक्ष होगा और तीन सदस्य संचालकों में से होंगे। निगम का मुख्य कार्यालय राज्य सरकार की इच्छानुसार किसी भी स्थान पर शुरू किया जा सकता है।

राज्य वित्त निगमों के कार्य—

राज्य (प्रान्तीय) निगम निम्न कार्य कर सकते हैं :—(१) औद्योगिक संस्थाओं को अधिकतम् २० वर्ष की अवधि के दिये ऋण देना एवं उनके निर्गमित २० वर्ष की अवधि के ऋण-पत्रों को खरीदना। (२) औद्योगिक संस्थाओं के स्कन्ध, अश, बन्ध अथवा ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना। (३) अभिगोपन के कार्य की एवज में कमीशन (Commission) लेना। (४) औद्योगिक संस्थाओं के अश एवं ऋण-पत्र इत्यादि का अभिगोपन करना। इस जिम्मेदारी के कारण रहने वाले अंश एवं ऋण-पत्र इत्यादि का समावेश इसकी सम्पत्ति में हो सकता है, परन्तु उनको ७ वर्ष के अन्दर जनता को बेच देना होगा। (५) अन्य कार्य जो सरकार द्वारा सौंपा जाय।

निषेध कार्य— राज्य वित्त निगम निम्नलिखित कार्य नहीं कर सकते हैं :—(१) किसी औद्योगिक इकाई को अपनी चुकता पूँजी क १०% भाग अथवा १० लाख रुपये; जो भी कम हो, से अधिक का ऋण देना। (२) पाँच वर्ष से कम अवधि के लिये जन-निक्षेप स्वीकार करना। (३) चुकता पूँजी से अधिक की जमा प्राप्त करना। (४) अपने अशों की प्रतिभूति पर ऋण देना। (५) प्रत्यक्ष रूप से किसी भी सीमित दायित्व वाली कम्पनी अथवा औद्योगिक इकाई के अंश एवं स्कन्ध (Shares and Stocks) क्रय करना। (६) बिना केन्द्रीय सरकार की अनुमति के अपने अंशों पर लाभांश घोषित करना।

प्रगति का अवलोकन (१९७१-७२)—

राज्य वित्त निगम अधिनियम, १९५१ के पास होने से लेकर ३१ मार्च सन् १९७२ तक कुल मिलाकर १८ राज्य वित्त निगम स्थापित हो चुके हैं। इन १८ राज्य वित्त निगमों के सम्बन्ध में अब तक के उपलब्ध आंकड़े इस प्रकार हैं :—

वित्तीय साधन—राज्य वित्त निगमों के वित्तीय साधन निम्नलिखित हैं :—

(१) **अंश पूँजी**—राज्य वित्त निगम अधिनियम के अन्तर्गत राज्य वित्त निगमों के अधिकृत अंश पूँजी की न्यूनतम सीमा ५० लाख रु० तथा अधिकतम सीमा ५ करोड़ रुपये निर्धारित की गई। ३१ मार्च सन् १९७२ को इन १८ वित्त निगमों की चुकता पूँजी २३·१६ करोड़ रु० थी।

(२) **बॉण्ड एवं ऋण-पत्र** (Bonds and Debentures)—निगम अपनी चुकता पूँजी तथा संचित कोष दोनों के योग के १० गुने तक बॉण्ड एवं ऋण-पत्र निर्गमित कर सकता है। ३१ मार्च सन् १९७२ तक १८ राज्य वित्त निगमों ने कुल मिलाकर ८२·०४ करोड़ रु० के बॉन्डों एवं ऋण-पत्रों का निर्गमन कर दिया था।

(३) **संचित कोष एवं आधिक्य** (Reserve and Surplus)—३१ मार्च सन् १९७२ को १७ राज्य वित्त निगमों के संचित कोष एवं आधिक्य कुल मिलाकर ५·९६ करोड़ रु० था।

(४) **ऋण-लेना** (Borrowing)—राज्य वित्त निगमों को औद्योगिक विकास बैंक, रिजर्व बैंक तथा राज्य सरकारों से ऋण लेने का भी अधिकार प्राप्त है। ३१ मार्च सन् १९७२ तक इन १८ राज्य निगमों ने इनसे निम्न प्रकार ऋण ले रखा था :—

(अ) औद्योगिक विकास बैंक से ऋण	४२·९६ करोड़ रु०
(ब) रिजर्व बैंक से ऋण	४·६८ ,, ,,
(स) राज्य सरकारों से ऋण	३·२८ ,, ,,
योग	५०·९२ करोड़ रु०

(५) **ऋण सम्बन्धी क्रियायें**—३१ मार्च सन् १९७२ तक इन १८ राज्य वित्त निगमों ने कुल मिलाकर २८४·४७ करोड़ रु० (सकल राशि) के ऋण स्वीकृत किये थे, जबकि पिछले वर्ष तक केवल २२१·०७ करोड़ रु० के ही ऋण स्वीकृत हुए थे। सन् १९७१-७२ के वर्ष में इन १८ राज्य वित्त निगमों ने ६३·४ करोड़ रुपये के लिए स्वीकृति प्रदान की, जबकि गत वर्ष (१९७०-७१) में केवल ४९·०० करोड़ के ऋणों के लिए ही स्वीकृति प्रदान की गई थी। इस प्रकार गत वर्ष की तुलना में चालू वर्ष में १८ राज्य निगमों की प्रगति अधिक सन्तोषजनक रही है।

(६) **गारण्टी एवं अभिगोपन का कार्य** (Guarantee and Undertaking)—३१ मार्च, १९७२ को समाप्त होने वाले वर्ष में इन १८ राज्य वित्त निगमों ने कुल मिलाकर केवल ६·५७ करोड़ रु० का गारण्टी एवं अभिगोपन का कार्य किया, जबकि गत वर्ष (१९७०-७१) में ७·०५ करोड़ रु० की गारण्टी एवं अभिगोपन का कार्य किया गया था।

राज्य वित्त निगमों की आलोचनायें, कठिनाइयाँ तथा सुझाव—

मद्रास राज्य में हुए राज्य वित्त निगमों के आठवें वार्षिक सम्मेलन की सिफारिश पर, जून सन् १९६२ को सर्वश्री के० सी० मित्रा की अध्यक्षता में एक दस सदस्यों का कर्मचारी समूह (Working Group) नियुक्त किया गया था। इस समूह ने अपनी रिपोर्ट ६ फरवरी, १९६४ को रिजर्व बैंक के समक्ष प्रस्तुत की थी। इस रिपोर्ट में राज्य वित्त निगमों की कार्य-विधि तथा प्रगति का आलोचनात्मक अध्ययन किया गया था तथा इस सम्बन्ध में कई महत्त्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तुत किये गये थे। कार्यकारी समूह की दृष्टि में राज्य वित्त निगमों की कार्य-विधियों में कुछ सुधार अवश्य हुआ है, किन्तु फिर भी इनकी स्थिति सन्तोषजनक नहीं है। इसका मुख्य कारण इनके मार्ग में आने वाली अनेक कठिनाइयों का होना है। इन्हीं कठिनाइयों के कारण राज्य वित्त निगम पर्याप्त प्रगति नहीं कर पाये हैं तथा इनकी आलोचनायें होती हैं। समूह ने अपनी रिपोर्ट में राज्य वित्त निगमों की आलोचनाओं तथा कठिनाइयों का विवेचन इस प्रकार किया था :—

१८ राज्य वित्त निगमों के सम्बन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण आँकड़े[1]
(Selected Financial Data of 18 State Financial Corporations)

[स्थापना की तिथि से ३१ मार्च, १९७१ तक के आँकड़े]

(करोड़ रुपये में)

मद	स्थापना की तिथि	चुकता पूंजी	स्वीकृत राशि			वितरित राशि		
			१९७०-७१ में	१९६९-७० में	कुल योग	१९७०-७१ में	१९६९-७० में	कुल योग
१. आन्ध्र प्रदेश वित्त निगम	१९५६	१·५०	३·०२	२·१३	१६·१८	२·०२	१·०२	१३·३६
२. आसाम वित्त निगम	१९५४	१·००	०·१६	०·२८	७·०९	०·२१	० ३५	६·६०
३. बिहार वित्त निगम	१९५५	१·००	१·१०	०·५५	६·७२	०·७५	०·४२	५·९४
४. देहली वित्त निगम	१९६७	०·५०	२·१८	१·००	६·१२	१·५०	०·८०	४·३४
५. गुजरात वित्त निगम	१९६०	१·५०	६·२१	५·९५	२१·०७	५·५०	३·४५	१७·०२
६. हरियाणा वित्त निगम	१९६७	१·००	२·२५	१·४१	१२·४६	१·१०	१·१३	९·९७
७. हिमाचल प्रदेश वित्त निगम	१९६७	०·५०	०·३८	०·३१	१·२४	०·५४	०·०८	०·८३
८. जम्मू एण्ड कश्मीर वित्त निगम	१९६०	० ७७	१·५३	०·८८	४·६३	१·२८	०·७४	४·१३
९. केरल वित्त निगम	१९५३	१·००	२·०१	१·२४	१०·१३	१·३२	१·१६	८·१९
१०. मध्य प्रदेश वित्त निगम	१९५५	१·००	०·६६	०·९५	९·७४	०·७८	०·७९	८·५८
११. महाराष्ट्र वित्त निगम	१९६२	०·७५	११·६८	८·२२	४५·२३	८·२६	४·४०	३४·५०
१२. मैसूर वित्त निगम	१९५९	१·००	३·०२	१·६४	१२·५५	१·८५	१ ३५	९·७४
१३. उड़ीसा वित्त निगम	१९५७	१·००	०·७८	०·५०	५·१०	०·३०	०·४५	४·२५
१४. पंजाब वित्त निगम	१९५३	१·७५	१·९३	१·१४	९·०४	०·०३	०·९३	७·५४
१५. राजस्थान वित्त निगम	१९५५	१·००	२·५५	१·६३	१०·४३	१·३३	१·००	७·९८
१६. उत्तर प्रदेश वित्त निगम	१९५५	१·८५	— ±	४·१७	— ±	— ±	१·५९	—
१७. पश्चिम बंगाल वित्त निगम	१९५४	१·००	१·१०	०·९२	१३·५७	०·६४	०·६५	११·२७
१८. तमिलनाडु वित्त निगम	१९४९	३·००	१·६९	१·३५	२९·१२	२·३५	१·४५	२३·०३
कुल योग		२१·१२	४२·१३	३४·५७	२२१·०७	३०·८४	२१·७६	१७७·२९

1 *Source* : Economic Times, November 27, 1971.

± Figures not available in the Report.

(१) राज्य वित्त निगम भारतीय औद्योगिक विकास में अपना योग देने में असफल रहे हैं। कुछ अपवादों को छोड़कर राज्य वित्त निगमों ने नवीन उद्योगों के प्रति तो पूर्ण निराशा की नीति ही अपनाई है। इसका मुख्य कारण विभिन्न राज्यों में नवीन उद्योगों के विकास हेतु समानान्तर सुविधाओं का अभाव होना है।

(२) राज्य वित्त निगमों के पास तान्त्रिक कुशल व्यक्तियों का भारी अभाव है। अतएव ऋण लेने वाले उद्योगों, मुख्यतः नवीन उद्योगों की वास्तविक स्थिति का ज्ञान प्राप्त करना कठिन हो जाता है।

(३) अप्रैल, १९६२ में हुए संशोधन के अनुसार राज्य वित्त निगमों को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि वे एक साथ १० लाख रुपये के स्थान पर २० लाख रुपये तक का ऋण दे सकते हैं। इस सुविधा से लाभ उठाकर राज्य वित्त निगमों ने मुख्यतः बड़े-बड़े उद्योगों का पर्याप्त मात्रा में ऋण दिये हैं, जबकि इनकी स्थापना का मुख्य उद्देश्य छोटे तथा मध्यम श्रेणी के उद्योगों को ही ऋण देना था।

(४) राज्य वित्त निगमों की सामूहिक प्रगति बहुत ही धीमी रही है।

(५) राज्य वित्त निगमों की कार्य-पद्धति अपेक्षाकृत बहुत ही जटिल है। ऋण स्वीकार करने और उनके वितरण करने में भारी अन्तर विद्यमान है।

(६) कार्यकारी समूह की दृष्टि में राज्य वित्त निगमों के कर्मचारियों के प्रशिक्षण की ओर अब तक कोई ध्यान नहीं दिया गया है।

(७) निगमों की लाभांश दर ३ से ४% तक रही है। लाभांश की इस नीची दर के कारण ही राज्य वित्त निगम जनता से पर्याप्त निक्षेप प्राप्त करने में असमर्थ रहे हैं।

(८) राज्य वित्त निगम भारी कर-भार से पीड़ित हैं। परिणामस्वरूप, ये अपने यहाँ पर्याप्त संचित कोष स्थापित नहीं कर पाये हैं।

(९) राज्य वित्त निगमों के पास पूँजी का भारी अभाव रहा है। यह इनकी प्रगति में सबसे महत्त्वपूर्ण बाधा रही है।

(१०) निगमों की कार्यवाही अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित उद्योगों तक ही सीमित रही है और इस प्रकार इन्होंने जोखिम से सदैव बचने की ही कोशिश की है।

(११) ऋण लेने वाली संस्थाओं की सही आर्थिक स्थिति का पता लगाना अत्यन्त कठिन कार्य होता है।

(१२) ऋण लेने वाली संस्थाओं के पास प्रायः पर्याप्त प्रतिभूति का अभाव रहता है।

कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव—

राज्य वित्त निगमों की उपरोक्त आलोचनाओं तथा कठिनाइयों की ओर ध्यान आकर्षित करने के पश्चात् कार्यकारी समूह ने अपनी विस्तृत रिपोर्ट में अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव भी प्रस्तुत किये थे। ये सुझाव निम्नलिखित थे :—

(१) राज्य वित्त निगमों, औद्योगिक वित्त निगम, औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम की क्रियाओं में समन्वय स्थापित किया जाय। इसके लिये यह आवश्यक है कि प्रत्येक का एक निश्चित कार्यक्षेत्र निर्धारित किया जाय तथा दूसरे को उसमें किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप करने का अधिकार न हो।

(२) राष्ट्रीय लघु-उद्योग निगम को चाहिये कि वह किस्तों पर मशीन व यन्त्रों के दिलाने के कार्य को राज्य वित्त निगमों को सौंप दे।

(३) राज्य वित्त निगम तथा औद्योगिक साख तथा विनियोग निगम को विदेशी

विनिमय की एक निश्चित राशि से कम के प्रार्थनापत्रों पर विचार नहीं करना चाहिये। इसके अतिरिक्त राज्य वित्त निगमों हेतु सरकार द्वारा विदेशी विनिमय के साधन उपलब्ध किये जाने चाहिए। दूसरे शब्दों में, राज्य वित्त निगमों को विदेशी विनिमय का कार्य करने का अधिकार मिलना चाहिए।

(४) राज्य वित्त निगमों की सेवाओं के विषय में आवश्यक जानकारी का प्रसार होना चाहिये, ताकि अधिक से अधिक उद्योग इससे लाभ उठा सकें।

(५) लघु उद्योगों को दिये गये ऋणों की गारण्टी की व्यवस्था होनी चाहिए।

(६) राज्य वित्त निगमों हेतु अधिकाधिक मात्रा में तान्त्रिक कुशल व्यक्ति उपलब्ध किये जायें। इस सम्बन्ध में समूह का अल्पकालीन सुझाव यह है कि विभिन्न उद्योगों में नियुक्त इन्जीनियर्स, औद्योगिक अर्थशास्त्री आदि की एक सूची बनाई जानी चाहिए तथा उचित पारिश्रमिक देकर उनकी सेवाओं से लाभ उठाया जा सकता है, किन्तु समस्या के स्थायी हल के लिये यह आवश्यक है कि अखिल-भारतीय स्तर पर तान्त्रिक एवं आर्थिक विशेषज्ञों का संगठन किया जाय।

(७) राज्य वित्त निगमों की कार्यक्षमता में वृद्धि हेतु यह नितान्त आवश्यक है कि इनके कर्मचारियों के आवश्यक प्रशिक्षण पर जोर दिया जाय।

(८) छोटे तथा मध्यम श्रेणी के उद्योगों के विकास हेतु राज्य वित्त निगमों को विकास बैंकों के रूप में परिणत किया जाना चाहिए।

(९) कार्यकारी समूह की राय में यदि राज्य वित्त निगम अपने कारोबार का विस्तार करना चाहते हैं, तो उन्हें अपनी पूंजी की मात्रा में वृद्धि करनी होगी। इसके लिये समूह ने निम्नलिखित सुझाव दिये हैं :—(अ) लाभांश की दर में वृद्धि होनी चाहिए, ताकि जनता से अधिकाधिक मात्रा में निक्षेप प्राप्त किये जा सकें। (ब) निगमों द्वारा निर्गमित निक्षेप रसीदों को बिना मुद्रांक-कर के हस्तान्तर करने की सविधा उपलब्ध होनी चाहिए। (स) राज्य वित्त निगमों को अपनी निर्गमित एवं जमा पूंजी (Issued and Paid-up capital) से दुगुनी तक निक्षेप (Deposits) स्वीकार करने का अधिकार मिलना चाहिये। (द) राज्य वित्त निगमों द्वारा निर्गमित ऋण-पत्र तथा बॉण्ड को अधिक लोकप्रिय बनाने हेतु यह आवश्यक है कि (i) उनकी अवधि अपेक्षाकृत कम हो, (ii) सरकार प्रॉवीडेन्ट फण्ड का कुछ रुपया उनमें विनियोग करे, (iii) बॉण्ड से प्राप्त आय आय-कर से मुक्त हो, तथा (iv) इनके द्वारा निर्गमित ऋण-पत्रों तथा बॉण्डों को प्रॉवडेण्ट फण्ड के लिए मान्य प्रतिभूति माना जाय।

(१०) राज्य वित्त निगमों को अन्य औद्योगिक संस्थाओं (अर्थात् राज्य वित्त निगम तथा औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम) के सहयोग से औद्योगिक प्रतिभूतियों एवं ऋण-पत्रों में अपने धन का विनियोग करना चाहिए। इस कार्य हेतु राज्य वित्त निगम अधिनियम में आवश्यक संशोधन किया जाना चाहिये।

(११) समूह की राय में ऋण के लिए प्रार्थना-पत्रों पर विचार करते समय किसी भी औद्योगिक इकाई की, मुख्यत: नवीन औद्योगिक इकाई के पास, उपलब्ध प्रतिभूति के स्थान पर उसके लाभ कमाने की क्षमता, योजना तथा उसकी प्रबन्ध-व्यवस्था पर अधिक बल दिया जाना चाहिये। इसके लिये राज्य वित्त निगम अधिनियम की धारा २५ (२) में आवश्यक संशोधन किये जाने चाहिये।

(१२) राज्य वित्त निगमों के विशेष संचित कोषों पर कर की छूट की दर १० प्रतिशत के स्थान पर २५ प्रतिशत होनी चाहिये। इससे इनकी आर्थिक स्थिति अधिक सुदृढ़ हो सकेगी।

(१३) आर्थिक सहायता देने के साथ-साथ योजनाओं को बनाने तथा कार्यान्वित करने में भी निगमों को सहायता करनी चाहिये।

(१४) राज्य वित्त निगमों को अपना अभिगोपन कार्य बढ़ाना चाहिए।

कुछ राज्यों के वित्त निगमों का संक्षिप्त विवरण

उत्तर प्रदेशीय औद्योगिक वित्त निगम—

उत्तर प्रदेशीय औद्योगिक वित्त निगम की कुछ विशेषताएं (Some Characteristics of U. P. Industrial Finance Corporation)—(१) **निगम की स्थापना**—सन् १९५१ में केन्द्रीय सरकार द्वारा पास किये गये राजकीय वित्त निगम एक्ट के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश में एक वित्त निगम की स्थापना हुई, जिसने २१ जनवरी, १९५५ से कार्य आरम्भ कर दिया। इस निगम का प्रधान कार्यालय कानपुर में है। (२) **उद्देश्य**—इस निगम का उद्देश्य राज्य के मध्यम श्रेणी के तथा छोटे-छोटे उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करना है। ये मुख्यतः यन्त्रों व मशीनों को खरीदने तथा उद्योगों के नवीनीकरण व आधुनिकीकरण के लिए अर्थ-सहायता प्रदान करते हैं। निगम से सहायता व शक्ति केवल वे उद्योग प्राप्त कर सकते हैं जिन्हें भारतीय औद्योगिक वित्त निगम (केन्द्रीय निगम) से सहायता नहीं मिल सकती है। इस तरह निगम से सहायता या तो व्यक्ति या छोटी-छाटी सहकारी समितियाँ किसी उपयोगी कुटीर-उद्योग-धन्धे को चलाने अथवा इसके प्रसार के लिए प्राप्त कर सकती हैं। (३) **पूँजी व लाभांश**—उत्तर प्रदेशीय वित्त निगम की अधिकृत पूँजी ३ करोड़ रुपये है, जो १००-१०० रुपये के पूर्ण भुगतान (Fully Paid-up) वाले तीन लाख अंशों में विभाजित कर दी गई है। आरम्भ में केवल ४० हजार अंश ५० लाख रुपये के बेचे गये हैं और शेष ५० लाख रुपये के ५० हजार अंश प्रान्तीय सरकार जब चाहे तब और जिस प्रकार उचित समझे, बेच सकेगी। इस निगम के वर्तमान ५० हजार अंशों का वितरण इस प्रकार है—सरकार १८,०००; रिजर्व बैंक ७,५००; अनुसूचीबद्ध बैंक्स १४,०००; सहकारी बैंक्स ३,०००; ट्रस्ट तथा अन्य आर्थिक संस्थाएं २,५०० तथा व्यक्तिगत व वित्तीय संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य संस्थाएं ५,००० (कुल योग ५०,००० अंश)। राज्य सरकार ने अंशों के मूलधन तथा कम से कम ३½% ब्याज की दर (कर-मुक्त) की गारण्टी दी है। (४) **प्रबन्ध**—इस निगम का प्रबन्ध १० सदस्यों के संचालक मण्डल (Board of Directors) द्वारा सम्पन्न किया जायेगा। (५) **ऋण**—निगम से सहकारी समितियों को अधिक से अधिक ५,००० रुपये की तथा सहकारी समितियों को अधिक से अधिक १०,००० रुपये की आर्थिक सहायता मिल सकती है। ऋणों का भुगतान किस्तों में किया जा सकता है। ऋण की अधिक से अधिक अवधि २० वर्ष है।

सन् १९६९-७० के वर्ष में की गई प्रगति का अवलोकन—३१ मार्च सन् १९७० को उत्तर-प्रदेश औद्योगिक वित्त निगम ने अपनी १५वीं वर्षगाँठ पूरी की। इस तिथि को इसकी कुल पूँजी १८५ लाख रुपये थी। इस वर्ष इसकी सकल आय (Gross Income) ४२·२ लाख रुपये थी, जबकि गत वर्ष (१९६८-६९) में आय केवल ३८·२ लाख रु० ही थी। उत्तर-प्रदेश औद्योगिक वित्त निगम ने विभिन्न औद्योगिक इकाइयों के लिए अब तक १४·५९ करोड़ रु० के ऋणों की स्वीकृति प्रदान की, जबकि गत वर्ष तक केवल १०·४२ करोड़ रु० के ऋणों के लिए ही स्वीकृति प्रदान की गई थी। इसमें से ७·५७ करोड़ रु० वितरित किये गये, जबकि गत वर्ष (१९६८-६९) तक ५·९८ करोड़ रु० ही वितरित किये जा चुके थे। निगम '**सुलभ ऋण योजनाओं**' के अन्तर्गत उत्तर प्रदेश औद्योगिक निदेशालय से ऋण हेतु प्राप्त होने वाले आवेदन-पत्रों के लिए राज्य सरकार के एजेण्ट के रूप में भी कार्य करता है। ये योजनायें छोटे आकार वाली औद्योगिक इकाइयों को ऋण देने के लिए चालू की गई हैं। ३१ मार्च, १९७० को समाप्त होने वाले

वित्तीय वर्ष में उत्तर प्रदेश वित्त निगम ने ४·१७ करोड़ रु० के ऋणों पर स्वीकृति प्रदान की तथा इसमें से १·५६ करोड़ रु० की राशि वितरित की।

राजस्थान औद्योगिक वित्त निगम

राजस्थान औद्योगिक वित्त निगम की मुख्य बातें (Salient Features of the Rajasthan State Finance Corporation)—ये इस प्रकार हैं—(१) **निगम की स्थापना**—केन्द्रीय सरकार द्वारा सन् १९५१ में बनाये गये एक्ट के अन्तर्गत राजस्थान सरकार ने जनवरी सन् १९५५ में राजस्थान के औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना की, जिसने उसी वर्ष अप्रैल में अपना कार्य आरम्भ कर दिया। ३१ मार्च, १९७२ को राजस्थान वित्त निगम ने १७ वर्ष पूरे कर लिये। (२) **उद्देश्य**—अन्य राज्यों के निगम की तरह इस निगम की भी स्थापना का उद्देश्य राजस्थान में मध्यम श्रेणी व छोटे-छोटे उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करना है, ताकि देश में इस प्रकार के उद्योगों का समुचित विकास हो सके। (३) **पूँजी**—इस निगम की अधिकृत पूँजी दो करोड़ रुपये है, जिसे १००-१०० रु० के २ लाख अंशों में बाँटा गया है। प्रारम्भ में केवल १ लाख अंशों को ही निर्गमित किया गया था, जिनका वितरण इस प्रकार किया गया था—सरकार ३६,०००, रिजर्व बैंक १५,०००, अनुसूचीबद्ध बैंक्स, बीमा कम्पनियाँ, ट्रस्ट तथा सहकारी बैंक्स ४४,००० तथा अन्य आर्थिक संस्थायें ५,००० (कुल योग १ लाख अंश)। निगम में इस प्रकार की व्यवस्था कर दी गई है कि व्यक्ति व वित्तीय संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य संस्थायें कुल अंशों के २५% से अधिक के अंशधारी नहीं हो सकते हैं। सरकार ने मूलधन तक कम से कम ३½% ब्याज की दर की गारण्टी की है। ३१ मार्च, १९७२ को इसकी पूर्णदत्त पूँजी १ करोड़ रु० थी। (४) **प्रबन्ध**—निगम का प्रबन्ध एक १० सदस्यों के संचालक मण्डल (Board of Directors) द्वारा किया जाता है, जिसमें एक अध्यक्ष, १ प्रबन्ध संचालक तथा ८ अन्य सञ्चालक हैं। इन अन्य सञ्चालकों में १ रिजर्व बैंक तथा एक भारतीय औद्योगिक वित्त निगम का प्रतिनिधि भी सम्मिलित है। (५) **ऋण**—निगम उन व्यक्तियों, फर्मों, कम्पनियों तथा संस्थाओं को वित्त सहायता देगा जो किसी वस्तु का निर्माण, खनिज कार्य, विद्युत शक्ति का निर्माण व वितरण-वस्तु का संरक्षण आदि करती हैं। ऋण की रकम १०,००० रुपये से १० लाख रुपये तक हो सकती है। यद्यपि प्रत्येक ऋण की अवधि प्रमण्डल स्वतः ही निश्चित करेगा, परन्तु साधारणतया यह अवधि १०-१२ वर्ष से अधिक नहीं होती है। सन् १९६६-६७ के वर्ष में ऋणों पर ब्याज की दर में आधे प्रतिशत की वृद्धि कर दी गई। इस प्रकार राजस्थान वित्त निगम की दर ८½% से बढ़ाकर ९% कर दी गई, परन्तु निश्चित समय पर ऋण के वापस हो जाने पर इसमें ½ प्रतिशत की छूट दे दी जाती है। ऋण समुचित जमानत के आधार पर दिये जाते हैं। यह अचल सम्पत्ति जैसे—भूमि, इमारत, मशीन आदि की आड़ पर ऋण देता है और कच्ची सामग्री व माल (कच्चा व पक्का दोनों) की जमानत पर ऋण नहीं देता है। ऋण देने के बदले में यह ऋणी कम्पनी के सञ्चालक मण्डल में अपना एक सञ्चालक नियुक्त करता है, कम्पनी के बीमे की माँग करता है, ऋण के भुगतान होने तक लाभांश पर प्रतिबन्ध लगाता है, कम्पनी के हिसाब-किताब की जाँच करने का अधिकार प्राप्त करता है।

प्रगति का अवलोकन (३१ मार्च, १९७२ तक)—राजस्थान वित्त निगम ने ३१ मार्च, १९७२ तक ऋणों एवं अंशों के अभिगोपन के रूप में कुल मिला कर ७·०२ करोड़ रुपये का वितरण किया। अब तक जिला स्तर पर ऋणों के रूप में स्वीकृत राशि का प्रतिशत अग्र प्रकार रहा है।

जिला का नाम	विभिन्न ऋणों के रूप में स्वीकृत राशि का प्रतिशत
जयपुर	४३·३७
कोटा	११·६७
अजमेर	६·५६
भीलवाड़ा	७·०८
सवाई माधोपुर	५·१४
उदयपुर	४·६४
अन्य	१८·३१

मध्य प्रदेश औद्योगिक वित्त निगम (Madhya Pradesh Financial Corporation)—

(१) **निगम की स्थापना**—निगम की स्थापना ३० जून, १९५५ को की गई थी। १ नवम्बर, १९५६ को मध्य प्रदेश बनने से निगम का नाम मध्य प्रदेश वित्त निगम रख दिया गया।

(२) **उद्देश्य**—अन्य निगमों की भाँति मध्य प्रदेश वित्त निगम का उद्देश्य भी राज्य के छोटे तथा मध्यम श्रेणी के उद्योगों को आर्थिक सहायता देना है।

(३) **पूँजी**—निगम की अधिकृत पूँजी २ करोड़ रुपये है, जो कि १००-१०० रुपये के २ लाख अंशों में विभाजित है। ३१ मार्च, १९७१ को इसकी चुकता पूँजी १ करोड़ रु० थी।

(४) **प्रबन्ध**—निगम का प्रबन्ध संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है, जिसमें कि १० संचालक हैं।

निगम के कार्य—(i) निगम उन व्यक्तियों, फर्मों, सहकारी समितियों, संयुक्त हिन्दू परिवार, निजी (Private) और सार्वजनिक कम्पनियों को वित्त सहायता देगा जो किसी वस्तु का निर्माण, खनिज कार्य, विद्युत शक्ति का निर्माण व वितरण, वस्तु का संरक्षण आदि करती हैं। (ii) उपरोक्त संस्थाओं की गारण्टी देना। (iii) ऋण-पत्रों का अभिगोपन करना जो कि ७ वर्षों में इस निगम को विक्रय कर देने होंगे। (iv) केन्द्रीय, राज्य सरकार तथा औद्योगिक वित्त निगम के रूप में कार्य करना।

ऋण की राशि—निगम प्रारम्भ में तो २० हजार रु० तक कम से कम ऋण देता था परन्तु बाद में छोटे-छोटे उद्योगों को ऋण देने की दृष्टि से कम से कम १० हजार रु० तक ऋण राशि कर दी।

ऋण की जमानत—ऋण समुचित जमानत के आधार पर दिये जाते हैं। यह अचल सम्पत्ति जैसे भूमि, इमारत, मशीन आदि की आड़ पर ऋण देता है और कच्ची सामग्री व माल (कच्चा व पक्का दोनों) की जमानत पर ऋण नहीं देता। व्यक्तिगत जमानत व अन्य जमानत पर भी निगम ऋण देता है।

ब्याज की दर—निगम की ब्याज की दर ९ प्रतिशत है। ब्याज एवं ऋण की किस्तें समय पर जमा करने वालों को आधे प्रतिशत की ब्याज से छूट की सुविधा दी जाती है।

सन् १९७०-७१ में की गई प्रगति का अवलोकन—३१ मार्च सन् १९७१ को निगम ने अपनी १६वीं वर्षगाँठ पूरी की। सन् १९७०-७१ के वर्ष में निगम ने ६६ लाख रुपये के ऋणों के लिये स्वीकृति प्रदान की, जबकि पिछले वर्ष में ९५ लाख रुपये के ऋणों के लिए स्वीकृति प्रदान की गई थी। सन् १९७०-७१ के वर्ष में ७८ लाख रुपये वितरित किये गये, जबकि पिछले वर्ष में

७६ लाख रुपये वितरित किये गये थे। सन् १९७०-७१ के वर्ष तक निगम की सकल आय ५४·३ लाख रुपये (पिछले वर्ष में ४९·८ लाख रुपये) थी। सन् १९७०-७१ के वर्ष तक मध्य प्रदेश वित्त निगम ने १४·९ लाख रु० का शुद्ध लाभ कमाया, जबकि गत वर्ष केवल १७ लाख रुपये का शुद्ध लाभ कमाया था। अपनी स्थापना की तिथि से अब तक (१९७०-७१) मध्य-प्रदेश वित्त निगम कुल मिलाकर ९·७४ करोड़ रुपये के ऋणों की स्वीकृति प्रदान कर चुका था, जिसमें से ८·५८ करोड़ रुपये की राशि का वितरण किया जा चुका था।

देहली राज्य औद्योगिक वित्त निगम (Delhi State Industrial Finance Corporation)—

महत्त्वपूर्ण विशेषतायें (Salient Features)—(१) **स्थापना**—सन् १९५१ में केन्द्रीय सरकार द्वारा पारित किये गये राजकीय वित्त निगम अधिनियम के अन्तर्गत सन् १९६७ में देहली राज्य औद्योगिक वित्त निगम की स्थापना की गई थी। (२) **उद्देश्य**—इस वित्त निगम का उद्देश्य देहली राज्य के मुख्यतः छोटे एवं मध्यम श्रेणी के उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करना है, ताकि ये उद्योग विकसित हो सकें। (३) **पूँजी एवं ऋण**—३१ मार्च, १९७१ तक देहली वित्त निगम की निर्गमित एवं पूर्णदत्त पूँजी ५० लाख रु० थी। इसी तिथि को इसकी संचित राशि २·८८ लाख रु० थी। ३१ मार्च, १९७१ तक निगम ने भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से १·१२ करोड़ रु० का ऋण ले रखा था। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया से इसने अब तक ७·९५ लाख रु० का ऋण ले रखा है। (४) **संचालन**—इसका संचालन १० संचालकों के संचालक मण्डल द्वारा होता है।

निगम द्वारा की गई प्रगति का अवलोकन (१९७०-७१)—सन् १९७०-७१ के वर्ष में निगम ने २·१८ करोड़ रु० के ऋण के लिए स्वीकृति प्रदान की, जब कि गत वर्ष (१९६९-७०) में केवल १ करोड़ रु० के ऋण देने के लिए स्वीकृति प्रदान की थी। स्थापना की तिथि से अब तक (३१ मार्च, १९७१ तक) देहली वित्त निगम ६·१२ करोड़ रु० के ऋणों के लिए स्वीकृति प्रदान कर चुका है। अब तक निगम को ८·७४ करोड़ रु० के ऋणों के लिए आवेदन-पत्र प्राप्त हो चुके हैं। सन् १९७०-७१ के वर्ष में निगम ने १·५० करोड़ रु० के ऋण वितरित किये, जबकि गत वर्ष में केवल ८० लाख रु० की राशि ही वितरित की गई थी। ३१ मार्च, १९७१ तक निगम कुल मिलाकर ४·३४ करोड़ की राशि ऋणों के रूप में वितरित कर चुका था। सन् १९७०-७१ के वर्ष में निगम की सकल आय ७·६ लाख रु० थी। अब तक निगम २३·८ लाख रु० की सकल आय कर चुका है। सन् १९७०-७१ के वर्ष में निगम ने २·३ लाख रु० का लाभ कमाया। अब तक निगम ७·१ लाख रु० का लाभ कमा चुका है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गत वर्ष (१९६९-७०) की तुलना में सन् १९७०-७१ के वर्ष में निगम द्वारा की गई प्रगति अधिक सन्तोषजनक रही है।

हरियाणा राज्य औद्योगिक वित्त निगम—

कुछ महत्त्वपूर्ण बातें (Some Salient Features)—(१) **स्थापना**—हरियाणा राज्य वित्त निगम की स्थापना सन् १९६७ में राज्य वित्त निगम अधिनियम, १९५१ के अन्तर्गत की गई थी। (२) **आर्थिक साधन**—३१ मार्च, १९७१ को निगम की पूर्णदत्त पूँजी (Paid-up Capital) १ करोड़ रु० थी। इसके अतिरिक्त निगम ने औद्योगिक विकास बैंक से इसी तिथि तक ८३·८१ लाख रु० के ऋण ले रखे थे। इसके अतिरिक्त निगम रिजर्व बैंक एवं अन्य साधनों से भी ऋण प्राप्त करता है। (३) **संचालन**—हरियाणा राज्य वित्त निगम का संचालन एक संचालक मन्डल द्वारा होता है, जिसमें १० व्यक्ति हैं। (४) **उद्देश्य**—इस निगम का प्रमुख उद्देश्य राज्य में स्थित मध्यम एवं छोटे उद्योगों की आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति करना है।

निगम द्वारा की गई प्रगति का अवलोकन (१९७०-७१)—३१ मार्च, १९७१ को निगम ने अपनी चौथी वर्षगाँठ पूरी की। इस चार वर्ष की अवधि में निगम की प्रगति अन्य राज्य वित्त निगमों की तुलना में अधिक सन्तोषजनक रही है। ३१ मार्च, १९७१ तक हरियाणा वित्त निगम ने कुल मिलाकर (३१ मार्च, १९७१ तक) १२·४६ करोड़ रु० की आर्थिक सहायता प्रदान करने हेतु स्वीकृति प्रदान की थी। इसमें से ३१ मार्च, १९७१ तक ९·९७ करोड़ रु० की राशि का वितरण भी किया जा चुका था। हरियाणा राज्य वित्त निगम द्वारा की गई अब तक की प्रगति का अवलोकन निम्न तालिका द्वारा किया जा सकता है :—

(लाख रु० में)[1]

	मद का नाम	सन् १९७०-७१ के वर्ष में	स्थापना की तिथि से अब तक
१.	निगम द्वारा ऋणों की प्रभावित स्वीकृति (Effective Snactions of Loans)	२२५	१२४६
२.	वितरण की गई राशि (Amount Disbured)	११०	९९७
३.	सकल आय (Total Income)	४·३	५७·९
४.	सकल व्यय (Total Expenses)	५·४	३७·६
५.	लाभ (Profit)	१·१	२०·३
६.	अदत्त ऋण (Outstanding Loans)	४४	६५१

बिहार राज्य औद्योगिक वित्त निगम (Bihar State Industrial Finance Corporation)–

महत्त्वपूर्ण बातें (Salient Features)—(१) **स्थापना**—बिहार राज्य वित्त निगम की स्थापना सन् १९५५ में राज्य वित्त निगम, १९५१ के अन्तर्गत की गई थी। (२) **उद्देश्य**–राज्य वित्त निगम का प्रमुख उद्देश्य इस राज्य में स्थित छोटे एवं मध्यम श्रेणी के उद्योग-धन्धों को मध्यमकालीन आर्थिक सहायता प्रदान करना है। (३) **आर्थिक साधन**—३१ मार्च, १९७१ को निगम की पूर्णदत्त पूँजी १ करोड़ रु० थी। इसी तिथि को इसका संचित कोष ३·३६ लाख रु० था। इसके अतिरिक्त निगम भारतीय औद्योगिक विकास बैंक, रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया एवं अन्य साधनों से ऋण भी लेता है। ३१ मार्च, १९७१ तक निगम औद्योगिक विकास बैंक से २३·१३ करोड़ रु० का ऋण ले चुका था। इसी तिथि को यह रिजर्व बैंक से भी ३० लाख रु० का ऋण ले चुका था। (४) **प्रबन्ध**—निगम का प्रबन्ध करने के लिये एक संचालक मण्डल की स्थापना की गई है। इसकी सदस्य संख्या १० है।

निगम की क्रियाओं का अवलोकन (१९७१-७२)—गत वर्ष की तुलना में सन् १९७१-७२ में बिहार वित्त निगम की प्रगति अधिक सन्तोषजनक रही है। सन् १९७१-७२ के वर्ष में बिहार वित्त निगम ने २·८ करोड़ रु० की आर्थिक सहायता देने के लिये स्वीकृति प्रदान की, जबकि गत वर्ष में केवल १·१२ लाख रु० की आर्थिक सहायता देने के लिए ही स्वीकृति प्रदान की गई थी। इसी प्रकार १९७१-७२ के वर्ष में निगम ने १३९·४३ लाख रु० की राशि का राज्य में स्थित उद्योगों में वितरण किया, जबकि गत वर्ष १९७०-७१ में केवल ७४·८ लाख रु० की राशि ही वितरित की गई थी। बिहार राज्य वित्त निगम द्वारा की गई अब तक की प्रगति का अवलोकन अग्र तालिका से किया जा सकता है।

---

[1] *Source* : **The Economic Times 'Research Bureau,'** November 27, 1971.

(लाख रु० में)[1]

मद का नाम	सन् १९७१-७२ में	स्थापना की तिथि से अब तक
१. निगम द्वारा स्वीकृत आर्थिक सहायता	२८०.५१	९५२
२. निगम द्वारा वितरित धनराशि	१३९.४३	७३३
३. सकल आय की मात्रा	३.८	३२.४
४. लाभ	१४	

(II) औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम
(Industrial Credit & Investment Corporation)

स्थापना—भारत में अभी तक विशेषतः निजी क्षेत्र में औद्योगिक विकास के लिये विनियोग करने वाली संस्थाओं का अभाव था। इसको दूर करने के लिये ही अन्तर्राष्ट्रीय बैंक के तत्वावधान में **"औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम"** की स्थापना बम्बई में ५ जनवरी, १९५५ को सीमित दायित्त्व वाली निजी कम्पनी के रूप में की गई। यह निगम पूर्ण रूप से निजी व्यक्तियों के स्वामित्त्व एवं प्रबन्ध में है। वह निजी क्षेत्र के उद्योगों को ऋण देकर, ऋण की जमानत देकर तथा अंशों से अभिगोपन करके आर्थिक मदद करेगा।

उद्देश्य—निगम की स्थापना का मुख्य उद्देश्य भारत के निजी उद्योगों को सहायता देना है और यह सहायता निम्न रूप में दी जायेगी :—(१) निजी उद्योगों की स्थापना, विस्तार तथा नवीनीकरण में सहायता देना। (२) इन उपक्रमों में आन्तरिक तथा बाह्य निजी पूँजी के विनियोग तथा सहभागिता को प्रोत्साहन देना। (३) औद्योगिक विनियोगों में व्यक्तिगत स्वामित्त्व को प्रोत्साहन देना तथा विनियोग विपणि के क्षेत्र को बढ़ाना।

सहायता के रूप—ऊपर लिखे गये उद्देश्यों को पूरा करने के लिये सहायता निम्न रूप में दी जायेगी :—(१) उद्योगों को दीर्घकालीन एवं मध्यमकालीन आर्थिक सुविधायें देना अथवा उनके निर्गमित साधारण अंशों को खरीदकर प्रत्यक्ष रूप से भाग लेना। (२) अंशों तथा प्रतिभूतियों का अभिगोपन करना तथा अभिगोपन के कार्य को प्रोत्साहन देना। (३) अन्य व्यक्तिगत स्रोतों से प्राप्त ऋणों की जमानत देना। (४) चक्रित विनियोग द्वारा पुनः विनियोग के लिये पूँजी उपलब्ध कराना। (५) भारत के व्यक्तिगत उद्योगों को प्रबन्ध सम्बन्धी, तान्त्रिक तथा प्रशासकीय सलाह देना अथवा भारतीय उद्योगों को प्रबन्ध, तान्त्रिक तथा प्रशासन सम्बन्धी सेवाओं को प्राप्त करने में सहायता देना।

निगम के वित्तीय साधन (१९७१-७२)—निगम की वित्तीय व्यवस्था में विश्व बैंक इङ्गलैण्ड, अमेरिका तथा भारत का सहयोग है। इसके वित्तीय साधनों के स्रोत निम्नलिखित हैं :—

(१) **अंश पूँजी**—इसकी अधिकृत पूँजी २५ करोड़ रु० है, जो सौ-सौ रु० के ७.५० लाख साधारण अंशों तथा सौ-सौ रु० के १७.५० लाख अन्य प्रकार के अंशों में विभाजित है। इसमें में निगम ७.५ करोड़ रु० के सौ-सौ रुपये के ७,५०,००० सामान्य अंशों का अंकित मूल्य पर निर्गमन कर चुका है। ३१ मार्च, १९७२ को इसकी चुकता पूँजी १० करोड़ रु० थी।

(२) **केन्द्रीय सरकार से ऋण**—सन् १९७१-७२ के वर्ष में निगम ने केन्द्रीय सरकार से २८.४५ करोड़ रु० के ऋण प्राप्त किये थे।

---

[1] *Source* : **The Economic Times,** July 13, 1972.

(३) **विदेशी मुद्रा में ऋण**—निगम ने सन् १६७१-७२ के वर्ष में ८२·३२ करोड़ रु० के ऋण विदेशी मुद्रा में प्राप्त किये हैं। इसमें से अधिकांश विश्व बैंक से हैं।

(४) **भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से ऋण**—समय-समय पर निगम भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से भी ऋण लेकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करता रहता है। सन् १६७१-७२ के वर्ष में निगम ने भारतीय औद्योगिक विकास बैंक से १५·६ करोड़ रु० के ऋण लिए।

(५) **सञ्चित कोष**—निगम ने निम्न कोष स्थापित किये हैं :—(i) पूँजीगत संचित कोष, (ii) सामान्य संचित कोष, तथा (iii) विशेष संचित कोष। इन सञ्चित कोषों में अलग-अलग धनराशि जमा हैं। ३१ मार्च, १६७२ को निगम का सञ्चित कोष ६·७६ करोड़ रु० था।

प्रबन्ध—निगम का प्रबन्ध एक सञ्चालक समिति द्वारा होता है, जिसमें कम से कम ५ तथा अधिक से अधिक १५ सञ्चालक हो सकते हैं। सञ्चालक समिति में भारतीय तथा विदेशी दोनों प्रकार के सञ्चालक हैं।

निगम की प्रगति का अवलोकन (१६३१-७२)—निगम ने अपनी स्थापना की तिथि से लेकर ३१ दिसम्बर १६७१ तक कुल मिलाकर ३३५·३६ करोड़ रु० की शुद्ध वित्तीय सहायता देना स्वीकार किया था, जिसमें से २४०·४३ करोड़ रु० की राशि का वितरण हो चुका था। सन् १६७१-७२ के वर्ष में निगम ने ३६ ७ करोड़ रु० की सकल वित्तीय सहायता के लिये ऋणों की स्वीकृति प्रदान की थी, जबकि गत वर्ष (१६७०-७१) में ४३·६ करोड़ रु० के ऋणों के लिये स्वीकृति प्रदान की गई थी। इस प्रकार गत वर्ष की तुलना में चालू वर्ष में निगम ने कम राशि के ऋणों पर अपनी स्वीकृति प्रदान की।

वितरण की गई राशि (१६७१-७२ में)—सन् १६७१-७२ के वर्ष में निगम ने ३०·३ करोड़ रुपये के ऋणों का वितरण किया, जबकि गत वर्ष (१६७०-७१) में केवल २८·६ करोड़ रुपये के ऋणों का ही वितरण किया गया था।

लाभांश दर—सन् १६७१-७२ में लाभांश दर १०% थी।

आय (Earnings)—३१ दिसम्बर, १६७१ को समाप्त होने वाले वर्ष में निगम ने १·७६ करोड़ रु० का शुद्ध लाभ कमाया, जबकि गत वर्ष में शुद्ध लाभ की मात्रा १·६८ करोड़ रु० ही थी।

(III) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम (N. I. D. C.)
(National Industrial Development Corporation)

स्थापना—राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम की स्थापना २० अक्टूबर सन् १६५४ को देहली में की गई। यह निगम पूर्ण रूप से एक राजकीय संस्था है और इसका स्वामित्व व नियन्त्रण सरकार के हाथ में है। इस निगम की स्थापना का मूल उद्देश्य देश में तीव्र गति से औद्योगीकरण लाना है। इस कार्य को पूरा करने के लिये वह निजी क्षेत्र का सहयोग प्राप्त करेगा। इस निगम का पंजीयन (Registration) भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत किया गया है।

पूँजी—निगम की कुल अधिकृत पूँजी १ करोड़ रुपये की है, जो १००-१०० रुपये के १ लाख अंशों में विभाजित है। इसकी निर्गमित पूँजी १० लाख रु० है। समस्त अंश केन्द्रीय सरकार द्वारा खरीद लिये गये हैं। आवश्यकता पड़ने पर निगम अपने अंश व ऋण-पत्र बेचकर अपने आर्थिक साधन बढ़ा सकता है। इसके अतिरिक्त यह केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारों, अनुसूचित बैंकों, कम्पनियों तथा व्यक्तियों से अनुदान (Grants), ऋण (Loans), अग्रिम (Advances) अथवा निक्षेप स्वीकार कर सकता है। ३१ मार्च, १६७२ को निगम के कोष तथा आधिक्य

(Reserves and Surpluses) दोनों मिलाकर ६०·३९ लाख रुपये के थे। इस प्रकार ये दोनों निगम के आर्थिक साधनों के प्रमुख अंग हैं।

प्रबन्ध—राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम का प्रबन्ध एक सञ्चालक सभा द्वारा होगा, जिसमें २० सदस्य हैं। वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्री इसके सभापति हैं। इन संचालकों को केन्द्रीय सरकार ने मनोनीत (Nominate) किया है।

उद्देश्य—(१) देश की औद्योगिक प्रगति के लिए आवश्यक मशीनरी एवं यन्त्रों का प्रबन्ध करना तथा आधारभूत उद्योगों (Basic Industries) का प्रवर्तन एवं उसकी स्थापना करना। (२) देश के औद्योगिक विकास में जो निजी उद्योग सहायक हों, उनको तान्त्रिक (Technical) एवं इन्जीनियरिंग सुविधायें देना। (३) निजी क्षेत्र को सरकार द्वारा स्वीकृत योजनाओं की पूर्ति के लिये आवश्यक तान्त्रिक, इन्जीनियरिंग, आर्थिक तथा अन्य सुविधायें देना। एवं (४) प्रस्तावित औद्योगिक योजनाओं की पूर्ति के लिये आवश्यक अध्ययन करना तथा उनको तान्त्रिक, इन्जीनियरिंग, आर्थिक तथा अन्य सुविधायें देना।

उपरोक्त निगम का उद्देश्य लाभोपार्जन नहीं है, बल्कि देश में तीव्रगति से औद्योगीकरण लाना है; जिसके लिये यह सरकार के एजेण्ट के रूप में कार्य करता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिये निगम की प्रथम सभा २३ अक्टूबर सन् १९५४ को हुई, जिसमें उद्योगों की अस्थायी सूची तैयार की गई। उस सूची में निम्न उद्योग सम्मिलित हैं :—(१) जूट, कपास, वस्त्र, चीनी, कागज, सीमेण्ट, रासायनिक, छपाई, खान, निर्माण एवं यान्त्रिक आवागमन आदि उद्योगों के लिए आवश्यक मशीनरी तथा सामग्री का निर्माण कराना; (२) लौह मिश्रण, लौह मैंगनीज और फैरोक्रोम; (३) अल्यूमिनियम; (४) ताँबा, जस्ता और अलौह धातुयें; (५) डीजल इन्जन, इंजन तथा जनरेटर; (६) भारी रासायनिक द्रव्य; (७) खाद और उर्वरक (Mica); (८) कोयला और कोलतार का सामान; (९) मेथानोल, फारमेलडीहाइड; (१०) काजल; (११) कागज, अखबारी कागज आदि बनाने के लिये लकड़ी की लुगदी; (१२) कृत्रिम दवायें, विटामिन और हारमोन; (१३) एक्सरे और डाक्टरी औजार आदि; एवं (१४) हार्ड बोर्ड तथा इन्सूलेशन आदि।

प्रगति का अवलोकन (१९७१-७२)—मि० के० वी० राव, चेयरमैन, राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम, ने दिनांक २९ सितम्बर, १९७२ को १७वीं वार्षिक व्यापक सभा में प्रस्तुत की गई अपनी रिपोर्ट में बताया कि निगम ने १३ मार्च, १९७२ को समाप्त होने वाले वर्ष में (सन् १९७१-७२ में) १२·८ करोड़ रुपये का कारोबार किया। इसी वर्ष में इसका शुद्ध आधिक्य (Net Surplus) १५·०२ लाख रुपये था। प्रस्तुत वर्ष में निगम ने १३·३३ लाख रुपये की विदेशी मुद्रा कमाई। निगम की लाभांश दर १५% रही। गत वर्ष भी इसी दर से लाभांश घोषित किया गया था। फरवरी सन् १९६३ से निगम ने सूती वस्त्र मिलों, जूट मिलों तथा मशीनी औजार उद्योगों के आधुनिकीकरण तथा विकास सम्बन्धी कार्यों हेतु ऋण सम्बन्धी नये आवेदन-पत्रों पर विचार करना बन्द कर दिया है। भारतीय औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना के पश्चात् से यह कार्य विकास बैंक को ही सौंप दिया है।

(IV) अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम
(International Finance Corporation)

स्थापना—द्वितीय विश्व युद्ध के कारण अधिकांश राष्ट्र नष्ट-भ्रष्ट हो गये थे। निजी क्षेत्र में धन का अभाव विशेष रूप से अनुभव किया जा रहा था। पिछड़े हुये राष्ट्रों में यह स्थिति और भी गम्भीर रूप धारण किये हुये थी। अतएव विश्व बैंक ने २० जुलाई सन् १९५६ को सदस्य देशों की सहायता करने तथा निजी व्यवसाय (Private Enterprise) को विशेष रूप से

सहायता प्रदान करने के लिये 'अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम' की स्थापना की। यह सार्वजनिक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन है। इसका सम्बन्ध विश्व बैंक (I. B. R. D.) से होते हुये भी इसका पृथक् वैधानिक अस्तित्व है। अगस्त सन् १९५६ तक इसके ३२ सदस्य थे। केवल विश्व बैंक के सदस्य ही इसके सदस्य हो सकते हैं।

पूँजी—अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम की अधिकृत पूँजी १० करोड़ डॉलर है, जोकि १,००० (एक हजार) डॉलर के प्रति अंश से १ लाख अंशों में विभाजित है। ६·२ करोड़ डॉलर संचित राशि है। पूँजी में ४७ राष्ट्रों ने ९०·४ मिलियन डॉलर का अनुदान दिया है। भारत ने ४·३३ मिलियन डॉलर का अनुदान दिया है। सबसे अधिक हिस्सा अमेरिका का है। आवश्यकता पड़ने पर यह विश्व बैंक से ऋण ले सकता है।

उद्देश्य—निगम का प्रमुख उद्देश्य अपने सदस्य देशों में, विशेषतः कम विकसित राष्ट्रों में, निजी (Private) उत्पादक के विकास को प्रोत्साहित कर आर्थिक प्रगति करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये वह निम्न कार्य करेगा :—(१) जहाँ उचित शर्तों पर पर्याप्त मात्रा में पूँजी सुलभ नहीं है वहाँ निजी व्यवसायों में स्वयं विनियोग करना। (२) विनियोग के सुअवसरों, निजी पूँजी (देशी एवं विदेशी) तथा अनुभवी प्रबन्धकों को परस्पर समन्वित करने के लिये निकासी गृह (Clearing House) का कार्य करना। (३) निजी पूँजी के उत्पादनशील विनियोग को प्रोत्साहित करना। अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम के अध्यक्ष के अनुसार, "यह निगम एक विनियोग अभिकर्त्ता के नाते कार्य करेगा तथा निजी उद्योगों को सरकारी जमानत के बिना ऋण देगा।"

विनियोग प्रस्तावों की योग्यता एवं विकास—उपरोक्त उद्देश्य की पूर्ति के लिये निगम मुख्यतः निजी उपक्रमों (Private Enterprise) से आने वाले प्रस्तावों पर विचार करता है तथा यह विश्वास हो जाने पर कि उस उपक्रम को अन्य स्रोत उपलब्ध नहीं हैं, ऋण देता है। निगम सरकारी क्षेत्र के केवल ऐसे उपक्रमों के प्रस्ताव पर ही विचार करता है, जिनका मुख्यतः निजी स्वरूप (Essentially Private Character) हो।

निगम ने अपनी क्रियाओं के प्रारम्भिक वर्षों में ऐसे विनियोग प्रस्तावों पर विचार किया जहाँ—(अ) किसी भी व्यवसाय में नवीन विनियोग कम से कम ५ लाख डॉलर या उनके बराबर थे तथा (ब) निगम से माँगी हुई सहायता कम से कम १ लाख डॉलर या उसके बराबर थी। निगम ने अभी तक किसी एक विनियोग की अधिकतम् सीमा निर्धारित नहीं की है।

औद्योगिक, कृषि-सम्बन्धी, आर्थिक तथा अन्य निजी व्यवसाय निगम से आर्थिक सहायता पाने योग्य हैं, यदि वे प्रकृति में उत्पादनशील हैं। वह गृह-निर्माण, अस्पताल, स्कूल आदि सामाजिक उपक्रमों या सार्वजनिक उपयोगिता के उपक्रमों में विनियोग नहीं करता है। निगम किसी ऐसे वित्त प्रबन्ध में भी भाग नहीं लेता है जो पुनर्वित्त (Refinancing) के लिये हो।

ब्याज की दर प्रत्येक दशा में विशिष्ट परिस्थितियों एवं जोखिम के अनुसार निश्चित की जाती है। निगम द्वारा दिये गये ऋणों की अवधि ५ वर्ष से १५ वर्ष तक के लिये है। किस्तों में भी विनियोग के भुगतान की व्यवस्था की जा सकती है। निगम ऋण जमानत अथवा बिना जमानत के दे सकता है। यदि वह जमानत लेगा तो उसका क्या रूप होगा, यह प्रार्थी की हैसियत एवं विनियोग की स्थिति पर निर्भर है। साधारणतः ऋण का अमेरिकन डॉलरों में मूल्यांकन किया जाता है, किन्तु उपर्युक्त दशा में उसका मूल्यांकन अन्य देशों की मुद्रा में भी किया जा सकता है। ऋण उचित देखभाल के बाद ही दिया जाता है।

प्रगति का अवलोकन (१९७१-७२)—अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम ने जून सन् १९७२ तक कुल मिलाकर ४८ देशों में १८४ उपक्रमों के लिये ६९·४ करोड़ डॉलर की वित्तीय सहायता देने

का वचन दिया था। भारत के विभिन्न उद्योगों जैसे—इस्पात उद्योग, सूती-वस्त्र उद्योग, मशीनरी उद्योग, खाद उद्योग आदि को निगम ने विशेष रूप में सहायता प्रदान की है। सन् १९७१-७२ के वर्ष में भारत को अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम से वित्तीय सहायता देने के लिये कोई वचन प्राप्त नहीं हुआ। सन् १९६९-७० तक अन्तर्राष्ट्रीय वित्त निगम भारत के निजी क्षेत्र में धन का विनियोजन करने के लिए कुल मिलाकर ४·२ करोड़ डॉलर की वित्तीय सहायता देने का वचन दे चुका था। इसके बाद से (१९७०-७१ तथा १९७१-७२ में) भारत को वित्तीय सहायता देने के लिये इस निगम से कोई नया वचन नहीं प्राप्त हुआ।

(V) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम
(National Small Industries Corporation)

प्रस्तावना—राष्ट्र के औद्योगीकरण तथा समृद्धि के लिये लघु उद्योगों का विकास होना नितान्त आवश्यक है। उद्योग आर्थिक शक्ति को विकेन्द्रित कर सरकार की बड़े-बड़े उद्योगपतियों पर निर्भर रहने की आवश्यकता घटाकर एक आदर्श लोकतन्त्र की स्थापना करने में सहायक हो सकते हैं। हमारे देश में विकसित शहरी अर्थ-व्यवस्था और अर्द्ध-विकसित ग्रामीण अर्थ-व्यवस्था के सह-अस्तित्त्व के कारण लघु उद्योगों का महत्त्व और भी बढ़ जाता है। स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "भारत तभी एक औद्योगिक राष्ट्र होगा, जबकि यहाँ पर लाखों की मात्रा में छोटे-छोटे उद्योग स्थापित कर दिये जायें।" इस प्रकार भारत के औद्योगिक विकास में लघु उद्योगों का महत्त्वपूर्ण स्थान होते हुए भी ये उद्योग पर्याप्त प्रगति नहीं कर पाये हैं। इसका मुख्य कारण लघु उद्योगों के समक्ष अनेक समस्याओं का होना है।

स्थापना—लघु उद्योगों की समस्याओं को ध्यान में रखते हुए एवं अन्तर्राष्ट्रीय विशेषज्ञों के दल 'फोर्ड फाउन्डेशन' की सिफारिश पर फरवरी सन् १९५५ में भारत सरकार ने 'राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम' की स्थापना की। यह निगम निजी कम्पनी (Private Company) के रूप में रजिस्टर्ड हुआ है। इस निगम के द्वारा लघु उद्योगों को संरक्षण, प्रोत्साहन एवं वित्तीय सहायता मिलती है।

उद्देश्य एवं कार्य—निगम का मूलभूत उद्देश्य भारतीय लघु उद्योगों को संरक्षण, प्रोत्साहन एवं वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए निगम निम्नलिखित कार्य करेगा :—(१) राजकीय विभागों मे लघु उद्योगों में निर्मित वस्तुयें खरीदने की व्यवस्था करना। (२) आवश्यकता के अनुसार माल बनाने के लिये पूँजी व प्राविधिक (Technical) सहायता प्रदान करना। (३) लघु एवं विशाल उद्योगों में प्रतिस्पर्धा दूर करके उनके बीच समन्वय स्थापित करना। (४) प्रदर्शनियों तथा बिक्री केन्द्रों की व्यवस्था करके लघु उद्योगों की बिक्री की सुविधायें बढ़ाना। (५) लघु उद्योगों को किराया क्रय-रीति (Hire-Purchase System) के आधार पर मशीन व यन्त्र दिलाने की व्यवस्था करना। (६) ओखला तथा नैनी में दो औद्योगिक केन्द्रों की व्यवस्था एवं संचालन करना।

पूँजी—प्रारम्भ में निगम की अधिकृत पूँजी २० लाख रुपये थी, जो सौ-सौ रु० के २०,००० अंशों में विभाजित थी। यह पूँजी पूर्णतया केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान की गई थी। बाद में समय-समय पर इस पूँजी की मात्रा में वृद्धि कर दी गई है। सन् १९६९-७० के अन्त में निगम की प्रदत्त पूँजी ५० लाख रु० से बढ़कर ३५० लाख रु०[1] हो गई थी। इसके अतिरिक्त निगम केन्द्रीय सरकार से समय-समय पर ऋण भी लेता रहता है। निगम को अमेरिका से विकास ऋण-कोष के अन्तर्गत लगभग ४·७६ करोड़ रुपये की साख भी प्राप्त हुई। सन् १९६९-७० के

---

[1] *Source* : Lok Udyog, Feb. 1971.

अन्त में निगम को सरकारी एवं विदेशी ऋणों के रूप में कुल मिलाकर १,७३५ लाख रु० की राशि देनी थी।

निगम की प्रगति का अवलोकन (१९६९-७०)—निगम केवल लघु उद्योगों को ही सहायता प्रदान करता है। लघु उद्योगों से तात्पर्य ऐसी औद्योगिक इकाइयों से है जिनमें पूँजी ५ लाख रुपये से कम है और जिनमें, शक्ति का प्रयोग होने पर, ५० से कम तथा शक्ति का प्रयोग न होने पर १०० से कम व्यक्ति काम करते हों। सन् १९६९-७० के अन्त तक छोटे उद्योगों के लिये सुरक्षित मदों (Reserved Items) की संख्या १४६ से बढ़कर १६६ तक पहुँच चुकी थी। इसी अवधि में निगम ने पश्चिमी जर्मनी तथा संयुक्त अरब गणराज्य से ४५ लाख रु० के माल के निर्यात आदेश प्राप्त किये। अमरीका को भी ५० लाख रु० का माल निर्यात करने का अनुबन्ध हुआ है। निगम ने स्टेट बैंक से यह समझौता कर लिया है कि बैंक निगम द्वारा आदेश प्राप्त करने वाली लघु औद्योगिक इकाइयों को कच्चा माल खरीदने के लिये माल की पूरी राशि का ऋण दे सकता है। राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम इस प्रकार के ऋणों की गारण्टी देता है। किन्तु प्रत्येक लघु औद्योगिक इकाई के लिए निगम द्वारा दी जाने वाली गारण्टी की अधिकतम् राशि २५,००० रु० से अधिक नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त किराया-क्रय रीति (Hire-Purchase System) के अन्तर्गत निगम ने सन् १९६९-७० के अन्त तक ४५ करोड़ रु० की विदेशी आयात की हुई मशीनें सप्लाई कीं। निगम द्वारा तीन प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की गई है, जिनमें अब तक ४,६०० व्यक्ति प्रशिक्षण प्राप्त कर चुके है। इनमें से सभी व्यक्ति रोजगार में संलग्न हैं।

उपरोक्त विवरण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि निगम भारत में लघु उद्योगों के विकास हेतु सराहनीय कार्य करता है। इसकी स्थापना से वास्तव में लघु उद्योगों को पर्याप्त सहायता मिली है।

(VI) भारतीय विनियोग केन्द्र
(Indian Investment Centre)

स्थापना—इसकी स्थापना जून सन् १९६१ में की गई थी। इसका प्रधान कार्यालय न्यूयॉर्क (अमेरिका) में है।

उद्देश्य—इसका प्रमुख उद्देश्य भारतीय उद्योगपतियों को विदेशी पूँजी तथा औद्योगिक तकनीकी प्राप्त करने में सहायता देना है। इसके अतिरिक्त यह भारतीय तथा विदेशी उद्योगपति दोनों के सहयोग से नवीन उपक्रमों की स्थापना में अपना सहयोग प्रदान करता है। इस कार्य हेतु यह भारतीय उद्योगपतियों को विदेशी उद्योगपतियों के सम्बन्ध में तथा विदेशी उद्योगपतियों को भारतीय उद्योगपतियों के सम्बन्ध में जानकारी प्रदान करता है।

प्रगति का अवलोकन (१९६९-७०)—श्री जी० एल० मेहता, चेयरमैन, भारतीय विनियोग केन्द्र ने सन् १९६९-७० की वार्षिक रिपोर्ट में यह बतलाया है कि इस केन्द्र ने सन् १९६९-७० के वर्ष में १० संयुक्त उपक्रमों को सहायता प्रदान की है, जबकि गत वर्ष (१९६८-६९) में १६ संयुक्त उपक्रमों को सहायता प्रदान की गई थी। इन १० संयुक्त उपक्रमों में से ६ में विदेशी वित्त की सहायता भी संलग्न है। शेष चार में केवल तकनीकी सहयोग प्रदान किया गया है। इनमें कुल मिलाकर ७·३ करोड़ रु० की राशि का विनियोजन किया गया है।

(VII) फिल्म वित्त निगम
(Film Finance Corporation)

स्थापना—फिल्म वित्त निगम की स्थापना मार्च सन् १९६० को केन्द्रीय सरकार के सहयोग से की गई थी।

उद्देश्य—निगम का प्रमुख उद्देश्य भारत में अच्छी फिल्मों के निर्माण में सहायता प्रदान करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु निगम प्रत्येक अच्छी फिल्म के निर्माण हेतु ५ लाख रु० तक का ऋण १२% वार्षिक ब्याज की दर पर दे सकता है। शीघ्र एवं निश्चित तिथियों पर भुगतान प्राप्त होने पर निगम १·५% की दर से ब्याज में छूट दे देता है।

पूँजी—निगम की अधिकृत पूँजी १ करोड़ रुपये है, जोकि एक-एक हजार रुपये वाले अंशों में विभाजित है। इसमें से चुकता पूँजी केवल ५० लाख रुपये है, जोकि पूर्णतया केन्द्रीय सरकार द्वारा प्रदान की गई है।

प्रगति का अवलोकन (१९७१-७२)—३१ मार्च, १९७२ को फिल्म वित्त निगम ने अपनी प्रगति के १२ वर्ष पूरे कर लिये। सन् १९७१-७२ के वित्तीय वर्ष में निगम को ऋण के लिये ५१ आवेदन पत्र प्राप्त हुए। इसमे पूर्व २० आवेदन पत्र निगम के समक्ष पहले से ही विचारार्थ थे। प्रस्तुत वित्तीय वर्ष में निगम ने ११ फिल्मों के लिए कुल मिलाकर १६,९३,००० रु० क ऋणों के लिये स्वीकृति प्रदान की। शेष आवेदन-पत्रों में से २९ को या तो अस्वीकार कर दिया गया अथवा उन्हें वापिस ले लिया गया और इस प्रकार इस वित्तीय वर्ष (१९७१-७२) के अन्त में निगम के पास शेष ३१ आवेदन-पत्र अभी विचाराधीन ही थे।

लाभ—सन् १९७१-७२ के वित्तीय वर्ष में निगम को २९,८७३ रु० का लाभ हुआ।

(VIII) औद्योगिक विकास बैंक
(Industrial Development Bank)

स्थापना—औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना दिनांक १ जुलाई सन् १९६४ को भारत सरकार द्वारा की गई है। इसकी स्थापना हेतु भारतीय संसद में पहले एक अधिनियम पास किया गया था, जिस पर कि १६ मई सन् १९६४ को राष्ट्रपति की सहमति प्राप्त हुई। इस प्रकार भारतीय औद्योगिक इतिहास में यह पहला सुअवसर है, जबकि उद्योगों की आर्थिक एवं विकास सम्बन्धी समस्याओं को हल करने के लिए एक विशिष्ट संस्था की स्थापना की गई है। ३० जून, १९७२ को इस बैंक ने अपनी स्थापना के ८ वर्ष पूरे कर लिये थे।

उद्देश्य—औद्योगिक विकास बैंक की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य निजी तथा राजकीय औद्योगिक संस्थाओं को वित्तीय सहायता प्रदान करना है। इसके अतिरिक्त बैंक उत्पादक विनियोजन हेतु जनता की बचत, साहस तथा कुशलता का भी संग्रह करेगा।

कार्य—सभी प्रकार के (होटल व्यवसाय को मिलाकर भी) औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लिए वित्तीय व्यवस्था करना। इसके लिये बैंक निम्नलिखित कार्य सम्पन्न करता है :—(१) प्रत्यक्ष रूप में ऋण प्रदान करना। (२) किसी भी व्यापारिक, औद्योगिक, वित्तीय अथवा सेवा-सम्बन्धी संस्था की प्रतिभूतियों में अपने धन का विनियोग करना। (३) **पुनर्वित्त व्यवस्था प्रदान करना**—यह बैंक का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य है। पुनर्वित्त की व्यवस्था इस प्रकार से की जाती है—(अ) औद्योगिक वित्त निगम तथा राज्य वित्त निगमों द्वारा दिये गये ऋणों (३ से २५ वर्ष तक की अवधि हेतु) का पुनर्वित्त; (ब) अनुसूचित बैंकों द्वारा ३ से १० वर्ष तक की अवधि के लिए दिये गये ऋणों के पुनर्वित्त की व्यवस्था; (स) ६ महीने से १० वर्ष तक की अवधि के लिये दी गई निर्यात साख (जो उपर्युक्त संस्थाओं द्वारा दी गई हो) की पुनर्वित्त व्यवस्था। (४) स्थगित भुगतान ऋण या अभिगोपन-सम्बन्धी दायित्व की प्रत्याभूति या गारण्टी (Guarantee) देना। (५) तान्त्रिक एवं आर्थिक अध्ययन करना। (६) विपणन व विनियोग सम्बन्धी अनुसन्धान की व्यवस्था करना।

वित्तीय साधन (१९७१-७२)[1]—(१) **अंश-पूँजी**—औद्योगिक विकास बैंक की अधिकृत पूँजी ५० करोड़ रुपये है, जिसमें से ३० जून, १९७२ तक ४० करोड़ रुपये की पूँजी निर्गमित की जा चुकी है। पूँजी के सम्बन्ध में रिजर्व बैंक को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वह केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से अधिकृत पूँजी को १०० करोड़ रुपये तक बढ़ा ले। (२) **भारत सरकार से ऋण**—३० जून सन् १९७२ तक बैंक ने कुल मिलाकर १७३·०३ करोड़ रु० के ऋण लिये थे। (३) **ऋण-पत्रों का निर्गमन**—बैंक को ऋण-पत्रों के निर्गमन का भी अधिकार प्राप्त है। सन् १९७१-७२ में बैंक ने प्रथम बार ११·५ करोड़ रु० के १२-वर्षीय ऋण-पत्रों का ५¾% वार्षिक ब्याज की दर से निर्गमन किया। (४) **रिजर्व बैंक से ऋण**—बैंक को अपनी प्रतिभूतियों के आधार पर ९० दिन के लिए ऋण लेने का अधिकार है। ३० जून सन् १९७२ के अन्त तक बैंक ने रिजर्व बैंक से ७८·२३ करोड़ रु० के ऋण ले रखे थे। (५) **अन्य वित्तीय स्रोत**—(i) जन-निक्षेप (Public deposits), (ii) विदेशी मुद्रा में ऋण, तथा (iii) अनुदान एवं सहायता।

प्रबन्ध—औद्योगिक विकास बैंक का प्रबन्ध रिजर्व बैंक के केन्द्रीय प्रबन्ध-मण्डल के आदेशानुसार होता है। प्रबन्ध की सुविधा हेतु सञ्चालकों तथा अध्यक्ष की नियुक्ति रिजर्व बैंक के द्वारा की जाती है।

ब्याज-दर—बैंक की सामान्य ब्याज-दर २६ अक्टूबर, १९७० से आधा प्रतिशत बढ़ाकर ८·५% कर दी गई थी। किस्त टूट जाने पर ½% और लगाई जाती है। सन् १९७१-७२ में बैंक की ब्याज दर पूर्ववत ही रही।

३० जून, १९७२ तक की गई प्रगति का अवलोकन—३० जून, १९७२ को विकास बैंक अपने जीवन के ८ वर्ष पूरे कर चुका है। इस अल्प अवधि में उसने जो प्रगति की है उस पर विकास बैंक निश्चित ही सन्तोष एवं गर्व का अनुभव कर सकता है। अपने जीवन के ८ वर्षों में बैंक कुल मिलाकर ६०७·९ करोड़ रु० के ऋणों के लिए स्वीकृति प्रदान कर चुका है, जिसमें से ४३१·७ करोड़ रु० की राशि वितरित भी की जा चुकी है।

सन् १९७१-७२[2] के वित्तीय वर्ष में बैंक ने १४१·८ करोड़ रु० ऋणों को देने के लिए स्वीकृति प्रदान की, जबकि गत वर्ष १९७०-७१ में केवल १३१·१ करोड़ रु० की आर्थिक सहायता देने के लिए ही स्वीकृति प्रदान की गई थी। इसी प्रकार सन् १९७१-७२ में बैंक द्वारा वितरण की गई राशि ७३·७ करोड़ रु० थी, जबकि गत वर्ष (१९७०-७१) में यह राशि केवल ५४·२ करोड़ रु० ही थी। इस प्रकार गत वर्ष की तुलना में बैंक की प्रगति सन्तोषजनक रही है।

गारण्टी तथा अभिगोपन कार्य (१९७१-७२)—सन् १९७१-७२ के वर्ष में औद्योगिक विकास बैंक ने ३२·७९ करोड़ रु० की गारण्टी एवं अभिगोपन का कार्य किया, जबकि गत वर्ष में केवल १९·४३ करोड़ रु० का ही कारोबार किया था।

(IX) यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया अथवा प्रन्यास
(Unit Trust of India)

प्रस्तावना—भारत आज योजनाओं के युग से गुजर रहा है। योजनाओं की सफलताओं को जिन प्रयत्नों की आवश्यकता है, उनके लिए सभी प्रकार के प्रयास जनता व सरकार द्वारा किये जा रहे हैं। हमें देश के प्राकृतिक स्रोतों के दोहन के लिए विशाल मात्रा में पूँजी की

---

1 *Source* : **Reserve Bank of India Bulletin**, Julty, 1972, pp. 1162.

2 *Source* : Commerce : 6th Sept., 1972.

आवश्यकता है। पूँजी की पूर्ति सरकार द्वारा विभिन्न प्रकार के करों, बचतों व विदेशों से प्राप्त ऋणों आदि से की जा रही है, किन्तु किसी भी देश की योजनाओं को सफलता तभी मिल सकती है जबकि जनसाधारण अपनी आय में से कुछ हिस्सा बचाकर पूँजी-निर्माण में योग दें। इसके लिए यह आवश्यक है कि देश में ऐसी संस्थाओं का बाहुल्य हो जो कि जनसाधारण को बचत के लिए उत्साहित करें। ऐसी संस्थाओं के अभाव में विनियोक्ताओं को स्वयं इस बात का निर्णय करना पड़ता है कि वे किस कम्पनी में अपने पसीने की गाढ़ी कमाई का विनियोग करें। अभाग्यवश भारतवर्ष में ऐसी विश्वसनीय संस्थाओं का अभाव रहा है, जोकि जन-साधारण की छोटी-छोटी बचतों का विनियोग देश के औद्योगीकरण के लिए कर सकें। यही कारण है कि भारत की आर्थिक योजनाओं को असफलता का सामना करना पड़ रहा है। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए भारतीय संसद में दिसम्बर सन् १९६३ को एक कानून पास हुआ, जिसे 'यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, १९६३' कहते हैं। इसके अन्तर्गत सार्वजनिक क्षेत्र में यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई है। यह कानून फरवरी सन् १९६४ से लागू हुआ तथा इसके अनुसार **१ जुलाई सन् १९६४ को भारत में यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की स्थापना कर दी गई। १ जुलाई सन् १९६४ से यूनिट ट्रस्ट के यूनिटों की बिक्री प्रारम्भ हो गई है।**

उद्देश्य एवं कार्य—४ दिसम्बर सन् १९६३ को भारत सरकार के पिछले वित्त मन्त्री श्री टी० टी० कृष्णामाचारी ने संसद में यूनिट ट्रस्ट विधेयक पेश करते हुए बताया था कि उसका मूल उद्देश्य मध्यम वर्ग के लोगों की छोटी-छोटी बचतों को उत्पादन कार्यों में लगाना है। यह ट्रस्ट निम्न आय वाले वर्गों के लोगों को बिना परेशानी के पैसा लगाने का सुअवसर देगा, साथ ही उनका पैसा सुरक्षित रहेगा और उनको पर्याप्त लाभ भी मिलेगा। ट्रस्ट प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करेगा, जिनमें शेयर, बॉण्ड व अन्य कम्पनियों, आयोग और संस्थाओं के स्टॉक भी शामिल हैं। ट्रस्ट इकाइयाँ बेचेगा, जोकि १० रु० से कम और १०० रु० से अधिक नहीं होंगी। यही इकाइयाँ ट्रस्ट विनियोजन का प्रतिनिधित्व करेंगी। लाभांश की राशि को दृष्टि में रखकर ट्रस्ट इकाइयों के विक्रय मूल्य को निर्धारित करेगा। घोषित मूल्य पर ट्रस्ट इकाइयों को वापस खरीद भी सकता है। किसी व्यक्ति को कितनी इकाइयाँ बेची जायेंगी, इसकी कोई सीमा नहीं होगी। ट्रस्ट हर वर्ष अपनी शुद्ध आय का कम से कम ९० प्रतिशत भाग इकाई धारकों (Unit Holders) में बाँट देगा। ट्रस्ट आय-कर, अधि-कर आदि से मुक्त होगा। इकाई धारकों को भी ट्रस्ट से प्राप्त आय पर आय-कर नहीं देना पड़ेगा।

पूँजी—ट्रस्ट की प्रारम्भिक पूँजी ५ करोड़ रु० है। इस पूँजी का क्रय विभिन्न संस्थाओं द्वारा इस प्रकार से किया गया है :—(१) रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया २·५ करोड़ रुपये, (२) जीवन बीमा निगम ७५ लाख रुपये, (३) स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया ७५ लाख रुपये, (४) अनुसूचित बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थायें १ करोड़ रुपये।

उपरोक्त पूँजी का बहुत ही सावधानी के साथ विनियोग किया गया है। अधिनियम में यह व्यवस्था है कि पर्याप्त मात्रा में इकाइयों के विक्रय से प्राप्त होने वाली धनराशि में से प्रारम्भिक पूँजी को लौटा दिया जायेगा।

ट्रस्ट केन्द्रीय सरकार की स्वीकृत गारण्टी पर अपने बॉण्डों पर ६ महीने के लिए ऋण ले सकता है। यह ९० दिन की अवधि के लिए रिजर्व बैंक से भी ऋण ले सकता है।

प्रबन्ध—ट्रस्ट का प्रबन्ध ट्रस्ट-मण्डल के अधीन है, जिसमें अध्यक्ष सहित कुल मिलाकर १० सदस्यों के रहने की व्यवस्था की गई है। अब तक सदस्यों की नियुक्ति निम्न प्रकार से की गई है :—(१) रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत ५ (इसमें अध्यक्ष भी सम्मिलित है), (२) स्टेट बैंक

ऑफ इण्डिया द्वारा मनोनीत १, (३) जीवन बीमा निगम द्वारा मनोनीत १, (४) अनुसूचित बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं द्वारा निर्वाचित २ ।

नोट—आवश्यकता होने पर एक प्रबन्ध अधिकारी की नियुक्ति की जा सकती है। यह प्रबन्ध अधिकारी भी ट्रस्ट मण्डल का एक सदस्य माना जायेगा।

उपरोक्त के अतिरिक्त ट्रस्ट के कारोबार के संचालन के लिए एक प्रबन्ध समिति के गठन की भी व्यवस्था की गई है, जिसमें ट्रस्ट का अध्यक्ष, रिजर्व बैंक द्वारा मनोनीत प्रबन्ध अधिकारी व अन्य दो ट्रस्टी होंगे। ट्रस्ट का अध्यक्ष ही इस समिति का अध्यक्ष होगा। कार्यों के सम्पादन में रिजर्व बैंक के लिखित आदेशों पर नीति सम्बन्धी प्रश्नों पर निर्देशन मिलेगा, जिसमें बैंक का निर्णय सर्वोपरि होगा।

प्रगति का अवलोकन (१६७१-७२)—श्री आर० एस० भट्ट (चेयरमैन, यूनिट ऑफ इण्डिया) ने अपनी आठवीं वार्षिक रिपोर्ट में ट्रस्ट द्वारा ३० जून १६७२ तक की गई प्रगति के सम्बन्ध में निम्न प्रकार आँकड़े प्रस्तुत किये :—

(१) **इकाइयों की बिक्री** (Sale of Units)—इकाइयों की बिक्री १ जुलाई, १६६४ से प्रारम्भ की गई थी। तब से अब तक (upto 30th June, 1972) यह १०४·६५ करोड़ रु० की इकाइयों का विक्रय कर चुका है, जिसका विवरण अग्रलिखित प्रकार से है :—

इकाइयों की बिक्री

(करोड़ रु० में)

वर्ष	इकाइयों का विक्रय	वापस क्रय	शुद्ध विक्रय	विक्रय का योग
१६६४-६५	१६·१३	०·४०	१८·७३	१८·७३
१६६५-६६	२·१५	१·०६	१·०६	१६·८०
१६६६-६७	६·२४	१·६६	७·२५	२७·०४
१६६७-६८	१५·३४	१·२२	१४·१२	४१·१६
१६६८-६६	१७·१०	१·६७	१५·४६	५६·६५
१६६६-७०	२२·४५	१·६६	२०·७६	७७·४४
१६७०-७१	१७·६६	३·१६	१४·८०	६२·२४
१६७१-७२	१५·००	२·५६	१२·४१	१०४·६५

(२) **आय तथा लाभांश** (Income and Dividend)—३० जून सन् १६७२ को समाप्त होने वाले वर्ष में ट्रस्ट को ६·६२ करोड़ रुपये की सकल आय (Gross Income) हुई, जबकि पिछले वर्ष में केवल ८·४१ करोड़ रुपये की सकल आय हुई थी। ट्रस्ट ने ३० जून सन् १६७२ को समाप्त होने वाले वर्ष में ८२·५ पैसे प्रति इकाई की दर से (अर्थात् ८·२५%) लाभांश घोषित किया; जबकि पिछले वर्ष में ८० पैसे की दर से लाभांश दिया गया था। लाभांश की यह दर (८·२५%) ट्रस्ट द्वारा अब तक घोषित की गई लाभांश दरों में सबसे अधिक थी।

(३) **इकाई धारकों की संख्या**—३० जून, १६७२ को इकाई धारकों की संख्या कुल मिला कर ४·२५ लाख थी। इकाई धारकों की यह संख्या गत वर्ष की तुलना में कुछ कम थी। इसके निम्न कारण थे :—(i) बैंकों द्वारा अवधि जमा दर में वृद्धि किया जाना, तथा (ii) वित्त अधिनियम, १६७० के अन्तर्गत इकाई के विनियोगों से १,००० रु० तक की आय पर आय-कर से मिलने वाली छूट का हटाया जाना।

(४) **विनियोग**—सन् १६७१-७२ में ट्रस्ट के कुल विनियोगों का ४३ प्रतिशत भाग

ऋण-पत्रों में विनियोजित था, इसके अतिरिक्त पूर्वाधिकारी अंशों में कुल विनियोगों की १३ प्रतिशत राशि विनियोजित थी।

(५) **बाल उपहार योजना**—१ जुलाई, १९७० को ट्रस्ट ने **'बाल उपहार'** (Children's Gift Plan) नामक नई योजना प्रारम्भ की थी। इसके अन्तर्गत बच्चे के पिता, माता, चाचा, चाची आदि अवयस्क बच्चों (जन्म लेने वाले बच्चे से लेकर १५ वर्ष तक की आयु वाले बच्चे तक) के लिए इकाइयाँ खरीद सकते हैं। इनका भुगतान ऐसे बच्चों के वयस्क होने पर ही किया जायेगा। सन् १९७०-७१ के वर्ष में ५६·३२ लाख रु० की इकाइयों का प्रस्तुत योजना के अन्तर्गत विक्रय किया गया।

(६) **अंशों का अभिगोपन**—सन् १९७१-७२ के वर्ष में ट्रस्ट ने विभिन्न कम्पनियों के अंशों में कुल मिलाकर ४·५८ करोड़ रुपये का अभिगोपन कार्य किया, जबकि गत वर्ष १९७०-७१ में १६ कम्पनियों के अंशों में ३·०५ करोड़ रु० का अभिगोपन कार्य किया था।

लाभ—भारतीय जनता के कल्याण एवं आर्थिक समृद्धि का मूल मन्त्र केवल औद्योगिक विकास को ही प्रोत्साहन देना है। इसके लिये यह आवश्यक है कि जनसाधारण का सक्रिय सहयोग प्राप्त हो। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु भारत में यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की स्थापना की गई है। इससे सभी को लाभ होंगे। सुविधा की दृष्टि से इन लाभों को मुख्य रूप से निम्न दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(I) विनियोक्ताओं को लाभ एवं (II) देश को लाभ।

(I) **विनियोक्ताओं को लाभ**—(१) **अल्प बचत के विनियोग का सर्वश्रेष्ठ साधन**—विद्वानों की दृष्टि से यह अल्प बचत के विनियोग का सर्वश्रेष्ठ साधन है। इसमें कम से कम १० रु० से लेकर किसी भी मात्रा तक धन का विनियोग किया जा सकता है।

(२) **धन की सुरक्षा**—इसमें विनियोग किया गया धन अपेक्षाकृत अधिक सुरक्षित रहता है।

(३) **अधिक आय**—अधिनियम के अनुसार ट्रस्ट हर वर्ष अपनी शुद्ध आय का कम से कम ९० प्रतिशत भाग इकाई धारकों में बाँटने के लिये बाध्य है। अतएव इसमें विनियोग किये गये धन पर अपेक्षाकृत अधिक लाभ मिलने की सम्भावना है।

(४) **आय-कर व अधि-कर से मुक्ति**—इकाई धारकों को ट्रस्ट से प्राप्त १,००० रु० तक की आय पर आय-कर नहीं देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त यह आय अधि-कर (Super-Tax) से भी उस समय मुक्त होगी जबकि प्राप्तकर्त्ता इसके प्राप्त होने से ही अधि कर के लिए बाध्य होता है, अन्यथा नहीं।

(५) **इकाइयों के मूल्य के प्रकाशन की सुविधा**—ट्रस्ट की इकाइयों का मूल्य समय-समय पर प्रकाशित होता रहता है। अतएव इकाई धारक को हर समय यह पता लगता रहता है कि उसकी इकाई का क्या मूल्य है। इस मूल्य की घोषणा रेडियो व अखबारों आदि के द्वारा होती रहती है।

(६) **विक्रय एवं हस्तान्तरण में सुविधा**—१ नवम्बर, १९६४ के बाद से ट्रस्ट ने स्वयं बाजार-मूल्यों पर इकाइयों का खरीदना प्रारम्भ कर दिया है। इसके अतिरिक्त १ जुलाई, १९६५ के बाद से बैंकों को छोड़कर, किसी भी पक्षकार के पक्ष में इसकी इकाइयों का हस्तान्तरण किया जा सकता है। इस प्रकार इसकी इकाइयों के विक्रय अथवा हस्तान्तरण के लिए पूर्ण सुविधायें प्रदान की गई हैं।

(७) **बचत को प्रोत्साहन**—इस योजना के द्वारा सभी वर्गों के लोगों (विशेषत: मध्यम-वर्ग के लोगों) को बचत करने के लिए प्रोत्साहन मिला है। अतएव जनसाधारण में मितव्ययिता की भावना जाग्रत हुई है और फिजूलखर्ची कम हुई है।

(८) **लाभांश-वितरण में समान अधिकार**—लाभांश-वितरण में सभी इकाइयों को समान अधिकार प्राप्त हैं। इसका अर्थ यह है कि सभी इकाइयों पर लाभांश की दर एक समान होती है।

(९) **कुशल प्रबन्ध**—ट्रस्ट का प्रबन्ध केवल वित्तीय विशेषज्ञों के हाथों में ही सौंपा गया है, अतएव यह अपेक्षाकृत अधिक विश्वसनीय विनियोग-संस्था के रूप में कार्य करने में सफल हो सकेगा।

(II) **देश को लाभ**—(१) **समाजवाद की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम**—यदि समाजवाद को पूरी तरह कार्यान्वित करना है तो साधारण जनता का सहयोग प्राप्त करना अनिवार्य-सा हो जाता है। केवल इसी उद्देश्य को लेकर भारत सरकार ने यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया की स्थापना की है। तत्कालीन वित्तमन्त्री श्री कृष्णामाचारी ने ट्रस्ट का उद्घाटन करते समय ठीक ही कहा था कि उत्पादन और उसके बराबर वितरण के सभी साधनों पर जनता का स्वामित्त्व प्राप्त करना ही सरकार या समाजवाद का उद्देश्य है।

(२) **पूँजी-निर्माण में सहायता**—भारतीय जनता के कल्याण एवं आर्थिक समृद्धि का मूल मन्त्र केवल औद्योगिक विकास को प्रोत्साहन देना ही है। इसी हेतु निजी और सरकारी दोनों क्षेत्र पूँजी-निर्माण कार्य में भरसक प्रयत्न करने में जुटे हुए हैं। आशा है कि यूनिट ट्रस्ट की सहायता से पूँजी-निर्माण का कार्य तीव्रगति से हो सकेगा।

(३) **अल्पबचत को प्रोत्साहन**—यह सर्वविदित है कि इस समय तक देश में बचतों की गति इतनी धीमी रही है कि देश के आर्थिक विकास में जन-साधारण का योग पूर्णतया प्राप्त नहीं हो रहा था। इस ट्रस्ट की स्थापना से यह लाभ निश्चित ही हुआ है कि साधारण से व्यक्ति को भी अपनी छोटी बचत को बढ़ाने का शुभ अवसर मिला है। इनसे देश में सामान्य रूप से अल्प बचत आन्दोलन को भारी प्रोत्साहन मिला है, जो किसी भी देश के आर्थिक विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बात है।

(४) **पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता में सहायक**—अब तक हमारी पंचवर्षीय योजनायें असफल रही हैं, उसका मुख्य कारण देश में साधनों, बचतों और पूँजी नियोजन का अभाव रहा है। इसके लिये आवश्यक है कि प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय में से कुछ हिस्सा बचाकर पूँजी-निर्माण में योग दे। यूनिट ट्रस्ट के माध्यम से प्रत्येक व्यक्ति अपनी आय में से कुछ न कुछ बचाकर यूनिट खरीद सकता है और इस प्रकार देश में पंचवर्षीय योजनाओं के लिए अधिक धन उपलब्ध हुआ है।

ट्रस्ट अथवा प्रन्यास की असफलताएँ—सरकार ने इस ट्रस्ट की स्थापना मध्यमवर्गीय तथा निम्न श्रेणी की जनता की अल्प बचतों को औद्योगिक क्षेत्रों की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से की थी और वह इस उद्देश्य को पूर्ण रूप में पूरा करने में असफल रहा है। इसके अतिरिक्त ट्रस्ट की अधिकांश इकाई धारक बड़े शहरों तक ही सीमित हैं। ट्रस्ट द्वारा ग्रामीण क्षेत्र की बचतों को इकाई में आकर्षित करने के लिये किये गये लगभग सभी प्रयत्न अपर्याप्त, अप्रभावशील तथा प्रेरणारहित सिद्ध हुए हैं। यही नहीं, एक ऐसी अर्थ-व्यवस्था में जहाँ कि आर्थिक मूल्य बहुत शीघ्र बदल जाते हैं, मनुष्य सदैव इस बात के लिए बहुत अधिक बल देता है कि उनकी बचतों का मौद्रिक मूल्य भी बढ़े। किन्तु ट्रस्ट उसे यह सुविधा देने में भी असमर्थ रहा है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. औद्योगिक वित्त प्रदान करने वाली उच्च संस्था के रूप में भारत के औद्योगिक विकास बैंक के महत्त्व की विवेचना कीजिए। (दिल्ली, १९७२)

२. भारत में राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम के कार्य-कलाप का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। (इन्दौर, १९७०)

३. यूनिट ट्रस्ट ऑफ इण्डिया पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये।
(मेरठ, १९६८; आगरा, १९६६; दिल्ली, १९६७)

४. भारतीय औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम पर टिप्पणी लिखिए। (दिल्ली, १९६३; विक्रम, १९६४; नागपुर, १९६४; राजस्थान, १९६२; मेरठ, १९६८)

५. राज्य वित्त निगमों के पिछले कुछ वर्षों में किये गये कार्यों की समीक्षा कीजिए। उनके सङ्गठन में सुधार तथा उद्देश्यों की पूर्ति में सफलता के लिए अपने सुझाव दीजिए।
(जीवाजीराव, १९६५)

६. भारत में अभी तक कितने राज्य वित्त निगम स्थापित किये गये हैं ? उनकी कार्य-विधि की संक्षिप्त व्याख्या कीजिए। (आगरा, १९५६)

७. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये :—
(i) पुनर्वित्त निगम। (मेरठ, १९७०; नागपुर, १९६४; राज०, १९६२)
(ii) राष्ट्रीय औद्योगिक विकास निगम। (जीवाजी, १९६७; नागपुर, १९६४)
(iii) राजस्थान राज्य औद्योगिक वित्त निगम। (राज०, १९६२)
(iv) औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम। (मेरठ, १९७०)
(v) औद्योगिक वित्त निगम। (मेरठ, १९७०)
(vi) राष्ट्रीय लघु उद्योग निगम। (राजस्थान, १९६८)
(vii) औद्योगिक विकास बैंक। (विक्रम, १९७०; मेरठ, १९६८ एवं १९७१)
(viii) मध्य-प्रदेश वित्त निगम। (इन्दौर, १९६८; विक्रम, १९६३)
(ix) उत्तर प्रदेश वित्त निगम। (मेरठ, १९७०)

से है जो मूल्यों में घट-बढ़ की आशा से किया जाता है।" "प्रतिभूतियों में परिकल्पना से आशय उन पर पूँजीगत लाभ कमाने की भावना से प्रतिभूतियों का विभिन्न मूल्यों पर क्रय-विक्रय करने से है।"[1]

परिकल्पना के आवश्यक तत्त्व (Essentials of Speculation)—

किसी भी बाजार में सट्टे के निम्न आवश्यक तत्त्व अथवा लक्षण होते हैं :—(१) माल की सुपुर्दगी व मूल्य का भुगतान सौदा करते समय न होकर एक निश्चित तिथि तक के लिए स्थगित कर दिया जाता है। (२) सौदे का उद्देश्य माल की वास्तविक सुपुर्दगी देने अथवा लेने का नहीं होता है। (३) सौदा केवल मूल्यों के अन्तर द्वारा लाभ प्राप्त करने के लिए होता है। (४) निश्चित तिथि पर बाजार में उस वस्तु के वास्तविक मूल्य तथा पूर्वनिश्चित मूल्य का अन्तर दे अथवा लेकर सौदा पूरा कर लिया जाता है। (५) क्रय-विक्रय माल की नहीं, अपितु जोखिम की होती है।

पारिकल्पना वनाम विनियोग (Speculation *Vs.* Investment)—

स्कन्ध-विपणियों की सबसे अधिक आलोचना उन पर होने वाली परिकल्पना के कारण की जाती है। कहा जाता है कि स्कन्ध-विपणि सन्देहात्मक उपयोगिता वाले संस्थान हैं। इसके संरक्षण में होने वाली परिकल्पना के अभिशाप से आज के धन कुवेर, कल राह के भिखारी बन जाते हैं। इससे राष्ट्रीय पूँजी की क्षति होती है; प्रतिभूतियों के मूल्यों में अनावश्यक उतार-चढ़ाव होते हैं और अन्त में विशुद्ध विनियोक्ता हानि उठाकर प्रतिभूतियों में से अपना धन खींच कर घर बैठ जाता है। इन्हीं सब बातों के कारण न केवल परिकल्पना को समाप्त करने की माँग की जाती है। अपितु स्कन्ध विपणि तक को बन्द करने की माँग की जाती है। इस सम्बन्ध में कोई निश्चित विचार प्रकट करने से पूर्व इन दोनों में अन्तर समझना आवश्यक प्रतीत होता है।

परिकल्पना तथा विनियोग में अन्तर

क्रम संख्या	अन्तर का आधार	परिकल्पना (Speculation)	विनियोग (Investment)
१.	उद्देश्य	परिकल्पना का उद्देश्य प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करके पूँजीगत लाभ कमाना होता है।	विनियोग का उद्देश्य एक निश्चित एवं स्थायी आय प्राप्त करने के उद्देश्य से प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करना होता है।
२.	विनियोग की अवधि	परिकल्पक एक निश्चित अवधि के लिए अपनी पूँजी का विनियोजन नहीं करता, अपितु वह तुरन्त प्रत्याय (Return) में विश्वास रखता है।	विनियोजक एक निश्चित अवधि के लिये अपनी पूँजी का विनियोजन करता है। अतएव वह तुरन्त प्रत्याय में विश्वास नहीं रखता।
३.	प्रतिभूतियों का वास्तविक-हस्तान्तरण	परिकल्पना में प्रतिभूतियों का वास्तविक हस्तान्तरण नहीं होता।	इसमें विनियोक्ता के नाम में प्रतिभूतियों का वास्तविक हस्तान्तरण होता है।
४.	निजी अथवा उधार ली गई पूँजी	परिकल्पक निजी एवं उधार ली गई दोनों प्रकार की पूँजी से प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता है।	विनियोजक केवल अपनी निजी पूँजी से ही प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करता है।

1 "Speculation in securities means trading in securities for the primary purpose of realising capital gains, that is making a profit by subsequent purchase or sale at different price."—**Commerce Annual.**

५.	मूल्य	इसमें प्रतिभूतियों के मूल्यों के वर्तमान तथा भावी अन्तरों में व्यवहार होता है।	इसमें प्रतिभूतियों के केवल वर्तमान मूल्यों पर ही व्यवहार होता है।
६.	सौदों की किस्म	यह प्रायः अग्रिम (Forward) सौदों में व्यवहार करता है।	यह सदैव तैयारी (Ready) के सौदों में ही व्यवहार करता है।
७.	कम्पनी की आर्थिक स्थिति पर ध्यान देना	परिकल्पक कम्पनी की आर्थिक स्थिति की ओर विशेष ध्यान नहीं देते, अपितु प्रतिभूतियों के मूल्य परिवर्तन की ओर विशेष ध्यान देते हैं।	विनियोजक कम्पनी की क्रियाओं एवं वित्तीय स्थिति पर विशेष ध्यान देते हैं।

परिकल्पना तथा जुए में अन्तर (Difference between Speculation and Gamble)—

प्रायः लोग परिकल्पना को एक प्रकार का जुआ ही समझते हैं। किन्तु इस प्रकार की धारणा मिथ्या एवं वास्तविकता से परे है। परिकल्पक परिकल्पना द्वारा समाज की आर्थिक उन्नति में सहायक होता है, परन्तु जुआरी समाज के लिए अभिशाप है। परिकल्पना में सफलता प्राप्त करने के लिए बाजार का विस्तृत अध्ययन तथा अत्यधिक दूरदर्शिता की आवश्यकता होती है, किन्तु जुआरी को इस प्रकार के अध्ययन व दूरदर्शिता की कोई आवश्यकता नहीं है, वह बेकार की बातों पर दावँ लगा बैठता है। अतः **"परिकल्पना उस स्थान से प्रारम्भ होती है जहाँ से दूरदर्शिता आरम्भ होती है तथा जुआ उस स्थान से आरम्भ होता है जहाँ से दूरदर्शिता का त्याग होता है।"** परिकल्पना को वैधानिक कोई आपत्ति नहीं, जबकि जुआ पूर्ण रूप से अवैधानिक है।" परिकल्पना का उद्देश्य आर्थिक होता है, जबकि जुए का कोई ठोस आर्थिक उद्देश्य नहीं होता। वैधानिक दृष्टि से इन दोनों में जो अन्तर विद्यमान है, वह ३ फरवरी १९३८ की केपीटल पत्रिका में इस प्रकार दिया गया था :—'परिकल्पना एवं जुआ में ऐसा विचित्र अन्तर होता है कि कभी-कभी उसका पता चलाना अत्यन्त कठिन हो जाता है। फिर भी वैधानिक दृष्टि से जहाँ परिकल्पना को अहितकर न जानकर अच्छी दृष्टि से देखा जाता है, वहीं इसके जन्मजात साथी जुए को बुरी दृष्टि से देखा जाता है। अतः इन दोनों के व्यवहार में अवश्य ही ऐसा अन्तर है, जो एक को अच्छाई तथा दूसरे को बुराई प्रदान करता है। अतः यह जानना बहुत महत्त्वपूर्ण है कि ऐसे कौन से सिद्धान्त हैं जिनके आधार पर किसी एक विशेष व्यवहार को निश्चित रूप में परिकल्पना या जुए का व्यवहार कहा जा सके। देखा जाय तो परिकल्पना में कुछ भी अवैधानिक नहीं दिखाई देता, क्योंकि स्कन्ध-विनिमय में परिकल्पना हेतु सभी के लिए द्वार खुला है और कोई भी नियम इस पर प्रतिबन्ध नहीं लगाता। परन्तु जुआ खेलना वैधानिक दृष्टि से भी अनुचित है और इस कार्य के लिए प्रत्येक सरकार प्रतिबन्ध लगाती है।"

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से परिकल्पना तथा जुआ में अन्तर निम्न तालिका से स्पष्ट होता है :—

क्रम संख्या	अन्तर का आधार	परिकल्पना (Speculation)	जुआ (Gamble)
१.	आरम्भ होना	परिकल्पना उस स्थान से आरम्भ होती है जहाँ से दूरदर्शिता आरम्भ होती है।	जुआ उस स्थान से आरम्भ होता है जहाँ से दूरदर्शिता का त्याग होता है।
२.	वैधानिकता	परिकल्पना वैधानिक होती है।	जुआ अवैधानिक होता है।
३.	उपयोगिता	परिकल्पना समाज की आर्थिक उन्नति में सहायक है।	जुआ समाज के लिए अभिशाप है।
४.	जोखिम का रूप	परिकल्पना मूल्यों के परिवर्तन से सम्बन्धित आर्थिक जोखिम को उठाने से सम्बन्धित होती है।	जुआ कृत्रिम जोखिम में ध्यान लगाने की क्रिया होती है।

५.	आधारशिला	परिकल्पक अपने ज्ञान एवं अनुभव के आधार पर भविष्य के बारे में विचार करता है। अतएव परिकल्पना के कुछ ठोस आधार होते हैं।	जुआरी केवल अनुमान के आधार पर ही भविष्य के बारे में विचार करता है। अतएव जुआ अन्धविश्वास पर खेला जाता है।
६.	न्यायसंगत होना	परिकाल्पनिक व्यवहार न्यायसंगत कहे जाते हैं।	जुए के व्यवहार न्यायसङ्गत नहीं कहे जाते हैं।
७.	योग्यता	परिकल्पक सच्चे अर्थ में एक कुशल दूरदर्शी एवं अनुभवी व्यक्ति होता है।	जुआरी भाग्यवादी होता है। वह प्रायः झूठे भविष्यकर्त्ताओं पर विश्वास कर बैठता है। इस प्रकार वह कुशलता एवं दूरदर्शिता से दूर होता है।

परिकल्पक अथवा सटोरियों के प्रकार (Types of Speculators)—

इनको हम निम्न दो वर्गों में बाँट सकते हैं :—(१) **पेशे वाले अथवा व्यावसायिक सटोरिये** (Professional Speculators)—ये सटोरिये वे होते हैं जो बाजार की प्रगति (Trend) का वैज्ञानिक ढङ्ग से अध्ययन करते हैं, सभी प्राप्त सूचनाओं को एकत्रित करते एवं अध्ययन करते हैं तथा अपना सम्पूर्ण समय इसी व्यवसाय में लगाते हैं। (२) **नये परिकल्पक अथवा मनोरंजन वाले सटोरिये** (Amateur Speculators or Amateur)—ये वे सटोरिये होते हैं जो कभी-कभी मनोरंजन के लिए **'साइड बिजनेस'** (Side Business) के रूप में सट्टा करते हैं और बहुधा उनके पास उस विषय में कोई विशिष्ट सूचना नहीं रहती है तथा अफवाहों पर ही अपना व्यापार करते हैं।

अंश बाजार के तीन प्रकार के जानवर (Three Kinds of Animals on the Stock Exchange)—

अंश बाजार में तीन प्रकार के जानवर (परिकल्पक) पाये जाते हैं—(१) तेजड़िया (Bull), (२) मन्दड़िया (Bear), तथा (३) चंचल परिकल्पक (Stag)। इनमें से प्रत्येक की अलग-अलग विशेषतायें होती हैं, जिनका वर्णन इस प्रकार किया गया है :—

(१) **तेजड़िया या लम्बी उड़ान भरने वाला परिकल्पक** (Bull or Long)—तेजड़िया या लम्बी उड़ान भरने वाला परिकल्पक सदैव आशावादी होता है। वह यह समझकर ही किसी प्रतिभूति को खरीदता है कि भविष्य में उस प्रतिभूति का मूल्य बढ जायेगा और भुगतान की तिथि को बेच देगा। इस तरह यह अपनी आर्थिक स्थिति से भी अधिक अंशों के लिये आवेदन-पत्र भेज देता है। कभी-कभी यह परिकल्पक अंश वितरण होने से पहले ही उन्हें किसी व्यक्ति के हाथ अपने नाम मे अंशों के वितरण की प्रत्याशा में बेच देता है। ऐसा करने का एक और भी कारण हो सकता है कि उसके इस व्यवहार का पता जब कम्पनी के प्रवर्तकों को चलेगा तो वे लोग पूर्व विक्रय से अपने अंशों का बाजार खराब होने के लिए स्वयं ही बाजार की ओर न देखकर उन अंशों को खरीद लेंगे।

(२) **मन्दड़िया** (Bear or Short)—एक मन्दड़िया परिकल्पक सदैव निराशावादी होता है। वह अंश स्कन्ध तथा अन्य प्रतिभूतियों को आगामी प्रदाय के लिए बेचता है, जबकि वास्तव में प्रतिभूतियाँ इसके पास नहीं होतीं, परन्तु वह सदैव यही सोचा करता है कि प्रदाय की तिथि से पहले ही उनकी कीमतें कम हो जावेंगी तथा वह उन्हें कम मूल्य पर खरीद कर नियत तिथि को प्रदाय कर देगा। इस तरह प्रतिभूति के विक्रय एवं क्रय मूल्य में जो अन्तर होगा वह इसका लाभ हो जायेगा। परन्तु यदि इसके अनुमान के विरुद्ध बाजार में प्रतिभूतियों का मूल्य

कम होने के स्थान पर बढ़ जाता है और इसे प्रदाय तिथि पर प्रतिभूतियाँ देने के लिए बढ़े हुए मूल्य पर ही उन्हें खरीदने के लिए विवश किया जाता है तो वह प्रतिभूतियाँ न खरीदकर उसके मूल्य बढ़ जाने के कारण जो अन्तर हो जाता है, बस केवल उसी अन्तर वाली राशि का भुगतान अपने खरीदार को कर देता है, जिसमें कि इसे हानि उठानी पड़ती है। इसके साथ ही तेजड़िये की भाँति यह भी बदला-शुल्क देकर अपने व्यवहार को कुछ अवधि के लिए स्थगित करा सकता है।

(३) **चंचल परिकल्पक** (Stag)—चंचल परिकल्पक वह होता है जो न तो किसी प्रतिभूति को खरीदता है और न बेचता है, परन्तु उसके लिए केवल आवेदन-पत्र ही भेजा करता है। यह परिकल्पक किसी भी नवीन कम्पनी के अंशों के लिए इस उद्देश्य से आवेदन-पत्र भेजा करता है कि जनता में जैसे ही इनके लिए माँग अधिक होगी और इनका मूल्य बढ़ेगा तो यह उन अंशों को बेच देगा तथा उसके द्वारा लाभ प्राप्त कर लेगा। यह परिकल्पक केवल आवेदन-राशि (Application Money) के अतिरिक्त उन अंशों के लिए और धन-राशि देना नहीं चाहता, क्योंकि इसका यह विचार रहता है कि अंशों का वितरण (Allotment) होने के पहले ही यह उन्हें किसी न किसी व्यक्ति को बढ़े हुए मूल्य पर बेचकर लाभ कमा लेगा। यह सदैव यही सोचता रहता है कि भुगतान दिवस तक इसकी क्रय की गई सम्पत्ति का मूल्य बढ़ जायगा और भुगतान की तिथि से पूर्व उसे बेचकर लाभ कमा लेगा।

परिकल्पना की आर्थिक उपयोगिता (Economic Utility of Speculation)—

अंश बाजार में विवेकपूर्ण एवं स्वस्थ परिकल्पना से निम्नलिखित आर्थिक लाभ होते हैं :—

(१) **भावी परिवर्तनों का पूर्वानुमान** (Forecasting of the Future Changes)—अंश बाजार के परिकल्पक प्रतिभूतियों के मूल्यों में होने वाले भावी परिवर्तनों का पहले से ही अनुमान लगाकर सम्बन्धित कम्पनी एवं अन्य पक्षकारों को उन पर सोचने के लिए विवश कर देते हैं। अतएव वे इसका सामना करने के लिए पहले से ही सावधान हो जाते हैं।

(२) **बाजार का विस्तृत होना** (Extension in the Market)—परिकल्पना के द्वारा प्रतिभूतियों का बाजार विस्तृत हो जाता है। इसका कारण यह है कि प्रत्येक परिकल्पक परिस्थिति के अनुकूल प्रतिभूतियों का खूब क्रय-विक्रय करता है।

(३) **पूँजी की गतिशीलता में वृद्धि** (Increase in the Mobility of Capital)—परिकल्पना के द्वारा पूँजी की गतिशीलता में वृद्धि होती है, क्योंकि परिकल्पकों के द्वारा भारी मात्रा में सौदे किये जाने के कारण प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होता रहता है।

(४) **मूल्यों में सन्तुलन** (Prices are balanced)—परिकल्पना द्वारा वस्तुओं के मूल्यों में सन्तुलन स्थापित हो जाता है। इसका कारण यह है कि भावी परिवर्तनों का पूर्वानुमान हो जाने के कारण परिकल्पक पहले से ही उन पर कार्य करना शुरू कर देते हैं। फलस्वरूप जो मूल्यों में परिवर्तन आज से तीन महीने बाद होने वाला था, वह पहले से ही थोड़ा-थोड़ा होना शुरू हो जाता है। इधर कम्पनी को भी सुधारात्मक कदम उठाने का उचित अवसर मिल जाता है। इस प्रकार मूल्यों में सन्तुलन कायम हो जाता है।

(५) **विभिन्न बाजारों में मूल्य समता** (Price Parity in Different Markets)—परिकल्पक जहाँ प्रतिभूतियों के मूल्य कम होते हैं वहाँ से उन्हें खरीद कर उन्हें अधिक मूल्य वाले बाजारों में बेच देते हैं। इसके फलस्वरूप दोनों बाजारों के मूल्य समान हो जाते हैं।

(६) **प्रतिभूतियों की माँग में वृद्धि** (Increase in the Demand of Securities)—अंश बाजार में परिकल्पकों द्वारा भारी मात्रा में सौदे किये जाने के कारण प्रतिभूतियों की माँग में वृद्धि हो जाती है। इससे कम्पनियों को पूँजी एकत्रित करने में सरलता रहती है।

में से ७ सदस्य सरकार, स्टेट बैंक तथा चेम्बर आदि के हैं। अन्य स्थानों में बाहरी सदस्यों को प्रोत्साहित नहीं किया गया।

विपणियों की व्यवस्था एवं प्रबन्ध, प्रबन्ध-समितियों के अतिरिक्त उप-समितियों के द्वारा भी किया जाता है। बम्बई में सबसे अधिक उप-समितियाँ हैं। उप-समितियों की नियुक्ति प्रबन्ध-समिति द्वारा की जाती है।

सदस्यता (Membership)—

सदस्यता के लिए अधिकांश विपणियों में बड़े कठोर नियम हैं। केवल ख्याति प्राप्त एवं आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ व्यक्तियों को ही सदस्यता दी जाती है। इसका मुख्य कारण यह है कि विनियोक्ताओं के हितों की सुरक्षा हो तथा व्यापारिक नैतिक-स्तर ऊँचा उठे। इस नैतिक स्तर को बनाये रखने तथा विनियोक्ता के हितों की सुरक्षा के लिए प्रत्येक स्कन्ध विपणि अपनी एक नियमावली बनाती है, जिसके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को सदस्य बनने के पूर्व अनेक व्यापारिक तथा वैज्ञानिक कार्यवाहियों की पूर्ति करनी पड़ती है।

कोई भी वयस्क व्यक्ति जिसमें अनुबन्ध करने की क्षमता हो एवं भारत का निवासी हो तथा जिसकी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो वह निश्चित शुल्क देने एवं निश्चित अंश खरीदने के पश्चात् स्कन्ध-विपणि का सदस्य बनाया जा सकता है। नये सदस्य को सामान्यतया कुछ रुपया जमानत (Security) के रूप में जमा करना पड़ता है। बम्बई के भावी सौदा करने वालों को २०,००० रु० की जमानत देनी पड़ती है।

इन स्कन्ध-विपणियों में केवल इनके सदस्य तथा अधिकृत लिपिक (Authorised clerks) ही व्यवहार कर सकते हैं। प्रत्येक सदस्य को निर्धारित नियमों व आदेशों का पालन करना पड़ता है। नियमों के उल्लंघन की दशा में उनकी सदस्यता तक समाप्त की जा सकती है। स्कन्ध-विपणि में व्यवहार के अतिरिक्त सदस्य कोई अन्य कार्य नहीं कर सकते। प्रत्येक सदस्य अपने व्यापार के लिए अधिक से अधिक ४ लिपिक नियुक्त कर सकता है तथा प्रत्येक लिपिक के लिए उसे निर्धारित वार्षिक शुल्क विपणि को देना पड़ता है। साझेदारी के लिए यह लिपिक संख्या ७ है। सदस्य को यह अधिकार होता है कि वह एक अथवा एक से अधिक अभिकर्त्ता नियुक्त करे। ये अभिकर्त्ता केवल अपने नियोक्ता के नाम से ही व्यापार कर सकते हैं।

समाशोधन-गृह (Clearing Houses)—

जिस प्रकार किसी स्थान के लिए एक बैंकिंग व्यापार को समाशोधन-गृह की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार स्कन्ध-विपणि सदस्यों के व्यवहारों का निर्णय करने के लिए यहाँ पर भी एक समाशोधन-गृह होता है, जो वास्तव में विपणि का एक अंश है। यह गृह सन् १९२१ में बम्बई स्कन्ध विपणि में प्रारम्भ किया गया था। इस विभाग के द्वारा प्रतिभूतियों एवं उनके मूल्य के भुगतान का समाशोधन किया जाता है।

सूचीयन (Listing)—

स्कन्ध-विपणियों में जिन प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है उनके लिए प्रत्येक कम्पनी अथवा व्यापारिक संस्था को पहले स्कन्ध-विपणि-समिति (Stock Exchange Committee) से अनुमति लेनी पड़ती है। प्राय: प्रत्येक कम्पनी अपनी विवरण-पत्रिका के प्रकाशन के समय उसके ऊपर यह उल्लेख करती है कि "अमुक स्कन्ध-विपणि पर अंश सम्बन्धी व्यवहार करने के लिए आवेदन-पत्र दिया गया है।" यह आवेदन-पत्र विपणि के किसी भी सदस्य द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता है। कम्पनी के बारे में पूर्ण जानकारी व सन्तुष्टि प्राप्त करने के पश्चात् ही आवेदन-पत्र स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार की अनुमति प्राप्त हो जाने के पश्चात् ही

उस कम्पनी की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय स्कन्ध-विपणि पर किया जा सकता है, सूचीयन से कम्पनी की ख्याति में वृद्धि होती है तथा जनता में विश्वास उत्पन्न हो जाता है।

प्रचलित मूल्य-सूची (Quotation List)—प्रत्येक स्कन्ध-विपणि अपनी प्रचलित मूल्य-सूची प्रकाशित करती है, जिसमें स्कन्ध-विपणि में व्यवहार होने वाले विभिन्न औद्योगिक तथा अन्य प्रतिभूतियों के मूल्य दिये रहते हैं। इसमें इस बात का भी उल्लेख रहता है कि विभिन्न मूल्यों पर व्यवहार कैसा रहा। यह सूची विपणि द्वारा समाचार-पत्रों में प्रकाशित की जाती है।

प्रमुख भारतीय स्कन्ध-विपणियों का दर्शन
(A View of the Leading Stock Exchanges of India)

विद्यार्थियों की जानकारी हेतु यहाँ पर भारत की कुछ विख्यात स्कन्ध-विपणि अर्थात् बम्बई, कलकत्ता, स्कन्ध-विपणियों का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

बम्बई स्कन्ध-विपणि (Bombay Stock-Exchange)—

भारत में बम्बई स्कन्ध-विपणि सबसे प्राचीन एवं महत्वपूर्ण है। इसकी स्थापना सन् १८८७ ई० में हुई थी। इसका पुराना नाम 'दी बॉम्बे नेटिव शेयर एण्ड स्टॉक ब्रोकर्स एसोसियेशन' (The Bomby Native Share and Brokers Association) था। सन् १८८७ ई० से पूर्व भी बम्बई के अन्दर प्रतिभूतियों का व्यापार होता था, किन्तु इसका कोई नियम या संविधान नहीं था। आज इस विपणि का महत्व केवल राष्ट्रीय ही नहीं है, वरन् अन्तर्राष्ट्रीय भी है।

प्रबन्ध एवं कार्य-संचालन—भारत में बम्बई स्कन्ध-विपणि ही एक ऐसी संस्था है जिसका नियमन बॉम्बे प्रतिभूति अनुबन्ध नियन्त्रण एक्ट, १९२५ (Bombay Security Contract Control Act, 1925) के अन्तर्गत हुआ है। इसका संचालन सङ्घ-नियम (Deed of Association) के अनुसार होता है, जिसमें ३८ नियम (Articles) हैं।

बम्बई स्कन्ध-विपणि का सङ्गठन एवं कार्य-संचालन एक प्रबन्ध-समिति द्वारा होता है, जिसे व्यवस्थापक सभा (Governing Body) कहते हैं। इसकी संचालक समिति में १६ सदस्य हैं, जिनका निर्वाचन विपणि के सदस्यों द्वारा किया जाता है। इनकी अवधि दो वर्ष के लिए होती है। इस समिति को प्रबन्ध एवं नियन्त्रण के समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं। किन्तु नियमों में परिवर्तन करने अथवा उन्हें रद्द करने का अधिकार तभी प्रयोग में लाया जा सकता है जब बम्बई राज्य की सरकार इस कार्य के लिये पूर्व अनुमति प्रदान कर दे। दैनिक व्यापार सम्बन्धी कार्यों के लिये अनेक उप-समितियाँ बना दी जाती हैं। उदाहरणार्थ; दोष विषयक उप-समिति (Defaulter Committee) व मतभेद निबटारा उप-समिति (Arbitration Committee) आदि। इनके द्वारा संचालन-सभा का कार्य बहुत सुगम हो जाता है एवं कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है।

सदस्यता—बम्बई स्कन्ध-विपणि की वर्तमान सदस्य संख्या ५०४ है। बम्बई राज्य के निवासी तथा ऐसे ब्रिटिश लोग जो १० वर्ष से अधिक समय से बम्बई राज्य में रह रहे हों तथा जिनकी न्यूनतम उम्र २१ वर्ष हो, इसके सदस्य बन सकते हैं। इस विपणि का सदस्य बनने के लिए पहले एक आवेदन-पत्र देना पड़ता है, जिस पर ऐसे दो व्यक्तियों की सिफारिश होनी चाहिये, जो कम से कम पाँच वर्ष से विपणि के सदस्य हैं। प्रत्येक नए सदस्य से प्रवेश-शुल्क लिया जाता है तथा उसको सदस्यता का प्रमाण-पत्र (Certificate of Membership) भी लेना पड़ता है, जिसका मूल्य समयानुसार २०,००० रु० से लेकर ३०,००० रु० तक हो जाता है अर्थात् घटता-बढ़ता रहता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को ५ रु० वार्षिक चन्दे के रूप में भी देने पड़ते हैं। एक विपणि का सदस्य अन्य विपणियों का सदस्य नहीं बन सकता है। इसके अतिरिक्त वह कोई अन्य व्यापार भी नहीं कर सकता है। किसी भी सदस्य को यह अधिकार नहीं है कि वह बिना संचा-

लकों की अनुमति के अपना सदस्यता-पत्र किसी को हस्तान्तरित कर सके एवं बेच सके। सदस्यता के आवेदन-पत्र पर विचार करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाता है कि केवल प्रतिष्ठित तथा आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ व्यक्ति ही इसके सदस्य बन सके। इसकी एक नियमावली है जिसका प्रत्येकसदस्य को पालन करना पड़ता है। यदि कोई सदस्य इस नियमावली का उल्लंघन करता है तो उसे उचित दण्ड भी दिया जाता है।

बम्बई स्कन्ध-विपणि में केवल उसके सदस्य अथवा अधिकृत लिपिक (Authorised clerk) ही कार्य कर सकते हैं। प्रत्येक सदस्य अधिकतम ४ लिपिक रख सकता है, किन्तु साझेदारी की संस्थाओं में यह संख्या ७ तक हो सकती है। प्रत्येक लिपिक के सदस्य को एक निर्धारित शुल्क देना पड़ता है। यह शुल्क संचालक सभा द्वारा निश्चित किया जाता है।

बम्बई स्कन्ध-विपणि में सदस्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य व्यक्ति भी होते हैं, जिन्हें रेमिसायर्स (Remisiers) कहते हैं। ये एक प्रकार के उप-दलाल (Sub-Brokers) होते हैं। ये लोग सदस्य दलालों की ओर से व्यवहार करते हैं। इनके पारिश्रमिक की दर व्यापार के प्रकार पर निर्भर करती है।

बम्बई स्कन्ध-विपणि में तत्कालीन (Ready) तथा अग्रिम (Forward) दोनों ही प्रकार के व्यवहार किये जाते थे, किन्तु गत महायुद्ध से अग्रिम व्यवहार स्थगित कर दिये गए हैं, वैसे इस प्रकार के व्यवहारों का भुगतान महीने के अन्त में अवश्य हो जाना चाहिये। वायदे के व्यवहार दिन के १२ बजे से सायंकाल के ३ बजे तक होते हैं। तत्काल व्यवहारों में मूल्य का भुगतान एवं प्रतिभूतियों का आदान-प्रदान एक सप्ताह में हो जाता है। बम्बई स्कन्ध-विपणि में लन्दन स्कन्ध-विपणि की भांति मध्यस्थों (Brokers) तथा कृत्यकी (Jobbers) में कोई अन्तर नहीं पाया जाता है।

कलकत्ता स्कन्ध-विपणि (Calcutta Stock Exchange Association Ltd.)—

कलकत्ता स्कन्ध-विपणि एशिया की शायद सबसे बड़ी एवं महत्त्वपूर्ण विपणि मानी जाती है। इसकी स्थापना मई सन् १९०८ में हुई। सन् १९२३ तक यह विपणि एक दलाल मण्डल (Brokers' Association) के रूप में कार्य करती रही। बाद में, अर्थात् ७ जून सन् १९२५ को इसका कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत सीमित दायित्व वाली कम्पनी के रूप में पंजीयन (Registration) हो गया। इसकी अधिकृत पूँजी ३ लाख रुपये थी, जो कि एक-एक हजार के ३०० अंशों में विभाजित थी। अब एक अंश के चार अंश कर दिये गये हैं और इस प्रकार प्रत्येक का अंकित मूल्य १,००० रु० से घटकर केवल २५० रु० रह गया है। कुल अंश संख्या भी ३०० से बढ़कर १,२०० हो गई है। इनमें से १,११६ अंशों का निर्गमन किया जा चुका है। सदस्यता के लिये अंशधारी होना आवश्यक है। इस प्रकार प्रत्येक सदस्य को कम से कम एक अंश का स्वामी होना परम आवश्यक है। सदस्यों की वर्तमान संख्या एक हजार से ऊपर है।

प्रबन्ध (Management)—कलकत्ता स्कन्ध-विपणि का प्रबन्ध एक प्रबन्ध-समिति द्वारा होता है। इस प्रबन्ध-समिति में कुल मिलाकर १९ सदस्य हैं, जिनमें से १६ का प्रतिवर्ष सदस्यों में से चुनाव होता है और शेष तीन केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनीत होते हैं। यह समिति संचालन का कार्य करती है, नियम बनाती है, सौदों के संचालन में सहायता करती है और जब कभी सदस्यों में कोई झगड़ा होता है तो उसका निबटारा करती है। समिति का निर्णय अन्तिम होता है और इस प्रकार सब सदस्यों को मानना पड़ता है। समिति के समक्ष शिकायत प्रस्तुत करने के लिए १६ रु० का शुल्क जमा करना आवश्यक है।

सदस्य (Members)—सदस्य एक ही प्रकार के होते हैं। सदस्यता के लिये अंशधारी

६

स्कन्ध-विनिमय-विपणि

(Stock-Exchange)

प्रारम्भिक—स्कन्ध-विपणि से आशय

स्कन्ध-विनिमय-विपणि से आशय एक ऐसे स्थायी एवं सुसंगठित बाजार से है जहाँ संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के विभिन्न प्रकार के अंश, ऋण-पत्रादि, जन-उपयोगी संस्थाओं तथा सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होता है। इसको अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिभूति विपणि भी कहा जा सकता है, क्योंकि इनमें बिकने वाली प्रतिभूतियाँ प्रायः संसार भर में अपना मूल्य रखती हैं।

स्कन्ध-विनिमय-विपणि की परिभाषायें
(Definitions of Stock Exchange)

स्कन्ध-विपणि की कुछ प्रमुख परिभाषायें निम्नलिखित हैं :—

(१) **हार्टले विदर्स** के अनुसार, "स्कन्ध-विनिमय एक बड़े गोदाम की तरह है, जहाँ पर विभिन्न प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय किया जाता है।"

(२) **पायल** के शब्दों में, "स्कन्ध-विनिमय वह बाजार स्थान है जहाँ वे प्रतिभूतियाँ या तो विनिमय अथवा सट्टे के लिये खरीदी और बेची जा सकती हैं जिनका कि उक्त स्थान पर पंजीकरण हो चुका है।"[1]

(३) **एक अन्य विद्वान** के शब्दों में, "स्कन्ध-विनिमय-विपणि विश्व का भण्डार गृह है, वह राजनैतिक तथा अर्थव्यवस्था की नाड़ी है तथा किसी राष्ट्र की समृद्धि एवं दरिद्रता का मापक यन्त्र है।"[2] यह परिभाषा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

(४) "**स्कन्ध-विनिमय-विपणि** वह मण्डी है, जहाँ विभिन्न प्रकार की औद्योगिक अथवा आर्थिक प्रतिभूतियों; जैसे—संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के अंशों, ऋण-पत्रों, राजकीय-पत्रों, म्यूनिसिपिल और अन्य संस्थाओं के ऋण-पत्रों और बन्धकों का क्रय-विक्रय होता है।"[3]

(५) **भारतीय प्रतिभूति (नियमन) अधिनियम, १९५६** के अनुसार, "स्कन्ध-विनिमय

---

[1] "Security Exchange are market places where securities that have been listed thereon may be bought and sold for either investment or speculation."

—**Pyle** : *Marketing Principles.*

[2] "Stock Exchange has been described as the mart of the world, the nerve centre of politics and finances of a nation, the barometer of its prosperity and adversity."

[3] "A Stock Exchange may be defined as a forum, a mandi or a market for the purchase and sale of industrial and financial securities such as shares and debentures of public companies, Govt. paper, Municipal and other bonds and debentures."

का आशय व्यक्तियों की, समामेलित अथवा असमामेलित संस्था से है, जिसका गठन प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय अथवा उनमें व्यवहार करने के कार्य में सहायता पहुँचाने और उसे नियमित अथवा निमन्त्रित करने के उद्देश्य से किया जाता है।"[1]

निष्कर्ष—"**स्कन्ध विनिमय** विपणि वह है, जहाँ विभिन्न प्रकार की औद्योगिक अथवा आर्थिक प्रतिभूतियों; जैसे—संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के अंशों और ऋण-पत्रों, राजकीय-पत्रों, म्यूनिसिपिल और अन्य संस्थाओं के ऋण-पत्रों और बन्धकों इत्यादि का क्रय-विक्रय होता है।"

स्कन्ध-विनिमय-विपणि का महत्त्व
(Importance of Stock Exchange)

लगभग ७१ वर्ष पूर्व लन्दन जाते समय मार्ग में एक जर्मन युवक को वहाँ के प्रसिद्ध राजनैतिक विस्मार्क ने यह सलाह दी थी—"**यदि तुम ब्रिटेन की आर्थिक एवं राजनैतिक स्थिति के विषय में जानकारी प्राप्त करना चाहते हो तो हाउस ऑफ कॉमन्स का अध्ययन करने की अपेक्षा तुम्हें लन्दन के अंश बाजार का अध्ययन करना चाहिए।**" इन शब्दों से स्कन्ध-विनिमय-विपणि का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। वास्तव में यह एक ऐसे मूल्यवान दर्पण के समान है जिसमें किसी भी राष्ट्र की सामाजिक, आर्थिक, औद्योगिक, 'राजनैतिक स्थिति प्रतिविम्बित हो जाती है। इसी कारण विद्वानों ने कहा है कि "स्कन्ध-विनिमय-विपणि कसी देश की समृद्धि का मापक-यन्त्र है।" **प्रो० मार्शल** के शब्दों में, "स्कन्ध-विपणियाँ केवल व्यापारिक व्यवहारों की प्रमुख प्रदर्शनकर्त्ता ही नहीं हैं अपितु वे मापदण्ड हैं, जो व्यापारिक वातावरण की सामान्य दशा को दर्शाती हैं।" कुछ लोग इसे 'पूँजी का गढ़' (Citadel of Capital) तथा कुछ इसे 'मूल्यों का मन्दिर' ('Shrine of Values') कह कर पुकारते हैं।

भारत में महत्त्व—

भारत में स्कन्ध-विनिमय-विपणियों का भारी महत्त्व है। इसका कारण यह है कि यहाँ पर विदेशों की भाँति विनियोगी बैंकों (Investment Banks) तथा अभिगोपन गृहों (Underwriting Houses) का भारी अभाव है। इन दोनों के अभाव में प्रतिभूतियों के बेचने व खरीदने का एकमात्र साधन स्कन्ध-विनिमय-विपणि ही रह जाती है। इधर भारत में पूँजी की कमी होने के कारण बहुत मुश्किल से एक विनियोगक अपनी बचत का कुछ भाग संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों की प्रतिभूतियों में विनियोग करने में सफल हो पाता है। परन्तु अपने सीमित ज्ञान एवं व्यापार-जगत की जटिलताओं से अनभिज्ञ होने के कारण वह किसी ऐसी संस्था की सहायता चाहता है जो अपनी बचत को किसी अच्छी कम्पनी में पूँजी के रूप में लगाने में सहायता कर सके। इस स्कन्ध-विनिमय-विपणि के द्वारा विनियोगक को अपनी रुचि की प्रतिभूतियों को क्रय करने में सुविधा मिलती है और इसी के द्वारा वह जब चाहे तब अपनी प्रति-भूतियों को उचित मूल्यों पर बेच भी सकता है। इस प्रकार की संस्था उसे विनियोग करने में सहायता प्रदान नहीं करती तो वह सम्भवतः या तो अपनी बचत का कहीं विनियोग ही न करता और यदि करता भी तो शायद किसी ऐसी कम्पनी में जिसकी आर्थिक दशा का उसे ज्ञान न होता। इस प्रकार संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारतवर्ष जैसे पिछड़े राष्ट्र में जहाँ कि पूँजी का भारी अभाव है, स्कन्ध-विनिमय-विपणि ही एक ऐसी एकमात्र सस्था है जो विनियोगकों को प्रति-

---

[1] "Stock Exchange means any body of individuals, whether incorporated or not, contributed for the purpose of assisting, regulation or controlling the business of buying, selling or dealing in securities."—*The Securities Contracts (Regulation) Act, 1956*.

भूतियों के क्रय-विक्रय की सुविधा प्रदान करके औद्योगिक पूँजी में गतिशीलता लाती है तथा बड़ी-बड़ी कम्पनियों की स्थापना करके भीमकाय उत्पादन को सफल बनाती है। यही कारण है कि इन्हें **'पूँजी का गण'** (citadel of capital) कहा जाता है।

स्कन्ध-विपणि के आर्थिक कार्य
(Economic Functions of Stock Exchange)

(१) **प्रतिभूतियों को विपणीय सुविधायें प्रदान करना** (Provides Continuous Market for Securities)—स्कन्ध-विपणि एक ऐसा केन्द्र है जहाँ विभिन्न प्रतिभूतियों के क्रेता व विक्रेता मिलते हैं तथा उनमें व्यवहार करते हैं। इस प्रकार यह विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय के बाजार का कार्य करता है।

(२) **पूँजी को तरलता प्रदान करना** (Provides liquidity to Capital)—स्कन्ध विपणि वे सङ्गठित बाजार होते हैं जहाँ पर विभिन्न प्रकार की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होता है। अतएव कोई भी विनियोक्ता अपनी इच्छानुसार चाहे जब प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय करके उसे नकद धन में परिवर्तित करा सकता है। इस प्रकार यह पूँजी को तरलता प्रदान करने का कार्य करती है।

(३) **प्रतिभूतियों का उचित मूल्यांकन** (Evaluation of Securities)—स्कन्ध-विपणि के माध्यम से जनता के अतिरिक्त धन का विनियोजन लाभदायक उत्पादक उपक्रमों में करने में प्रतिभूतियों के वास्तविक मूल्य का ध्यान रखा जाता है। स्कन्ध-विपणि प्रतिभूतियों के वास्तविक मूल्यांकन में सहायता करती है, क्योंकि अनेक कारणों—जैसे वित्तीय दशायें, माँग व पूर्ति की दशायें, औद्योगिक उपक्रम की स्थिति आदि का स्कन्ध-विपणि के व्यवहारों पर समुचित प्रभाव पड़ता है। स्कन्ध-विपणि द्वारा प्रदत्त मूल्य व्यवस्था से यह सम्भव है कि विनियोक्ता सुदृढ़ एवं लाभदायक उपक्रमों की प्रतिभूतियों में ही अपने धन का विनियोजन करें।

(४) **व्यवहारों की सुरक्षा एवं समानता प्रदान करना** (Brings Equity and Safety in Dealings)—स्कन्ध-विपणि के व्यवहार सुपरिभाषित नियमों तथा प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) अधिनियम, १९५६ के प्रावधानों के अन्तर्गत होते हैं। इसके कारण कपटपूर्ण व्यवहारों के प्रति सुरक्षा बनी रहती है। स्कन्ध-विपणि के सदस्य अपनी साख-प्रतिष्ठा के लिये ईमान तथा सच्चाई बनाये रखते हैं।

(५) **परिकल्पना को प्रोत्साहित करना** (To Encourage Speculative Dealings)—स्कन्ध-विपणि पर प्रायः वायदे के सौदे होते हैं। इनके लिये सभी सुविधायें उपलब्ध कर दी जाती हैं। वायदे की अवधि, भुगतान के दिन तथा शर्तें विपणि की ओर से ही प्रमाणित कर दी जाती हैं। इससे परिकल्पकों (Speculators) को प्रोत्साहन मिलता है। परिकल्पना का पर्याप्त आर्थिक महत्त्व है।

(६) **विद्यमान कम्पनियों को नई पूँजी की प्राप्ति में सहायता प्रदान करना** (To assist existing companies in raising new capital)—विकास की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये विद्यमान कम्पनियों को नई पूँजी की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये अंशों का निर्गमन किया जाता है। स्कन्ध-विपणि इन अंशों के लिये उचित बाजार प्रदान करती है।

(७) **सरकार को ऋण की प्राप्ति में सहायक** (Assist Finance to Government)—देश की सरकार को विकास की विभिन्न योजनाओं के लिये ऋण की आवश्यकता पड़ती है। इसके लिये सरकारी प्रतिभूतियों का निर्गमन किया जाता है। इन प्रतिभूतियों के विक्रय के लिये स्कन्ध-विपणि उचित बाजार प्रदान करती है।

(८) **सूचीयन द्वारा प्रतिभूतियों को सुदृढ़ता प्रदान करना** (To stabilise the Listed Securities)—स्कन्ध-विपणि पर किसी भी अंश का क्रय-विक्रय होने से पूर्व उसका सूचीयन होना परम आवश्यक होता है। सूचीयन केवल उन्हीं कम्पनियों के अंशों का किया जाता है जिन कम्पनियों की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो तथा अंश हस्तान्तरण सुविधाजनक हो। इससे प्रतिभूतियों को सुदृढ़ता प्राप्त होती है, जो उनकी उत्तमता का प्रतीक है।

(९) **अन्य कार्य**—(i) विपणि रिपोर्ट का प्रकाशन करना, (ii) अनुसूचित कम्पनियों के बारे में जानकारी देना, (iii) जन-साधारण की बचत को औद्योगिक प्रतिभूतियों में विनियोजन के लिये प्रोत्साहित करना, एवं (iv) विभिन्न प्रतिभूतियों में विश्वास उत्पन्न करना।

स्कन्ध विनिमय-विपणि के लाभ तथा दोष
(Advantages and Disadvantages of Stock Exchanges)

लाभ (Advantages)—

स्कन्ध-विनिमय-विपणि के निम्नलिखित लाभ हैं :—

(१) **पूँजी को स्थायित्व और गतिशीलता प्रदान करना**—इस संस्था के द्वारा कोई भी विनियोजक जब भी चाहे तुरन्त अपने अंशों को बेचकर धन प्राप्त कर सकता है तथा उसका विनियोग अन्य सुदृढ़ कम्पनी के अंशों में कर सकता है। इस प्रकार स्कन्ध-विनिमय-विपणि के द्वारा विनियोगक को अपनी पूँजी के लिये न केवल सतत् बाजार मिलता है वरन् उसके द्वारा उसकी पूँजी को स्थायित्व एवं कार्यशीलता प्राप्त होती है।

(२) **पूँजी का सदुपयोग**—स्कन्ध-विनिमय-विपणि पूँजी को उत्पादन कार्यों की ओर प्रवाहित करते हैं। इसके अतिरिक्त विनियोक्ता अपनी-अपनी पूँजी को अलाभप्रद उद्योगों में से निकालकर लाभप्रद उद्योगों में लगा सकते हैं। इस प्रकार देश की पूँजी का सदुपयोग होता रहता है।

(३) **धन की बचत करने तथा उसे एकत्रित करने का महत्त्वपूर्ण साधन**—स्कन्ध-विनिमय-विपणि देश के लिये धन की बचत करने तथा उसे एकत्रित करने का महत्त्वपूर्ण साधन है। इसके द्वारा ही पूँजी लगाने वाले व्यक्तियों को विविध प्रकार की प्रतिभूतियों का गहन अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हो जाता है और वे आसानी से अपने धन को लगा सकते हैं। परिणामस्वरूप जनसाधारण धन की बचत करने को प्रोत्साहित होता है। इस प्रकार उद्योग-धन्धों को निरन्तर धन प्राप्त होता रहता है और बाजार में अविराम पूँजी का प्रवाह बना रहता है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यह धन की बचत करने तथा उसे एकत्रित करने का महत्त्वपूर्ण साधन है।

(४) **कम्पनियों की ख्याति में वृद्धि**—जिन कम्पनियों के अंशों का क्रय-विक्रय-स्कन्ध-विनिमय-विपणि पर होता है उनकी ख्याति में स्वतः वृद्धि हो जाती है। इसका कारण यह है कि कम्पनी के अंशों का सूचीयन हो जाने से विनियोक्ताओं की दृष्टि से कम्पनी की ख्याति में वृद्धि हो जाती है। इसके अतिरिक्त एक विनियोक्ता को सदैव यह विश्वास बना रहता है कि वह चाहे जब अपने अंशों का विक्रय करके धन प्राप्त कर सकता है।

(५) **मध्यस्थ का कार्य**—स्कन्ध-विनिमय-विपणि कम्पनी तथा विनियोक्ता के बीच एक मध्यस्थ का कार्य करती है, अर्थात् वैयक्तिक धन को संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों में विनियोग करने के लिये प्रोत्साहित करती है।

(६) **स्वतन्त्र बाजार की प्राप्ति**—इनके द्वारा विभिन्न प्रतिभूतियों के लिये एक स्वतन्त्र बाजार मिल जाता है। विनियोक्ता इच्छानुसार धन का विनियोग कर सकते हैं तथा चाहे जब प्रतिभूतियों को बेचकर अपने धन को निकाल सकते हैं।

(७) **प्रतिभूतियों का सूचीयन** (Listing)—स्कन्ध-विनिमय-विपणि में भिन्न-भिन्न प्रतिभूतियों का सूचीयन भी कुछ दिये गये नियमों के अन्तर्गत ही हो सकता है। सूचीयन से अभिप्राय प्रतिभूतियों के क्रय-विक्रय हेतु सम्बन्धित स्कन्ध-विनिमय-विपणि से पूर्व अनुमति प्राप्त करने से है अर्थात् किसी भी कम्पनी की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय स्कन्ध-विनिमय-विपणि पर तभी किया जा सकता है जबकि ऐसा करने के लिये पूर्व अनुमति प्राप्त कर ली गई हो। यह अनुमति कम्पनी के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त करने के पश्चात् ही प्रदान की जाती है। इसका लाभ यह है कि विनियोक्ता को यह विश्वास हो जाता है कि इन सूचीयन प्रतिभूतियों में विनियोग सुरक्षित है। प्रतिभूतियों के सूचीयन के सम्बन्ध में प्रत्येक स्कन्ध-विनिमय-विपणि के अलग-अलग नियम होते हैं। सूचीयन से प्रतिभूतियों का विक्रय भी सुलभ हो जाता है।

(८) **मूल्य सूची (Quotation List) का प्रकाशन**—स्कन्ध-विनिमय-विपणि द्वारा प्रकाशित मूल्य सूचियों के द्वारा कोई भी विनियोगक अपनी प्रतिभूतियों का मूल्य जान सकता है तथा इस ज्ञान के आधार पर वह अपनी पूँजी को अलाभकारी क्षेत्रों से निकालकर दूसरे लाभकारी स्थानों पर लगा सकता है। इस सूची को तैयार करने में व्यापार विशेषज्ञों की सहायता ली जाती है।

(९) **झूठी प्रतिभूतियों से सुरक्षा**—स्कन्ध-विनिमय-विपणियों के द्वारा गलत अथवा झूठी प्रतिभूतियों का चलना बहुत कठिन है, क्योंकि इनके द्वारा बनाये गये नियम, उपनियम व शर्तें बहुत कठिन होती हैं। इसके अतिरिक्त जैसे ही किसी कम्पनी की आर्थिक दशा खराब होने को होती है अथवा खराब हो जाती है, तुरन्त इस कम्पनी की प्रतिभूतियों का मूल्य गिर जाता है, जिसके कारण जनसाधारण को उस कम्पनी की आर्थिक स्थिति की जानकारी हो जाती है।

(१०) **विदेशी विनियोग की सुरक्षा**—इसके द्वारा अपने देश में ही नहीं वरन् अन्य देशों में भी सरलता से पूँजी का विनियोग किया जा सकता है। उदाहरणार्थ; लन्दन स्कन्ध-विनिमय-विपणि पर आप किसी भी राष्ट्र की प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकते हैं।

(११) **आयात-निर्यात में सुविधा**—इनके द्वारा आयात-निर्यात बहुत सुगम हो जाता है, क्योंकि इसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय भुगतान बिना सोने व चाँदी के वास्तविक आयात-निर्यात से हो जाते हैं।

(१२) **आधुनिक औद्योगिक विकास इन्हीं की देन है**—आधुनिक औद्योगिक विकास इन्हीं की देन है। बिना स्कन्ध-विनिमय-विपणि के किसी भी देश का व्यापारिक तथा औद्योगिक जीवन आज की प्रगति को नहीं पहुँच सकता, क्योंकि इन बाजारों में सब प्रकार का व्यापार होता है। स्कन्ध-विनिमय-विपणि पूँजी प्राप्त करने में, व्यापार के प्रसार तथा नये व्यापार के प्रचलन में, अधिकोषों (Banks) को अपना धन लगाने में तथा सरकार की आर्थिक योजनाओं की पूर्ति में अत्यन्त सहायक सिद्ध होते हैं। इनके अस्तित्त्व से औद्योगिक विकास में सुलभता आती है, जिससे देशवासियों का जीवन-स्तर उच्च होता है तथा राष्ट्र दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति करता है।

दोष अथवा हानियाँ (Disadvantages)—

उपर्युक्त लाभों के कारण यह न समझ लेना चाहिये कि स्कन्ध-विनिमय-विपणि दोष-रहित हैं। (१) इनके द्वारा सट्टेबाजी को प्रोत्साहन मिलता है। उन सटोरियों के लिये जिन्होंने इनके द्वारा धन एकत्रित कर लिया है, यह 'जादू का पिटारा' है। परन्तु उनके लिये जिनको इनसे अपार हानि हुई है, नारकीय पीड़ा के समान है। जिस समय यह अस्वस्थ रूप धारण कर लेती है तो यह पतन का मूल कारण बन जाती है। (२) स्कन्ध विनिमय-विपणि द्वारा प्रतिभूतियों के

मूल्यों में भारी उतार-चढ़ाव आते हैं, जिससे उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों दोनों को क्षति पहुँचती है। सारा आर्थिक जगत छिन्न-भिन्न हो जाता है। (३) अज्ञानी व्यक्तियों के प्रवेश के कारण लाभ होने के स्थान पर हानि होने की अधिक सम्भावना रहती है।

निष्कर्ष (Conclusion)—स्कन्ध-विपणि के लाभों और दोषों का अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि स्कन्ध विपणि वास्तव में किसी देश की प्रगति का मापक यन्त्र है तथा देश के आर्थिक विकास में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करता है।

स्कन्ध-विपणि में प्रतिभूतियों के मूल्यों में उतार-चढ़ाव क्यों और कैसे ?

स्कन्ध-विपणि में मूल्य के उतार-चढ़ाव का आशय उस मूल्य परिवर्तन से है जो प्रतिभूति के अंकित मूल्य से कम अथवा अधिक होता है। प्रतिभूतियों का मूल्य दो प्रकार का होता है—एक तो वह मूल्य जिस पर प्रतिभूति को निर्गमित किया जाता है। यह अंकित मूल्य कहलाता है। दूसरा मूल्य विपणि मूल्य होता है। अर्थात् वह मूल्य जिस पर स्कन्ध-विपणि में प्रतिभूति का क्रय-विक्रय किया जाता है। विपणि मूल्य अंकित मूल्य से कम अथवा अधिक हो सकता है। उदाहरणार्थ, ५० रु० अंकित मूल्य वाली प्रतिभूति का विक्रय स्कन्ध-विपणि पर ६० रु० में हो सकता है तथा ४० रु० में भी। ये दोनों विपणि मूल्य कहलायेंगे। प्रश्न यह उठता है कि ऐसा क्यों और कैसे होता है। प्रतिभूतियों के उतार-चढ़ाव के सम्बन्ध में **आर्म्स स्ट्रोंग** ने एक स्थान पर लिखा है "कि समुद्र की भाँति स्कन्ध-विनिमय-विपणियों में नाना प्रकार की हवायें चलती हैं तथा वे सभी क्रम-बद्ध नहीं होती हैं। प्रायः ये हवायें आँधी के समान उत्पात पैदा करने वाली होती हैं.......कुछ दिनों तक तो बाजार में व्यापार बड़ी शान्ति एवं विघ्न-बाधारहित चलता रहता है परन्तु शीघ्र ही फिर विनिमय-विपणियों में ऐसी घटा घिर आती है कि विपणि के जो सदस्य इस घटाटोप से पूर्व परिचित रहते हैं वे भी इसमें घिर जाते हैं। वहाँ बहुधा अभिनयात्मक गति से अच्छी व बुरी खबरें फैला करती हैं, जिससे मूल्यों में भयंकर परिवर्तन पैदा हो जाते हैं। वह ऐसी दशा होती है कि उसके परिणामस्वरूप बचना दुष्कर होता है। सारे बाजार में बार-बार धक्के लगते हुये दिखाई देते हैं और जो प्रतिभूतियाँ इसके प्रभाव से अलग हो जाती हैं, वे भी प्रभावित हुए बिना नहीं बचतीं।"[1]

वाणिज्य एवं अर्थशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी तथा कुशल एवं दक्ष व्यापारी यह जानता है कि किसी भी वस्तु के मूल्य में उतार-चढाव उस वस्तु की माँग एवं पूर्ति पर निर्भर रहते हैं। यदि माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन है तो उस वस्तु के मूल्य स्थायी रहेंगे और जब तक माँग एवं पूर्ति में सन्तुलन नहीं रहता अर्थात् माँग की अपेक्षा पूर्ति अथवा पूर्ति की अपेक्षा माँग अधिक होती है तो मूल्य घटते अथवा बढ़ते रहते हैं। स्कन्ध विनिमय-विपणि में प्रतिभूतियाँ भी इस माँग एवं पूर्ति नियम के लिए अपवाद नहीं हैं। इस प्रकार प्रतिभूतियों के मूल्य भी माँग एवं पूर्ति के अनुसार ही कम अथवा अधिक रहते हैं। यह तो सामान्य नियम है। हम नीचे उन कारणों का वर्णन करेंगे जिनका प्रभाव माँग और पूर्ति पर होता है और जो फलतः अंशों के मूल्य पर प्रभाव डालते हैं :—

(१) **बैंक की दर**—देश का केन्द्रीय बैंक (भारत में रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया) जिस ब्याज की दर पर अन्य बैंकों के बिल आदि अपहार (Discount) करता है—अर्थात् अन्य बैंकों को ऋण देता है वह 'बैंक-दर' कहलाती है। अन्य बैंकों की दर सदैव इससे अधिक ही रहती है। इस दर का प्रतिभूतियों के मूल्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। बाजार में अल्पकालीन एवं दीर्घ-

---

[1] For detailed-study read the Book of the *Stock Exchange* **by F. E. Armstrong.**

कालीन ऋण की ब्याज-दर बैंक-दर के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। यदि बैंक-दर कम होगी तो सट्टेबाज तथा दूसरे व्यक्ति अधिक ऋण लेकर अधिक व्यवहार करेंगे। परिणामस्वरूप ब्याज की दर कम हो जाने से प्रतिभूतियों की माँग बढ़ जायगी और इसकी वजह से उसका मूल्य भी बढ़ जायगा। इसके विपरीत बैंक-दर बढ़ जाने से प्रतिभूतियों की माँग में कमी हो जायगी, जिसके कारण उनका मूल्य गिर जायगा।

(२) **मुद्रा-चलन की परिस्थिति**—मुद्रा-चलन की स्थिति के कारण भी प्रतिभूतियों के मूल्यों में उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। जब मुद्रा-प्रसार (Inflation) होता है अर्थात् चलन में मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक होती है तो धन की अधिकता के कारण प्रतिभूतियों की माँग बढ़ जाती है, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिभूतियों का मूल्य भी बढ़ जाता है। इसके विपरीत मुद्रा-संकुचन (Deflation) की दशा में अर्थात् जब चलन में मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से कम होती है तो धन की कमी के कारण इनका मूल्य भी गिर जाता है।

(३) **व्यापार चक्र** (Trade Cycles)—व्यापार में तेजी व मन्दी आती रहती है, जिसका प्रभाव प्रतिभूतियों के मूल्य पर अवश्य पड़ता है। जब तेजी (Boom) का समय होता है तो व्यापार में वृद्धि होती है, उत्पादन भी अधिक होता है तथा जनता अपने पैसे का सदुपयोग करने के लिए उसे विभिन्न प्रतिभूतियों के क्रय करने में लगाती है, जिसके कारण उनका मूल्य बढ़ जाता है। इसके विपरीत अवसाद (Depression) के समय प्रतिभूतियों की माँग कम होने के कारण उनका मूल्य गिर जाता है।

(४) **सरकारी नीति** (Government Policy)—राज्य की आर्थिक अथवा औद्योगिक नीति का उद्योगों के विकास पर गहरा प्रभाव पड़ता है और परिणामस्वरूप प्रतिभूतियों के मूल्य भी प्रभावित होते हैं। सरकारी नीति के अन्दर राष्ट्रीयकरण, नियन्त्रण सम्बन्धी आदेश, कर (Tax) प्रणाली व संरक्षण नीति आदि आती हैं। इस नीति के अनुसार प्रतिभूतियों के मूल्य में भी उतार-चढ़ाव होते हैं। उदाहरणार्थ, यदि किसी विशेष उद्योग पर कोई नया कर लगाया जाय अथवा सरकार उस पर नियन्त्रण करना चाहे तो उससे प्रतिभूतियों के मूल्य गिर जाते हैं।

(५) **राजनैतिक परिस्थिति** (Political Conditions)—अर्थशास्त्र एवं राजनीति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। इसी कारण आर्थिक परिस्थिति के अनुसार सरकारी नीति में परिवर्तन होते हैं। किसी भी राजनैतिक घटना का प्रभाव औद्योगिक स्थिति पर भी पड़ता है, जिससे स्कन्ध-विनिमय-विपणि भी अछूती नहीं रह सकती। किसी नेता का भाषण, युद्ध के विभिन्न समाचार अथवा शान्ति आन्दोलन—इन सबका प्रभाव स्कन्ध विपणि पर पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि युद्ध काल में मित्र राष्ट्रों की विजय होती थी तो प्रतिभूतियों का मूल्य बढ़ जाता था तथा हार के समाचारों से मूल्यों में गिरावट आ जाती थी।

(६) **परिकाल्पनिक स्थिति** (Speculative Conditions)—सटोरियों द्वारा क्रय-विक्रय के सौदे किये जाने का प्रतिभूतियों के मूल्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ; जब सटोरिये भावी क्रय के सौदे करने लगते हैं तो प्रतिभूतियों के मूल्य बढ़ जाते हैं। इसके विपरीत यदि वे मन्दी की आशा से भावी विक्रय के सौदे करने लगते हैं तो प्रतिभूतियों के मूल्यों में गिरावट आ जाती है।

(७) **बाजार प्रवृत्ति** (Market Psychology)—बाजार की प्रवृत्ति का भी प्रतिभूतियों के मूल्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, यदि कोई क्रेता किन्हीं विशेष प्रतिभूतियों को लाभप्रद समझकर खरीदता है तो उसके देखा-देखी अन्य व्यक्ति भी उनका क्रय करते हैं, जिससे उन प्रतिभूतियों की माँग बढ़ने के साथ-साथ उनके मूल्य भी बढ़ जाते हैं। इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति बेचना प्रारम्भ कर दे तो उसकी देखा-देखी अन्य व्यक्ति भी बेचना प्रारम्भ कर

देते हैं, जिसके परिणामस्वरूप प्रतिभूतियों के मूल्य गिर जाते हैं। इसी प्रकार कभी गलत अफ़वाहें फैल जाने पर भी बाजार की प्रवृत्ति तेजी अथवा मन्दी की ओर हो जाती है।

(८) **स्कन्ध-विनिमयों की परस्पर-निर्भरता**—आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों के फलस्वरूप संवादवाहनों एवं आवागमन के साधनों की सुलभता के कारण परस्पर देशों की आर्थिक निर्भरता बढ़ गई है। ऐसी दशा में स्कन्ध-विनिमय-विपणि भी अपवाद नहीं है और न वे अन्य विपणियों से पृथक ही रह सकते हैं। एक स्कन्ध-विपणि के बाजार-भाव का प्रभाव दूसरी विपणि पर पड़ता है, यहाँ तक कि लन्दन अथवा न्यूयॉर्क की स्कन्ध-विपणियों में यदि कोई मूल्य-परिवर्तन हो तो भारतीय विपणियाँ उससे अछूती नहीं रह सकतीं, अर्थात् उन पर अवश्य प्रभाव पड़ेगा।

(९) **कम्पनी की आन्तरिक स्थिति**—प्रतिभूतियों के मूल्यों का उतार-चढ़ाव बहुत कुछ कम्पनी की आन्तरिक स्थिति पर भी निर्भर करता है। उदाहरणार्थ; यदि किसी कम्पनी की आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो, प्रबन्ध एवं व्यवस्था ठीक हो तथा अंशधारियों को अच्छा लाभांश दिया जाता हो तो उसकी ख्याति में वृद्धि होगी तथा उस कम्पनी की प्रतिभूतियों का मूल्य भी अन्य कमजोर इकाइयों की अपेक्षा अधिक रहेगा। जैसे, टाटा कम्पनी के अंश।

(१०) **लाभांश तथा आय**—यदि लाभांश-दर अधिक है तो उसका मूल्य भी अधिक होगा। इसके विपरीत लाभांश-दर गिर जाने के कारण से उस कम्पनी की प्रतिभूतियों के मूल्य में भी गिरावट आ जाती है।

(११) **समाचार-पत्रों का मत**—आधुनिक युग में प्रायः सभी समाचार-पत्रों में चाहे वे दैनिक, साप्ताहिक, मासिक अथवा वार्षिक हों, व्यापारिक समाचार अनिवार्य रूप से प्रकाशित होते हैं। सभी बड़े-बड़े अखबारों में कम से कम एक पृष्ठ तो स्कन्ध-विनिमय-विपणि के समाचारों से भरा रहता है। इनका प्रतिभूतियों के मूल्यों के उतार-चढ़ाव पर गहरा प्रभाव पड़ता है। इनका अध्ययन करने के पश्चात् यह मालूम हो जाता है कि किस उद्योग की दशा अच्छी है अथवा किसकी नहीं। जिन उद्योगों की ख्याति इन समाचार-पत्रों द्वारा जम जाती है उनकी प्रतिभूतियों का मूल्य भी बढ़ जाता है। इसके विपरीत अन्य का मूल्य (भविष्य उज्ज्वल न होने के कारण) गिर जाता है।

(१२) **अन्य कारण**—उपरोक्त के अतिरिक्त और भी कारण हो सकते हैं जो कि प्रतिभूतियों के मूल्यों में उतार-चढ़ाव को प्रभावित करते हैं; जैसे—छोटी अनार्थिक इकाइयों का आपस में मिल जाना, फैशन में परिवर्तन होना, इकाइयों का खुलना, जनमत तथा कल्पना, प्रचार तथा विज्ञापन, श्रमिकों द्वारा हड़ताल, तालाबन्दी, संस्थाओं के स्वामित्व में परिवर्तन आदि। इसी प्रकार जिन प्रतिभूतियों का सूचीयन कर दिया जाता है अथवा जिनको विनिमय-विपणियों द्वारा प्राथमिकता दे दी जाती है, उनके मूल्य साधारण प्रतिभूतियों की अपेक्षा बढ़ जाते हैं।

स्कन्ध विपणियों पर परिकल्पना अथवा सट्टा
(Speculation on Stock Exchanges)

परिकल्पना का अर्थ—

परिकल्पना शब्द लेटिन भाषा के शब्द 'Speculare' से बना है, जिसका अर्थ बहुत पहले से ही किसी बात का अनुमान लगाने से है। अतः परिकल्पना से अभिप्राय भविष्य में अंशों अथवा प्रतिभूतियों के मूल्य-परिवर्तन के बारे में कल्पना या अनुमान करने से है। बाजार में परिकल्पना का अर्थ होता है वर्तमान एवं भावी मूल्यों के अन्तर से लाभ कमाने की दृष्टि से वस्तुओं का क्रय-विक्रय। **थॉमस** के शब्दों में—"परिकल्पना से आशय व्यावसायिक साहस के उस वर्ग

एवं प्रलेख तैयार करेगा और ५ वर्ष की अवधि तक सुरक्षित रखेगा :—(i) सदस्यों, प्रशासन समिति तथा अन्य स्टैंण्डिग समिति या समितियों की सभाओं के लिये कार्यवाही विवरण पुस्तिकायें; (ii) सदस्यों का रजिस्टर, जिसमें उनके पूरे नाम, पते एवं टेलीफोन नम्बर दिए हों; (iii) अधिकृत लिपिकों (Authorised Clerks) का रजिस्टर; (iv) अधिकृत सहायकों का रजिस्टर; (v) जमानती निक्षेपों (Security Deposits) का रजिस्टर; (vi) सुरक्षा निक्षेपों की पुस्तक (Margin Deposits Book); (vii) खाता बहियाँ; (viii) रोजनामचे; (ix) रोकड़ पुस्तक; (x) बैंक पास-बुक।

एक सदस्य को भी इसी प्रकार निम्न हिसाब-किताब एवं प्रलेख तैयार करने तथा सुरक्षित रखने पड़ेंगे :—(१) सौदा बही; (२) सदस्यों से अनुबन्धों की पुस्तकें; (३) मुवक्किलों (Clients) की खाता पुस्तक; (४) मुवक्किलों को जारी किये गये अनुबन्ध-पत्रों की प्रतियाँ; (५) सामान्य खाता बही; (६) रोजनामचे; (७) रोकड़ बही; (८) बैंक पास-बुक; (९) अनुबन्धों के लिए मुवक्किलों की लिखित सहमति; एवं (१०) प्रलेखों का रजिस्टर, जिसमें प्राप्त एवं सुपुर्द की हुई प्रतिभूतियों का पूर्ण विवरण लिखा जाय।

(५) **सदस्यता**—प्रत्येक मान्यता-प्राप्त स्कन्ध-विपणि के सदस्यता सम्बन्धी नियमों में निम्न बातों का भी समावेश होना चाहिए :—

वह व्यक्ति सदस्यता के योग्य नहीं होगा—(i) जिसकी उम्र २१ वर्ष से कम हो; (ii) जो भारत का नागरिक नहीं है [किन्तु प्रशासन समिति (Governing Body) इस शर्त को हटा सकती है]; (iii) जो दिवालिया हो; (iv) जिसने पूरा रुपया चुकाये बिना अपने लेनदारों से समझौता कर लिया हो; (v) जोकि कपट अथवा बेईमानी से सम्बन्धित किसी अपराध के लिए सजा पा चुका हो; (vi) जोकि विपणि पर व्यवहार करने के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य भी करता है (इस शर्त को केन्द्रीय सरकार ढीला कर सकती है); (vii) जो किसी अन्य स्कन्ध-विपणि से कभी निकाल दिया गया हो अथवा दोषी घोषित किया गया हो; (viii) जिसकी पहले सदस्यता अस्वीकार कर दी गई थी और इस बात को एक साल से अधिक न हुआ हो।

उपरोक्त के अतिरिक्त प्रार्थी को निम्न शर्तों में से एक शर्त को पूरा करना होगा :—(i) उसने कम से कम दो वर्ष के लिए किसी अन्य सदस्य के साथ कार्य किया हो, अथवा (ii) वह कम से कम दो वर्ष के लिये किसी अन्य सदस्य के साथ कार्य करना स्वीकार करे और स्कन्ध विपणि में अनुबन्ध किसी ऐसे सदस्य के ही नाम से करे; अथवा (iii) उसने अपने किसी निकट सम्बन्धी का स्थापित व्यापार उत्तराधिकार से (By Succession) प्राप्त किया हो। यदि प्रशासन समिति की राय में प्रार्थी एक साधन-सम्पन्न एवं अनुभवी व्यक्ति है तो इस शर्त को पूरा करना आवश्यक न होगा।

(६) **स्कन्ध-विपणियों का आन्तरिक प्रबन्ध**—केन्द्रीय सरकार की पूर्व अनुमति से प्रत्येक मान्यता-प्राप्त स्कन्ध-विपणि को अनुबन्धों के लिये नियम व उपनियम बनाने का अधिकार है। इन नियमों के द्वारा बाजार खुलने व बन्द होने का समय, रिक्त हस्तान्तरण का नियन्त्रण, बदली (Carry over) सौदों का नियमन, भुगतान दिवसों का निश्चय, तारणी वाला के सौदों का नियमन, कृत्यकी तथा दलालों के कार्यों का वर्गीकरण, प्रतिभूतियों का सूचीयन, सौदों का भुगतान, झगड़ों के निपटारे आदि के नियम, निम्नतम् तथा उच्चतम् मूल्य का निर्धारण आदि का निश्चय कर दिया जाता है। इन नियमों के विपरीत जो भी अनुबन्ध किया जायगा वह व्यर्थ होगा।

(७) **केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण**—यद्यपि स्कन्ध-विपणि अपने नियम तथा उप-

नियमों को बनाने में स्वतन्त्र होते हैं, किन्तु प्रशासन समिति की सलाह से सरकार उनमें उचित संशोधन कर सकती है।

निम्न अधिकारों के द्वारा केन्द्रीय सरकार बिना आन्तरिक सत्ता में हस्तक्षेप किये, स्कन्ध-विपणियों के कार्यों पर बाहरी रूप से नियन्त्रण स्थापित कर सकती है :—(i) किसी असाधारण परिस्थिति का सामना करने के लिये केन्द्रीय सरकार किसी भी स्कन्ध-विपणि की मान्यता वापस ले सकती है अथवा उसकी प्रशासन समिति को भङ्ग करके नई समिति का निर्माण कर सकती है या ७ दिन तक उसका कारोबार बन्द कर सकती है। किन्तु प्रशाशन समिति को अपना पक्ष प्रस्तुत करने के लिये उचित अवसर दिया जायगा। (ii) अवांछनीय सट्टे को रोकने के लिए केन्द्रीय सरकार को कुछ प्रतिभूतियों के अनुबन्धों पर रोक लगाने का अधिकार है। (iii) वह किसी भी मान्यता-प्राप्त स्कन्ध-विपणि या इसके सदस्य से कोई भी सूचना माँग सकती है और उसके कार्यों की जाँच करा सकती है। (iv) वह स्कन्ध-विपणि की प्रशासन समिति से परामर्श करके किसी भी मान्यता प्राप्त विपणि के गठन एवं प्रबन्ध के सम्बन्ध में कोई भी नियम बना सकती है अथवा बने हुए नियमों में संशोधन कर सकती है। (v) वह किसी भी सार्वजनिक कम्पनी को अपनी प्रतिभूतियाँ किसी भी मान्यता प्राप्त स्कन्ध-विपणि से स्वीकृत कराने के लिये विवश कर सकती है।

स्कन्ध विपणि निदेशालय की स्थापना—

सन् १९५९ में भारत सरकार ने प्रतिभूति सम्बन्धी अनुबन्ध नियमन अधिनियम की व्यवस्थाओं का समुचित पालन कराने हेतु **"स्कन्ध-विपणि निदेशालय"** की स्थापना की थी। इसका मुख्य कार्यालय बम्बई में है तथा शाखायें कलकत्ता, दिल्ली एवं मद्रास में हैं। निदेशालय आवश्यकता पड़ने पर भारत सरकार को विपणियों के सुधार के सम्बन्ध में आवश्यक परामर्श भी देता है। निदेशालय मान्यता-प्राप्त स्कन्ध-विपणियों के क्षेत्र के बाहर कार्य करने के लिए दलालों को अनुज्ञापत्र भी देता है।

स्कन्ध-विनिमय-विपणि में प्रयोग होने वाली शब्दावली
(Stock Exchange Terms)

वाहक प्रतिभूतियाँ (Bearer Securities)—वे प्रतिभूतियाँ जिनके हस्तान्तरण मात्र से ही स्वामित्त्व दूसरे व्यक्ति के पास पहुँच जाता है, 'वाहक प्रतिभूतियाँ' कहलाती हैं। इन पर न तो बेचान करने की आवश्यकता है और न निर्गमित करने वाली संस्था की पुस्तकों में रजिस्ट्रेशन की, बल्कि इन प्रतिभूतियों का धारक ही उनका स्वामी कहलाता है।

सट्टे वाली प्रतिभूतियाँ (Speculative Securities)—वे प्रतिभूतियाँ जिनके भावों में भारी घट-बढ़ होती हो तथा जिनका अत्यधिक सट्टा होता हो, 'सट्टे वाली प्रतिभूतियाँ' कहलाती हैं; जैसे औद्योगिक कम्पनियों के अंश तथा ऋण-पत्र। ये प्रतिभूतियाँ विनियोक्ताओं की दृष्टि से अच्छी नहीं समझी जाती हैं।

रजिस्टर्ड प्रतिभूतियाँ (Registered Securities)—वे प्रतिभूतियाँ हैं जिनके स्वामी का नाम व पता कम्पनी के रजिस्टर में लिखा होता है तथा स्वामी के पास स्वामित्त्व का प्रमाण-पत्र होता है। हस्तान्तरण करते समय एक हस्तान्तरण पत्र (Transfer deed) भरना पड़ता है, जिस पर क्रेता व विक्रेता (स्वामी) दोनों के हस्ताक्षर होते हैं। यह हस्तान्तरण पत्र अंश निर्गमित करने वाली संस्था कम्पनी के पास अंश-प्रमाण-पत्र (Share certificate) सहित जमा करना पड़ता है। पूर्ण संतुष्टि प्राप्त करने के पश्चात् पुराने अंश-प्रमाण-पत्र के स्थान पर नये स्वामी

(क्रेता) के पक्ष में नया अंश-प्रमाण-पत्र (New Share Certificate) निर्गमित कर दिया जाता है तथा साथ-साथ विक्रेता के स्थान पर क्रेता का नाम व पता कम्पनी के रजिस्टर में दर्ज हो जाता है। ऐसी प्रतिभूतियों को 'रजिस्टर्ड प्रतिभूतियाँ' कहते हैं।

ट्रस्टी प्रतिभूतियाँ (Trustee Securities)—जिन प्रतिभूतियों में वैधानिक रूप से ट्रस्ट का रुपया लगाया जाता है, उनको 'ट्रस्टी प्रतिभूतियाँ' कहते हैं। ऐसी प्रतिभूतियाँ सुरक्षा की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ होती हैं; जैसे—सरकारी अर्द्ध-सरकारी, तथा प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियाँ।

सरकारी प्रतिभूतियाँ—देश की केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों को जन हितकारी कार्यों का निर्माण करने के लिये जनता से ऋण लेना पड़ता है। ऋण के बदले में सरकार प्रतिज्ञा-पत्र या बॉण्ड (Promissory Notes or Bonds) निर्गमित कर देती है। चूँकि इन प्रतिभूतियों का निर्गमन सरकार के द्वारा किया जाता है, अतः इनको 'सरकारी प्रतिभूतियाँ' कहते हैं।

अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियाँ (Semi-gilt-edged Securities)—कभी-कभी प्रतिभूतियाँ ऐसी संस्थाओं द्वारा निर्गमित की जाती हैं जो कि पूर्ण रूप से सरकारी नहीं होतीं; जैसे—पोर्ट ट्रस्ट, म्यूनिसिपैलिटी, इम्प्रूवमेंट कॉरपोरेशन आदि। किन्तु सरकार इनके मूलधन अथवा ब्याज या दोनों के भुगतान की गारन्टी दे देती है, इसलिये ऐसी प्रतिभूतियों (ऋण-पत्र) को 'अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियाँ' कहते हैं।

विनियोग प्रतिभूतियाँ (Investment Securities)—वे प्रतिभूतियाँ जिनके भावों में न्यूनतम घट-बढ़ होती है, ब्याज या लाभांश एक निश्चित दर से मिलता रहता है तथा विनियोग पूर्ण रूप से सुरक्षित होता है, 'विनियोग प्रतिभूतियाँ' कहलाती हैं; जैसे—सरकारी, अर्द्ध सरकारी तथा प्रथम श्रेणी की प्रतिभूतियाँ।

अन्तर बोर्स प्रतिभूतियाँ (Inter-bourse Securities)—वे प्रतिभूतियाँ जिनका क्रय-विक्रय संसार के विभिन्न शेयर बाजारों में होता है, 'अन्तर-बोर्स प्रतिभूतियाँ कहलाती हैं।

अभिलिखित स्कन्ध (Inscribed Stock)—कभी-कभी बैंक सरकारी तथा अर्द्ध-सरकारी प्रतिभूतियों का निर्गमन करती है। ऐसी व्यवस्था में क्रेता को स्वामित्व का प्रमाण-पत्र (Certificate) निर्गमित न करके, बैंक उसका नाम अपने रजिस्टर में लिख लेती है। इसको 'अभिलिखित स्कन्ध' कहते हैं। जब इसका हस्तान्तरण होता है तो पुराने स्वामी के नाम को काटकर नये क्रेता का नाम उस रजिस्टर में लिख लिया जाता है।

स्टॉक अथवा स्कन्ध (Stock)—सभी प्रकार के अंश, ऋण-पत्र तथा बॉण्ड, जिन पर कि समस्त अंकित मूल्य कम्पनी को प्राप्त हो जाता है तथा जिनका अंश बाजार में क्रय-विक्रय होता है, 'स्टॉक' कहलाते हैं

लाभांश सहित[1] (Cum-Dividend or Cum-Right or C. D. or C. R.)—कभी-कभी अंश अथवा प्रतिभूति के मूल्य के साथ 'लाभांश सहित' शब्द जोड़ दिया जाता है, जिसका अर्थ यह होता है कि उसके मूल्य में अगली तिथि को मिलने वाला लाभांश अथवा ब्याज भी शामिल है तथा उसको पाने का अधिकार क्रेता को होगा, विक्रेता को नहीं, क्योंकि विक्रेता ने वह लाभांश अथवा ब्याज उसके मूल्य में सम्मिलित कर लिया है। इस प्रकार के विक्रय को 'लाभांश सहित' कहते हैं।

लाभांश रहित[1] (Ex-Dividend or Ex. Di. or X. D.)—जब किसी प्रतिभूति का मूल्य लाभांश रहित कहा जाता है अथवा प्रतिभूति के मूल्य के साथ 'लाभांश रहित' शब्द जोड़

---

[1] *Market Reports*—**Lorenzo, p. 176-178.**

देते हैं तो इसका अर्थ यह होता है कि उसके मूल्य में अगली तिथि को मिलने वाला लाभांश अथवा ब्याज सम्मिलित नहीं है तथा उसको पाने का अधिकार विक्रेता के पास सुरक्षित है, अतः उस प्रतिभूति का मूल्य प्रायः कम होता है।

कर्ब के भाव या 'गली के भाव' (Street Price)—अंश बाजार के सौदे नियमित समय में ही होते हैं। अंश बाजार के बाहर क्रय अथवा विक्रय के सौदे जिस भाव पर किये जाते हैं, उसे 'गली का मूल्य' अथवा 'कर्ब के भाव' कहते हैं।

ऐसे सौदे अंश बाजार के खुलने के पहले तथा बन्द होने के पश्चात् और छुट्टी के दिन होते हैं। ये बाजार सुसंगठित नहीं होते।

न्यून परिमाण[1] (Small Odd Lots or S. O. L. or S. L.)—जब किसी प्रतिभूति के मूल्य के आगे 'न्यून परिमाण' शब्द लगा दिया जाता है तो इसका अर्थ यह होता है कि उस मूल्य पर बहुत ही कम व्यवसाय हुआ है।

विक्रयार्थी भागीदार[1] (Stag)—जब कोई नयी कम्पनी स्थापित की जाती है तथा उसका भविष्य उज्ज्वल होता है तो कुछ व्यक्ति (सटोरिये) अत्यधिक मात्रा में अंश खरीदने के वास्ते प्रार्थना-पत्र भेज देते हैं। उनका उद्देश्य उन अंशों को अत्यधिक मूल्य (Premium) पर उन व्यक्तियों को बेचने का होता है जिन्होंने कि आवेदन-पत्र तो दिया था किन्तु अंश नहीं मिल पाये अथवा आवेदन-पत्र ही नहीं दे सके। ऐसे व्यक्तियों को 'विक्रयार्थी भागीदार' कहते हैं, क्योंकि उनका उद्देश्य अंशों को पुनः विक्रय करके के वास्ते खरीदने का होता है।

प्राप्ति[1] (Yield)—शेयर बाजार में प्रतिभूति खरीदने का उद्देश्य यह भी होता है कि विनियोग ऐसा हो जिससे कि एक निश्चित प्रतिशत आय ब्याज अथवा लाभांश के रूप में बराबर मिलती रहे। इस प्रकार विनियोग की गई पूँजी से जो प्रतिशत आय लाभांश अथवा ब्याज के रूप में होती है उसे 'प्राप्ति' कहते हैं। जैसे मान लो कि किसी प्रतिभूति का अंकित मूल्य १०० रु० है तथा उससे ५% ब्याज के रूप में आय होती है तो उससे प्राप्ति ५ रु० मानी जायगी।

फीते वाला मूल्य[1] (Tape Price)—शेयर बाजार में बड़े-बड़े सटोरियों (Jobbers) के यहाँ बिजली से चलने वाला एक यन्त्र लगा रहता है, जिसे 'टेलीप्रिन्टर' कहते हैं। इस यन्त्र में देश-विदेश की महत्त्वपूर्ण प्रतिभूतियों के भाव आते रहते हैं, जो कि इस यन्त्र में लगे एक कागज के फीते पर छपते रहते हैं। चूँकि यह मूल्य फीते पर छपता है अतः बाजारों में इसे 'फीते वाला मूल्य' कहते हैं। इसके द्वारा मूल्यान्तर के सौदे करने में सुविधा रहती है।

पृष्ठागमन (Backwardation)—यदि विक्रेता (मन्दड़िया) निश्चित तिथि पर शेयर बाजार में सुपुर्दगी देना नहीं चाहता अथवा सुपुर्दगी को दूसरी तिथि के वास्ते स्थगित करना चाहता है तो उस क्रेता को एक निश्चित दर से शुल्क देना पड़ता है। इस शुल्क को 'पृष्ठागमन' कहते हैं।

जॉबर (Jobber)—वे सटोरिये जो कि अपने ही वास्ते अंशों का क्रय-विक्रय करते हैं, 'जॉबर' कहलाते हैं। यह शब्द लन्दन शेयर विनिमय बाजार में प्रयोग किया जाता है, जहाँ पर सदस्य दो हिस्सों में विभाजित हैं—(१) जॉबर, अर्थात् वे व्यक्ति जो अपने ही नाम तथा अपने ही लिये क्रय-विक्रय के सौदे करते हैं, ये शेयर बाजार के सदस्य होते हैं। जब कोई दलाल जॉबर से किसी शेयर का भाव पूछता है तो वह उसे दो भाव बतलाता है :—प्रथम, 'क्रय' करने का; तथा द्वितीय, 'विक्रय' का। (२) दलाल जो कि दूसरे व्यक्तियों के वास्ते क्रय-विक्रय करते हैं। इस कार्य के लिये उनको एक निश्चित दर से कमीशन मिलता है, जिसको कि दलाली भी कहते हैं।

---

1 *Ibid*, p. 176-178.

सह-दलाल (Stout)—सह-दलाल से तात्पर्य ऐसे व्यक्ति से है जो स्कन्ध-विपणि के सदस्य व्यापारियों के लिए ग्राहक बना-बना कर लाया करते हैं। परन्तु यह क्रिया न्यायसङ्गत नहीं है, क्योंकि यह स्कन्ध-विपणि के नियमों के विरुद्ध है।

प्रवाद (Tip)—'प्रवाद' से अभिप्राय भविष्य में घटने वाली एक ऐसी घटना की सूचना से है जिसके कारण स्कन्ध-विपणि में प्रतिभूतियों के मूल्य पर अत्यधिक प्रभाव पड़ते हैं। जो व्यक्ति प्रवाद फैलाता है उसे 'प्रवादी' (Tipster) कहते हैं।

महत्त्वपूर्ण विदेशी स्कन्ध विपणियों का अध्ययन
(Study of the Leading Foreign Stock Exchange)

यहाँ पर विश्व की प्रमुख **'लन्दन स्कन्ध-विपणि'** का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

ऐतिहासिक मीमांसा—

विश्व का सबसे महत्त्वपूर्ण एवं प्रमुख विपणि 'लन्दन स्कन्ध-विपणि' है। इसका इतिहास अत्यन्त रोचक है। १७वीं शताब्दी में स्कन्ध-विपणि का कार्य प्रायः कॉफी गृहों (Coffee Houses) में होता था और वहाँ पर सङ्गठन का कार्य नहीं होता था, किन्तु १७७३ में एक कॉफी हाउस को कुछ दलालों ने खरीद कर तथा 'स्कन्ध-विपणि' का बोर्ड लगाकर उसको विपणि का एक रूप दे दिया। सन् १८०१ में **'लन्दन स्कन्ध-विपणि'** की नींव पड़ी तथा १८०२ में प्रन्यासियों तथा प्रबन्धकों की एक समिति के रूप में नियुक्ति कर दी गई। तब से यह समिति विधिवत् कार्य करने लगी।

लन्दन स्कन्ध-विपणि एक **असमामेलित** (Unincorporated) कम्पनी है। इसका समस्त कार्य पारस्परिक समझौते द्वारा तथा बनाये हुए एक संलेख (Deed of Settlement) द्वारा होता है। यह संलेख १८०२ में बना तथा १८७५ ई० में इसके अन्तर्गत आवश्यक संशोधन उपस्थित किया गया था। सन् १८७७ में लन्दन स्कन्ध के प्रारम्भिक उद्देश्यों, उपयोग, विधान आदि की जाँच के लिए एक आयोग नियुक्त किया गया। आयोग ने विनिमय की पूर्ण जाँच के पश्चात् १८७८ में सिफारिश की कि वितरण से पूर्व अंशों के सौदे पूर्णरूप से बन्द होने चाहिए। विपणि की उपसमिति बनाकर सदस्यता के आवेदन-पत्रों की जाँच की जानी चाहिए, सदस्यों की अनावश्यक परिकल्पना पर प्रतिबन्ध लगा दिये जाने चाहिए। अनुचित व्यवहार करने वालों पर प्रतिबन्ध लगा देने चाहिए। विपणि के सभी दलों को प्रमाणित होना चाहिए। इनमें से बहुत से सुझावों को स्वीकार कर लिया गया, किन्तु उसके लिए किसी प्रकार का अधिनियम नहीं बनाया गया। इस प्रकार सन् १८८६ से इस विपणि का कार्य सङ्गठित रूप से चलने लगा।

२५ मार्च १९४५ को वर्तमान स्कन्ध-विपणि सभा (Council of Stock Exchange) का निर्माण हुआ। इस सभा को प्रन्यासियों (Trustees), प्रबन्धकों तथा व्यापक कार्यों के लिए समस्त अधिकार सौंप दिये गये हैं।

सदस्यता के लिए योग्यता (Membership Qualification)—

ब्रिटेन में लन्दन-विपणि का चुना जाना एक विशेष महत्त्वपूर्ण बात मानी जाती है। सदस्यों की निश्चित संख्या नहीं। सदस्यों सम्बन्धी नियम अत्यन्त कठोर हैं। यही कारण है कि यहाँ की सदस्यता एक आभूषण मानी जाती है। सदस्यता बनाये रखने के लिए प्रत्येक सदस्य को प्रतिवर्ष आवेदन-पत्र देना पड़ता है। सदस्य बनने के लिये यह आवश्यक है कि (i) वह व्यक्ति ब्रिटेन का निवासी हो अथवा वहाँ कम से कम ७ वर्ष तक रह चुका हो, (ii) दिवालिया या पागल घोषित न किया हो, (iii) उसकी आयु कम से कम २७ वर्ष हो, (iv) सदस्य बनने के पूर्व विपणि

में चार वर्ष तक एक लिपिक के रूप में कार्य किया हो, (v) उचित जमानत दी हो, (vi) कोई अन्य व्यवसाय न करता हो, (vii) किसी अन्य विपणि का सदस्य न हो। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को ३०० गिन्नी प्रवेश तथा ५० गिन्नी वार्षिक शुल्क देना पड़ता है। इसके अतिरिक्त उसे स्कन्ध-विपणि का एक अंश खरीदना पड़ता है, जिसका मूल्य १२० पौंड होता है।

सदस्यों का विभाजन एवं उनके कार्य—

विपणि के सदस्यों को कार्यानुसार दो भागों में विभाजित किया जाता है। प्रथम, कृत्यकी (Jobber) तथा द्वितीय, दलाल या मध्यस्थ (Broker)। वर्ष के आरम्भ में प्रत्येक सदस्य को यह बतला दिया जाता है कि वह किस स्थिति में कार्य करेगा।

(१) **कृत्यकी** (Jobber)—ये वे सदस्य होते हैं जो प्रतिभूतियों का वास्तविक क्रय-विक्रय करते हैं। ये लोग स्कन्ध-विपणि के स्थायी सदस्य होते हैं तथा वहाँ पर सदैव मौजूद रहते हैं। प्रत्येक कृत्यकी अपनी-अपनी प्रतिभूतियों के विशेषज्ञ होते हैं, जिसके कारण बाजार अलग-अलग भाग में बंट जाता है और यही कारण है कि एक बाजार के अलग-अलग स्थान कितने ही नामों से पुकारे जाते हैं; जैसे—सरकारी प्रतिभूति बाजार, बैंक तथा बीमा प्रतिभूति बाजार, विदेशी प्रतिभूति बाजार आदि। इसका सिद्धान्त 'सस्ते दर से खरीदो तथा महँगे दर पर बेचो' है। ये आर्थिक दृष्टि से पूर्ण सम्पन्न होते हैं।

(२) **दलाल या मध्यस्थ**—ये कमीशन पर कार्य करते हैं। इनका प्रमुख कार्य जनता व कृत्यकी के बीच सम्बन्ध स्थापित करना है। प्रत्येक व्यवहार के लिए कमीशन की दर पृथक् पृथक् होती है तथा यह कॉउन्सिल द्वारा निश्चित की जाती है।

प्रबन्ध एवं व्यवस्था—

स्कन्ध-विपणि की व्यवस्था दो पृथक् समितियों के हाथ में है, जिनमें से एक समिति के अधिकार में स्कन्ध-विपिण भवन है। इसके ६ सदस्य होते हैं, जिनका चुनाव पार्षद् (Stock Exchange Association) के सदस्यों अथवा अंशधारियों द्वारा होता है। इन सदस्यों को व्यवस्थापक कहते हैं तथा ये ही सदस्यों के प्रवेश एवं वार्षिक शुल्क को निश्चित, कम अथवा अधिक करने, भवन की दुरुस्ती तथा भवन की सामग्री के लिए उत्तरदायी होते हैं। इनमें से तीन सदस्य प्रति ५ वर्ष बाद निवृत्त होते हैं। अपनी अतिरिक्त आय से लाभांश घोषित करने की जिम्मेदारी भी इन्हीं व्यक्तियों की होती है। इस समिति को 'ट्रस्टी एवं प्रबन्धक सभा' (Board of Trustees & Managers) कहते हैं।

दूसरी समिति स्कन्ध-विपणि के कार्य की देखभाल करती है। इस समिति के २० सदस्य होते हैं, जिनका वार्षिक चुनाव सदस्यों द्वारा होता है। परन्तु इस समिति के चुनाव के लिये वही सदस्य योग्य है जो ५ वर्ष से स्कन्ध-विनिमय का सदस्य है। इस समिति को 'सामान्य कार्यकारिणी समिति' (Committee for General Purposes) कहते हैं। यह स्कन्ध-विनिमय पर होने वाले व्यवहारों एवं व्यापार पर नियन्त्रण रखती है तथा उसके सुचारु संचालन के लिए उत्तरदायी होती है।

व्यवहार करने की विधि—

लन्दन स्कन्ध-विपणि की सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वहाँ जितने व्यवहार (Transaction) होते हैं उन पर न दलाल हस्ताक्षर करता है और न कृत्यकी ही अपने हस्ताक्षर किया करता है। दोनों व्यापारी अपनी-अपनी नोट-बुक में क्रय तथा विक्रय के बारे में केवल अंशों

की संख्या तथा मूल्य नोट कर लेते हैं। परन्तु उसी समय से सौदा पक्का हो जाता है तथा अंश उसी क्षण हस्तान्तरित हुए माने जाते हैं और व्यवहार बाध्य होता है।

स्कन्ध-विपणि के नीचे समझौते वाले कमरे में प्रत्येक प्रातःकाल दलालों एवं कृत्यकियों के लिपिक (Clerks) अपने-अपने गत दिवस में किये हुए सौदों की जाँच करने के लिए एकत्रित होते हैं। ऐसा करने का अभिप्राय अंशों के हस्तान्तरण की क्रिया को आरम्भ करने से पूर्व यह निश्चित कर लेना है कि कोई भूल तो नहीं हो गई है, अर्थात् जो सौदा जिसके साथ हुआ है वह ठीक है, परन्तु भूल कभी-कभी ही होती है।

लन्दन स्कन्ध-विपणि में व्यापार या तो नकद रोकड़ में होता है, या फिर उनका हिसाब प्रति पन्द्रहवें दिन होता रहता है। हिसाब की इस पद्धति द्वारा बाजार का क्रय-विक्रय कार्य ठीक रूप से चलता रहता है तथा खरीदने या बेचने वाले ग्राहक को भी पता रहता है कि १५वें दिन हमें भुगतान या प्रदाय का प्रबन्ध करना है। इससे भुगतान विभाग (Settlement Department) को भी अत्यधिक सुविधा हो जाती है, क्योंकि व्यवहारों का आदान-प्रदान नियत समय पर हो जाता है। दूसरे, सदस्य दलालों के कार्यालय का काम भी कम हो जाता है और जनता की सेवा भी सरल, कम समय में तथा शीघ्र सम्भव हो जाती है। तीसरे, पाक्षिक हिसाब पद्धति होने के कारण परिकल्पकों को भी बिना धन लगाये हुए शीघ्र ही लाभ प्राप्त करने का अवसर रहता है।

लन्दन-स्कन्ध-विपणि में प्रत्येक भुगतान को तीन दिन में बाँट दिया जाता है, जिसमें पहले दिन को स्थगन दिवस (Contango Day) कहते हैं। इस दिन कोई भी व्यक्ति, यदि किसी अवधि में अपने व्यवहार की पूर्ति आगे करना चाहता है तो वह अपने दलाल को इस आशय की सूचना देकर करा सकता है, जिसके लिए निश्चित शुल्क देना पड़ता है। दूसरे दिन को नाम-दिवस (Name or Ticket Day) कहते हैं। स्थगन दिन के आगे यदि कोई व्यवहार नहीं बढ़ाया जाता तो दलाल को नाम दिवस के दिन एक टिकट हस्तान्तरिती (Transferee) का नाम लिख-कर देना पड़ता है। इससे विक्रेता को यह ज्ञान हो जाता है कि उसे किस व्यक्ति से भुगतान लेना है। तीसरे दिन को भुगतान-दिवस (Settlement Day) कहते हैं। इस दिन क्रेता को विक्रेता से हस्तान्तरण संलेख प्राप्त हो जाता है तथा उसे अनुबन्ध के अनुसार विक्रेता को उसका मूल्य देना पड़ता है। इसके बाद वह उन प्रतिभूतियों का निर्गमन करने वाली कम्पनी से अपना नाम रजिस्टर करा लेता है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. स्कन्ध-विपणि के कार्यों का वर्णन कीजिये। क्या इसके कार्यों पर नियन्त्रण रखना आवश्यक है? यदि हाँ, तो क्यों? (आगरा, १९७३)

२. स्कन्ध-विपणि से आप क्या समझते हैं? स्कन्ध-विपणि की आर्थिक उपयोगिता की विवेचना कीजिये। (आगरा, १९७२)

३. स्कन्ध-विपणि के आर्थिक कार्यों का संक्षेप में वर्णन कीजिए। (दिल्ली, बी० कॉम०, १९६७ एवं १९७१)

४. स्कन्ध-विपणि में अंशों को क्रय करने की विधि का संक्षेप में वर्णन कीजिये। (दिल्ली, बी० कॉम०, १९७१)

५. स्कन्ध-विपणि से क्या समझते हो ? किसी स्कन्ध-विपणि में औद्योगिक प्रतिभूतियों के मूल्यों में उतार-चढ़ाव को प्रभावित करने वाले प्रमुख कारणों का विश्लेषण कीजिए ।
(आगरा, १९७०; नागपुर, १९६४)

६. स्कन्ध-विपणि पर सट्टे के कार्य एवं महत्त्व क्या हैं ? (दिल्ली, १९७०)

७. "स्कन्ध-विपणि में परिकल्पना एक अमिश्रित वरदान नहीं है ।" इस कथन पर विवाद प्रस्तुत कीजिए । भारत में स्कन्ध-विपणियों में होने वाली परिकल्पना का नियमन तथा नियन्त्रण करने हेतु क्या उपाय किये गये हैं ? (मेरठ, १९७१)

८. एक सङ्गठित स्कन्ध-विपणि द्वारा अर्पित की जाने वाली सेवाओं को बताइये ।
(पंजाब, १९७१)

९. सट्टे की परिभाषा दीजिये । उसका आर्थिक महत्त्व क्या है ?
(राँची, १९६९; लखनऊ, १९७०; रविशंकर, १९६५)

१०. "स्कन्ध-विपणि किसी भी देश का समृद्धि मापक यन्त्र है ?" इस कथन की विवेचना कीजिये । (दिल्ली, १९७०; इन्दौर, १९७०; विक्रम, १९६७ एवं ६८; जीवाजी, १९६५; आगरा, १९६९ एवं १९७१)

११. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—
(i) प्रतिभूतियों का सूचीयन (आगरा, १९७२)
(ii) परिकल्पना (Speculation) (आगरा, १९७१ एवं ७२)
(iii) वायदे के सौदों का नियमन अधिनियम (आगरा, १९७२)
(iv) स्कन्ध विनिमयों में परिकल्पना का नियन्त्रण (मेरठ, १९७२)
(v) आधुनिक व्यावसायिक संस्कृति (Business Culture) में परिकल्पना आवश्यक है । (मेरठ, १९७२)
(vi) स्कन्ध विपणि किसी राष्ट्र के आर्थिक स्वास्थ्य (Economic Health) का मापक यन्त्र है । (मेरठ, १९७१)

१

उपज-विनिमय-विपणि

(Produce Exchanges)

प्रारम्भिक—अर्थ एवं परिभाषा

उपज-विनिमय-विपणि की परिभाषा देने से पूर्व वस्तु बाजार (Commodity Market) का अर्थ समझ लेना चाहिये। वस्तु बाजार से हमारा अर्थ उस सुव्यवस्थित एवं निश्चित स्थान से है जहाँ पर वस्तुओं के क्रय एवं विक्रय करने वाले एकत्रित होते हैं। वस्तु बाजार में क्रय-विक्रय होने वाले पदार्थों को निम्न तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है :— (i) कृषि पदार्थ एवं औद्योगिक कच्चा माल; जैसे—गेहूँ, चावल, चाय, कपास, जूट आदि। (ii) निर्मित पदार्थ (Manufactured Goods); जैसे—कपड़ा, चीनी, तथा जूट की बनी वस्तुयें आदि। (iii) खनिज पदार्थ; जैसे—सोना, चाँदी, पीतल तथा ताँबा आदि।

उपरोक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि वस्तु-बाजारों में किसी भी प्रकार वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जा सकता है, चाहे वे कृषि-पदार्थ हों या निर्मित पदार्थ अथवा खनिज पदार्थ। **श्री जे० पायले** के अनुसार,—"उपज-विनिमय-विपणि अथवा विनिमय-विपणि एक विशिष्ट विपणि है, जो एक ऐसा स्थान प्रदान करती है जहाँ इसके सदस्य निर्धारित नियमों के अधीन वस्तुओं को खरीदते व बेचते हैं अथवा भावी व्यवहारों के लिये अनुबन्ध करते हैं।" इन बाजारों में स्वतन्त्र प्रतिस्पर्धा विद्यमान होती है तथा किसी भी मात्रा में क्रय-विक्रय के सौदे किये जा सकते हैं। किन्तु इनको हम उपज-विनिमय-विपणि नहीं कह सकते हैं। इसका कारण यह है **कि उपज-विनिमय-विपणि वस्तु बाजार की ही एक जाति है, जहाँ केवल कृषि पदार्थ एवं औद्योगिक कच्चे माल का ही व्यापार होता है;** जैसे—गेहूँ, चावल आदि। इन सुसङ्गठित बाजारों में केवल ऐसी ही वस्तुओ का क्रय-विक्रय होता है जो पर्याप्त मात्रा में हों, जिनका श्रेणी-विभाजन (Grading) सुगम हो, प्रमापीकरण (Standardisation) हो सके तथा विस्तृत बाजार हो। उपज-विनिमय-विपणि में केवल उसके सदस्य ही व्यापार कर सकते हैं। बाजार समाचारों की गतिविधि तथा मूल्य-सूचनायें बड़े-बड़े दैनिक, साप्ताहिक तथा मासिक समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रहती हैं। सौदों का निपटारा तथा झगड़ों को तय करने की भी समुचित व्यवस्था रहती है।

हमारे देश में उपज-विनिमय-विपणि की पद्धति विशेष रूप से प्रथम महायुद्ध सन् १९१४-१८ के पश्चात् हुई। इस समय भारत में लगभग १८५ उपज-विनिमय-विपणि कार्य कर रहे हैं। इनकी सबसे अधिक मात्रा पंजाब में है तथा क्रमशः उत्तर प्रदेश, बङ्गाल तथा बम्बई आदि में है।

वस्तु विपणि तथा उपज विपणि में अन्तर
(Difference between Commodity Exchange and Produce Exchange)

क्रम-संख्या	अन्तर का आधार	वस्तु विपणि	उपज विपणि
१.	क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तुओं की प्रकृति	वस्तु विपणि में विभिन्न प्रकार की वस्तुओं, जैसे—कृषि पदार्थ, निर्मित व अर्द्ध-निर्मित माल, खनिज (जैसे सोना, चाँदी आदि) का क्रय-विक्रय होता है।	उपज विपणि में केवल कृषि उत्पादित वस्तुओं व कच्चे माल का ही क्रय-विक्रय होता है।
२.	क्षेत्र	वस्तु विपणि का क्षेत्र विस्तृत होता है। उपज विपणि इसका एक भाग है।	उपज विपणि का क्षेत्र वस्तु विपणि के मुकाबले में सीमित होता है। यह स्वयं वस्तु विपणि का एक अंग है।
३.	प्रकार	वस्तु विपणि दो प्रकार की हो सकती है—(अ) सामान्य (General) तथा (ब) विशिष्ट (Special)। सामान्य विपणि पर एक से अधिक प्रकार की वस्तुओं का क्रय-विक्रय होता है। इसके विपरीत विशिष्ट वस्तु विपणि पर एक ही वस्तु का क्रय-विक्रय होता है।	उपज विपणि पर ऐसा कोई भेद-भाव नहीं होता है।
४.	स्थिति	वस्तु विपणि किसी देश के विभिन्न भागों में स्थित होती है।	उपज विपणि प्रायः सम्बन्धित उत्पादित वस्तु के उत्पादन केन्द्रों के नजदीक ही स्थित होती है।

उपज विपणि तथा स्कन्ध विपणि में अन्तर
(Difference between Produce Exchange and Stock Exchange)

क्रम संख्या १	अन्तर का आधार २	उपज विपणि ३	स्कन्ध विपणि ४
१.	वस्तुओं की प्रकृति	इनमें कृषि उत्पादित पदार्थों तथा कच्चे माल का ही क्रय-विक्रय होता है।	इनमें अंशों, स्कन्धों, ऋण-पत्रों एवं सरकारी प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय होता है।
२.	संग्रह की आवश्यकता	इसमें उत्पादकों से प्राप्त कच्चे माल को संग्रह किया जाता है।	इनमें संग्रह करने की आवश्यकता नहीं रहती।
३.	व्यवहारों का स्वरूप	इनमें तैयारी के सौदे अधिक किये जाते हैं।	इनमें तैयारी के सौदों की अपेक्षा वायदे के सौदे अधिक किये जाते हैं।

१	२	३	४
४.	सुरक्षा के व्यवहारों की मात्रा	इनमें सुरक्षा के व्यवहार अधिक मात्रा में किये जाते हैं।	इनमें सुरक्षा के व्यवहार अपेक्षाकृत कम मात्रा में किये जाते हैं।
५.	सूचीयन का होना	इनमें व्यवहार की जाने वाली वस्तुओं के सूचीयन की आवश्यकता नहीं पड़ती है।	इनमें केवल उन्हीं प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में व्यवहार किया जाता है जिनका कि पहले सूचीयन हो चुका है।
६.	सदस्यता	इनमें कोई भी व्यापारी सदस्य बन सकता है।	इनमें केवल मान्यता प्राप्त व्यक्ति ही सदस्य बन सकते हैं।
७.	नियमों का कठोरता से लागू होना	इनमें सदस्यों के लिए इनके नियमों का कठोरता से पालन करना अनिवार्य है। इनके नियमों को अपेक्षाकृत कम कठोरता से लागू किया जाता है।	इनमें सदस्यों के लिए इनके नियमों का कठोरता से पालन करना अनिवार्य होता है। इनके नियमों को अधिक कठोरता से लागू किया जाता है।
८.	स्थिति	ये प्राय: सम्बन्धित वस्तु के उत्पादन केन्द्रों के निकट स्थित होते हैं।	इनमें ऐसी बात नहीं है।
९.	जोखिम	इनमें तैयारी के सौदों की मात्रा अधिक होने के कारण जोखिम की मात्रा अपेक्षाकृत कम रहती है।	इनमें वायदे के सौदों की मात्रा अधिक होने के कारण जोखिम की मात्रा अधिक रहती है।

विपणि में क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तुओं के गुण
(Essential Qualities of Marketable Commodities on the Exchange)

विपणियों पर केवल उन्हीं वस्तुओं का क्रय-विक्रय किया जाता है जिनमें निम्नलिखित विशेषतायें हों :—

(१) **श्रेणी-विभाजन में सुविधा** (Suitability for Grading)—जिन वस्तुओं में श्रेणी विभाजन आसानी से किया जा सकता है, उन्हीं में वस्तु विपणि में व्यापार किया जा सकता है। जिन वस्तुओं का श्रेणीयन नहीं हो सकता है उनमें शीघ्रता से व्यवहार नहीं हो सकता, क्योंकि हर बार उस वस्तु के गुण को निर्धारित करना पड़ेगा।

(२) **व्यापक एवं विस्तृत माँग** (Universal or very wide Demand)—वस्तुओं की माँग के अनुरूप ही बाजार का विस्तार सम्भव है। जिन वस्तुओं की माँग व्यापक एवं विस्तृत होती है उनका बाजार भी विस्तृत होता है। उदाहरण के लिए, सोना, गेहूँ, चावल, चाय आदि की माँग व्यापक होने के कारण इनका बाजार भी अन्तर्राष्ट्रीय होता है।

(३) **स्थानान्तरण की सुविधा** (Portability)—वस्तुओं का बाजार विस्तृत होने के लिए यह आवश्यक है कि उक्त वस्तु में स्थानान्तरण की क्षमता हो। जिन वस्तुओं के स्थान-परिवर्तन में अधिक व्यय होता है, उनका बाजार सीमित होता है।

(४) **एकरूपता** (Homogeniety)—व्यवहार की जाने वाली वस्तुओं में एकरूपता का होना नितान्त आवश्यक है, अन्यथा व्यवहार करने में कठिनाई होगी। एकरूपता से आशय है कि एक जाति या किस्म वाली सभी इकाइयाँ एक समान होनी चाहिए, जिससे क्रेता व विक्रेता संकेतों द्वारा उनमें व्यवहार कर सकें।

(५) **टिकाऊपन** (Durability)—विपणि पर व्यवहार की जाने वाली वस्तुओं में

टिकाऊपन का होना परम आवश्यक है, अन्यथा वायदे के सौदे करना कठिन होगा। टिकाऊपन के अभाव में बाजार का क्षेत्र सीमित हो जायगा।

(६) **स्वतन्त्र पूर्ति** (Supply must flow naturally to market)—वस्तु विपणि पर व्यवहार की जाने वाली वस्तुओं की पूर्ति स्वतन्त्र होनी चाहिए। पूर्ति पर किसी एक व्यक्ति, समूह या सरकार आदि का एकाधिकार या नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। जिन वस्तुओं पर सरकारी नियन्त्रण होता है, उनमें स्वतन्त्र सौदे नहीं हो सकते। इसके अभाव में बाजार का क्षेत्र सीमित रहेगा।

(७) **व्यापक पूर्ति** (Extensive Supply)—वस्तुओं की पूर्ति व्यापक होनी चाहिए, ताकि विपणि पर निरन्तर व्यवहार होते रहें। इसके अभाव में बाजार का क्षेत्र सीमित हो जावेगा।

(८) **नमूने द्वारा विक्रय की सुविधा** (Suitability for Sale by Sample)—व्यवहार की जाने वाली वस्तुओं में नमूने द्वारा विक्रय की सुविधा उपलब्ध होनी चाहिए। ऐसा होने पर क्रेता व विक्रेता दोनों एक दूसरे से दूर रहने पर भी आसानी से क्रय-विक्रय कर सकते हैं।

(९) **सौदों की पर्याप्तता** (Large Volume of Trading)—वस्तु विपणि में बड़ी मात्रा में पर्याप्त संख्या में व्यवहार होते हैं। जिस वस्तु में बड़ी संख्या में व्यवहार करना सम्भव होता है उसी के व्यवहार वस्तु विपणि पर होते हैं।

उपज-विनिमय-विपणि के कार्य
(Functions of a Produce Exchange)

उपज-विनिमय-विपणि के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं :—

(१) **बीमा का कार्य**—उपज-विनिमय-विपणि पर अधिकतर वायदे के व्यवहार (Forward Transactions) ही होते हैं। ये वायदे के व्यवहार एक प्रकार से बीमा का कार्य करते हैं, क्योंकि इनके आधार पर एक व्यापारी एक हाथ खरीदता है और दूसरे ही क्षण किसी दूसरे व्यक्ति को बेच देता है। इससे भावों के भावी उतार-चढ़ावों के प्रति सुरक्षा मिल जाती है। यह सुरक्षा उसे सुरक्षा के सौदों (Hedging) के माध्यम से मिलती है। सुरक्षा के सौदे की व्याख्या इसी अध्याय के अन्तर्गत आगे के पृष्ठों में की गई है।

(२) **वित्तीय कार्य**—उपज-विनिमय-विपणि थोड़ लाभ पर कार्य करके बैंकों द्वारा ऋण दिये जाने में सुरक्षा करके एवं वस्तु को केवल गोदाम रसीद (Warehouse receipt) द्वारा तुरन्त हस्तान्तरित करके वित्तीय सहायता प्रदान करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

(३) **व्यापार करने का स्थान प्रदान करने का कार्य**—उपज-विनिमय-विपणि का प्रमुख कार्य, "सदस्यों को व्यापार करने अथवा व्यापार में सुगमता लाने के लिए नियम बनाने के विषय में वाद-विवाद करने हेतु **एक सुसंगठित स्थान का प्रबन्ध करना** तथा वस्तु का श्रेणीयन करना है, जिससे वस्तु के मूल्य में समानता आ सके।"

(४) **सूचनायें प्रदान करने का कार्य**—उपज-विनिमय-विपणि व्यवहार की जाने वाली वस्तु की वर्तमान एवं भावी माँग, पूर्ति, यातायात व्यय आदि के सम्बन्ध में आवश्यक आँकड़े एकत्रित करती है तथा उनको प्रकाशित करके लोगों को उनसे अवगत कराने का कार्य करती है।

(५) **वस्तुओं का श्रेणीयन**—जिन वस्तुओं का उपज-विपणि पर व्यवहार किया जाता है उनका परिमाण एवं गुण के आधार पर श्रेणीयन (Grading) करना होता है। इसके फलस्वरूप माँग व पूर्ति की शक्तियाँ व्यवहार की जाने वाली वस्तुओं का सही मूल्य निर्धारित करने में समर्थ होती हैं।

(६) **मूल्यों में स्थायित्व लाने का कार्य**—यह तार, टेलीफोन, वायरलैस आदि के द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय उपज-विनिमय विपणियों से सम्पर्क स्थापित करके, मूल्य ज्ञात करके एवं परिकल्पना (Speculation) के कारण वस्तु पर प्रभाव डालने वाले घटकों को महत्त्व देकर वस्तुओं के मूल्यों में स्थायित्व लाने का प्रयत्न करती है।

(७) **नियमन कार्य**—उपज विनिमय-विपणि सदस्यों द्वारा उचित ढङ्ग से कारोबार किये जाने के लिये नियमों तथा उपनियमों का निर्माण करती है। ये माल की नाप-तोल, प्रमापीकरण, श्रेणीयन, परिकल्पना, कमीशन, पंच-निर्णय, सुपुर्दगी आदि के सम्बन्ध में होते हैं। इससे व्यापारिक स्तर ऊँचा उठता है तथा व्यापारियों के बीच विश्वास की भावना जाग्रत होती है।

एच० ई० इर्डमेन (H. E. Erdman) के अनुसार उपज विनिमय के निम्न कार्य हैं :—(१) सदस्यों को व्यापार करने तथा विचार-विनिमय के लिये एक सुविधाजनक स्थान की व्यवस्था करना; (२) व्यापार की सहायता के लिये नियमों को बनाना एवं उन्हें लागू करना; (३) विपणन सम्बन्धी जानकारी का संकलन करके उसे प्रसारित करना; (४) वस्तुओं का श्रेणीयन करना; (५) व्यापारिक झगड़ों के लिये पंचनिर्णय की व्यवस्था करना; तथा (६) बाजार मूल्यों में समानता लाना।[1]

भारत के प्रमुख वस्तु बाजार
(Leading Commodity Market of India)

हमारे देश में निम्न प्रमुख एवं सुव्यवस्थित वस्तु बाजार हैं :—(१) बम्बई कपास बाजार, (२) कलकत्ता जूट बाजार, (३) कलकत्ता चाय बाजार, (४) कलकत्ता चावल बाजार, (५) हापुड़ गेहूँ बाजार, (६) दिल्ली उत्पत्ति बाजार, (७) अहमदाबाद कपड़ा बाजार, (८) खुर्जा घी बाजार, (९) बम्बई बिनौला बाजार, (१०) बम्बई सर्राफा बाजार, एवं (११) रायपुर मंडी।

उपज विनिमय पर व्यवहार करने की विधि
(Methods of Dealings on the Produce Exchange)

(१) **हाजिर या तत्कालीन सौदे** (Ready Transactions)—उन सौदों को कहते हैं जिनकी सुपुर्दगी सौदा होने के साथ-साथ ही हो जाती है और मूल्य का भुगतान भी प्रायः तुरन्त ही किया जाता है। इस प्रकार के सौदों की माँग प्राय: यथार्थ व्यापारी, उद्योगपति, उपभोक्ताओं तथा मध्यस्थों द्वारा की जाती है।

(२) **भावी या वायदे के सौदे** (Forward Transactions)—ये प्राय: सटोरियों (Speculators) के द्वारा ही किये जाते हैं। इस प्रकार के सौदों तथा मूल्यों का भुगतान भविष्य में तय की जाने वाली तिथि पर किया जाता है। इनकी मात्रा हाजिर सौदों से कहीं अधिक होती है। व्यवहार करने की पद्धति इस प्रकार है :—

(अ) **दलालों तथा व्यापारियों द्वारा लाइसेन्स प्राप्त करना**—इसमें केवल उसके

---

[1] "To provide a convenient plaee for the members to meet for the purpose of trading or to exchange views, to collect and disseminate market informations, to establish and enforce rules and regulations desinged to facilitate trade, to establish and maintain grades, to provide the machinery for arbitration of trade disputes and to aid in crystallizing market values."

—H E. Erdman.

सदस्यगण ही व्यापार कर सकते हैं। अन्य व्यक्ति (जो विपणि के सदस्य नहीं हैं) सदस्यों द्वारा ही व्यापार कर सकते हैं। इसके लिये उन्हें सदस्यों को कुछ कमीशन देना पड़ता है। अतः सर्व-प्रथम प्रत्येक व्यक्ति को बाजार का सदस्य बनने के लिये निश्चित शुल्क जमा करके लाइसेन्स प्राप्त करना पड़ता है तथा बाजार के नियमानुसार उनको जमानत के रूप में एक निश्चित धन राशि भी जमा करनी पड़ती है। बाजार के दो भाग होते हैं :—प्रथम, व्यापारी (Jobbers), जो एक निश्चित धनराशि जमा करके व्यापार करने का कार्ड (Trading Card) प्राप्त करते हैं तथा द्वितीय, दलाल (Brokers), जो कि लाइसेन्स प्राप्त करते हैं तथा दूसरों के लिये व्यवहार करते हैं, जिसके लिये उनको एक निश्चित मात्रा में दलाली (Brokerage) मिलती है।

(ब) अनुबन्धों का पंजीयन (Registration of Contracts)—ग्राहकों से आदेश प्राप्त करके दलाल उसे अपनी साधारण नोट बुक में लिख लेता है। प्रत्येक दलाल के पास सङ्घ द्वारा दी गई एक छपी हुई पुस्तक भी होती है, जिसके प्रत्येक प्ररूप (Form) की तीन प्रतियाँ होती हैं। बाद में दलाल उस पुस्तक पर व्यवहार लिखता है। (अपनी साधारण नोट बुक की सहायता से) तथा उस पर सम्बन्धित पक्षों के हस्ताक्षर भी करा लेता है। इन तीन प्रतिलिपियों में से एक प्रतिलिपि क्रेता को दूसरी विक्रेता को तथा तृतीय अपने पास प्रमाण हेतु रखता है।

प्रत्येक उपज-विनिमय-विपणि के नियमानुसार दलाल को विपणि (Market) के कार्यालय में एक पर्ची (Slip) पर पूर्व-दिन के अपने समस्त भावी व्यवहारों की सूची प्रतिदिन भेजनी पड़ती है। इसकी दो प्रतियाँ भेजी जाती हैं—एक प्रति सदस्य द्वारा तथा द्वितीय दलाल द्वारा। इनकी जाँच उत्पत्ति बाजार के कार्यालय में होती है तथा उसके बाद उन व्यवहारों का प्रसंविदों के रूप में रजिस्ट्रेशन कर दिया जाता है। तब उस सौदे को पक्का सौदा मान लिया जाता है।

(स) अन्तर-राशि (Margin Money)—प्रसंविदे के रजिस्ट्रेशन के समय प्रत्येक सदस्य को उत्पत्ति के बाजार के नियमानुसार एक निश्चित धन-राशि जमा करवानी पड़ती है, जिसे 'अन्तर-राशि' (Margin Money) कहते हैं। यह अन्तर-राशि घटा-बढ़ी के समय विनिमय की क्षतिपूर्ति हेतु एक प्रत्याभूति (Security) के रूप में रहती है। भिन्न-भिन्न बाजारों में अन्तर-राशि जमा करने की दर भिन्न-भिन्न होती है, जो साधारणतया ५० पैसे से लेकर १२५ पैसे तक होती है।

(द) व्यवहार की वस्तुओं की इकाइयाँ तथा सुपुर्दगी के महीने—भिन्न-भिन्न बाजारों में व्यवहार की वस्तुओं की इकाइयाँ भिन्न-भिन्न होती हैं। उदाहरणार्थ; हापुड़ गेहूँ बाजार में एक मन ८२$\frac{३}{७}$ पौंड का होता है जबकि लायलपुर व दिल्ली में ८२$\frac{३}{२५}$ पौंड का मन होता है। इसी प्रकार चावल का बोरा बम्बई में १६८ पौंड का तथा मद्रास में १६४ पौंड का होता है। किन्तु, अब नाप-तौल की नवीन प्रणाली काम में लाई जाने लगी है।

भावी प्रसंविदे प्रायः दिसम्बर, मार्च आदि महीनों के किये जाते हैं और प्रत्येक प्रसंविदा सुपुर्दगी के महीने (Month of Delivery) के नाम से पुकारा जाता है, जो विभिन्न बाजारों में भिन्न-भिन्न होते हैं; जैसे—बम्बई में जनवरी, मई, दिसम्बर तथा कलकत्ता में मई और दिसम्बर। उत्तरी भारत में सुपुर्दगी के महीने विक्रमी सम्वत् के अनुसार निश्चित किये जाते हैं; जैसे—अषाढ़, फाल्गुन आदि। निश्चित तिथि पर भुगतान करना तथा पाना, विक्रेता तथा क्रेता दोनों का अधिकार है। किन्तु यदि विक्रेता के पास सुपुर्दगी की तिथि से पहले ही माल आ जाता है तो वह क्रेता से प्रार्थना करके सुपुर्दगी आदेश (Delivery Order) प्राप्त कर उसको माल भुगतान की तिथि से पहले भी दे सकता है। इसी प्रकार क्रेता भी विक्रेता से निश्चित तिथि

से पूर्व ही सुपुर्दगी देने की प्रार्थना कर सकता है, जिसे माँग आदेश (Demand Order) कहते हैं।

(इ) **अनुबन्ध का प्रपत्र** (Form of Contract)—भावी प्रसंविदे कुछ शर्तों के आधार पर किये जाते हैं, जिनका उल्लेख उस अनुबन्ध प्रपत्र में होता है जिनके आधार पर ये व्यवहार किये जाते हैं, ये शर्तें सभी को मान्य होती हैं। आपसी मतभेद पंच-फैसले द्वारा तय होते हैं।

उपज-विनिमय-विपणि का सङ्गठन
(Organisation of Produce-Exchange Markets)

संसार भर में उपज-विनिमय-विपणियों का सङ्गठन उस देश की संस्थाओं के नियम तथा उपनियमों के अधीन किया जाता है। इसके साथ-साथ उन समस्त विधेयकों का भी ध्यान रखा जाता है जो इस प्रकार की संस्थाओं के लिए राष्ट्रीय सरकारों द्वारा समय-समय पर पास किये जाते हैं। ये निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किये जा सकते हैं :—

(१) **लाभ-भाजक** (Profit Sharing)—इस प्रकार की उपज-विनिमय विपणि भारतीय कम्पनी अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित होती है। इसका नियन्त्रण भी उसी विधान के द्वारा होता है। इसका लाभ सदस्यों में बाँट दिया जाता है।

(२) **अलाभ-भाजक** (Non-profit Sharing)—इस प्रकार के सङ्गठन कम्पनी विधान की धारा २६ के अन्तर्गत रजिस्टर्ड किये जाते हैं। ये अपने सदस्यों को लाभ का हिस्सा नहीं देते। ये लाभ-भाजक की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली होते हैं तथा इनका स्थायित्त्व भी अधिक रहता है। ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन, ईस्ट इण्डिया जूट एसोसियेशन, मारवाड़ी चेम्बर ऑफ कॉमर्स आदि इसके उदाहरण हैं।

उपरोक्त दोनों प्रकार की विपणियों की व्यवस्था संचालन सभा के द्वारा की जाती है। इसका चुनाव सामान्य सदस्य करते हैं। व्यापार को सुचारु रूप से चलाने के लिये निश्चित नियम एवं उप-नियम होते हैं और उन्हीं के आधार पर व्यापार किया जाता है।

उपज-विनिमय-विपणियों के लाभ
(Advantages of Produce Exchanges)

उपज-विनिमय-विपणि में किये जाने वाले सौदों से उत्पादकों तथा निर्माताओं को कई लाभ होते हैं और वे असामयिक सौदों से होने वाली हानि से बच जाते हैं। संक्षिप्त में मुख्य-मुख्य लाभ इस प्रकार हैं :—(i) ये मूल्यों में स्थिरता लाते हैं। (ii) उपज विपणियाँ वस्तुओं के क्रय-विक्रय के लिए निरन्तर बाजार प्रदान करती हैं। (iii) चूँकि क्रेता व विक्रेता को एक निश्चित राशि इसके कार्यालय में जमा करनी पड़ती है, अतएव वे खूब सोच-विचार कर सौदे करते हैं, जिसके कारण अस्वस्थ परिकल्पना पनपने नहीं पाती। (iv) मण्डियों में सुरक्षा के सौदों (Hedging) की व्यवस्था होने से निर्माता एवं व्यापारी हानि से बच सकते हैं। (v) इनका क्षेत्र न केवल राष्ट्रीय वरन् अन्तर्राष्ट्रीय होने से वस्तुओं के मूल्य में एकता स्थापित हो जाती है। (vi) निर्माताओं को कच्चा माल प्राप्त करने में सुविधा रहती है। (vii) वस्तुओं का श्रेणीयन व प्रमापीकरण हो जाने से क्रेता व विक्रेता दोनों को सुविधा रहती है। इससे क्रय-विक्रय के सौदे सरलता से किये जा सकते हैं। (viii) साख प्रदान करने वाली संस्थायें (जैसे—बैंक, वित्तीय निगम आदि) उपज-विनिमय पर विक्रय की जाने वाली वस्तुओं की प्रतिभूति पर साख-सुविधायें प्रदान करती हैं। (ix) सारे देश में मण्डियों के साधारण नियम तथा उपनियमों में समानता होने के कारण देश की व्यापारिक-प्रगति में व्यापक वृद्धि होती है और व्यापारी तथा निर्माताओं को वस्तु के क्रय-विक्रय में सुविधा रहती है।

उपज-विनिमय-विपणि में प्रयोग होने वाली शब्दावली
(Produce Exchange Terms)

पीड़ित मन्दड़िया या मन्दड़िया निचोड़ (Bear squeeze)—मन्दड़िया लाभ कमाने के उद्देश्य से हमेशा विक्रय करते हैं। अतः अधिक लाभ कमाने के लिये कभी-कभी ये अधिक मात्रा में भावी विक्रय के सौदे कर लेते हैं। अपने सौदे निपटाने के लिये इन्हें माल को खरीदना पड़ता है। जब मन्दड़ियों की अत्यधिक बिकवाली का पता तेजड़ियों को लग जाता है तो वे (तेजड़िये) मन्दड़ियों को माल बेचना बन्द कर देते हैं। भुगतान की तिथि पर अपने सौदों को निपटाने के लिये उन्हें माल खरीदना पड़ता है। चूँकि तेजड़िये माल कम कीमत पर बेचना नहीं चाहते अतः मजबूरन मन्दड़ियों को अधिकतम् मूल्य पर माल खरीदना पड़ता है ताकि वे अपने सौदे निपटा सकें। फलस्वरूप मण्दड़ियों को भारी हानि उठानी पड़ती है। ऐसे मन्दड़ियों को, जिन्हें मजबूर होकर माल को अधिकतम कीमत पर खरीदना पड़ता है, पीड़ित मन्दड़िया कहते हैं।

मन्दड़ियों की पटान या मन्दीवाला आच्छादन (Bear covering)—मन्दड़िये लाभ कमाने के उद्देश्य से भावी विक्रय के सौदे अधिक मात्रा में कर लेते हैं। कई बार उनके अनुमान गलत भी हो जाते हैं अर्थात् अनुमान के विपरीत भाव घटने के स्थान पर निरन्तर बढ़ने लगते हैं और उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि भुगतान तिथि तक भावों में कमी आ सकेगी। अतः अपने सौदे को निपटाने के लिये उन्हें पुनः क्रय के सौदे करने पड़ते हैं। ये सौदे उन्हें अधिक कीमत पर करने पड़ते हैं। इन सौदों को निपटाने का मुख्य उद्देश्य भविष्य में होने वाली अधिक हानि को सीमित करना होता है। चूँकि इसमें वस्तु क्रय की जाती है, अतः अधिक माँग होने के कारण बाजार में इस वस्तु की कीमतें और अधिक बढ़ जाती हैं। ऐसी परिस्थिति मन्दड़ियों के लिए नुकसानदायक और तेजड़ियों के लिए लाभदायक होती है। इस बाजार में क्रय अधिक और विक्रय कम होता है।

तैयारी अथवा तत्काल व्यवहार (Ready or Shot Business)—तत्काल व्यवहार से आशय ऐसे व्यवहार से है जिसमें विक्रेता माल की सुपुर्दगी क्रेता को सौदा तय करने से अथवा प्रचलित प्रथा के अनुसार एक या दो दिन में देता है। अतः इसको हाजिर सौदा भी कहते हैं। ऐसे सौदों में यह अनिवार्य नहीं है कि माल की सुपुर्दगी प्राप्त होते ही क्रेता उसका भुगतान कर दे।

भावी अथवा अग्रिम व्यवहार या सौदा (Future or Forward Business or Transaction)—भावी व्यवहार से आशय ऐसे व्यवहारों से है जिनमें भविष्य में वस्तु का आदान-प्रदान करने के लिए अनुबन्ध किया जाता है। अतएव क्रेता व विक्रेता माल का आकार-प्रकार, भाव मात्रा तो सौदा करते समय ही तय कर लेते हैं, किन्तु माल की सुपुर्दगी और मूल्य का भुगतान एक निश्चित अवधि के लिए स्थगित कर दिया जाता है।

सुरक्षा के सौदे (Hedge) : (भविष्य में होने वाले नुकसान की 'सुरक्षा')—प्रत्येक व्यापारी/सटोरिया सम्भावित हानि से अपने आपको सुरक्षित रखना चाहता है। यह सम्भव है कि हर सौदे में लाभ की अपेक्षा उसे हानि सहन करनी पड़े। अतः प्रत्येक उत्पादक दो विभिन्न स्वभाव के (एक क्रय का, दूसरा विक्रय का) सौदे करता है, ताकि एक में नुकसान होने पर, दूसरे सौदे से उसे लाभ हो सके। इस प्रकार के सौदों का मुख्य उद्देश्य लाभ कमाना नहीं बल्कि भविष्य की हानि को न्यूनतम करना होता है। इस प्रकार के सौदे की मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं :—(१) दो विभिन्न सौदे—एक क्रय का, और दूसरा विक्रय का, (२) एक ही कीमत में दो विभिन्न सौदे, (३) एक ही वस्तु के दो सौदे—एक कच्चा माल और दूसरा निर्मित, (४) एक ही भुगतान तिथि।

फँसा हुआ तेजड़िया (Trapped Bull)—तेजड़िये लाभ कमाने के उद्देश्य से हमेशा

क्रय करते हैं। अतः अधिक लाभ कमाने के लिये कभी-कभी तेजड़िये अधिक मात्रा में भावी क्रय के अनुबन्ध कर लेते हैं। अपने सौदे निपटाने के लिये इन्हें माल को बेचना पड़ता है। जब तेजड़ियों की अत्यधिक खरीदी का पता मन्दड़ियों को लग जाता है तो वे (मन्दड़िये) तेजड़ियों से माल खरीदना बन्द कर देते हैं। भुगतान तिथि पर अपने सौदों को निपटाने के लिये उन्हें विक्रय करना पड़ता है। चूँकि मन्दड़िये (जानबूझ कर) खरीदना नहीं चाहते अतः मजबूरन होकर तेजड़ियों को न्यूनतम कीमत पर माल बेचना पड़ता है, ताकि उनके सौदे निपट जायँ। फलस्वरूप तेजड़ियों को भारी हानि उठानी पड़ती है। ऐसे तेजड़ियों को जिन्हें मजबूर होकर माल को न्यूनतम कीमत पर बेचना पड़े, फँसा हुआ तेजड़िया कहते हैं।

तेजड़ियों की कटान या तेजड़िया विलियन (Bull liquidation) : (तेजड़ियों द्वारा की गई बिक्री)—तेजड़िये लाभ कमाने के उद्देश्य से भावी क्रय के सौदे कर लेते हैं। कई बार उनके अनुमान गलत भी हो जाते हैं अर्थात् उनके अनुमान के विपरीत भाव बढ़ने के स्थान पर निरन्तर गिरने लगते हैं और उन्हें यह विश्वास नहीं होता कि भुगतान तिथि तक भावों में सुधार होने लगेगा (भाव बढ़ेंगे), अतः अपने सौदों को निपटाने के लिये उन्हें पुन विक्रय के सौदे करने पड़ते हैं। इन सौदों को निपटाने का मुख्य उद्देश्य भविष्य में होने वाली अधिक हानि को सीमित करना होता है। चूँकि इसमें वस्तु बेची जाती है, अतः अधिक पूर्ति होने के कारण बाजार में उस वस्तु की कीमतें और भी अधिक कम होने लगती हैं। ऐसी परिस्थिति मन्दड़ियों के लिये लाभदायक होती है। इस बाजार में क्रय कम और विक्रय अधिक होते हैं।

वस्तुओं में उच्चावचन लाने वाले विभिन्न कारक या मूल्य को प्रभावित करने वाले कारण

(Factors bringing Fluctuations in the Prices of Commodities or Factors affecting Prices)

प्रत्येक वस्तु का मूल्य उसकी माँग एवं पूर्ति पर निर्भर रहता है। दूसरे शब्दों में, इस प्रकार कह सकते हैं कि जो कारण वस्तु की तत्कालीन (Ready) एवं अग्रिम (Forward) माँग तथा पूर्ति को प्रभावित करते हैं वे ही वस्तु के मूल्यों पर भी प्रभाव डालते हैं और इसी कारण मूल्यों में उतार-चढ़ाव होता है। मूल्यों को प्रभावित करने वाले कारण अथवा घटक निम्नलिखित हैं :—

(१) **भौगोलिक दशाएँ**—वस्तुओं की माँग एवं पूर्ति पर जलवायु का भी प्रभाव पड़ता है। अच्छे मौसम में फसल अच्छी होगी और इस प्रकार वस्तुओं के मूल्य में गिरावट आवेगी। इसके विपरीत खराब मौसम में फसल भी खराब होगी, जिसके कारण वस्तुओं के मूल्य भी बढ़ जायेंगे।

(२) **आयात-निर्यात परिस्थिति**—यदि किसी वस्तु का निर्यात अधिक होता है तो स्थानीय बाजारों में वस्तु की कमी हो जायेगी और मूल्य बढ़ जायेंगे। इसके विपरीत यदि किसी वस्तु का विदेशों से आयात अधिक होता है तो उस वस्तु का प्रदाय अधिक होगा, जिसके परिणामस्वरूप मूल्य गिर जायेंगे।

(३) **राजकीय नीति**—राज्य सरकार की आर्थिक नीति का भी मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ; आयात-निर्यात या अन्य करों का लगाया जाना अथवा हटाना, मूल्यों

पर नियन्त्रण करना, आयात-निर्यात पर प्रतिबन्ध लगाना, व्यापार सम्बन्धी नियम बनाना इत्यादि।

(४) **सांख्यिकीय स्थिति**—किसी वस्तु का वर्तमान संग्रह तथा भविष्य में होने वाले उत्पादन आँकड़ों पर भी किसी वस्तु का मूल्य निर्भर करता है। किसी समय जब वर्तमान आँकड़े माँग की अपेक्षा कम होंगे तो वस्तु का मूल्य बढ़ जायगा तथा इसकी विपरीत दशा में मूल्य घट जायगा।

(५) **अन्य वस्तुओं से सहानुभूति**—एक बाजार का प्रभाव दूसरे बाजार पर पड़ता है अर्थात् यदि एक वस्तु के भावों में वृद्धि होगी तो उसका प्रभाव दूसरे बाजार पर पड़े बिना नहीं रह सकता, क्योंकि विपणियों की परस्पर-निर्भरता रहती है। उदाहरणार्थ; यदि गेहूँ के भाव बढ़ते हैं तो चना, मक्का, ज्वार आदि के भाव भी कुछ न कुछ अवश्य बढ़ेंगे।

(६) **प्रति-वस्तुओं** (Substitutes) **का प्रभाव**—यदि किसी वस्तु की प्रति-वस्तुयें उपलब्ध हैं तो इसका भी मूल्य पर प्रभाव पड़ेगा, क्योंकि यदि किसी वस्तु का मूल्य अधिक है तो जनता उससे कम मूल्य वाली प्रति-वस्तुओं का प्रयोग करेगी, जिसके परिणामस्वरूप पहले वाली वस्तु के भाव या तो कम हो जायेंगे अथवा भावों में वृद्धि होना रुक जायेगा। उदाहरणार्थ; तोता छाप जूते की पॉलिश मँहगी होने से तितली छाप पॉलिश अधिक प्रयोग में आने लगेगी, जिसके परिणामस्वरूप तोता छाप पॉलिश के मूल्य गिर जायेंगे।

(७) **भ्रमात्मक प्रभाव**—बाजार में नाना प्रकार की अफवाहें या गप्प मारने अथवा ज्योतिष द्वारा फैलाई गई धारणा से भी मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है।

(८) **विदेशी विनिमय दर**—विदेशी-विनिमय-दर में उतार-चढ़ाव होने से भी वस्तुओं के मूल्यों पर प्रभाव पड़ता है, जैसे—रुपये के अवमूल्यन के परिणामस्वरूप अनेक वस्तुओं के मूल्यों में उतार-चढ़ाव आये।

(९) **मुद्रा-चलन की परिस्थिति**—यदि चलन में मुद्रा की मात्रा अधिक होती है, तो मुद्रा-प्रसार होता है, जिसके कारण जनता के हाथ में अधिक क्रय-शक्ति एकत्रित हो जाती है। धन की अधिकता के कारण वस्तुओं की माँग अधिक हो जाती है। परिणामस्वरूप वस्तुओं के मूल्य बढ़ जाते हैं। इसके विपरीत यदि मुद्रा-संकुचन की स्थिति हो तो चलन में कम मुद्रा रह जाने के कारण वस्तुओं का मूल्य गिर जायेगा। इस प्रकार मुद्रा-चलन की परिस्थिति का वस्तुओं के मूल्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

(१०) **समाचार-पत्रों का मत**—आधुनिक युग में प्रत्येक समाचार-पत्र में व्यापारिक सूचनाओं को प्रकाशित किया जाता है। इन समाचारों के आधार पर विपणियों में वस्तुओं के मूल्य पर गहरा प्रभाव पड़ता है।

(११) **अन्य देशों से व्यापार सम्बन्ध**—यदि किसी देश का दूसरे देश से व्यापार सम्बन्ध है, तो अन्य देश की माँग के कारण मूल्यों में वृद्धि हो जायेगी। इसी प्रकार यदि उस देश से वस्तुओं का आयात किया जाता है तो मूल्य कम हो जायेंगे। इसी प्रकार हम देखते हैं कि अन्य देशों की माँग या पूर्ति का भी देश में वस्तुओं के मूल्य पर प्रभाव पड़ता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि उपज-विनिमय-विपणि में मूल्यों को प्रभावित करने वाले एक या एक से अधिक घटक हो सकते हैं। अतएव भावी मूल्य का अनुमान लगाते समय उपयुक्त सभी घटकों का अध्ययन करना चाहिये।

मण्डियों की कार्यविधि
(Working of Mandies)

मण्डी का अर्थ—

मण्डी एक ऐसे थोक बाजार को कहते हैं जो नगर के निश्चित व्यापारिक स्थान में होती है तथा जहाँ पर प्रतिदिन व्यापार किया जाता है। इनमें कच्चे माल का क्रय-विक्रय भारी मात्रा में किया जाता है। प्रत्येक मण्डी में उसके आस-पास के स्थानों पर उत्पन्न होने वाली वस्तुयें बिकने के लिये आया करती हैं। यहाँ पर दलाल, कमीशन-एजेण्ट, पल्लेदार व अन्य व्यक्ति काफी संख्या में उपस्थित रहते हैं। मण्डियों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) केन्द्रित (Centralised), (ब) विकेन्द्रित (De-centralised)। एक केन्द्रित मण्डी में आढ़तियों की दूकानें नगर के विशेष भाग में स्थित रहती हैं, जैसे—मेरठ व मुजफ्फर-नगर की मण्डियाँ। इसके विपरीत मण्डी के आढ़तियों की दूकानें गोदामों के रूप में विभिन्न स्थानों पर स्थापित रहती हैं।

मण्डियों के ऊपर नगरपालिकाओं (Municipalities), जिला बोर्ड (District Boards) व स्थानीय व्यापारियों का अधिकार रहता है। आसाम, बंगाल व बिहार में अधिकतर मण्डियाँ स्थानीय व्यापारियों के हाथ में हैं।

हापुड़ मण्डी का विधान अथवा कार्यविधि
(Constitution and Working of Hapur Mandi)

हापुड़ की मण्डी गेहूँ के व्यापार के लिये प्रसिद्ध है। यह स्थान उत्तर प्रदेश के मेरठ जिले में स्थित है। इस क्षेत्र के आस-पास भी काफी मात्रा में गेहूँ उत्पन्न होता है और इसलिये यह मण्डी बहुत विकसित हो गई है, क्योंकि अधिकतर गेहूँ का क्रय-विक्रय प्रायः इस मण्डी के द्वारा होता है।

हापुड़ मण्डी का विधान—

हापुड़ मण्डी का प्रबन्ध एक वाणिज्य मण्डल (Hapur Chamber of Commerce) द्वारा किया जाता है। इस मण्डल के सदस्य प्रायः मण्डी के सभी व्यापारी होते हैं और उनकी एक चुनी हुई संस्था मण्डी का प्रबन्ध करती है। यह मण्डल साधारण व्यापार के परिचालन के साथ-साथ परिकल्पित सौदों पर भी नियन्त्रण रखता है। जब कोई परिकल्पक सट्टा करता है तो दोनों पक्ष क्रेता व विक्रेता वाणिज्य मण्डल के कार्यालय में जाकर निश्चित धन-राशि जमा करते हैं, जो इस सम्बन्ध में निर्धारित किये हुये पूर्व नियमों के अधीन होती है। इसका उद्देश्य यह है कि परिकल्पक अपने उत्तरदायित्व का अनुभव करे तथा व्यापार का सन्तुलन नष्ट न हो। इस प्रकार धन-राशि जमा कर देने से तथा सौदों को करने के पश्चात् इन परिकल्पकों के सौदे के प्रसंविदे पक्के हो जाते हैं और मण्डल का कार्यालय इस बात का पूरा ध्यान रखता है कि बाजार में जो कोई भी सौदे हुये हैं उनको पूर्ण रूप से पूरा किया जाय। सौदे के होने पर उसका मण्डल के कार्यालय में रजिस्ट्रेशन हो जाता है और क्रेता और विक्रेता उस सौदे के लिये बाध्य हो जाते हैं। मण्डी के व्यापारियों के बीच किसी प्रकार का मतभेद हो जाने पर उसका फैसला मण्डल के द्वारा किया जाता है। मण्डल के संचालन के लिये सदस्यों को एक निश्चित शुल्क देना पड़ता है।

हापुड़ मण्डी की कार्यविधि—

(**अ**) **खत्ती का विक्रय**—वाणिज्य मण्डल के नियमानुसार यहाँ प्रत्येक खत्ती के भर जाने पर उसका पंजीयन (Registration) कराना पड़ता है। पंजीयन कराते समय खत्ती भरने

वाले का पता, उसका वजन, उसकी स्थिति व क्रमसंख्या आदि सब बतानी पड़ती हैं। इन खत्तियों को प्राय: बैंक के पास बन्धक के रूप में रख दिया जाता है। इन खत्तियों के परीक्षण के पश्चात् विक्रय प्रपत्र पर वाणिज्य मण्डल की मुहर लग जाती है। इससे यह पता चल जाता है कि उसमें लिखा हुआ विवरण ठीक है। विक्रय होने पर उस प्रपत्र को क्रेता को दे दिया जाता है तथा उसमें मूल्य भी लिख देते हैं। इससे उसका स्वामित्त्व क्रेता को मिल जाता है। एक ही खत्ती का कई बार क्रय-विक्रय किया जा सकता है। इस क्रय-विक्रय के बीच में विक्रय-प्रपत्र कई व्यक्तियों के पास पहुँचता है, किन्तु खत्ती पहले विक्रेता के पास ही रहती है। खत्ती को केवल अन्तिम क्रेता को ही दिया जाता है। खत्ती देते समय यदि उसका अनाज वाणिज्य मण्डल के प्रमाप से खराब या अच्छा होता है तो उस पर कटौती (Discount) या अधिमूल्य (Premium) दिया जाता है।

(ब) मण्डी में व्यापारियों के प्रकार (Types of Traders in Mandi)—हापुड़ मण्डी में मुख्यतया दो प्रकार के व्यापारी होते हैं :—(i) कच्चा आढ़तिया व (ii) पक्का आढ़तिया। कच्चे आढ़तिये पक्के आढ़तियों के एजेण्ट के रूप में कार्य करते हैं। इनका सम्बन्ध सीधे उत्पादक, किसानों तथा गाँवों के साहूकार और व्यापारियों से रहता है। कच्चे आढ़तिये फसल के पूर्व इन किसानों तथा व्यापारियों को आर्थिक सहायता देकर इनकी फसल को पहले से ही खरीद लेते हैं और फसल तैयार होने पर सारा माल अपने अधीन कर लेते हैं। किसान अथवा गाँव के व्यापारी अनाज को लेकर मण्डियों में जाते हैं। मण्डी का ढङ्ग कुछ इस प्रकार का होता है कि इनको इन लोगों की शरण लेना आवश्यक हो जाता है। ऐसी दशा में कच्चे आढ़तियों की स्थिति दलाल जैसी हो जाती है, वे पक्के आढ़तियों में किसानों का प्रतिनिधित्त्व और किसानों के बीच में पक्के आढ़तियों के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करते हैं।

बहुधा कच्चे आढ़तिये अपने आदमियों को दिन निकलते ही हापुड़ मण्डी से दूर तथा निकट की चुङ्गी चौकियों पर भेज देते हैं। वहाँ पर उनको अनाज की गाड़ियों को लिए ग्रामीण मिलते हैं। उनकी चुंगी आदि चुका देने पर वे उन अनाज की गाड़ियों को अपने स्वामियों की दूकानों पर ले जाते हैं, जहाँ पर उनको केवल माल की कच्ची पचियाँ दे दी जाती हैं। चुंगी के रूप में दिया गया धन अनाज के विक्रय से प्राप्त धन में से काट लिया जाता है।

जब कच्चे आढ़तियों के पास अनाज पहुँच जाता है तो वे पक्के आढ़तियों के साथ सम्पर्क स्थापित करके उसके विक्रय का प्रयत्न करते हैं। उस मूल्य को जिस पर कि पक्का आढ़तिया अनाज को खरीदने को तैयार है, किसान को बतला दिया जाता है। किसान की अनुमति प्राप्त हो जाने पर माल का क्रय-विक्रय हो जाता है। इस प्रकार माल की सुपुर्दगी व मूल्य का भुगतान भी तुरन्त हो जाता है।

ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन
(East India Cotton Association)

ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन (E. I. C. A.) बम्बई में सारे भारत के कपास बाजार का नियन्त्रण करता है। इसकी स्थापना सन् १९१७ में भारत कपास समिति के सुझाव पर गवर्नर के द्वारा की गई थी। इससे पूर्व कपास का व्यापार ७ संस्थाओं द्वारा किया जाता था और कपास में भारी प्रतिस्पर्धा होती थी।

उद्देश्य (Objects)—

(१) मण्डी के लिए भवन निश्चित करना तथा उसमें प्रवेश करने के लिए उसके

सदस्यों की व्यवस्था करना और उसमें होने वाले व्यापार पर नियन्त्रण करना। (२) सौदों के लिए क्रेता व विक्रेताओं को फार्म तथा आदेश पुस्तकें देना, सौदों का निश्चय और रजिस्ट्रेशन करना। (३) झगड़े की दशा में पंच-निर्णय की व्यवस्था करना। (४) भावों का सन्तुलन करना। (५) कपास को श्रेणीबद्ध करना। (६) मण्डी की गतिविधियों की सूचना व्यापारियों को देना व प्रकाशित करना। (७) व्यापार की जोखिमों पर नियन्त्रण करना और बीमे की व्यवस्था करना। (८) कपास के व्यापार को प्रोत्साहन देने के लिये बम्बई तथा कपास के उत्पादक क्षेत्रों में पूर्ण नियन्त्रण करना। (९) शोधनगृहों की स्थापना करना। (१०) सट्टे पर नियन्त्रण रखना तथा व्यापार के नियम बनाना।

संक्षिप्त वर्णन (A Brief Description)—

संवरी कॉटन डिपो में इस संस्था का एक विशाल भवन है, जिसमें १२१ क्रेताओं तथा ८४ विक्रेताओं के कमरे हैं और एक बड़े हॉल में करीब ४०० सदस्यों के लिये स्थान है। इस संस्था की ओर से नियमित दर से बॉम्बे कॉटन मेन्युअल प्रकाशित किया जाता है, जिसकी कपास सम्बन्धी सूचनायें अधिकारपूर्ण तथा विश्वसनीय समझी जाती हैं।

ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन यद्यपि भारत में अधिकांश कपास बाजार पर नियन्त्रण रखता है, किन्तु यथार्थ रूप में उसका नियन्त्रण यथेष्ट नहीं रह सका और न वह अप्रिय परिकल्पनाओं को रोक कर मूल्यों में स्थिरता लाने में ही पर्याप्त सफल हुआ। उसकी इस दुर्बलता के कारण कपास के उत्पादकों और व्यापारियों को अधिक लाभ नहीं पहुँचा। फसल के दिनों में कपास के मूल्य आवश्यकता से अधिक गिर जाते हैं, क्योंकि विदेशों में भावी परिकाल्पनिक सौदे कर लिए जाते हैं, जिससे उत्पादकों को अपनी कपास गिरे हुए मूल्य पर बेचनी पड़ती है। बड़े-बड़े व्यापारी सारे बाजारको हथियाकर मिलोंको ऊँचे भावों परकपास बेचते हैं, जिससे कपड़ों के मूल्य में भी वृद्धि हो जाती है और साधारणतः उपभोक्ताओं को भी हानि पहुँचती है। एसोसियेशन की बैठक में परिकल्पकों (Speculators) का बहुमत होने के कारण परिकल्पना को रोकने हेतु उचित नियम नहीं बन पाते हैं।

अतएव सुधार के लिए यह आवश्यक है कि केन्द्रीय मण्डन के विधान में आवश्यक परिवर्तन हो, ताकि व्यापार में भाग लेने वाले प्रत्येक सदस्य को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो तथा परिकल्पना की रोकथाम के लिए उचित नियमों का निर्माण हो। इसके अतिरिक्त सरकार को व्यापारियों की रक्षा हेतु उचित कदम उठाने चाहिए।

भारत में उपज-विनिमय-विपणियों-का नियमन
(Regulation and Control of Commodity Exchanges in India)

भारत में उपज-विनिमय-विपणियों के नियमन का कार्य सन् १९५० से प्रारम्भ होता है। भारतीय संविधान (१९५०) के अन्तर्गत स्कन्ध एवं उपज विपणियों के नियमन का दायित्व केन्द्रीय सरकार को सौंप दिया गया, अतएव केन्द्रीय सरकार ने फरवरी १९५० में भावी विपणियाँ (नियमन) बिल [Future Market (Regulation) Bill] तैयार किये तथा इसे राज्य सरकारों, चेम्बर ऑफ कॉमर्स, रिजर्व बैंक तथा अन्य सम्बन्धित हितों के पास सुझाव भेज हेतु दिया। सुझावों की प्राप्ति पर प्रस्तुत बिल को सुझावों सहित एक विशेषज्ञ समिति को, जिसके अध्यक्ष ए० डी० श्रॉफ (A. D. Shroff) थे, सौप दिया। इस समिति ने प्रस्तुत बिल में अनेक परिवर्तन किये। बाद में दिसम्बर १९५० को यह बिल **"वायदे के सौदे नियमन बिल"** (Forward Contracts Regulation Bill) के रूप में संसद के समक्ष प्रस्तुत किया गया। संसद ने इस बिल को

२६ दिसम्बर, १९५२ को पास किया और इस प्रकार यह अधिनियम के रूप में २४ अगस्त, १९५३ में कार्यशील हुआ। बाद में इस अधिनियम में सितम्बर १९५७ तथा दिसम्बर १९६० में कई संशोधन किये गये।

अधिनियम के उद्देश्य—

(अ) यह अधिनियम वस्तुओं के वैकल्पिक सौदों (Options) पर प्रतिबन्ध लगाता है। (ब) सामान्यतः यह अधिनियम सुरक्षात्मक तथा भावी सौदों पर ही लागू होता है। किन्तु हस्तान्तरणीय विशिष्ट सुपुर्दगी अनुबन्धों को भी अधिनियम के अन्तर्गत ले लिया गया है। इस प्रकार यह अहस्तान्तरणीय निश्चित सुपुर्दगी के अनुबन्धों पर रोक लगाता है। (स) यह अधिनियम केन्द्रीय सरकार को अनुसूचित वस्तुओं तथा क्षेत्रों में अग्रिम अनुबन्धों के नियमन का अधिकार प्रदान करता है।

अधिनियम का क्षेत्र—

प्रस्तुत अधिनियम ऐसे सभी तैयारी, वायदे तथा भावी अनुबन्धों (Spot, Forward & Future Contracts) पर लागू होता है, जो कि हस्तान्तरणीय प्रकृति के हों। अहस्तान्तरणीय तत्काल अनुबन्धों पर यह अधिनियम लागू नहीं होता है।

अधिनियम की प्रमुख व्यवस्थायें—

उपज-विनिमय-विपणि नियमन अधिनियम की प्रमुख व्यवस्थायें निम्नलिखित हैं :—

(१) **उपज विनिमयों को मान्यता**—प्रस्तुत अधिनियम स्कन्ध-विनिमयों की भाँति उपज-विनिमयों को भी मान्यता प्रदान करने का कार्य करता है। इसके लिये, इस अधिनियम के अन्तर्गत अग्रिम विपणि आयोग (Forward Market Commission) की स्थापना की व्यवस्था की गई है। इस अग्रिम विपणि-आयोग की सिफारिश पर ही केन्द्रीय सरकार किसी उपज विनिमय को मान्यता प्रदान करती है। अधिनियम के अनुसार केवल मान्यता प्राप्त उपज विनिमयों पर ही वायदे के सौदे (Forward Transactions) किये जा सकते हैं।

(२) **केन्द्रीय सरकार का प्रशासन समिति में हस्तक्षेप**—केन्द्रीय सरकार को उपज विनिमय की प्रशासन समिति में अधिक से अधिक चार सदस्यों को मनोनीत (Nominate) करने का अधिकार है। इसके अतिरिक्त वह उपज विनिमय को उसकी प्रशासन समिति में अधिक से अधिक तीन बाहरी प्रतिनिधियों को नियुक्त करने का आदेश भी दे सकती है।

(३) **केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण**—केन्द्रीय सरकार अग्रिम विपणि आयोग के माध्यम से किसी भी मान्यता प्राप्त उपज विनिमयों के नियमों तथा उपनियमों में परिवर्तन कर सकती है, मान्यता वापस ले सकती है, प्रतिबन्ध लगा सकती है, कार्यों के करने से रोक सकती है तथा उसकी प्रशासन समिति को भङ्ग कर सकती है।

(४) **वैकल्पिक व्यवहारों पर रोक**—प्रस्तुत अधिनियम "वैकल्पिक", "डब्बा सौदों" "कर्व ट्रेडिंग" तथा अन्य सभी अवांछनीय व्यवहारों पर पूर्ण रूप से रोक लगाता है।

(५) **उपज विनिमयों की क्रियाओं पर नियन्त्रण**—प्रस्तुत अधिनियम उपज विनिमयों की क्रियाओं पर निम्न रूप में नियन्त्रण स्थापित करता है :—(i) अमान्यता प्राप्त उपज विनिमयों को कार्य करने की अनुमति नहीं है। (ii) नाप-तोल तथा दलाली की प्रमापित दरें लागू कर दी गई हैं। (iii) माल की सुपुर्दगी व भुगतान के सम्बन्ध में नियम बना दिये गये हैं तथा इसमें किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव न हो। (iv) नीलामी अथवा वास्तविक व्यव-

हारों द्वारा किय गये विक्रयों की चाहे जब जाँच की जा सकती है। (v) आपसी विवादों का निपटारा पंच-निर्णय के द्वारा होने की व्यवस्था की गई है। (vi) भावों में अत्यधिक उतार-चढावों को रोकने की व्यवस्था की गई है। (vii) मार्जिन के रूप में भारी धनराशि जमा कराने की व्यवस्था है, ताकि सट्टे की प्रवृत्ति को रोका जा सके। (viii) अधिनियम की व्यवस्थाओं का उल्लंघन करने पर अनेक प्रकार के दण्डों की व्यवस्था की गई है। (ix) समाशोधन गृह की व्यवस्था की गई है। (x) वस्तुओं की श्रेणियों को निश्चित करने का अधिकार प्राप्त है। (xi) बाजार के भावों को निश्चित करने का भी अधिकार प्राप्त है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. उपज विपणि पर व्यवहार की जाने वाली वस्तुओं में उच्चावचन लाने वाले विभिन्न कारणों की विवेचना कीजिये। (आगरा, १६७३)
[**संकेत**—इस प्रश्न के उत्तर में वस्तुओं के मूल्यों को प्रभावित करने वाले कारणों को दीजिये।]

२. उपज विपणि से आप क्या समझते हैं? इसके कार्य तथा उपयोगिता को समझाइये।
(इन्दौर, १६६६; पंजाब, १६६८; आगरा, १६४२, ४३, ५६; बनारस, १६५३)
[**संकेत**—उपज विपणि से आशय तथा परिभाषा; कार्य तथा लाभ]

३. उपज विनिमय क्या है? उत्पादकों एवं उपभोक्ताओं को इसकी उपयोगिता की विवेचना कीजिए। (विक्रम, १६७०)

४. सङ्गठित उपज-विपणियों की आर्थिक उपयोगिता का वर्णन कीजिये। सरकार ने उनकी क्रियाओं को नियमित करना क्यों आवश्यक समझा है?
(आगरा, १६७०; रांची, १६७०)

५. उपज-विपणियाँ क्या हैं? वस्तुओं में वायदा व्यापार करने की क्या आर्थिक उपयोगिता है? (दिल्ली, बी० कॉम०, १६७०)

६. सङ्गठित उपज विपणियों (Produce Exchanges) की आर्थिक उपयोगिता की विवेचना कीजिये। इनकी गतिविधियों को विनियमित करने के लिए सरकार ने कौन से कदम उठाये हैं? (जीवाजी, १६७०)

७. वस्तु अथवा उपज-विपणि पर क्रय-विक्रय की जाने वाली वस्तुओं के आवश्यक गुणों का वर्णन कीजिये। (दिल्ली, १६६७)

८. भारत में स्थित किसी भी उपज-विपणि के विधान तथा कार्य-विधि का संक्षेप में वर्णन कीजिये। (इन्दौर, १६६७ एवं १६७०; जीवाजी, १६६५, ६८; राजस्थान, १६६०; आगरा, १६५६)

६. स्कन्ध विपणि तथा उपज विपणि में अन्तर बताइये। (मेरठ, १६७१)

१०. सुरक्षात्मक सौदे को संक्षेप में समझाइये। (आगरा, १९७१; दिल्ली, बी० कॉम०, १९७१)

११. एक सङ्गठित उपज विपणि द्वारा अर्पित की जाने वाली सेवाओं को बताइये।
(पंजाब, १९७१)

१२. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—
(i) मूल्यान्तर के सौदे (Arbitrage Dealings) (पंजाब, १९७२)
(ii) तेजड़ियों की कटान (Bull Liquidation) (पंजाब, १९७०)
(iii) मन्दड़ियों की पटान (Bear Covering) (पंजाब, १९७२)
(iv) विकल्प व्यवहार (आगरा, १९७१)

१०

राजकीय अथवा लोक उपक्रम

(Public Enterprises)

प्रारम्भिक—राजकीय उपक्रम से आशय (Meaning of State Enterprise)

प्रसिद्ध अर्थशास्त्री प्रो० केनन के शब्दों में, "जिस प्रकार हम उपयुक्त शब्दों में लाल या नीले रंग की परिभाषा नहीं कर सकते; ठीक उसी प्रकार राजकीय उपक्रम का अर्थ नपे-तुले शब्दों में देना सम्भव नहीं है।" इसका प्रमुख कारण है राजकीय उपक्रम शब्द की (i) नवीनता एवं (ii) व्यापकता। (i) **नवीनता से आशय** यह है कि यद्यपि राजकीय उपक्रम के उदाहरण प्राचीन काल से ही देखने को मिलते हैं किन्तु इस शब्द का अधिक प्रचलन, लोकप्रियता एवं महत्त्व बीसवीं शताब्दी में ही बढ़ा। अतः ऐसे समय में जबकि किसी शब्द का विकास हो रहा हो, उसे नपे-तुले शब्दों द्वारा सीमाबद्ध करना सर्वथा अनुपयुक्त होगा। (ii) राजकीय उपक्रम की **व्यापकता से आशय** है राजकीय उपक्रम का क्षेत्र दिनों-दिन विस्तृत एवं व्यापक होना। इसके अन्तर्गत आज राज्य द्वारा संचालित तथा नियन्त्रित केवल औद्योगिक एवं व्यावसायिक क्रियायें ही नहीं आतीं, अपितु सरकार की वे भी क्रियायें जिनका उद्देश्य मुख्यतः आर्थिक ही नहीं होता, जैसे—रक्षात्मक उद्योग, आती हैं।

राजकीय उपक्रमों की परिभाषायें (Definitions of State Enterprise)—

(१) "राजकीय उपक्रम व्यवसाय का ऐसा स्वरूप है जो सरकार के द्वारा नियन्त्रित एवं संचालित होता है और सरकार या तो स्वयं उसकी एकमात्र स्वामी होती है अथवा इसके अधिकांश अंश सरकार के हाथ में होते हैं।"[1]

(२) **डॉ० टी० आर० शर्मा** के अनुसार, "राजकीय अथवा सार्वजनिक उपक्रम एक ऐसी संस्था है जिस पर या तो राज्य का स्वामित्त्व हो अथवा जिसकी प्रबन्ध व्यवस्था राजकीय यन्त्र द्वारा संचालित की जाती हो अथवा ये दोनों ही राज्य के अधीन हों।"

(३) **एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटानिया** के अनुसार, "लोक उद्योग का आशय प्रायः ऐसी सरकारी संस्थाओं से है जो जनता के लिए वस्तुएँ एवं सेवायें उसी रूप में प्रदान करती हैं जिस रूप में इन लोक उद्योगों के अभाव में निजी उद्योग प्रदान करते हैं, जिनकी वित्तीय आवश्यकताएँ वस्तुओं एवं सेवाओं के विक्रय-आय से पूर्णतया अथवा अधिकांश रूप से पूरी होती हैं।"[2]

---

1 "State Enterprise in business denotes an undertaking which is controlled and operated by the government as its sole owner or major shareholder."
—**Roy, Chowdhury & Chakravorty** : *Business Organisation.*

2 "The term public enterprise usually refers to government ownership and active operation of agencies engaged in supplying the public with goods and services which alternatively might be supplied by private enterprise operations, the same as private, are financed wholly or largely by receipts from sale of goods and services."
—**Encyclopaedia Britanica**, Vol. 18, p. 738

उपयुक्त परिभाषा—राजकीय उपक्रम की एक उपयुक्त एवं व्यापक परिभाषा निम्न शब्दों में दी जा सकती है, "राजकीय उपक्रम एक ऐसी संस्था है जिस पर या तो राज्य का स्वामित्त्व हो अथवा जिसकी प्रबन्ध व्यवस्था राजकीय तन्त्र (Machinery) द्वारा संचालित की जाती हो अथवा दोनों ही, अर्थात् स्वामित्त्व एवं प्रबन्ध राज्य के अधीन हो।" राजकीय उपक्रम की यह परिभाषा अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त, व्यापक एवं लचीली प्रतीत होती है।

राजकीय उपक्रम के उद्देश्य
(Objects of State Enterprise)

राज्य द्वारा औद्योगिक क्षेत्र में राजकीय उपक्रमों की स्थापना का उद्देश्य राजनैतिक, आर्थिक, नैतिक एवं सामाजिक हो सकता है। राजकीय उपक्रमों की स्थापना क्यों होती है ? इस विषय पर इकाफे (E. C. A. F. E. *i. e.* Economic Commission for Asia and Far East) के अधीन मार्च, १९५४ में रंगून में हुए एक सेमिनार[1] (Seminar) में विचार किया गया था। इसमें राजकीय उपक्रमों की स्थापना हेतु निम्न प्रमुख उद्देश्य बताये गये थे :—

(१) **आधारभूत सेवायें प्रदान करना**—राजकीय उपक्रमों की स्थापना का प्रमुख उद्देश्य जन-साधारण के लाभ के लिए आधारभूत सेवायें प्रदान करना है, जैसे—जल-पूर्ति, विद्युत-व्यवस्था, यातायात व्यवस्था आदि।

(२) **राज्य की आय बढ़ाना**—राजकीय उपक्रमों की स्थापना का एक उद्देश्य राज्य की आय में वृद्धि करना भी है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य द्वारा अत्यधिक आय देने वाले उपक्रमों पर नियन्त्रण स्थापित कर लिया जाता है। इसके पीछे तर्क यह है कि यदि ऐसे उद्योगों को निजी उपक्रम के लिए छोड़ दिया जाय तो समाज की आय मुट्ठी भर व्यक्तियों के हाथों में केन्द्रित हो जायगी जो मनमाने ढङ्ग से जन-साधारण का शोषण करने में समर्थ होंगे। भारत में अभी हाल में ही १४ बड़े व्यापारिक बैंकों का राष्ट्रीयकरण, सामान्य बीमा का राष्ट्रीयकरण, जीवन-बीमा का राष्ट्रीयकरण, राज्य व्यापार निगम आदि इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। यही नहीं, भारत में अफीम, तम्बाकू, शराब, नमक आदि उद्योगों पर भी सरकार का नियन्त्रण है।

(३) **व्यक्तिगत नियन्त्रण के स्थान पर सरकारी नियन्त्रण की स्थापना करना**—कभी-कभी व्यक्तिगत नियन्त्रण जन-साधारण की आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ रहता है अथवा जन-हित की उपेक्षा करने लगता है। ऐसी स्थिति में सरकार व्यक्तिगत नियन्त्रण के स्थान पर सरकारी नियन्त्रण की स्थापना करती है। उदाहरण के लिए, मान लीजिए कि आगरा का निजी क्षेत्र का बिजलीघर जनता की बिजली सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में न केवल असमर्थ ही रहता है अपितु बिजली की माँग अधिक होने के कारण बिजली की दरों में भी वृद्धि कर देता है। जनता की माँग पर उत्तर-प्रदेश की सरकार के द्वारा बार-बार आग्रह किये जाने पर भी स्थिति में कोई सुधार होता दिखाई नहीं देता है, तो ऐसी स्थिति में उक्त व्यक्तिगत नियन्त्रण के स्थान पर सरकारी नियन्त्रण स्थापित करना ही श्रेष्ठ रहेगा।

(४) **एकाधिकार की दृष्टि से**—सरकार एकाधिकार स्थापित करने की दृष्टि से भी राजकीय उपक्रमों की स्थापना करती है, जैसे—भारत में डाक-तार विभाग, रेलवे विभाग आदि।

(५) **धन का पुर्नवितरण करने की दृष्टि से**—यह कहा जाता है कि जिन देशों में

---

1 Report of the Seminar on 'Organisation and Administration of Public Enterprises in the Industrial Field' held at Rangoon in March, 1954, pp. 28-29.

नियन्त्रण नहीं था। धीरे-धीरे पूँजीवाद के प्रादुर्भाव ने सरकार की हस्तक्षेप नीति को असत्य सिद्ध कर दिया।

भारत में सरकारी उद्योगों का प्रचलन मुख्य रूप में स्वतन्त्रता के उपरान्त हुआ। **कांग्रेस की आर्थिक समिति** ने सन् १९४८ में अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की। समिति ने देश के औद्योगीकरण पर बल दिया तथा सुझाव दिया कि लोकोपयोगी सेवाओं, सुरक्षा उद्योगों तथा एकाधिकारी उद्योगों को सरकार अपने अधिकार में ले ले। समिति ने अपनी रिपोर्ट में यह भी सुझाव दिया कि इन लोक उद्योगों को चलाने के लिए लोक निगम की स्थापना की जाय तथा केवल इनकी नीतियों पर सरकार अपना अधिकार रखे।

अप्रैल सन् १९४८ में घोषित औद्योगिक नीति ने भारत में औद्योगिक क्षेत्र में राजकीय उपक्रमों की स्थापना की प्रेरणा दी। इस नीति के अनुसार सरकार ने युद्ध-सामग्री का उत्पादन, अणुशक्ति, रेलों आदि पर अपना एकाधिकार स्थापित किया। कई नदी-घाटी योजनायें, सड़क योजनायें, टेलीफोन, सिन्दरी का खाद का कारखाना आदि उद्योग प्रारम्भ किये गये।

अप्रैल, १९५६ में सरकार ने नवीन औद्योगिक नीति की घोषणा की। इसमें सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार पर और अधिक बल दिया गया। इस नई औद्योगिक नीति के प्रस्ताव में कहा गया कि "सरकार स्वयं ही नये उद्योगों के स्थापित करने तथा यातायात की सुविधाओं का प्रसार करने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ग्रहण करेगी, ताकि आर्थिक विषमतायें दूर हो सकें तथा आर्थिक शक्ति का संचय कुछ ही हाथों में न हो।"

इस नवीन औद्योगिक नीति के परिणामस्वरूप पंचवर्षीय योजना काल में सरकारी उद्योगों का तेजी से विकास हुआ। सरकारी उद्योगों में विनियोग की मात्रा में भी तेजी से वृद्धि हुई। प्रथम योजना के प्रारम्भ में सरकारी उपक्रमों की संख्या केवल ५ थी, जिनमें २९ करोड़ रु० की राशि विनियोजित थी। पंचवर्षीय नियोजनकाल में द्रुतगति से सरकारी उपक्रमों की स्थापना की गई है, जिसका अवलोकन निम्न तालिका से स्पष्ट होता है :—

नियोजनकाल में राजकीय उपक्रमों की प्रगति का अवलोकन

नियोजन काल की अवधि	राजकीय उपक्रमों की संख्या	विनियोगों की मात्रा (करोड़ रु० में)	निर्यात (करोड़ रु० में)	रोजगार में संलग्न व्यक्तियों की संख्या ('०००)	लाभ (+) या हानि (—) (करोड़ रु० में)
(१) प्रथम योजना के प्रारम्भ में (१९५०-५१)	५	२९	N.A.[2]	N.A.[2]	N.A.[2]
(२) द्वितीय योजना के प्रारम्भ में (१९५५-५६)	२१	४१	N.A.[2]	N.A.[2]	N.A.[2]
(३) तृतीय योजना के प्रारम्भ में (१९६०-६१)	४८	९५३	N.A.[2]	२६७	N.A.[2]
(४) तृतीय योजना के अन्त में (१९६५-६६)	७४	२४१५	N.A.[2]	४७१	N.A.[1]
(५) १९६६-६७ के वर्ष में	७७	२८४१	२०	५२१	— ४·५
(६) १९६७-६८ के वर्ष में	८३	३३३३	४७	५५४	N.A.[1]
(७) चतुर्थ योजना के प्रारम्भ में (१९६८-६९)	८५	३९०२	६९	५९८	N.A.[1]
(८) १९६९-७० के वर्ष में	९१	४३०१	८५	६१३	— ४·८७
(९) १९७०-७१ के वर्ष में	९७	४६८२	९६	६६०	—२·८६[1]
(१०) १९७२-७३ के वर्ष में	१०३	N.A.[2]	N.A.[2]	N.A.[2]	N.A.[2]

1 आर्थिक जगत, २१ मई, १९७३

2 Figures not available.

राजकोय उपक्रमों का मूल्यांकन—लाभ-दोष
(Evaluation of State Enterprises—Advantages and Disadvantages)

राजकीय उपक्रमों के लाभ (Advantages of State Enterprises)—

एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न जो जन-साधारण एवं इस विषय का अध्ययन करने वाले प्रत्येक छात्र के मस्तिष्क में आ सकता है वह यह है कि आज विश्व के देशों में राजकीय उपक्रमों की स्थापना एवं विकास इस द्रुतगति से क्यों किया जा रहा है ? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि इसका मुख्य कारण राजकीय उपक्रमों से होने वाले अनेकानेक लाभ हैं, जिनमें से प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :—

(१) **पूँजीवादी व्यवस्था के दोषों से मुक्ति मिलना**—निजी उपक्रमों की स्थापना एवं विकास होने से पूँजीवादी व्यवस्था को प्रोत्साहन मिलना है तथा राजकीय उपक्रमों की स्थापना एवं विकास होने से पूँजीवादी व्यवस्था का उन्मूलन होता जाता है। यह पूँजीवादी व्यवस्था अपने निजी हित के उद्देश्य से तरह-तरह से जन-साधारण का शोषण करती है। **श्री बर्नार्ड शॉ** (Bernard Shaw) के शब्दों में, "पूँजीवाद में आत्मा नहीं होती, पूँजीपतियों की अभिलाषा 'लाभ' तथा उनका ईश्वर 'स्वर्ण' है।" पूँजीवाद के दोषों के निवारणार्थ ही आज विभिन्न देशों में राजकीय उपक्रमों की स्थापना पर बल दिया जा रहा है।

(२) **आधारभूत उद्योगों की स्थापना एवं विकास**—जनहित को ध्यान में रखते हुए सरकार द्वारा आधारभूत उद्योगों की स्थापना एवं विकास किया जाता है, जैसे—जल की पूर्ति, बिजली की पूर्ति, यातायात उद्योग आदि।

(३) **अधिक जोखिम तथा पूँजी वाले उद्योगों की स्थापना**—यह देखा गया है कि अधिक जोखिम वाले उद्योगों तथा अत्यधिक पूँजी के विनियोजन वाले उद्योगों में निजी क्षेत्र हाथ डालने का साहस मुश्किल से ही कर पाता है। ऐसी स्थिति में राष्ट्र-हित को ध्यान में रखते हुए सरकार द्वारा उद्योगों की स्थापना एवं विकास किया जाता है, जैसे—पानी के जहाज बनाने का उद्योग, वायुयान उद्योग, रेलवे उद्योग आदि।

(४) **प्राकृतिक साधनों का समुचित विदोहन होना**—निजी क्षेत्र की तुलना में सरकारी क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना करके देश के प्राकृतिक साधनों का देश के हित को ध्यान में रखते हुए भली प्रकार से विदोहन किया जा सकता है।

(५) **एकाधिकार की मनोवृत्ति पर नियन्त्रण**—राजकीय क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना से एकाधिकार की मनोवृत्ति पर प्रभावी नियन्त्रण स्थापित करके जन-साधारण को शुद्ध, सस्ती एवं समुचित मात्रा में वस्तुयें उपलब्ध की जा सकती हैं।

(६) **नियोजन की सफलता**—सरकारी उद्योग किसी देश के नियोजन की सफलता में महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान करते हैं। वास्तव में ये तो देश के नियोजन के एक अङ्ग होते हैं, जो उसके साथ कदम से कदम मिलाकर चलते हैं। उदाहरण के लिए, रूस एवं चीन जैसे साम्यवादी देशों में नियोजन के क्षेत्र में आश्चर्यजनक सफलता सरकारी उद्योगों के सहयोग के कारण ही प्राप्त हो सकी है।

(७) **माँग व पूर्ति में सन्तुलन**—राजकीय उद्योगों की स्थापना से माँग व पूर्ति में निरन्तर सन्तुलन बना रहता है, क्योंकि उनमें उत्पादन उतना ही होता है जितनी कि आवश्यकता है, अर्थात् न कम और न अधिक।

(८) **अकुशल इकाइयों का उन्मूलन**—कभी-कभी राजकीय उपक्रमों की स्थापना देश में विद्यमान अकुशल इकाइयों का प्रबन्ध एवं स्वामित्व अपने अधिकार में लेने के लिए की

जाती है। इसके कारण वे शीघ्र ही कुशल इकाइयों में परिणत हो जाती हैं और इस प्रकार सरकार देश के औद्योगिक विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान देती है।

(६) **स्वस्थ औद्योगिक वातावरण की स्थापना**—कभी-कभी देश में निजी उपक्रमों के मध्य अस्वस्थ प्रतिस्पर्धा के होने से सारा औद्योगिक वातावरण ही दूषित हो जाता है। अतएव इसको समाप्त करने के लिए सरकार द्वारा राजकीय उपक्रमों की स्थापना की जाती है।

(१०) **विदेशी सहयोग एवं तकनीक के आयात को प्रोत्साहन**—विदेशी लोग एवं विदेशी सरकारें किसी अन्य देश में निजी क्षेत्र की तुलना में सरकारी क्षेत्र में पूँजी के विनियोजन एवं तकनीकी ज्ञान प्रदान करने को प्राथमिकता देते हैं। अतएव ऐसी दशा में सरकार के द्वारा राजकीय उपक्रमों की स्थापना करना आवश्यक प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए, हमारे देश में विदेशी सहयोग से सार्वजनिक क्षेत्र में तीन विशाल इस्पात कारखानों (रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर) की स्थापना की गई है।

(११) **समाजवादी समाज की स्थापना**—निस्सन्देह सरकार द्वारा राजकीय क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना एव विकास किया जाना समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा में एक महत्त्वपूर्ण कदम है। इसके कारण धन के समान वितरण को प्रोत्साहन मिलता है। वास्तव में यदि देखा जाय तो राजकीय उपक्रम एक ऐसी पद्धति है जिसे किसी देश की सरकार कुछ सामाजिक व आर्थिक उद्देश्यो की पूर्ति के लिये सरलतापूर्वक काम में ला सकती है। भारत सरकार द्वारा देश में अधिकाधिक राजकीय उपक्रमों की स्थापना एवं विकास पर बल दिया जाना समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा में एक सक्रिय कदम ही है।

(१२) **जन-सेवा की भावना**—राजकीय उपक्रम जन-सेवा की भावना से कार्य करते हैं, क्योंकि इनका प्रमुख उद्देश्य जन-सेवा करना होता है। लाभ को ये गौण स्थान देते हैं।

(१३) **अधिक स्थायित्व का होना**—निजी क्षेत्र के उद्योगों की तुलना में सरकारी क्षेत्र में स्थापित उद्योगों का स्थायित्त्व अधिक होता है, क्योंकि इन्हें सरकार के विशाल साधनों के अन्तर्गत पनपने एवं विकसित होने का स्वर्ण अवसर मिलता है। जनता का भी निजी क्षेत्र के उद्योगों में अधिक विश्वास रहता है।

(१४) **अन्य लाभ**—(i) राजकीय उपक्रमों का बड़ा आकार होने एवं विस्तृत साधन होने के कारण विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ उठाना अपेक्षाकृत अधिक सुलभ रहता है। (ii) सामरिक महत्त्व के उद्योगों की स्थापना करना सरकारी क्षेत्र में लाभदायक रहता है, क्योंकि ऐसा करने से सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों पर आवश्यक नियन्त्रण स्थापित किया जा सकता है। (iii) सरकारी उद्योगों की स्थापना से रोजगार के साधनों का विकास होता है और इस प्रकार बेकारी जैसे भयकर दानव से मुक्ति मिलती है। (iv) राजकीय उपक्रमों की स्थापना से निर्यात को प्रोत्साहन मिलता है। उदाहरण के लिए, आज सरकारी क्षेत्र में स्थापित तीनों इस्पात के कारखानों में निर्मित इस्पात का पर्याप्त मात्रा में निर्यात किया जाता है। आदेश की प्राप्ति एवं पूर्ति करने में सरकारी तन्त्र का निःशुल्क सहयोग मिलता है। साथ ही माल की किस्म पर भी नियन्त्रण रहता है। (v) राजकीय उपक्रमों के द्वारा किसी भी प्रकार के राजव्यापी सङ्कट का सरलता से सामना किया जा सकता है।

सरकारी उपक्रमों के दोष (Disadvantages of State Enterprises)—

सरकारी उपक्रमों के उपर्युक्त लाभो से प्रभावित होकर कहीं मन में यह धारणा न बना लेनी चाहिये कि ये दोष-रहित हैं। अपितु वास्तविकता तो यह है कि इनमें अनेक दोषों का समावेश है, जिनमे से प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं।

(१) **लालफीताशाही का बोलबाला**—राजकीय उपक्रम प्रणाली का सबसे प्रमुख दोष यह है कि इसमें व्यक्तिगत हित का अभाव होने के कारण सर्वत्र लालफीताशाही का बोल-बाला रहता है। जो कार्य चन्द घण्टों में हो सकता है वह सप्ताहों एवं महीनों तक किसी न किसी रूप में उलझन में ही पड़ा रहता है। यह किसी भी उपक्रम की प्रगति में बाधक सिद्ध होती है।

(२) **हानियों की उपेक्षा**—राजकीय उपक्रमों का दूसरा महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि इनमें हानियों की स्पष्टतया उपेक्षा की जाती है। जब उन्हें रोकने के लिये कोई कदम नहीं उठाये जाते हैं तो वे कम होने की बजाय निरन्तर बढ़ती ही जाती हैं। आज स्थिति यह है कि हमारे देश में लाभ में चलता हुआ उपक्रम भी सरकारी क्षेत्र में जाकर एक या दो साल के पश्चात् हानि में चलना शुरू हो जाता है।

(३) **अकुशल प्रबन्ध-व्यवस्था**—राजकीय उपक्रमों के प्रबन्ध के क्षेत्र में सर्वत्र अकुश-लता व्याप्त रहती है। इसका कारण यह है कि इनमें व्यक्ति को प्रथम तथा कार्य को द्वितीय (Man first and Work second) स्थान दिया जाता है, जबकि सैद्धान्तिक रूप में कार्य को प्रथम तथा व्यक्ति को द्वितीय स्थान दिया जाना चाहिये। प्रशासनिक अधिकारियों में व्यावसायिक कुशलता एवं अनुभव का भी अभाव रहता है। इसके कारण उनके प्रबन्ध का सारा ढाँचा ही बिगड़ जाता है।

(४) **राज्य पर अधिक भार**—सरकार का मुख्य कार्य देश का कुशल प्रशासन चलाना है। किन्तु जब सरकार उद्योगों के प्रबन्ध में फंस जाती है तो इससे देश की प्रशासन व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(५) **आर्थिक स्वतन्त्रता का हनन**—देश के समस्त उद्योगों पर राज्य का नियन्त्रण स्थापित हो जाने से देश में आर्थिक स्वतन्त्रता का हनन होने लगता है तथा उपभोक्ताओं की सार्वभौमिकता समाप्त हो जाती है, क्योंकि राज्य जो माल उत्पादित करेगा उसी का उपभोग उन्हें करना होगा।

(६) **करदाताओं पर भार**—सरकारी उपक्रमों में लालफीताशाही एवं अनुभवहीन कर्मचारियों की नियुक्ति तथा निजी हित का अभाव होने के कारण जब वे घाटे में चलने लगते हैं तो सरकार उक्त घाटे की पूर्ति सरकारी खजाने से करती है। इसके शिकार होते हैं बेचारे भोले-भाले करदाता, जिन पर कि इस घाटे का भार पड़ता है।

(७) **प्रगति का अवरुद्ध होना**—सरकारी उपक्रमों में आवश्यक प्रतिस्पर्द्धा का अभाव होने के कारण उनकी प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। फलतः भावी विकास की सारी योजनाएँ प्रायः फाइलों तक ही सीमित रहती हैं।

(८) **सत्ताधारी राजनीतिज्ञों का हस्तक्षेप**—यह देखा गया है कि राजकीय उपक्रमों की व्यवस्था में सत्ताधारी राजनीतिज्ञ अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए मनमाने ढंग से हस्तक्षेप करने लगते हैं, जिसके परिणामस्वरूप आये दिन लाखों रुपयों के घुटाले होते हैं, जैसे भारत में मूंदड़ा काण्ड, भाकरा काण्ड, सिराजुद्दीन काण्ड आदि।

(९) **श्रम-प्रबन्ध के संघर्षों का दूषित प्रभाव**—निजी क्षेत्र में श्रम-प्रबन्ध के मध्य संघर्ष होने पर सरकार हस्तक्षेप करके सन्तोषजनक ढंग से उसका निपटारा कराने में सहयोग प्रदान करती है। किन्तु यदि सरकारी क्षेत्र के उद्योगों में श्रम-प्रबन्ध के मध्य संघर्ष होता है तो सरकार निष्क्रिय हो जाती है। इसका दूषित प्रभाव न केवल सम्बन्धित उद्योग पर ही पड़ता है, अपितु अन्य उद्योग भी इससे प्रभावित होते हैं।

(१०) **अन्य दोष**—(i) सरकारी उद्योगों के बारे में यह कहा जाता है कि वे अपनी

उत्पादन-क्षमता का पूर्ण उपयोग नहीं कर पाते हैं, जिसके कारण प्रति इकाई उत्पादन-व्यय घटने के स्थान पर बढ़ने लगता है। (ii) सरकारी उपक्रमों में निजी उपक्रमों की तुलना में गोपनीयता का अभाव रहता है। (iii) सरकारी उपक्रमों में निजी हित का अभाव रहने के कारण लोग अपने उत्तरदायित्वों को निभाने की बजाय बचने का प्रयास करते हैं। आज उत्तरदायित्वहीनता सरकारी उपक्रमों की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। (iv) सरकारी उपक्रम में जितनी धनराशि का विनियोजन होता है उसकी तुलना में होने वाला लाभ बहुत कम होता है। (v) राजकीय उद्योगों में वस्तुओं और सेवाओं के मूल्य ऊँचे होते हैं, जिससे समाज को आर्थिक कठिनाइयों को सहन करना पड़ता है। इन उद्योगों में उत्पादित वस्तुओं के मूल्य को निश्चित करना कठिन होता है। (vi) भारत की भाँति बहुत से देशों में राजकीय उद्योग विदेशियों की वित्तीय एवं तकनीकी सहायता से संचालित होते हैं, जो सुरक्षा की दृष्टि से घातक सिद्ध हो सकते हैं।

राजकीय उपक्रमों के संगठन एवं प्रबन्ध के विभिन्न रूप
(Different Forms of Organiration and Management of State Enterprises)

किसी भी औद्योगिक अथवा व्यावसायिक उपक्रम की सफलता में उसके संगठन एवं प्रबन्ध के प्ररूप का महत्त्वपूर्ण स्थान होता है। संगठन किसी भी व्यावसायिक अथवा औद्योगिक इकाई का एक आवरण है, जिसके अन्तर्गत प्रबन्ध कार्य करता है। जिस प्रकार शरीर को सुरक्षित रखने के लिये उपयुक्त आवरण की आवश्यकता होती है उसी प्रकार किसी व्यावसायिक इकाई के प्रबन्ध को सुचारु रूप में चलाने के लिये उपयुक्त संगठन की आवश्यकता होती है। इस संगठन एवं प्रबन्ध की दृष्टि से राजकीय उपक्रमों के निम्नांकित प्ररूप होते हैं :—

(I) राजकीय विभाग द्वारा प्रबन्धित राजकीय उपक्रम अथवा विभागीय उपक्रम अथवा विभागीय संगठन (State Enterprise Managed by a Government Enterprise or Departmental Undertakings or Departmental Form of Organisation)—

आशय—राजकीय उपक्रम का वह स्वरूप जिस पर राज्य का पूर्णतया स्वामित्व होता है तथा राजकीय विभाग द्वारा संचालित होता है, 'राजकीय विभाग द्वारा प्रबन्धित राजकीय उपक्रम' कहलाता है। यह राजकीय उपक्रम का सबसे अधिक प्राचीन एवं लोकप्रिय प्ररूप है। प्रबन्धकों की नियुक्ति सरकार द्वारा आई० ए० एस० (I. A. S.) अधिकारियों में से की जाती है तथा उनका स्थानान्तरण भी होता रहता है।

प्रमुख लक्षण (Main Characteristics)—राजकीय विभागों द्वारा संचालित राजकीय उपक्रमों के प्रमुख लक्षण निम्न हैं :—(१) इनके लिये धन की व्यवस्था सरकारी वार्षिक बजट द्वारा होती है। सरकार के द्वारा ही इनके खातों का अकेक्षण होता है। (२) इन पर सरकार का पूर्ण नियन्त्रण रहता है, अतएव इनके विरुद्ध सरकार की अनुमति के बिना वाद प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। (३) ऐसे विभागों का सर्वोच्च मन्त्री (Minister) होता है तथा उपक्रम का प्रशासन सरकारी कर्मचारियों द्वारा होता है। (४) सभी कर्मचारी सरकारी कर्मचारी होते हैं, अतएव इनकी नियुक्ति आदि सरकारी नियमों के आधार पर ही होती है। (५) उपक्रम के अर्थ-प्रबन्धन के लिये समस्त धनराशि ट्रेजरी (Treasury) से प्राप्त होती है तथा उसकी समस्त आय ट्रेजरी में ही जमा होती है। (६) ऐसे उद्योगों के प्रति बिना सरकार की पूर्व अनुमति के वाद प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है।

लाभ (Advantages)—(१) **अधिकतम राजकीय नियन्त्रण**—इन पर पूर्णतया राजकीय नियन्त्रण रहता है। सरकार इनके माध्यम से किसी भी सामाजिक अथवा राजनैतिक उद्देश्य की प्राप्ति कर सकती है।

(२) **पूर्ण गोपनीयता**—इनमें केवल सरकारी नियन्त्रण होने के कारण पूर्णतया

गोपनीयता रहती है। अतएव यह ऐसे उद्योगों के लिये सर्वश्रेष्ठ है जिनमें कि गोपनीयता की आवश्यकता पड़ती है, जैसे—सुरक्षा उद्योग, एटम शक्ति का निर्माण आदि।

(३) **सार्वजनिक हिसाब देयता**—इन उद्योगों पर सरकारी नियन्त्रण होने के कारण सरकार इनकी हिसाब देयता के लिये उत्तरदायी होती है। इनकी वार्षिक रिपोर्ट प्रति वर्ष संसद में प्रस्तुत की जाती है, जिस पर बहस होती है।

(४) **प्राप्ति व वितरण के लिए सर्वश्रेष्ठ**—यह ऐसे कार्यों के लिये सर्वश्रेष्ठ है, जिनमें पहले प्राप्ति तथा बाद में वितरण की आवश्यकता पड़ती है, जैसे अनाज। खाद्य-विभाग द्वारा पहले किसानों से अनाज एकत्रित किया जाता है तथा बाद में जनता में सरकारी राशन के अनुसार वितरण होता है। इसके अतिरिक्त ये प्रतिरक्षा सम्बन्धी उद्योगों के लिये भी विशेष रूप में उपयुक्त हैं।

(५) **प्रारम्भिक अवस्था वाले उद्योगों के लिए सर्वोत्तम**—यह प्रणाली उन उद्योगों के विकस के लिये भी सर्वश्रेष्ठ है, जो अभी प्रारम्भिक अवस्था में हैं अथवा जिनका अभी समुचित विकास नहीं हो पाया है या जो अभी हानिप्रद अवस्था में ही हैं। इसके अभाव में ऐसे उद्योगों की स्थापना तथा विकास होना बहुत कठिन है।

(६) **राजनैतिक स्थिरता में विशेष रूप में उपयुक्त**—यह प्रणाली उन देशों के लिये विशेष रूप में उपयुक्त है जहाँ की सरकार स्थिर होती है तथा राज्य में प्रशासन एवं व्यवस्था अच्छी होती है।

दोष (Disadvantages)—(१) **लालफीताशाही का बोलबाला**—विभागीय प्रबन्ध प्रणाली का सबसे बड़ा दोष यह है कि इसमें सभी कार्य सरकारी कर्मचारियों द्वारा होने के कारण लालफीताशाही का बोलबाला रहता है। उद्योग चाहे पनपे अथवा घाटे पर चले उन्हें तो अपने निश्चित वेतन से ही मतलब रहता है, उद्योग के विकास से नहीं। सभी जानते हैं कि सरकारी मशीनरी धीमी गति से चलती है। इससे कभी-कभी उद्योगों को क्षति का सामना करना पड़ता है।

(२) **सीमित क्षेत्र**—इस प्रणाली द्वारा नियन्त्रित एवं संचालित उपक्रमों का कार्यक्षेत्र सीमित रहता है। यह प्रणाली जन-हित अथवा सुरक्षा सम्बन्धी उद्योगों के लिये ही अच्छी रहती है, अन्य के लिये नहीं।

(३) **स्वतन्त्र नीति का अभाव**—इन उद्योगों की अपनी कोई स्वतन्त्र नीति नहीं होती, क्योंकि इसके लिये अपने विभागीय नियमों का पालन करना अनिवार्य होता है। कभी-कभी मिनिस्टर या सरकार के बदल जाने से सारी नीति ही बदल जाती है।

(४) **योग्य कर्मचारियों का अभाव**—व्यावसायिक व औद्योगिक उपक्रम की सफलता योग्य कर्मचारियों पर निर्भर रहती है। शासकीय प्रशासन तथा व्यावसायिक व औद्योगिक प्रशासन में मूल भेद होता है। आई० ए० एस० (I. A. S.) अफसर सामान्य प्रशासन में सफल हो सकते हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि वे औद्योगिक क्रियाओं के संचालन में भी सफल हों। योजना आयोग के शब्दों में—"उद्योगों की सफलता पर विपरीत प्रभाव डालने वाला एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण प्रबन्ध विभाग के कर्मचारियों में योग्यता का अभाव है....प्राय: उच्च पदों पर ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं जिन्हें व्यावसायिक एवं औद्योगिक ज्ञान बिल्कुल भी नहीं होता।"

(५) **अधिकारों का केन्द्रीयकरण**—विभागीय सङ्गठन के रूप में संचालित राजकीय उपक्रमों में अधिकारों के केन्द्रीयकरण का दोष पाया जाता है। शासकीय विभागों में अधिकारों का बँटवारा सामान्य शासकीय नियमों के अनुसार होता है। अधिकार व्यवस्था में किसी भी प्रकार

का हेर-फेर करने के लिये अनेक मन्त्रालयों की स्वीकृति लेनी पड़ती है, अतः अधिकार विधाजन में बड़ी अस्थिरता व लोचहीनता बनी रहती है, जो व्यावसायिक व औद्योगिक उपक्रमों के कुशल संचालन में बाधक रहती है।

(६) **लाभ और लागत के प्रति जागरूकता में कमी**—विभागीय प्रबन्ध का एक दोष यह भी है कि इसमें लाभ और लागत के प्रति जागरूकता का अभाव रहता है। शासकीय विभाग में लागत-लेखा-दक्ष व्यक्तियों का अभाव रहता है, जिसका लाभों पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

(७) **अनुभवहीनता**—विभागीय सङ्गठन में अनुभवी व्यक्तियों का सर्वथा अभाव रहता है। किसी औद्योगिक इकाई में जैसे-तैसे कुछ समय रहकर एक सरकारी कर्मचारी थोड़ा-बहुत काम सीखकर तैयार होता है कि शीघ्र ही किसी अन्य स्थान के लिए उसका स्थानान्तरण (Transfer) अथवा प्रमोशन (Promotion) हो जाता है। वहाँ पर जाकर उसे फिर नये सिरे से काम सीखना पड़ता है। इस सम्बन्ध में सरकारी नीति यह है कि एक कर्मचारी को एक ही स्थान पर अधिक समय के लिये न रहने दिया जाय। सरकार की नीति व्यावसायिक तथा औद्योगिक इकाइयों की प्रगति में सर्वथा बाधक है।

(८) **हानियों की उपेक्षा**—निजी हित का अभाव रहने के कारण विभागीय उपक्रमों में हानियों की सर्वथा उपेक्षा की जाती है। उन्हें रोकने के लिये कोई विशेष प्रयत्न नहीं किये जाते। परिणामस्वरूप हानियाँ कम होने की बजाय निरन्तर बढ़ती जाती हैं।

(९) **करदाताओं पर भार**—विभागीय उपक्रमों का संचालन व्यावसायिक सिद्धान्तों के आधार पर न होकर शासकीय प्रशासन की नीतियों के आधार पर किया जाता है। लालफीताशाही के अनुकूल एवं अनुभवहीन कर्मचारियों की नियुक्ति तथा उनमें निजी हित का अभाव होने के परिणामस्वरूप जो कुछ भी हानि होती है उसकी पूर्ति सरकारी खजाने से की जाती है। इस भार का वहन बेचारे सामान्य करदाताओं को करना पड़ता है।

(१०) **संसदीय हस्तक्षेप**—संविधान के अन्तर्गत संसद सार्वभौमिक सत्ता है। अतएव सरकारी नीति का संसद द्वारा अनुमोदन होना आवश्यक है। संसद की स्वीकृति के बिना सरकार एक पैसा भी व्यय नहीं कर सकती। शासकीय विभाग द्वारा संचालित राजकीय उपक्रम भी संसद के नियन्त्रण में आ जाते हैं। इनकी प्रशासन सम्बन्धी एवं नीति सम्बन्धी छोटी-छोटी बातों पर भी संसद में वाद-विवाद किया जाता है। संसद द्वारा आलोचना एवं हस्तक्षेप का भय कार्य करने की स्वतन्त्रता का हनन करता है। इससे उनके सङ्गठन में दुर्बलता आ जाती है।

सुझाव—हमारे देश में इस पद्धति को अनेक महत्त्वपूर्ण उद्योगों में अपनाया गया है। उपर्युक्त दोषों के होते हुये भी इस पद्धति को समाप्त करना सम्भव नहीं है। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि इन दोषों का तुरन्त निवारण किया जाय। ए० डी० गोरवाला समिति ने अपनी रिपोर्ट (A. D. Gorwala Committee Report, 1960 on the Efficient Conduct of the State Enterprises) में यह सुझाव प्रस्तुत किया है, "विभागीय प्रबन्ध पद्धति को असाधारण परिस्थितियों में ही अपनाया जाना चाहिये, साधारण परिस्थितियों में नहीं। अनेक बातों में यह स्वशासन की आवश्यकताओं की प्रत्यक्ष विपरीत पद्धति है। यह पहलपन एवं लोच को समाप्त कर देती है और प्रबन्धकों को नियमों तथा कार्यविधियों के शिकंजे में जकड़ देती है। इससे तात्कालिक समस्याओं के उचित हल में बाधा पड़ती है।"

विभागीय प्रबन्ध के उदाहरण—निर्माण एवं खान-क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार के बड़े उद्योगों, जिनकी अधिकृत पूँजी ५० लाख रुपये या इससे अधिक है, का प्रबन्ध एवं संगठन विभागीय पद्धति द्वारा ही होता है। विभिन्न मन्त्रालयों के अधीन उद्योगों की सूची निम्न प्रकार है:

मन्त्रालय उद्योग	स्थापना का वर्ष
(क) उद्योग मन्त्रालय :	
(१) इण्डियन ड्रग एण्ड फार्माक्युटिकल्स लिमिटेड	१९६१
(२) हैवी इलैक्ट्रिकल्स लिमिटेड	१९५६

(३) हैवी इन्जीनियरिंग कॉरपोरेशन लिमिटेड	१९५८
(४) हिन्दुस्तान एण्टी-बायोटिक्स लिमिटेड	१९५४
(५) हिन्दुस्तान केबिल्स लिमिटेड	१९५२
(६) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड	१९५४
(७) हिन्दुस्तान इनसेक्टीसाइड्स लिमिटेड	१९५३
(८) हिन्दुस्तान आर्गेनिक केमिकल्स लिमिटेड	१९६०
(९) हिन्दुस्तान साल्ट कम्पनी लिमिटेड	१९५८
(१०) नाहन फाउण्ड्री लिमिटेड	१९५२
(११) हिन्दुस्तान केमिकल्स एण्ड फर्टिलाइजर्स लिमिटेड	१९५६
(१२) नेशनल इन्स्ट्रूमेण्ट्स लिमिटेड	१९५७
(१३) नेशनल न्यूजप्रिंट एण्ड पेपर मिल्स लिमिटेड	१९४७
(१४) सिन्द्री फर्टिलाइजर्स एण्ड केमिकल्स लिमिटेड	१९५१
(१५) प्राग टूल्स कॉरपोरेशन लिमिटेड	१९४३
(१६) हिन्दुस्तान फोटो फिल्म्स मैन्यू० कं० लिमिटेड	१९६०
(ख) प्रतिरक्षा मन्त्रालय :	
(१७) भारत इलैक्ट्रोनिक्स लिमिटेड	१९५४
(१८) प्रोटोटाइप मशीन टूल्स फैक्टरी	१९५३
(१९) हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट लिमिटेड	१९४०
(ग) परमाणु शक्ति विभाग :	
(२०) इण्डियन रेयर अर्थ्स लिमिटेड	१९५०
(घ) वित्त मन्त्रालय :	
(२१) सिल्वर रिफाइनरी, कलकत्ता	१९५२
(ङ) रेलवे मन्त्रालय :	
(२२) चितरंजन लोकोमोटिव वर्क्स	१९४८
(२३) इण्टीग्रल कोच फैक्टरी	१९५२
(च) इस्पात, खान और भारी इन्जीनियरिंग मन्त्रालय :	
(२४) हिन्दुस्तान स्टील लिमिटड	१९५३
(२५) इण्डियन रिफाइनरी लिमिटेड	१९४८
(२६) नेशनल कोल डेवलपमेंट कॉरपोरेशन लिमिटेड	१९५६
(२७) नेशनल मिनरल डेवलपमेंट कॉरपोरेशन लिमिटेड	१९५८
(२८) नइवेली लिग्नाइट कॉरपोरेशन लिमिटेड	१९५६
(२९) सिंगरेनी कोलियरीज कम्पनी लिमिटेड	१९२०
(३०) ऑयल एण्ड नेचुरल गैस कमीशन	१९५६
(छ) परिवहन मन्त्रालय :	
(३१) इण्डियन टेलीफोन इन्डस्ट्रीज लिमिटेड	१९४८
(३२) हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड	१९५२
(३३) हिन्दुस्तान टलीप्रिण्टर्स लिमिटेड	१९६०
(ज) निर्माण आवास और सम्भारण मन्त्रालय :	
(३४) हिन्दुस्तान हाउसिंग फैक्टरी लिमिटेड	१९५३

(II) लोक निगम (Public Corporation)—

लोक निगम से आशय—लोक निगम से आशय एक ऐसी संस्था से है जो व्यक्तिगत उपक्रमों की भाँति लोचदार होती है तथा औद्योगिक कार्य भी कुशलतापूर्वक सम्पादित करती है। यद्यपि इसकी नीतियों के ऊपर सरकारी नियन्त्रण होता है। इसकी स्थापना संसद के विशेष अधिनियम द्वारा की जाती है तथा इसी अधिनियम में इसके प्रबन्ध एवं संचालन सम्बन्धी बातों का भी उल्लेख रहता है। भारत में इन्हें विशेषतः वित्त तथा प्रवर्तन के क्षेत्र में अपनाया गया

है। उदाहरण के लिए, भारतीय औद्योगिक वित्त निगम; औद्योगिक साख एवं विनियोग निगम; राज्यों के वित्त निगम; जीवन बीमा निगम; निर्माण, निर्यात, साख एवं प्रत्याभूति निगम; पोर्ट ट्रस्ट; इण्डियन एयर लाइन्स कॉरपोरेशन; कर्मचारी राज्य बीमा निगम आदि।

कुछ विद्वानों द्वारा दी गई लोक निगम की महत्त्वपूर्ण परिभाषायें निम्नलिखित हैं :—

अर्नेस्ट डेविस के अनुसार, "लोक निगम पृथक अस्तित्व रखने वाली संस्था है, जो दावा कर सकती है तथा जिस पर दावा किया जा सकता है और जोकि अपनी वित्तीय व्यवस्था के लिए उत्तरदायी है।"[1]

स्वर्गीय राष्ट्रपति रूजवेल्ट के अनुसार, "लोक निगम व्यवसाय का आदर्श स्वरूप है, जिसमें सरकारी नियन्त्रण तथा व्यक्तिगत उपक्रम (जैसे—लोच तथा प्रेरणा) की विशेषतायें हैं।"[2]

हर्बर्ट मॅरिसन के अनुसार, "लोक निगम की श्रेष्ठता का कारण यह है कि इसमें सार्वजनिक हित की दृष्टि से राजकीय स्वामित्त्व, राजकीय उत्तरदायित्त्व एवं व्यावसायिक प्रबन्ध तीनों का मिश्रण होता है।"

लोक निगम की विशेषतायें—लोक निगम की प्रमुख विशेषताएँ निम्न होती हैं :—(१) **राज्य का पूर्ण नियन्त्रण**—लोक निगम पर राज्य का पूर्णतया नियन्त्रण होता है। (२) **पृथक वैधानिक अस्तित्त्व**—लोक निगम एक पृथक वैधानिक अस्तित्त्व रखने वाली संस्था है, जिस पर दावा किया जा सकता है तथा यह दूसरों पर भी दावा कर सकती है। यह अनुबन्ध करने की क्षमता रखती है तथा अपने नाम में सम्पत्ति का क्रय आदि भी कर सकती है। (३) **निगमित संस्था**—यह निगमित संस्था है, क्योंकि इसका निर्माण संसद के विशेष अधिनियम द्वारा होता है। (४) **स्वतन्त्र वित्त व्यवस्था**—लोक निगम की वित्त व्यवस्था स्वतन्त्र होती है। इसके आय-व्यय को सरकारी बजट में नहीं दिखाया जाता है। (५) **कर्मचारियों की नियुक्ति में स्वतन्त्रता**—लोक निगम में जो कर्मचारी होते हैं वे सरकारी कर्मचारी नहीं माने जाते हैं, क्योंकि उनके ऊपर "Civil Service Conduct Rules" लागू नहीं होते। कर्मचारियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में लोक निगम के अपने नियम होते हैं। (६) **बोर्ड द्वारा प्रबन्ध**—लोक निगम का प्रबन्ध एक सार्वजनिक लिमिटेड कम्पनी की तरह से एक बोर्ड द्वारा होता है। (७) **सेवा का उद्देश्य**—लोक निगम का प्रमुख उद्देश्य जनता की सेवा करना तथा गौण उद्देश्य लाभ कमाना होता है। (८) **बजट एवं अंकेक्षण के नियमों से मुक्त**—लोक निगमों पर बजट एवं अंकेक्षण सम्बन्धी नियम लागू नहीं होते हैं। (९) **व्यय सम्बन्धी नियमों से मुक्त**—लोक निगम सामान्यतः सार्वजनिक व्यय सम्बन्धी अनेक नियमों एवं प्रतिबन्धों से मुक्त रहते हैं।

लोक निगम के रूप—स्वामित्त्व एवं पूँजी के आधार पर लोक निगम निम्न प्रकार के होते हैं :—(१) ऐसे लोक निगम जिनकी कुछ पूँजी केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय सरकार द्वारा क्रय कर ली जाती है। जैसे; दामोदर घाटी निगम (Damodar Velley Corporation)। (२) मिश्रित निगम अर्थात् वे निगम जिनकी कुल पूँजी का अधिकतम् भाग केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों द्वारा क्रय कर लिया जाता है तथा अधिक से अधिक २०% भाग निजी उपक्रमों के लिये छोड़ दिया जाता है। जैसे; अखिल भारतीय औद्योगिक वित्त निगम, राज्य वित्त निगम आदि।

लोक निगम के गुण—(१) **संयुक्त लाभ**—इनमें व्यक्तिगत प्रबन्ध तथा राजकीय प्रबन्ध दोनों के ही लाभ प्राप्त हो जाते हैं। दैनिक कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप नहीं होता है, जिसके कारण इनकी कार्यक्षमता में बाधा नहीं पड़ती। इसके साथ ही साथ महत्त्वपूर्ण मामलों पर

---

1 "The Public Corporation is a body with a separate existence which can sue and be sued and is responsible for its own finance."—**Earnest Davis**, *M. P.*

2 "Public Corporations are thought to be the ideal form of business because in the words of the Late President Roosevelt these are "clothed with the power of Government but possessed of the flexibility and initiative of private enterprise."—**Late President Roosevelt.**

राजकीय नियन्त्रण भी स्थापित हो जाता है। (२) **निगम तथा सरकारी नीति में सामंजस्य**—चूँकि ये सरकारी नियन्त्रण में रहते हैं, अतएव निगम तथा सरकारी नीति में सामंजस्य रहता है। (३) **स्वतन्त्रता**—आन्तरिक मामलों में निगम स्वतन्त्र रहता है, जिससे लालफीताशाही का दोष उत्पन्न नहीं हो पाता। (४) **लोच**—लोक निगम की क्रियाओं में अधिक लोच तथा औद्योगिक निर्णय की स्वतन्त्रता रहती है। (५) **विभिन्न हितों का प्रतिनिधित्व**—लोक निगम के प्रबन्ध तथा संचालन में उद्योगपतियों, श्रमिकों तथा उपभोक्ताओं के प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित किया जा सकता है। अतएव इससे सबको लाभ पहुँचता है। (६) **अधिक स्थिरता**—इसमें सीधे राजकीय प्रबन्ध की अपेक्षा अधिक स्थिरता रहती है। राज्य-सत्ता के परिवर्तन के साथ इनकी नीति तथा संचालन में परिवर्तन नहीं होता। (७) **जन-सेवा की भावना**—लोक निगम जन-सेवा की भावना से कार्य करते हैं। इनका प्रमुख उद्देश्य जन-सेवा का होता है। (८) **विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ**—इनका आकार बड़ा होने के कारण विशेषज्ञों की सेवाओं का लाभ उठाया जा सकता है। (९) **सरकारी पदाधिकारियों के हस्तक्षेप से मुक्त**—लोक निगम की व्यवस्था में सरकारी पदाधिकारियों को हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं होता है।

दोष—(१) **हानि का अधिकांश भाग वहन करना**—कभी-कभी निगमों में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाती है कि सरकार का हाथ संचालन तथा प्रबन्ध में नगण्य रहता है, परन्तु सम्भावित हानि के अधिकांश भाग का सरकार को ही भुगतान करना पड़ता है। ऐसी स्थिति उस समय उत्पन्न होती है जबकि अधिकांश पूँजी तो सरकारी होती है, किन्तु प्रबन्ध समितियों में दूसरे वर्गों का बाहुल्य रहता है। (२) **निजी हित तथा कुशलता का अभाव**—निगम की संचालक सभा में वे लोग होते हैं जिनका निगम के संचालन में कोई वित्तीय स्वार्थ नहीं रहता। अतएव चाहे निगम को हानि हो अथवा लाभ उन्हें इसकी कोई चिन्ता नहीं रहती। परिणामस्वरूप, कार्यक्षमता का अभाव रहना है। (३) **एकाधिकार के दोष**—निगम एकाधिकार प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, जिसके कारण इनमें एकाधिकार के दोष उत्पन्न हो जाते हैं। (४) **प्रबन्ध में निजी क्षेत्र के व्यक्तियों के होने से क्षति**—निगमों में प्रबन्धक के लिये सरकार अधिकतर व्यक्ति व्यावसायिक तथा औद्योगिक वर्ग में से लेती है। ये औद्योगिक तथा व्यावसायिक व्यक्ति किसी न किसी व्यवसाय अथवा उद्योग से सम्बन्धित होते हैं और प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपने व्यवसाय अथवा उद्योग को लाभ पहुँचाने का प्रयत्न करते हैं। सरकारी पैसे पर अपने व्यवसाय का कार्य करना अथवा अधिक मूल्य पर अपने साथी से निगम के लिये माल खरीदना अथवा निगम का तैयार माल कम मूल्य पर अपने साथी को दिलवाना इनका मुख्य कार्य होता है। इस प्रकार निगम के हितों को भारी क्षति पहुँचती है। (५) **लालफीताशाही**—अन्य सरकारी उद्योगों की तरह इनमें भी लालफीताशाही का बोलबाला रहता है। (६) **संविधान परिवर्तन में कठिनाई**—कुशलता की दृष्टि से यदि इसके सङ्गठन में परिवर्तन करना आवश्यक हो जाय तो यह परिवर्तन संविधान [जिसके द्वारा इसकी स्थापना हुई है] में परिवर्तन करने पर ही किया जा सकता है। संविधान में परिवर्तन करना कठिन होता है। (७) **अंकेक्षण सम्बन्धी कठिनाइयाँ**—ये निगम अंकेक्षण सम्बन्धी नियमों का उल्लंघन करते हैं। Public Account Committee तथा Parliament Estimate कमेटी इस सम्बन्ध में कुछ भी करने में असमर्थ है।

कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव—(अ) छागला कमीशन के सुझाव—[१] सरकार को निगम के नित्य-प्रति के कार्यक्रम में न्यूनतम हस्तक्षेप करना चाहिये। [२] निगम के अधिकारियों को स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष रूप से निगम तथा जनता के हित में कार्य करना चाहिये। [३] मन्त्री महोदय को निगम के कार्यों में हस्तक्षेप करते समय संसद के सदस्यों की राय लेनी चाहिये तथा हस्तक्षेप की रिपोर्ट संसद के समक्ष प्रस्तुत करनी चाहिये। **(ब) श्री डेविस** (Earnest Davis M. P.) **के सुझाव**—[४] इस पर सरकार का उचित नियन्त्रण नहीं होना चाहिये, ताकि संचालन-कार्य राज्य की नीति के अनुसार हो सके। [५] जन-विश्वास तथा रुचि पैदा करने के लिये स्थानीय हितों को ध्यान में रखना चाहिये। [६] एक सलाहकार समिति होनी चाहिये, जिसमें श्रम, पूँजी, उपभोक्ता तथा व्यापार वर्ग के प्रतिनिधि हों। [७] विभिन्न नियमों के कार्यों में सहयोग स्थापित करने के लिये केन्द्रीय औद्योगिक सहयोग मण्डल (Central Industrial Co-ordinating Board) की स्थापना होनी चाहिये। [८] व्यावसायिक तथा औद्योगिक कार्यकुशल व्यक्तियों की कमी को दूर करने के लिये यूनियन पब्लिक सर्विस कमीशन (U. P. S. C.) की

तरह इण्डस्ट्रियल पब्लिक सर्विस कमीशन (I. P. S. C.) की स्थापना होनी चाहिये। उसका कार्य औद्योगिक प्रबन्ध के लिये उचित व्यक्तियों का चुनाव करके उनके लिये औद्योगिक शिक्षा का प्रबन्ध करना होना चाहिये।

(III) कम्पनियों के रूप में स्थापित राजकीय संस्थायें (State Enterprises Managed like a Company)—

आशय—राजकीय उपक्रमों के प्रबन्ध का तृतीय रूप संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियाँ हैं। सरकारी स्वामित्व में होने के कारण इन्हें 'सरकारी कम्पनी' कहते हैं। भारतीय कम्पनी अधिनियम (धारा ६१७) के अनुसार सरकारी कम्पनी का आशय एक ऐसी कम्पनी से है जिसकी चुकता अंश पूँजी (Paid-up Share Capital) का कम से कम ५१% भाग केन्द्रीय सरकार अथवा राज्य सरकार या सरकारों अथवा अंशतः केन्द्रीय और अंशतः एक या अधिक राज्य सरकारों के पास हो। सरकारी कम्पनी के अन्तर्गत वह कम्पनी भी सम्मिलित कर ली जाती है जो सरकारी कम्पनी की सहायक कम्पनी (Subsidiary Company) हो। इस प्रकार सरकार उपक्रम में एक अंशधारी बन जाती है और सम्बन्धित मन्त्रालय या केबिनेट (Cabinet) या राज्य के प्रमुख द्वारा अंशधारी के अधिकारों का प्रयोग करती है।

उदाहरण—[१] हिन्दुस्तान एयरक्राफ्ट कम्पनी, [२] हिन्दुस्तान केबिल लिमिटेड, [३] हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड, [४] हिन्दुस्तान स्टील्स लिमिटेड, [५] हिन्दुस्तान फर्टिलाइजर एण्ड केमीकल्स लि०, [६] हिन्दुस्तान साल्ट कम्पनी लि०, [७] नाहन फाउण्ड्री लि०, [८] हिन्दुस्तान फोटो फिल्मस् मैन्यू० क० लि०, [९] भारतीय टेलीफोन उद्योग लि०, [१०] नेशनल न्यूजप्रिण्ट एण्ड पेपर मिल्स लि०।

लाभ (Advantages)—सरकार उन्हीं उपक्रमों को कम्पनी के रूप में संगठित करती है जिनमें संगठन के अन्य स्वरूपों की अपेक्षा कुछ विशेष लाभ प्राप्त होते हैं। संक्षेप में, ये लाभ निम्न हैं :—(१) **विशेष अधिनियम की आवश्यकता नहीं**—लोक निगम की भाँति सरकारी कम्पनियों की स्थापना के लिये विशेष अधिनियम की आवश्यकता नहीं होती है। (२) **अधिक उत्साह एवं निपुणता**—अन्य सरकारी संस्थाओं के मुकाबले में इनमें अधिकारीगण अधिक उत्साह एवं निपुणता से कार्य करते हैं। (३) **लाभार्जन का विस्तृत क्षेत्र**—व्यावसायिक सिद्धान्तों पर अवलम्बित होने के कारण इनमें लाभार्जन करने का क्षेत्र विस्तृत होता है। (४) **स्वस्थ प्रतिस्पर्धा तथा तुलनात्मक अध्ययन की सुविधा**—निजी क्षेत्र की कम्पनियों की भाँति सरकारी क्षेत्र की कम्पनियों पर भी भारतीय कम्पनी अधिनियम के प्रावधान लागू होते हैं। अतएव दोनों में स्वस्थ प्रतिस्पर्धा होने का सुअवसर मिलता है तथा एक-दूसरे की कार्य-विधियों की तुलना करके इनकी आपसी निपुणता की भी परीक्षा की जा सकती है। (५) **पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा लोच**—ऐसी कम्पनियों को प्रशासन तथा वित्त के सम्बन्ध में पर्याप्त स्वतन्त्रता तथा लोच प्राप्त रहती है। (६) **व्यावसायिक आधार पर चलाये जाने वाले उद्योगों के लिए सर्वोत्तम**—जिन उपक्रमों की संगठन व्यवस्था एवं कार्य-प्रणाली का निर्धारण व्यावसायिक आधार पर किया जाना हो उनके लिये सरकारी कम्पनी रूपी यह व्यवस्था सर्वोत्तम है।

हानियाँ (Disadvantages)—उपर्युक्त लाभों के होते हुये भी सरकारी कम्पनी संगठन प्रणाली के दोषों से मुक्त नहीं है। **श्री जे० वी० एस० रामशास्त्री** के शब्दों में, "राजकीय उपक्रम का कम्पनी प्रारूप सबसे अधिक निकृष्ट है। यह एक मिथ्या धारणा है तथा विभागीय प्रारूप से भी बुरा है।" **श्री डब्ल्यू० ए० राब्सन** (W. A. Robson) के अनुसार, "लगभग सभी अर्थों में संयुक्त पूँजी कम्पनी लोक निगम से तुलनात्मक दृष्टि से निम्नकोटि की है······इसकी गतिविधियाँ तथा नीतियाँ कभी-कभी गोपनीयता के आवरण में चलाई जाती हैं तथा जनता की जानने योग्य बातें छिपाई जाती हैं·········।"[1] इस संगठन प्रणाली के प्रमुख दोष निम्न हैं :— (१) **प्रबन्ध में शिथिलता**—विभागीय सचिवों एवं डिप्टी सचिवों को एक्सऑफिसियों (Ex-officio) संचालक बना दिया जाता है। वे पहले से ही कार्य-भार से दबे रहने के कारण कम्पनी

---

1 Nationalised Industry and Public Ownership.—**Robson W. A.**

के प्रबन्ध कार्य पर समुचित समय व ध्यान नहीं दे पाते। (२) **संचालक मण्डल में असहयोग**—इस में सरकारी व गैर-सरकारी संचालकों में खींचातानी व मनमुटाव की सदैव आशंका बनी रहती है। अतएव दोनों में असहयोग रहने के कारण कम्पनी के हितों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। (३) **गोपनीयता**—सार्वजनिक निगम की भाँति सरकारी कम्पनी खुले आम कार्य नहीं करती। व्यावसायिक सिद्धान्तों के आधार पर सरकारी कम्पनी गुप्त सौदे व निजी ढङ्ग से कर्मचारियों का चुनाव करती है। इससे जनता में इनके प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है (४) **संविधान के प्रति कपट**—सरकारी उपक्रम की संयुक्त पूँजी वाली कम्पनी के रूप में स्थापना करना संविधान के प्रति कपट है, क्योंकि सरकारी खजाने के पैसे से घोषित कम्पनियाँ संसद के नियन्त्रण से बाहर चली जाती हैं।

उपयोगिता का क्षेत्र—सरकारी कम्पनी संगठन निम्न दशाओं में विशेष उपयोगी है :—(१) जब विशेष अधिनियम पास करने के लिये सरकार के पास पर्याप्त समय न हो। (२) जब उद्योग स्वयं ही विशेष महत्त्व का न हो। (३) जबकि उद्योग का आकार अपेक्षाकृत छोटा हो। (४) जब सरकार का विचार निजी पूँजी एवं व्यक्तिगत पहल को आमन्त्रित करना हो, जब उद्योग का राष्ट्रीयकरण राष्ट्र के हित में किसी विशेष कारण से किया गया हो, जैसे—उद्योग में भ्रष्टाचार बढ़ने पर, उत्पादन-क्षमता कम होने की दशा में, किसी संकटकालीन स्थिति में आदि।

(IV) बोर्ड द्वारा प्रबन्धित राजकीय संस्थायें (State Enterprises Managed by Boards)—

आशय—जब राजकीय उपक्रमों का प्रबन्ध किसी बोर्ड द्वारा होता है तो वह 'बोर्ड या समिति द्वारा प्रबन्धित राजकीय संस्था' कहलाती है। इन समितियों या बोर्डों की स्थापना का उद्देश्य लोच एवं शीघ्र निर्णय के गुण उत्पन्न करना है, जोकि एक व्यावसायिक एवं औद्योगिक उपक्रम की सफलता के लिये परम आवश्यक है। इन बोर्डों या समितियों में राज्य सरकार के विभागीय तथा केन्द्रीय मन्त्रालयों के प्रतिनिधि रखे जाते हैं। संगठन के इस स्वरूप का प्रयोग गत कुछ वर्षों से ही किया गया है।

उदाहरण—(१) भाकरा कन्ट्रोल बोर्ड, (२) चम्बल कण्ट्रोल बोर्ड, (३) हीराकुड कण्ट्रोल बोर्ड, (४) रिहन्द डैम कण्ट्रोल बोर्ड, (५) नागार्जुन सागर कण्ट्रोल बोर्ड, (६) कोसी कण्ट्रोल बोर्ड, (७) ऑल इण्डिया हैण्डलूम बोर्ड, (८) ऑल इण्डिया हैण्डीक्राफ्ट बोर्ड, (९) सेण्ट्रल सिल्क बोर्ड, (१०) कोयला कण्ट्रोल बोर्ड, (११) इण्डिया रेल्वे बोर्ड, (१२) टी बोर्ड आदि।

(V) मिश्रित स्वामित्त्व वाले निगम (Mixed Ownership Corpoartions)—

आशय—मिश्रित स्वामित्त्व वाले निगम से आशय उन संस्थाओं से है जिनमें सरकार विनियोग आंशिक रूप में करती है तथा प्रबन्ध एवं व्यवस्था का कार्य पूर्ण अथवा आंशिक रूप में निजी क्षेत्र पर छोड़ देती है। मिश्रित स्वामित्व वाले निगमों को निजी उपक्रम द्वारा आरम्भ किये गये उद्योगों में सार्वजनिक हितों को अथवा सरकार द्वारा स्थापित उद्योगों में निजी उपक्रम को प्रतिनिधित्त्व प्रदान करने का एक महत्त्वपूर्ण साधन माना जाता है।

विशेषतायें—मिश्रित स्वामित्त्व वाले निगमों की प्रमुख विशेषतायें निम्न हैं :—(१) इन निगमों में पूँजी का विनियोजन सरकार तथा निजी क्षेत्र दोनों के द्वारा होता है। (२) सरकार एवं निजी क्षेत्र दोनों मिलकर संचालकों का चुनाव करते हैं। (३) इनकी स्थापना विशेष अधिनियम द्वारा अथवा कभी-कभी सामान्य सन्नियमों द्वारा भी होती है। (४) इन्हें साधारण लोक निगमों की अपेक्षा अधिक छूटें प्राप्त होती हैं। (५) वैधानिक रूप से इनका पृथक् अस्तित्त्व होता है। अतएव वे अपने नाम से दूसरों पर वाद प्रस्तुत कर सकते हैं तथा सम्पत्ति आदि का भी क्रय कर सकते हैं। (६) ये अपने कोष का निर्माण सरकार एवं जनता को अंश बेचकर अथवा सरकार या जनता से उधार लेकर करते हैं।

उदाहरण—भारत में कई मिश्रित स्वामित्त्व वाले निगम विद्यमान हैं। **उदाहरणार्थ** :—(i) हिन्दुस्तान हाउसिंग फैक्टरी लिमिटेड, (ii) हिन्दुस्तान केबिल्स लिमिटेड, (iii) हिन्दुस्तान शिपयार्ड लिमिटेड, (iv) नहान फाउण्ड्री लिमिटेड, (v) हिन्दुस्तान मशीन टूल्स लिमिटेड, एवं (vi) सिंदरी फर्टिलाइजर एण्ड कैमीकल्स लिमिटेड आदि।

लाभ—ऐसे संगठनों के प्रमुख लाभ निम्न हैं :—(१) इनमें कुशल कार्य-संचालन रहता है। (२) निजी उद्योगों एवं सरकारी उद्योगों दोनों के लाभ इन्हें प्राप्त होते हैं। (३) इनका अंकेक्षण प्राइवेट लिमिटेड कम्पनी के समान ही होता है। (४) इनके सामने वित्तीय कठिनाई नहीं आती। (५) इनका प्रबन्ध व्यावसायिक आधार पर होता है, अतएव लालफीताशाही से लगभग मुक्त रहते हैं।

उपयुक्तता का क्षेत्र—यह विश्वास किया जाता है कि मिश्रित स्वामित्त्व वाले निगमों के माध्यम से सरकार नये उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित कर सकती है तथा एक सह-स्वामी के रूप में उद्योगों के कार्य-संचालन के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करके सहायता प्रदान कर सकती है। यह अपने संचालकों के माध्यम से निगम की नीतियों को भी प्रभावित कर सकती है।

(VI) जन प्रन्यास (Public Trust)—

जन-प्रन्यास भी राजकीय उपक्रमों के प्रबन्ध का एक रूप है। भारत सरकार द्वारा इसका प्रयोग बन्दरगाहों के प्रशासन हेतु किया गया है, जैसे—कान्धला पोर्ट ट्रस्ट, मद्रास पोर्ट ट्रस्ट। इसके अतिरिक्त म्यूनिसिपल क्षेत्रों तथा विकास क्षेत्रों में भी जन-प्रन्यासों की स्थापना की गई है, जैसे—म्यूनिसिपल इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट, डेवलपमेंट ट्रस्ट, इन्वेस्टमेण्ट ट्रस्ट आदि।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. राजकीय उपक्रम के क्या उद्देश्य हैं ? क्या भारत में राजकीय उपक्रमों ने अपने उद्देश्यों की पूर्ति की है ? (भागलपुर, १९७१)

२. लोक निगम को परिभाषित कीजिये। उसके विशेष लक्षणों को बताइये तथा उसे सफल बनाने के लिए उपयुक्त सुझाव दीजिए। (भागलपुर, १९६९; इन्दौर, पूरक परीक्षा, १९७०)

३. सरकारी उपक्रम के प्रबन्ध से सम्बन्धित संगठन के विभिन्न प्रारूपों की विवेचना कीजिये। प्रत्येक के लाभ-दोषों का संक्षेप में विवेचन कीजिये। (भागलपुर, १९६८ एवं ७०; रांची, १९६९)

४. सार्वजनिक उपक्रम की परिभाषा दीजिये तथा भारत में सार्वजनिक उपक्रमों के प्रबन्ध हेतु अपनाये गये विभिन्न स्वरूपों की विवेचना कीजिये। (इन्दौर, १९६९; आर० वी०, १९७१)

५. राजकीय उपक्रम से आपका क्या आशय है ? इसके कौन-कौन से विभिन्न रूप हैं ? प्रत्येक को संक्षेप में स्पष्ट कीजिये। (दिल्ली, १९७१; इन्दौर, १९६७)

६. लोक निगम की परिभाषा दीजिये। इसके विशेष लक्षण क्या हैं और ये कहाँ तक संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों से मिलते-जुलते हैं ? (भागलपुर, १९६९; जीवाजी, १९६८; विक्रम, १९६४)

७. लोक निगम किसे कहते हैं ? राजकीय उपक्रमों के संगठन के इस रूप में इस प्रणाली के लाभ बताइये। (रांची, १९७०; इन्दौर, १९६८; विक्रम, १९६१)

८. भारतीय आर्थिक नियोजन में लोक क्षेत्र की भूमिका की विवेचना कीजिए। (भागलपुर, १९७१)

९. लोक निगम के लाभ-दोष क्या हैं ? लोक निगम की सफलता के लिये अपने सुझाव दीजिये। (विक्रम, १९६७; नागपुर, १९६४)

१०. लोक निगम पर एक टिप्पणी लिखिये। (विक्रम, १९७०)

११. राजकीय उपक्रम किसे कहते हैं ? इसके गुण-दोषों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

१२. "यद्यपि विभागीय प्रबन्ध से अधिकतम सरकारी नियन्त्रण सम्भव होता है, किन्तु यह पहल तथा लोच के लिये आवश्यक नहीं है।" विवेचना कीजिये। (भागलपुर, १९७१)

होना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य को ५,००० रु० प्रवेश-शुल्क देने पड़ते हैं। सदस्य अपनी सहायता के लिये अधिकृत एजेण्ट नियुक्त कर सकते हैं, किन्तु वे केवल अपने नियोक्ता के नाम से ही व्यवहार कर सकते हैं, अपने नाम से ही नहीं। प्रत्येक एजेण्ट के लिए ५०० रु० (पाँच-सौ रु०) का शुल्क जमा करना आवश्यक है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक सदस्य और एजेण्ट को चार रुपये मासिक चन्दा देना पड़ता है। सदस्य अपने लिये विज्ञापन नहीं करा सकता। यदि किसी सदस्य पर कोई धन-राशि बकाया है तो उसका नाम सूचना-पट पर लगा दिया जाता है और उसको सदस्य के रूप में तब तक कोई सुविधा नहीं मिलती जब तक वह उसे चुकता न कर दे।

व्यवहार (Transactions)—कलकत्ता स्कन्ध-विपणि में प्रायः नकदी के रूप में ही व्यवहार होते हैं। सुपुर्दगी के द्वारा व्यवहार पूरा होता है और दूसरे दिन उसका नकद भुगतान करना होता है। यद्यपि वायदे के तथा वैकल्पिक सौदे करना वर्जित है, किन्तु फिर भी सदस्य गैर-सरकारी रूप में इन्हें पर्याप्त मात्रा में करते हैं। सदस्य अन्तर (Difference) चुकाकर भी अपना व्यवहार बराबर कर सकते हैं। इससे सट्टे को प्रोत्साहन मिलता है। कलकत्ता स्कन्ध-विपणि पर सदस्य, सदस्य से व्यवहार करता है। यदि कोई सदस्य किसी बाहर वाले से व्यवहार करता है तो उसके लिये उसे एक अलग अनुबन्ध (Contract) करना पड़ता है। इस प्रकार यदि कोई सदस्य किसी बाहर वाले व्यक्ति (Outsider) के लिए अंशों का क्रय अथवा विक्रय करता है तो ऐसी दशा में बाहरी व्यक्ति का नाम पूर्ण रूप से गुप्त (Undisclosed) रखा जाता है और विपणि में उसका लेखा सदस्यों के बीच अनुबन्ध के रूप में होता है। बाद में वह सदस्य उस बाहरी व्यक्ति से एक पृथक अनुबन्ध करता है। इस प्रकार वह सदस्य उस बाहर वाले व्यक्ति से अधिक मूल्य पर व्यवहार कर सकता है, क्योंकि उस बाहर वाले व्यक्ति के लिए सदस्यों के आपस में भाव का पता लगाना बहुत ही कठिन है।

प्रस्तुत बाजार में मुख्यत: कोयले, जूट, चाय, बिजली, चीनी, लोहे, कागज, रसायनिक कम्पनियों के अंशों का क्रय-विक्रय होता है। मान्यता-प्राप्त प्रतिभूतियों की कुल संख्या ६६६ है।

भारतीय स्कन्ध-विपणि पर व्यवहार
(Dealings on the Indian Stock Exchanges)

भारतीय स्कन्ध-विपणि पर जब कोई व्यक्ति अपने धन का विनियोग करना चाहता है तो सर्वप्रथम उसे यह सोच लेना चाहिए कि किस प्रकार की प्रतिभूतियों में वह अपने धन का विनियोग करेगा, अर्थात् वह सट्टे की प्रतिभूतियों में विनियोग करना चाहता है (सट्टे की प्रतिभूतियों से अभिप्राय औद्योगिक कम्पनियों की प्रतिभूतियों से है जिनमें उतार-चढ़ाव अधिक होते हैं) अथवा विनियोग की सुरक्षा एवं आय के स्थायित्व की ओर अधिक ध्यान रखना चाहता है। उदाहरणार्थ; सरकारी प्रतिभूतियाँ सुरक्षा की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ समझी जाती हैं तथा उनके मूल्य में उतार-चढ़ाव भी कम होते हैं। इनमें विनियोग करने का उद्देश्य एक सुरक्षित निश्चित आय प्राप्त करना है, जैसे—४% वाला उत्तर प्रदेश सरकार का ऋण (4% U. P. Govt. Loan)। यह निश्चित कर लेने के पश्चात् उसे अपनी इच्छित प्रतिभूतियाँ कब खरीदनी चाहिए, इस सम्बन्ध में प्रतिभूतियों के व्यवहारों के विशेषज्ञों की राय ले लेनी चाहिए। यह राय वह अपने बैंक अथवा अंशों के दलाल (Share Brokers) से ले सकता है, क्योंकि किस समय तथा कहाँ पर प्रतिभूतियाँ खरीदना लाभकर होगा, इस सम्बन्ध में वे ही आवश्यक राय दे सकते हैं, क्योंकि वे इन व्यवहारों में दक्ष होते हैं।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

मान लीजिए कि जयपुर निवासी श्री गोविन्दप्रसाद अग्रवाल टाटा कम्पनी के १० साधारण अंश खरीदना चाहते हैं। कल्पना कीजिए कि प्रति अंश का अंकित मूल्य १५० रु० है तथा बाजार-मूल्य इस समय ५०० रु० प्रति अंश है। इनका क्रय-विक्रय बम्बई स्कन्ध-विपणि में होता है। इस सम्बन्ध में उनको अग्रिम कार्यवाही करनी पड़ेगी :—

भारत में मान्यता-प्राप्त स्कन्ध-विपणियों का संगठन सम्बन्धी तुलनात्मक संक्षिप्त विवरण

१. नाम एवं स्थापना का वर्ष ( )	२. पंजीयन का रूप	३. प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) अधिनियम, १९५६ के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त करने की तिथि	४. सदस्यों की संख्या	५. सदस्यता निक्षेप	६. वार्षिक चन्दा	७. अनुसूचित प्रतिभूतियों की संख्या
बम्बई (१८७५)	अन-रजिस्टर्ड ऐच्छिक बिना लाभ कमाने के उद्देश्य से स्थापित पार्षद् पब्लिक कम्पनी	३१-८-१९५७ (सदैव के लिए)	५०४	२०,००० रु०	१५ रु० प्रति वर्ष	५३८
कलकत्ता (१९२३)	पब्लिक लिमिटेड कम्पनी	१०-१०-१९५७ (पाँच वर्ष के लिए)	१,१००	२०,००० रु०	४८ रु० प्रति वर्ष	९६९
मद्रास (१९३७)	गारन्टी द्वारा सीमित कम्पनी	१५-१०-१९५७ (पाँच वर्ष के लिए)	१५ फर्में (३५ व्यक्ति सदस्य)	५,००० रु० प्रति व्यक्ति सदस्य के लिए तथा १०,००० रु० प्रति फर्म के लिए	१८० रु० प्रति व्यक्ति सदस्य	४५१
दिल्ली (१९४७)	पब्लिक लिमिटेड कम्पनी	९-१२-१९५७ (पाँच वर्ष के लिए)	१०६	कुछ नहीं	कुछ नहीं	१९८
अहमदाबाद (१८९४)	व्यक्तियों का ऐच्छिक पार्षद्	१६-९-१९५७ (पाँच वर्ष के लिए)	४६३	५,००० रु०	२५ रु० प्रति वर्ष	२०८
हैदराबाद (१९४३)	गारण्टी द्वारा सीमित कम्पनी	२९-९-१९५८ (पाँच वर्ष के लिए)	५७	३,००० रु०	६४ रु० प्रति वर्ष	२९
इन्दौर (१९३०)	साधारण पार्षद्	२४-१२-१९५८ (पाँच वर्ष के लिए)	७२	३,००० रु०	१० रु० प्रति वर्ष	८
बंगलौर (१९५७)	निजी कम्पनी	११-२-१९६३ (पाँच वर्ष के लिए)	१२	५,००० रु०	३०० रु० प्रति वर्ष	×

(१) अंशों के क्रय करने के लिए वे अपने बैंकर्स या बम्बई के दलाल को लिख सकते हैं। मान लीजिये कि वे बम्बई की विश्वासपात्र फर्म श्री लछमनदास रमेशचन्द्र को अपना दलाल चुनने का निर्णय करते हैं। यह फर्म बम्बई स्कन्ध-विपणि की सदस्य भी है।

(२) अब श्री गोविन्दप्रसाद अग्रवाल टाटा कम्पनी के १० अंश बाजार-भाव पर या ५०० रु० प्रति अंश पर क्रय करने के लिये बम्बई की फर्म को लिखेंगे। आदेश के साथ समस्त रुपया अर्थात् ५,००० रु० का ड्राफ्ट अथवा इससे कुछ अधिक राशि (व्यय सहित) भेज देंगे।

(३) जैसे ही वह आदेश व बैंक ड्राफ्ट दलाल के पास पहुँचेगा वह अपनी आदेश-प्राप्त पुस्तक (Order Receipt Book) में इस आदेश को लिख लेगा। इसके पश्चात् वह अपनी पुस्तक में यह भी देखेगा कि उसके पास इन अंशों को बेचने वाला कोई ग्राहक है अथवा नहीं। यदि उसे ऐसा कोई व्यक्ति मिल जाता है तो वह स्कन्ध-विपणि में न जाकर क्रेता व विक्रेता को इसके सम्बन्ध में सूचित कर देगा। ऐसे व्यवहारों को पारस्परिक व्यवहार (Cross Transaction) कहते हैं। इसके विपरीत यदि दलाल की निगाह में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं आता है जो टाटा कम्पनी के साधारण अंशों को बेचना चाहता हो तो उसे इन अंशों को स्कन्ध-विपणि पर खरीदना होगा। अतएव दलाल इसकी सूचना अपने अधिकृत लिपिक को स्कन्ध-विपणि में भेज देगा। दलाल की ओर से सूचना प्राप्त होते ही अधिकृत लिपिक स्कन्ध-विपणि में ऐसे सदस्यों से बातचीत करेगा जो उन अंशों को बेचना चाहते हों। यदि सौदा पट जाता है तो अधिकृत लिपिक उन १० अंशों को खरीद लेगा। इधर अंशों के खरीदने के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना फौरन भेज दी जायगी। अंशों का क्रय होने पर अधिकृत लिपिक तथा विक्रेता दोनों ही अंशों के क्रय-विक्रय सम्बन्धी सम्पूर्ण विवरण अपनी-अपनी नोट बुक में लिख लेंगे। उदाहरणार्थ, लिपिक अपनी नोट बुक में "७७ 'क' से टिस्को (Tisco) के १० साधारण अंश, ५०० रु० प्रति अंश की दर से 'ग' (विनियोक्ता का नाम) के लिए खरीदे" यह लिख लेगा। इसी प्रकार 'क' (विक्रेता) अपनी पुस्तक में "टिस्को (Tisco) के १० साधारण अंश, ५०० रु० प्रति अंश की दर से श्री·····दलाल को बेचे" यह लिखेगा। इसके पश्चात् लिपिक इस सारे व्यवहार को एक कागज पर लिखेगा और फिर उसे एक सन्दूक में डाल देगा, जो स्कन्ध-विपणि में रखा रहता है। इस सन्दूक में से वह कागज निकाला जायगा तथा उस सौदे के विषय में सब विवरण एक फलक (Black-board) पर लिख दिया जायगा, जोकि सन्दूक के पास ही रखा रहता है। स्कन्ध-विपणियों में अंशों के मूल्य के अन्दर एक दिन में कई बार उतार-चढ़ाव पर आते हैं। उन सबको एक रजिस्टर में लिख दिया जाता है, ताकि जन-साधारण को यह उतार-चढ़ाव सम्बन्धी आवश्यक जानकारी हो जाय।

(४) प्रतिभूति की खरीद हो जाने के पश्चात् इसकी सूचना क्रेता (गोविन्दप्रसाद अग्रवाल) को भेज दी जायगी। दूसरे दिन क्रय व विक्रय करने वाले दोनों मध्यस्थ उस व्यवहार की पुनः जाँच करेंगे, जिससे कोई त्रुटि न रहे। पूर्णरूप से जाँच करने के पश्चात् वे अनुबन्ध (Contract Note), क्रय तथा विक्रय पत्र (Bought Note and Sold Note) बनाकर अपने-अपने ग्राहकों के पास भेज देंगे। अनुबन्ध के ऊपर विनियोक्ता अर्थात् श्री गोविन्दप्रसाद अग्रवाल हस्ताक्षर करेंगे तथा उसे पुनः अपने दलाल के पास भेज देंगे। क्रय सूचना विनियोक्ता के पास प्रमाण के रूप में रह जायगी।

(५) अन्त में विनियोक्ता (अर्थात् श्री गोविन्दप्रसाद अग्रवाल) के पास दलाल के द्वारा एक हस्तान्तरण संलेख (Transfer Deed) भेजा जायगा। इसी के आधार पर उसको बेचे हुए अंशों का मूल्य प्राप्त होता है। इस संलेख को विक्रेता टाटा कम्पनी में भेज देगा और यह प्रार्थना करेगा कि पुराने क्रेता के स्थान पर नये क्रेता का नाम अपने रजिस्टर में दर्ज कर ले।

जिस समय कम्पनी में पंजीयन (Registration) का कार्य हो जायगा, कम्पनी का सचिव श्री गोविन्दप्रसाद के पास नया अंश-प्रमाण-पत्र भेज देगा। इधर दलाल विनियोक्ता का शेष धन वापिस कर देगा अथवा यदि कुछ रुपया बकाया हो तो उससे मँगा लेगा। इस प्रकार एक विनियोक्ता घर बैठे हुए ही किसी भी कम्पनी के अंशों का क्रय-विक्रय कर सकता है।

भारतीय स्कन्ध-विपणि में सुधार

सुधारों की आवश्यकता क्यों ?—

यद्यपि किसी देश के औद्योगिक सन्तुलन के लिए उसमें विनियोगों का होना अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु भारत जैसे पिछड़े राष्ट्र में जहाँ पर पूँजी की भारी कमी है तथा जहाँ की पूँजी शर्मीली भी है, बचे हुये विनियोगों को एक नई दिशा मिलती है। यहाँ की स्कन्ध-विपणियों में स्वस्थ विनिमय की अपेक्षा अस्वस्थ परिकल्पना या सट्टे को ही अधिक प्रोत्साहन मिला है। परिणामस्वरूप कुछ लोगों को छोड़कर साधारण विनियोक्ताओं को भारी हानि सहन करनी पड़ी है। सामान्यतया इन सौदों के कारण राष्ट्र की बहुत अधिक पूँजी व्यर्थ में ही नष्ट हुई है और उद्योगों को समय पर आवश्यक पूँजी नहीं मिल पाई। अतएव सट्टे पर कठोरता से नियन्त्रण कायम करने के लिए इस देश में समय-समय पर आवाजें उठाई जा रही हैं।

मौरिसन समिति के सुझाव—

भारतीय स्कन्ध-विपणियों की कार्य-पद्धति में आवश्यक सुधार करने हेतु सर्वप्रथम बम्बई सरकार ने सन् १९३७ ई० में मौरिसन समिति की नियुक्ति की। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट सन् १९३९ में प्रस्तुत की, किन्तु द्वितीय महायुद्ध के प्रारम्भ हो जाने के कारण इस समिति के सुझावों पर विचार करना सम्भव न हो सका। इस समिति ने यह सिफारिश की थी कि प्रतिभूतियों के व्यवहारों में अन्तर-राशि स्कन्ध-विपणि के पास रखी जाय तथा समस्त व्यवहार नकद ही हों। इसके अतिरिक्त भुगतान की अवधि १ माह से घटाकर १५ दिन कर दी जाय तथा विपणि की संचालक सभा को जो अवांछनीय अधिकार प्राप्त हैं उन पर प्रतिबन्ध लगाये जायें। यही नहीं, अपराधी व्यक्तियों के विरुद्ध कड़ी से कड़ी कार्यवाही की जाय। यद्यपि उपरोक्त सुझावों को युद्ध के कारण कार्यान्वित न किया जा सका, किन्तु युद्ध-काल में अग्रिम व्यवहारों पर रोक लगा दी गई थी।

डॉ० थॉमस के सुझाव—

सन् १९४५ ई० में केन्द्रीय सरकार ने स्कन्ध-विपणि में सुधार हेतु डॉ० थॉमस (जोकि उस समय अर्थमन्त्री थे) की नियुक्ति की। उन्होंने सन् १९४५ से लेकर सन् १९४७ ई० तक उपलब्ध आँकड़ों का अध्ययन किया और इस प्रकार अन्त में सन् १९४८ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। डॉ० थॉमस ने स्कन्ध-विपणियों की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए इस बात पर जोर दिया कि भारतीय स्कन्ध-विपणियों की दशा बड़ी चिन्ताजनक है, जिसको सुधारने के लिए उन्होंने निम्न सुझाव प्रस्तुत किये :—

(१) **रोकड़ सौदे**—भावी सौदों को न्यूयॉर्क तथा लन्दन के समान (लन्दन में द्वितीय महायुद्ध के समय रोकड़ सौदे ही होते थे) पूर्णतया रोकड़ी होना चाहिये।

(२) **केन्द्रीय नियन्त्रण**—स्कन्ध-विनियोगों का वैयक्तिक स्वभाव न रहकर उन पर केन्द्रीय नियन्त्रण होना चाहिये।

(३) **केन्द्रीय बोर्ड**—इन पर नियन्त्रण करने के लिए सरकार को केन्द्रीय बोर्ड की स्थापना करनी चाहिये। मण्डियों में व्यापार करने वाले सब व्यक्तियों को बोर्ड के द्वारा सरकार से इनमें व्यापार करने के लिए अनुज्ञा-पत्र प्राप्त करना आवश्यक होगा। केन्द्रीय सरकार को नियम-उपनियम तथा उनमें समय-समय पर संशोधन करने का अधिकार रहना चाहिए। स्कन्ध

बाजारों में सूचीयन की गई प्रतिभूतियों का रजिस्ट्रेशन केन्द्रीय सरकार में होना आवश्यक होगा।

(४) **विनियोग आयोग की स्थापना**—यू० एस० ए० के प्रतिभूति तथा विनिमय आयोग (Securities and Exchange Commission) की ही तरह भारत में भी राष्ट्रीय विनियोग आयोग (National Investment Commission) की स्थापना की जानी चाहिये। इस आयोग का कार्य विनिमय के दुर्व्यवहारों पर रोक तथा गतिविधि पर नियन्त्रण रखना होगा।

(५) **अखिल भारतीय आधार**—इसका नियन्त्रण तथा संचालन अखिल भारतीय ढंग पर होना चाहिये, जिससे देश के सारे बाजारों में समानता रहे।

(६) **सूचीयन तथा रजिस्ट्रेशन**—प्रतिभूतियों के सूचीयन तथा रजिस्ट्रेशन का कार्य अत्यन्त कठोरता के साथ किया जाना चाहिये।

(७) **नगर में एक ही विनिमय**—इस नगर में केवल एक ही स्कन्ध-विनिमय-विपणि होनी चाहिये तथा उसको राज्य सरकार की ओर से एक अनुज्ञा-पत्र प्राप्त होना चाहिये।

(८) **अन्तर-राशि निक्षेप**—इस बाजार में सौदे करने वाले व्यक्तियों को निश्चित रूप से संघ के कार्यालय में एक निश्चित अन्तर राशि को जमा कराने की व्यवस्था होनी चाहिये। प्रतिशत का निर्धारण राष्ट्रीय विनियोग बोर्ड तथा रिजर्व बैंक के द्वारा किया जाना चाहिए।

(९) **सभा पर प्रभाव**—स्कन्ध विनिमय के प्रबन्ध के लिये जो सभा रहती है, उस पर बाह्य प्रभाव रहना चाहिये और अध्यक्ष को इतने अधिकार प्राप्त होने चाहिये कि वह विनियोक्ताओं तथा साधारण व्यापार करने वाले सदस्यों के हितों की रक्षा कर सके।

(१०) **छुट्टियों में कमी**—बाजार में होने वाली छुट्टियों में कमी करनी चाहिये तथा कार्य के घण्टे बढ़ जाने चाहिये।

(११) **सदस्यों की योग्यता**—सदस्यों के लिये कुछ योग्यतायें निर्धारित की जानी चाहिये। इसके अतिरिक्त सदस्य शिक्षित भी होने चाहिये, ताकि वह स्कन्ध-विपणि पर होने वाले व्यवहारों को भली प्रकार समझ सकें।

(१२) **सदस्यों का वर्गीकरण**—यदि विपणि के सदस्यों का वर्गीकरण अन्य देशों के समान नहीं हो सके तो कम से कम यहाँ पर ग्राहक, स्वामी तथा पञ्जस्थ आदि नामों से वर्गीकरण होना चाहिये और उन पर पूर्ण नियन्त्रण होना चाहिये।

(१३) **कम्पनी अधिनियम में सुधार**—कम्पनी अधिनियम में भी आवश्यक सुधार किये जाने चाहिये, ताकि संचालकगण अपनी स्थिति का दुरुपयोग न कर सकें।

(१४) **समाशोधन गृह का निर्माण**—प्रत्येक स्कन्ध-विपणि में एक समाशोधन गृह (Clearing House) की स्थापना की जानी चाहिये, जिससे भुगतान सम्बन्धी समस्त सुविधायें आसानी से प्राप्त हो सकें।

(१५) **रिक्त (Blank) हस्तान्तरण पर रोक**—रिक्त अथवा निरंक हस्तान्तरण पर रोक लगनी चाहिये तथा विधान द्वारा उसकी अवधि भी निश्चित होनी चाहिये।

उपर्युक्त सुझावों को ध्यान में रखते हुए वाणिज्य मन्त्री ने सन् १९५० में संसद में एक बिल प्रस्तुत किया, जिसका प्रमुख उद्देश्य भावी सौदों पर प्रतिबन्ध लगाना तथा अस्वस्थ परिकल्पना को रोकना था। किन्तु संसद में इसकी तीव्र आलोचना की गई।

डॉ० थॉमस की रिपोर्ट की आलोचनायें—(i) **मौलिकता का अभाव**—रिपोर्ट में लगभग उन्हीं सुझावों को दोहराया गया है जोकि मॉरिसन समिति ने प्रस्तुत किये थे। केवल एक नया सुझाव केन्द्रीय नियन्त्रण के सम्बन्ध में है। इस प्रकार रिपोर्ट में मौलिकता का अभाव है। (ii) **परिकाल्पनिक व्यवहारों को समाप्त करना सम्भव नहीं**—स्कन्ध-विपणियों में से परिकल्पना

को पूर्ण रूप से नहीं हटाया जा सकता है, क्योंकि बिना परिकल्पना के स्कन्ध-विपणियाँ प्राणरहित हैं। हाँ, अस्वस्थ परिकल्पना को समाप्त किया जाना उचित है। किन्तु स्वस्थ परिकल्पना को प्रोत्साहन दिया जाना चाहिये। (iii) **रिक्त हस्तान्तरण पूर्ण रूप से हटाना उचित नहीं**—रिक्त हस्तान्तरण को पूर्ण रूप से हटाना अथवा इसके ऊपर पूर्णरूप से प्रतिबन्ध लगाना किसी भी हालत में उचित नहीं ठहराया जा सकता है, क्योंकि ऐसा करने से स्कन्ध-विपणियों का व्यापार कम हो जायगा। (iv) **केन्द्रीय सरकार के पास साधनों का अभाव**—केन्द्रीय सरकार के पास इतने युक्तिपूर्ण नियन्त्रण के साधन नहीं हैं जिनसे कि इन विपणियों में पूर्णरूप से सुधार हो सके। इसके अतिरिक्त भारत जैसे देश में आर्थिक स्थिति ऐसी नहीं है जहाँ इस प्रकार का नियन्त्रण सफलतापूर्वक चल सके। इस प्रकार उपरोक्त आलोचनाओं के कारण इस कमेटी के सुझावों को पुनः 'सम्भावित अधिनियम कमेटी' (अथवा गोरवाला कमेटी) के सुपुर्द कर दिया।

गोरवाला कमेटी के सुझाव (Recommendations of the Gorwala Committee)—

जून, १९५१ में श्री ए० डी० गोरवाला की अध्यक्षता में एक विशेषज्ञ समिति (Expert Committee) का निर्माण किया गया। कमेटी ने अपने सुझाव १४ जुलाई १९५१ को पेश किये। गोरवाला समिति के अनुसार स्कन्ध-विपणियों में किया जाने वाला व्यापार उनके उपनियमों (Bye-laws) के अनुसार ही होना चाहिये। यदि कोई अनुबन्ध महत्त्वपूर्ण उपनियमों के विरुद्ध हो तो उसे व्यर्थ घोषित कर देना चाहिये।

प्रत्येक नगर में एक ही स्कन्ध विपणि की स्थापना की जानी चाहिये तथा उसके सदस्यों की संख्या भी सीमित होनी चाहिये, जिससे कि उसमें स्थिरता व प्रामाणिकता बनी रहे।

कुरीतियों और दुर्व्यवहारों को रोकने के लिये समिति ने यह सिफारिश की कि सरकार (अ) सभी मन्डियों के नियमों तथा उपनियमों में संशोधन कर सकती है, (ब) उनकी व्यवस्थापक सभा के लिये अधिकारी मनोनीत कर सकती है, (स) विपणि की शासन सभा (Governing body) को आवश्यकतानुसार तोड़ सकती है तथा मनोनीत सभा (Nominated body) नियुक्त कर सकती है, (द) किसी भी बाजार की मान्यता छीन सकती है।

स्कन्ध विपणियों का जन हित की दृष्टि से नियमन करने के लिए समिति ने दो प्रकार के नियमन का सुझाव दिया—(i) आन्तरिक (Internal) नियमन—इसमें समुचित उपनियम और उनकी पूर्ति एवं पालन की पूर्ण व्यवस्था होनी चाहिये। (ii) बाहरी (External) उपनियम पर राज्य का नियन्त्रण होना चाहिये।

स्कन्ध विपणियों पर नियन्त्रण रखने के लिये स्कन्ध विनिमय आयोग (Stock Exchange Commission) की स्थापना की जानी चाहिये। इसमें केवल तीन सदस्य होंगे। यह कमीशन सरकार को स्कन्ध विपणियों पर नियन्त्रण सम्बन्धी सलाह देगा। विपणि की आन्तरिक व्यवस्था के सम्बन्ध में समिति ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि प्रत्येक स्कन्ध विपणि को अपना समाशोधन गृह रखना चाहिये। इसके अतिरिक्त स्कन्ध विपणियों के उपनियमों में न्यूनतम मध्यस्थ कमीशन, अधिकतम १५ दिन की अवधि के सामयिक भुगतान, दोषी व्यक्तियों के प्रति आवश्यक कार्यवाही आदि का भी उल्लेख होना चाहिये। स्कन्ध-विपणियों में छुट्टियों को कम कर देना चाहिये तथा काम के घण्टों में वृद्धि होनी चाहिये।

परिकल्पक के सम्बन्ध में कमेटी ने यह मत प्रकट किया कि "परिकल्पक दूरदर्शी तथा विवेकी होना चाहिये तथा अपने दृष्टिकोण के समर्थन के लिये उसके आवश्यक साधन होने चाहिये तथा उसका कार्य होना चाहिए विपणि में तरलता (Liquidity) रखना। जिस व्यक्ति के पास धन है किन्तु आवश्यक विवेक नहीं और वह परिकल्पना करता है तो वह व्यक्ति जुआरी (Gambler) है और स्वयं के लिए भयानक है। इसके विपरीत जिसके पास ज्ञान है, किन्तु धन

नहीं और वह परिकल्पना करता है तो वह भावी दिवालिया तथा विपणि के लिए खतरा है। परन्तु जिस व्यक्ति के पास धन तथा ज्ञान दोनों हैं, किन्तु वह कपट करता है तो ऐसा व्यक्ति विनियोक्ताओं के लिए भयानक है," जिसका उन्मूलन होना चाहिए।

स्कन्ध-विपणियों पर परिकल्पनात्मक (Speculative) व्यवहारों को समाप्त करना कठिन है, किन्तु निम्न उपायों द्वारा नियन्त्रण किया जा सकता है :—

(१) **भावी सौदों पर नियन्त्रण**—परिकल्पना बढ़ाने में सबसे अधिक हाथ भावी सौदों का रहता है। चूँकि इनको समाप्त करने से व्यापार पर विपरीत प्रभाव पड़ेगा (अर्थात् व्यापार काफी कम हो जायगा) अतएव इन पर आवश्यक नियन्त्रण कायम करना चाहिए।

(२) **व्यक्तियों का रजिस्ट्रेशन**—प्रत्येक सम्बन्धित व्यक्ति का पंजीयन (Registration) किया जाना चाहिए। इससे अनिच्छित व्यक्तियों को प्रोत्साहन नहीं मिलेगा।

(३) **राष्ट्रीय स्तर पर बोर्ड की स्थापना**—भावी व्यवहार पर आवश्यक नियन्त्रण स्थापित करने के लिये राष्ट्रीय स्तर पर बोर्ड की स्थापना की जानी चाहिए, जोकि विपणियों की कार्यवाहियों पर पूर्ण नियन्त्रण रख सके तथा सदस्यों की रक्षा कर सके।

(४) **सदस्यों का बिना शुल्क प्रति वर्ष पुनः रजिस्ट्रेशन**—कुछ लोग न तो सदस्य ही होते हैं और न दलाल ही, किन्तु वे उनकी तरह ही कार्य करते हैं। इससे व्यापार को क्षति पहुँचती है। अतएव उनकी रोकथाम के लिए प्रति वर्ष सदस्य तथा दलालों का पुनः बिना शुल्क के रजिस्ट्रेशन किया जाना चाहिए तथा विपणि के नियमों का पूर्ण रूप से पालन होना चाहिए।

(५) **रिक्त हस्तान्तरण पर प्रतिबन्ध**—रिक्त हस्तान्तरण से परिकल्पना को अनावश्यक रूप से प्रोत्साहन मिलता है। अतएव इस पद्धति पर नियन्त्रण स्थापित करके इसे बन्द कर देना चाहिये। किन्तु इसमें सफलता प्राप्त करने के लिए स्टाम्प कर (Stamp Duty) में पर्याप्त कमी कर देनी चाहिए।

(६) **अन्तर-राशि का जमा किया जाना**—प्रत्येक भावी तथा हाजिर (Forward and Ready) सौदे के लिए निश्चित राशि (प्रतिशत में) बाजार में पेशगी अन्तर-राशि के रूप जमा की जानी चाहिए।

(७) **अधिकृत लेखकों** (Authorised Clerks) को अपने नाम से व्यवहार करने की इजाजत किसी भी हालत में नहीं मिलनी चाहिए।

(८) **स्थगित अंशों** (Deferred Shares) का व्यवहार बाजार में पूर्णरूप से बन्द कर देना चाहिए, क्योंकि इससे परिकल्पकों को प्रोत्साहन मिलता है।

(९) भावी सौदों पर बिक्री कर (Sales Tax) लगाने से परिकल्पना कम हो जायगी।

(१०) **ऋण देने पर प्रतिबन्ध**—परिकल्पकों को ऋण की सुविधायें उपलब्ध नहीं होनी चाहिये, क्योंकि इससे परिकल्पना को प्रोत्साहन मिलता है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट हो जाता है कि इस समिति की सिफारिशें व्यावहारिक हैं तथा भारत सरकार इनको कार्यान्वित करने में सक्रिय कदम उठा रही है।

प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) अधिनियम, १९५६
[Securities Contract (Regulation) Act, 1956]

गोरवाला कमेटी के सुझावों पर दिसम्बर १९५४ में प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) बिल प्रस्तुत किया गया। कमेटी ने कुछ बातों पर सरकार को अपनी इच्छानुसार कार्य करने का सुझाव दिया था, जिससे लोक सभा ने नवम्बर १९५५ में बिल को संसद की संयुक्त समिति को सौंपने का प्रस्ताव स्वीकार किया था तथा राज्य सभा ने दिसम्बर में इसका अनुमोदन किया।

पर्याप्त संशोधन के पश्चात् सितम्बर ४, १९५६ को दोनों सदनों द्वारा पास किये बिल पर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होकर उसको अधिनियम का स्थान मिल गया। इस प्रकार यह अधिनियम २० फरवरी सन् १९५७ से चलन में आया। इसका उद्देश्य प्रतिभूतियों के अवांछनीय सौदों को रोकना है। इस अधिनियम की प्रमुख विशेपतायें निम्नलिखित हैं :—

(१) **प्रतिभूतियों के सौदे**—अधिनियम हाजिर (Ready or Spot) सौदों के अलावा अन्य सौदों पर भी लागू होता है। हाजिर सौदे का अर्थ इस प्रकार दिया गया है—"हाजिर सौदे का अनुबन्ध वह है जिसके द्वारा प्रतिभूति तथा उसके मूल्य का भुगतान या तो उसी दिन हो जाय अथवा अनुबन्ध के दूसरे दिन हो जाय। यदि प्रतिभूति या उसके मूल्य का भुगतान डाक द्वारा करना है तो उपर्युक्त समय का हिसाब लगाकर डाक वाले दिनों का उचित समामेलन किया जायगा।"[1] अन्य सभी अनुबन्ध 'भावी सुपुर्दगी के अनुबन्ध' कहलाते है। आवश्यकता पड़ने पर सरकार को हाजिर सौदों के नियमन का अधिकार है। विकल्प व्यवहारों (Dealing in Options) का तारीख २० फरवरी सन् १९५७ से निषेध कर दिया गया है। केन्द्रीय सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह कुछ प्रतिभूतियों के सम्बन्ध में ऐसी घोषणा कर दे कि इनमें व्यवहार उन शर्तों के अधीन ही किये जा सकेंगे जोकि वह निर्धारित करे। यह नियम किसी राज्य या क्षेत्र में प्रतिभूतियो के अवाँछनीय सट्टे को रोकने के लिए बनाया गया है।

(२) **स्कन्ध-विपणियों को मान्यता देना**—इस अधिनियम के लागू हो जाने के बाद से केवल मान्यता प्राप्त (Recognised) स्कन्ध-विपणियाँ ही कार्य कर सकती हैं। इसके लिए केन्द्रीय सरकार को, निर्दिष्ट रूप में प्रार्थना-पत्र देना चाहिये। ऐसे प्रार्थना-पत्रों के सम्बन्ध की कार्यवाही प्रतिभूति अनुबन्ध (नियमन) नियम, १९५७ में बताई गई है। केन्द्रीय सरकार देश के विभिन्न भागों मे स्कन्ध-विपणियों को मान्यता प्रदान कर सकती है और निम्न के सम्बन्ध में शर्तें लगा सकती है :—(i) स्कन्ध-विपणि की सदस्यता के लिये योग्यता; (ii) अनुबन्ध करने का ढङ्ग और उसे कार्यान्वित (Enforce) करना; (iii) केन्द्रीय सरकार का प्रतिनिधित्व; और (iv) सदस्यों का हिसाब-किताब व अंकेक्षण।

उपरोक्त अधिनियम के अन्तर्गत अब निम्नलिखित ८ स्कन्ध-विपणियों को मान्यता प्रदान की जा चुकी है :—(१) बम्बई स्कन्ध-विपणि; (२) कलकत्ता स्कन्ध-विपणि; (३) मद्रास स्कन्ध-विपणि; (४) दिल्ली स्कन्ध-विपणि; (५) अहमदाबाद स्कन्ध-विपणि; (६) हैदराबाद स्कन्ध-विपणि; (७) इन्दौर स्कन्ध-विपणि; (८) बंगलौर स्कन्ध-विपणि।

(३) **सामयिक विवरण भेजना**—प्रत्येक मान्यता-प्राप्त स्कन्ध-विपणि को अपने कार्यों के सम्बन्ध में ऐसे सामयिक विवरण (Periodical Returns) बनाकर केन्द्रीय सरकार के पास भेजने पड़ेंगे, जोकि वह निर्दिष्ट करे और प्रत्येक मान्यता-प्राप्त स्कन्ध-विपणि को निर्दिष्ट विवरण देते हुए एक वार्षिक रिपोर्ट भी तैयार करनी पड़ेगी तथा उसकी एक प्रतिलिपि (Copy) केन्द्रीय सरकार के पास भेजनी पड़ेगी।

(४) **हिसाब-किताब एवं प्रलेख**—मान्यता-प्राप्त स्कन्ध-विपणि निम्न हिसाब-किताब

---

1 "Spot delivery contract means a contract which provides for the actual delivery of securities and the payment of a price therefore on the same day—or on the next day, the actual period taken for the despatch of the securities or the remittance of money therefore through the post being exclude from the computation of the period aforesaid if the parties to the contract do not not reside in the same town or locality." [Sec. 2 (i)]

११

भारत में राजकीय उपक्रमों की कार्य-प्रणाली एवं समस्यायें

(Working and Problems of State Enterprises in India)

प्रारम्भिक—राजकीय उपक्रमों की कार्य-प्रणाली

भारत में राजकीय उपक्रमों की स्थापना करते समय यह आशा की गई थी कि ये उपक्रम निजी क्षेत्र के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करेंगे। आर्थिक दृष्टि से ये इतना अधिक लाभ कमा लेंगे कि भावी विस्तार एवं विकास के लिये बाहरी साधनों से पूँजी लेने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होगी तथा मूल्य वृद्धि एवं मुनाफाखोरी को रोकेंगे। श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होगी तथा प्रबन्धकता का विकास होगा। आवश्यक तान्त्रिक ज्ञान एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करके कुशल प्रबन्धकों के अभाव को दूर करेंगे। किन्तु वर्तमान स्थिति हमारी आशाओं के ठीक विपरीत ही है। राजकीय उद्योगों में जैसे-जैसे विनियोजित राशि की मात्रा में वृद्धि होती जाती है वैसे-वैसे लाभ की मात्रा निरन्तर गिरती चली है। उदाहरण के लिये, जहाँ सन् १९६३-६४ में राजकीय उपक्रमों ने कुल मिलाकर ७५·६ करोड़ रुपये का शुद्ध लाभ कमाया था वहाँ सन् १९७०-७१ में उन्हीं राजकीय उपक्रमों को २·८६ करोड़ रु० की शुद्ध हानि उठानी पड़ी यद्यपि इनमें विनियोजित पूँजी की मात्रा इस अवधि के दौरान लगभग दुगुनी हो गई।

घाटे पर घाटा (सन् १९७१-७२ का प्रतिवेदन)[1]—सरकारी उद्योगों की प्रगति के सम्बन्ध में संसद में पेश की गई सन् १९७१-७२ की वार्षिक रिपोर्ट के अनुसार ९३ चालू तथा प्रोत्साहित सरकारी उपक्रमों का शुद्ध घाटा २·८६ करोड़ रु० से बढ़कर १८·९६ करोड़ रु० हो गया। इनमें से ५८ उपक्रमों को ९९·५५ करोड़ रु० का लाभ हुआ तथा ३५ उपक्रमों में ११८·६१ करोड़ रु० की शुद्ध हानि हुई। इस तरह आलोच्य वर्ष (१९७१-७२) में हानि में १६·१० करोड़ रु० की वृद्धि हुई। दूसरे शब्दों में सन् १९७०-७१ में शुद्ध हानि केवल २·८६ करोड़ रु० ही थी, जो बढ़कर सन् १९७१-७२ में १८·९६ करोड़ रु० तक पहुँच गई।

इस घाटे की पूर्ति तरह-तरह के नये कर लगाकर तथा पुराने करों की दरों में वृद्धि करके की जाती है। इसी प्रकार मूल्य वृद्धि एवं मुनाफाखोरी भी राजकीय उपक्रमों की स्थापना के पश्चात् घटने के स्थान पर निरन्तर बढ़ती हुई दिखाई दी है। राजकीय उपक्रमों में निर्मित अधिकतर सामग्री काले बाजार में बिकती है। जहाँ तक श्रमिकों की कार्यक्षमता का प्रश्न है वह भी बढ़ने की बजाय घटती ही जा रही है। आये दिन कोई न कोई बहाना लेकर राजकीय उपक्रमों में हड़तालें होती रहती हैं। १९ सितम्बर १९६८ को सरकारी कर्मचारियों ने एक व्यापक हड़ताल की थी, जिसे लेकर समूचे देश में उपद्रव हुए तथा सरकारी सम्पत्ति को करोड़ों रुपयों की क्षति पहुँची। सन् १९७२-७३ का वर्ष भी देशव्यापी हड़ताल का वर्ष रहा है। अनुशासनहीनता तथा लालफीताशाही निरन्तर बढ़ती जा रही है। प्रबन्ध के स्तर में भी दिनों-दिन ह्रास देखने

[1] **आर्थिक जगत**, २१ मई, १९७३

में आता है। **श्रीमती इन्दिरा गाँधी** के अनुसार, "परिणाम कुल मिलाकर हमारी आशाओं से कम रहे हैं। कुछ उपक्रमों ने अच्छा कार्य किया है, दूसरों ने आशा से कम कार्य किया है। बहुत से उदासीन (विपरीत) प्रगति करते रहते हैं।"[1]

वास्तव में आज भारतीय राजकीय उपक्रम समूचे राष्ट्र की चिन्ता का विषय बने हुए हैं। यही कारण है कि विभिन्न वर्गों द्वारा इनकी कटु आलोचना की जाती हैं। **डॉ० जी० आर० हाडा** के अनुसार, "राजकीय उपक्रमों की असफलताओं के प्रमुख कारण त्रुटिपूर्ण नियोजन, व्यावसायिक कुशलता का अभाव, रहतियों का भारी मात्रा में होना तथा कार्यशील व्ययों में वृद्धि है।" हमारी राय में राजकीय उपक्रमों के क्रियाशीलन में असफलताओं के निम्न कारण हो सकते हैं :—(१) निर्माण काल एवं लागत व्ययों में निर्धारित लक्ष्यों से कहीं अधिक वृद्धि होना, (२) त्रुटिपूर्ण नियोजन, (३) विस्तृत अनुत्पादक विनियोग, (४) रहतियों का भारी मात्रा में होना, (५) सम्भावित माँग तथा पूर्ति के सम्बन्ध में सही अनुमानों का अभाव, (६) प्रबन्ध एवं श्रमिकों के आपसी विवादों को निपटाने के लिये उचित मशीनरी का अभाव, (७) कर्मचारी प्रशासन सम्बन्धी उपयुक्त नीतियों का अभाव, (८) तान्त्रिक कुशलता के लिये विदेशियों पर अत्यधिक निर्भरता, (९) व्यावसायिक कुशलता का अभाव, (१०) अत्यधिक प्रारम्भिक व्ययों का होना, (११) कार्यशील व्ययों में वृद्धि होना, एवं (१२) नीतियों का त्रुटिपूर्ण होना तथा उन्हें देरी से कार्यान्वित करना आदि।

राजकीय उपक्रमों के प्रबन्ध से सम्बन्धित समस्यायें एवं उनके समाधान के लिये आवश्यक सुझाव
(Problems relating to the Management of State Enterprises and necessary Suggestions for their Solution)

गत कुछ वर्षों के राजकीय उपक्रमों से सम्बन्धित कई समस्यायें सामने आई हैं। कभी-कभी तो समाज के विभिन्न वर्गों द्वारा इन उपक्रमों के प्रबन्ध एवं व्यवस्था के प्रश्न को लेकर कटु आलोचनायें भी की गई हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से इन समस्याओं को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत विभाजित किया जा सकता है :—

(१) प्रबन्ध के प्रारूप की समस्या (Problem of Pattern of Management)—किसी भी राजकीय उपक्रम की स्थापना करते समय सबसे पहले सरकार के सामने यह समस्या उठती है कि उसके प्रबन्ध के लिये कौन-सा प्रारूप अधिक श्रेष्ठ रहेगा, अर्थात् उस उपक्रम को विभागीय आधार पर चलाया जाय अथवा निगम या कम्पनी के आधार पर अथवा अन्य किसी आधार पर। प्रत्येक प्रारूप के अलग-अलग गुण-दोष तथा उपयुक्तता है। इसका निर्णय इकाई के सन्दर्भ में इनका तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् ही किया जाना चाहिये। राजकीय उपक्रम के संगठन एवं प्रबन्ध का प्रारूप कोई भी क्यों न हो, हमारी राय में उसकी सफलता बहुत कुछ उसके उच्च अधिकारियों की कुशलता पर निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में निम्न बातों पर ध्यान दिया जाना चाहिये :—(i) बोर्ड के सदस्यों का चुनाव करते समय सार्वजनिक हित की भावना और उनकी कुशलता की ओर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिये। (ii) संचालकों का चुनाव, जहाँ तक सम्भव हो सके, उपक्रम में से ही किया जाना चाहिये। (iii) उपक्रम के संचालक मण्डल में वित्त विशेषज्ञ, प्रशासकीय कुशलता प्राप्त व्यक्ति, तकनीकी विशेषज्ञ तथा श्रमिकों

---

1 "The results have, on the whole, fallen below our expectations. Some undertkings have done extaremely well, others have faired poorly. Many are making indifferent progress."—**Smt. Indira Gandhi.**

के प्रतिनिधियों को सम्मिलित करना चाहिये। (iv) बोर्ड की सदस्यता संसद के सदस्यों, मन्त्रियों एवं विभागीय प्रतिनिधियों के लिये बन्द कर देनी चाहिये। (v) बोर्ड के संचालकों एवं अध्यक्ष को एक टीम (Team) के रूप में कार्य करना चाहिये। (vi) तुरन्त कार्यवाही को सम्भव बनाने के लिये एक नियमित रूप से अधिकार सौंपने की पद्धति का उपयोग किया जाना चाहिये। (vii) प्रवन्ध संचालक के पद पर एक योग्य, अनुभवी एव कुशल व्यक्ति की नियुक्ति की जानी चाहिए। (viii) अध्यक्ष का पद सेवानिवृत शासकीय अधिकारी या राजनैतिक नेता को पुरस्कारस्वरूप नहीं देना चाहिये। (ix) प्रबन्ध-संचालक को परामर्श देने हेतु एक 'सलाहकार समिति' का गठन किया जाना चाहिये।

(२) **प्रबन्ध के स्वामित्त्व की समस्या** (Autonomy of Management)—राजकीय उपक्रमों का प्रबन्ध इस प्रकार किया जाता है कि मानों ये भी किसी सरकारी विभाग का एक अंग है। अतएव इन उपक्रमों के प्रवन्ध में भी प्राय: वे सभी दोष आ जाते हैं जोकि सरकारी विभागों में पाये जाते हैं। दैनिक कार्यों में सरकारी हस्तक्षेप होने के कारण इनकी स्वतन्त्रता का हनन होने लगता है और इस प्रकार लालफीताशाही का बोलवाला हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उत्पादन पर गम्भीर प्रभाव पड़ता है। अतएव कुशलता को दृष्टि से इनको अपने कार्यों में पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिये, किन्तु साथ ही स्वशासन और नियन्त्रण के बीच एक उचित सन्तुलन भी विद्यमान होना चाहिये। इसके लिये निम्न सुझाव महत्त्वपूर्ण हैं :—(i) जहाँ तक व्यापक नीतियों का सम्बन्ध है, राजकीय उपक्रमों को सरकारी नियन्त्रण एवं संचालन में कार्य करना चाहिये। (ii) सरकार द्वारा निर्धारित नीतियों को सीमाओं के अन्दर इन्हें अधिक से अधिक स्वतन्त्रता मिलनी चाहिये। (iii) उच्च श्रेणी के कर्मचारियों को संयम से काम लेना चाहिए तथा छोटे-छोटे मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये। (iv) उपक्रम के मुख्य अधिकारियों को उपक्रम सम्बन्धी मामलों में विभागीय सचिवों तथा मन्त्रियों के परामर्श से तनिक भयभीत नहीं होना चाहिये। उन्हें, जहाँ तक सम्भव हो, नीति सम्बन्धी सुझाव देने का ही अधिकार होना चाहिये।

(३) **आन्तरिक प्रशासन की समस्या** (Problem of Internal Administration)—राजकीय उपक्रमों के समक्ष तृतीय महत्त्वपूर्ण समस्या आन्तरिक प्रशासन की समस्या है, क्योंकि प्रशिक्षित कर्मचारियों का सर्वथा अभाव पाया जाता है। इस सम्बन्ध में अनुमान समिति (Estimate Committee) का यह मत है कि सरकारी प्रशासकीय सेवा (I. A. S.) द्वारा सरकारी उपक्रमों का प्रबन्ध चलाने के लिये उपयुक्त कर्मचारी उपलब्ध नहीं होते। अतएव इनके आन्तरिक प्रशासन हेतु व्यापारिक एवं औद्योगिक व्यवहारों में निपुण व्यक्तियों की ही नियुक्ति की जानी चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव महत्त्वपूर्ण हैं :—(i) राजकीय उपक्रमों को निजी क्षेत्र से अनुभवी व्यक्तियों को आकर्षित करने के लिये प्रयत्न करना चाहिये। (ii) तकनीकी ज्ञान प्राप्त, अनुभवी एवं विशिष्ट दक्षता प्राप्त कर्मचारियों की सेवायें प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। (iii) राजकीय उपक्रमों के कर्मचारियों को अच्छा वेतन तथा नौकरी की आकर्षक शर्तें उपलब्ध होनी चाहिये, ताकि वे स्थायी रूप से कार्य कर सकें। (iv) कर्मचारियों का चुनाव करने के लिये 'भारतीय प्रशासनीय सेवाओं' (I. A. S.) और 'भारतीय विदेशी सेवाओं' (Indian Foreign Services) के स्तर की **'भारतीय व्यावसायिक एवं औद्योगिक सेवाओं'** (Indian Business and Industrial Services) को प्रारम्भ किया जाना चाहिये। (v) चुने हुए कर्मचारियों हेतु औद्योगिक प्रबन्ध सम्बन्धी प्रशिक्षण की व्यवस्था होनी चाहिये।

(४) **संसदीय नियन्त्रण की समस्या** (Problem of Parliamentary Control)—राजकीय उपक्रम के समक्ष चतुर्थ समस्या संसदीय नियन्त्रण की समस्या है। चूँकि राजकीय

उपक्रमों में जनता का धन लगा होता है अतएव संसद, जो कि जनता की प्रतिनिधि है, को यह अधिकार होता है कि वह इन उपक्रमों पर अपना नियन्त्रण रखे। भारतीय संसद राजकीय उपक्रमों के सम्बन्ध में निम्न रूपों में नियन्त्रण करती है :—(i) प्रश्नोत्तर काल में प्रश्न पूछ कर, (ii) कामरोको प्रस्ताव प्रस्तुत करके; (iii) अनुदान की वार्षिक माँग के समय बहस करके; (iv) निगम के अधिनियम पास करते समय अथवा उसमें संशोधन करते समय; (v) पब्लिक एकाउन्टस समिति की रिपोर्ट पर विवेचन द्वारा।

डॉ० अप्पलबी (Appleby) ने भारतीय संसद द्वारा राजकीय उपक्रमों पर रखे गये नियन्त्रण की आलोचना इन शब्दों में की है—"भारत में संसद सदस्य सरकार को बढ़ते हुये कार्यभार के अनुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान करने को तत्पर नहीं हैं। उन्हें सरकारी अफसरों पर घोर अविश्वास है, जिससे वे जल्दी उपयुक्त कदम उठाने की जिम्मेदारी उठाने को तैयार नहीं होते।" हमारी राय में उनकी यह आलोचना उनके स्वयं के देश में उपयुक्त हो, किन्तु भारत में, जहाँ आये दिन 'मूदड़ा काण्ड', 'सिराजुद्दीन काण्ड, 'भाकरा काण्ड' आदि जैसे घुटाले होते रहते हैं इस प्रकार की माँग करना न्यायोचित नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में भारत जैसे गरीब देश में जहाँ कि प्रजातन्त्रीय परम्परायें अभी प्रौढ़ावस्था को नहीं पहुँची हैं, सरकारी उपक्रमों पर संसद का नियन्त्रण होना आवश्यक है, ताकि जनता के धन को नष्ट होने से बचाय जा सके। हाँ, इन नियन्त्रणों में सुधार करने की आवश्यकता अवश्य प्रतीत होती है। इस सम्बन्ध में निम्न सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—(i) सरकारी उपक्रमों के वार्षिक प्रतिवेदन विस्तृत रूप में तैयार किये जाने चाहिए, ताकि सुगमता से बहस की जा सके। (ii) संसद में राजकीय उपक्रमों पर नियमित रूप से वाद-विवाद के आयोजन होने चाहिए। (iii) इन्हें व्यापारिक उपक्रमों के आधार पर अपने बजट तैयार करने चाहिए। (iv) पब्लिक एकाउन्ट्स समिति एवं एस्टीमेट समिति को उन पर पर्याप्त नियन्त्रण रखना चाहिए। (v) सभी उपक्रमों पर समान नियन्त्रण नहीं होना चाहिए। (vi) संसद को अन्य देशों के अनुभव से भी लाभ उठाना चाहिए और अपनी नियन्त्रण पद्धति पर समय-समय पर पुनर्विचार करते रहना चाहिए, ताकि वह अधिक प्रभावशाली एवं व्यावहारिक बन सके। (vii) ब्रिटेन की तरह हमारे देश में भी ऐसी प्रणाली अपनायी जानी चाहिए कि जिससे संसद में राजकीय उपक्रमों के प्रबन्ध अधिकारियों एवं कर्मचारियों के वेतन तथा उनकी नियुक्ति आदि के सम्बन्ध में विस्तृत प्रश्न न उठाये जा सकें। (viii) राजकीय उपक्रमों को दलबन्दी तथा राजनीति से पृथक रखना चाहिए।

(५) **जनता को सूचना देने की समस्या** (Problem of Public Accountability)—राजकीय उपक्रमों की पाँचवीं समस्या उनकी प्रगति के सम्बन्ध में जनता को सूचना देने की समस्या है। प्रजातन्त्र के अन्दर सार्वभौम सत्ता जनता के ही अन्दर सन्निहित रहती है, अतएव इनकी प्रगति के सम्बन्ध में जनता को सूचना देना आवश्यक होता है। वर्तमान व्यवस्था न केवल अपर्याप्त है, अपितु दोषों से भी परिपूर्ण है। संसद में राजकीय उपक्रमों की प्रगति के सम्बन्ध में जो प्रतिवेदन (Report) प्रस्तुत किया जाता है उसमें पर्याप्त सूचनाओं का सर्वथा अभाव रहता है। यही नहीं, यह प्रतिवेदन भारतीय जनता को आसानी से उपलब्ध तक नहीं हो पाता। अतएव इन समस्याओं को दूर करने के लिए निम्न सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—(i) राजकीय उपक्रमों की प्रगति से सम्बन्धित वार्षिक प्रतिवेदन, अंकेक्षण रिपोर्ट एवं अन्य रिपोर्टों को विस्तृत रूप में तैयार किया जाना चाहिए। (ii) उपक्रमों के लेखे, लागत लेखाकर्म प्रणाली के आधार पर रखे जाने चाहिए। (iii) आवश्यकतानुसार परामर्शदाता समितियों एवं उपभोक्ता समितियों की स्थापना की जाय और उनसे संसद के समक्ष अपनी सामयिक रिपोर्टें प्रस्तुत करने को कहा जाय। (iv) राजकीय उपक्रमों की प्रगति के सम्बन्ध में जनता में अधिक से अधिक प्रचार किया जाय। (v) प्रत्येक उपक्रम की गत वर्ष की गतिविधियों के सम्बन्ध में भी रिपोर्ट देनी चाहिए। चालू वर्ष की गतिविधियों का वर्णन करते समय अगले वर्ष की सम्भावित नीति और कार्यक्रम का भी उल्लेख किया जाना चाहिए।

(६) **अंकेक्षण की समस्या** (Problem of Audit)—सरकारी उपक्रमों के खातों के निरीक्षण एवं उनकी जाँच की रिपोर्ट संसद के समक्ष प्रस्तुत करने का कार्य-भार भारत के महा-

लेखा अंकेक्षक पर है। **डॉ० अप्पलबी** ने भारतीय अंकेक्षण पद्धति की आलोचना की है। उनके अनुसार, "महा लेखा अंकेक्षण की कार्यप्रणाली औपनिवेशिक शासन की दूषित विरासत है।" हम उनकी आलोचना से केवल इसी सीमा तक सहमत हैं कि अंकेक्षण की वर्तमान प्रणाली में पर्याप्त सुधार होने चाहिए। अंकेक्षण किसके द्वारा हो इस सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं, जैसे—(i) अंकेक्षण किसी बाहरी व्यक्ति द्वारा होना चाहिए, अथवा (ii) अंकेक्षण स्वयं महा लेखा अंकेक्षक के द्वारा हो, अथवा (iii) अंकेक्षण का कार्य किसी विशिष्ट एवं स्वतन्त्र संस्था द्वारा ही किया जाना चाहिए। रूस में सरकारी उपक्रमों के अंकेक्षण का कार्य एक विशिष्ट संस्था (Khozrachyot) द्वारा होता है। भारत में भी ऐसे ही स्वतन्त्र आयोग की स्थापना की जानी चाहिए।

(७) **लागत, लाभ एवं मूल्य नीति की समस्या** (Problem of Cost, Profit and Price Policy)—कुछ विद्वानों का कहना है कि सरकारी उपक्रम 'न लाभ न हानि' (No Profit No Loss) के सिद्धान्त पर चलने चाहिये। सिद्धान्त रूप में यह नीति भले ही अच्छी प्रतीत होती हो किन्तु व्यावहारिकता से यह परे है। हमारी राय में राजकीय उपक्रमों में स्थापित उद्योगों की उत्पादन लागत इतनी हो कि विनियोजित पूँजी पर समुचित दर से प्रत्याय मिलता रहे तथा उपभोक्ताओं को न्यायोचित मूल्य पर उत्पादित सामग्री उपलब्ध होती रहे। इसके अतिरिक्त इन उपक्रमों की क्षमता बढ़ाने के लिए निरन्तर प्रयत्न किये जाते रहने चाहिए। इस हेतु लागत लेखा-कर्म प्रणाली एवं व्यापारिक बजट बनाने पर जोर देना चाहिए। लाभों का अधिकांश भाग पुन: विनियोजित होते रहना चाहिए। इससे अतिरिक्त पूँजी लिए बिना ही उपक्रम का विस्तार करना सम्भव हो सकेगा। उत्पादन व्ययों में कमी करके कीमतों में कमी की जानी चाहिये तथा किस्म के सुधार की ओर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए। विभिन्न उद्योगों में उपभोक्ता सलाहकार समितियों की स्थापना की जानी चाहिये।

(८) **स्थान के चयन की समस्या** (Problem of Selection Site)—किसी राजकीय उपक्रम की किस स्थान पर स्थापना की जाय, यह भी एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। भारत में प्रारम्भ से ही राजकीय उपक्रमों के स्थान के चुनाव के सम्बन्ध में आवश्यक दूरदर्शिता की कमी के कारण परियोजना परिवेदना (Project Report) बनाने में बहुत सा धन व समय व्यतीत किया जाता रहा है। तकनीकी विशेषज्ञों द्वारा प्रस्तावित स्थान को राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति हेतु बदल दिया जाना एक सामान्य बात बन गई है। उदाहरण के लिए, एक नया तेल परिशोधक कारखाना जिसकी स्थापना पहले कुछ तकनीकी विशेषज्ञों की सम्मति में राजस्थान के सवाई माधोपुर नामक स्थान पर होने वाली थी, अब उसे कुछ राजनैतिक कारणों से हरियाणा राज्य में स्थापित करने का निर्णय लिया गया है। इसी प्रकार के और भी अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इस सम्बन्ध में हमारा सुझाव है कि किसी भी उद्योग की स्थापना के लिए स्थान का चयन करते समय विशुद्ध स्थानीयकरण के कारणों (जैसे—कच्चा माल, यातायात, गोदाम बैंक आदि) तथा तकनीकी कारणों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये।

(९) **सेविवर्गीय समस्या** (Personnel Problem)—राजकीय उपक्रमों के संचालन में एक विकट समस्या योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों की कमी रही है। इस सम्बन्ध में सेविवर्गीय समस्या पर सन् १९५४ में रंगून में हुये सेमिनार (Seminar) में निम्न निष्कर्ष निकाले गये थे: (१) उद्योगों की आवश्यकता को देखते हुए व्यक्तियों को प्रशिक्षित नहीं किया जाता रहा है। (२) कुशल एवं अनुभवी व्यक्तियों की कमी की पूर्ति बृहत स्तर में विकसित देशों से भर्ती करके नहीं की जा सकती है। (३) राजकीय उपक्रमों में बिना प्रशासकों के विकास के प्रबन्ध में सुधार सम्भव नहीं है। अतएव इस सम्बन्ध में हमारा यह सुझाव है कि उपर्युक्त सेमिनार के निष्कर्षों को ध्यान में रखते हुए इस महत्त्वपूर्ण मानवीय समस्या के समाधान की दिशा में प्रभावी कदम उठाये जाने चाहिये। विदेशों से प्रशिक्षित व्यक्तियों का आयात करना एक अल्पकालीन समाधान है। हमें तो अपने यहाँ ही प्रशिक्षण की सुविधाओं का विकास करके स्थायी रूप में इस कमी की पूर्ति करनी होगी।

(१०) **औद्योगिक सम्बन्धों की समस्या** (Problem of Industrial Relations)—भारत में राजकीय उपक्रमों की स्थापना एवं उनका विकास करते समय यह आशा व्यक्त की गई थी कि इससे औद्योगिक सम्बन्ध काफी मधुर होंगे और कोई ऐसी समस्या नहीं रहेगी, क्योंकि

कर्मचारियों को यह भावना बल देगी कि उद्योग जनता का है, समस्त लाभों पर जनता का ही अधिकार है और इस प्रकार वे उद्योग को अपनेपन की भावना से चलाते रहेंगे, किन्तु ये आशायें धूमिल होकर आज यह एक गम्भीर समस्या वन गई। राजकीय केन्द्रीय उपक्रमों में समय-समय पर हुई विभिन्न हड़तालें (जैसे—भिलाई इस्पात संयन्त्र, आकाशवाणी, रेलवे, जीवन बीमा निगम, वायु निगम, आदि), 'विरोध-प्रदर्शन', 'नियमानुसार कार्य' (Work to Rule), 'कलम रोको हड़ताल' (Pen Strike), 'धीरे-धीरे कार्य करो' आदि बातें इस बात की अभिपुष्टि करती हैं कि श्रमिकों तथा श्रम-सङ्गठनों के व्यवहार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ है। हमारी सम्मति में इन समस्याओं को जन्म देने वाले मूल कारण निम्न रहे हैं—(अ) सरकार से यह आशा करना कि वह एक आदर्श सेवानियोजक (Ideal Employer) हो, (ब) औद्योगिक झगड़ों के पीछे राजनीतिक उद्देश्यों का होना, तथा (स) सामूहिक सौदेबाजी की शक्ति को व्यावहारिक सीमाओं में न बाँधना। इस समस्या के समाधान में श्रम आयोग तथा प्रशासनिक सुधार आयोग (Administrative Reforms Commission) दोनों के विचारों में समानता प्रतीत होती है और वे इस व्यावहारिक सुझाव पर अधिक जोर देते हैं कि न केवल सरकार ही आदर्श सेवानियोजन है अपितु श्रमिक वर्ग भी आदर्श श्रमिक होना चाहिए।

(११) **अन्य समस्यायें**—(i) प्रबन्ध, सङ्गठन एवं प्रशासन के सम्बन्ध में समान नीति का प्रयोग नहीं किया जाता है। (ii) वरिष्ठ अधिकारियों में सहकारिता तथा उत्तरदायित्व की भावना का अभाव है। अधिकारी वर्ग अपने उत्तरदायित्वों को दूसरो पर टालने का प्रयत्न करते हैं। (iii) केन्द्रीय तथा क्षेत्रीय इकाइयो के मध्य तारतम्य का अभाव है। (iv) प्रत्येक किस्म के कार्य में अनावश्यक वैधानिक कार्यवाहियों की भरमार है। (v) सरकारी कर्मचारियों में कार्य के प्रति शिथिलता है तथा कार्यालयों में लालफीताशाही का बोलबाला है। (vi) सरकारी उपक्रम अपनी विद्यमान उत्पादन क्षमता से कम उत्पादन करते हैं। (vii) सरकारी उपक्रमों में दिनोंदिन विनियोगों की मात्रा में वृद्धि होती जा रही है। गत दस वर्षों में विनियोग की मात्रा लगभग दुगनी से भी अधिक हो गई है। इसके विपरीत लाभ का तो कहना ही क्या, सरकारी उपक्रम कुल मिलाकर घाटे पर चल रहे हैं। आखिर कब तक हम इन अलाभकारी विनियोगों में धन लगाते रहेंगे? (viii) सरकारी उपक्रमों में कार्य करने वाले श्रमिक कर्मचारियों में अनुशासनहीनता दिनोंदिन बढ़ती जा रही है। इसका प्रतिकूल प्रभाव उत्पादकता पर पड़ रहा है। (ix) यद्यपि सरकारी उपक्रमों की स्थापना कल्याणकारी कार्य करने के लिये की जाती है किन्तु वे इन कार्यों पर बहुत कम व्यय करते हैं। (x) सरकारी उपक्रमों में अनुसंधान सम्बन्धी कार्यों पर कम ध्यान दिया जाता है। (xi) सरकार की अनिश्चित एवं दोषपूर्ण नीति सरकारी उपक्रमों की प्रगति में बाधक सिद्ध हुई है। (xii) सरकारी क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र के मध्य बढ़ती हुई प्रतियोगिता धीरे-धीरे गम्भीर रूप धारण करती जा रही है। (xiii) सरकारी उपक्रमों मे एकाधिकार के दोष निरन्तर बढ़ते जा रहे हैं। (xiv) भारत में स्थित राजकीय उपक्रम धीरे-धीरे दूषित राजनीति के शिकार बनते जा रहे हैं।

राजकीय उपक्रमों की प्रगति के लिये सरकार द्वारा उठाये गये कदम

सरकारी उपक्रमों से सम्बन्धित उपर्युक्त दोषों को दूर करने एवं इनकी दशा को सुधारने हेतु भारत सरकार द्वारा नियुक्त विभिन्न समितियों ने समय-समय पर अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत करके विभिन्न सुझाव दिये हैं। ये समितियाँ हैं: (१) केन्द्रीय मन्त्रालय की उत्पादन समिति, १९५० (२) लोकसभा की अनुमान समिति, १९५४-५५; (३) कृष्णा मेनन समिति, १९५९; (४) योजना आयोग, १९५२ एवं १९५६; (५) छागला कमीशन, १९५८; (६) दिसम्बर १९५७, १९५९ एवं १९६५ में हुई प्रबन्ध गोष्ठियों; (७) मेहता समिति; (८) दो अमरीकन विशेषज्ञों—प्रो० गेलब्रेथ तथा डॉ० अप्पलबी की समिति; (९) लोकसभा की अनुमान समिति; तथा (१०) **प्रशासन सुधार आयोग**, १९६७ (Administrative Reforms Committee)। प्रशासन सुधार आयोग ने अपनी २२० पृष्ठों की रिपोर्ट में बतलाया है कि सरकारी उपक्रमों में विनियोजित धनराशि सन् १९५०-५१ की तुलना में १०० गुनी हो गई है और इन उपक्रमों में प्रतिवर्ष लगभग ५०० करोड़ रु० का घाटा होता है। अतएव राजकीय उपक्रमों की कार्य-प्रणाली सुधारने की तुरन्त आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में प्रशासन सुधार आयोग ने अनेक महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये हैं।

इनमें से कई सुझावों को तो भारत सरकार ने स्वीकार कर लिया है तथा कुछ अभी तक उसके विचाराधीन हैं। इनमें से प्रमुख सुझावों का सारांश निम्नांकित है :—

(१) महत्त्वपूर्ण उद्योगों (जैसे—लोहा-इस्पात खान, पैट्रोल, कोयला, परिवहन, उर्वरक, रसायन आदि) में बड़े-बड़े वैधानिक क्षेत्रीय निगम स्थापित किए जाने चाहियें। ये निगम सम्बन्धित उद्योगों को बढ़ावा देने, विकास करने, शोध सम्बन्धी परामर्श देने, प्रशिक्षण व विक्रय सम्बन्धी सुविधा प्रदान करें।

(२) राजकीय उद्योगों के कार्यालयों का पुनर्गठन किया जाना चाहिये, जिससे ये प्रभावशाली ढंग से कार्य कर सकें।

(३) सार्वजनिक उपक्रमों की कार्यविधियों पर बहस करने के लिये संसद को अलग से समय निश्चित करना चाहिये।

(४) किसी भी परियोजना को स्वीकार करने से पूर्व योजना आयोग द्वारा उसके व्यावहारिक पहलू की जाँच की जानी चाहिये।

(५) किसी भी परियोजना के स्वीकृत होने पर उसका वास्तविक निर्माण कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व निर्माण कार्यक्रम का विधिवत् एवं पूर्ण नियोजन किया जाना चाहिये।

(६) राजकीय उपक्रमों के मण्डलों में नियुक्ति करते समय उक्त उपक्रम में पहले से ही कार्य करने वाले अधिकारियों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये। नियुक्ति का आधार कार्य अनुष्ठान (Work-Performance) होना चाहिये।

(७) सरकारी उद्योगों में छोटे से छोटे कर्मचारी एवं बड़े से बड़े अधिकारी की नियुक्ति करते समय व्यावसायिक आधार ध्यान में रखना चाहिये।

(८) राजकीय उपक्रमों पर लागू होने वाले श्रम-कानूनों को निजी उपक्रमों पर लागू श्रम कानूनों के समान होने की आवश्यकता नहीं है।

(९) राजकीय उद्योगों का प्रबन्ध मण्डल, जहाँ तक सम्भव हो सके, मिला-जुला होना चाहिये। अधिकतर नियुक्तियाँ पूर्णकालिक नहीं होनी चाहिये।

(१०) श्रम-मामलों पर प्रबन्ध से बातचीत करने के लिये श्रम-परिषदों, जिनकी सदस्य संख्या पहले से ही निर्धारित हो, की स्थापना की जानी चाहिये।

(११) सभी राजकीय उपक्रमों के लिये एक समान ऋण-पूँजी अनुपात को अपनाने की आवश्यकता नहीं है।

(१२) राजकीय उपक्रमों को धन दिये जाने की प्रशासनिक विधियों में उदारता लाई जानी चाहिये।

(१३) यदि किसी राजकीय उपक्रम को धन प्राप्त करने में किसी प्रकार की कठिनाई का अनुभव हो तो सरकार को उसकी गारण्टी देने के लिये तत्पर रहना चाहिये।

(१४) राजकीय उपक्रमों के उद्देश्यों एवं उत्तरदायित्वों के सम्बन्ध में सरकार को एक विस्तृत एवं स्पष्ट विवरण तैयार करना चाहिये।

(१५) राजकीय उपक्रम के प्रत्येक क्षेत्र में 'उपभोक्ता सलाहकार परिषदों' का गठन किया जाना चाहिये, जो सरकार को समय-समय पर उपभोक्ताओं के हितों को सुरक्षित रखने की सलाह प्रदान करें।

(१६) प्रत्येक राजकीय उपक्रम में आन्तरिक अंकेक्षण को कर्मचारी प्रक्रिया के रूप में प्रभावी ढंग से सङ्गठित किया जाना चाहिये।

(१७) चार या पाँच अंकेक्षण मण्डलों की स्थापना की जानी चाहिये। प्रत्येक मण्डल निर्दिष्ट क्षेत्रीय निगमों से व्यवहार करेगा। ये मण्डल 'कण्ट्रोलर एण्ड ऑडीटर जनरल' के सामान्य निरीक्षण में कार्य करेंगे।

(१८) अंकेक्षण मण्डल की रिपोर्ट संसद के समक्ष प्रस्तुत की जानी चाहिये।

(१९) सार्वजनिक उद्योग में प्रबन्धक तथा उनमें कार्य करने वाले श्रमिकों में उद्योग

को स्वार्थ सिद्धि और व्यक्तिगत लाभ का साधन न बनाना चाहिये, वरन् सरकारी उपक्रमों को जनता की निजी सम्पत्ति मानकर कार्य करना चाहिये।

(२०) किसी भी उद्योग को अधिकाधिक कुशलतापूर्वक एवं कार्यक्षमतापूर्ण ढंग से संचालित करने की सर्वोत्तम विधि यही है कि उसे अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाय और फिर उसे अपने कार्य के लिये उत्तरदायी ठहराया जाय। सरकारी उपक्रमों को कार्य-प्रणाली में सुधार करने के लिये इस आयोग ने लगभग ६० सुझाव दिये हैं।

अन्य सुझाव (Other Suggestions)—

प्रशासन सुधार आयोग द्वारा किये गये उपर्युक्त सुझावों के अतिरिक्त इनकी कार्य-कुशलता एवं संचालन में सुधार हेतु निम्न सुझाव भी दिये जा सकते हैं:—(१) राजकीय उपक्रमों का प्रबन्ध एक संचालक मण्डल करे, जिसमें (i) वित्त विशेषज्ञ, (ii) तकनीकी विशेषज्ञ, (iii) उत्पादन विशेषज्ञ, तथा (iv) श्रमिकों के प्रतिनिधि हों। (२) इन उपक्रमों की कार्यकुशलता सम्बन्धी विस्तृत जाँच प्रति वर्ष करायी जाय तथा दोषी अधिकारियों को सख्त से सख्त दण्ड दिया जाय। (३) नीतियों के निर्धारण में पूर्ण सावधानी रखी जाय। (४) उपक्रमों की प्रगति के सम्बन्ध में जनता में अधिक प्रचार किया जाय इनकी प्रगति सम्बन्धी प्रतिवेदनों (Reports) का प्रकाशन विस्तृत रूप में किया जाय। (५) उपक्रमों को दूषित राजनीति से सर्वथा दूर रखा जाय। (६) इनमें स्थापित बहुमूल्य यन्त्रों की उत्पादन क्षमता का पूर्ण उपयोग किया जाय। (७) जन-कल्याण के कार्यों पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया। (८) लेखा-पुस्तकों, लागत पुस्तकों व प्रबन्ध लेखों की जाँच विशेषज्ञों से करायी जाय। (९) सरकारी उपक्रमों में उत्पादकता को सर्वोच्च प्राथमिकता दी जाय। वे निजी क्षेत्र के उपक्रमों के लिये आदर्श बनें। (१०) जनता का अधिकाधिक सहयोग लिया जाय। (११) आधुनिक एवं नवीनतम प्रविधियों, प्रणालियों तथा पद्धतियों का उपयोग किया जाय। (१२) इनमें 'कार्य प्रथम तथा व्यक्ति द्वितीय' के सिद्धान्त का पालन किया जाय। कर्मचारियों की नियुक्ति कार्य की प्रकृति तथा उनकी व्यक्तिगत कुशलता के आधार पर होनी चाहिये। (१३) कर्मचारियों की संख्या में अनावश्यक रूप में वृद्धि न की जाय। (१४) सरकारी उपक्रमों का अंकेक्षण महालेखा अंकेक्षक द्वारा कराया जाय। (१५) भारत एक गरीब राष्ट्र है। अतएव इसमें 'सेवा' के साथ-साथ 'लाभ' पर भी ध्यान दिया जाय। हम अब अधिक समय तक 'सफेद हाथियों' को पालने की स्थिति में नहीं है। (१६) आँख बन्द करके उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करना अथवा नये-नये सरकारी उपक्रमों की स्थापना करना बन्द किया जाय क्यों कि इससे धीरे-धीरे निजी क्षेत्र में से साहस का तत्त्व ही समाप्त होता जा रहा है। वह अब विनियोगों का विस्तार करने की अपेक्षा निजी क्षेत्र कम करने की नीति का पालन कर रहा है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. भारत में राजकीय उपक्रमों की क्या प्रमुख समस्यायें हैं? उनको हल करने के लिये सुझाव दीजिये।
२. भारत में राजकीय उपक्रमों की क्या समस्यायें हैं? (नागपुर, १९६२)
३. भारत में राजकीय उपक्रमों की कार्य-प्रणाली एवं समस्याओं पर एक निबन्ध लिखिए।
४. राज कीय उपक्रमों की प्रबन्ध व्यवस्था को सुधारने एवं इनके दोषों को दूर करने के लिये प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा दिये गये प्रमुख सुझावों का वर्णन कीजिये।
५ भारत में लोक उद्योगों के कार्यकलाप पर संसदीय नियन्त्रण पर एक युक्तिसंगत टिप्पणी लिखिये। (भागलपुर, १९७०)
६. भारत में राजकीय उपक्रमों पर संसदीय नियन्त्रण पर अपने विचार प्रकट कीजिये। (आर० बी०, १९७१)
७. भारत में राजकीय उपक्रमों की प्रमुख समस्याओं का परीक्षण कीजिये। उनके समाधान के लिये अपने सुझाव दीजिये। (राजस्थान, १९७०)
८. भारत में लोक उद्योगों की आधारभूत समस्याओं का विवेचन कीजिये। (भागलपुर, १९६९)

१२

वैज्ञानिक प्रबन्ध

(Scientific Management)

प्रारम्भिक—वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ (Meaning of Scientific Management)

'वैज्ञानिक प्रबन्ध' निम्न दो शब्दों के योग से बना है—'विज्ञान' और 'प्रबन्ध'। भली प्रकार इसका अर्थ समझने के लिये हमको विज्ञान शब्द के पुन: दो खण्ड करने होंगे—'वि + ज्ञान'। 'वि' का अर्थ अधिक अथवा योग से है और 'ज्ञान' का अर्थ हमारी साधारण जानकारी से है। इस प्रकार हमारे अर्थ में विज्ञान साधारण ज्ञान की अभिवृद्धि है, जो नये प्रयोगों द्वारा हमारे सामान्य ज्ञान में जुड़ जाती है। 'प्रबन्ध' किसी भी कार्य को सुव्यवस्थित ढंग से चलाने की क्रिया को कहते हैं। इन दोनों शब्दों के समावेश से स्वत: ही एक नये शब्द 'लक्ष्य' का बोध होता है। किसी भी कार्य को अभिवर्द्धित ज्ञान के साथ सुव्यवस्थित रूप से चलाने की आवश्यकता तभी अधिक पड़ती है जब हमारे सामने कोई निश्चित लक्ष्य हो और हम उसे प्राप्त करना चाहते हों। **इस प्रकार किसी भी कार्य को अभिवर्द्धित ज्ञान की सहायता से योजनाबद्ध रूप से किसी लक्ष्य की प्राप्ति के लिये सुव्यवस्थित रूप से चलाने को वैज्ञानिक प्रबन्ध कहते हैं।** उदाहरणार्थ; यदि किसी कारखाने में श्रमिकों की भर्ती तथा कार्य का वितरण बिना किसी नियम के मनमाने ढंग से किया जाय तो ऐसे श्रमिकों से अधिक उत्पादन की आशा करना व्यर्थ होगा। किन्तु यदि वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर उनकी भर्ती की जाय; उनकी रुचि, शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के अनुसार उन्हें कार्य सौंपा जाय तथा उनको पूर्व प्रशिक्षण दिया जाय तो कार्यक्षमता निश्चित रूप से अधिक होगी। इस प्रकार अधिक उत्पादन की आशा सहज ही में की जा सकती है। यह प्रणाली वैज्ञानिक प्रबन्ध कहलायेगी।

वैज्ञानिक प्रबन्ध की परिभाषायें
(Definitions of Scientific Management)

विभिन्न विद्वानों ने वैज्ञानिक प्रबन्ध की परिभाषायें अपने देश की व्यापारिक स्थिति के अनुसार भिन्न-भिन्न दी हैं। कुछ प्रमुख परिभाषायें इस प्रकार हैं :—

श्री एच० एस० पर्सन के अनुसार, "वैज्ञानिक प्रबन्ध सामूहिक प्रयत्नों की पद्धति एवं सङ्गठन प्रणाली है, जोकि वैज्ञानिक अन्वेषण एवं विश्लेषण से निकाले गये सिद्धान्तों अथवा नियमों पर आधारित है............।"[1] दूसरे शब्दों में, "निरीक्षण, विश्लेषण, प्रयोग द्वारा

---

[1] "Scientific Management characterises that form of organisation and procedure in purposive collective effort which rests on principles or laws designed by the process of scientific investigation and analysis; instead of on tradition or on policies determined empirically and casually by the process of trial and error."—**H. S. Person.**

कारण-परम्परा पर आधारित किसी भी पद्धति का उत्पादन-क्रियाओं में उपयोग करने को वैज्ञानिक प्रबन्ध कहते हैं।"

श्री सेल्डन के अनुसार, "वैज्ञानिक प्रबन्ध किसी उद्योग में उसके प्रबन्धकों के द्वारा निर्धारित योजना को इस प्रकार चलाता है, जिससे उसके उद्देश्य की पूर्ति सुविधा के साथ की जा सके।"

लॉयड डॉड एवं लिच के अनुसार, "विस्तृत अर्थ में वैज्ञानिक प्रबन्ध कार्य प्रणाली, श्रमिकों, कच्चे मालों, यन्त्रों तथा पूँजी के प्रयोग से अधिकतम लाभ प्राप्त करना चाहता है और वह (वैज्ञानिक प्रबन्ध) उत्पादन की समस्त क्रियाओं पर कारखाने के स्थानीयकरण एवं संरचना से लेकर वस्तुओं के अन्तिम वितरण तक नियन्त्रण करता है।"

श्री० एफ० डब्लू० टेलर के अनुसार, "वैज्ञानिक प्रबन्ध, आपके यह जानने की कला है कि आप लोगों से यथार्थ में क्या कराना चाहते हैं तथा यह देखना चाहते हैं कि वे उसको सुन्दर से सुन्दर तथा सस्ते से सस्ते ढङ्ग से करें।"[1]

श्री जौन्स के अनुसार, "वैज्ञानिक प्रबन्ध प्रशासन-सम्बन्धी नियमों का समूह है, ताकि सङ्गठन में नवीन अनुशासन का समन्वय नियन्त्रण तथा उत्पादन-पद्धति से कराया जा सके।"[2]

श्री डीमर के अनुसार, "वैज्ञानिक प्रबन्ध से आशय प्रबन्ध के क्षेत्र में दशाओं, पद्धतियों एवं प्रविधियों से सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त करना व उनको समायोजित करके उपयोग करने के लिये एक संगठित सिद्धान्तों के रूप में विकसित करना है।"[3]

श्री हेनरी पी० केन्डाल (H. P. Kendall) ने निम्न तीन प्रकार के प्रबन्ध बतलाये हैं और इन तीनों ही प्रकारों का कार्यक्षमता पर विभिन्न प्रभाव होता है :—(i) अव्यवस्थित प्रबन्ध (Unsystematised Management); (ii) व्यवस्थित प्रबन्ध (Systematised Management); एवं (iii) वैज्ञानिक प्रबन्ध (Scientific Management)।

प्रबन्ध का उपरोक्त वर्गीकरण आय के आधार पर नहीं, बल्कि कुशलता के आधार पर है। 'अव्यवस्थित प्रबन्ध' में कार्य-पद्धति दोषपूर्ण होती है तथा इस प्रकार के प्रबन्ध में समय, स्थान तथा पूँजी का ह्रास होता है। 'व्यवस्थित प्रबन्ध' में कार्य सुगमता से होता है, किन्तु केन्द्रीय नियोजन तथा नियन्त्रण के न होने से श्रमिकों की कुशलता का उपयोग नहीं होता। किन्तु, 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' दोषरहित है, क्योंकि प्रत्येक क्रिया मुक्त एवं विवेक द्वारा होती है तथा श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है।

सामान्य शब्दों में वैज्ञानिक प्रबन्ध में अनुशासन, प्रयोग तथा विवेक द्वारा उत्पादन के

---

1 "Management is the art of knowing exactly what you want men to do and then seeing that they do in the best and cheapest way."

—**F. W. Taylor.**

2 "A body of rules together with their appropriate expression in physical and administrative mechanisms and specialised executives to be operated in co-ordination as a system for the achievements of a new strictness in the control and process of production."— **Jones.**

3 "The obtaining, digesting and arranging of all obtaining knowledge relating to the conditions, methods, processes. relation and in the field of management and developing these into an organised body of principles."

—**Diemer.**

पृथक्-पृथक् अङ्गों का समीकरण करके उनका इस प्रकार उपयोग करना है जिससे उद्योगपति, श्रमिक, शक्ति, गतिशीलता आदि का समन्वय हो सके तथा सभी वर्गों को आवश्यक लाभ हो।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के लक्षण अथवा विशषतायें
(Characteristics of Scientific Management)

उपरोक्त परिभाषाओं का भली प्रकार अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वैज्ञानिक प्रबन्ध के निम्नलिखित लक्षण अथवा विशेषतायें हैं :—

(१) **निश्चित योजना**—वैज्ञानिक प्रबन्ध का सबसे मुख्य एवं प्रधान लक्षण यह है कि प्रत्येक कार्य को आरम्भ करने से पूर्व निश्चित योजना (A Definite Plan) तैयार की जाती है। सारा कार्य उसी योजना के अनुसार ही सम्पन्न होता है।

(२) **वैज्ञानिक विश्लेषण** (Analysis) **तथा प्रयोग** (Experiment)—किसी भी योजना को कार्यान्वित करने से पूर्व कुशल प्रबन्धक उसके अङ्गों का वैज्ञानिक विश्लेषण एवं प्रयोग करके देख लेते हैं कि उसकी उपयोगिता तथा उपयुक्तता किस सीमा तक पर्याप्त होगी।

(३) **नियमों का समूह**—प्रबन्ध की वैज्ञानिक व्यवस्था के लिये निश्चित की हुई योजना के अनुसार ही नियमों का निर्माण होता है तथा उनका उपयोग प्रायः सामूहिक रूप से किया जाता है। नियमों का समूह (A Set of Rules) पहले से ही तैयार करने में वैज्ञानिक प्रबन्ध को लागू करने में सरलता रहती है।

(४) **सामयिक प्रयोग** (Timely Study)—वैज्ञानिक प्रबन्ध में समय-समय पर उत्पन्न होने वाली समस्याओं का हल तुरन्त उचित प्रयोगों द्वारा निकाला जाता है। अतएव इसमें सामयिक प्रयोग होते रहते हैं।

(५) **मितव्ययिता**—वैज्ञानिक प्रबन्ध की आधारशिला ही मितव्ययिता है। इसको लागू करने के लिये उत्पादन के समस्त अनावश्यक तत्त्वों का विनाश किया जाता है और यह प्रयत्न किया जाता है कि न्यूनतम व्यय पर अधिक से अधिक उत्पादन हो।

(६) **कार्यक्षमता में वृद्धि**—मितव्ययिता के साथ-साथ श्रमिकों की कार्यक्षमता का भी ध्यान रखा जाता है। ऐसी कोई भी मितव्ययिता की योजना लागू नहीं की जाती जिससे कि कार्यक्षमता का हनन होता है। अतएव वैज्ञानिक प्रबन्ध की प्रत्येक योजना में श्रमिकों की कार्य-क्षमता का सबसे अधिक ध्यान रखा जाता है।

(७) **उत्तरदायित्व की सीमा**—पहले छोटी मात्रा में उत्पादन होने के कारण सारा उत्तरदायित्व एक ही व्यक्ति के कन्धों पर होता था। किन्तु आज बड़े पैमाने पर उत्पादन होने के साथ-साथ उत्तरदायित्व भी बढ़ गया है। अतएव इसकी सीमा को निर्धारित करना तथा इसमें क्रमिक कमी लाना वैज्ञानिक प्रबन्ध की एक विशेषता है। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रत्येक व्यक्ति का सीमित उत्तरदायित्व ही होता है।

(८) **दृढ़ता**—नियमों का सही रूप से पालन करने के लिये प्रबन्धक को अपने व्यवहार में दृढ़ता (Firmness) लाना आवश्यक होता है और एक बार दृढ़ रुख अपनाये जाने के पश्चात् फिर उसमें किसी प्रकार का अनावश्यक परिवर्तन नहीं किया जा सकेगा।

(९) **निश्चित उद्देश्य**—प्रबन्धक के सामने कार्य का संचालन करने से पूर्व एक निश्चित उद्देश्य (Definite Object) होना आवश्यक होता है और उसके सारे प्रयत्न उसकी पूर्ति के लिये ही होते हैं।

(१०) **सहकारिता**—प्रबन्ध में सफलता लाने के लिये यह आवश्यक है कि श्रम व पूँजी में संघर्ष के स्थान पर स्नेह की भावना हो। उनके विचारों में एकता हो, जिससे कार्य में सामूहिक प्रवृत्ति की भावना आ सके। सहकारिता का मुख्य उद्देश्य 'सामूहिक प्रयत्नों के

द्वारा सामूहिक हित' है। इसमें निजी स्वार्थ, व्यक्तिवाद, सब मेरे लिये ही, आदि दूषित भावनाओं के लिए कोई भी स्थान नहीं होता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध का प्रादुर्भाव—ऐतिहासिक झलक
(Evolution of Scientific Management—A Historical View)

वैज्ञानिक प्रबन्ध न कोई अन्वेषण है और न एक स्थायी वस्तु ही। इसमें भी समयानुसार परिवर्तन होते रहते हैं। इसमें परम्परागत प्रणाली का कोई स्थान नहीं है। इसका एकमात्र लक्ष्य श्रम-व्यय को घटाना तथा यन्त्रों का अधिकतम् उपयोग करते हुए कार्यक्षमता में वृद्धि करना है, ताकि कम से कम उत्पादन-मूल्य में अधिकतम् वस्तुओं का उत्पादन हो सके।

इस पद्धति की विचारधारा सर्वप्रथम अमेरिका के श्री एफ० डब्ल्यू० टेलर ने प्रस्तुत की। इसीलिये उन्हें इस विचारधारा का प्रवर्तक कहा जाता है। टेलर महोदय ने अपना जीवन सन् १८७८ में अमेरिकन मिटवेल स्टील कम्पनी में एक सामान्य श्रमजीवी के रूप में प्रारम्भ किया, किन्तु क्रमशः प्रगति करते-करते ६ वर्ष के उपरान्त अर्थात् सन् १८८४ में उसी कम्पनी में मुख्य इन्जीनियर बन गये। अपने अनुभव से वे इस निर्णय पर पहुँचे कि श्रमिकों की उत्पादन-क्षमता बहुत कम है, जिसको बढ़ाने के लिये वैज्ञानिक पद्धतियों का प्रयोग अनिवार्य है। सन् १८६५ में उन्होंने भागिक दर पद्धति (A Piece Rate System) पर एक निबन्ध लिखा, जिसमें उन्होंने श्रमिकों की कार्यक्षमता तथा वेतन की वृत्ति पर प्रकाश डाला। इसके बाद सन् १६०३ में उन्होंने 'दूकान का प्रबन्ध' (Shop Management) पर एक निबन्ध लिखा। इसके पश्चात् सन् १६११ में उन्होंने एक निबन्ध 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' के नाम से प्रकाशित किया। परन्तु सन् १६१५ में टेलर की मृत्यु के पश्चात् 'वैज्ञानिक आन्दोलन' धीमा पड़ गया।

सन् १६१८ में रूस में लनिन के द्वारा इसको अपनाया गया और यह आदेश प्रसारित किया गया कि "हमको अपने उद्योगों में टेलर के अध्ययन तथा शिक्षा को प्रसारित करना चाहिए तथा उसकी विधिवत् क्रियाओं को पूर्णरूप से अपनाना चाहिये।" सन् १६२६-३० की विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी ने व्यापारियों एवं उद्योगपतियों की जड़ें हिला दीं। सन् १६३० में श्रमिकों के वरोध के कारण इनकी प्रगति में बाधा पड़ी। फ्रांस ने वैज्ञानिक प्रबन्ध में मनोविज्ञान को मिलाकर इसको एक नवीन रूप प्रदान किया। इङ्गलैण्ड ने उसको उसी प्रकार से स्वीकार किया। इसके पश्चात् इसको यूरोप के अन्य देशों, एशिया तथा जापान में अपनाया गया। वैज्ञानिक प्रबन्ध के मार्ग-दर्शकों में सर्वश्री गैंट (H. L. Gantt), गिलब्रेथ (F. Gilbreth), एच० एस० पर्सन (H. S. Person), एच० इमर्सन (H. Emerson), मोरिस कुक (Morris Cooke), एच० पी० कैण्डाल (H. P. Kendall), फेयल (Fayol) आदि विख्यात इन्जीनियर तथा विद्वान हैं।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के मूल तत्त्व अथवा सिद्धान्त
(Fundamental or Underlying Principles of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध के मुख्य-मुख्य सिद्धान्त निम्नलिखित हैं :—

(१) **कार्य सम्बन्धी अनुमान (Task Idea)**—वैज्ञानिक प्रबन्ध का आधारभूत सिद्धान्त इस बात का ज्ञान है कि एक प्रथम श्रेणी के श्रमिक को उचित परिस्थितियों में कितना काम करना चाहिये। 'काम सम्बन्धी अनुमान' के बिना यह ठीक-ठीक नहीं मालूम किया जा सकता कि श्रमिक प्रमाणित (Standard) उत्पादन से कम काम कर रहे हैं अथवा अधिक। एक श्रमिक कितना काम कर सकता है, इसकी योजना बहुत सावधानी के साथ प्रयोगों द्वारा निश्चित की जाती है। उदाहरणार्थ, बीथिलहैम इस्पात कम्पनी में एक श्रमिक औसतन १२½ टन कच्चा

लोहा लादता था। टेलर ने उचित अध्ययन के पश्चात् यह सिद्ध कर दिया कि एक प्रथम श्रेणी के श्रमिक को प्रतिदिन ४७½ से ४८ टन तक माल लादना चाहिये।

(२) **प्रयोग** (Experiment)—वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रयोगों का बहुत अधिक महत्त्व है। प्रयोगों द्वारा श्रमिक की विभिन्न क्रियाओं की जाँच की जा सकती है तथा उनका विश्लेषण किया जाता है, जिससे उनमें सुधार करके कार्यक्षमता में वृद्धि हो। काम का ठीक-ठीक अनुमान करने के लिए श्री टेलर ने निम्न तीन प्रकार के वैज्ञानिक प्रयोग किये :—

(अ) **समय अध्ययन** (Time Study)—प्रबन्ध सम्बन्धी अनुसन्धान का पहला कार्य समय अध्ययन है। समय अध्ययन के अन्तर्गत यह देखा जाता है कि प्रत्येक श्रमिक को एक ही प्रकार का कार्य करने में कितना समय लगता है। टेलर ने इसके लिये स्टॉप वाच (Stop Watch) का प्रयोग किया। उसने समस्त क्रिया को कई भागों में विभाजित किया तथा प्रत्येक विभाग में लगने वाला समय नोट किया। इस प्रयोग में मॉनिटर अपनी घड़ी तथा चार्ट लेकर ऐसे स्थान पर बैठता है जहाँ से वह श्रमिकों को देख सके, किन्तु वे उसे न देख सकें। इसके बाद वह प्रत्येक क्रिया में लगने वाले समय को चार्ट पर नोट करता जाता है। बीच में आराम के लिये निकाले गये समय का भी ध्यान रखा जाता है। उदाहरणार्थ; यदि कच्चा लोहा गाड़ी में लादने का समय अध्ययन करना हो तो उसे निम्नलिखित भागों में बाँटा जा सकता है :—(i) लोहे को जमीन से उठाने में लगने वाला समय; (ii) लोहे को लेकर गाड़ी तक जाने में लगने वाला समय; (iii) लोहे को गाड़ी में फेंकने में लगने वाला समय; तथा (iv) खाली हाथ वापस आने में लगने वाला समय।[1] इस प्रयोग के आधार पर उस कार्य को करने का प्रमापित समय (Standard Time) निश्चित कर दिया जाता है। इस प्रमापित समय के अन्दर प्रत्येक श्रमिक को उस कार्य को पूरा करना पड़ता है। इसके आधार पर मजदूरी दर भी निश्चित की जाती है, जो इस प्रमापित समय से कम समय में काम करता है उसे अधिक मजदूरी तथा जो अधिक समय में काम करता है उसे कम मजदूरी दी जाती है।

(ब) **गति अध्ययन** (Motion Study)—श्री गिलब्रेथ के अनुसार, "गति अध्ययन वह विज्ञान है, जिसके द्वारा अनावश्यक, अनिर्देशित तथा अकुशल 'गति से होने वाली क्षति' को रोका जा सके।" वास्तव में कार्य करने की सर्वश्रेष्ठ रीति का पता लगाना 'गति अध्ययन' कहलाता है। इस अध्ययन की आधारशिला यह है कि प्रत्येक कार्य को करने में श्रमिक को अपने हाथ-पैर हिलाने-डुलाने पड़ते हैं। शरीर का यह हिलाना-डुलाना जितना अधिक होगा, उतना ही समय अधिक लगेगा तथा थकावट भी उतनी ही जल्दी आवेगी। अतएव वैज्ञानिक अध्ययन द्वारा काम करने की ऐसी विधि अपनानी चाहिये, जिससे शरीर की कम से कम हरकत हो और थकान कम से कम हो। इसका उदाहरण हमें गिलब्रेथ की ईंट जोड़ने की विधि में मिलता है। उन्होंने देखा कि औसतन एक राज को ईंटें दीवार में रखने के लिये १८ बार हरकत (Movement) करनी पड़ती है। उसने ईंट लगाने के तरीके में सुधार करके इस हरकत को घटाकर ५ और कुछ में तो केवल २ ही कर दिया। इसके लिये उसने निम्न तीन कार्य किये—(i) अनावश्यक हरकतों को बिल्कुल बन्द कर दिया; (ii) दीवार को जोड़ने के ऐसे साधारण यन्त्रों का आविष्कार किया जिससे श्रमिक को अपना शरीर कम से कम हिलाना-डुलाना पड़े; (iii) उसने श्रमिकों को वैज्ञानिक विधियों से काम करने की शिक्षा दी, ताकि वे एक हाथ से ईंट और दूसरे हाथ से गारा बराबर लेकर एक साथ उसे रख सकें।

(स) **थकान अध्ययन** (Fatigue Study)—निरन्तर काम करने से श्रमिक थक जाते

---

1. **Taylor :** *Shop Management.*

हैं और उनकी कार्यक्षमता भी कम हो जाती है। यदि काम का श्रमिकों में वैज्ञानिक रीति से एवं उसकी रुचि के अनुसार विभाजन नहीं होता है तो उसे वह कार्य करने में अधिक थकान होती है, समय अधिक लगता है तथा कार्यक्षमता भी कम हो जाती है। इस सम्बन्ध में टेलर ने प्रत्येक क्रिया का विस्तृत अध्ययन करके यह पता लगाया कि थकान कब, क्यों और कैसे होती है तथा उसे किस प्रकार सुधारा जा सकता है ? उचित प्रयोग करने के पश्चात् टेलर इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि थकान को दो प्रकार से कम किया जा सकता है; एक तो कार्य के बीच में आराम का समय देकर और दूसरे, बोझ की उचित मात्रा निश्चित करके। श्रमिक भी इससे स्फूर्ति अनुभव करता है।

(३) **योजना** (Planning)—वैज्ञानिक प्रबन्ध में तीसरी विशेषता हर कार्य के लिये एक विशेष योजना का होना है। श्री शील्ड्स के अनुसार, "योजना विभाग वैज्ञानिक प्रबन्ध का केन्द्र है, जिसका प्रमुख कार्य उन समस्त कर्मचारियों की आवश्यकताओं को पूरा करना है जो उत्पादन की विभिन्न विधियों में लगे हुये हैं।"[1]

अतएव प्रत्येक कारखाने में पृथक् रूप में एक योजना विभाग होना चाहिये। अगले दिन क्या होगा, इसकी योजना पहले से ही तैयार कर ली जाती है। इसके लिये प्रत्येक श्रमिक को एक छोटी आलमारी (Pigeon-hole Almirah) दे दी जाती है। प्रातःकाल जब श्रमिक काम पर आता है तो उसे अपने खाने में दो कागज रखे हुये मिलते हैं। एक में यह लिखा रहता है कि उसे क्या काम करना है और उसे किन यन्त्रों की आवश्यकता होगी तथा वे यन्त्र कहाँ से प्राप्त होंगे। दूसरे कागज पर उसके द्वारा किये गये कार्य का पूर्ण विवरण दिया होता है तथा यह भी लिखा रहता है कि उसने कितना वेतन कमा लिया है। कौन व्यक्ति कहाँ काम कर रहा है। यह नक्शों, चार्टों इत्यादि के द्वारा शतरंज के मोहरों के समान स्पष्ट दिखलाया जाता है।

श्री टेलर के मतानुसार योजना विभाग के निम्न कार्य होते हैं :—(i) कारखाने द्वारा लिये हुये प्रत्येक कार्य की पूर्ण विवेचना करना। (ii) कारखाने में होने वाले प्रत्येक कार्य तथा विभिन्न क्रियाओं में लगने वाले समय का अध्ययन करना। (iii) कारखाने के पास कितना सामान, कच्चा माल, स्टोर, तैयार माल तथा विभिन्न मशीनें आदि हैं, इसका विवरण रखना। (iv) बिक्री विभाग में प्राप्त होने वाले प्रत्येक ऑर्डर (Order) का अध्ययन करना तथा उसकी सुपुर्दगी के आकार पर उसकी तैयारी की योजना बनाना। (v) प्रत्येक वस्तु में होने वाले व्यय का विवरण रखना। (vi) सूचना विभाग का संचालन करना। (vii) प्रमापित औजारों की व्यवस्था करना। (viii) प्रत्येक श्रमिक की मजदूरी का निर्णय करना। (ix) कारखाने की समस्त क्रियाओं पर आवश्यक नियन्त्रण रखना। (x) प्रमापित विधियों का निर्धारण करना तथा प्रशिक्षण की व्यवस्था करना। (xi) सन्देशवाहन विभाग का संचालन करना। (xii) रोजगार के दफ्तर (Employment Office) का प्रबन्ध करना। प्रत्येक कर्मचारी का सेवा विवरण रखना। (xiii) उन्नति तथा सुधार सम्बन्धी योजनायें तैयार करना।

(४) **श्रमिकों का चुनाव तथा उनकी शिक्षा** (Scientific Selection and Training of Labourers)—**श्री टेलर** ने श्रमिकों के चुनाव तथा उनके प्रशिक्षण पर बहुत बल दिया है। इससे कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। श्री टेलर ने आगे कहा है कि प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक कार्य नहीं कर सकता। उन्होंने प्रथम श्रेणी के कारीगर के बारे में विशेषतायें बतलाई हैं :—

(अ) **उक्त कार्य को करने हेतु वह शारीरिक एवं मानसिक दृष्टि से उपयुक्त हो।** इसके लिये यह अनिवार्य नहीं है कि श्रमिक असाधारण कोटि के व्यक्ति हों। साधारण लोगों में

---

[1] **Shields** : *Evolution of Industrial Organisation.*

जो जिस कार्य के लिये उपयुक्त हो, उसे वैसा ही कार्य सौंप दिया जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में टेलर ने स्वयं भी लिखा है—"कर्मचारियों के चुनाव से यह मतलब कदापि नहीं है कि बहुत ही विशेष योग्यता वाले व्यक्ति लिये जायें; इसका आशय तो यह है कि बहुत ही सामान्य व्यक्तियों में से ऐसे व्यक्ति चुन लिये जाएँ जो उस कार्य के लिये विशेष रूप से उपयुक्त हों।" बिथेलहैम के स्टील के कारखाने में कच्चा लोहा भरने हेतु श्री टेलर ने ७५ श्रमिकों के कार्य का कई दिन तक निरीक्षण किया। अन्त में उसे केवल चार व्यक्ति ऐसे मिले जो १२½ टन की बजाय ४७ टन लोहा रोज भर सकें।

(ब) **प्रत्येक श्रमिक को उचित वेतन दिया जाना चाहिये।** टेलर का कहना है कि "प्रथम श्रेणी के कर्मचारी अधिकतम गति से काम करने के लिये न केवल तैयार हो जाते हैं बल्कि उन्हें इसमें प्रसन्नता का अनुभव होता है, बशर्ते उन्हें ३० प्रतिशत से १०० प्रतिशत तक अधिक वेतन दिया जाय।"

कितनी भी सावधानी के साथ हम कर्मचारियों का चुनाव क्यों न करें, किन्तु जब तक उनको आवश्यक प्रशिक्षण न दिया जाय तब तक वे दक्षता से कार्य नहीं कर सकते। स्वयं टेलर के शब्दों में—'यदि कोई कर्मचारी सौंपे हुये कार्य को न कर सके तो कोई सुयोग्य शिक्षक उसे बतलाता है कि उसे कैसे कार्य करना चाहिये......।" प्राय: सभी प्रगतिशील देशों में कर्मचारियों के लिये आवश्यक प्रशिक्षण देना परम आवश्यक होता है। भारत में भी कई उद्योगपतियों (जैसे देहली क्लॉथ मिल्स, टाटा, बिड़ला) ने अपने-अपने यहाँ कर्मचारियों की नियुक्ति के पश्चात् आवश्यक प्रशिक्षण देने की व्यवस्था कर रखी है।

(५) **कार्य का युक्तिपूर्ण वितरण** (Scientific Allotment of Task)—कर्मचारियों का चुनाव कर लेने तथा उनको आवश्यक प्रशिक्षण दे देने के पश्चात् उन्हें कार्य सौंपने की समस्या आती है। कार्य सौंपते समय उनकी योग्यता तथा कार्यक्षमता का ध्यान रखा जाना चाहिये। इस सम्बन्ध में पूर्णरूप से **'सही व्यक्ति को सही कार्य'** (Right job to the right person) का सिद्धान्त अपनाया जाना चाहिये। जो व्यक्ति जिस कार्य के लिये उपयुक्त हो उसे वैसा कार्य ही दिया जाना चाहिये। टेलर के मतानुसार कार्यक्षमता बढ़ाने तथा योग्य व्यक्तियों के लिये उन्नति का रास्ता खोलने के लिये इस पद्धति को अपनाया जाना परम आवश्यक है।

(६) **प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धति** (Incentive Wage System)—श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि करने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि कारखानों में प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धति अपनाई जाय। प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धति से हमारा अभिप्राय मजदूरी देने की एक ऐसी पद्धति से है जिसके अपनाने से श्रमिक अधिकाधिक कार्य करने के लिये उत्तेजित हो उठें। श्री टेलर ने इस बात का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया और अधिक कार्यक्षमता तथा अधिक उत्पादन करने हेतु श्रमिकों को पारितोषिक का प्रलोभन देने के तत्त्व को वैज्ञानिक प्रबन्ध में महत्त्व दिया। इस उद्देश्य से उन्होंने **'विभेदात्मक मजदूरी पद्धति'** (Differential Piece Rate System) का प्रतिपादन किया। इस पद्धति के अनुसार प्रमापित समय (अर्थात् निर्धारित समय) में अपना कार्य समाप्त करने वाले श्रमिकों को ऊँची दर से मजदूरी दी जाती है। इसके विपरीत जो श्रमिक निर्धारित समय में अपना कार्य समाप्त करने में असमर्थ रहता है उसे निम्न दर से मजदूरी दी जाती है। इसके अतिरिक्त ठीक प्रकार से काम न करने वाले श्रमिकों को आवश्यक दण्ड भी दिया जाना चाहिए।

(७) **कुशल परिव्यय लेखा-कर्म पद्धति** (Efficient Cost Accounting System)—कुशल परिव्यय लेखा-कर्म पद्धति भी वैज्ञानिक प्रबन्ध का एक महत्त्वपूर्ण अङ्ग है। इससे उत्पादन

की विभिन्न क्रियाओं से वस्तुओं का अपव्यय तथा यन्त्रों का दुरुपयोग प्राय: समाप्त हो जाता है तथापि समय का सदुपयोग होता है। प्रबन्धक का उत्पादन की विभिन्न प्रणालियों पर नियन्त्रण रहता है। अतएव इसके लिये योग्य तथा अनुभवी परिव्यय लेखा-कर्म नियुक्त किये जाने चाहिये।

(८) **आवश्यक एवं अच्छे सामान की व्यवस्था करना** (Arrangement of Good Meterial)—चूँकि श्रमिकों की कार्यक्षमता बहुत बड़ी सीमा तक उस उद्योग में प्रयोग किये जाने वाले माल पर निर्भर रहती है, इसलिये यह आवश्यक है कि कच्चा माल बहुत सोच-विचार कर अच्छे से अच्छा क्रय किया जाय, ताकि उत्पादन में प्रमापीकरण रहे तथा उसमें वृद्धि हो। इसके अतिरिक्त अपव्यय भी रोका जाना चाहिये ताकि उत्पादन-व्यय में भी कमी हो सके।

(९) **उपयुक्त औजारों की व्यवस्था** (Suitable Tools and Implements)—यदि कारखाने में प्रयोग आने वाली मशीने व औजार आदि पुराने किस्म के तथा घिसे-पिटे हैं तो श्रमिकों की कार्यक्षमता कम हो जायगी, उत्पादन कम तथा घटिया किस्म का होगा, जबकि व्यय बढ़ जायगा। अत: यह आवश्यक है कि कारखाने में उपयुक्त तथा नवीनतम् औजारों व मशीनों का प्रयोग किया जाय। श्रमिकों को जो औजार दिये जायें उन औजारों का पहले निरीक्षण किया जाना चाहिए। इस कार्य के लिये विशेषज्ञों की सेवाओं का भी उपयोग किया जाना चाहिये।

(१०) **प्रमापीकरण** (Standardisation)—जैसा कि इस पुस्तक के पिछले अध्याय में वर्णन किया जा चुका है, प्रमापीकरण वैज्ञानिक प्रबन्ध की प्रमुख विशेषता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध में कोई भी बात श्रमिकों के ऊपर नहीं छोड़ी जाती है, न केवल उनके लिये प्रमापित किस्म के औजार दिये जाते हैं बल्कि काम करने की प्रमापित विधियों का निर्माण भी किया जाता है। ये विधियाँ ऐसी होती है जिनके द्वारा कम से कम परिश्रम से अधिक से अधिक कार्य किया जा सके। वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रमापित समय में प्रमापित विधियों द्वारा प्रमापित सामग्री से प्रमापित उत्पादन किया जाता है।

(११) **कारखानों का स्वास्थ्यप्रद वातावरण** (Healthy Atmosphere in the Factory)—कारखाने के वातावरण का उत्पादन-क्षमता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। यदि कारखाने का वातावरण स्वास्थ्यप्रद एवं आनन्दमय है, तो श्रमिकों को कार्य भी भार रूप प्रतीत न होगा। वातावरण को स्वास्थ्यप्रद बनाने के लिये यह आवश्यक है कि काम करने के लिये पर्याप्त स्थान हो, स्वच्छ वायु हो, जलपान गृह, वाचनालय, शिशु-गृह (यदि औरतें भी काम करती हों) तथा पर्याप्त प्रकाश आदि की व्यवस्था हो। भारत के अधिकांश कारखानों में उपयुक्त वातावरण का अभाव है।

(१२) **मानसिक क्रान्ति** (Mental Revolution)—मानसिक क्रान्ति का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि श्रम तथा पूँजी में किसी प्रकार का विरोध नहीं होता। संघर्ष के स्थान पर एकता कायम होती है। बिना मानसिक क्रान्ति के कोई भी योजना, चाहे वह वैज्ञानिक प्रबन्ध की हो अथवा अन्य कोई, सफलतापूर्वक कार्यान्वित नहीं की जा सकती है। वैज्ञानिक प्रबन्ध पूँजी तथा श्रम में सामञ्जस्य स्थापित करना चाहता है, जिसके द्वारा इन दोनों के बीच के अन्तर को कम किया जा सके तथा दोनों यह समझें कि उनका एक दूसरे के बिना निर्वाह नहीं हो सकता। इसके लिए पूँजीपति को श्रमिक के कल्याण की ओर विशेष रूप से जागरूक रहना चाहिये तथा यह प्रयत्न करना चाहिये कि श्रमिक उस कारखाने को अपना ही कारखाना समझें तथा उसके विकास में अपना ही विकास अनुभव करें। श्रमिकों को भी ऐसा ही मार्ग अपनाना चाहिए जिससे कारखाने में किसी भी प्रकार की कटुता उत्पन्न न हो। श्री हन्ट के अनुसार "सुन्दर तथा नवीनतम् औजारों तथा मशीनों का प्रयोग तब ही सुखद परिणाम दे सकता है जब पूँजी

विभिन्न क्रियाओं का सरलतापूर्वक विभाजन किया जा सकता हो। (४) कार्य सामान्य प्रकृति का हो। (५) कर्मचारी अनुशासनप्रिय हों।

लाभ—वैभागिक सङ्गठन के निम्नलिखित लाभ हैं :—(१) **सरलता**—यह प्रणाली सबसे प्राचीन तथा अत्यन्त सरल है। (२) **पूर्ण अनुशासन**—जिस प्रकार फौज में पूर्ण अनुशासन रहता है वैसे ही इस सङ्गठन में सबसे अधिक अनुशासन रहता है, क्योंकि अपने मातहत कर्मचारियों पर एक व्यक्ति का पूर्ण अधिकार रहता है। श्रमिकों को अपने फोरमैन की बात माननी होगी। यही कारण है कि इस प्रणाली का नाम सैनिक सङ्गठन भी रखा गया है। (३) **अधिकारों का स्पष्ट विभाजन**—इस सङ्गठन में अधिकारों का स्पष्ट विभाजन होने के कारण कोई व्यक्ति अपने उत्तरदायित्व को दूसरों के कन्धों पर डाल कर अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकता। (४) **निर्णय लेने में सुविधा**—इसके अन्तर्गत निर्णय आसानी तथा शीघ्रता से लिये जा सकते हैं, क्योंकि निर्णय लेने वाला प्राय: एक ही व्यक्ति होता है तथा उसके द्वारा दिये गये निर्णय का आसानी से विरोध नहीं किया जा सकता। (५) **दोषी को दण्ड देने में सुविधा**—चूँकि कोई व्यक्ति अपनी जिम्मेदारी से मुक्त नहीं हो सकता, अत: दोषों अथवा त्रुटियों का आसानी से पता लगाकर दोषी व्यक्ति को दण्ड देने में सुविधा रहती है। अत: लोग अधिक लगन से कार्य करते हैं।

दोष—उपरोक्त लाभों के होते हुए भी इस प्रणाली में निम्न दोषों का समावेश है—(१) **लालफीता और तानाशाही का बोलबाला**—इस सङ्गठन में सबसे बड़ा दोष लालफीता (Red-tapism) तथा तानाशाही का बोलबाला होता है। बेचारे श्रमिकों को फोरमैनो के द्वारा की जाने वाली मनमानी और अत्याचारों के प्रति फरियाद तक करने की आज्ञा नही होती। फोरमैन का आदेश ही उनके लिये वरदान होता है। (२) **अनुपस्थिति में क्षति**—यदि किसी कारणवश फोरमैन अनुपस्थित हो जाय तो समस्त कार्य चौपट हो जाता है। (३) **अनुसन्धान का अभाव**—कारखाने के विस्तार के साथ प्रत्येक निरीक्षक का कार्य भी बढ़ जाता है, जिसके कारण इसमें अनुसन्धान का अवसर नहीं मिल पाता। इससे प्रगति में रुकावट उत्पन्न हो जाती है। (४) **विशिष्टीकरण का अभाव**—एक ही व्यक्ति से अनेक प्रकार के काम लिये जाने के कारण इसमें विशिष्टीकरण का अभाव रहता है। (५) **अच्छे कर्मचारियों के लिए प्रेरणा का अभाव**—इस सङ्गठन में अच्छे कर्मचारियों को कोई प्रेरणा नहीं मिलती है, क्योंकि इसमें इनाम आदि की कोई व्यवस्था नहीं है। तरक्की खुशामद तथा जी-हुजूरी के आधार पर होती है। ऐसे लोगों को अनुचित सुविधायें भी मिल जाती हैं। इस प्रकार कार्यक्षमता का बलिदान हो जाता है। (६) **लोच का अभाव**—कुछ विद्वानों के मतानुसार इस प्रणाली में लोच का अभाव रहता है अर्थात् इसे आवश्यकतानुसार घटाया-बढ़ाया नहीं जा सकता। (७) **बड़ी औद्योगिक इकाई के लिये अनुपयुक्त**—यह पद्धति बड़े आधार की औद्योगिक इकाइयों के लिये, जिनमें कि कर्मचारियों की संख्या भी अधिक रहती है, अनुपयुक्त है।

(II) कर्मचारी एवं लम्बवत सङ्गठन (Staff and Line Type of Organisation)—

उपरोक्त सङ्गठन के दोषो को दूर करने के लिये इस कर्मचारी पद्धति का निर्माण हुआ। यद्यपि इस प्रणाली में भी काम का विभाजन स्वतन्त्र विभागों में किया जाता है और उत्तरदायित्व का विभाजन भी लम्बरूप में ही होता है, किन्तु विभागीय प्रमुखों के साथ तान्त्रिक विशेषज्ञ भी नियुक्त किये जाते हैं। उनका कार्य सलाहकारी होता है, प्रबन्धात्मक नहीं। पहले की भांति फोरमैन का श्रमिकों पर पूरा अधिकार रहता है। उनके हर काम के लिये वही जिम्मेदार होता है। विशेषज्ञ विभिन्न अंगों पर सलाह देने के साथ-साथ अनुसन्धान कार्य में भी लगे

रहते हैं। इससे श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। यह प्रणाली अग्रांकित चित्र से और अधिक स्पष्ट हो जाती है :—
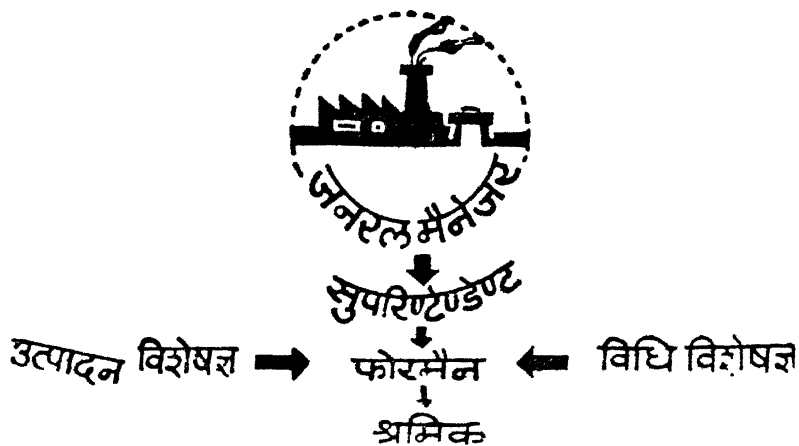
लाभ—(१) विशेषज्ञों की नियुक्ति—इस प्रणाली के अन्तर्गत उच्च अधिकारियों को परामर्श देने हेतु विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाती है। अतएव कार्य में गलती होने की सम्भावना कम हो जाती है तथा कार्यक्षमता में वृद्धि होती है। (२) **अनुसन्धान को प्रोत्साहन**—विभिन्न विशेषज्ञों की नियुक्ति के कारण अनुसन्धान को सबसे अधिक प्रोत्साहन मिलता है। (३) **'सोचने' और 'करने' में स्पष्ट भेद**—इस प्रणाली के अन्तर्गत सोचने और करने की क्रियाओं को एक-दूसरे से अलग-अलग कर दिया गया है। सोचने वाले तो होते हैं विशेषज्ञ तथा करने वाले होते हैं कर्मचारी। अतएव कार्य अधिक सुचारु रूप से सम्पन्न होता है। (४) **कुशल कर्मचारियों के लिए सुअवसर**—इसमें कुशल कर्मचारियों को उन्नति के लिये सुअवसर मिलता है, क्योंकि उत्तरदायी पदों की संख्या में वृद्धि हो जाती है। (५) **मितव्ययिता**—इसमें अपव्यय रुक जाता है तथा कर्मचारियों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है। इस प्रकार इस पद्धति में अन्त में पर्याप्त मितव्ययिता रहती है।

दोष—(१) बड़े संगठन के लिए अनुपयुक्त—विद्वानों के मतानुसार यह प्रणाली बहुत बड़े सङ्गठन के लिये अनुपयुक्त है। (२) **खर्चीली**—बहुत अधिक संख्या में विशेषज्ञों की नियुक्ति की जाने के कारण यह प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक खर्चीली है। अनुसन्धान के कार्यों पर अत्यधिक खर्चा करना पड़ता है। (३) **विशेषज्ञों का उत्तरदायित्व नहीं**—गलत सलाह देने पर विशेषज्ञों को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। (४) **संघर्ष की सम्भावना**—कभी-कभी दूसरे का दृष्टिकोण समझने में कठिनाई उत्पन्न हो जाती है। अतएव गलतफहमी के कारण कर्मचारियों के बीच संघर्ष शुरू हो जाता है। इससे उद्योग को क्षति पहुँचती है। (५) कर्मचारियों के कर्त्तव्य व दायित्वों का स्पष्ट विभाजन न होने के कारण भ्रम की आशंका रहती है।

(III) क्रियात्मक सङ्गठन (Functional Organisation)—

क्रियात्मक सङ्गठन एफ० डब्ल्यू० टेलर की देन है। श्री टेलर के अनुसार, "इस पद्धति में प्रबन्ध का नियन्त्रण इस प्रकार होता है कि जिससे प्रत्येक व्यक्ति को कम से कम कार्य करना पड़े, अतएव उसका कार्य यथासम्भव छोटी से छोटी प्रक्रिया (Process) में विभाजित कर दिया जाता है, जिससे इसी क्रिया तक उसका कार्यक्षेत्र सीमित रहता है। इस प्रकार के क्रिया-विभाजन से एक व्यक्ति का सम्बन्ध केवल एक ही अधिकारी तक रहता है, जो आवश्यक आदेश अथवा सूचनायें देता है……।" इस प्रकार इस प्रणाली में प्रत्येक छोटे से छोटे कार्य के लिए भी एक

निरीक्षक नियुक्त किया जाता है, जोकि अपने कार्य की पूर्ण रूप से निगरानी रखता है। इस व्यक्ति को इस कार्य से सम्बन्धित प्रायः सभी अधिकार प्राप्त रहते हैं। उदाहरणार्थ, एक व्यक्ति, जो माल की किस्म का विशेषज्ञ है, इस बात की जाँच करता रहेगा कि माल ठीक किस्म का बन रहा है अथवा नहीं। उसे अन्य बातों से कोई सरोकार नहीं है।

श्री टेलर के अनुसार क्रियात्मक पद्धति में निम्नलिखित आठ अधिकारी होते हैं, ज अपना-अपना कार्य करते रहते हैं :—
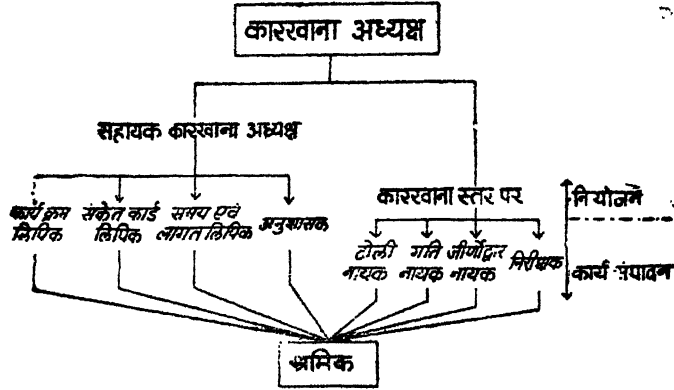
(१) **टोली नायक** (Gang Boss)—यह प्रत्येक श्रमिक के कार्य को निश्चित कर उसके लिये उसे आवश्यक सामग्री देता है तथा काम करने के लिये आवश्यक सूचनायें भी देता है। आवश्यकता पड़ने पर श्रमिकों की सुविधा के लिये काम करने की रीति का प्रदर्शन भी करता है।

(२) **गति नायक** (Speed Boss)—श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाने के लिये काम किस प्रकार किया जाय, इस सम्बन्ध में आवश्यक सूचना देने तथा काम करने की विधि का प्रदर्शन करने का कार्य यह व्यक्ति करता है।

(३) **निरीक्षक** (Inspector)—यह निर्मित वस्तुओं की किस्म की जाँच करता है।

(४) **जीर्णोद्धार नायक** (Repair Boss)—यह इस बात की देख-रेख करता है कि श्रमिक अपनी मशीनों को ठीक प्रकार रखते हैं अथवा नहीं। यह मशीन की सफाई तथा तेल इत्यादि की व्यवस्था करता है और पुर्जों की मरम्मत की व्यवस्था करता है।

(५) **कार्यक्रम लिपिक** (Routine Clerk)—यह दैनिक कार्यक्रम की योजना बनाता है। किस क्रम में अमुक व्यक्ति से कार्य लिया जाना चाहिये तथा कौन-सा कार्य कहाँ हो रहा है, उनका अधिकारी कौन है, इसकी सूचना बनाता है।

(६) **संकेत कार्ड लिपिक** (Instruction Card Clerk)—यह व्यक्ति योजना विभाग के लिये आदेश-पत्र (Instruction Card) बनाता है। इन आदेश-पत्रों के आधार पर वह किस प्रकार किन यन्त्रों पर कार्य करेगा, इसका आदेश विभिन्न टोलीनायकों को देता है।

(७) **समय तथा परिव्यय लिपिक** (Time and Cost Clerk)—यह व्यक्ति समय एवं मूल्य सम्बन्धी आवश्यक लेखे (Records) रखने के लिये उत्तरदायी होता है।

(८) **अनुशासक** (Shop Disciplinarian)—यह प्रत्येक विभाग के श्रमिक एवं कर्मचारियों के अनुशासन के लिए उत्तरदायी होता है। कारखाने में पूर्ण शान्ति हो, यही इसका कार्य है।

इसमें उत्तरदायित्वों का विभाजन निम्न ढङ्ग से होता है :—
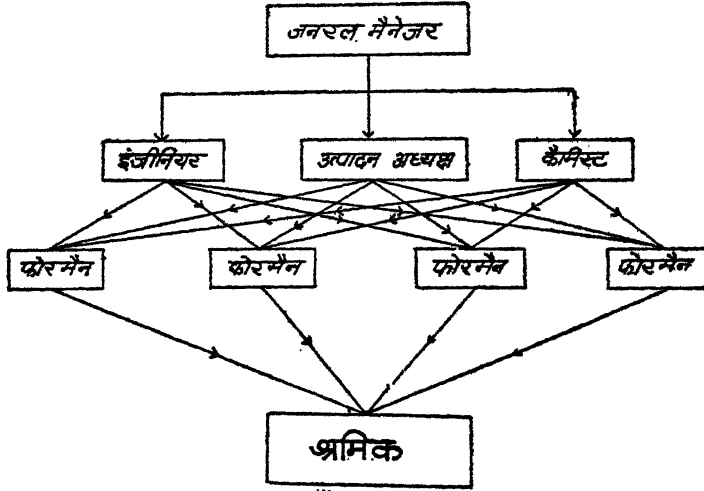
क्रियात्मक संगठन के गुण (Merits of Functional Organisation)—(१) **विशिष्टीकरण**—चूँकि यह पद्धति विशिष्टीकरण पर आधारित है। अतः निरीक्षक अपने काम का विशेषज्ञ होता है। कार्यक्षमता में सामान्यतः वृद्धि हो जाती है। (२) **निरीक्षण में सुविधा**—काम कम रहने के कारण निरीक्षण में सुविधा रहती है। (३) **अनुसन्धान को प्रोत्साहन**—विभिन्न विशेषज्ञों की नियुक्ति के कारण अनुसन्धान को सबसे अधिक प्रोत्साहन मिलता है। (४) **बड़े पैमाने का उत्पादन**—यह संगठन के बड़े पैमाने के उत्पादन को सफल बनाता है। (५) **श्रमिकों को लाभ**—यह संगठन श्रमिकों की दृष्टि से लाभदायक है, क्योंकि इसमें उनके साथ पक्षपात तथा शोषण की सम्भावनायें कम रहती हैं। श्रमिकों को उनकी योग्यता के अनुसार कार्य दिया जाता है। (६) **प्रेरणात्मक**—इसके अन्दर प्रत्येक व्यक्ति को अधिक से अधिक काम करने के लिये प्रेरणा मिलती है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी अधिकतम् योग्यता के अनुसार कार्य करता है। (७) **आकार वृद्धि में सुविधा**—भविष्य में औद्योगिक इकाई का आकार सुविधापूर्वक बढ़ाया जा सकता है।

अवगुण (Demerits)—(१) **उत्तरदायित्व का अभाव**—एक ही कार्य पर कई अधिकारी हो जाने से उत्तरदायित्व का अभाव रहता है। (२) **विशेषज्ञों में पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता**—विशेषज्ञों की संख्या अधिक हो जाने से अधिकारों के लिए आपस में प्रतिद्वन्द्विता प्रारम्भ हो जाती है, जिसका प्रभाव कर्मचारियों पर बुरा पड़ता है। (३) **सीमित क्षेत्र**—यह संगठन छोटे उद्योगों के लिये अनार्थिक है। अतः इसका क्षेत्र केवल बड़े उद्योगों तक ही सीमित है। (४) **समन्वय में कठिनाई**—उत्पादन की विभिन्न क्रियाओं में समन्वय स्थापित करने के लिये प्रतिभाशाली नेतृत्व की आवश्यकता पड़ती है, जो आज के युग में कठिनता से मिलता है। (५) **कार्य में वृद्धि**—अनेक अध्यक्षों अथवा नायकों की नियुक्ति की जाने से बहुत-सा कार्य व्यर्थ में बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त लिखाई का कार्य भी बहुत करना पड़ता है। (६) **अनुशासन पर अपेक्षाकृत कम बल**—अन्य संगठनों की अपेक्षाकृत इसमें अनुशासन पर कम बल दिया जाता है।

वैज्ञानिक प्रबन्ध के लाभ
(Advantages of Scientific Management)

वैज्ञानिक प्रबन्ध का प्रयोग 'सर्वाङ्गीण उन्नति' (All Sided Progress) के लिये किया गया। इसका उद्देश्य उद्योग का प्रबन्ध इस प्रकार से करना है कि उससे सम्बन्धित प्रत्येक

तत्त्व पूर्णरूप से सफलता पा सकें। इस प्रकार चाहे श्रमिक हो अथवा निर्माता या राष्ट्र, सभी को इससे लाभ पहुँचता है। अतएव वैज्ञानिक प्रबन्ध के लाभों का निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत अध्ययन किया जा सकता है :—

(I) निर्माता अथवा विनियोक्ता की दृष्टि से (From the point of view of Manufacturer or Investor)—

वैज्ञानिक प्रबन्ध को लागू करने से निर्माता (अथवा उत्पादक) को निम्न लाभ पहुँचते हैं :—

(१) उत्पादन व्यय में कमी—वैज्ञानिक प्रबन्ध का मुख्य उद्देश्य, अपव्यय को रोककर उत्पादन व्यय में कमी करना है। इससे कारखाने में मितव्ययिता आती है, जोकि औद्योगिक सफलता की कुंजी है।

बीथलहेम स्टील कम्पनी (जिसमें टेलर ने स्वयं वैज्ञानिक प्रबन्ध लागू किया था) के निम्नलिखित आँकड़े इस कथन के स्पष्ट प्रमाण हैं :—

क्रम-संख्या	विवरण	पुरानी प्रणाली में	नवीन प्रणाली में
१.	श्रमिकों की संख्या	४००—६००	१४०
२.	प्रति श्रमिक लोहा लादने की तादाद	१६ टन	५६ टन
३.	प्रति व्यक्ति प्रतिदिन की आय	१·१५ डॉलर	१·८८ डॉलर।
४.	प्रति टन (२२४० पौंड) लोहा उठाने की लागत	०·०७२ डॉलर	०·०३३ डॉलर

(२) वस्तु की किस्म में सुधार—उचित निरीक्षण तथा प्रमापीकरण की योजना के लागू होने से वस्तु की किस्म में सुधार होता है। प्रमापित वस्तुओं का उत्पादन होने लगता है।

(३) श्रम-पूँजी के झगड़ों का अन्त—श्रम एवं प्रबन्ध के परस्पर सहकारितापूर्ण सम्बन्ध होने से औद्योगिक शान्ति कायम होती है, जिससे निर्माता को यह निश्चितता रहती है कि अमुक अवधि में इतनी वस्तुयें तैयार होंगी। उदाहरणार्थ; बीथलहैम कम्पनी में नई योजना लागू होने के पश्चात् एक भी हड़ताल की नौबत नहीं आई। अतएव निर्माता अपनी आगामी उत्पादन-योजनायें भली-भाँति बना सकता है तथा बिक्री का नियोजन भी कर सकता है।

(४) श्रम-विभाजन के लाभ—वैज्ञानिक प्रबन्ध में श्रम-विभाजन से सूक्ष्मतम क्रियाओं में होने वाले अनेक लाभ निर्माता को मिलते हैं।

(५) श्रमिकों से अधिकतम कार्य ले सकना—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत ऐसी नवीन युक्तियों का प्रयोग किया जाता है, जिससे कि श्रमिकों से अधिकाधिक कार्य लेना सम्भव हो जाता है। उदाहरण के लिये, श्रमिकों को काम करने के लिए नवीनतम् यन्त्र मिलते हैं तथापि उन यन्त्रों पर एक ही प्रकार का काम करते रहने के कारण उनकी कार्यक्षमता में आश्चर्यजनक वृद्धि हो जाती है।

(६) न्यूनतम श्रम परिव्यय—श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाने से काम अधिक होने लगता है तथा वस्तुओं का अपव्यय भी कम हो जाता है।

(७) पूर्ण निरीक्षण—इनके द्वारा निर्माता उद्योग के समस्त सूक्ष्म से सूक्ष्म 'तत्त्वों

का पूर्ण नियन्त्रण' करने में सफल हो जाता है, अतः किसी भी कार्य में किसी प्रकार की असुविधा या अड़चन नहीं रहती है।

(II) श्रमिकों की दृष्टि से (From Worker's point of view)—

(१) **वेतन में वृद्धि**—श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ जाने के कारण उनके वेतन में भी वृद्धि होती है। यही नहीं, समय-समय पर श्रमिकों को बोनस भी दिया जाता है। अनुसन्धान के द्वारा प्राप्त आँकड़ों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि किसी भी औद्योगिक इकाई में वैज्ञानिक प्रबन्ध लागू कर देने पर सामान्यतः वेतन में ३०% से लेकर १००% तक वृद्धि हो जाती है। इस कथन की पुष्टि Symond Rolling Machine Co. के उदाहरण से हो जाती है।

(२) **स्वास्थ्यप्रद एवं शान्तिपूर्ण वातावरण**—इसके अन्तर्गत श्रमिकों को मानसिक शान्ति मिलती है और वे अधिक कुशलता से कार्य करने लगते हैं।

(३) **कार्यक्षमता में वृद्धि**—श्रमिकों में कार्य का समुचित एवं रुचि के अनुसार वितरण और एक ही कार्य करते-करते उनकी कार्यक्षमता में दिन-दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो जाती है। इस कथन की पुष्टि में हम अमेरिका की प्रसिद्ध इंजीनियरिंग कम्पनी साइमन्ड्स रॉलिंग मशीन कम्पनी (Symonds Rolling Machine Co.) का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। इस कम्पनी में वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना लागू करने के निम्न परिणाम निकले :—(i) जिस कार्य को पहले १२० महिलायें करती थीं उसके लिये अब केवल ३५ महिलाओं की ही आवश्यकता रह गई। (ii) पहले प्रति महिला का औसत वेतन ३½ से ४½ डॉलर प्रति सप्ताह था, किन्तु वैज्ञानिक प्रबन्ध की योजना लागू करने से अब बढ़कर ६½ से ९ डॉलर तक हो गया। (iii) काम करने के घण्टे १०½ प्रतिदिन के स्थान पर ८½ प्रतिदिन ही रह गये। (iv) इसके अतिरिक्त शनिवार को आधे दिन की छुट्टी भी मिलने लगी। (v) कार्य की शुद्धता तथा किस्म में पहले की अपेक्षा ⅓ वृद्धि हुई।

(४) **समय की बचत**—काम का समय कम हो जाता है, क्योंकि वैज्ञानिक विधियों से काम करने में श्रमिक कम से कम समय में अत्यधिक कार्य कर सकता है। इस कथन की पुष्टि उपरोक्त कम्पनी के उदाहरण से हो जाती है।

(५) **उच्चतम जीवन-स्तर**—श्रमिकों के जीवन-स्तर में उन्नति होती है। शराबखोरी, जुआ इत्यादि बुरी आदतों का विनाश हो जाता है। कारखाने के अन्दर तथा बाहर अनेकों सुविधायें उपलब्ध हो जाती हैं। उनकी संख्या अधिक होने से वे अपने लिये न्यायोचित अधिकार की माँग कर सकते हैं। अपने प्रति स्वाभिमान की भावना जाग्रत होती है।

(६) **कार्य का युक्तिपूर्ण वितरण**—वैज्ञानिक प्रबन्ध में काम का युक्तिपूर्ण वितरण होता है, क्योंकि प्रत्येक श्रमिक को उसकी शारीरिक शक्ति, मानसिक प्रवृत्ति एवं रुचि के अनुसार कार्य दिया जाता है, जिससे उसे कार्य करने में आनन्द का अनुभव होता है।

(७) **औद्योगिकप्रशिक्षण की व्यवस्था**—चूँकि वैज्ञानिक प्रबन्ध में औद्योगिक प्रशिक्षण का दायित्व निर्माता अपने कन्धों पर लेता है, अतः श्रमिकों को इससे लाभ पहुँचता है। उन्हें निःशुल्क प्रशिक्षण मिलता है।

(८) **मानसिक क्रान्ति**—श्रम और पूँजी के दृष्टिकोण में परिवर्तन हो जाता है, क्योंकि वे परस्पर-सहयोग से कार्य करते हैं। हर श्रमिक को इस बात का गर्व होता है कि निर्माता उसका विशेष ध्यान रखता है। निर्माता उनके लिये अधिक से अधिक सुविधायें उपलब्ध करने का प्रयत्न करता है।

(III) राष्ट्र की दृष्टि से—

(१) राष्ट्र की आय में वृद्धि—बड़े पैमाने पर उत्पादन होने से देश के उद्योगों व व्यवसाय का तीव्रता से विकास होता है। परिणामस्वरूप राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से समृद्धिशाली बन जाता है।

(२) उपभोक्ताओं को लाभ—वैज्ञानिक प्रबन्ध लागू हो जाने से उपभोक्ताओं को अनेक लाभ पहुँचते हैं; जैसे—माल की किस्म में सुधार होना तथा सस्ता, सुन्दर व टिकाऊ माल मिलना। इससे उनके रहन-सहन का स्तर ऊँचा होता है।

(३) पूर्ण औद्योगिक शान्ति—जिस देश में श्रम व पूँजी का संघर्ष होता है वह देश कभी भी प्रगति नहीं कर सकता। वैज्ञानिक प्रबन्ध के लागू हो जाने से पूर्ण औद्योगिक शान्ति स्थापित हो जाती है, क्योंकि इससे श्रमिकों, निर्माताओं और उपभोक्ताओं अर्थात् सभी वर्गों को लाभ पहुँचता है। इस प्रकार शान्ति स्थापित हो जाने से समाज एवं राष्ट्र का सङ्गठन मनमाने ढङ्ग पर न होकर वैज्ञानिक ढङ्ग पर होगा।

(४) सामाजिक स्तर में वृद्धि—जैसे-जैसे उत्पादन का आकार बढ़ता जाता है वैसे-वैसे देश की आय भी बढ़ती जाती है, क्योंकि एक ओर तो उद्योग व व्यवसाय का विस्तार हो जाने से अधिक कर प्राप्त होगा तथा दूसरी ओर जनता का जीवन-स्तर ऊँचा हो जाने के कारण उसकी आय-कर देने की सामर्थ्य भी अधिक हो जायगी। श्री टॉमसन (Thompson) के अनुसार, "वैज्ञानिक प्रबन्ध ने घाटे पर चलने वाले कारखानों को लाभ दिलाया, जो लाभ पर चल रहे थे उनका लाभ बढ़ाया तथा इस बात के पर्याप्त प्रमाण हैं कि उसका समाज पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा।"[1]

वैज्ञानिक प्रबन्ध के दोष
(Disadvantages of Scientific Management)

उपरोक्त तथाकथित लाभों को देखकर यह न समझना चाहिये कि वैज्ञानिक प्रबन्ध दोषरहित है अथवा यह एक ऐसी रामबाण औषधि है जिसके प्रयोग में लाने से समस्त समस्याओं का सदैव के लिये समाधान हो जाता है। वास्तविकता यह है कि टेलरवाद को भी सफलता नहीं मिली। चाहे श्रमिक हो अथवा निर्माता सभी के द्वारा टेलरवाद की तीव्र आलोचना की गई। आलोचनाओं में मुख्य-मुख्य आधार इस प्रकार हैं :—

(I) श्रमिकों द्वारा विरोध (Opposition by Workers)—

(१) अधिक परिश्रम—वैज्ञानिक प्रबन्ध अपनाने के फलस्वरूप श्रमिकों से अधिक कार्य करवाया जाता है, जिससे उनके स्वास्थ्य पर विषम प्रभाव पड़ता है। सर्वश्री कार्डूल्लो (F. E. Cardullo) के शब्दों में—"उनकी शक्ति क्षीण हो जायगी और वे जीवन में कम कार्य कर पायेंगे ....।"

(२) कठोर नियन्त्रण—वैज्ञानिक प्रबन्ध में श्रमिकों को बड़े ही कठोर नियन्त्रण के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है। वे कार्य के प्रति किसी प्रकार की आवाज तक नहीं उठा सकते।

(३) प्रमापीकरण तथा विशिष्टीकरण का प्रभाव—उत्पादन क्रियाओं का अत्यधिक प्रमापीकरण एवं विशिष्टीकरण होने से श्रमिक केवल उसी क्रिया को कार्यक्षमता से कर सकता है तथा उसे अन्य क्रियाओं का तनिक भी ज्ञान नहीं रहता। इस प्रकार एक ही मशीन पर सदैव कार्य किये जाने से उसमें उस कार्य के प्रति दिलचस्पी नहीं रहती तथा वह अन्य कार्यों के लिये अनुपयुक्त हो जाता है, क्योंकि उसका क्षेत्र संकीर्ण होता है।

---

[1] **Thompson** : *Theory and Practice of Scientific Management.*

(४) वेतन का प्रश्न—श्रमिक वर्ग का कहना है कि उनको वेतन उस अनुपात में नहीं मिलता जिस अनुपात में उत्पादन में वृद्धि होती है। अधिकांश भाग निर्माताओं की जेबों में चला जाता है।

(५) स्वतन्त्रता का हनन—प्रत्येक श्रमिक स्वाभाविक रूप से ही स्वतन्त्रतापूर्वक काम करना चाहता है। वैज्ञानिक प्रबन्ध में इसके लिए कोई स्थान नहीं है। उसमें हर काम, हर क्रिया नियन्त्रित रहती है। 'ऐसे काम करो', 'ऐसे खड़े हो', 'अब काम करो', 'अब आराम करो' इत्यादि आदेश सुनते-सुनते श्रमिक ऊब जाता है। टेलर ने स्वयं ही स्वीकार किया है कि इस प्रकार के प्रबन्ध से श्रमिक आरम्भ में उसी प्रकार भड़कते हैं जिस प्रकार लाल कपड़ा देखकर बल।

(६) कार्य के प्रति रुचि का अभाव—वैज्ञानिक प्रबन्ध में श्रमिकों की स्वतन्त्रता का हनन होने के कारण उन्हें एक मशीन की तरह कार्य करना पड़ता है। निरन्तर एक ही प्रकार का कार्य करते रहने के कारण उन्हें कार्य में कोई नवीनता नहीं दिखाई पड़ती। इसके परिणाम-स्वरूप उनमें कार्य के प्रति अरुचि उत्पन्न होने लगती है, जिसमें उन पर बहुत ही बुरा मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है।

(७) आरम्भ में बेकारी—वैज्ञानिक प्रबन्ध लागू करने से श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ जाती है, जिसके कारण पहले के मुकाबले में उस कारखाने में कम श्रमिकों की आवश्यकता रहती है। परिणामस्वरूप, जिस कारखाने में यह योजना लागू की जाती है, वहाँ पर बहुत से कर्मचारियों को अयोग्य कहकर निकाल दिया जाता है। इससे श्रमिकों में आरम्भ में भयंकर बेकारी फैल जाने का भय उत्पन्न हो जाता है।

(८) शोषण की नयी तरकीब—इस प्रणाली के द्वारा श्रमिकों का अनेक प्रकार से शोषण (Exploitation) किया जाता है। निर्माताओं की मनमानी, पक्षपात, तालाबन्दी, 'मतभेद पैदा करो और राज्य करो' (Divide and Rule) का बोलबाला हो जाता है।

(९) श्रम-संघों का विरोध—श्रम-संघों (Labour Unions) की दृष्टि से यह प्रणाली हानिकारक है, क्योंकि यह श्रमिकों को विभिन्न श्रेणियों में विभाजित करती है तथा उनके (श्रेणियों के) नाम भी अलग-अलग रख दिये जाते हैं। इससे श्रमिकों की एकता की भावना नष्ट हो जाती है। इससे श्रम-सङ्घों का अस्तित्त्व ही खतरे में पड़ जाता है।

(१०) श्रमिकों पर विश्वास नहीं—यह प्रणाली श्रमिकों की निजी योग्यता तथा गुणों पर कोई विश्वास नहीं करती। प्रो० हैमण्ड के अनुसार, "कौन-सा कार्य अधिक सुविधापूर्वक हो सकता है, जानकारी काम करने वाले को किसी अन्य व्यक्ति की अपेक्षा अधिक हो सकती है। परन्तु वैज्ञानिक प्रबन्ध यह मान्यता लेकर चलता है कि श्रमिक काम करने की विधि स्वयं नहीं निकाल सकते।"[1]

(II) निर्माताओं अथवा विनियोक्ताओं द्वारा विरोध (Opposition by Manufacturers or Investors)—

(१) अत्यन्त खर्चीली पद्धति—यह प्रणाली अत्यन्त खर्चीली है, क्योंकि इससे पग-पग पर निरीक्षण की आवश्यकता पड़ती है, एक पृथक योजना विभाग खोला जाता है, अनेक विशेषज्ञ रखने पड़ते हैं तथा नित्य नये-नये सुधार होते हैं, जिनको उपयोग में लाना एक खर्चीली व्यवस्था का स्वागत करना है।

(२) स्वतन्त्रता का हनन—निर्माताओं की स्वतन्त्रता का हनन हो जाता है। वे

---

[1] **Hammond & Hammond :** *Rise of Industry.*

विशेषज्ञों के हाथ की 'कठपुतली' हो जाते हैं और वे जिधर घुमाते हैं, उधर घूमना पड़ता है। अतएव बहुत से निर्माता वैज्ञानिक प्रबन्ध को लागू करने में हिचकते हैं।

(३) **स्थिरता का अन्त**—कारखाना एक कारखाना न रहकर एक प्रयोगशाला बन जाता है। नित्य नये-नये परिवर्तन होते रहते हैं। अतएव स्थिरता का अन्त हो जाता है। इससे निर्माता को क्षति पहुँचती है।

(४) **पूर्ण प्रमापीकरण सम्भव नहीं**—सिद्धान्त रूप में चाहे जो कुछ कहा जा सकता है, किन्तु व्यावहारिक रूप में पूर्ण प्रमापीकरण प्राप्त करना कोई आसान कार्य नहीं है, जबकि वैज्ञानिक प्रबन्ध में प्रमापीकरण का होना नितान्त आवश्यक है।

(५) **आर्थिक मन्दी में भारस्वरूप**—आर्थिक मन्दी के समय जब उत्पादन शिथिल हो जाता है और लाभ कम हो जाते हैं तो उस समय वैज्ञानिक प्रबन्ध के अनुसार योजना एवं विकास विभाग तथा उसके अधिकारियों पर होने वाला व्यय भार-स्वरूप हो जाता है।

(६) **प्रशिक्षित कर्मचारियों को प्राप्त करना सुलभ नहीं**—वैज्ञानिक प्रबन्ध के अन्तर्गत पर्याप्त संख्या में प्रशिक्षित कर्मचारियों की आवश्यकता पड़ती है। इन्हें प्राप्त करना कोई सुलभ नहीं है।

आलोचनाओं की सत्यता (Justification of Criticisms)—

उपरोक्त आलोचनाओं में कुछ सत्यता है तथा शेष भ्रमपूर्ण हैं। जहाँ भी वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रयत्न असफल हुए, वहाँ पद्धति का कोई दोष नहीं, यदि गलती है तो कार्यान्वित करने वालों की अर्थात् निर्माताओं की, क्योंकि अच्छी से अच्छी पद्धति भी खराब निर्माताओं के हाथ में पड़कर बेकार हो जाती है। अतः इन आलोचनाओं के प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि :—

(१) **श्रमिकों पर कार्य का बोझ बढ़ जाने की धारणा अत्यन्त भ्रमपूर्ण है।** टेलर के मतानुसार औजारों तथा काम करने की विधियों में सुधार करने के परिणामस्वरूप वे उतने ही परिश्रम और समय में पहले के मुकाबले में कहीं अधिक कार्य कर सकते हैं, अतएव अधिक काम लेने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(२) **निर्माताओं से मनमानी करने का तर्क ठीक प्रतीत होता है,** किन्तु टेलर ने पहले ही कह दिया कि अच्छी से अच्छी पद्धति भी अयोग्य प्रबन्धकों के हाथ में पड़कर बेकार हो जाती है। जिस प्रकार मनुष्य को खड़ा होने के लिये दोनों पैरों की आवश्यकता पड़ती है वैसे ही सफलता के लिये उत्तम प्रणाली तथा उत्तम व्यक्ति दोनों की समान रूप से आवश्यकता होती है।

(३) यह कहा जाता है कि श्रमिकों को बढ़े हुये उत्पादन के अनुपात में वेतन नहीं मिलता है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि **उत्पादन में वृद्धि केवल श्रमिकों के कारण नहीं होती, अपितु उसमे नवीनतम मशीनों के प्रयोग का बहुत बड़ा भाग होता है,** अतएव बढ़े हुए उत्पादन के अनुपात में वेतन देने का प्रश्न ही नहीं उठता।

(४) कुछ विरोधियों का यह भी कहना है कि **वैज्ञानिक प्रबन्ध के लागू होने से बहुत से श्रमिक बेकार हो जाते हैं,** अतएव ये निकाल दिये जाते हैं। **किन्तु यह आरोप भी विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है,** क्योंकि जो व्यक्ति परिश्रमी तथा कार्य में रुचि लेने वाले होते हैं उनको हटाने का प्रश्न ही नहीं उठता। अकुशल तथा अयोग्य कर्मचारी किसी भी आर्थिक औद्योगिक इकाई को अनार्थिक बना देते हैं, अतएव उनको कुछ न कुछ दण्ड मिलना ही चाहिये। फिर भी यदि प्रारम्भिक अवस्था में कुछ बेकारी फैलती है तो वह स्थायी न होकर अस्थायी होती है। श्री टेलर के अनुसार, "जिन्हें इस बात का डर है कि प्रति व्यक्ति उत्पादन में वृद्धि हो जाने से दूसरे कर्मचारी बेरोजगार हो जायेंगे, उन्हें इस बात को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि सभ्य तथा

असभ्य, धनी तथा निर्धन देशों का एक सबसे बड़ा अन्तर यही होता है कि पहले प्रकार के देशों में औसत कर्मचारी दूसरी श्रेणी के देशों की अपेक्षा पाँच या छः गुना अधिक उत्पादन करते हैं।"

(५) जहाँ तक श्रमिक सङ्घों के विरोध का प्रश्न है तो उसके प्रत्युत्तर में केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि **श्रमिक संघों की भाँति वैज्ञानिक प्रबन्ध का उद्देश्य भी श्रम-पूँजी संघर्षों के स्थान पर उन दोनों में सामुदायिक भावना पैदा करना है।** दोनों को यह दिखलाना है कि बिना आपसी सहयोग के सफल उत्पादन सम्भव नहीं। अतः इसके द्वारा श्रमिकों तथा निर्माताओं की सारी समस्यायें हल हो जाती हैं। फिर विरोध क्यों और कैसे ?

(६) जहाँ तक प्रशिक्षित कर्मचारियों के **अभाव का प्रश्न है तो उसके प्रत्युत्तर में केवल यही कहना पर्याप्त होगा कि उनके प्रशिक्षण की व्यवस्था स्वयं निर्माता द्वारा की जा सकती है।** भारत के कई उद्योगपतियों ने अपने-अपने यहाँ कर्मचारियों के आवश्यक प्रशिक्षण की व्यवस्था कर रखी है। इनमें टाटा, बिड़ला, जैन आदि का नाम प्रसिद्ध है।

श्री होक्सी (Hoxie) के अनुसार, "टेलर का सिद्धान्त काफी सीमा तक काम लेने में अज्ञान के स्थान पर ज्ञान का प्रचार करता है तथा मालिक और नौकर दोनों को अनुचित माँग करने से रोक सकता है परन्तु स्वार्थी लोगों द्वारा इसका दुरुपयोग भी किया जा सकता है।"

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. वैज्ञानिक प्रबन्ध के प्रमुख लक्षण क्या हैं ? इसके पक्ष व विपक्ष में अपने विचार प्रकट कीजिये। (राजस्थान, १९७१; दिल्ली, १९६९ विक्रम, १९६९; आगरा, १९६९; एवं १९७२)
[संकेत—वैज्ञानिक प्रबन्ध का अर्थ; विशेषतायें; लाभ तथा हानियाँ।]

२. शीर्ष तथा समान्तर रेखा कर्मचारी सङ्गठन के मुख्य लक्षणों, लाभों तथा दोषों को समझाइये। (दिल्ली, १९७१)

३. वैज्ञानिक प्रबन्ध में समाहित सिद्धान्तों की पूर्ण चर्चा कीजिये तथा इसके लाभों को नियोक्ताओं की दृष्टि से समझाइये। (नागपुर, १९६९)

४. "वैज्ञानिक प्रबन्ध अमानवीय है।" क्या आप सहमत हैं ? विवेचना कीजिये। (दिल्ली, बी० कॉम० ऑनर्स, १९६९)

५. भारतीय उद्योगों के लिये वैज्ञानिक प्रबन्ध के महत्त्व को समझाइये। श्रम द्वारा इसके लागू करने का क्यों विरोध किया जाता है ? (इन्दौर, १९७०)

६. वैज्ञानिक प्रबन्ध के मूल सिद्धान्तों को संक्षेप में समझाइये तथा बताइये कि सङ्गठित श्रम इसके प्रयोग का क्यों विरोध करता है ? (जोधपुर, १९६९; नागपुर, १९६४)

७. वैज्ञानिक प्रबन्ध क्या है ? इसके प्रमुख तत्त्वों का वर्णन कीजिये। (जीवाजी, १९७०; दिल्ली, १९६८; इन्दौर, १९६६; जीवाजी, १९६५)

८. "प्रबन्ध का प्रधान उद्देश्य स्वामियों के लिये अधिकतम समृद्धि और साथ ही प्रत्येक सेवक के लिये अधिकतम समृद्धि प्राप्त करना होना चाहिये।" उक्त वक्तव्य की विवेचना कीजिये। (इन्दौर, १९६८; विक्रम, १९६१)
[संकेत—इस प्रश्न के उत्तर में वैज्ञानिक प्रबन्ध के केवल लाभों का ही वर्णन करना चाहिये।]

९. "वैज्ञानिक प्रबन्ध का श्रमिकों एवं नियोक्ताओं दोनों के द्वारा विरोध हुआ है।" कहाँ तक उनकी आलोचना उचित है ? अपने विचार दीजिये। (राजस्थान, १९६८)

१०. "वैज्ञानिक प्रबन्ध मौलिक रूप से सामान्यतः कुछ निश्चित व्यापक सिद्धान्तों पर आधारित है, इसका एक अपना निश्चित दर्शन (Philosophy) है, जो विविध रीतियों से लागू किया जा सकता है।" इस कथन की विवेचना कीजिये। (आगरा, १९६८)

११. "वैज्ञानिक प्रबन्ध का सार यह है कि श्रमिकों के दृष्टिकोण में पूर्ण परिवर्तन हो जाय और उतना ही परिवर्तन प्रबन्धकों के दृष्टिकोण में हो जाय।" इस कथन की आलोचनात्मक दृष्टि से जाँच कीजिये। (जोधपुर, १९७०; इन्दौर, १९६७)

१२. 'वैज्ञानिक प्रबन्ध' की परिभाषा दीजिये। इसके मुख्य सिद्धान्त क्या हैं ?भारतीय उद्योगों में वैज्ञानिक प्रबन्ध को प्रारम्भ करने की आवश्यकता का स्पष्टीकरण कीजिये। (नागपुर, १९६७)

१३. निम्नलिखित पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये :—

(i) वैज्ञानिक प्रबन्ध। (जोधपुर, १९७२)

(ii) समय तथा गति अध्ययन। (आगरा, १९७०)

१३

विवेकीकरण
(Rationalisation)

प्रारम्भिक—विवेकीकरण का अर्थ (Meaning of Rationalisation)

विवेकीकरण को अंग्रेजी में 'राशनेलाइजेशन' (Rationalisation) कहते हैं। इस शब्द की उत्पत्ति अंग्रेजी के राशनल (Rational) शब्द से हुई है, जिसका अर्थ है तर्क, युक्ति अथवा विवेक से कार्य करना। हिन्दी का शब्द 'विवेकीकरण' भी 'विवेक' शब्द से बना है, जिसका अर्थ है कार्य को सोच-समझकर करना। विवेकीकरण में भी कार्य को बहुत सोच-समझकर किया जाता है, जिससे उद्योग विशेष अन्य देशों के उद्योग से प्रतियोगिता कर सके। विवेकीकरण को अन्य कई नामों से भी पुकारा जाता है, जैसे अभिनवीकरण, वैज्ञानीकरण, युक्तीकरण आदि।

विवेकीकरण का उद्गम एवं विकास
(एक ऐतिहासिक पृष्ठभूमि)

जर्मनी विवेकीकरण का जन्मस्थान कहलाता है। प्रथम विश्वयुद्ध (१९१४-१९१८) के समाप्त होने पर, जबकि जर्मनी की आर्थिक दशा अत्यन्त दयनीय हो गई थी, सारे उद्योग-धन्धे चौपट हो गये थे, श्रमिकों की भारी कमी हो गई थी, पूँजी तथा अन्य साधनों की बड़ी न्यूनता थी तथा मित्र-राष्ट्रों के द्वारा बहुत लम्बे युद्ध के कर्जे लाद दिये गये थे, जिनका भुगतान करना असम्भव हो रहा था, तब वहाँ के उद्योगपतियों और अर्थशास्त्रियों ने इस ओर ध्यान दिया। वे यह जानते थे कि उपरोक्त परिस्थितियों का सामना करने के लिये उद्योगों का विकास करना अनिवार्य है। अतएव सन् १९१९ में जर्मनी ने विवेकीकरण का प्रारम्भ किया। सन् १९२१ में जर्मनी में एक बोर्ड की स्थापना की गई, जिसका नाम 'दी नेशनल बोर्ड फॉर इकॉनॉमी एण्ड एफीसियेन्सी' (The National Board for Economy & Efficiency) रखा गया। यह जर्मनी के तान्त्रिक तथा वैज्ञानिक संघों, फेडरेशन तथा आर्थिक मन्त्रणालय की प्रेरणा से स्थापित किया गया और १९२५ में इसको सर्वत्र मान्यता प्राप्त हो गई। सन् १९२६ में जर्मनी में एक नया नारा बुलन्द किया गया, जिसके कारण उसके राष्ट्रीय उद्योग में सर्वत्र विवेकीकरण के सिद्धान्तों को अपनाया जाने लगा।

सन् १९२९ में उस महान् विश्वव्यापी आर्थिक संकट का आरम्भ हुआ जिसने १० वर्ष तक समस्त संसार को गरीबी, बेरोजगारी तथा मन्दी की चक्की में पीस डाला। इस भयंकर मन्दी की मार के कारण उद्योग-धन्धों ने विवेकीकरण की शरण ली। उत्पादन-व्यय में कमी करने के लिये बरबादी को रोका गया। श्रम और पूँजी में एकता स्थापित हो गई। इस प्रकार विवेकीकरण का रूप राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय धारण कर गया।

विवेकीकरण की परिभाषायें
(Definitions of Rationalisation)

भिन्न-भिन्न विद्वानों ने विवेकीकरण की भिन्न-भिन्न परिभाषायें दी हैं। उनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषायें इस प्रकार हैं :—

(१) **जर्मनी की राष्ट्रीय बचत तथा कार्यक्षमता परिषद्** (National Board for Economy and Efficiency) के अनुसार, "विवेकीकरण तान्त्रिक साधनों तथा व्यवस्थित योजनाओं को कहते हैं, जो समस्त उद्योग को उन्नत बनाने, उत्पादन बढ़ाने, लागत कम करने तथा माल की किस्म को सुधारने में सहायक हों।"[1]

(२) **विश्व आर्थिक सम्मेलन जिनेवा**, १९२७ (The World Economic Conference Geneva, 1927) के अनुसार, "विवेकीकरण में श्रम के वैज्ञानिक संगठन, कच्चा माल तथा उत्पादित वस्तुओं के प्रमापीकरण, क्रियाओं के सरलीकरण तथा यातायात और विक्रय के साधनों में सुधार को सम्मिलित किया जाता है।"[2]

(३) **सन् १९३७ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन की विशेषज्ञ समिति ने विवेकीकरण की निम्न प्रामाणिक परिभाषायें प्रस्तुत की हैं :—(अ) साधारण अर्थ में**—"विवेकीकरण ऐसे सुधार को कहते हैं जिसके द्वारा पुरानी परम्परागत प्रणालियों के स्थान पर व्यवस्थित तथा तर्क पर आधारित विधियों का उपयोग किया जाता है।" (ब) **अत्यन्त संकुचित अर्थ में**—"विवेकीकरण किसी उद्योग, शासन, सार्वजनिक अथवा निजी संस्थाओं की कोई भी सुधार प्रवृत्ति है, जिसके द्वारा प्राचीन एवं परम्परागत पद्धतियों की जगह व्यवस्थित तथा तर्क पर आधारित विधियों का प्रयोग किया जाता है।" (स) **विस्तृत अर्थ में**—"विवेकीकरण ऐसे सुधार को कहते हैं जिससे व्यापारिक संस्थाओं के किसी समूह को एक इकाई मान लिया जाता है तथा व्यवस्थित एवं तर्क पर आधारित विधियों के द्वारा प्रतिस्पर्धा से होने वाली बर्बादी एवं हानि को रोका जाता है।" (द) **अति विस्तृत अर्थ में**—"विवेकीकरण ऐसे सुधार को कहते हैं जिसके द्वारा सम्पूर्ण आर्थिक एवं सामाजिक प्रयत्नों के लिये व्यवस्थित एवं तर्क पर आधारित विधियों का प्रयोग किया जाता है।" इस प्रकार संकुचित अर्थ में विवेकीकरण एक विशेष कारखाने पर, विस्तृत अर्थ में एक विशेष उद्योग पर तथा अत्यन्त विस्तृत अर्थ में समस्त समाज पर लागू होता है।

(४) **प्रो० सार्जेन्ट फ्लोरेंस** के अनुसार, "किसी उद्योग के अन्तर्गत सभी फार्मों (firms) के सामूहिक प्रयत्न से वैज्ञानिक एवं तर्कपूर्ण रीति से बर्बादी एवं अक्षमता दूर करने के प्रयत्नों को विवेकीकरण कहते हैं।"[3]

(५) **उर्विक** (Urwick) के अनुसार, "यह एक ऐसी पद्धति है जिसमें सङ्गठन, उत्पादन, वितरण एवं उपभोग के क्षेत्र में वैधानिक रीति का उपयोग किया जाता है।"

(६) **चेकोस्लोवाक राष्ट्रीय प्रबन्ध समिति** के अनुसार, "विवेकीकरण मानवीय क्रिया और विशेष रूप से आर्थिक क्रिया में मितव्ययिता लाने के लिये व्यवस्थित, सुविचारित तथा वैज्ञानिक रीति से सुसंगठित एक विधिवत् प्रयास है, जिससे उत्पादित वस्तुओं की किस्म में

---

1 "Rationalisation is the employment of all means of technique and ordered plans which serve to elevate the whole industry and to increase production, lower its cost and improve its quality."—**National Board of Economy and Efficiency.**

2 "Rationalisation includes the scientific organisation of labour, standardization both of material and products, simplification. of process and improvements in the system of transport and marketing."—**World Economic Conference Geneva.**

3 "Rationalisation is a movement to eliminate waste and inefficiency scientifically and logically by some sort of joint action between all the firms within one industry."—**Prof. Sargent Florence.**

सुधार होता है तथा मूल्यों में गिरावट आती है और इसके परिणामस्वरूप सामान्य कल्याण में वृद्धि होती है।"

(७) श्री मोण्ड के अनुसार, "उद्योग का विवेकीकरण उत्पादन को उपभोग के अनुसार समायोजित करके तथा व्यापारिक उतार-चढ़ाव के होते हुए भी मूल्य को इस प्रकार संचालित करता है कि वाणिज्य को एक प्रशस्त मार्ग मिल सके।"

निष्कर्ष—उपरोक्त परिभाषाएँ एक-दूसरे से भिन्न भले ही लगें, परन्तु वास्तविकता तो यह है कि उनमें बहुत कुछ समानता है। डॉक्टर नायडू एवं श्री ए० के० दत्ता ने जो परिभाषा दी है उसमें अन्य सभी परिभाषाओं का तत्त्व आ जाता है। यह सबसे उत्तम परिभाषा कही जा सकती है। उन्होंने विवेकीकरण की परिभाषा को निम्न पाँच भागों में विभाजित किया है :—(१) यह देश के विभिन्न उद्योगों के ध्येय, ढाँचे और प्रबन्ध में पूर्णरूप से परिवर्तन ला देता है। (२) यह प्रत्येक प्रकार के निरर्थक विनाश को दूर कर देता है। (३) यह श्रमिकों में कार्य-क्षमता ला देता है। (४) यह श्रमिकों के जीवन स्तर में प्रगति लाने का प्रयास करता है। (५) यह सम्पूर्ण समस्या किसी भी उद्योग विशेष के विषय में सामूहिक रूप से सोची जानी चाहिए, उनको किसी व्यक्तिगत उपक्रम के लिए अलग-अलग नहीं विचारना पड़ता।

विवेकीकरण के प्रमुख पहलू
(Salient Aspects of Rationalisation)

विवेकीकरण के प्रमुख पहलू निम्न हैं :—(१) तकनीकी पहलू (Technological Aspect), (२) संगठन पहलू (Organisation Aspect), (३) वित्तीय पहलू (Financial Aspect), (४) सामाजिक पहलू (Social Aspect)।

(१) तकनीकी पहलू (Technological Aspect)—विवेकीकरण का सबसे प्रमुख पहलू तकनीकी है। यह अनुसन्धान एवं प्रयोगों द्वारा आकार, विधि, किस्म तथा वस्तुओं का प्रमापीकरण करता है। अतएव इसके अन्तर्गत प्रमापीकरण (Standardisation), यन्त्रीकरण (Machanisation), विशिष्टीकरण (Specialisation), सरलीकरण (Simplification), गहनीकरण (Intensification), आधुनिकीकरण (Modernisation), वर्गीकरण (Classification) तथा स्वचालन (Automation) आदि आते हैं।

(२) संगठन पहलू (Organisational Aspect)—विवेकीकरण के प्रस्तुत पहलू का उद्देश्य उद्योग की अनार्थिक प्रतियोगिता को दूर करना होता है, जोकि आधुनिक प्रतिस्पर्धात्मक अर्थ-व्यवस्था की मूल विशेषता है। इस प्रकार विवेकीकरण किये जाने वाले उत्पादन की सम्पूर्ण मात्रा को उपभोग की सम्पूर्ण मात्रा मे समायोजित कर देता है, ताकि अर्थ-व्यवस्था में समायोजन एवं सन्तुलन के अवसर हो जायें और इस प्रकार उपभोग का तरीका सरल हो जाय।

(३) वित्तीय पहलू (Financial Aspect)—किसी भी औद्योगिक उपक्रम की प्रतियोगात्मक कुशलता बनाये रखने के लिए एक सुदृढ़ वित्तीय पहलू की आवश्यकता होती है। वित्तीय पहलू के अन्तर्गत विवेकीकरण ऐसी औद्योगिक इकाइयों से सम्बन्धित है जिनमें न तो अल्प-पूँजीकरण (Under capitalisation) की समस्या है और न अति-पूँजीकरण (Over-capitalisation) की समस्या।

(४) सामाजिक अथवा मानवीय पहलू (Social or Human Aspect)—विवेकीकरण केवल यान्त्रिक विज्ञान ही न होकर मानवीय कला भी है। अतएव इसके सामाजिक अथवा मानवीय पहलू की उपेक्षा नहीं की जा सकती। इस पहलू के अन्तर्गत विवेकीकरण के सामाजिक प्रभावों का विश्लेषण किया जाता है और श्रमिक असन्तोष एवं संघर्ष के कारणों का विश्लेषण

करके उन्हें दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। विभिन्न प्रोत्साहनात्मक योजनायें चालू की जाती हैं और श्रमिकों का मनोबल ऊँचा उठाने का प्रयास किया जाता है।

विवेकीकरण की विशेषतायें

उपर्युक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने पर विवेकीकरण की निम्न विशेषतायें स्पष्ट हो जाती हैं :—[१] विवेक, अनुसन्धान, अध्ययन एवं जांच-पड़ताल की पग-पग पर शरण लेना और हर प्रकार की बरबादी एवं अपव्यय को रोककर श्रमिकों की कार्यक्षमता बढ़ाना। [२] उद्योग के उद्देश्य, संरचना (Structure) तथा नियन्त्रण के सम्बन्ध में नवीन विचारधाराओं को प्रस्तुत करना। [३] उत्पादन, कार्यशीलता एवं प्रबन्ध में मितव्ययिता लाना। [४] उत्पादन तथा माँग में सन्तुलन बनाये रखना। [५] व्यापारियों की आर्थिक प्रतिस्पर्धा को रोककर उनमें सामूहिक रूप से सोचने की क्षमता प्रदान करना। [६] सम्पूर्ण समाज अर्थात् श्रमिक, उपभोक्ता तथा नियोक्ता सभी को लाभान्वित करने का प्रयास करना, [७] आर्थिक एवं सामाजिक तत्त्वों का विकास करना। [८] वस्तुओं के लागत व्यय में कमी करना। [९] उत्पादन की परम्परागत एवं जीर्ण विधियों के स्थान पर नवीन विधियों को लागू करना।

विवेकीकरण को अपनाने के कारण
(Causes Responsible for Rationalisation)

विद्यार्थियों की सुविधा की दृष्टि से विवेकीकरण के कारणों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

[१] **प्रथम विश्व-युद्ध का प्रभाव** (Effect of First World War)—प्रथम विश्व-युद्ध के कारण देश की आर्थिक दशा दयनीय हो गई थी, अतएव युद्ध समाप्त होते ही सर्वत्र शिथिलता (Slackness) आ गई, जिसके कारण कच्चा माल, श्रम, पूँजी व मशीनें आदि सभी में एक व्यापक कमी अनुभव होने लगी। इसी के कारण उत्पादन में वृद्धि करना प्रायः असम्भव प्रतीत होने लगा। इस प्रकार उत्पादन में वृद्धि करने तथा अन्तर्राष्ट्रीय प्रतियोगिता का सामना करने के लिये विवेकीकरण अत्यन्त आवश्यक हो गया।

[२] **श्रमिकों का सङ्गठन** (Labour Organisation)—श्रमिकों ने राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर श्रम-सङ्गठनों की स्थापना करके अपने अधिकारों की माँग की। परिणामस्वरूप एक तरफ तो उनका कार्यकाल घटा दिया गया तथा दूसरी ओर उनकी मजदूरी में वृद्धि की गई, अतएव उत्पादन-विधि में आवश्यक परिवर्तन के लिए विवेकीकरण का सहारा लेना आवश्यक हो गया।

[३] **मुद्रा प्रसार एवं बेकारी** (Inflation and Unemployment)—क्षतिग्रस्त कुछ देशों में मुद्रा-प्रसार होने तथा बेकारी फैल जाने के कारण उद्योग तथा व्यापार का सन्तुलन बिगड़ गया तथा उसको नियन्त्रित करने के लिये विवेकीकरण ही एकमात्र उपाय था।

[४] **विश्वव्यापी आर्थिक मन्दी का प्रभाव** [१९२९]—घटते हुए मूल्यों तथा बिगड़े हुए उत्पादन पर उचित नियन्त्रण स्थापित करने के लिये विवेकीकरण का अपनाया जाना आवश्यक हो गया, क्योंकि उत्पादन-व्यय में कमी लाना अनिवार्य था।

[५] **वैज्ञानिकता लाने हेतु** (To Bring Scientification)—उत्पादन-पद्धति में वैज्ञानिकता लाने हेतु भी विवेकीकरण का अपनाया जाना आवश्यक समझा गया।

[६] **उपभोक्ताओं के लाभार्थ** (To Safeguard Consumers' Interest)—उपभोक्ताओं को न्यूनतम मूल्य पर सस्ती, सुन्दर तथा टिकाऊ वस्तुयें उपलब्ध कराने के लिये विवेकीकरण ही एकमात्र सहारा था।

(७) **आर्थिक सुदृढ़ता लाने हेतु** (To Bring Financial Stability)—देश की आर्थिक स्थिति में पुन: स्थायित्व लाने के लिए उद्योगों का विकास करना आवश्यक था। उद्योगों का विकास बिना विवेकीकरण के असम्भव था, अतएव प्राय: सभी देशों में विवेकीकरण पर ही जोर दिया गया।

विवेकीकरण के उद्देश्य
(Objects of Rationalisation)

अन्तर्राष्ट्रीय अर्थ-सम्मेलन (जिनेवा, सन् १९२७) के अनुसार विवेकीकरण के उद्देश्य निम्न हैं :—(१) न्यूनतम् प्रयत्नों से अधिकतम् कार्यक्षमता प्राप्त करना। (२) श्रम शक्ति एवं कच्चे माल के निरर्थक व्यय को दूर करना। (३) वस्तुओं की वितरण-पद्धति में सरलता लाकर उसे उपयोगी करना। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निम्न प्रयत्न होने चाहिए :—(अ) वस्तुओं की विविधता दूर कर उनका प्रमापीकरण करना, (ब) अनावश्यक मध्यस्थों को दूर करना, (स) अनावश्यक आर्थिक व्यय को दूर करना, (द) अनावश्यक यातायात व्यय को कम करना, (इ) उत्पादन की पद्धति में सुधार करने के लिए अनुसन्धान करना, (फ) यन्त्र एवं औजारों का प्रमापीकरण करना, (४) सामाजिक जीवन को स्थायी बनाना एवं जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना, (५) माल की खपत बढ़ाने के लिये उपभोक्ताओं को सस्ती कीमत पर वस्तुओं का प्रदाय (Supply) सम्भव करना, (६) विविध श्रेणी के निर्माताओं को उचित पारिश्रमिक एवं लाभ सम्भव कर देना, (७) श्रमिक उपभोक्ताओं एवं समाज को सम्पन्न बनाना।

बम्बई सूती वस्त्र उद्योग श्रमिक जांच समिति, १९४१ के अनुसार विवेकीकरण के मुख्यत: निम्न तीन उद्देश्य हैं :—(अ) प्रति व्यक्ति अथवा प्रति मशीन के उत्पादन में वृद्धि करना; (ब) श्रमिकों की कार्यक्षमता तथा उनके कार्य करने की परिस्थितियों में सुधार करना; तथा (स) वित्तीय तथा औद्योगिक दृष्टि से औद्योगिक इकाइयों को पुन: संगठित करना।

विवेकीकरण के सिद्धान्त अथवा तकनीक
(Principles or Technique of Rationalisation)

यद्यपि विवेकीकरण का उदय जर्मनी में हुआ। किन्तु वह आज समस्त देशों के औद्योगिक सङ्गठनों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग बन गया है और उसकी प्राप्ति के लिये अलग-अलग देशों ने अपनी सुविधानुसार अलग-अलग प्रकार के ढङ्ग अपनाये हैं। किन्तु उन सबका उद्देश्य समान ही है, वे उसको प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील हैं। विवेकीकरण के मूल सिद्धान्त इस प्रकार हैं :—

[१] **प्रमापीकरण** (Standardisation)—उत्पादन में सरलता लाने के लिए प्रमापीकरण एक सुगम साधन है। **बालफर समिति**[1] (Balfour Committee) ने अपनी रिपोर्ट में बताया है कि उत्पादन के लिये कुछ विशेष चिन्हों को निश्चित करना तथा उत्पादन-कार्य में उन्हें अपनाना या वस्तुओं की बिक्री में उनका प्रयोग करना प्रमापीकरण है। इस प्रकार यदि वस्तुयें एक निश्चित प्रमाप के अनुसार बनाई जाती हैं तो उनके गुण तथा मूल्य के विषय में कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ती और उनका बाजार प्राय: निश्चित-सा हो जाता है। **डॉ० मेयर्स** (Charles S. Mayers) के अनुसार इस सिद्धान्त के द्वारा केवल उत्पादन की कार्यक्षमता ही नहीं बढ़ती, अपितु उत्पादन की शक्ति में वृद्धि होती है तथा वस्तु और धन का अपव्यय रुक जाता है। इस प्रकार प्रमापीकरण विवेकीकरण का प्रमुख अङ्ग है।

प्रो० किम्बाल के शब्दों में, "प्रमापीकरण उत्पादन की एक शाखा को थोड़े से आकारों,

---

[1] *Balfour Committee Report*, p. 266.

किस्मों तथा विशेषताओं में सीमित कर देने को कहते हैं।" उदाहरण के लिये, प्राचीनकाल में जूतों को बनाने वाले प्रत्येक व्यक्ति के पैर का नाप लेकर जूते तैयार किया करते थे। वे अपने यहाँ पहले से जूतों का स्टॉक नहीं रखते थे। परन्तु धीरे-धीरे उन्होंने यह अनुभव किया कि केवल थोड़े से स्टेण्डर्ड साइज के जूते तैयार करने पर प्रत्येक व्यक्ति के पैर के लायक जूते तैयार हो सकते हैं। इसी के आधार पर स्टेण्डर्ड नाप तैयार किया गया। आज आप किसी भी जूते की दूकान पर जाकर अपने नाप का जूता ले सकते हैं।

[२] **विशिष्टीकरण** (Specialisation)—प्रमापीकरण से विशिष्टीकरण को प्रोत्साहन मिलता है। जब वस्तुओं का प्रमाप निर्धारित कर दिया जाता है तो उनके उत्पादन में विशिष्ट कठिनाई नहीं आती। अलग-अलग उद्योग एवं व्यक्ति अपनी रुचि के अनुसार पृथक-पृथक उत्पादन तथा उनकी विधियों में विशिष्टता प्राप्त कर लेते हैं। इससे श्रम तथा पूँजी का अपव्यय रुक जाता है तथा उपभोक्ताओं और निर्माताओं को लाभ होता है। श्रमिकों की रुचि तथा योग्यता के अनुसार कार्य का विभाजन किया जाता है।

[३] **सरलीकरण** (Simplification)—प्रमापीकरण तथा विशिष्टीकरण के फलस्वरूप उत्पादन में सरलता आ जाती है। इससे उत्पादन की मात्रा बढ़ जाती है, उत्पादन-व्यय न्यूनतम् हो जाता है, विक्रय में वृद्धि होती है, जिसके परिणामस्वरूप लाभ की मात्रा बढ़ जाती है।

[४] **यन्त्रीकरण** (Mechanisation)—विवेकीकरण में प्रमापीकरण तथा विशिष्टीकरण तभी सम्भव हो सकता है, जबकि उद्योग पूर्णरूप से यन्त्रित हो। यन्त्रों के प्रयोग से उत्पादन में एकरूपता आती है। बड़े पैमाने पर उत्पादन सम्भव होता है तथा श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ती है। जर्मनी, रूस, अमेरिका, इङ्गलैण्ड व फ्रांस आदि समस्त औद्योगिक देशों में उद्योग का पूर्ण रूप से यन्त्रीकरण कर दिया गया है। पिछड़े राष्ट्र जैसे—भारतवर्ष भी इस ओर प्रयत्नशील हैं।

[५] **वैज्ञानिक प्रबन्ध** (Scientific Management)—श्रमिकों की कार्य करने की पद्धति तथा परिस्थितियों का विस्तृत अध्ययन विवेकीकरण के लिये आवश्यक है। उचित कार्य लेने तथा उचित पारिश्रमिक देने के लिये भी ऐसा करना आवश्यक है। श्रमिकों पर कार्य का न्यूनतम् भार पड़ना चाहिये, जिससे कि कार्यक्षमता का विकास हो तथा श्रम-पूँजी के संघर्ष न्यूनतम् हों।

[६] **औद्योगिक अनुसन्धान** (Industrial Research)—नये-नये साधन तथा क्रियाओं की खोज विवेकीकरण का एक अनिवार्य अङ्ग है। इसके लिये औद्योगिक अनुसन्धानशालायें स्थापित की जाती हैं, जहाँ पर उद्योग के सभी अङ्गों के सम्बन्ध में आवश्यक प्रयोग होते रहते हैं। इसमें उत्पादन-व्यय कम होता है, माल की क़िस्म में सुधार होता है तथा श्रमिकों की कार्य-क्षमता बढ़ जाती है।

[७] **नियन्त्रण** (Control)—प्रमापीकरण, विशिष्टीकरण, यन्त्रीकरण तथा विवेकीकरण का लाभ तब ही सम्भव हो सकता है, जबकि उत्पादन के समस्त अङ्गों पर आवश्यक नियन्त्रण हो। इस नियन्त्रण को स्थापित करने के लिये कितने ही प्रकार के साधन प्रयोग में लाये जाते हैं; जैसे—क्रय-विक्रय पर नियन्त्रण रखना, वस्तु, श्रम व पूँजी के अपव्यय को रोकना, उत्पादन की सीमा निर्धारित करना, श्रमिकों के कार्य पर नियन्त्रण रखना आदि।

[८] **संयुक्तीकरण** (Combination)—'सङ्गठन ही शक्ति है।' छोटी-छोटी तथा अनार्थिक इकाइयों को या तो समाप्त कर देना चाहिये अथवा उन्हें शक्तिवान् औद्योगिक इका-

वातावरण मिलता है, काम के घण्टे कम हो जाते हैं, काम का वितरण उनकी रुचि तथा योग्यता के अनुसार होता है। उनकी माँसपेशियों पर विशेष बोझ नहीं पड़ता, जिससे वे काम को दूने उत्साह से करने लगते हैं और इस प्रकार उनकी कार्यक्षमता में तीव्र गति से वृद्धि होती है।

(३) **गतिशीलता में वृद्धि**—विवेकीकरण की योजना के अन्तर्गत श्रम-विभाजन भी होता है। इसके आधार पर प्रत्येक श्रमिक निरन्तर एकसा काम करते रहने के कारण अपने कार्य का विशेषज्ञ होता है। अतएव वह उसी प्रकार के कार्य में अन्य उद्योगों में भी आसानी से स्थान प्राप्त कर सकता है। परिणामस्वरूप, श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि हो जाती है।

(४) **कार्य की दशाओं में सुधार**—विवेकीकरण की योजना के अन्तर्गत श्रमिकों की कार्य करने की दशाओं में सुधार किया जाता है, जिससे वे अधिक लगन एवं रुचि से कार्य करने लगते हैं।

(५) **रोजगार की स्थिरता**—विवेकीकरण के परिणामस्वरूप उद्योगों में स्थिरता आ जाती है, जिसके कारण रोजगार में भी स्थिरता आ जाती है। जहाँ तक बेरोजगारी का प्रश्न है, वह केवल अल्पकालीन ही होती है, जोकि बाद में स्वयं समाप्त हो जाती है।

(६) **परस्पर सहयोग**—विवेकीकरण के द्वारा मानसिक क्रान्ति के कारण श्रम व पूँजी में सहयोग स्थापित हो जाता है। अतएव उद्योगपति श्रमिकों को उत्पादन का अनिवार्य अंग मानते हुए अनेक प्रकार की सुविधाएँ प्रदान करते हैं; जैसे—मकानों की व्यवस्था करना, स्कूल तथा औषधालय खोलना तथा आमोद-प्रमोद की व्यवस्था करना आदि।

(III) उपभोक्ताओं को लाभ (Advantages to Consumers)—

(१) **मूल्य में कमी होना**—विवेकीकरण के परिणामस्वरूप उत्पादन-व्यय कम हो जाता है, जिसके कारण प्रायः मूल्यों में भी कमी हो जाती है। इसका सबसे अधिक लाभ उपभोक्ताओं को होता है, क्योंकि मूल्यों में कमी हो जाने से वे अब पहले से अधिक वस्तुओं का उसी धनराशि में क्रय कर सकते हैं।

(२) **वस्तुओं की किस्म में सुधार**—विशिष्टीकरण, अनुसन्धान तथा प्रयोग के द्वारा वस्तुओं की किस्म में सुधार हो जाता है। अतः उपभोक्ताओं को अब पहले की अपेक्षा अच्छे किस्म की वस्तुयें उपलब्ध हो जाती हैं।

(३) **चुनाव के झंझट से मुक्ति**—वस्तुओं का प्रमापीकरण हो जाने के कारण उपभोक्ताओं को वस्तुओं के चुनाव के झंझट से मुक्ति मिल जाती है। इसके अतिरिक्त वस्तुओं की किस्में सीमित होने के कारण उन्हें याद रखने में सुविधा रहती है।

(४) **रहन-सहन के स्तर में वृद्धि**—सस्ती, सुन्दर व टिकाऊ वस्तुएँ मिलने के कारण उपभोक्ताओं का जीवन-स्तर ऊँचा हो जाता है, क्योंकि वे पहले की अपेक्षा अधिक वस्तुओं का उपभोग करने में समर्थ हो जाते हैं।

(IV) देश को लाभ (Advantages to the Country)—

(१) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि**—इससे राष्ट्रीय आय बढ़ जाती है तथा आर्थिक सङ्कट से छुटकारा मिलता है।

(२) **व्यापारिक आर्थिक कुचक्रों से बचाव**—विवेकीकरण की योजना लागू होने से माँग एवं पूर्ति में समन्वय स्थापित हो जाता है। इससे देश व्यापारिक, आर्थिक कुचक्रों के प्रभाव से बचा रहता है।

(३) **देश के आर्थिक साधनों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग**—देश के आर्थिक साधनों का सर्वश्रेष्ठ उपयोग होता है तथा अपव्यय समाप्त हो जाता है।

(४) **विदेशी प्रतिस्पर्धा से रक्षा**—देश के उद्योगों का विकास होने तथा उत्पादन-व्यय कम होने के परिणामस्वरूप विदेशी प्रतिस्पर्धा से रक्षा होती है।

(५) **राष्ट्रीय बचत**—विवेकीकरण की योजना लागू होने के परिणामस्वरूप उत्पादन में कच्चे माल, श्रम व पूँजी का अपव्यय समाप्त होकर राष्ट्रीय बचत होती है।

(६) **आर्थिक सम्पन्नता**—विवेकीकरण के परिणामस्वरूप राष्ट्र में चहुँ ओर आर्थिक सम्पन्नता विद्यमान होती है, ख्याति में वृद्धि होती है तथा इस प्रकार राष्ट्र प्रगति के पथ पर तेजी से अग्रसर होने लगता है।

विवेकीकरण के दोष
(Disadvantages of Rationalisation)

विवेक का मार्ग तो सर्वश्रेष्ठ है जिसमें हानि की तो कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतएव हमारा यह कथन कि विवेक से कार्य करते रहने पर भी किसी-न-किसी परिस्थिति में हानि भी हो सकती है, सचमुच सबके लिये बड़े आश्चर्य की बात होगी। इस सम्बन्ध में हम पुनः यह दुहराना चाहते हैं कि यदि किसी भी औद्योगिक इकाई में विवेकीकरण के सभी सिद्धान्तों को पूर्णतया लागू किया जाय, तो दोषों के रहने का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु तथ्य यह है कि उद्योगपति विवेकीकरण का पूर्णरूप में अनुकरण न करते हुए केवल उसी भाग को अपनाते हैं, जिसमें कि उनका अधिकतम लाभ हो। परिणामस्वरूप इस प्रणाली में अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं, जो निम्नलिखित हैं :—

(१) **अत्यधिक पूँजीगत व्यय**—प्रारम्भिक अवस्था में विवेकीकरण की योजना लागू करते समय अत्यधिक पूँजीगत व्यय (Excess Capital Expenditure) होता है। यही कारण है कि उद्योगपति इसे लागू करने में हिचकिचाते हैं तथा स्थगित करने का ही प्रयत्न करते हैं। बाद में अनुसन्धान तथा प्रयोगों के परिणामस्वरूप कई बार नवीन पद्धतियाँ लागू करनी पड़ती हैं, जो अत्यन्त खर्चीली होती हैं।

(२) **बृहत व्यापार की बुराइयों की आशङ्का**—एक ही उद्योग की समस्त इकाइयाँ मिलकर वस्तुओं के निरर्थक व्यय समाप्त कर अथवा क्रय-विक्रय का केन्द्रीयकरण कर अन्य दृष्टि से मितव्ययिता प्राप्त करने के लिए संयोजनों (Combination) का निर्माण करती हैं। ये संयोजन कभी-कभी इतने विस्तृत आकार के हो सकते हैं, जिससे बृहत व्यापार (Big Business) की बुराइयाँ उनमें आ जाती हैं। वृहत व्यापार के दोषों से पाठकगण भली प्रकार परिचित हैं।

(३) **एकाधिकार का जन्म**—विवेकीकरण के कारण व्यापार एवं उद्योग में एकाधिकार (Monopoly) का जन्म होता है, जिससे कि कई बार उद्योग में असामाजिक नीति का अवलम्बन किया जाता है; जैसे—माल की कृत्रिम कमी कर देना, वस्तु के भावों में एक साथ वृद्धि करना आदि। इस समस्या का एकमात्र उपाय उद्योगों में राज्य का हस्तक्षेप होना है।

(४) **नियन्त्रण में कठिनाई**—विवेकीकरण के द्वारा उद्योगों का आकार बढ़ जाता है, जिससे उसका नियन्त्रण करना बहुत कठिन हो जाता है, क्योंकि उनके अलग-अलग अंगों पर समान नियन्त्रण रखने के लिये जितनी शक्ति व्यय होती है, उस अनुपात में लाभ नहीं होता।

(५) **मौलिकता तथा व्यक्तित्व का नाश**—अत्यधिक प्रमापीकरण से मौलिकता तथा व्यक्तित्व का नाश हो जाता है, श्रमिकों की स्वतन्त्रता का हनन होता है तथा उनका व्यक्तित्व क्षीण हो जाता है। वे मशीन की भाँति कार्य करने लगते हैं। उनका जीवन नीरस हो जाता है।

(६) **लघु एवं कुटीर उद्योगों पर कुप्रभाव**—बड़ी-बड़ी भीमकाय उत्पादन करने

वाली कम्पनियों की स्थापना से लघु एवं कुटीर उद्योगों का अस्तित्व खतरे में पड़ जाता है। देश की कला का विनाश हो जाता है।

(७) **पुरानी मशीनों की बर्बादी**—आधुनिकीकरण के परिणामस्वरूप नई-नई मशीनें चलन में आ जाती हैं तथा पुरानी मशीनें बेकार हो जाती हैं। कुछ लोगों के मतानुसार यदि आधुनिकीकरण में लगाई जाने वाली पूँजी नये उद्योगों के विकास में लगाई जाती तो शायद अधिक लाभ होता।

(८) **योग्य व्यक्तियों का अभाव**—विवेकीकरण में मुख्य कठिनाई यह भी है कि इसमें उद्योगों के संचालन हेतु योग्य (Efficient) व्यक्तियों की आवश्यकता पड़ती है, जिनका मिलना कोई आसान कार्य नहीं है और इस प्रकार संचालन में शिथिलता आ जाती है।

(९) **असहयोग आन्दोलन का भय**—भिन्न-भिन्न विभागों में स्वतन्त्रता की भावना जाग्रत होने से असहयोग की भावना जाग्रत हो जाने का भय हो जाता है। इससे उत्पादन कम होगा तथा आपस में अस्वस्थ वातावरण उत्पन्न हो जाता है।

(१०) **श्रमिकों द्वारा विरोध** (Opposition by Workers)—विवेकीकरण का सबसे बड़ा दोष श्रमिकों तथा श्रम सङ्घों द्वारा घोर विरोध किया जाना है। कुछ समय पूर्व कानपुर सूती वस्त्र मिल उद्योग में विवेकीकरण के प्रश्न पर श्रमिकों द्वारा एक बहुत लम्बी हड़ताल की गई थी। श्रमिकों द्वारा विरोध किये जाने के निम्नलिखित कारण हैं:—(i) **बेरोजगारी की आशंका**—आधुनिक स्व-संचालित मशीनों के प्रयोग से तात्कालिक प्रभाव पर्याप्त संख्या में श्रमिकों का काम से अलग किया जाना है। इससे उनमें बेरोजगारी, भुखमरी तथा गरीबी बढ़ती है। (ii) **काम का बोझ बढ़ना**—श्रमिकों को पहले की अपेक्षा अधिक कार्य करना पड़ता है, जिसके कारण शायद उनमें असन्तोष की भावना उत्पन्न होती है। कारखानों का वातावरण अस्वस्थ होने के कारण उन्हें काम बोझ-स्वरूप प्रतीत होन लगता है। (iii) **पूँजी का श्रम पर आधिपत्य**—विवेकीकरण में नई-नई स्वय-संचालित मशीनों का प्रयोग होने से मशीनों की महिमा तो बढ़ जाती है, किन्तु श्रमिकों का महत्त्व उतना ही कम हो जाता है। उन पर पूँजी का आधिपत्य हो जाता है। (iv) **श्रमिकों का शोषण**—विवेकीकरण के कारण जो उत्पादन में वृद्धि होती है तथा लाभ की मात्रा भी पहले से कहीं अधिक हो जाती है, उसमें से श्रमिकों को या तो कुछ भी नहीं दिया जाता अथवा बहुत थोड़ा-सा हिस्सा दिया जाता है। (v) **संगठन के दोष श्रमिकों के मत्थे**—कुछ श्रम-सङ्घों का यह मत है कि पूँजीपति संगठन सम्बन्धी दोषों को श्रमिकों के मत्थे मढ़ना चाहते हैं तथा उन पर काम का बोझ बढ़ाकर अधिक धन कमाना चाहते हैं। (vi) **नीरस एवं यन्त्रवत जीवन**—यन्त्रों पर कार्य करते-करते श्रमिकों का जीवन नीरस एवं यन्त्रवत बन जाता है।

श्रमिकों द्वारा विरोध का समापन—

सैद्धान्तिक रूप से श्रमिकों द्वारा विरोध को उचित नहीं ठहराया जा सकता। किन्तु फिर भी इस योजना को लागू करने से पहले कुछ सावधानियाँ अवश्य ध्यान में रखनी चाहिये, ताकि या तो उनका विरोध ही न हो अथवा यदि हो तो उसका समाधान किया जा सके, जिससे कि कोई अप्रिय घटना घटित न हो। ये सावधानियाँ निम्न हैं:—(१) जहाँ तक सम्भव हो सके विवेकीकरण की योजना को **धीरे-धीरे कार्यान्वित किया जाना चाहिए**। बेकार होने वाले श्रमिकों के लिये कोई न कोई रोजगार का प्रबन्ध अवश्य किया जाना चाहिये। अस्थायी बेकारी को श्रमिकों को आर्थिक सहायता देकर भी दूर किया जा सकता है। (२) विवेकीकरण की योजना पर **श्रमिकों की सहमति** ले लेनी चाहिये। (३) विवेकीकरण से मिलने वाले **लाभों का सभी पक्षों**

(अर्थात् श्रमिक, मालिक व उपभोक्ता) में **समान वितरण** होना चाहिये। (४) विवेकीकरण की योजना का **श्रमिकों के बीच पर्याप्त प्रचार किया जाना चाहिए,** ताकि वे किसी गलतफहमी के शिकार न हो सकें। उनमें यह बात बिठाई जानी चाहिये कि यह योजना उनके लाभ के लिये है, हानि के लिये नहीं। (५) श्रम एवं पूँजी में परस्पर सहयोग स्थापित करने के लिये **श्रमिकों को भी प्रबन्ध में हिस्सा दिया जाना चाहिए।** (६) विवेकीकरण की योजना के द्वारा **प्रबन्ध सम्बन्धी दोषों को दूर करने का प्रयत्न** किया जाना चाहिये। (७) इस योजना को लागू करते समय इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिए कि **श्रमिकों पर काम के बोझ में वृद्धि न हो। किन्तु यदि इस प्रकार की वृद्धि होना आवश्यक हो तो श्रमिकों के पारिश्रमिक में अपेक्षाकृत अधिक दर से वृद्धि की घोषणा कर देनी चाहिए।**

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. वैज्ञानिक प्रबन्ध और विवेकीकरण में अन्तर बताइये। भारत में इसे लागू करने में क्या-क्या बाधायें हैं ? (आगरा, १९६७ एवं १९७२)
[**सङ्केत**—वैज्ञानिक प्रबन्ध तथा विवेकीकरण में अन्तर; भारत में विवेकीकरण को लागू करने में बाधायें :—(१) अत्यधिक पूँजी गत व्यय करना सम्भव नहीं; (२) नियन्त्रण में कठिनाई; (३) लघु एवं कुटीर उद्योगों पर कुप्रभाव; (४) पुरानी मशीनों का क्या होगा ? (५) योग्य व्यक्तियों का अभाव; (६) श्रमिकों द्वारा विरोध का भय; (७) मालिकों द्वारा विरोध; (८) छोटी इकाइयों पर कुप्रभाव; (९) तान्त्रिक ज्ञान का अभाव; (१०) पूँजी का अभाव।]

२. विवेकीकरण के गुण-दोषों को संक्षेप में बताइये, इसकी बुराइयों को दूर करने के सुझाव दीजिए। (आगरा, १९७२; राजस्थान, १९७०)

३. विवेकीकरण का अर्थ, उद्देश्य तथा ढंग स्पष्ट कीजिए। यह वैज्ञानिक प्रबन्ध से किस प्रकार भिन्न है ? (विक्रम, १९७०; जोधपुर, १९७०)

४. विवेकीकरण तथा वैज्ञानिक प्रबन्ध में अन्तर बताइये। (आगरा, १९६७; राज०, १९६५ एवं १९६७; विक्रम, १९६६ एवं १९६७; बिहार, १९६४; नागपुर, १९६४)

५. विवेकीकरण किसे कहते हैं ? इसके क्या उद्देश्य हैं ? (इन्दौर, १९६५ एवं १९७०; विक्रम १९६६)

६. उद्योग के विवेकीकरण तथा उद्योग के राष्ट्रीयकरण में अन्तर बताइये। (जोधपुर, १९७०; राजस्थान, १९६९)

७. विवेकीकरण की परिभाषा दीजिये। विवेकीकरण से क्या लाभ व हानियाँ हैं ? (आगरा, १९७०; लखनऊ, १९७०; इलाहाबाद, १९५४)

८. विवेकीकरण का अर्थ बताइये तथा भारतीय औद्योगिक श्रमिकों के इसके प्रति दृष्टिकोण की जाँच कीजिये। (विक्रम, १९६९; पंजाब, १९६८)
[**संकेत**—विवेकीकरण का अर्थ; भारतीय औद्योगिक श्रमिकों के द्वारा विरोध के कारण; श्रमिकों द्वारा विरोध का समाधान।]

९. 'विवेकीकरण' से आप क्या समझते हैं ? क्या यह अधिक उत्पादन तथा श्रमिकों के लिए अधिक रोजगार की ओर अग्रसित करता है ? विवेचना कीजिये। (गोरखपुर, १९७०)

१४

भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण

(Rationalisation in Indian Industries)

प्रारम्भिक—भारत में विवेकीकरण की आवश्यकता क्यों और कैसे ?

हमारे यहाँ की अधिकांश मशीनें घिसी-पिटी अवस्था में हैं, श्रमिक भी अकुशल हैं, कच्चे माल का पूर्णतया उपभोग नहीं हो पाता, माल का उत्पादन कम होने के साथ-साथ किस्म भी निम्न श्रेणी की है, अनुसन्धान का अभाव है तथा उत्पादन-व्यय अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों के मुकाबले में बहुत अधिक है। परिणामस्वरूप हमको देश व विदेश दोनों में तीव्र विदेशी प्रतिस्पर्धा का सामना करना पड़ता है। कपड़े को ही लीजिये, चीन व जापान से प्रतिस्पर्धा होने के कारण हमारे इस विशाल उद्योग के पैर भी डगमगाने लगे हैं। आज पाकिस्तान, चीन, जापान आदि चट्टान की भाँति हमारे विदेशी व्यापार के विकास को रोके हुये हैं। यदि हम फौरन नहीं जागे तो उनकी प्रतिस्पर्धा के आगे हम अपने आन्तरिक व विदेशी दोनों प्रकार के व्यापार को खो बैठेंगे। भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की योजना को लागू करने से उत्पादन में आश्चर्यजनक वृद्धि होगी, उत्पादन व्यय कम होगा, राष्ट्रीय आय में वृद्धि होगी, राष्ट्र आर्थिक क्षेत्र में दिन-दूनी रात-चौगुनी गति से प्रगति करेगा तथापि बेकारी जैसी गम्भीर समस्या को कुछ न कुछ राहत अवश्य मिलेगी। यही कारण है कि हमारे देश में सन् १९२६ के रॉयल कमीशन ऑफ एग्रीकल्चर के बाद जितने भी औद्योगिक कमीशन अथवा समितियाँ बैठीं, प्रायः सभी ने भारत मे विवेकीकरण की आवश्यकता पर बल दिया है। आज हमारे देश के उद्योगों में विवेकीकरण की सबसे अधिक आवश्यकता है। इसके निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) **अतिरिक्त रोजगार प्रदान करने के लिये (To find additional Jobs)**—बेकारी की समस्या स्वतन्त्र भारत की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या है, जिसका उल्लेख राजनैतिक व ग्राम सभाओं, आर्थिक सम्मेलनों, विद्यार्थियों की सभाओं, औद्योगिक संस्थाओं, राज्य की विधान सभाओं तथा लोक सभा आदि सभी महत्त्वपूर्ण स्थानों पर किया जाता है। दिनों-दिन यह समस्या भयंकर रूप धारण करती जा रही है। परिणामस्वरूप लाखों बेकार व्यक्ति रोजगार की तलाश में उद्योगों की ओर आकर्षित होते हैं। इसके लिए यह आवश्यक है कि उद्योगों का विकास किया जाय, किन्तु अप्रचलित मशीनरी एवं परम्परागत पद्धतियों के द्वारा इस कार्य को करना एक प्रकार से आपत्ति को आमन्त्रित करना है, क्योंकि आधुनिक विषम प्रतिस्पर्धा के युग में अकुशल उद्योग अधिक समय तक नहीं टिक सकते। अतएव रोजगार के साधनों का विकास करने के लिए परमावश्यक है कि भारतीय उद्योगों में तेजी से विवेकीकरण की योजना लागू की जाय। यद्यपि विवेकीकरण से प्रारम्भिक अवस्था में केवल कुछ समय के लिये बेकारी बढ़ सकती है, परन्तु दीर्घकाल में रोजगार के अवसरों में निश्चित रूप से वृद्धि हो जाती है। इङ्गलैण्ड में सूती वस्त्र उद्योग में काम करने वालों की संख्या, नवीन अविष्कारों

के पहले की अपेक्षा, एक पीढ़ी में दस गुनी हो गई थी। अमेरिका में भी पिछले ६० वर्षों में रोजगार के अवसर १८ मिलियन (एक मिलियन दस लाख का होता है) से बढ़कर ६० मिलियन तक पहुँच गये, तथापि १९३९-५३ के बीच रोजगार के अवसरों में ७५ प्रतिशत की वृद्धि हुई। भारत के आधुनिक उद्योग भी, विवेकीकरण के लागू होने पर, प्रतिवर्ष लगभग २५ लाख अतिरिक्त रोजगार के अवसर प्रदान करने की क्षमता रखते हैं।

(२) **दरिद्रता तथा निम्न उत्पादकता के विरुद्ध प्रचार के लिये** (An antidote to Poverty and Low Productivity)—भारतीय उद्योगों में घिसी-पिटी मशीनरी एवं परम्परागत पद्धतियों से कार्य होने के कारण उत्पादन कम तथा निम्न श्रेणी का होता है। कम उत्पादन होने से लागत अधिक पड़ती है। इसका प्रभाव श्रमिकों की मजदूरी पर पड़ता है। श्रमिकों की मजदूरी कम कर दी जाती है। मजदूरी कम होने से क्रय-शक्ति भी कम हो जाती है और इस प्रकार वस्तुओं की माँग कम हो जाती है। वस्तुओं की माँग कम होने के कारण बाद में उत्पादन भी कम होता है। यह कुचक्र औद्योगिक दृष्टि से पिछड़े हुये राष्ट्रों (जैसे भारतवर्ष) की दरिद्रता का मुख्य कारण है। इसका एकमात्र उपचार यही है कि आधुनिक यन्त्रों व विधियों के द्वारा उद्योगों की उत्पादकता में वृद्धि की जाय, जिससे कि उत्पादन सस्ता हो जाय, श्रमिकों की मजदूरी में वृद्धि हो जाय, तथापि रहन-सहन का स्तर ऊँचा उठे।

(३) **अनार्थिक इकाइयों को हटाने के लिये** (The existence of un-economic Units)—भारत के प्रत्येक उद्योग में अधिकांश औद्योगिक इकाइयों का आकार अनार्थिक है। भारतीय सूती वस्त्र उद्योग के लिये नियुक्त कार्यशील दल, १९६० (The Working Group of the Cotton Textile Industry, 1960) ने ९ सूती वस्त्र मिलों का आकार अनार्थिक बतलाया था और यह सुझाव दिया था कि उन्हें या तो अन्य इकाइयों के साथ मिला दिया जाय या उन्हें समाप्त कर दिया जाय। किसी भी उद्योग में अनार्थिक इकाइयों का होना उसके एवं समूचे देश के लिये एक प्रकार से भार ही है। विशेषज्ञों की राय में एक सूती वस्त्र मिल उस समय अनार्थिक माना जायेगा जबकि उसमें तकुओं तथा करघों की संख्या क्रमशः २५,००० तथा ५०० से कम हो। इसी प्रकार ८०० टन प्रतिदिन से कम गन्ना पेरने की क्षमता रखने वाले चीनी मिल, ८,००० टन प्रतिवर्ष से कम उत्पादन करने वाले कागज मिल, १,५०,००० टन प्रतिवर्ष से कम उत्पादन-क्षमता रखने वाले सीमेंट के कारखाने अनार्थिक इकाइयों की श्रेणी में गिने जायेंगे। विवेकीकरण तथा सामूहिक प्रयत्नों के द्वारा इन आर्थिक इकाइयों को अनुकूलतम् इकाइयों में परिणत किया जा सकता है।

(४) **सहकारी क्रियाओं के द्वारा कार्यक्षमता में वृद्धि करने के लिये** (To increase efficiency by Co-operative action)—यह तो सर्वविदित ही है कि भारतीय उद्योग प्रायः पिछड़े तथा अकुशल हैं। हमारे जूट उद्योग, चीनी उद्योग, सूती वस्त्र उद्योग तथा अन्य सभी उद्योगों में सहकारी क्रियाओं का भारी अभाव पाया जाता है। "वे मिलकर तैरने की अपेक्षा अकेले रहकर डूबना अधिक पसन्द करते हैं।"[1] इस प्रकार भारतीय उद्योगों में अलग रहने की भावना अपना घर किये हुये है। फलतः भारतीय उद्योगों की कार्यक्षमता में वृद्धि नहीं हो पाती। विवेकीकरण के अन्तर्गत भारतीय उद्योगों के बीच सहकारी भावना जाग्रत होती है, तथापि उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि हो जाती है। एक-दूसरे को नीचा दिखाने की अपेक्षा 'जीयो और जीने दो' की भावना का विकास होता है।

---

1 They have preferred sinking alone to swimming together.

(५) **अप्रचलित तथा घिसी-पिटी मशीनरी को बदलने के लिये** (Replacement of worn out & obsolete machinery and equipment)—भारत के प्राचीन उद्योगों (जैसे—सूती वस्त्र उद्योग, चीनी उद्योग, जूट उद्योग) में लगी हुई अधिकांश मशीनरी अप्रचलित तथा घिसी-पिटी अवस्था की है। अतएव इसकी मरम्मत तथा इसे कार्यशील बनाये रखने में अत्यधिक व्यय करना पड़ता है। उसका भार भी श्रमिकों पर अधिक पड़ता है। इसके कारण श्रमिकों की कार्यक्षमता कम हो जाती है। उत्पादन भी कम होता है। माल की किस्म में भी सुधार नहीं हो पाता। इसी कारण हमारे उद्योग विदेशी प्रतिस्पर्धा के मुकाबले में टिक नहीं पाते। अतएव भारतीय उद्योगों एवं श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि करने तथा विदेशी प्रतिस्पर्धा का मुकाबला करने के लिये यह परम आवश्यक है कि इस अप्रचलित तथा घिसी-पिटी मशीनरी के स्थान पर विवेकीकरण के द्वारा नवीनतम् मशीनरी की स्थापना की जाय।

(६) **विदेशी विनिमय का अर्जन तथा निर्यात सम्वर्धन के लिये** (Earning Foreign Exchange and Export Promotion)—युद्धकाल में भारतीय उद्योगों ने अपने माल की खपत के लिये काफी बड़ा बाजार तैयार कर लिया था। परन्तु अब यह बाजार शनैः-शनैः हमारे हाथ से निकलता जा रहा है। परिणामस्वरूप पिछले कई वर्षों से हमारे विदेशी व्यापार का सन्तुलन प्रतिकूल चला आ रहा है। इस प्रतिकूल व्यापार सन्तुलन के कारण हमारे स्टर्लिङ्ग कोष प्रायः आज समाप्ति पर हैं। देश की ऋणग्रस्तता निरन्तर बढ़ती ही चली जा रही है। इसका प्रमुख कारण यह है कि भारत में निर्मित माल महँगा पड़ता है तथा उनकी किस्म भी निम्न श्रेणी की है। इसीलिये विदेशी प्रतिस्पर्धा के सामने हमारे उद्योग नहीं टिक पा रहे हैं। भारतीय उद्योगों की विदेशी विनिमय अर्जन-क्षमता बढ़ाने के लिये हमने कई मास से निर्यात-सम्वर्धन आन्दोलन चला रखा है, किन्तु उसमें भी हमें आशाजनक सफलता नहीं मिल पा रही है, क्योंकि भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण का अभाव है। परिणामस्वरूप, इस दृष्टि से भी हमें अपने उद्योगों में विवेकीकरण को प्राथमिकता देना प्रायः अनिवार्य-सा हो जाता है।

(७) **विदेशी प्रतिस्पर्धियों द्वारा विवेकीकरण** (Rationalisation by our Foreign Competitors)—हमारे प्रतिस्पर्धियों ने अपने यहाँ के उद्योगों का पूर्ण रूप से विवेकीकरण तथा आधुनिकीकरण कर लिया है। सूती कपड़ा तथा पटसन के विदेशी बाजारों को ही लीजिये। किसी समय में इन दोनों वस्तुओं के विदेशी बाजारों पर भारत का आधिपत्य था, किन्तु आज इन दोनों वस्तुओं के बाजार हमारे हाथ से शनैः-शनैः निकलते जा रहे हैं। पटसन के क्षेत्र में पाकिस्तान तथा सूती वस्त्र उद्योग के क्षेत्र में जापान, चीन, ब्रिटेन आदि हमारे कटु प्रतियोगी हैं। पाकिस्तान ने आस्ट्रेलिया के बाजार का ७५% भाग तथा क्यूबा के बाजार का ५०% भाग हथिया लिया है। इसी प्रकार चीन, जापान तथा ब्रिटेन आदि सूती वस्त्र के विदेशी बाजार पर अपना आधिपत्य कायम करते चले आ रहे हैं। फलतः यदि हम चाहते हैं कि प्रतिस्पर्धा के क्षेत्र में किसी अन्य देश से पीछे न रहें, तो उनकी भाँति हमें भी विवेकीकरण एवं आधुनिकीकरण का सहारा लेना होगा।

(८) **भारतीय उद्योगों को निरन्तर घाटे से बचाने के लिये** (To save the Indian Industries from Continuous Loss)—पिछले कुछ वर्षों से भारतीय उद्योगपतियों की यह आम शिकायत है कि उन्हें उद्योगों के चलाने से आशाजनक लाभ नहीं हो पा रहा है। बहुत से उद्योग तो घाटे पर चल रहे हैं। अनेक मिलें बन्द हो चुकी हैं और बहुत-सी आंशिक रूप से काम कर रही हैं। विवेकीकरण के द्वारा उनके इस घाटे का अन्त किया जा सकता है। यही नहीं, घाटे के स्थान पर पर्याप्त लाभ भी हो सकता है, बशर्ते घाटे वाले उद्योगों में विवेकीकरण एवं आधुनिकीकरण की योजनायें लागू की जायें।

(६) **मूल्यों में स्थायित्व लाने के लिये** (Prices Stabilisation)—आज हमारे देश में सभी वस्तुओं के मूल्य निरन्तर बढ़ते चले जा रहे हैं। इस निरन्तर मूल्य-वृद्धि का लोगों के सामान्य जीवन-स्तर पर इतना बुरा प्रभाव पड़ता है कि अब उनके मन में योजनाओं के प्रति भी तरह-तरह की शंकायें उत्पन्न होने लगी हैं। यदि मूल्य-स्तर में इसी गति से वृद्धि होती रही, तो हमें चतुर्थ योजना के निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये पहले से कहीं अधिक धन की आवश्यकता होगी। इस निरन्तर मूल्य-वृद्धि का प्रमुख कारण विभिन्न उद्योगों में निर्धारित लक्ष्यों का प्राप्त न होना है। इसके लिये आवश्यक है कि विभिन्न उद्योगों में विवेकीकरण एवं आधुनिकीकरण की योजनायें लागू की जायें। उत्पादन में वृद्धि होने से मूल्यों में स्वतः स्थायित्व आ जायेगा। इससे निर्यात को भी प्रोत्साहन मिलेगा। यदि अत्यधिक उत्पादन होने के कारण मूल्यों में आशा से अधिक गिरावट होने की सम्भावना हो, तो इस अतिरिक्त उत्पादन का निर्यात करके मूल्यों में पुनः स्थायित्व कायम किया जा सकता है।

(१०) **कमेटियों तथा उद्योगों की सिफारिशों को कार्यान्वित करने के लिये** (Recommendations by Committees and Commissions)—युद्धकाल तथा मुख्यतः स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् अनेक कमेटियों तथा आयोगों ने भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की आवश्यकता पर जोर दिया है। इनमें निम्नलिखित नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं :—(i) उद्योग विकास समिति, १९५१; (ii) योजना आयोग; (iii) सूती वस्त्र उद्योग के लिये नियुक्त कार्यशील दल, १९५२; (iv) पटसन जाँच आयोग; १९५३; (v) फोर्ड फाउण्डेशन के लिये अन्तर्राष्ट्रीय योजना दल, १९५४; (vi) भारतीय लोक सभा प्रस्ताव, १९५४; (vii) कानपुर सूती वस्त्र मिल विवेकीकरण समिति, १९५६; (viii) निर्यात संवर्धन समिति, १९५७; (ix) भारतीय श्रम-सम्मेलन, १९५७; (x) सूती वस्त्र जाँच समिति, १९५८; (xi) जूट उद्योग के लिये भारत सरकार द्वारा नियुक्त आधुनिकीकरण समिति, १९५८; (xii) सूती वस्त्र उद्योग के लिये कार्यशील दल, १९६०; (xiii) चीनी उद्योग के लिये विकास परिषद्, १९६२ आदि।

(११) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि के लिये** (Increase in National Income)—आज हमारे देश में प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय अन्य प्रगतिशील देशों की तुलना में बहुत कम है। इसी कारण भारत एक पिछड़ा हुआ एवं अविकसित राष्ट्र कहलाता है। आखिर ऐसा क्यों ? इसका प्रमुख कारण भारतीय उद्योगों की उत्पादन-क्षमता अपेक्षाकृत कम होना है। भारतीय उद्योगों में, विवेकीकरण लागू किये जाने से उत्पादन-क्षमता में निश्चित रूप से वृद्धि होगी और इस प्रकार प्रति व्यक्ति राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होगी। तब भारत की गिनती अविकसित राष्ट्रों में न होकर विकसित राष्ट्रों में होगी। जनसाधारण का सामान्य जीवन-स्तर भी ऊँचा उठेगा।

भारतीय उद्योगो में विवेकोकरण आन्दोलन की धीमी गति के कारण
(Causes of slon progress of Rationalisation Movement in India)

भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की सबसे अधिक आवश्यकता होते हुये भी इसकी प्रगति सन्तोषजनक रही है। सन् १९२० के आर्थिक सङ्कट से पूर्व विवेकीकरण की ओर कुछ भी ध्यान नहीं दिया गया था। जब उद्योगों को निरन्तर घाटे का सामना करना पड़ा तो उन्हें विवश होकर विवेकीकरण की शरण लेनी पड़ी। अतः जूट के उद्योग में उत्पादन तथा काम के घण्टे कम कर दिये गये, जिससे कि उत्पादन तथा माँग में सन्तुलन रहे। कुछ मिलों को बन्द भी कर दिया गया था। कहीं-कहीं सरकार का हस्तक्षेप भी हुआ। ए० सी० सी० (Associated Cement Companies) के संयोग (Combination) का निर्माण किया गया। कपड़ा तथा चीनी उद्योग में किये जाने वाले विवेकीकरण का इतिहास भी सन्तोषजनक नहीं है, क्योंकि

इसके द्वारा उत्पादकों को बहुत बड़ी सीमा तक हानि ही रही । भारत में विवेकीकरण आन्दोलन की धीमी गति के मुख्य रूप से निम्नलिखित कारण हैं :—

(१) **पूँजी का अभाव**—अभिनवीकरण (Modernisation) की योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये भारत में पूँजी का भारी अभाव है। हमारी मशीनें घिसी-पिटी एवं जीर्ण अवस्था में हैं। मशीनों का तो कहना ही क्या, यहाँ तक कि उनके पुर्जों तक का आयात अभी तक हमको विदेशों से करना पड़ता है। यही कारण है कि हमारे उद्योग विदेशी प्रतिस्पर्धा का मुकाबला नहीं कर पा रहे हैं।

(२) **विदेशी सरकार की नीति**—विदेशी सरकार की नीति भारतीय उद्योगों के विकास के विपरीत थी। वे भारत को इङ्गलैंड के कारखानों के लिये कच्चे माल के निर्यातक के रूप में देखना चाहते थे। अत: उन्होंने इस क्षेत्र में कोई विशेष रुचि नहीं ली।

(३) **सद्भावना का अभाव**—भारतीय उद्योगपतियों मे पारस्परिक सद्भावना का सदैव अभाव रहा है। व्यक्तिगत स्वार्थों के कारण ये लोग किसी समझौते पर राजी न होते थे। जो कुछ समझौते हुये भी उनका जीवन अल्पकालीन ही रहा।

(४) **बेकारी का भय**—बेकारी की समस्या स्वतन्त्र भारत की एक महत्त्वपूर्ण समस्या है। विवेकीकरण की योजना लागू होने से बेकारी में वृद्धि होने का भय हैं। अतएव इसका विरोध होना स्वाभाविक ही है।

(५) **श्रम व पूँजी के संघर्ष**—विवेकीकरण की असफलता का मुख्य कारण श्रम व पूँजी के बीच निरन्तर संघर्षों का होना है। दोनों के दृष्टिकोण में भारी अन्तर रहा है। श्रमिक उद्योगपतियों को अपना पोषक नहीं वरन् शोषक समझते हैं। उधर उद्योगपति भी श्रमिकों को उत्पादन का अनिवार्य अंग नहीं मानते। अत: जब-जब भारतवर्ष में विवेकीकरण की योजनाओं को कार्यान्वित करने का प्रयत्न किया गया; श्रमिकों के द्वारा उसका प्रबल विरोध हुआ।

(६) **भारतीय श्रमिक अस्थायी, अशिक्षित तथा अज्ञानी है**—भारतीय कारखानों में काम करने वाले अधिकतर श्रमिक गाँवों में से आते है। फसल के समय वे पुन: गाँवों में चले जाते हैं। अत: कारखानों के काम में उन्हें कोई विशेष रुचि नहीं होती। जो कुछ वे सीख पाते हैं, गाँव जाने पर तुरन्त उसे भूल जाते हैं। इसके अतिरिक्त हमारे श्रमिक अशिक्षित, अज्ञानी तथा रूढ़िवादी हैं। उनमें सङ्गठन का अभाव है।

(७) **तान्त्रिक ज्ञान का अभाव**—विवेकीकरण की योजना को कार्यान्वित करने के लिये यह आवश्यक है कि देश में पर्याप्त तान्त्रिक ज्ञान उपलब्ध हो। अभाग्यवश हमारे देश में पहले से ही तान्त्रिक ज्ञान का अभाव है। तान्त्रिक ज्ञान के अभाव में इस योजना को लागू करने में कठिनाइयों का आना स्वाभाविक है। यही कारण है कि इसकी गति काफी धीमी है।

(८) **उद्योगपतियों का विरोध**—भारतीय उद्योगपति परम्परावादी हैं। वे पुरानी परम्परागत विधियों को बदलने में हिचकिचाते हैं। उनका मत है कि यदि कारखानों में विवेकीकरण लागू किया गया तो उनके हाथ से कारखानों का नियन्त्रण निकल जायेगा और श्रमिक कारखाने के मालिक हो जायेंगे।

कुछ विशिष्ट उद्योगों में विवेकीकरण की प्रगति की एक झलक
(Progress of Rationalisation in Certain Major Industries)

(I) जूट उद्योग (Jute Industries)—

हमारे देश में विवेकीकरण सर्वप्रथम १९२१ में जूट उद्योग में अपनाया गया। इसका

उद्देश्य उद्योग की उन्नति के लिये कृषि को सुधारना, अच्छा जूट उत्पन्न करना तथा जूट कम्पनियों की आर्थिक व्यवस्था को दृढ़ करना है। शाही कमीशन (Royal Commission on Agriculture) के सुझावों पर सन् १९३६ में 'केन्द्रीय जूट समिति' का निर्माण किया गया, जिसने उद्योग व कृषि में, आर्थिक तथा तान्त्रिक प्रयोगात्मक योग दिया है। इसके अन्तर्गत 'कृषि अनुसन्धानशाला (Agriculture Research Laboratory) तथा 'तान्त्रिक खोज अनुसन्धानशाला' (Technical Research Laboratory) का निर्माण किया जा चुका है, जिसने इस क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया है। इसके अतिरिक्त 'भारतीय जूट मिल एसोसियेशन' (Indian Jute Mills Association) की स्थापना की जा चुकी है। काम के घण्टों में भी कमी कर दी गई है।

विभाजन का प्रभाव हमारे जूट उद्योग पर बड़ा ही घातक पड़ा। भारत विभाजन से जूट पैदा करने वाले क्षेत्र का लगभग ७२·३% भाग पाकिस्तान में चला गया। इसके विपरीत विभाजन के पूर्व की प्राय: सभी मिलें भारत में रह गयीं। अतएव पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत देश में अधिक जूट उपजाओ आन्दोलन पर बल दिया गया तथा यहाँ यह भी निश्चय किया गया कि उद्योग में विवेकीकरण की आवश्यकता पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया जाय, ताकि उद्योग पाकिस्तान से होने वाली गलाकाट प्रतिस्पर्धा का सामना कर सके।

जूट जाँच आयोग—उद्योग की विभिन्न समस्याओं को सुलझाने के लिये हमारी सरकार ने एक जूट जाँच आयोग नियुक्त किया था, जिसने कई महत्त्वपूर्ण सिफारिशें की हैं। भारत सरकार ने इस आयोग की निम्न सिफारिशें स्वीकार कर ली हैं:—(i) भविष्य में जूट की खेती बढ़ाने के बजाय उसकी किस्म में सुधार करने की ओर अधिक ध्यान दिया जाय। (ii) वर्तमान मिलों के पास पूरा काम न होने के कारण नई मिलों के खोलने की अनुमति न दी जाय। (iii) बम्बई के ईस्ट इण्डिया कॉटन एसोसियेशन की तरह जूट के लिये भी एक दृढ़ व्यापारिक सङ्गठन कायम किया जाय। (iv) काम के घण्टे बढ़ाकर सप्ताह में ४८ किये जायँ। (v) उद्योग के विकास के लिये मिलों को अपने निजी साधनों से अधिक काम लेना चाहिये।

तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत जूट उद्योग—तृतीय पंचवर्षीय योजजा के अन्तर्गत कच्चे जूट उत्पादन का लक्ष्य ६२ लाख गाँठ निर्धारित किया गया था। इसकी किस्म सुधार की ओर सबसे अधिक ध्यान दिया गया। जूट की खेती में आधुनिक तरीकों को काम में लाकर इसकी प्रति एकड़ उपज में वृद्धि तथा उत्पादन व्यय में कमी करने का प्रयत्न किया गया। इसके अतिरिक्त इस योजना के अन्तर्गत शेष बचे हुये २०% जूट मिलों में भी आधुनिकीकरण की योजनायें लागू करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया। अब तक उपलब्ध आँकड़ों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्राय: सभी जूट मिलों में आधुनिकीकरण एवं विवेकीकरण की योजनायें लागू की जा चुकी हैं।

चतुर्थ योजना के अन्तर्गत इस उद्योग के विकास का विस्तृत कार्यक्रम कार्यान्वित किया गया। बंगला देश के बनने से अब हमारी कच्चे जूट की समस्या का काफी सीमा तक निवारण हो जायेगा।

(II) सीमेंट उद्योग (Cement Industry)—

इस उद्योग में विवेकीकरण का उपयोग केवल संयोजन निर्माण से होने वाले लाभ प्राप्त करने के लिये ही किया गया है। सन् १९३० में आन्तरिक प्रतिस्पर्धा को रोकने के लिये 'सीमेंट मार्केटिंग कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड' की स्थापना की गई। इसके द्वारा मूल्यों पर नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया तथा प्रत्येक कम्पनी के उत्पादन का कोटा निश्चित कर दिया गया। सन् १९३६ में ११ सीमेंट कम्पनियों के एकीकरण से 'एसोसियेशन सीमेंट कम्पनी लिमिटेड' (A. C. C.) की स्थापना की गई, जो अब लगभग ५६% माँग की पूर्ति करती है। सन्

१९४१ में डालमियाँ ग्रुप की सीमेंट कम्पनियों ने प्रतियोगिता से छुटकारा पाने के लिये A.C.C. से समझौता कर लिया।

(III) सूती वस्त्र उद्योग (Cotton Textile Industries)—

यह भारतवर्ष का सबसे प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण उद्योग है। सर्वप्रथम सन् १९३६ में आन्तरिक तथा बाहरी प्रतियोगिता से रक्षा करने के लिये इसमें विवेकीकरण का प्रयोग किया गया; किन्तु कुछ प्रबन्ध-अभिकर्त्ताओं तथा उद्योगपतियों के तीव्र विरोध के कारण सफलता नहीं मिली। इसलिये सन् १९४१ में 'बम्बई सूती वस्त्र उद्योग जाँच समिति' की नियुक्ति हुई, जिसने विवेकीकरण हेतु अनेक सिफारिशें प्रस्तुत कीं, किन्तु उन पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। वस्त्र-संकट को दूर करने के लिए सन् १९४५ में भारत सरकार ने 'वस्त्र नियन्त्रण आदेश' (Cloth Control Order) जारी किया। बम्बई तथा अहमदाबाद की मिलों में पूर्ण तथा आंशिक रूप से विवेकीकरण को अपनाया गया। फासेट समिति के अनुसार कोहेनूर मिल्स और सेसून तथा फिनले ग्रुप की मिलों में कुछ 'कुशलता-वृद्धि की योजनायें' (Efficiency Schemes) प्रचलित की गयीं। प्रोफेसर सी० एन० वकील ने कपास के क्रय तथा वस्त्र के वितरण में विवेकीकरण से मितव्ययिता लाने के लिए संयुक्त केन्द्रीय सभा (Joint Central Board) के लिए सुझाव दिया। भारत सरकार ने विशेषज्ञों तथा उद्योगपति-सङ्घों के सुझाव पर १९४८ में श्री भवानीशंकर एम० बोरकर को जापान के कपड़ा उद्योग का अध्ययन करने के लिए जापान भेजा। उन्होंने सन् १९४९ में अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष प्रस्तुत की, जिसमें जापान के उद्योग का विवेचन करते हुए इस बात पर जोर दिया गया कि भारतीय सूती वस्त्र उद्योग प्रतियोगिता के क्षेत्र में तभी टिक सकता है, जब उसमें पर्याप्त विवेकीकरण किया जाय। सन् १९४९ में भारतीय संसद ने सूती वस्त्र उद्योग विवेकीकरण के लिये स्वीकृति प्रदान की। इसी वर्ष (१९५४) त्रिदलीय श्रम सम्मेलन नैनीताल में विवेकीकरण की समस्या पर पुनः विचार किया गया तथा इस सम्बन्ध में अनेक सुझाव दिये गये। सन् १९५५ में कानपुर में विवेकीकरण के विरोध में श्रमिकों द्वारा एक असफल हड़ताल का आयोजन किया गया, जोकि ८० दिन तक चालू रही। सन् १९५८ में पेश की गई अपनी रिपोर्ट में '**सूती वस्त्र जाँच समिति**' ने विवेकीकरण पर जोर दिया। मई १९५९ में भारत सरकार ने १९५९-६० तथा १९६१ के वर्षों में साधारण कर्घों के स्थान पर प्रति वर्ष २,५०० स्वयं-सचालित कर्घे लगाने तथा मिश्रित मिलों में ३,००० स्वयं-संचालित कर्घे लगाने की स्वीकृति प्रदान की। अनुसन्धान-कार्य भी तेजी पर है।

जोशी कार्यशील दल की रिपोर्ट (Joshi Working Group Report)—अगस्त सन् १९५९ में राष्ट्रीय औद्योगिक विकास समिति ने सूती वस्त्र उद्योग में पूर्ण आधुनिकीकरण के उपाय सुझाने के लिये, तत्कालीन टैक्सटाइल कमिश्नर श्री डी० एस० जोशी की अध्यक्षता में एक कार्यशील दल की नियुक्ति की। इस दल ने देश व विदेश के विभिन्न सूती वस्त्र उत्पादक केन्द्रों का भ्रमण करने के पश्चात् मई-जून १९६० में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसे भारत सरकार ने सन् १९६१ में स्वीकार कर लिया। सुविधा की दृष्टि से समिति के सुझावों को मुख्य रूप से निम्नलिखित वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) **अनार्थिक इकाइयाँ** (Uneconomic Units)—सन् १९६० में ३९ सूती वस्त्र मिलें अनार्थिक होने के कारण बन्द थीं। दल ने इनमें से २० मिलों को बन्द करने का तथा शेष १९ का पुनर्स्थापन करके पुनः चालू करने का सुझाव दिया।

(२) **वित्त** (Finance)—सूती वस्त्र उद्योग के आधुनिकीकरण तथा पुनर्स्थापन हेतु १८० करोड़ रु० की आवश्यकता होगी, जिसमें से उद्योग कम से कम ८० करोड़ रुपये अपने

निजी साधनों से जुटा सकेगा। दल ने यह सुझाव दिया कि शेष धनराशि राष्ट्रीय औद्योगिक विकास तथा अन्य सार्वजनिक संस्थाओं से प्राप्त की जानी चाहिये।

(३) **नई मशीनरी** (New Machinery)—टेक्सटाइल कमिश्नर के कार्यालय में 'मशीनरी जाँच समिति' (Inspectorate of Machinery) की स्थापना की जाय। इसके अतिरिक्त आवश्यक वस्त्र मशीनरी का देश में निर्माण करने के लिये भरसक प्रयत्न किये जायें। इसके लिये आवश्यक मात्रा में विदेशी विनिमय भी उपलब्ध कराया जाना चाहिये।

(४) **पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण संगठन** (Rehabilitation and Modernization Organisation)—उद्योग की आधुनिकीकरण की समस्याओं को सुलझाने के लिये एक सूती वस्त्र उद्योग पुनर्स्थापन तथा 'आधुनिकीकरण संगठन' स्थापित किया जाय।

(५) **उद्योग द्वारा सामूहिक प्रयत्न** (Joint Action by Industry)—विवेकीकरण की विभिन्न योजनाओं को उद्योग को श्रमिकों के सहयोग से स्वयं ही लागू करना चाहिये। प्रबन्ध में सुधार तथा तकनीकी ज्ञान की वृद्धि पर बल दिया जाना चाहिये।

(६) **नवीन इकाइयाँ** (New Units)—प्रयोगात्मक दृष्टि से पूर्णतः आधुनिक मशीनों से परिपूर्ण नवीन इकाइयाँ स्थापित की जानी चाहिये। प्रत्येक में २५,००० तकुए और ५०० स्वयं-संचालित करघे होने चाहिये। इनमें निर्मित माल निर्यात किया जाना चाहिए।

(IV) लोहा एवं स्पात उद्योग (Iron and Steel Industry)—

भारत में इस उद्योग का कुछ ही हाथों में केन्द्रीयकरण होने के कारण उसके विवेकीकरण में पर्याप्त उन्नति हुई है। ऐसे अनेक प्रयोग किये गये हैं, जिनके परिणामस्वरूप उत्पादन में सरलता, व्यय में कमी, माल की किस्म में सुधार तथा उत्पादन में वृद्धि हुई है। श्रम-संचय साधनों का भी प्रयोग किया गया है। सार्वजनिक क्षेत्र के तीनों विशाल कारखानों अर्थात् भिलाई, दुर्गापुर तथा रूरकेला में तेजी से उत्पादन हो रहा है। निजी क्षेत्रों में भी विकास कार्यक्रम तेजी पर है। भारत सरकार हर सम्भव तरीकों से इस महान् उद्योग का विकास करने के लिये प्रयत्नशील है। वास्तव में भारत सरकार का सहयोग सराहनीय है।

(V) शक्कर उद्योग (Sugar Industry)—

शक्कर उद्योग में आपसी प्रतिद्वन्द्विता की भावना को समाप्त करने की दृष्टि से सन् १९३२ में 'सुगर मार्केटिंग बोर्ड' (Sugar Marketing Board) की स्थापना की गई। इसके पश्चात् शक्कर के वितरण एवं उत्पादन पर नियन्त्रण स्थापित करने हेतु सन् १९३७ में 'सुगर सिण्डीकेट' (Sugar Syndicate) का निर्माण हुआ। अब कुछ समय से 'केन्द्रीय समिति' बना दी गई है। इस समिति के परिणामस्वरूप शक्कर उद्योग में अनेक उपयोगी अनुसन्धान कार्य हो रहे हैं। गन्ने की उपज में वृद्धि होने के साथ-साथ किस्म में सुधार किया जा रहा है। इस उद्योग के द्वारा मेथीलेटेड स्प्रिट, शराब आदि का भी उत्पादन किया जा रहा है। यह विवेकीकरण की ही देन है कि आज हम अमेरिका तथा पाकिस्तान को पर्याप्त मात्रा में शक्कर के निर्यात करने के समझौते कर रहे हैं। अमरीका को तो शक्कर का निर्यात शुरू भी हो गया है।

यह दुःख का विषय है कि उद्योग में लगी अधिकांश मशीनरी बहुत ही जीर्ण एवं घिसी-पिटी अवस्था में है। देश व विदेशों में निरन्तर बढ़ती हुई चीनी की माँग को ध्यान में रखते हुए यह कहा जा सकता है कि आज इस उद्योग में विवेकीकरण की सबसे अधिक आवश्यकता है। भारतीय चीनी मिल एसोसियेशन ने अपनी रिपोर्ट में जनवरी सन् १९६२ में चीनी उद्योग से सम्बद्ध विकास-परिषद् की बैठक में इस आवश्यकता पर विस्तृत रूप से जोर दिया था। पुनर्स्थापन तथा आधुनिकीकरण की आवश्यकता की दृष्टि से एसोसियेशन ने विभिन्न इका-

इयों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया :—(अ) वे इकाइयाँ जिन्होंने अब तक तनिक भी विस्तार नहीं किया, (ब) वे इकाइयाँ जिन्होंने विस्तार किया है, किन्तु वास्तविक विस्तार केवल ३० प्रतिशत ही है; तथा (स) वे इकाइयाँ जिन्होंने अपनी पूर्वक्षमता में ३० प्रतिशत से भी अधिक विस्तार किया है।

(VI) अन्य उद्योग—

उपरोक्त उद्योगों के अलावा माचिस, चाय, कोयला, इन्जीनियरिंग आदि महत्त्वपूर्ण उद्योगों में भी विवेकीकरण को अपनाया जा रहा है।

विवेकीकरण की दिशा में राजकीय प्रयत्न
(Steps taken by the Govt. in the Field of Rationalisation)

युद्धोत्तरकाल में राष्ट्रीय सरकार ने विवेकीकरण की दिशा में निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कदम उठाए :—

(I) भारतीय प्रमाप संस्था की स्थापना (Indian Standards Institute)—

भारतीय उद्योगपतियों ने सर्वप्रथम सन् १९४० के बारहवें उद्योग-सम्मेलन में भारतीय प्रमाप निश्चित करने के लिये 'भारतीय प्रमाप संस्था' खोलने का प्रस्ताव भारत सरकार के सम्मुख रखा, किन्तु युद्ध की परिस्थितियों के कारण उस समय भारत सरकार ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। सन् १९४६ के औद्योगिक विकास योजना के अन्तर्गत सरकार द्वारा दिल्ली में यह प्रमाप संस्था खोली गई है। इस संस्था का केन्द्रीय कार्यालय नई दिल्ली में है। इस संस्था का प्रबन्ध एक साधारण परिषद् (General Council) द्वारा होता है, जिसके सभापति भारत सरकार के उद्योग मन्त्री हैं और इसमें पाँच विभाग हैं :—(१) इन्जीनियरिंग, (२) निर्माण कार्य (Building), (३) रासायनिक पदार्थ (Chemicals), (४) बुनाई उद्योग (Textiles), तथा (५) खाद्य और कृषि (Food & Agriculture)। प्रत्येक विभाग का प्रबन्ध एक विभागीय परिषद् द्वारा होता है। भारतीय प्रमाप संस्था का उद्देश्य राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय आधार पर विभिन्न उद्योगों का प्रमाप निश्चित करना है। इसके साथ-साथ इस संस्था के अन्य कार्य सरकार को वस्तुओं के सम्बन्ध में सुझाव देना, उत्पादन के प्रमापों को सरल बनाना, उद्योगों के बीच अच्छे सम्बन्ध स्थापित करना, उद्योगपतियों तथा उपभोक्ताओं की रुचि को सन्तुलित करते हुये वस्तु में सुधार करना, प्रमाप-चिन्ह बनाना, वस्तुओं की जाँच करना, अनावश्यक प्रयोग करना, विदेशों में संस्था का नाम बढ़ाना, प्रमापीकरण के लिये आवश्यक आँकड़े संग्रह करना तथा प्रदर्शनी आदि का आयोजन करना है।

भारतीय प्रमाप संस्था के विकास में सबसे महत्त्वपूर्ण कदम सन् १९५२ का भारतीय प्रमाप अधिनियम है। इस अधिनियम के अनुसार संस्था को प्रमाप-चिन्ह लगाने का अधिकार मिल गया है। अतएव जो कम्पनी संस्था की प्रमापित विधियों तथा प्रमापित किस्म का माल तैयार करेगी, उसके माल पर संस्था की 'प्रमापित माल' की मोहर लगा दी जावेगी, जो इस बात का प्रमाण होगा कि माल प्रमापित किस्म का है।

विदेशों को निर्यात किये जाने वाले माल की किस्म पर भी इस संस्था द्वारा नियन्त्रण स्थापित किया जाता है। इस नियन्त्रण का प्रमुख उद्देश्य यहाँ से निम्न श्रेणी के निर्यात किये जाने वाले माल को रोकना है, ताकि भारत की ख्याति पर धब्बा न लगे। इसका भारत को कटु अनुभव है। उदाहरणार्थ, जूते व सूती वस्त्र निर्यात में कुछ अनुभवहीन व्यापारियों ने निम्न श्रेणी का माल निर्यात करके राष्ट्र व उद्योग को क्षति पहुँचाने का प्रयत्न किया है।

(II) औद्योगिक अनुसन्धान (Industrial Research)—

औद्योगिक अनुसन्धान के क्षेत्र में भारत अन्य देशों की तुलना में बहुत पीछे है। ब्रिटेन,

रूस, अमेरिका व जर्मनी आदि देशों में औद्योगिक अनुसन्धानशालाएँ पर्याप्त संख्या में हैं, जिसके कारण वहाँ के व्यवसायी औद्योगिक क्षेत्र में दिन-दूनी रात-चौगुनी प्रगति कर रहे हैं। प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत में केवल तीन अनुसन्धान संस्थायें थीं—भारतीय वैज्ञानिक संस्था, बंगलौर (Indian Institute of Science); वन अनुसन्धान संस्था, देहरादून (Forest Research Institute) तथा कृषि-अनुसन्धान संस्था, पूसा (Agricultural Research Institute)।

सन् १९२९ में कृषि के राज्य आयोग (Royal Commission of Agriculture) के अभिस्तावों के अनुसार कृषि-अन्वेषण की सम्राट परिषद् (Imperial Council of Agricultural Research) की स्थापना की गई। सन् १९३६ में कानपुर में शक्कर औद्योगिक सम्राट संस्था (Imperial Council of Sugar Technology) की स्थापना हुई, जिसका कार्य—उत्पाद के उपयोग के बारे में अन्वेषण करना, गन्ने की नई किस्मों की परीक्षा करना और शक्कर की औद्योगिक समस्याओं को हल करना था। सरकार का विचार है कि लखनऊ के निकट शक्कर की औद्योगिक और गन्ने की अन्वेषणशाला खोली जाय। कृषि-राज्य-आयोग के अभिस्तावों के अनुसार भारत की केन्द्रीय सन समिति (Indian Central Jute Committee) खोली गई, जिसका कार्य—कृषि, औद्योगिक तथा आर्थिक अन्वेषण, सन के पूर्वानुमान में उन्नति तथा बीज में उन्नति कराने के लिये परीक्षा और वितरण का अच्छा प्रबन्ध कराना और सन के यातायात तथा विक्रय का प्रबन्ध करना था। भारत की केन्द्रीय रुई समिति की स्थापना सन् १९२१ में हो चुकी थी। इस समिति ने रुई की पैदावार तथा उसके गुणों में उन्नति कराने का काफी प्रयत्न किया है। इधर ४ या ५ वर्ष में वस्त्रोद्योग में, चमड़े के उद्योग में तथा वनस्पति घी के उद्योग में अन्वेषण समितियों की स्थापना हो चुकी है। राज्य ने अनेक शहरों में अन्वेषण प्रयोगशालायें खोली हैं। राज्य विश्वविद्यालयों तथा अन्वेषण संस्थाओं को आर्थिक मदद भी दे रहा है।

राष्ट्रीय सरकार ने देश की औद्योगिक प्रगति को ध्यान में रखते हुये तथा औद्योगिक समितियों की सिफारिशों पर एक अलग वैज्ञानिक अनुसन्धान विभाग स्थापित किया है। इस विभाग के अन्तर्गत निम्न अनुसन्धानशालाओं का निर्माण हो चुका है :—(१) **पूना**—नेशनल केमिकल लेबोरेटरी। (२) **नई दिल्ली**—नेशनल फिजीकल लेबोरेटरी। (३) **जेलगोरा**—सेण्ट्रल फ्यूअल रिसर्च इन्स्टीट्यूट। (४) **जादवपुर**—सेण्ट्रल ग्लास एण्ड सीरेमिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट। (५) **मैसूर**—सेण्ट्रल फूड टेकनॉलाजीकल इन्स्टीट्यूट। (६) **जमशेदपुर**—नेशनल मेटालर्जिकल लेबोरेटरी। (७) **लखनऊ**—सेण्ट्रल ड्रग रिसर्च इन्स्टीट्यूट। (८) **नई दिल्ली**—सेण्ट्रल रोड रिसर्च इन्स्टीट्यूट। (९) **कराइकुडी**—सेन्ट्रल इलक्ट्रो केमिकल रिसर्च इन्स्टीट्यूट। (१०) **मद्रास**—सेण्ट्रल लैदर रिसर्च इन्स्टीट्यूट। (११) **रुड़की**—सेण्ट्रल बिल्डिग रिसर्च इन्स्टीट्यूट। (१२) **पिलानी**—सेण्ट्रल इलेक्ट्रोनिक इन्जीनियरिंग इन्स्टीट्यूट। (१३) **लखनऊ**—नेशनल बॉटॉनिकल गार्डेन्स। (१४) **भावनगर**—सेण्ट्रल साल्ट रिसर्च इन्स्टीट्यूट। (१५) **कलकत्ता**—मेकेनिकल इन्जीनियरिंग रिसर्च इन्स्टीट्यूट। (१६) **हैदराबाद**—रीजनल रिसर्च लेबोरेटरी। (१७) **हैदराबाद**—नेशनल भौगोलिक रिसर्च इन्स्टीट्यूट। (१८) **जम्मू व काश्मीर**—रीजनल रिसर्च लेबोरेटरी। (१९) **धनबाद**—सेण्ट्रल माइनिंग रिसर्च स्टेशन। (२०) **देहरादून**—इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ पेट्रोलियम। (२१) **जोरहट**—नेशनल रिसर्च लेबोरेटरी। (२२) **नई दिल्ली**—सेण्ट्रल वैज्ञानिक सामान सङ्गठन।

उपर्युक्त संस्थाओं के अतिरिक्त पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भी कई अनुसन्धानशालायें खोली जा रही हैं, जिनमें निम्न तीन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं :—(अ) रेडियो तथा इलेक्ट्रोनिक्स अनुसन्धानशाला, (ब) मिकेनिकल इन्जीनियरिंग अनुसन्धानशाला, (स) केन्द्रीय लवण गवेषण केन्द्र। इन राजकीय प्रयत्नों के अतिरिक्त कुछ व्यक्तिगत उद्योगों ने भी अनुसन्धान

सुविधायें प्रदान की हैं :—(i) अहमदाबाद टेक्सटाइल उद्योग अनुसन्धान सङ्घ, अहमदाबाद; (ii) रेशम तथा नकली रेशम अनुसन्धान सङ्घ, बम्बई; तथा (iii) दक्षिणी भारत वस्त्र उद्योग संघ, कोयम्बटूर।

(III) भारत में उत्पादकता आन्दोलन (Productivity Movement in India)—

फरवरी सन् १९५८ में एक स्वायत्त संस्था के रूप में भारत में राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् की स्थापना की गई थी, जिसका प्रमुख कार्य भारत में उत्पादकता आन्दोलन का संचालन करना था। इस आन्दोलन के निम्नलिखित पाँच मूल सिद्धान्त हैं :—

(१) **उत्पादन में वृद्धि करना**—उत्पादकता आन्दोलन का मूल उद्देश्य उत्पादन में वृद्धि करना एवं किस्म में सुधार करना है। इसका लक्ष्य मानव, मशीनों, माल, बिजली और पूँजी के उपलब्ध साधनों का कुल तथा उपयुक्त प्रयोग करना, जनता के रहन-सहन का स्तर ऊँचा करना और श्रमिकों के कार्य करने की दशाओं में सुधार करना है।

(२) **रोजगार में वृद्धि करना**—निरन्तर विकासशील अर्थ-व्यवस्था में उत्पादकता बढ़ने का अर्थ होता है कि अन्त में उद्योगों का विकास होकर रोजगार में वृद्धि करना।

(३) **यन्त्रों का विस्तार तथा नवीनीकरण**—उत्पादकता आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप जो भी लाभ हों उनके द्वारा यन्त्रों एवं मशीनों का विस्तार तथा नवीनीकरण करना होना चाहिये।

(४) **आवश्यक सुधार करना**—राष्ट्र के सभी कार्यों में उत्पादन में समान रूप में सुधार किये जाने चाहिये। उद्योग के क्षेत्र में यह आन्दोलन सरकारी तथा गैर सरकारी क्षेत्र के भीमकाय, मध्यम तथा छोटे उद्योगों में किया जाएगा।

(५) **श्रम व पूँजी में समन्वय स्थापित करना**—चूँकि श्रम व पूँजी के बिना सहयोग के उत्पादन में वृद्धि करने की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती है, अतएव इस आन्दोलन का उद्देश्य श्रम व पूँजी के सङ्घर्षों के स्थान में दोनों में एकता स्थापित करना है।

(IV) संयोजन (Combination)—

संयोजन की दिशा में भी महत्त्वपूर्ण कदम उठाये गये हैं। उदाहरणार्थ; लौह उद्योग में बचत के दृष्टिकोण से "इण्डियन आयरन एण्ड स्टील कम्पनी" तथा "स्टील कॉरपोरेशन ऑफ बंगाल" को मिला दिया गया, भारत बैंक का पंजाब बैंक में विलयन कर दिया गया आदि।

(V) वित्तीय सहायता (Financial Assistance)—

भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की योजना को लागू करने के लिये पर्याप्त मात्रा में वित्तीय सहायता की आवश्यकता है। इन उद्देश्य की पूर्ति हेतु भारत सरकार ने अनेक वित्तीय निगमों (Financial Corporations) की स्थापना की है। इनका विस्तृत वर्णन पहले ही किया जा चुका है। इसके अतिरिक्त पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत भी इस कार्य हेतु पर्याप्त राशि की व्यवस्था की गई है।

भारत में विवेकीकरण पर एक दृष्टि
(A View of Rationalisation in India)

भारत में विवेकीकरण की प्रगति का विस्तृत अध्ययन करने के पश्चात् हम निम्न-लिखित निष्कर्षों पर पहुँचते हैं :—

(१) **धीमी प्रगति**—भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की प्रगति बहुत धीमी है। आज भी हम प्रगतिशील औद्योगिक राष्ट्रों (जैसे अमेरिका, जर्मनी, रूस तथा ब्रिटेन) की तुलना में बहुत पिछड़े हुए हैं। इसका मुख्य कारण अप्रचलित व घिसी मशीनरी का होना है, जिसके कारण न तो उत्पादन में ही वृद्धि होती है और न माल की किस्म में ही सुधार हो पाता है।

इसके विपरीत उत्पादन-व्यय अधिक होता है, परिणामस्वरूप हमारे उद्योग-धन्धे विदेशी प्रतियोगिता के मुकाबले में मुश्किल से टिक पाते हैं।

(२) **सरकार की उदासीनता**—इतिहास इस बात का साक्षी है कि विदेशी सरकार ने भारतीय उद्योग-धन्धों के विकास में कभी कोई विशेष रुचि नहीं ली, क्योंकि ऐसा करने से उनके हितों को क्षति पहुँचने की सम्भावना थी। वे तो भारत को कच्चा माल निर्यात करने वाले राष्ट्र के रूप में ही देखना चाहते थे। स्वतन्त्रता मिलने के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने अलग-अलग औद्योगिक इकाइयों में विवेकीकरण लागू करने का प्रयत्न किया है, परन्तु अभी तक समस्त उद्योगों में राष्ट्रीय आधार पर विवेकीकरण लागू करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है, फलतः हमारे देश में विवेकीकरण नियोजित रूप से नहीं हो रहा है।

(३) **सीमित क्षेत्र**— अभी तक जो कुछ भी विवेकीकरण हुआ है वह केवल संयोजन तथा श्रमिकों पर काम बढ़ाने तक ही सीमित है। मशीनों के नवीनीकरण, उत्पादन-विधियों में सुधार, उत्पादित वस्तुओं के प्रमापीकरण इत्यादि की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। यही कारण है कि श्रमिको द्वारा विवेकीकरण का तीव्र विरोध किया जा रहा है।

(४) **उद्योगपतियों की अधिकतम् लाभ कमाने की लालसा**—अमेरिका व अन्य प्रगतिशील राष्ट्रों में उद्योगपतियों ने अपने निजी साधनों से भी विवेकीकरण को अपनाया है और इस क्षेत्र में आश्चर्यजनक सफलतायें प्राप्त की हैं। इसके विपरीत भारतीय उद्योगपतियों ने अपना प्रमुख उद्देश्य अधिकतम् लाभ कमाने तक ही सीमित रखा है और इस प्रकार विवेकीकरण की ओर सक्रिय कदम नहीं उठाया गया।

(५) कुछ लोगों का कहना है कि भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण केवल उद्योगों में एकाधिकार प्राप्त करने तथा श्रमिकों का शोषण करने की दृष्टि से ही विशेष रूप से अपनाया गया है और उससे असली उद्देश्य की ओर लोगों का विशेष ध्यान आकर्षित नहीं हो सका।

भारत में विवेकीकरण कैसे सफल हो
(How Rationalisation can be successful in India)

यदि हम चाहते हैं कि उत्पादन में वृद्धि हो, माल की किस्म में सुधार हो, उत्पादन-व्यय कम हो तथा राष्ट्र के उद्योग-धन्धों का विकास होकर लोगों का जीवन-स्तर ऊँचा हो तो हमें विवेकीकरण की शरण लेनी ही होगी। भारत में विवेकीकरण की सफलता हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये जा सकते हैं :—

(१) **श्रम, पूँजी तथा सरकार का सहयोग**—विवेकीकरण की योजना की सफलता के लिये आवश्यक है कि इस दिशा में जो भी कार्य किया जाय वह तीनों पक्षों अर्थात् श्रमिक, मिल-मालिक तथा सरकार के सक्रिय सहयोग से हो। योजना को लागू करने के लिये प्रत्येक मिल में एक विवेकीकरण समिति की स्थापना की जानी चाहिये, जिसमें श्रमिकों, मिल-मालिकों तथा सरकार के उद्योग विभाग या श्रम-विभाग के प्रतिनिधि हों। यह सफलता का सबसे प्रथम एवं आवश्यकीय तत्त्व है।

(२) **विकास-कोष की स्थापना**—नई मशीनों के क्रय के लिए पूँजी की समस्या को हल करने के लिये प्रत्येक कारखाने में एक विकास-कोष की स्थापना की जानी चाहिये, जिसमें कि लाभ का एक निश्चित भाग प्रति वर्ष हस्तान्तरण (Transfer) किया जाना चाहिए। यह राशि आय-कर से मुक्त होनी चाहिए। इस कोष के द्वारा धीरे-धीरे पुरानी मशीनों के स्थान पर नई मशीनों का क्रय किया जाना चाहिये।

(३) **ऋण सुविधायें**—भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण तीव्र गति से हो, इसके लिये यह आवश्यक है कि भारतीय उद्योग को पर्याप्त मात्रा में कम ब्याज पर ऋण सुविधायें

उपलब्ध हों। इसके लिये सरकार को औद्योगिक वित्त निगम के समान अन्य सरकारी व अर्द्ध-सरकारी संस्थाओं की स्थापना करनी चाहिये तथा आवश्यक गारण्टी भी देनी चाहिये।

(४) **अनुसन्धान-कार्य**—प्रत्येक उद्योग के लिये राष्ट्रीय आधार पर एक समिति की स्थापना की जानी चाहिये जो उस विशेष उद्योग से सम्बन्धित अनुसन्धान कार्य करे। समिति द्वारा हर प्रकार के प्रमाप निकाले जायें, ताकि उद्योग प्रगति करें।

(५) **आन्दोलन में तीव्रता**—आज आवश्यकता इस बात की है कि विवेकीकरण आन्दोलन में वर्तमान शिथिलता के स्थान पर तीव्र गति लाई जाय, ताकि यह उद्योग की सूक्ष्म से सूक्ष्म बारीकियों में लागू हो सके। उदाहरणार्थ, श्रमिकों पर काम बढ़ाने के साथ-साथ इस बात का भी ध्यान रखा जाना चाहिये कि काम करने की दशाओं में सुधार हो, आधुनिक मशीनों का प्रयोग हो तथा प्रबन्ध में भी विवेकीकरण लागू हो।

(६) **श्रम और पूंजी के दृष्टिकोण में परिवर्तन**—श्रमिकों तथा पूंजीपतियों के दृष्टिकोण में परिवर्तन होना नितान्त आवश्यक है। उसके बिना विवेकीकरण की कोई भी योजना सफल नहीं हो सकती। श्रमिकों को कारखानों को निजी सम्पत्ति मान कर पूर्ण परिश्रम से कार्य करना चाहिये तथा पूंजीपतियों को भी श्रमिकों को उत्पादन का अनिवार्य अंग मानकर (उनको) सम्मान का स्थान देना चाहिये।

(७) **विवेकीकरण से होने वाले लाभ का उचित विभाजन**—विवेकीकरण से मिलने वाले लाभ के रूप में मिल-मालिकों को अधिक मुनाफा, श्रमिकों को अधिक मजदूरी, उपभोक्ताओं को कम कीमतों पर वस्तु की पूर्ति एवं अंशधारियों को अधिक लाभांश प्राप्त हो।

(८) **श्रमिकों में बेकारी न फैलने दी जाय**—विवेकीकरण के प्रचलन का सबसे बड़ा विरोध श्रमिकों द्वारा होता है। उनका कहना है कि इससे बेरोजगारी (Unemployment) को बढ़ावा मिलता है और इस प्रकार रोजगार की समस्या, जो पहले से ही जटिल है और भी भीषण हो जाती है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहना ही पर्याप्त होगा कि हो सकता है कि प्रारम्भिक अवस्था में कुछ बेकारी फैले, किन्तु उद्योगों का पूर्ण विकास हो जाने पर पहले से भी अधिक श्रमिकों की आवश्यकता होगी, जिसके परिणामस्वरूप पृथक् किये गये श्रमिकों को पुनः कार्य स्वतः ही मिल जायेगा। यदि शुरू में किसी विशेष उद्योग में विवेकीकरण लागू करने से अधिक बेकारी फैलने की सम्भावना हो तो विवेकीकरण को धीरे-धीरे लागू करना चाहिये तथा पृथक् किये गये श्रमिकों के लिए कुछ न कुछ काम की व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिये।

यह कहना कि विवेकीकरण को टाल देने से बेकारी नहीं फैलेगी, गलत है। सच तो यह है कि इसको स्थगित कर देने से वस्तुओं की किस्म एवं उनके मूल्य पर कुप्रभाव पड़ेगा, जिसके परिणामस्वरूप देश व विदेश में माँग कम हो जायगी। उदाहरणार्थ, भारत जो वार्षिक उत्पादन का २०% कपड़ा निर्यात करता है, यदि निर्यात बन्द हो जाय अथवा कम हो जाय तो मिलों को अपना उत्पादन भी कम करना होगा। अतएव श्रमिकों की छंटनी करनी होगी और इस प्रकार बेकारी फैलना स्वाभाविक ही है।

संक्षेप में, आज भारत में विवेकीकरण की सबसे अधिक आवश्यकता है, ताकि राष्ट्र पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत औद्योगिक पथ पर अग्रसर हो सके। इससे सभी को लाभ होगा।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. भारतीय उद्योगों के लिये विवेकीकरण क्यों आवश्यक समझा जाता है ? भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की दिशा में, भारतीय सरकार द्वारा किये गये प्रयत्नों की विवेचना कीजिये । (आगरा, १९७१)

२. भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण पर एक संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये । भारतीय सरकार की विवेकीकरण के सम्बन्ध में क्या नीति है ? (रांची, १९७०; विक्रम, १९६९)

३. स्पष्ट कीजिये कि भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण का शीघ्र आरम्भ होना परम आवश्यक है । देश की रोजगार स्थिति पर इसका क्या प्रभाव होगा ? (विक्रम, १९६४, इन्दौर, १९६६; आगरा, १९६४)

४. "शीघ्र तथा मितव्ययी औद्योगिक उन्नति के लिये विवेकीकरण आवश्यक है और इसलिए भारत में समस्त बड़े पैमाने के उद्योगों में इसको लागू करना चाहिये ।" इस कथन की विवेचनात्मक आलोचना कीजिये । (विक्रम, १९६३; आगरा, १९६०, १९६३)

५. विवेकीकरण क्या है ? भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण की तात्कालिक आवश्यकता को समझाइये । श्रम द्वारा विवेकीकरण का विरोध क्यों होता है ? (इन्दौर, १९६८)

६. विवेकीकरण से आप क्या समझते हैं ? भारतीय उद्योगों में यह कहाँ तक अपनाया गया है ? (राजस्थान, १९६१; जोधपुर, १९६९)

७. भारतीय उद्योगों पर विशेष ध्यान देते हुये 'विवेकीकरण' पर आलोचनात्मक टिप्पणी लिखिये । (विक्रम, १९६७; राजस्थान, १९५८, ६१)

८. भारत में विवेकीकरण के प्रति श्रमिकों के दृष्टिकोण का परीक्षण कीजिये । (इन्दौर, १९६९; पंजाब, १९६८)

९. उद्योगों में विवेकीकरण से आप क्या समझते हैं ? भारतीय उद्योगों में विवेकीकरण के उपयोग में कौन-सी बाधायें हैं ? (जोधपुर, १९७१)

१०. बताइये कि भारतीय उद्योग-धन्धों में विवेकीकरण कहाँ तक अपनाया गया है ? देश की रोजगार समस्या पर इसका क्या प्रभाव पड़ेगा ? (जोधपुर, १९७२)

१५

औद्योगिक स्थानीयकरण

(Industrial Location)

प्रारम्भिक—औद्योगिक स्थानीयकरण का अर्थ

औद्योगिक स्थानीयकरण से हमारा आशय औद्योगिक इकाइयों के किसी विशेष स्थान अथवा क्षेत्र की ओर आकर्षित एवं केन्द्रित होने से है। यह वह स्थान अथवा क्षेत्र होता है जहाँ पर औद्योगिक उत्पादन के विभिन्न साधन सुलभता से उपलब्ध होते हों। उदाहरण के लिए, भारत का सूती वस्त्र उद्योग बम्बई तथा अहमदाबाद में ही केन्द्रित है, क्योंकि वहाँ पर अन्य क्षेत्रों की अपेक्षा सूती वस्त्र उत्पादन के विभिन्न साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होते हैं और इस प्रकार उत्पादन व्यय अपेक्षाकृत कम रहता है।

स्थानीयकरण का महत्त्व
(Importance of Location)

किसी भी औद्योगिक इकाई की सफलता बहुत कुछ उसके स्थानीयकरण पर निर्भर करती है। इस सम्बन्ध में थोड़ी-सी भी लापरवाही उद्योग के भविष्य को अन्धकार में बदल सकती है। उदाहरण के लिये, सूती वस्त्र का मिल केवल उसी स्थान पर लगाया जा सकता है जहाँ पर कि जलवायु नम हो, जैसे अहमदाबाद व बम्बई। यदि इसी मिल की स्थापना बीकानेर जैसे सूखे जलवायु वाले क्षेत्र में की जाय तो सफलता की कामना करना व्यर्थ ही होगा। किन्तु यदि कृत्रिम साधनों द्वारा कारखाने की जलवायु नम कर ली जाय तो दूसरी बात है। ऐसी दशा में उत्पादन व्यय अपेक्षाकृत अधिक रहेगा। ऐसी औद्योगिक इकाई बहुत दिनों तक तो मुश्किल से ही टिक सकेगी। अतएव एक उद्योगपति अपने उद्योग को उसी स्थान पर स्थापित करना श्रेष्ठकर समझेगा जहाँ पर कि (i) पर्याप्त मात्रा में भूमि उपलब्ध हो, (ii) जलवायु हितकर हो, (iii) रेलवे स्टेशन नजदीक हो, (iv) कच्चा माल उपलब्ध होता हो, (v) कुशल श्रम हो, (vi) बाजार नजदीक हो, (vii) पूँजी सुलभ हो, (viii) पानी व बिजली आदि की कोई समस्या न हो, तथा (ix) राज्य का पूर्ण सहयोग हो।

औद्योगिक स्थानीयकरण के सिद्धान्त
(Principles of Industrial Location)

औद्योगिक स्थानीयकरण के सिद्धान्त से सम्बन्धित सर्वप्रथम लेख सर्वश्री रोशर (Roscher) द्वारा लिखा गया था। उन्होंने अपने इस महत्त्वपूर्ण लेख में औद्योगिक स्थानीयकरण के सैद्धान्तिक पहलू पर प्रकाश डाला। इस लेख का समर्थन अमेरिका के प्रोफेसर सर्वश्री ई० ए० रोस (E. A. Ross) ने किया। इनका लेख 'उद्योगों का स्थानीयकरण' सन् १८९५ में प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सर्वश्री मार्शल ने प्रत्यक्ष रूप से औद्योगिक स्थानीयकरण पर अपने विचार प्रकट किये।

अल्फ्रेड वेबर का औद्योगिक स्थानीयकरण का सिद्धान्त (Alfred Weber's Theory of Industrial Location)—

जर्मनी के प्रसिद्ध अर्थशास्त्री सर्वश्री अल्फ्रेड ने औद्योगिक स्थानीयकरण के सम्बन्ध में निर्गमन सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। यह सिद्धान्त एक लेख के रूप में सन् १९०५ में जर्मनी भाषा में प्रकाशित हुआ। अँग्रेजी भाषा में इस लेख का अनुवाद सन् १९२९ में प्रकाशित हुआ। वेबर ने अपने सिद्धान्त को मुख्य रूप से ९ भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग में 'सैद्धान्तिक विवरण' अथवा 'शुद्ध सिद्धान्त' (Theoretical Description or Pure Theory) दिये गये हैं। दूसरे भाग में 'व्यावहारिक सिद्धान्त' (Realistic Theory) दिये गये हैं। प्रथम भाग तो प्रकाशित हो चुका है, किन्तु द्वितीय भाग अभी तक अप्रकाशित है। इस प्रकार उन्होंने औद्योगिक स्थानीयकरण के कारणों का अन्वेषण तथा विश्लेषण करके ही अपने इस ऐतिहासिक सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। लागत विश्लेषण (Cost-analysis) के द्वारा उन्होंने यह मालूम किया कि उत्पादन-व्ययों में से कुछ व्यय ऐसे होते हैं जिन पर भौगोलिक परिस्थितियों का सीधा प्रभाव पड़ता है और इस प्रकार वे प्रत्येक स्थान पर भिन्न होते हैं, जैसे भूमि, जलवायु, कच्चा माल, श्रम आदि। इसके विपरीत कुछ उत्पादन व्यय प्रायः सभी स्थानों पर एक ही समान रहते हैं, जैसे मशीनों की घिसावट और इस प्रकार उन पर भौगोलिक परिस्थितियों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस प्रकार वेबर ने औद्योगिक स्थानीयकरण को प्रभावित करने के कारणों को निम्न दो भागों में विभाजित किया है :—

(I) **प्राथमिक कारण** (Primary Causes)—वे कारण जोकि उद्योगों के प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय वितरण पर प्रभाव डालते हैं, प्राथमिक कारण कहलाते हैं, अतएव इन्हें 'प्रादेशिक अथवा क्षेत्रीय कारण' (Regional Causes) भी कहते हैं। (II) **गौण कारण** (Secondary Causes)—वे कारण जोकि उद्योगों के पुनर्वितरण पर केन्द्रीयकरण एवं विकेन्द्रीयकरण की रीतियों (Agglomerative and Deglomerative Factors) द्वारा प्रभाव डालते हैं, गौण कारण कहलाते हैं।

(I) **प्राथमिक अथवा क्षेत्रीय कारण** (Primary or Regional Causes)—उद्योगों के स्थानीयकरण का मूल उद्देश्य उत्पादन-लागत में कमी करना होता है। अतएव प्राथमिक कारणों के अन्तर्गत उत्पादन लागत में कमी करने वाले कारणों का अध्ययन किया जाता है। सर्वश्री वेबर के अनुसार (१) यातायात तथा (२) श्रम-लागत उत्पादन लागत के दो ऐसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व हैं जोकि औद्योगिक स्थानीयकरण के लिये उत्तरदायी होते हैं।

(१) **यातायात लागत**—यातायात की लागत को निर्धारित करने वाले मुख्य रूप से निम्न दो तत्त्व हैं :—(i) यातायात किया जाने वाला भार (Weight to be transported) तथा (ii) तय की जाने वाली दूरी (Distance to be covered)।

सामान्य रूप से औद्योगिक स्थानीयकरण ऐसे स्थान पर होगा जहाँ पर निम्न दो दृष्टिकोणों से यातायात की लागत न्यूनतम् हो :—(अ) कच्चे माल तथा ईंधन को एकत्रित करने पर व्यय तथा (ब) निर्मित माल को बाजार तक पहुँचने पर होने वाला व्यय।

किसी स्थान विशेष पर होने वाली उत्पादन क्रियायें दो बातों पर आधारित होती हैं :—(अ) उपयोग में आने वाले कच्चे माल की प्रकृति (Nature of materials) तथा (ब) उक्त माल को निर्मित माल में परिवर्तन करने की प्रकृति (Nature of their transformation into finished products)। श्री वेबर ने कच्चे माल का दो भागों में वर्गीकरण किया है :—(अ) 'साधारण अथवा सर्वप्राप्य कच्चा माल' (Ubiquities), जोकि प्रत्येक स्थान पर मिल सकती है, जैसे मिट्टी, पानी, ईंट, बालू आदि। चूँकि यह माल सब जगह आसानी से मिल जाता

विशेष देश के उद्योगों के वितरण की वर्तमान दशा कैसी है। परन्तु किसी विशिष्ट केन्द्रीयकरण के कारणों को मालूम नहीं किया जा सकता।

(२) केवल गुणक के आधार पर ही यह मालूम करना कठिन कार्य है कि किसी उद्योग के केन्द्रीयकरण की मनोवृत्ति है अथवा नहीं।

(३) स्थानीयकरण के कारण से सदैव निश्चित रूप से इस बात का पता नहीं लगाया जा सकता है कि किसी उद्योग के केन्द्रीयकरण का क्रम क्या है, क्योंकि वह किसी विशेष क्षेत्र में काम करने वाले श्रमिकों की संख्या पर निर्भर करता है।

(४) इस सिद्धान्त द्वारा यह मालूम करना कठिन कार्य है कि विभिन्न क्षेत्रों में उद्योगों का क्रम क्या होना चाहिये।

उपरोक्त आलोचनाओं के होते हुये भी यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि सर्वश्री फ्लोरेन्स के सिद्धान्त से किसी देश में औद्योगिक स्थानीयकरण का भली-भाँति अध्ययन किया जा सकता है।

औद्योगिक स्थानीयकरण को प्रभावित करने वाले घटक
(Factors Affecting Industrial Location)

औद्योगिक स्थानीयकरण पर किसी एक तत्त्व का प्रभाव नहीं पड़ता, अपितु अनेक शक्तियाँ एवं कारण औद्योगिक स्थानीयकरण को प्रभावित करती हैं। अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से औद्योगिक स्थानीयकरण को प्रभावित करने वाले घटकों को मुख्यत: दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(I) **मुख्य घटक** तथा (II) **सहायक घटक**।

(I) मुख्य घटक (Primary Factors)—

(१) **कच्चे माल की उपलब्धता** (Availability of Raw-material)—कच्चे माल की उपलब्धता औद्योगिक स्थानीयकरण का एक महत्त्वपूर्ण घटक है। कच्चे माल को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—(अ) सर्वव्यापी (जैसे मिट्टी तथा पानी), जो हर स्थान पर पाये जाते हैं तथा (ब) स्थानीय (जैसे—गन्ना, लोहा, ताँबा व अन्य खनिज पदार्थ), जो केवल कुछ विशेष स्थानों पर ही पाये जाते हैं। सर्वव्यापी कच्चे माल को पुन: दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—(i) विशुद्ध (Pure) कच्चा माल (जैसे ऊन तथा रुई), जो अपना कुल वजन तैयार माल को देता है, तथा (ii) सकल (Gross) कच्चा माल (जैसे—लोहा व गन्ना), जो अपने वजन का केवल कुछ भाग ही तैयार माल को देता है। सकल कच्चे माल की उपलब्धता उद्योगों के स्थानीयकरण पर गहरा प्रभाव डालती है। उदाहरण के लिये, भारत के लोहे एवं इस्पात उद्योग के कारखाने, चीनी उद्योग के कारखाने ऐसे स्थानों पर स्थित हैं जहाँ पर कि कच्चा माल पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है।

(२) **बाजारों से निकटता** (Proximity of the Market)—बाजारों की निकटता उद्योगों के स्थानीयकरण का दूसरा महत्त्वपूर्ण कारण है। यह ऐसे उद्योगों के लिये विशेष लाभदायक है जिनमें ऐसे कच्चे माल का उपयोग होता है जिससे माल तैयार होने पर बजन बहुत कुछ कच्चे माल के बराबर ही रहता है। उदाहरण के लिये, मिट्टी के सामान का उद्योग, फर्नीचर उद्योग, बरफ उद्योग आदि के स्थानीयकरण में बाजार की निकटता का तत्त्व महत्त्वपूर्ण है।

(३) **श्रम की उपलब्धता** (Availability of Labour)—श्रम उत्पादन का अनिवार्य अङ्ग है। अतएव उद्योगों के स्थानीयकरण में इसका भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। ऐसे उद्योगों की, जहाँ श्रमिकों की अधिक मात्रा में आवश्यकता होती है, स्थापना भी उन्हीं केन्द्रों पर की जाती है जहाँ पर पर्याप्त संख्या में श्रमिक उपलब्ध होते हैं। इसी प्रकार ऐसे उद्योगों की स्थापना जिनमें विशिष्ट कुशलता प्राप्त श्रमिकों की आवश्यकता होती है, उन्हीं स्थानों पर की जाती है

जहाँ पर कि कुशल श्रमिक उपलब्ध होते हैं। उदाहरण के लिये, आगरे में जूता उद्योग, फिरोजाबाद में चूड़ी उद्योग, मेरट में कैंची उद्योग तथा अलीगढ़ में ताला उद्योग केन्द्रित होने का प्रमुख कारण कुशल श्रमिकों की उपलब्धता ही तो है।

(४) **शक्ति-स्रोतों की उपलब्धता** (Sources of Power)—शक्ति-स्रोत उद्योगों के स्थानीयकरण का चौथा प्रमुख कारण है। जिन उद्योगों में शक्ति के रूप में कोयले का उपयोग होता है उनकी स्थापना कोयले की खानों के निकट होती है। भारत का लोहा एवं इस्पात उद्योग इसका उदाहरण है। किन्तु अब बिजली की उपलब्धता के कारण शक्ति-स्रोत निकटता का महत्त्व कम होता जा रहा है।

(५) **यातायात एवं सन्देशवाहन के साधनों की उपलब्धता** (Nearness to the Means of Transport and Communication)—प्राय: उद्योगों का स्थानीयकरण ऐसे स्थानों पर होता है जहाँ यातायात एवं सन्देशवाहन के सस्ते, सरल एवं शीघ्रगामी साधन उपलब्ध हों। इससे माल के आवागमन में सुविधा एवं मितव्ययिता रहती है। बम्बई, कलकत्ता, कानपुर, अहमदाबाद आदि नगरों में उद्योगों के स्थानीयकरण का प्रमुख कारण यातायात एवं सन्देशवाहन के सुगम साधनों की उपलब्धता ही रहती है।

(६) **वित्त की उपलब्धता**—सामान्यत: वित्त की उपलब्धता उद्योगों के स्थानीयकरण को प्रभावित नहीं करती है, क्योंकि यह तो उत्पादन का एक बहुत ही गतिशील साधन है। किन्तु परिस्थितियों में यह घटक महत्त्वपूर्ण बन सकता है। उदाहरण के लिये, सरकार द्वारा यह घोषणा की जा सकती है। कि यदि अमुक स्थान पर उद्योगों की स्थापना होगी तो सरकार सुलभ शर्तों पर पूँजी उपलब्ध करेगी। इसके अतिरिक्त यदि पूँजी बाजार निकटतम स्थित हो तो वहाँ पर उद्योगों की स्थापना को अवश्य ही प्रत्साहन मिलेगा।

(II) सहायक घटक (Secondary Factors)—

उपरोक्त प्राथमिक घटकों के अतिरिक्त निम्नलिखित घटक भी उद्योगों के स्थानीयकरण को प्रभावित करते हैं :—

(१) **राजकीय नियम एवं सहायता**—एक समय था जबकि सरकार उद्योगों की स्थापना के क्षेत्र में किसी प्रकार का भी हस्तक्षेप नहीं करती थी। किन्तु आज सभी देशों में वहाँ की सरकारें अपने यहाँ उद्योग-धन्धों की स्थापना के सम्बन्ध में पर्याप्त हस्तक्षेप करती हैं। सरकार विशेष क्षेत्रों में उद्योगों की स्थापना हेतु करों में छूट, सुलभ शर्तों पर पूँजी व अन्य आर्थिक एवं अनार्थिक सुविधायें देकर स्थानीयकरण को प्रोत्साहित करती है। यही नहीं, सरकार प्रशुल्क प्रतिबन्ध लगाकर विदेशों से होने वाली प्रतिस्पर्धा से भी अपने यहाँ के उद्योगों की रक्षा करती है।

(२) **प्राकृतिक साधन एवं जलवायु सम्बन्धी सुविधायें**—किसी विशेष स्थान पर उपलब्ध प्राकृतिक साधन एवं उपयुक्त जलवायु सम्बन्धी सुविधायें भी उद्योगों के स्थानीयकरण को प्रभावित करती हैं। उदाहरण के लिये, बम्बई व अहमदाबाद में सूती वस्त्र उद्योग के स्थानीयकरण का प्रमुख कारण नम जलवायु का होना ही है। यद्यपि कृत्रिम नमी पैदा करके अनुकूल जलवायु बनाया जा सकता है, किन्तु ऐसा करने पर अतिरिक्त व्यय होता है, जोकि उद्योग पर एक अनावश्यक भार होता है। इसी प्रकार कोयला, लोहा व अन्य खनिज उद्योगों के स्थानीयकरण का प्रमुख कारण प्राकृतिक साधनों की उपलब्धता (खानों का होना) ही तो है।

(३) **स्थान एवं अन्य सेवाओं की उपलब्धता**—स्थान एवं अन्य सेवाओं की उपलब्धता भी उद्योगों के स्थानीयकरण को प्रभावित करती हैं। यदि किसी विशेष स्थान पर सस्ते दामों पर भूमि व अन्य सार्वजनिक सेवायें (जैसे—पानी, बिजली, आग-बुझाने की सेवायें, स्कूल,

अस्पताल, यातायात की सेवायें आदि) उपलब्ध होती हैं तो वहाँ पर तेजी से उद्योग स्थापित होने लगते हैं। भारत के विभिन्न क्षेत्रों में स्थित औद्योगिक बस्तियाँ (Industrial Estates) इसका ज्वलन्त उदाहरण हैं। इनकी स्थापना का प्रमुख कारण स्थान एवं अन्य सेवाओं की उपलब्धता ही है।

(४) **वैयक्तिक घटक**—वैयक्तिक घटक भी उद्योगों के स्थानीयकरण को प्रभावित करते हैं। उदाहरण के लिये, अमेरिका के प्रसिद्ध उद्योगपति हेनरी फोर्ड ने अपना मोटर का कारखाना 'डेट्रोइट' नामक स्थान पर खोला था। इसका कारण यह था कि वहाँ पर उनकी भूमि थी।

(५) **अन्य घटक**—उपरोक्त घटकों के अतिरिक्त अन्य घटक, जैसे मरम्मत आदि की सुविधाओं का होना, अनुसन्धान की सुविधाओं का होना, औद्योगिक वातावरण का होना, पूरक एवं प्रतिस्पर्धात्मक उद्योगों का होना आदि भी औद्योगिक स्थानीयकरण को प्रभावित करते हैं।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. किसी उद्योग की स्थापना हेतु उसके व्यावसायिक स्थल को चुनने में जिन महत्त्वपूर्ण कारकों (बातों) को ध्यान में रखना चाहिये उनका सावधानीपूर्वक विवेचन कीजिये। क्या आपके विचार से भारतीय उद्योग के स्थानीयकरण का कलेवर संतोषजनक है? कारण सहित समझाइए। (आगरा, १९७१)

२. फ्लोरेंस के औद्योगिक स्थानीयकरण के सिद्धान्त का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिये। (इन्दौर, पूरक परीक्षा, १९७०)

३. संक्षिप्त में अल्फ्रेड वेबर के औद्योगिक स्थानीयकरण का सिद्धान्त स्पष्ट कीजिये। क्या उद्योग के स्थानीयकरण पर दूसरे तत्त्व भी प्रभाव डालते हैं? (विक्रम, १९६५ एवं ६९)

४. 'वेबर के औद्योगिक स्थिति के सिद्धान्त' का संक्षेप में वर्णन कीजिये और यह संकेत कीजिये कि उद्योगों की स्थिति को यह कहाँ तक सही बता सकता है? (विक्रम, १९६८; इन्दौर, १९६६)

५. वेबर के औद्योगिक स्थिति के सिद्धान्त की मुख्य बातें क्या हैं? इनकी आलोचना किन बातों के आधार पर की जाती है? (इन्दौर, १९६७)

६. उन घटकों की व्याख्या कीजिये जो एक औद्योगिक इकाई के आकार तथा स्थिति को प्रभावित करते हैं। (जीवाजी, १९६८; विक्रम, १९६४)

७. किसी कारखाने को स्थापित करने का स्थान निर्धारित करने में जिन बातों को ध्यान में रखना चाहिये, उनका सावधानी से विवेचन कीजिए। (आगरा, १९६६)

८. औद्योगिक स्थानीयकरण से सम्बन्धित अल्फ्रेड वेबर तथा सारजेण्ट फ्लोरेंस के सिद्धान्तों की आलोचनात्मक व्याख्या कीजिये एवं दोनों में समन्वय की आवश्यकता पर भी अपने विचार दीजिए।

१६

संयन्त्र अभिन्यास

(Plant Layout)

प्रारम्भिक—संयन्त्र अभिन्यास की रचना का महत्त्व

किसी भी निर्माणी औद्योगिक इकाई अथवा कारखाने में वास्तविक कार्य प्रारम्भ करने से पूर्व उसके संयन्त्र के अभिन्यास के सम्बन्ध में निर्णय लेना बहुत महत्त्वपूर्ण होता है, क्योंकि यह सामग्रियों एवं प्रक्रियाओं की गति, श्रम कुशलता, पर्यवेक्षण और नियन्त्रण, साज-सज्जा के प्रयोग, जगह के प्रयोग, विस्तार की सम्भावनाओं और संयन्त्र आकृति को प्रभावित करता है। यदि इसे उचित रूप से पूरा किया जाय तो यह समय की बर्बादी, अनावश्यक प्रयत्न और क्रियमाण कर्म (Work-in-progress) की व्यर्थ की गति तथा भ्रमण के कारण होने वाली आर्थिक क्षति से सुरक्षा करता है। यही नहीं, संयन्त्र का उचित अभिन्यास श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि करता है, क्योंकि यह उन्हें अनावश्यक कदम उठाने अथवा निरर्थक गतियों से मुक्त करता है। इसके अतिरिक्त यह कारखानों के मालिकों को उत्पाद (Product) की किस्म बनाये रखने तथा सुपुर्दगी अनुसूचियों को पूरा करने में सहायता देता है और इस प्रकार यह ग्राहकों के साथ अच्छे सम्बन्ध बनाये रखने में भी सहायक है। संक्षेप में, संयन्त्र अभिन्यास की उचित संरचना निर्माताओं, श्रमिकों तथा ग्राहकों सभी के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण है।

संयन्त्र अभिन्यास का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Plant Layout)

संयन्त्र अभिन्यास का अर्थ—

किसी निर्माणी औद्योगिक इकाई के लिये स्थान का चुनाव हो जाने के पश्चात् उसके प्रबन्धकों को इस बात का निश्चय करना पड़ता है कि उसमें यन्त्रों एवं मशीनों को ऐसे स्थानों पर स्थापित किया जाय, जिससे कि कम से कम लागत पर अधिक से अधिक एवं श्रेष्ठतम, उत्पादन प्राप्त हो। इसी क्रिया का नाम **संयन्त्र अभिन्यास** है। इस प्रकार यह क्रिया कारखानों में यन्त्रों एवं मशीनों को स्थापित करने की एक तकनीक है, जिससे न्यूनतम् सम्भव लागत पर अधिकतम् एवं सर्वोत्तम माल तैयार किया जाता है।

संयन्त्र अभिन्यास की परिभाषा—

मैसर्स सेन्सोनेट्टी एवं मल्लिक के अनुसार, "संयन्त्र अभिन्यास का तात्पर्य सही साज-सज्जा का सही तरीके से, सही स्थान पर स्थापित करना है, ताकि वस्तुओं का निर्माण अत्यधिक प्रभावी ढङ्ग—कम से कम दूनी तथा कम से कम समय में सम्भव हो सके।"

मैसर्स मल्लिक एवं गाँड्रयू के अनुसार, "संयन्त्र अभिन्यास किसी आयोजित संयन्त्र की मशीनरी एवं साज-सज्जा को एक सर्वोत्तम स्थान पर स्थापित करने की एक ऐसी भूमितल योजना है, जिसके अन्तर्गत पदार्थों का न्यूनतम् लागत पर शीघ्रतम् बहाव, पदार्थों के विधायन

(Processing) और कच्चे माल की प्राप्ति से लेकर परिरूपित अथवा निर्मित वस्तुओं का बाहर भेजना न्यूनतम रख-रखाव से सम्भव हो सके।"

उपयुक्त परिभाषा—"संयन्त्र अभिन्यास कारखाने में मशीनों, प्रविधियों तथा संयन्त्र सेवाओं को स्थापित करने की एक तकनीक है, ताकि न्यूनतम सम्भव कुल निर्माणी लागत पर उच्च किस्म का अधिकतम सम्भव उत्पादन प्राप्त हो सके।"[1] संयन्त्र अभिन्यास द्वारा एक ऐसी अनुकूलतम योजना की खोज की जाती है, जिसके द्वारा कि कारखाने में प्रत्येक क्रिया अधिकतम सुविधा के साथ सम्पन्न हो सके। इस प्रकार संयन्त्र अभिन्यास किसी कारखाने की आन्तरिक व्यवस्था से सम्बन्धित है, जिसके अन्दर मशीनों की स्थापना एवं विभिन्न विभागों के लिए स्थान का आबण्टन किया जाता है।

वैज्ञानिक अभिन्यास के उद्देश्य
(Objects of a Scientific Layout)

श्री आर० सी० डेविस के अनुसार किसी भी संयन्त्र का वैज्ञानिक अभिन्यास करने के निम्नलिखित उद्देश्य हो सकते हैं :—

(१) **उपभोक्ता को उच्चतम श्रेणी की सेवायें प्रदान करना**—ऐसा उसी समय हो सकता है जबकि : (i) माल की पूर्ति के लिये प्राप्त आदेशों का कम से कम समय में पालन किया जाता हो; तथा (ii) उत्पादन बहुत ही उच्चकोटि का होता हो।

(२) **निम्नतम लागत पर अधिकतम एवं सर्वोत्तम उत्पादन**—इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये निम्न कार्यों का करना आवश्यक होता है : (i) कच्चे पदार्थों को प्राप्त करने में कम व्यय; (ii) ऊपरी परिव्ययों में कमी; (iii) श्रम परिव्यय में कमी; तथा (iv) व्यर्थ बर्बादी की रोकथाम।

(३) **चालू एवं स्थायी सम्पत्तियों का अधिकतम उपयोग**—ऐसा उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि : (i) चालू कार्य का प्रवाह तेज हो; (ii) मशीन की क्षमता तथा श्रम-शक्ति का अधिक से अधिक एवं प्रभावशाली उपयोग हो; (iii) कारखाने के प्रतिवर्ग फीट स्थान पर अधिक से अधिक उत्पादन होता हो; तथा (iv) रहतिया (Stock) में जल्दी-जल्दी फेर-बदल होता हो।

(४) **उच्चतम संगठन चरित्र**—ऐसा उसी समय सम्भव हो सकेगा जबकि : (i) कर्मचारियों को कम से कम परिश्रम करना पड़ता हो; (ii) औद्योगिक दुर्घटनाओं में निरन्तर कमी होती हो; (iii) कार्य करने की दशायें अच्छी हों; तथा (iv) कर्मचारियों के धैर्य में निरन्तर वृद्धि होती हो तथा उन्हें अपनी उन्नति की आशा हो।

डॉ० क्लाउड एस० जोर्जो (Dr. Claude S. George) के अनुसार एक अच्छे अभिन्यास के सामान्य उद्देश्य निम्न होते हैं :—(१) निर्माणी लागतों को कम करना। (२) कर्मचारियों की सुरक्षा में वृद्धि करना। (३) उत्पाद की अच्छी किस्म तैयार करना। (४) ग्राहक को श्रेष्ठ सेवायें प्रदान करना। (५) पूँजीगत विनियोग को कम करना। (६) लचक में वृद्धि करना। (७) कर्मचारियों के मनोबल में वृद्धि करना। (८) भूमितल स्थान का अधिक प्रभावशाली उपयोग करना। (९) क्रियमाण कर्म (Work-in-progress) की मात्रा को न्यूनतम करना।

---

1 "Plant layout can be defined as a technique of locating machines, processes, and plant services within the factory so as to achieve the greatest possible output of high quality at the lowest possible total cost of manufacturing."

(१०) सामग्री की क्षति को न्यूनतम करना। (११) काम में देरी अथवा रुकावटों को कम करना। (१२) श्रम-शक्ति का अधिक प्रभावशाली उपयोग करना। (१३) नियन्त्रण तथा निरीक्षण में सुधार करना। (१४) सामग्री एवं सुविधाओं का अधिक प्रभावी उपयोग करना। (१५) निर्माणी चक्रों को कम करना। एवं (१६) काम एकत्रित होने के बिन्दुओं को समाप्त करना।

अभिन्यास पर प्रभाव डालने वाले घटक
(Factors Influencing the Layout)

एक संयन्त्र के प्रभावशाली अभिन्यास का विकास करते समय कई ऐसी महत्त्वपूर्ण बातों (घटकों) का ध्यान रखना परम आवश्यक होता है जोकि एक अच्छी एवं कार्यशील व्यवस्था की प्राप्ति के लिये नितान्त आवश्यक हैं। अभिन्यास को प्रभावित करने वाले प्रमुख घटक निम्नलिखित हैं :—

(१) **निर्माण की जाने वाली वस्तुओं की किस्म**—निर्माण की जाने वाली वस्तुओं की किस्म का अभिन्यास पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये, भारी किस्म के उत्पाद के निर्माण के लिए सामग्री को उठाने-धरने की व्यवस्था का उपयुक्त बिन्दुओं पर होना आवश्यक है। इसके लिये उत्पाद अभिन्यास की आवश्यकता होगी। इसके विपरीत हल्के किस्म के उत्पाद के लिये, जिसे आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक लाया-ले जाया जा सकता है, क्रियात्मक अभिन्यास की आवश्यकता होगी।

(२) **उत्पादन की मात्रा**—संयन्त्र के अभिन्यास पर उत्पादन की मात्रा का भी महत्त्वपूर्ण प्रभाव पड़ता है। मात्रा की दृष्टि से उत्पादन की निम्न तीन विधियाँ हो सकती हैं : **(अ) जॉब उत्पादन** (Job Production)—इसमें वस्तुओं का उत्पादन ग्राहकों के आदेशानुसार किया जाता है। उत्पादन विभिन्न प्रकार का होने के कारण इसमें प्रमापीकरण सम्भव नहीं है। इसमें यन्त्र आदि ऐसे लगाये जाते हैं जो सभी मानकों (Specifications) के माल का उत्पादन कर सकें, ताकि सभी प्रकार के ग्राहकों की सन्तुष्टि की जा सके। ऐसा जहाज निर्माण, मोटर्स बस आदि की बॉडी बनाने वाले उद्योगों में होता है। **(ब) बृहत परिमाण में उत्पादन** (Mass Production)—यह जॉब उत्पादन का बिलकुल उल्टा है। इसके अन्तर्गत प्रमापित वस्तुओं का बड़े पैमाने पर निरन्तर उत्पादन होता रहता है। आज का युग बृहत परिमाण में उत्पादन का युग है। **(स) वर्ग उत्पादन** (Batch Production)—जॉब उत्पादन और बृहत परिमाण के उत्पादन के मध्य वर्ग-उत्पादन की प्रक्रिया आती है। इसके अन्तर्गत माल का उत्पादन वर्गों में किया जाता है। एक वर्ग का माल बिक जाने पर ही दूसरे वर्ग में उत्पादन का कार्य शुरू हो जाता है। दवाई निर्माण उद्योग में वर्ग उत्पादन प्रक्रिया कार्य में लायी जाती है।

(३) **क्रियाओं का क्रम**—संयन्त्र के अभिन्यास में क्रियाओं के क्रम का भी भारी प्रभाव पड़ता है। यह उत्पाद अभिन्यास में अपेक्षाकृत अधिक महत्त्वपूर्ण है। क्रियाओं के क्रम पर ही यन्त्रों एवं मशीनों का क्रम निर्भर करता है। अभिन्यास का नियोजन करने से पूर्व क्रियाओं का क्रम निर्धारित होना आवश्यक होता है।

(४) **मशीनों को क्रम में अथवा समूह में रखा जाना**—मशीनों को या तो क्रम में रखा जा सकता है अथवा किस्म के अनुसार समूह में रखा जा सकता है। अभिन्यास का नियोजन होने से पूर्व यह निश्चित हो जाना परम आवश्यक होता है कि इन दोनों विधियों में से कौन-सी विधि अपनाई जानी चाहिये।

(५) **स्थान की आवश्यकता**—सभी मशीनें एक-सा स्थान नहीं घेरती हैं। कुछ मशीनें अधिक स्थान घेरती हैं तथा कुछ कम स्थान घेरती हैं। किन्तु स्थान की आवश्यकता केवल

मशीन को रखने के लिये ही नहीं होती, अपितु उसे चलाने के लिये भी पर्याप्त स्थान चाहिये। किस मशीन को चलाने के लिये कितने स्थान की आवश्यकता होगी यह बात बहुत कुछ मशीन की किस्म पर निर्भर करती है। अतएव अभिन्यास का नियोजन करने से पूर्व यह भी निश्चित करना आवश्यक है कि किस मशीन को रखने एवं चलाने के लिए कितने स्थान की आवश्यकता होगी। इसके अभाव में दुर्घटनाओं का होना स्वाभाविक-सा प्रतीत होता है।

(६) **प्रवाह का चालू रहना**—संयन्त्र अभिन्यास का प्राथमिक उद्देश्य केवल मशीनों को खड़ा करना ही नहीं है अपितु संयन्त्र के माध्यम से सामग्री के अनुकूलतम प्रवाह की प्राप्ति करना है। वास्तव में, सामग्री का प्रभावशाली प्रवाह का होना एक अच्छे संयन्त्र अभिन्यास का प्राथमिक लक्षण होता है। अतएव हमें अभिन्यास का विकास करते समय यह देखना चाहिये कि सामग्री का प्रभावशाली प्रवाह है या नहीं।

(७) **न्यूनतम हिलना-डुलना**—अन्य बातें समान रहने पर, सर्वश्रेष्ठ अभिन्यास वह है जिसमें सामग्री का हिलना-डुलना न्यूनतम होता हो। सामग्री का हिलना-डुलना जितना कम होगा श्रम, समय एवं सामग्री की आवश्यकता उतनी ही कम होगी।

(८) **साज-सज्जा**—मशीन अभिन्यास में हमें न केवल क्षमता और भूमितल स्थान की ओर ही ध्यान देना चाहिये अपितु मशीन के भार और उसके चलाने के लक्षणों की ओर भी ध्यान देना चाहिये। भारी मशीनों को ऐसे स्थान पर रखा जाना चाहिए जो कि भार का वहन कर सकें। इसी प्रकार ऐसी साज-सज्जा को, जिनसे कि चलाने में कम्पन उत्पन्न होता हो, सदैव नीचे के भूमितल पर रखा जाना चाहिये। इसके विपरीत, ऐसी मशीनों को, जिनके चलाने में आवाज होनी हो, पृथक् स्थान पर रखा जाना चाहिये।

(९) **सन्तुलन**—अभिन्यास में सन्तुलन का अभिप्राय मशीन क्षमता की ऐसी व्यवस्था से है जिसके द्वारा क्षमता प्रचलन पर उत्पादन का प्रभाव अपेक्षाकृत एक समान होता हो। अभिन्यास में सन्तुलन के होने से उत्पादन-क्रिया की रुकावटें समाप्त हो जाती हैं तथा दुहरी साज-सज्जा की आवश्यकतायें नहीं रहती हैं। उत्पादन द्वारा अभिन्यास में सन्तुलन के घटक का महत्त्व अपेक्षाकृत अधिक है।

(१०) **लचीलापन**—उत्पादों, प्राविधियों, साज-सज्जा एवं उत्पादन के तरीकों में परिवर्तनों का होना स्वाभाविक ही है। अतएव अभिन्यास ऐसा होना चाहिये जिसमें कि पर्याप्त लचकीलापन हो। अभिन्यास में लचकीलापन प्राप्त करने के अनेक तरीके हैं, जैसे—घूमने वाली मशीनों का उपयोग।

अभिन्यास के प्रकार
(Types of Layout)

संयन्त्र अभिन्यास निम्नलिखित चार प्रकार का हो सकता है :—(I) रेखा अथवा उत्पाद अभिन्यास। (II) प्रक्रिया अभिन्यास। (III) मिश्रित अभिन्यास। एवं (IV) स्थिर-अभिन्यास।

(I) रेखा अथवा उत्पाद अभिन्यास (Line or Product Layout)—

रेखा अभिन्यास में कच्चा माल एक प्रक्रिया (Operation) से दूसरी प्रक्रिया में स्थानान्तरित होता है तथा मशीनें प्रक्रियाओं के तार्किक क्रम (Logical Sequence) के अनुसार स्थापित की जाती हैं। इसे उत्पाद अभिन्यास इसलिए कहते हैं, क्योंकि उत्पादन की समस्त क्रियायें एक विशेष क्रम में ही चलती रहती हैं और जब तक उत्पादन पूर्ण नहीं हो जाता तब तक निर्माणी क्रियाओं के पास ही उत्पादन की सामग्री उपलब्ध होती रहती है। इसे रेखा अभि-

न्यास इसलिये कहते हैं, क्योंकि समस्त कार्य उत्पादन की क्रिया एक निश्चित रेखा में ही सम्पन्न होती है।

उपयुक्तता—यह विशुद्ध दशा में तो किसी भी उद्योग में नहीं पाया जाता, किन्तु जहाँ प्रमापित वस्तुओं का उत्पादन बृहत् पैमाने पर किया जाता है, यह सबसे अधिक लोकप्रिय अभिन्यास माना जाता है।

चित्र द्वारा प्रदर्शन—रेखा अथवा उत्पाद पर आधारित कारखाना अभिन्यास योजना का चित्र नीचे दिया गया है। इसमें एक कारखाना दो वस्तुयें 'अ' और 'ब' तैयार करता हुआ दिखाया गया है। यह उत्पादन की दो अलग-अलग रेखायें बनाता है :—
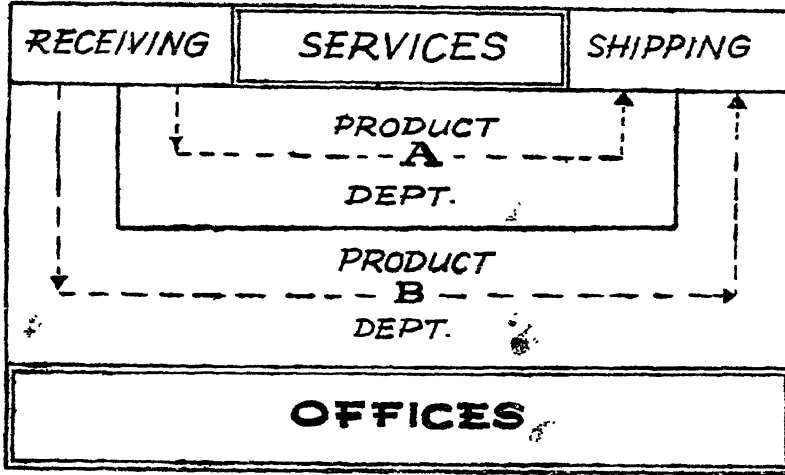
रेखा अथवा उत्पाद अभिन्यास के लाभ—(१) इसमें सामग्री के प्रयोग में पर्याप्त मितव्ययिता रहती है तथा कम जमीन काम में लाने में सुविधा रहती है। (२) वस्तु के निर्माण में कम समय लगता है। (३) आन्तरिक यातायात न्यूनतम हो जाता है। (४) चालू-कार्य-तालिका (Work in progress Inventory) में कमी हो जाती है। (५) उत्पादन पर नियन्त्रण रखना बहुत ही सरल हो जाता है, क्योंकि माल एक बार मशीन पर चढ़ जाने पर सीधा अन्तिम मशीन तक पहुँच जाता है और इस प्रकार उसके बीच में रह जाने अथवा खो जाने की आशंका जाती रहती है। (६) माल के रखने-रखाने की लागत बहुत कम हो जाती है। (७) समस्त उत्पादन माँग के आधार पर निश्चित किया जा सकता है। (८) इसके कार्य में रुकावट आने की सम्भावनायें अपेक्षाकृत कम हो जाती हैं, क्योंकि उत्पादन की सभी क्रियायें पहले से ही तार्किक क्रम में स्थापित कर दी जाती हैं। (९) चूँकि इसमें उत्पादन कार्य में कम समय लगता है अतएव कार्य अथवा प्रक्रिया (work or process) में विनियोजन की मात्रा कम हो जाती है। (१०) अर्ध कुशल-श्रम-शक्ति द्वारा विशिष्ट प्रयोजन वाली साज-सज्जा का प्रचलन कराया जा सकता है।

रेखा अथवा उत्पाद अभिन्यास के दोष—(१) इसमें लचकीलेपन का अभाव रहता है, क्योंकि उत्पादन प्रक्रिया में परिवर्तन होने से अभिन्यास में भी परिवर्तन की आवश्यकता पड़ सकती है। (२) इसमें प्रारम्भिक विनियोग अत्यधिक होता है। (३) यदि किसी कारणवश रेखा की कोई मशीन बन्द हो जाय तो समस्त रेखा ही कार्य करना बन्द कर देती है। (४) इसमें क्रियात्मक अभिन्यास की अपेक्षा निरीक्षण में अधिक विशिष्टीकरण बरतना पड़ता है। (५) इसके अन्दर उत्पादन वृद्धि में प्रायः कठिनाई का सामना करना पड़ता है।

(II) क्रियात्मक अथवा प्रविधि अभिन्यास (Functional or Process Layout)—

अभिन्यास की प्रस्तुत प्रणाली विशिष्टीकरण के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें मशीनें कार्यों के हिसाब से अलग-अलग समूहों में विभाजित की जाती हैं। अर्थात् एक-सी मशीनों को एक ही विभाग में उनके कार्यों के अनुसार स्थापित किया जाता है। उदाहरण के लिये, ड्रिलिंग विभाग (Drilling Department) में छेद करने की सभी मशीनें स्थापित की जाती हैं।

उपयुक्तता—यह प्रणाली उन उद्योगों के लिये सर्वश्रेष्ठ है जो कि 'जॉब ऑर्डर' (Job Order) उत्पादन विधि अपनाते हैं। इसके अन्तर्गत विभिन्न किस्म के उत्पाद को विभिन्न समय पर तैयार किया जाता है।

चित्र द्वारा प्रदर्शन—

RECEIVING
SERVICES
SHIPPING
LATHE DEPT.
MILLING DEPT.
SURFACE FINISHING
PACKAGING
ASSEMBLY
INSPECTION
OFFICES
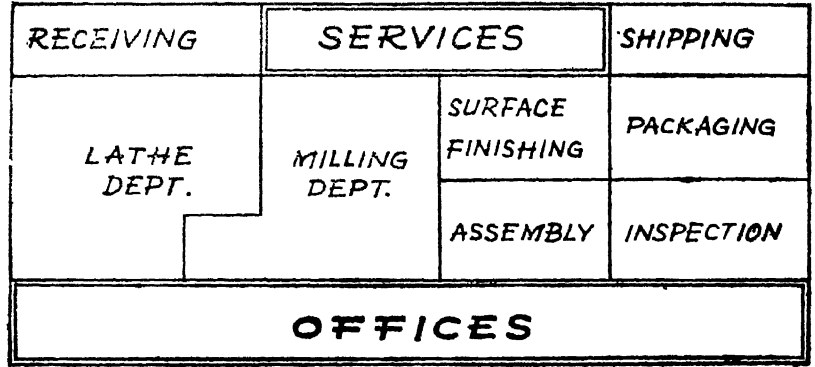
क्रियात्मक अभिन्यास के लाभ—क्रियात्मक अभिन्यास पर आधारित निर्माण योजना के लाभ निम्नलिखित हैं :—(१) यह योजना अधिक लोचदार है, क्योंकि अन्य प्रकार की प्रक्रियाओं में परिवर्तन होते हुये भी अभिन्यास में परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। (२) उत्पादन की मात्रा घटने-बढ़ने पर समायोजन करने में सुविधा रहती है। (३) प्रारम्भिक विनियोग कम रहता है, क्योंकि इसमें सामग्री का पूर्ण उपयोग सम्भव है। (४) विशिष्टीकरण के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण श्रमिकों की कुशलता का अधिकतर उपयोग किया जा सकता है। (५) इस योजना में निरीक्षक अपने कार्य में बहुत ही निपुण हो जाते हैं और निरीक्षण कार्य प्रभावशाली ढंग से करते हैं। (६) विभिन्न विभागों के बीच प्रतिस्पर्धा के रहने से कुशलता में वृद्धि होती है। (७) यदि किसी कारणवश कोई मशीन फेल हो जाय अथवा अन्य किसी प्रकार की रुकावट आ जाय तो भी हानि अपेक्षाकृत कम होती है।

क्रियात्मक अभिन्यास के दोष—क्रियात्मक अभिन्यास के दोष निम्न हैं :—(१) इस योजना में पदार्थों को उठाने-धरने की विधि स्वचालित न होने के कारण उठाने धरने में काफी व्यय होता है। (२) उत्पादन नियन्त्रण में अधिक कठिनाई होती है। (३) कच्चे पदार्थों को एक विभाग से दूसरे विभाग तक लाना एवं ले जाना पड़ता है, जिससे व्ययों में वृद्धि होती है। (४) एक ही प्रकार का माल तैयार करने में अपेक्षाकृत अधिक समय लगता है। (५) इस योजना में सदैव अर्ध-निर्मित माल के एकत्रित होने का भय बना रहता है। (६) इस व्यवस्था में स्थान भी अधिक घिरता है। (७) इसमें तयार माल की सूची में वृद्धि होने की प्रवृत्ति पाई जाती है। (८) इस योजना में एक ही कार्य विभिन्न विभागों में होकर गुजरने के कारण निर्माणी उत्पाद के प्रति अन्तिम उत्तरदायित्व निर्धारित करना कठिन होता है।

उत्पाद तथा क्रियात्मक अभिन्यासों का तुलनात्मक अध्ययन (Comparative Study of both the Layouts)—

उत्पाद तथा क्रियात्मक दोनों प्रकार के अभिन्यासों का अर्थ समझाने तथा उनके गुण-दोषों का विवेचन करने के पश्चात् तुलनात्मक अध्ययन करना भी आवश्यक प्रतीत होता है।

श्री लुण्डी (Lundy) के अनुसार उत्पाद तथा क्रियात्मक अभिन्यास दोनों का अन्तर आगे दी गई तालिका से पूर्णतया स्पष्ट हो जाता है :—

क्रम संख्या	विशेषता	उत्पाद अभिन्यास	क्रियात्मक अभिन्यास
१.	उपकरणों का न्यूनतम दुहरा उपयोग (Minimum duplication use of tools)	—	+
२.	लोच (Flexibility)	—	+
३.	मशीनों के टूट जाने पर व्यवस्था (Provision in case when machines are damaged)	—	+
४.	विशिष्टीकरण का तत्त्व (Element of specialisation)	—	+
५.	व्यक्तिगत योग्यता का उपयोग (Utilisation of personal ability)	—	+
६.	कच्चे माल को उठाने-धरने में न्यूनतम् लागत [Minimum handling charges of raw-material)	+	—
७.	उत्पादन में न्यूनतम समय (Minimum time in production)	+	—
८.	उत्पादन नियन्त्रण में सुविधा (Facility of Production control)	+	—
९.	कम से कम भूमि क्षेत्रफल की आवश्यकता (Minimum floor surface required)	+	—
१०.	सामूहिक प्रेरणा (Community incentive)	+	—

(III) मिश्रित अभिन्यास (Mixed Layout)—

ऐसे उद्योगों में जहाँ वस्तुओं के विभिन्न हिस्सों को पहले से ही बना लिया जाता है तथा बाद में उन्हें जोड़ा जाता है, मिश्रित अभिन्यास की प्रणाली अधिक लोकप्रिय है। अभिन्यास की इस प्रणाली का प्रदर्शन निम्न चित्र द्वारा किया गया है :—
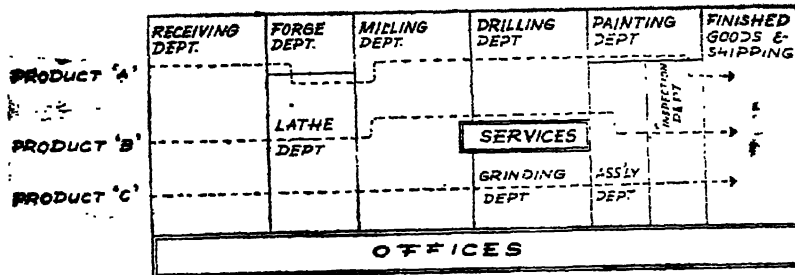
उपरोक्त चित्र से यह स्पष्ट हो जाता है कि मिश्रित अभिन्यास योजना में उत्पाद तथा

क्रियात्मक दोनों प्रकार के अभिन्यासों के दोषों को हटाने का प्रयत्न करते हुए उन दोनों की अधिक से अधिक अच्छी बातों को ग्रहण करने का प्रयास किया गया है।

(IV) स्थिर अभिन्यास (Layout by Stationary)—

अभिन्यास की यह योजना बड़े-बड़े भागों का निर्माण करने अथवा मिश्रण कार्यों के लिये अधिक उपयुक्त है। उदाहरण के लिये, जहाज निर्माण का कार्य (Job Welding Shop) आदि। इस प्रणाली के अन्तर्गत पदार्थ तो एक ही स्थान पर स्थिर रहता है, किन्तु मनुष्य तथा मशीन (Man and Machine) दोनों घूमते हैं, अर्थात् ये दोनों स्वयं ही पदार्थ के नजदीक पहुँचते हैं।

स्थिर अभिन्यास प्रणाली के लाभ—इस प्रणाली के प्रमुख लाभ निम्नलिखित हैं :— (१) किसी एक कार्य को पूरा करने के लिये एक या अधिक व्यक्तियों की नियुक्ति सरलता से की जा सकती है। (२) इस प्रणाली में अधिकतम लोच रहती है। (३) एक ही अभिन्यास में एक से अधिक विभिन्न किस्म के कार्य एक साथ किये जा सकते हैं।

स्थिर अभिन्यास प्रणाली के दोष—(१) इसमें स्थिर (Fixed) एवं भारी (Heavy) मशीनों का उपयोग करना कठिन होता है, क्योंकि इसमें घूमने वाली (Mobile) मशीनरी की आवश्यकता पड़ती है। (२) इसमें अत्यधिक कुशलता प्राप्त व्यक्तियों की कुशलता का उपयोग कर सकना भी सम्भव होता है, क्योंकि ऐसे व्यक्ति मुश्किल से ही पदार्थ तक जाने के लिए सहमत होते हैं। (३) प्रस्तुत प्रणाली का क्षेत्र बहुत ही सीमित है।

कुशल अभिन्यास के लाभ
(Advantages of an Efficient Zayout)

अध्ययन की सुविधा की दृष्टि के एक कुशल अभिन्यास से होने वाले लाभों को निम्नलिखित तीन भागों में बाँटा जा सकता है :—(I) निर्माताओं को लाभ, (II) श्रमिकों को लाभ, तथा (III) उपभोक्ताओं को लाभ।

(I) निर्माताओं को लाभ—

(१) निर्माणी लागत में कमी होना; (२) पूँजीगत विनियोग में कमी होना; (३) भूमितल धरातल का अधिकतम उपयोग होना; (४) चालू कार्य (work in progress) में कमी होना; (५) अंश पूँजी के सम्बन्धों में सुधार होना; (६) सामग्री की क्षति न्यूनतम होना; (७) श्रम-शक्ति का अधिकतम उपयोग होना; (८) कार्य में देरी अथवा रुकावटों में कमी होना; (९) नियन्त्रण एवं निरीक्षण में सुधार होना; (१०) उपलब्ध सामग्री एवं सुविधाओं का अधिक प्रभावी उपयोग होना; (११) निर्माण चक्रों में कमी होना; (१२) काम एकत्रित होने के बिन्दुओं में कमी होना; (१३) विभिन्न विभागों में सन्तुलन कायम होना; (१४) प्रति मशीन अधिक उत्पादन सम्भव होना; (१५) लचकीलेपन में वृद्धि होना।

(II) श्रमिकों को लाभ—

(१) श्रमिकों की कार्य करने की दशाओं में सुधार होना; (२) दुर्घटनाओं की संख्याओं में कमी होना; (३) माल को रखने-धरने की क्रियाओं में कमी होना; (४) अधिकतम कुशलता से कार्य करने का सुअवसर प्राप्त होना; (५) कर्मचारियों का मनोबल ऊँचा उठना; (६) श्रमिकों के परिश्रम में कमी होना; (७) श्रमिकों में उन्नति करने की आशा का संचार होना।

(III) उपभोक्ताओं को लाभ—

(१) उत्पाद की किस्म में सुधार होना, (२) श्रेष्ठ सेवायें उपलब्ध होना, तथा (३) माल के आदेशों की कम से कम समय में पूर्ति होना आदि।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि कुशल अभिन्यास प्रणाली से निर्माता, श्रमिक तथा उपभोक्ता सभी को अनेक लाभ होते हैं।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. संयन्त्र अभिन्यास का क्या अर्थ है ? वे कौन से उद्देश्य हैं जिन्हें प्रबन्ध एक कुशल संयन्त्र अभिन्यास से प्राप्त करना चाहता है ?
(इन्दौर, पूरक परीक्षा, १९७०; जीवाजी, १९६५; विक्रम, १९६१)

२. संयन्त्र अभिन्यास पर एक टिप्पणी लिखिये। (विक्रम, १९६६)

३. संयन्त्र अभिन्यास से आप क्या समझते हैं ? संयन्त्र अभिन्यास को प्रभावित करने वाले घटकों का परीक्षण कीजिये। (विक्रम, १९६५)

४. संयन्त्र अभिन्यास से आप क्या समझते हो ? उत्पाद तथा प्रक्रिया अभिन्यासों में अन्तर बतलाइये और प्रत्येक के लाभों को दीजिये।

५. वृहत व्यावसायिक उपक्रमों के स्थानीयकरण तथा अभिन्यास का निर्धारण करने वाले कौन-कौन से घटक होते हैं ? (इन्दौर, १९७०)

६. विभिन्न प्रकार के संयन्त्र विन्यासों के तुलनात्मक लाभ-हानियों का संक्षिप्त विवेचन कीजिये। एक दोषपूर्ण विन्यास के क्या लक्षण हैं ? (विक्रम, १९७०)

७. वे कौन से उद्देश्य हैं जिन्हें औद्योगिक व्यवस्थापक कुशल संयन्त्र अभिन्यास (यन्त्रों के विन्यास) के द्वारा प्राप्त करना चाहता है ? एक नये कारखाने में संयन्त्र अभिन्यास की योजना बनाने की सम्पूर्ण कार्यविधि को समझाइये। (आगरा, १९७१)

१७

सेविवर्गीय प्रबन्ध

(Personnel Management)

प्रारम्भिक—सेविवर्गीय प्रबन्ध से आशय

"सेविवर्गीय प्रबन्ध, प्रबन्ध का वह भाग है जो कर्मचारियों तथा अन्य श्रमजीवियों की प्रबन्ध व्यवस्था से सम्बन्ध रखता है।" आजकल की इस जटिल एवं गलाकाट प्रतियोगिता के युग में केवल वही व्यवसायी सफलता प्राप्त करने की कामना कर सकता है, जिसके यहाँ के कर्मचारी तथा अन्य श्रमजीवी अपने-अपने कार्य में अधिकतम कुशल एवं अनुभव रखते हों। कर्मचारियों तथा अन्य श्रमजीवियों की कुशलता अनेक बातों पर निर्भर करती है, जैसे—(i) वैज्ञानिक ढङ्ग से भर्ती करना; (ii) प्रशिक्षण की व्यवस्था करना; (iii) उनकी शारीरिक एवं मानसिक योग्यता के अनुसार कार्य सौंपना; (iv) मजदूरी भुगतान की वैधानिक प्रणालियाँ लागू करना; (v) कल्याणकारी क्रियाओं की व्यवस्था करना; (vi) औद्योगिक शान्ति स्थापित करने का प्रयत्न करना; (vii) उन्हें अधिकतम सन्तुष्टि प्रदान करने का प्रयत्न करना तथा कार्य में लगन की भावना को जाग्रत करना। इन सभी बातों के होने से उनकी कार्यक्षमता का विकास होता है और इस प्रकार वे अधिकतम कुशलता एवं लगन से अपना-अपना कार्य करने लग जाते हैं। यही **'सेविवर्गीय प्रबन्ध'** है। सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग श्रमजीवियों की समस्याओं का अध्ययन करने तथा उनका वैज्ञानिक ढंग से समाधान करने का प्रयत्न करता है, ताकि श्रम-शक्ति का अधिकतम कुशलतापूर्वक उपयोग किया जा सके।

सेविवर्गीय प्रबन्ध की परिभाषायें
(Definitions of Personnel Management)

सेविवर्गीय प्रबन्ध की परिभाषा विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न शब्दों में प्रस्तुत की हैं। कुछ प्रमुख विद्वानों द्वारा दी गयी परिभाषायें निम्नलिखित हैं :—

ई० एफ० एल० ब्रीच के अनुसार, "सेविवर्गीय प्रबन्ध, प्रबन्ध प्रगति का वह भाग है जो मुख्यत: किसी सङ्गठन के मानवीय तत्वों से सम्बन्ध रखता है।"[1] यह परिभाषा मानवीय सम्बन्धों की स्थापना पर जोर देती है, जो कि प्रबन्ध की सफलता का शक्तिशाली स्तम्भ है।

टॉमस जी० स्पेट्स के अनुसार, "कार्य पर लगे हुये व्यक्तियों को सङ्गठित करने तथा उनके साथ व्यवहार करने के ऐसे उपायों की संहिता (code) को सेविवर्गीय प्रशासन कहते हैं, जिससे वे अपनी अन्तर्निहित योग्यताओं का सदुपयोग कर सकें और अपने वर्ग की कार्यकुशलता

---

1 "Personnel management is that part of the management progress which is primarily concerned with the human costituents of an organisation."
—*Principles and Practice of Management*, edited by **E. F. L. Brech**, p. 387.

को अधिकतम सीमा तक बढ़ा सकें। इस प्रकार संस्था को, जिसके कि वे अङ्ग हैं, प्रतिस्पर्धा में विजय पाने तथा अनुकूलतम् लाभ कमाने की सामर्थ्य मिल सके।"[1]

एडवर्ड ट्रेगास्किस एलबोर्न (Edward Tregaskiss Elbourne) के अनुसार, "सेवि-वर्गीय प्रबन्ध, प्रबन्ध की प्रक्रिया का वह भाग है, जो एक संगठन में नियुक्त व्यक्तियों से सम्बन्धित है। इसका उद्देश्य सङ्गठन के सभी स्तरों पर व्यक्तिगत सम्बन्धों की स्थापना एवं पोषण करना है। यह सेविवर्गियों का प्रभावशील प्रयोग करने का प्रयास करता है, जिससे संस्था के सभी व्यक्ति इसके उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये अधिकतम योगदान कर सकें तथा व्यक्तिगत एवं सामाजिक सन्तोष प्राप्त कर सकें।"[2]

बम्बई सूती वस्त्र जाँच समिति के अनुसार, "सेविवर्गीय प्रबन्ध किसी उद्योग में मानव तत्त्व को सावधानी तथा न्यायसंगत तरीके से नियन्त्रित करने का ढंग है।"

सेविवर्गीय प्रबन्ध के विभिन्न नाम—

सेविवर्गीय प्रबन्ध को विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न नामों से पुकारा है। कुछ ने इसे **'सेविवर्गीय प्रशासन'** (Personnel Administration) के नाम से, कुछ ने **'औद्योगिक प्रबन्ध'** (Industrial Management) के नाम से तथा कुछ ने **सेविवर्गीय प्रशासन एवं प्रबन्ध** (Personnel Administration and Management) के नाम से सम्बोधित किया है। किन्तु नामों की विभिन्नता होते हुए भी इन सभी विद्वानों का अभिप्राय 'सेविवर्गीय प्रबन्ध' से है।

सेविवर्गीय प्रबन्ध का क्षेत्र
(Scope of Personnel Management)

अतीत में व्यावसायिक इकाई का क्षेत्र सीमित होने के कारण सेविवर्गीय प्रबन्ध का क्षेत्र भी सीमित था। इसका कारण यह था कि सेविवर्गीय प्रबन्ध का कार्य व्यावसायिक इकाई का स्वामी स्वयं ही कर लिया करता था। किन्तु जैसे-जैसे व्यावसायिक इकाई का क्षेत्र विस्तृत होता गया वैसे-वैसे सेविवर्गीय प्रबन्ध का क्षेत्र भी बढ़ता गया। एक आधुनिक व्यावसायिक इकाई में सेविवर्गीय प्रबन्ध से सम्बन्धित कार्यों के सम्पन्न करने हेतु एक पृथक विभाग स्थापित किया जाता है, जिसे **'सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग'** कहते हैं। इसके अन्तर्गत मुख्यतः निम्नलिखित कार्यों का समावेश होता है :—

(१) **श्रमिकों को भर्ती करना—**इसके अन्तर्गत विज्ञापन तथा अन्य साधनों से श्रमिकों को आकर्षित किया जाता है तथा उनसे साक्षात्कार किया जाता है। विभिन्न वैज्ञानिक साधनों के द्वारा उनकी योग्यता की परीक्षा की जाती है तथा बाद में उपयुक्त स्थान पर उनको नियुक्त किया जाता है।

(२) **श्रमिकों का प्रशिक्षण—**श्रमिकों की भर्ती के पश्चात् उनके लिये आवश्यक प्रशिक्षण की व्यवस्था की जाती है। यह प्रशिक्षण सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार का होता है। प्रशिक्षण काल में श्रमिकों को एक निश्चित दर से भत्ता भी दिया जाता है। प्रशिक्षण के अनुसार ही उन्हें कार्य सौंपा जाता है तथा उनकी पदोन्नति होती है।

(३) **श्रमिकों को पारिश्रमिक देना—**श्रमिकों को पारिश्रमिक देने के लिये विभिन्न पद्धतियाँ लागू की जाती हैं। ये पद्धतियाँ कार्य की किस्म तथा श्रमिकों की कुशलता पर आधारित

---

1 *Quoted by* **Alford and Beatty** in *Principles of Industrial Management*, p. 636.

2 **Edward Tregaskiss Elbourne** in *Fundamentals of Industrial Administration*, volume 2.

होती हैं। अधिक कठिन एवं श्रेष्ठतम् कार्य करने वाले श्रमिकों के लिये विभिन्न प्रेरणाओं की व्यवस्था भी रहती है।

(४) **कार्य-विश्लेषण तथा कार्य-विवरण**—व्यावसायिक इकाई में किये जाने वाले सभी कार्यों का विस्तृत विश्लेषण करके उनका यथाविधि वर्णन प्रस्तुत किया जाता है। इसके आधार पर ही श्रम-विभाजन किया जाता है तथा यह भी निश्चित किया जाता है कि अमुक कार्य के लिये अमुक पारिश्रमिक दिया जाना चाहिये।

(५) **सेविवर्गीय कल्याणकारी कार्य**—एक बड़ी व्यावसायिक इकाई में विभिन्न कल्याणकारी कार्यों, जैसे—मनोरंजन की व्यवस्था, सुरक्षा की व्यवस्था, शिक्षा की व्यवस्था, व्यावसायिक इकाई के अन्दर तथा बाहर विभिन्न कल्याणकारी कार्यों की व्यवस्था आदि का आयोजन रहता है। इससे श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि होती है।

(६) **सेविवर्गीय लेखे रखना**—उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त सेविवर्गीय प्रबन्ध के अन्तर्गत श्रमिकों तथा कर्मचारियों से सम्बन्धित समस्त आवश्यक लेखे भी सुरक्षित रखे जाते हैं। लेखे श्रमिकों की संख्या, उपस्थिति, अनुपस्थिति, कार्य, प्रशिक्षण, पारिश्रमिक, हस्तान्तरण, सेवा निवृत्ति, पदोन्नति आदि के सम्बन्ध में होते हैं।

सेविवर्गीय प्रबन्ध का महत्व
(Importance of Personnel Management)

कर्मचारी आधुनिक उद्योग व व्यवसाय के प्राण होते हैं। व्यवसाय के पास उत्पादन की सामग्री कितनी भी उच्चकोटि की क्यों न हो, उत्पादन प्रक्रिया कितनी श्रेष्ठ भी क्यों न हो, यह सब कर्मचारियों के अभाव में व्यर्थ हो जायेंगे। एक विद्वान ने सेविवर्गीय प्रबन्ध की तुलना मानव शरीर से की है। जिस प्रकार शरीर के समस्त अंगों का कार्य-निर्देशन का कार्य मस्तिष्क करता है और उसके अस्वस्थ हो जाने पर सुदृढ़ से सुदृढ़ अंग भी कार्यहीन हो जाते हैं, उसी प्रकार एक कुशल मानव प्रबन्ध व्यवसाय के सम्पूर्ण कर्मचारियों से काम लेता है तथा अपने उद्देश्य की प्राप्ति करता है। पीटर ड्रकर के अनुसार—"व्यावसायिक सङ्गठन में जिन साधनों का विस्तार किया जा सकता है, वे केवल मानवीय साधन हैं।" आज के इस युग में मानव का भारी महत्त्व है। बड़ी-बड़ी मशीनों यहाँ तक कि स्वचालित मशीनों के चलाने व देखभाल करने के लिये भी मानव की ही आवश्यकता होती है। संक्षेप में, कर्मचारियों के सहयोग के बिना उत्पादन करना व सफलता प्राप्त करना असम्भव है। यह सहयोग कर्मचारी प्रबन्ध द्वारा प्राप्त किया जाता है। जो प्रबन्ध इस सहयोग को प्राप्त करने में सफल होता है वही अपने व्यवसाय एवं उद्योग में निश्चयात्मक रूप में सफलता प्राप्त करने में समर्थ होता है। यही कारण है कि सेविवर्गीय प्रबन्ध का महत्त्व दिनोंदिन बढ़ता चला जा रहा है।

सेविवर्गीय प्रबन्ध के लिए एक अलग विभाग की आवश्यकता
(Need for a Separate Personnel Department)

श्रमिक आन्दोलनों के विकास तथा अनेक श्रमिक कानूनों के ज्वार ने आज समग्र प्रबन्धकीय व्यवस्था को झकझोर दिया है। प्रबन्ध के सामाजिक उत्तरदायित्वों की विचारधारा के सृजन ने प्रत्येक सङ्गठन की प्रबन्ध-व्यवस्था में, सेविवर्गीय समस्याओं के शान्तिपूर्ण समाधान हेतु एक अलग विभाग की स्थापना पर बल दिया है। सेविवर्गीय निर्णयों के लेने में सेविवर्गीय नीतियों एवं कार्यक्रमों के निर्धारण में और उनके सफल क्रियान्वयन में सेविवर्गीय प्रबन्धकों के सहयोग को प्राप्त करने के लिये प्रबन्ध शृंखला में एक पृथक विभाग की आवश्यकता का अनुभव किया गया है। "यद्यपि सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग कर्मचारी सामान्यतः न तो उत्पादन ही

करते हैं, और न वस्तुओं का विक्रय ही। किन्तु व कम्पनी के विकास और स्थायित्व में योगदान देते हैं।'[1] यही कारण है कि प्रबन्ध व्यवस्था के महत्त्व को देखते हुए सेविवर्ग के प्रबन्ध हेतु सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग के अस्तित्व को पृथक रूप में स्वीकार किया गया है। पृथक विभाग की आवश्यकता को अधोलिखित कारणों द्वारा और भी स्पष्ट रूप में समझा जा सकता है :—

(१) **मानव-शक्ति के सदुपयोग के लिए**—सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग किसी संगठन की मानव-शक्ति के सर्वोत्तम एवं अधिकतम् सदुपयोग में सहायता करता है। भूमि, श्रम, पूँजी, साहस तथा संगठन उत्पादन के पाँच महत्त्वपूर्ण घटक हैं और श्रम का इन उत्पत्ति साधनों में अपना एक विशिष्ट स्थान है। उत्पत्ति का सक्रिय घटक होने के कारण श्रम को उत्पत्ति केन्द्रों का आधार स्तम्भ माना गया है। मानव-शक्ति के सदुपयोग के लिए एक पृथक विभाग की आवश्यकता को अनुभव किया गया है; जिससे कि सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग समग्र मानव शक्ति की आवश्यकता को मालूम करके, उसकी पूर्ति कर सके और कर्मचारियों के वर्तमान तथा भावी कर्त्तव्यों एवं दायित्त्वों का निर्धारण कर सके।

(२) **संगठन के निर्बाध कार्य संचालन के लिए**—सेविवर्गीय प्रबन्ध को वैधानिक प्रबन्ध का हृदय (Heart of Scientific Management) माना गया है। इतना ही नहीं, अपितु आधुनिक समय में 'सेविवर्गीय प्रबन्ध' प्रबन्ध का पर्याय तथा समानार्थी माना गया है, क्योंकि सेविवर्गीय प्रबन्ध 'कर्मचारियों से कार्य लेने से' सम्बन्धित है। इसलिए संगठन के निर्बाध कार्य-संचालन हेतु एक सन्तुष्ट, स्थायी, कुशल, प्रशिक्षित एवं सहयोगपूर्ण सेविवर्ग की स्थापना करना आवश्यक होता है, जिससे न केवल उत्पादन लागत में ही कमी हो, बल्कि संगठन के विकास में आने वाली सभी समस्याओं का समाधान उचित ढंग से किया जा सके।

(३) **सङ्गठन के सन्तुलित एवं व्यवस्थित विकास के लिए**—प्रायः देखा गया है कि अधिकांश संगठनों का विकास न तो व्यवस्थित और सन्तुलित ढङ्ग से हो पाता है और न ही उनके विकास में स्थिरता आ पाती है। इसका एकमात्र कारण विक्रय, उत्पादन, इन्जीनियरिंग, वित्त, अनुसन्धान आदि विभागों का समानुपातिक विकास न होना है। सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग सङ्गठन के सन्तुलित एवं व्यवस्थित विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान दे सकता है, क्योंकि यह विभाग नियन्त्रण-संयन्त्र (Control Mechanism) की स्थिति में होता है और इसके अन्तर्गत बहुत से उपविभाग होते हैं। यह सत्य है कि सङ्गठन के विकास को गति विक्रय, वित्त एवं अनुसन्धान विभागों से मिलती है, किन्तु औद्योगिक अनुभव यह बताता है कि सङ्गठनों के विकास में सेविवर्ग (Personnel group) प्रमुख रूप से बाधक रहा है। अतएव सेविवर्ग का सहयोग प्राप्त करने तथा संगठन के सर्वाङ्गीण विकास के लिये सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग की पृथक रूप में आवश्यकता अनुभव की गई है।

(४) **प्रशिक्षित एवं कुशल सेविवर्ग के विकास के लिए**—आधुनिकतम मशीनों, उन्नत तकनीकी एवं वैज्ञानिक विधियों और नवीन संशोधित उत्पादन प्रणालियों से कर्मचारियों को परिचित कराना प्रत्येक संगठन के लिए आवश्यक होता है, ताकि न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन की उपलब्धि सुलभ हो सके। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नये आने वाले कर्मचारियों तथा पुराने कर्मचारियों के लिए प्रशिक्षण व्यवस्था करनी पड़ती है, प्रशिक्षण योजनायें बनानी पड़ती हैं, प्रशिक्षण व्ययों का अनुमान लगाना पड़ता है। इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन

---

1 **Ramesh C. Goyal and Charles M. Myers** : *Management of Personnel*, p. 131.

हेतु सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग के अन्तर्गत एक प्रशिक्षण विभाग की स्थापना जरूरी होती है, ताकि कुशल एवं प्रशिक्षित सेविवर्ग का निर्माण एवं विकास सम्भव हो।

(५) **वैज्ञानिक पदोन्नति, पदावनति, स्थानान्तरण, निष्कासन और भृत्ति प्रशासन के लिए**—किसी भी व्यावसायिक अथवा औद्योगिक संगठन के समस्त प्रबन्धकीय दृष्टिकोणों से ऐसी नीतियों, कार्यक्रमों एवं योजनाओं का निर्धारण और क्रियान्वयन एक बहुत ही न्यायोचित आवश्यकता है, जिनके द्वारा योग्य एवं कुशल कर्मचारियों की भर्ती एवं पदोन्नति की जा सके। अकुशल कर्मचारियों का स्थानान्तरण तथा निष्कासन किया जा सके। कर्मचारियों के लिये सर्व-मान्य मजदूरी स्तर निर्धारित किये जा सकें। इन समस्त कार्यों के सम्पादन के लिए सेविवर्गीय प्रबन्ध का पृथक विभाग आवश्यक समझा गया है।

(६) **श्रम एवं पूँजी के बीच मधुर सम्बन्धों की स्थापना के लिए**—किसी भी संगठन का विकास श्रम और पूँजी के बीच विद्यमान शान्तिपूर्ण मधुर पारस्परिक सम्बन्धों पर आश्रित होता है। औद्योगिक प्रजातन्त्र की जड़ों को मजबूत करने के लिये औद्योगिक अनुशासन और नैतिकता की आवश्यकता होती है, जो कि सेवानियोजकों एवं सेविवर्ग के सम्बन्धों पर निर्भर करती है। इसलिए कर्मचारियों के चतुर्दिश विकास के लिए एक पृथक सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग की स्थापना हर औद्योगिक इकाई में की गई है, जिससे कि पारस्परिक विश्वासाश्रित सम्बन्धों का विकास किया जा सके।

सेविवर्गीय प्रबन्ध के कार्य
(Functions of Personnel Management)

सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग का कार्य बहुत कुछ उद्योग की प्रकृति, आकार तथा उसके संगठन पर निर्भर करता है। उदाहरण के लिए, एक छोटे आकार के उद्योग में सेविवर्गीय प्रबन्ध के कई कार्य स्वयं मुख्य प्रशासनिक अधिकारी के अधीन होते हैं। सामान्यतः सेविवर्गीय प्रबन्ध उन सभी कार्यों को करता है जो कि किसी व्यावसायिक संगठन के मानव तत्त्व से सम्बन्ध रखते हैं। **डॉ० विलियम आर० स्प्रीगल** (Dr. William R. Spriegel) के अनुसार, सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग के कार्यों को निम्नलिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) **श्रमिकों की भर्ती**—यह सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग का सबसे प्रमुख कार्य है। इसके अन्तर्गत निम्न कार्यों का समावेश होता है :—(i) श्रम-पूर्ति के साधनों का विकास करना। (ii) कृत्य (Job) सम्बन्धी आवश्यकताओं एवं मजदूरी की प्रचलित दरों के सम्बन्ध में आवश्यक सूचनायें एकत्रित करना। (iii) आवेदन-पत्र, लिखित परीक्षा, डॉक्टरी जाँच, साक्षात्कार, सन्दर्भों की जाँच, गति-विवरण आदि उपायों द्वारा श्रमिकों को कार्य पर रखना, (iv) भूतपूर्व, वर्तमान एवं भावी कर्मचारियों के विषय में उपलब्ध जानकारी रखना। (v) नये श्रमिकों एवं कर्मचारियों को सम्बन्धित कम्पनी की नीति तथा उनके अधिकारियों से परिचित कराना। **डॉ० स्प्रीगल** की राय में इस कार्य के लिये एक पृथक 'परामर्श विभाग' की स्थापना की जा सकती है।

(२) **पदोन्नति, हस्तान्तरण तथा सेवानिवृत्ति**—यह सेविवर्गीय प्रबन्ध का द्वितीय महत्त्वपूर्ण विभाग है। इस विभाग के अन्दर निम्न कार्यों का समावेश किया जा सकता है :—(i) पदोन्नति के सिद्धान्त निर्मित करना तथा उसके सम्बन्ध में समस्त रिकार्ड सुरक्षित रखना। (ii) कर्मचारियों के हस्तान्तरण के सम्बन्ध में कम्पनी की नीति बनाने में सहायता पहुँचाना। (iii) कर्मचारियों की सेवानिवृत्ति के सम्बन्ध में कम्पनी की नीति बनाने में सहायता पहुँचाना। (iv) कर्मचारियों के नौकरी से पृथक होने के कारणों को दूर करने का प्रयत्न करना। (v) कर्मचारियों को नौकरी से हटाये जाने के सम्बन्ध में कम्पनी की नीति बनाने में सहायता पहुँचाना।

(३) **प्रशिक्षण**—कर्मचारियों के लिये समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था करना भी सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग का तृतीय महत्त्वपूर्ण कार्य है। इसमें निम्नलिखित कार्यों का समावेश होता है :—(i) नये कर्मचारियों के प्रशिक्षण से सम्बन्धित नियम बनाने में कम्पनी को सहायता पहुँचाना। (ii) प्रशिक्षण सम्बन्धी समस्त कार्यों की देख-भाल करना। (iii) सुरक्षा एवं कम्पनी की नीतियों के सम्बन्ध में प्रशिक्षण प्रदान करना। (iv) कर्मचारियों के लिए एक विशेष वार्षिक रिपोर्ट बनाने में कम्पनी को सहायता पहुँचाना। (v) कर्मचारियों के सुझावों पर उचित कार्यवाही करने में कम्पनी को सहयोग प्रदान करना।

(४) **मजदूरी एवं प्रेरणाएँ** (Wages and Incentives)—इसके अन्तर्गत सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग निम्नलिखित कार्य सम्पन्न करता है :—(i) मजदूरी सम्बन्धी विभिन्न योजनाओं के सम्बन्ध में कम्पनी को सहयोग प्रदान करना। (ii) पैंशन योजनाओं, लाभ-विभाजन कार्यक्रमों, पारस्परिक बचत कार्यक्रमों, साख-सङ्घों, बीमा योजनाओं, कर्मचारियों को कम्पनी द्वारा निर्मित वस्तुओं के विक्रय करने तथा सायंकाल स्कूलों में अध्ययन आदि के बारे में योजनायें बनाने में कम्पनी को सहयोग प्रदान करना। (iii) कृत्य (Job) सम्बन्धी निर्देशन लिखना तथा उनका मूल्यांकन करना।

(५) **सेवा सम्बन्धी क्रियाएँ**—इसके अन्तर्गत निम्नलिखित कार्यों का समावेश किया जा सकता है :—(i) रेस्टोरेण्ट एवं अन्य मनोरंजन की सुविधाओं का निरीक्षण करना। (ii) श्रमिकों एवं कर्मचारियों के निजी मामलों के सम्बन्ध में परामर्श प्रदान करना। (iii) प्लाण्ट की पत्रिका प्रकाशित करना। (iv) कर्मचारियों के नैतिक मनोबल को दृढ़ करने वाले कार्यक्रमों में भाग लेना आदि।

(६) **सामूहिक सौदेबाजी एवं कर्मचारियों का प्रतिनिधित्व**—इसके अन्तर्गत सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग के निम्न कार्यों का समावेश किया जा सकता है :—(i) श्रमिक सङ्घ से बातचीत करना तथा उनके प्रतिनिधियों के साथ सहयोग प्रदान करना। (ii) कर्मचारियों के क्लब (Club) से सहयोग करना। (iii) कर्मचारियों की शिकायतें दूर करने में सहयोग प्रदान करना।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. कर्मचारियों की भर्त्ती एवं प्रशिक्षण तथा मजदूरी प्रशासन के सम्बन्ध में कर्मचारी विभाग के दायित्वों का विवेचन कीजिये। (विक्रम, १९७०)
२. व्यावसायिक संगठन में कर्मचारी प्रबन्ध के महत्त्व का सावधानीपूर्वक परीक्षण कीजिये। कर्मचारी प्रबन्ध विभाग के विभिन्न कार्य कौन-कौन से हैं? (इन्दौर, १९६९)
३. सेविवर्गीय प्रबन्ध पर एक टिप्पणी लिखिये। (इन्दौर, १९७०)
४. कर्मचारी प्रबन्ध के क्या-क्या प्रमुख कर्त्तव्य होते हैं? किसी औद्योगिक उपक्रम के लिये कर्मचारी प्रशासन के एक पृथक् विभाग के औचित्य पर प्रकाश डालिये। (आगरा, १९७१)
५. आधुनिक औद्योगिक संस्थाओं में 'कर्मचारी प्रबन्ध' का अर्थ एवं महत्त्व स्पष्ट रूप में समझाइये। साथ ही औद्योगिक संगठन में 'कर्मचारी प्रबन्ध विभाग' के स्थान एवं कार्यों की भी विवेचना कीजिये। (आगरा, १९७०)

१८

सेविवर्गीय प्रबन्ध : पदोन्नति, पद अवनयन, स्थानान्तरण, नौकरी की समाप्ति तथा अवकाश-ग्रहण

(Personnel Management : Promotion, Demotion, Transfer, Termination of Service and Retirement)

(I) कर्मचारियों की पदोन्नति
(Promotion of Workers)

पदोन्नति से आशय—

साधारणतः लोग पदोन्नति से आशय ऐसे परिवर्तन से लगाते हैं, जिसके परिणामस्वरूप आय में वृद्धि हो जाय। किन्तु आय बढ़ना पदोन्नति के लिये अनिवार्य नहीं है, क्योंकि बिना आय में वृद्धि हुये भी पदोन्नति सम्भव है। यदि किसी कर्मचारी के केवल वेतन में वृद्धि होती है, पद में नहीं तो इसे वेतन वृद्धि कहेंगे, पदोन्नति नहीं। सही अर्थों में पदोन्नति से आशय कर्मचारी के पद में वृद्धि से है। पदोन्नति के परिणामस्वरूप कर्मचारी की आय, प्रतिष्ठा, पद तथा उत्तर-दायित्व चारों मे वृद्धि होती है। स्कॉट एवं स्प्रीगल के अनुसार, "पदोन्नति किसी कर्मचारी का ऐसे कार्य पर स्थानान्तरण है जो अधिक धन देता है अथवा जो कुछ विशिष्ट स्थिति का उपभोग कराता है।"[1] **पॉल पिगर्स एवं चार्ल्स ए० मेयर्स** (Paul Pigors and Charles A. Myers) के अनुसार, "पदोन्नति से आशय किसी कर्मचारी के पद में वृद्धि,से है, जिस पर कि अधिक उत्तर-दायित्व, अधिक प्रतिष्ठा, अधिक चातुर्य तथा बढ़ी हुई वेतन दर होती है।" यह परिभाषा अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है।

पदोन्नति के कारण—

किसी कर्मचारी की पदोन्नति के कई कारण हो सकते हैं। पदोन्नति के सामान्य कारण निम्नलिखित हैं :—

(१) **कर्मचारियों में स्वामिभक्ति की भावना जाग्रत करने हेतु पदोन्नति की व्यवस्था करना**—इससे कर्मचारियों में अनुशासन बना रहता है, क्योंकि वे जानते हैं कि यदि मालिक हमसे नाराज हो गया तो हमारी आगे की प्रगति रुक जायगी। (२) **कर्मचारियों में स्थायित्त्व की भावना को बनाये रखना**—यदि आप चाहते हैं कि आपके यहाँ के योग्य कर्मचारी आपके यहाँ से अनुभव प्राप्त करने के पश्चात् किसी दूसरी जगह पर न जायें, तो उनकी निरन्तर पदोन्नति करते रहना चाहिये। (३) **नियोक्ता एवं कर्मचारियों के बीच मधुर सम्बन्ध बनाने के लिये**—यदि आप चाहते हैं कि आपके यहाँ नियोक्ता एवं कर्मचारियों के बीच मधुर सम्बन्ध निरन्तर बना रहे

---

1 "A promotion is the transfer of an employee to a job that pays more money or that enjoys some preferred status."—**Scott & Spriegel.**

तो आपको अपने यहाँ के कर्मचारियों की पदोन्नति करते रहना चाहिये। (४) **पुरस्कारस्वरूप पदोन्नति**—कभी-कभी पुरस्कारस्वरूप भी पदोन्नति होती है, जैसे—अधिक कुशलता दिखाने के प्रतिफल में, अधिकतम उपस्थिति के प्रतिफल में, दुर्घटनाओं से बचाने के प्रतिफल में, अनुसन्धान कार्य के प्रतिफल में की जाने वाली पदोन्नतियाँ। इस प्रकार से की गई पदोन्नतियों का दूसरे कर्मचारियों पर बहुत अच्छा प्रभाव पड़ता है। (५) **प्रशिक्षण की ओर आकर्षित करने के लिये**—पदोन्नति के लालच से कर्मचारी प्रशिक्षण प्राप्त करने में स्वत: अभिरुचि रखने लगते हैं। इससे उद्योग एवं कर्मचारी दोनों का ही भविष्य उज्ज्वल होता है। (६) **श्रम समस्याओं के समाधान के लिये**—पदोन्नति से कर्मचारी सन्तोष का अनुभव करता है। अतएव श्रम-समस्याओं के समाधान के लिये भी पदोन्नति की व्यवस्था की जाती है। प्राय: देखा गया है कि असन्तुष्ट कर्मचारी ही (जिनकी पदोन्नति को रोक लिया गया है) श्रम-नेता बनकर मालिकों के समक्ष तरह-तरह की कठिनाइयाँ उत्पन्न करने में व्यस्त रहते हैं।

पदोन्नति के प्रकार—

पदोन्नति दो प्रकार की होती हैं :—(१) **समतल पदोन्नति** (Horizontal Promotion)—यदि एक ही कार्य-वर्गीकरण के अन्तर्गत पदोन्नति की जाय, तो यह समतल पदोन्नति कहलायेगी, क्योंकि इसमें मौलिक वर्गीकरण ज्यों का त्यों ही रहता है (अर्थात् अपरिवर्तित रहता है)। उदाहरण के लिये, एक सहायक निरीक्षक को निरीक्षक बनाना, एक लोअर डिवीजन क्लर्क को अपर डिवीजन क्लर्क बनाना (२) **लम्बवत पदोन्नति** (Vertical Promotion)—जब पदोन्नति वर्गीकरण की सीमाओं के बाहर होती है (अर्थात् वर्गीकरण में मौलिक परिवर्तन होता है) तो वह लम्बवत् पदोन्नति कहलाती है, जैसे—अपर डिवीजन क्लर्क को सुपरिन्टेन्डेन्ट बना देना, कॉलेज के किसी विभागीय अध्यक्ष को प्रिन्सीपल बना देना। इस प्रकार की पदोन्नति में उत्तरदायित्व, प्रतिष्ठा, पद, वेतन-दर आदि सभी में वृद्धि होती है।

पदोन्नति के सिद्धान्त (Principles of Promotion)—

संस्था के कर्मचारियों की पदोन्नति करते समय पदोन्नति के निम्नलिखित सिद्धान्तों को विशेषरूप से ध्यान में रखा जाना चाहिये :—(१) कर्मचारियों की पदोन्नति के लिये **'वरिष्ठता'** (Seniority) तथा **'योग्यता'** (Competence) दोनों की ही ओर ध्यान दिया जाना चाहिये। किन्तु यदि ऐसे दो कर्मचारी हैं जो योग्यता की दृष्टि से समान स्तर पर आते हैं, तो वरिष्ठता की दृष्टि से पदोन्नति होनी चाहिये, अर्थात् इन दोनों में से जो भी वरिष्ठ (Senior) हो उसे ही पदोन्नति का अवसर मिलना चाहिये।[1] (२) प्रबन्धकों द्वारा पहले से ही इस बात की घोषणा कर दी जानी चाहिये कि समस्त पदोन्नतियाँ, जहाँ तक सम्भव होंगी, संस्था के वर्तमान कर्मचारियों में से ही की जायेंगी। इस घोषणा का ईमानदारी से पालन होना चाहिये। (३) प्रबन्धकों एवं कर्मचारियों के बीच पहले से ही इस सम्बन्ध में समझौता हो जाना चाहिये कि पदोन्नति के लिये वरिष्ठता एवं योग्यता दोनों को ही ध्यान में रखा जायगा। दो समान योग्यतायें रखने वाले व्यक्तियों के बीच वरिष्ठता के आधार पर निर्णय होगा। (४) पदोन्नति करते समय पक्षपातपूर्ण रवैये को त्याग देना चाहिये। (५) पदोन्नति की रेखा पहले से ही स्थापित हो जानी चाहिये।

---

[1] Seniority should be considered, but only when the qualifications of two candidates for a better job are, for practical purposes, substantially equal.
—**Paul Pigors and Charles Myers.**

इसके लिये कर्मचारियों के बीच पहले से ही ऐसे चार्टों (Charts) का पर्याप्त प्रचार हो जाना चाहिये कि प्रमुख उच्च पद की प्राप्ति के लिये उनमें कितनी क्षमता, अनुभव, शिक्षा आदि का होना आवश्यक है। (६) पदोन्नति के लिये सबसे पहले सिफारिश निकटवर्ती सुपरवाइजर द्वारा की जानी चाहिये तथा अन्तिम निर्णय उच्चवर्गीय प्रबन्ध द्वारा लिया जाना चाहिये। (७) किसी विशिष्ट पदोन्नति के विरुद्ध, पदोन्नति नीति की सीमाओं के अन्दर, किसी अन्य कर्मचारी अथवा श्रम सङ्घ को अपना दावा (Claim) प्रस्तुत करने का अधिकार होना चाहिये। (८) पदोन्नति की सुविधा के लिये पदों को क्रमबद्ध कर लेना चाहिये। इस सम्बन्ध में फ्रैंक गिलबर्थ ((Frank Gilberth) ने 'त्रिपदीय योजना' (Three Position Plan) का निर्माण किया है। ये पद निम्नलिखित हैं :—(अ) सबसे निम्नतम पद, जो कर्मचारी को संस्था में पहले प्राप्त था; (ब) वह पद जो कर्मचारी संस्था में अब ग्रहण किये हुये है; तथा (स) सर्वोच्च पद जो कर्मचारी भविष्य में प्राप्त कर सकेगा। इसका प्रदर्शन चार्ट द्वारा होना चाहिये। (९) शुरू में पदोन्नति अस्थायी काल (Temporary Period) के लिये ही होनी चाहिये। यदि उस अवधि में कर्मचारी का कार्य सन्तोषजनक रहता है तो उसे उक्त पद पर स्थायी कर देना चाहिये, अन्यथा उसे अपने पूर्व पद पर पुन: भेज देना चाहिये। (१०) पदोन्नति योजनाओं और प्रशिक्षण योजनाओं दोनों में समन्वय का होना परम आवश्यक होना चाहिये, अर्थात् पदोन्नति के लिये कुछ न कुछ प्रशिक्षण प्राप्त करना अनिवार्य कर देना चाहिये। (११) रिक्त स्थान की सूचना पहले से ही दे देनी चाहिये, ताकि हित रखने वाले कर्मचारी निर्धारित अवधि के अन्दर अपना प्रार्थना-पत्र दे सकें। (१२) पदोन्नति करते समय कर्मचारियों का पूर्व का विवरण सामने होना चाहिये, क्योंकि इससे तथ्यों की पूर्ण जानकारी होती है तथा निर्णय भी अधिक ठोस होता है।

(II) पद-अवनयन अथवा पद-अवनति
(Demotion)

पद-अवनयन से आशय—

किसी कर्मचारी के पद-अवनयन से आशय उसके वर्तमान पद से नीचे कर देने से है। **डेल योडर** के अनुसार, "पद-अवनयन से आशय एक ऐसा पद देने से है जिसमें उत्तरदायित्व कम हो जाते हैं........पदोन्नति, एक अर्थ में, पद में वृद्धि है और पद-अवनयन पद में गिरावट है।"[1] पद-अवनयन में कर्मचारी का वेतन, पद, प्रतिष्ठा एवं उत्तरदायित्व कम हो जाता है। इस प्रकार पद-अवनयन पदोन्नति का ठीक उल्टा है।

पद-अवनयन के कारण—

किसी कर्मचारी के पद-अवनयन के अनेक कारण हो सकते हैं। सामान्य कारण निम्नलिखित हैं :—(१) यदि किसी कर्मचारी की पदोन्नति अनुचित रूप में कर दी गई हो। (२) यदि कर्मचारी अपने वर्तमान पद पर अपने कार्य को सन्तोषजनक ढङ्ग से नहीं कर रहा हो। (३) यदि वे क्रियायें जिन पर कि कर्मचारी कार्य कर रहा है, मन्द पड़ गई हों अथवा समाप्त हो गई हों। (४) यदि किसी कर्मचारी ने कार्य के सम्बन्ध में कोई आवश्यक योग्यता खो दी हो, जैसे—मानसिक दृष्टि से अयोग्य हो जाना।

---

[1] "Demotion may be defined as a shift to a position in which responsibilities are decreased........Promotion is, in a sense, an increase in rank, and demotion is decrease in rank."—**Dale Yoder** : *Personnel Management & Industrial Relations.*

पद-अवनयन से सम्बन्धित नीति—

पदोन्नति करना जितना सरल होता है, पद-अवनयन करना उतना ही कठिन होता है। अतएव किसी भी कर्मचारी का पद-अवनयन करते समय उसके विभिन्न पहलुओं पर पूर्ण रूप में विचार कर लेना चाहिये। अतएव इस सम्बन्ध में जल्दबाजी से बिल्कुल भी काम नहीं लिया जाना चाहिये, क्योंकि इसके बड़े ही गम्भीर परिणाम निकलते हैं। पद-अवनयन के सम्बन्ध में प्रबन्धकों की नीति बहुत ही स्पष्ट होनी चाहिये। प्रत्येक कर्मचारी को इस नीति के सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी होनी चाहिये, ताकि बाद में कोई अप्रिय घटना घटने न पाये।

(III) स्थानान्तरण अथवा हस्तान्तरण
(Transfer)

स्थानान्तरण से आशय—

जब किसी कर्मचारी को एक कार्य से हटाकर दूसरे कार्य पर लगा दिया जाता है तो वह स्थानान्तरण कहलाता है। स्थानान्तरण में कर्मचारी के पद, वेतन, प्रतिष्ठा व उत्तरदायित्व में कोई अन्तर नहीं आता है, अर्थात् वह ज्यों का त्यों रहता है। **डेल योडर** के अनुसार—"स्थानान्तरण से अभिप्राय किसी कर्मचारी के उत्तरदायित्व में परिवर्तन अथवा क्षतिपूर्ति के विशेष सन्दर्भ के बिना ही, एक कार्य से दूसरे कार्य पर भेजना है।"[1]

स्थानान्तरण के कारण—

स्थानान्तरण के निम्न कारण हो सकते हैं :—(i) किसी विशिष्ट विभाग में कर्मचारियों की कमी हो जाना। (ii) व्यापार का विस्तार अथवा संकुचन हो जाना। (iii) किसी विशिष्ट विभाग में विशिष्ट योग्यता वाले कर्मचारी की कमी होना। (iv) प्रारम्भ में किसी कर्मचारी की नियुक्ति गलत विभाग में होना तथा बाद में उसे सुधारा जाना। (v) किसी कर्मचारी का अपने साथियों से झगड़ा हो जाना। (vi) कभी-कभी कर्मचारी का स्वास्थ्य खराब हो जाने के कारण भी स्थानान्तरण हो जाना। (vii) प्रशिक्षण प्रदान करने हेतु भी स्थानान्तरण हो जाता है। (viii) कर्मचारी की रुचि एवं क्षमताओं में परिवर्तन होने पर भी स्थानान्तरण हो जाता है। (ix) कर्मचारी की कुशलता में वृद्धि करने के लिये भी स्थानान्तरण हो जाता है। (x) कभी-कभी किसी कर्मचारी का उसकी स्वयं की माँग पर भी स्थानान्तरण हो जाता है। (xi) कभी-कभी संस्था की यह सामान्य नीति भी होती है कि व्यक्ति को एक स्थान पर किसी निश्चित अवधि से अधिक समय तक कार्य नहीं करने दिया जाना चाहिये, जैसे—सरकारी कर्मचारी सामान्यत: किसी एक स्थान पर मुश्किल से ३-५ वर्ष तक कार्य करने पाते हैं कि उनका स्थानान्तरण किसी अन्य स्थान पर हो जाता है।

स्थानान्तरण के सिद्धान्त—

स्थानान्तरण के सम्बन्ध में प्रबन्धकों की नीति पूर्णरूप से स्पष्ट होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में प्रबन्धकों को निम्नलिखित सिद्धान्तों का पालन करना चाहिये :—

(१) स्थानान्तरण सम्बन्धी नीति पूर्णत: स्पष्ट होनी चाहिये। इस नीति की पहले से ही घोषणा हो जानी चाहिये। (२) स्थानान्तरण सम्बन्धी नीति सभी विभागों पर सामान्य रूप से लागू होनी चाहिये। (३) कर्मचारियों को इस बात का पता होना चाहिये कि किन परि-

---

1 "A transfer involves the shifting of an employee from one job to another without special reference to change responsibility or compensation."
—Dale Yoder

स्थितियों में स्थानान्तरण होते हैं। (४) स्थानान्तरण की सिफारिश करने व उसे स्वीकार करने का उत्तरदायित्व किसका है, यह भी पहले से निश्चित होना चाहिये। (५) कार्यों (Jobs) जिनमें स्थानान्तरण किया जायगा, पहले से निश्चित होने चाहिये। (६) क्षेत्र अथवा इकाई जिनमें स्थानान्तरण किया जा सकता है, निश्चित एवं पारिभाषित होने चाहिये, जैसे अन्तर विभागीय स्थानान्तरण। (७) स्थानान्तरण की आधार सीमा (जैसे—वरिष्ठता अथवा कुशलता) भी पहले से निश्चित होनी चाहिये। (८) जिस व्यक्ति का स्थानान्तरण हुआ है, उसको किस दर से वेतन मिलेगा, यह भी पहले से ही निश्चित होना चाहिये।

स्थानान्तरण के प्रकार (Types of Transfer)—

(१) **उत्पादन स्थानान्तरण** (Production Transfers)—जब किसी कर्मचारी का स्थानान्तरण उत्पादन की आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुये एक कार्य से दूसरे कार्य पर होता है, तो वह उत्पादन स्थानान्तरण कहलाता है। यदि किसी कार्य पर कर्मचारियों की संख्या आवश्यकता से अधिक हो तथा दूसरे कार्य पर कर्मचारियों की कमी हो, तो जिस कार्य पर कर्मचारी अधिक होते हैं उनका स्थानान्तरण कमी वाले कार्यों पर कर देते हैं। इससे कर्मचारियों की नौकरी में स्थायित्व बना रहता है। इसके अभाव में, जहाँ कर्मचारियों की संख्या आवश्यकता से अधिक होती है वहाँ पर उनको छँटनी का सामना करना पड़ सकता है तथा कमी वाले क्षेत्रों में नये कर्मचारियों को काम पर रखकर अनावश्यक रूप में जोखिम उठानी पड़ती है।

(२) **प्रतिस्थापन स्थानान्तरण** (Replacement Transfers)—प्रतिस्थापन स्थानान्तरण भी उत्पादन स्थानान्तरणों की भाँति ही हैं। इस प्रकार के स्थानान्तरण की विशेषता यह है कि इसमें एक वरिष्ठ कर्मचारी का स्थानान्तरण उसी पद पर किसी दूसरे विभाग में, जहाँ पर उसके मुकाबले में कोई जूनियर कर्मचारी कार्य कर रहा था, किया जाता है। प्रतिस्थापन स्थानान्तरों का मुख्य ध्येय वरिष्ठ कर्मचारियों की सेवाओं को कायम रखना है।

(३) **बहुमुखी दक्षता स्थानान्तरण** (Versatility Transfers)—इस प्रकार के स्थानान्तरणों का मुख्य ध्येय प्रबन्धकों को बहुमुखी दक्षता प्राप्त कर्मचारियों की उपलब्धि करना है। अतएव यदि कोई कर्मचारी बहुमुखी दक्षता प्राप्त करने के लिये स्थानान्तरण की माँग करता है, तो प्रबन्धक सहर्ष उसे स्वीकार कर लेते हैं।

(४) **पाली स्थानान्तरण** (Shift Transfers)—जब किसी उद्योग में एक से अधिक पालियों में कार्य होता हो, तो कर्मचारी का एक पाली से दूसरी पाली में समान पद एवं कार्य पर स्थानान्तरण कर दिया जाता है। इसे 'पाली स्थानान्तरण' कहते हैं।

(५) **उपचार स्थानान्तरण**—इस प्रकार का स्थानान्तरण कई कारणों से हो सकता है, जैसे—प्रारम्भिक नियुक्ति का ही गलत ढङ्ग से होना, कर्मचारी का अपने सुपरवाइजर अथवा साथियों से झगड़ा हो जाना, अस्वस्थता के आधार पर स्थानान्तरण की माँग करना, एक ही स्थान एवं कार्य पर निरन्तर करते-करते ऊब-सा जाना आदि।

(IV) नौकरी की समाप्ति
(Termination of Services)

नौकरी की समाप्ति से आशय—

किसी कर्मचारी की नौकरी की समाप्ति से आशय उसे उसकी सेवाओं से मुक्त कर देने से है। जब किसी कर्मचारी को उसकी नौकरी से पृथक कर दिया जाता है, जिसके परिणामस्वरूप उसकी सेवायें समाप्त हो जाती हैं तो वह नौकरी की समाप्ति कहलाती है।

नौकरी की समाप्ति के कारण—

किसी कर्मचारी की नौकरी की समाप्ति के कई कारण हो सकते हैं। उनमें से प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं :—(१) कर्मचारी का कार्य असन्तोपजनक होने पर; (२) उत्पादन की कमी होने की दशा में कर्मचारियों की छँटनी होने पर; (३) कर्मचारी का व्यवहार आपत्तिजनक होने पर; (४) उस कार्य के समाप्त होने पर जिस पर कि कर्मचारी कार्य कर रहा है; तथा (५) कर्मचारी का नैतिक पतन होने पर आदि।

नौकरी की समाप्ति से सम्बन्धित नीति—

किसी कर्मचारी की नौकरी की समाप्ति होना, संस्था व कर्मचारी दोनों की दृष्टि से बहुत ही दुष्कर कार्य है। अतएव नौकरी की समाप्ति के सम्बन्ध में प्रबन्धकों की नीति बहुत ही स्पष्ट होनी चाहिये, क्योंकि तनिक सी असावधानी से काम लेने पर प्रबन्धकों को भारी कठिनाइयों (जैसे—मुकद्दमेबाजी, हड़ताल आदि) का सामना करना पड़ सकता है। किसी भी कर्मचारी को उसकी सेवाओं से मुक्त करने से पूर्व 'कारण बताओ नोटिस' (Show Cause Notice) अवश्य दिया जाना चाहिये, ताकि वह अपनी स्थिति स्पष्ट कर सके। नौकरी की समाप्ति के सम्बन्ध में बहुत ही निष्पक्षता से काम लिया जाना चाहिये। नौकरी से हटाये जाने वाले कर्मचारी के मन में यह भावना जाग्रत नहीं होने देना चाहिये कि ऐसा करते समय उसके साथ अन्याय किया गया। यदि कर्मचारियों की छँटनी की जा रही है तो जिनकी नियुक्तियाँ बाद में हुई हैं, उन्हें पहले हटाया जाय। इसके अतिरिक्त नौकरी से हटाने में मानवीय पहलू पर भी अच्छी तरह से विचार कर लेना चाहिये, जैसे—अविवाहित कर्मचारी को विवाहित कर्मचारी से पहले हटाना।

(V) अवकाश ग्रहण
(Retirement)

जब कोई कर्मचारी किसी व्यावसायिक इकाई में निरन्तर काम करते-करते एक निश्चित आयु पर पहुँच जाता है (जैसे सरकारी नौकरी में ५५ वर्ष की आयु होने पर), तो उसे बाद में नौकरी से मुक्त कर दिया जाता है, इसे **'अवकाश ग्रहण करना'** कहते हैं। अवकाश ग्रहण का उद्देश्य व्यक्ति को वृद्धावस्था में आराम देना है। किसी भी कर्मचारी के जीवन में अवकाश-ग्रहण करना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। अवकाश-ग्रहण के समय सेविवर्गीय प्रबन्धक (छोटे व्यवसाय की दशा में स्वयं मालिकों) को सम्बन्धित कर्मचारी से साक्षात्कार अवश्य करना चाहिये तथा हर सम्भव तरीके से उसकी सहायता करने का प्रयत्न करना चाहिये। यही नहीं, जाने वाले कर्मचारी को भी बतला देना चाहिये कि उसके अवकाश ग्रहण से व्यावहारिक इकाई को क्षति पहुँचेगी। प्रायः सभी व्यावहारिक इकाइयों में अवकाश प्राप्त करने वाले कर्मचारियों के लाभार्थ प्रॉवीडेण्ट फण्ड, पेंशन आदि की व्यवस्थायें रहती हैं। इन योजनाओं का उद्देश्य जाने वाले कर्मचारी के हाथों में इतना धन सौंप देना है कि वह अपना शेष जीवन आराम से व्यतीत कर सके। इससे कर्मचारियों का नैतिक बल ऊँचा उठता है तथा सम्बन्धित व्यावसायिक इकाई की ख्याति में वृद्धि होती है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. बड़े पैमाने की इकाइयों को अपने कर्मचारियों की पदोन्नति तथा अवकाश ग्रहण के सम्बन्ध में किन सिद्धान्तों को अपनाना चाहिये। (इन्दौर, १९७०)

२. 'पदोन्नति एवं स्थानान्तर' में में अन्तर बतलाइए। व्यापारिक संस्थान में पदोन्न ति के निर्णायक सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये। (विक्रम, १९६२, जीवाजी, १९६८)

३. कर्मचारियों की भर्ती व पदोन्नति के सम्बन्ध में किन सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिये तथा भारत में इसके सम्बन्ध में क्या दोष हैं ? (विक्रम, १९६६)

४. पदोन्नति की परिभाषा दीजिये। समतल पदोन्नति तथा लम्बवत: पदोन्नति दोनों में अन्तर बताइये तथा पदोन्नति के सिद्धान्तों की विवेचना कीजिये।

१९

सेविवर्गीय प्रबन्ध : श्रमिकों का चुनाव, प्रशिक्षण, औद्योगिक सम्बन्ध, प्रबन्ध में भाग

(Personnel Management : Selection of Workers, Training, Industrial Relations, Participation in Management)

प्रारम्भिक—

श्रम की गरिमा अपार है। यह उत्पत्ति का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सक्रिय साधन है। इसकी सन्तुष्टि में ही औद्योगिक प्रगति निर्भर करती है। वैसे तो श्रम का महत्त्व आदिकाल से ही रहा है; परन्तु सभ्यता के विकास के साथ-साथ इसका महत्त्व भी बढ़ता गया है। आधुनिक युग में तो इसका महत्त्व और भी बढ़ गया है। इसका मुख्य कारण मनुष्य की निरन्तर बढ़ती हुई आवश्यकताओं को सन्तुष्ट करने हेतु विषम तथा बड़े पैमाने का उत्पादन है। आज के उत्पादन में अधिक मात्रा में कुशल एवं अनुभवी श्रम की आवश्यकता है। गलाकाट प्रतियोगिता में केवल कुशल एवं अनुभवी श्रम ही सहारा दे सकता है। प्राकृतिक सम्पत्ति की प्रचुरता से सम्पन्न भारत जैसा विशाल देश भी पर्याप्त एवं कुशल श्रम के अभाव में मनोवांछित प्रगति नहीं कर सका है। इसी उद्देश्य को ध्यान में रखकर प्रस्तुत अध्याय में भारतीय श्रम-शक्ति के कुछ महत्त्वपूर्ण पहलुओं पर विचार किया गया है।

(I) श्रमिकों का चुनाव
(Selection of Workers)

श्रमिकों के चुनाव की आवश्यकता—

श्रम को किसी उद्योग में जुटाने के लिये सबसे पहला कदम श्रमिकों का चुनाव करना है। अतएव श्रमिकों का चुनाव करना एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्या है। इस समस्या को सुलझाने के लिये आवश्यक है कि श्रमिकों का चुनाव बहुत सोच-समझकर वैज्ञानिक ढङ्ग से किया जाय; इसमें किसी प्रकार की जल्दबाजी, पक्षपात, जात-पाँत, रंग-रूप तथा देश-धर्म के भेद-भाव के लिये कोई स्थान नहीं है। यदि कोई नियोक्ता इस प्रकार के पचड़ों में जाने या अनजाने में पड़ता है तो वह न केवल अपना द्रोही है वरन् उस उद्योग तथा सम्पूर्ण देश का द्रोही है। एक चतुर एवं सफल नियोक्ता का परम कर्त्तव्य है कि वह जिन श्रमिकों की भरती कर रहा है उनके प्राकृतिक स्वभाव, चाल-चलन, सामान्य बुद्धिमत्ता, विशेष अभिरुचि, उनके द्वारा 'किये गये कार्य उनका अनुभव तथा उनकी मानसिक प्रवृत्ति की ठीक से जाँच करे और उनको इन्हीं विशेषताओं के अनुसार उनके योग्य कार्य में जुटाये। यदि वह ऐसा नहीं करता है तो वह अपना, अपने उद्योग तथा राष्ट्रीय आय का तो नुकसान करता ही है साथ में अपने राष्ट्र के मानव-शक्ति के साधन को भी नष्ट करता है।

श्रम-शक्ति की पूर्ति के स्रोत (Sources of Labour Supply)—

श्रम-शक्ति की पूर्ति के प्रमुख स्रोत अग्रलिखित हैं।

(१) सङ्गठन में से ही कर्मचारी, जिनके लिये रिक्त-स्थान पदोन्नति (Promotion) **है**—निम्नतर स्तर को छोड़कर रिक्त स्थान संगठन में से ही पदोन्नति द्वारा भरा जा सकता है। यह रीति नैतिकता को उत्साहित करती है और वेतन सूची में वृद्धि को रोकती है, क्योंकि निम्न स्तर पर कार्य करने के लिये आवश्यक व्यक्तियों से अधिक रखे जाते हैं। इससे पदोन्नतियों की एक श्रृंखला चलती है। यदि एक निश्चित रिक्त-स्थान हो जाने पर उसे कम्पनी के भीतर से ही किसी व्यक्ति द्वारा भरा जाता है तो बदले में उसका स्थान रिक्त हो जाता है। इस प्रकार क्रमशः यह श्रृंखला बढ़ती जाती है। बहुधा एक रिक्त-स्थान द्वारा सम्भवतः ५-६ पदोन्नतियाँ की जाती हैं।

(२) पूर्व के कर्मचारी (Former Employees)—पूर्व के कर्मचारियों से अभिप्राय ऐसे कर्मचारियों से है जो कि या तो निकाल दिये गये थे अथवा स्वयं छोड़कर चले गये थे, किन्तु अब वापस आने के लिये उत्सुक हैं। यदि ऐसे कर्मचारियों के पिछले अभिलेख (Past Records) अच्छे हैं तो नये कर्मचारियों की अपेक्षा इन्हें काम पर लेना वांछनीय रहता है। इसका कारण यह है कि इनके प्रशिक्षण आदि पर कुछ भी व्यय करने की आवश्यकता नहीं पड़ती है। इसके अतिरिक्त ये जाने-पहिचाने होने के कारण इन पर नये कर्मचारियों की अपेक्षा अधिक भरोसा किया जा सकता है।

(३) वर्तमान कर्मचारियों के मित्र एवं रिश्तेदार—वर्तमान कर्मचारियों के मित्रों एवं रिश्तेदारों के द्वारा भी श्रम-शक्ति की पूर्ति की जा सकती है। कुछ कम्पनियाँ अपने यहाँ अपने कर्मचारियों के पुत्रों, मित्रों एवं रिश्तेदारों की नियुक्तियों को प्रोत्साहित करती हैं। इस सम्बन्ध में कर्मचारियों को इस प्रकार की सिफारिशें करते समय बहुत सावधानी से कार्य लेना चाहिये। उन्हें केवल ऐसे व्यक्तियों की ही सिफारिश करनी चाहिये जो कि योग्य हों तथा जिनका मनोबल ऊँचा हो। यदि कर्मचारियों का आदर्श ऊँचा है तो यह बिल्कुल सम्भव है कि वे व्यक्ति जिनको वे कम्पनी में रखे जाने की सिफारिश करते हैं, भी उच्च आदर्श वाले होंगे।

(४) कम्पनी के निजी कार्यालय पर प्रार्थी—कम्पनी के निजी कार्यालय पर प्रार्थियों से आवेदन-पत्र लेकर भी श्रम-शक्ति की पूर्ति की जा सकती है। इसके लिये कम्पनी का सेवि-वर्गीय विभाग प्रार्थियों से आवेदन-पत्र लेकर उन्हें निश्चित तिथि को साक्षात्कार के लिये अपने यहाँ बुला लेता है। किन्तु यह पद्धति उच्च-स्तर के रिक्त स्थानों की पूर्ति के लिये उपयुक्त नहीं कही जा सकती है।

(५) विद्यालय, महाविद्यालय तथा तकनीकी संस्थायें—विद्यालयों, महाविद्यालयों, तथा तकनीकी संस्थाओं से भी सम्पर्क स्थापित करके रिक्त स्थानों की पूर्ति की जा सकती है। अमरीका में एक कम्पनी के लिए यह सामान्य नीति है कि वह विभिन्न महाविद्यालयों तथा तकनीकी संस्थाओं में अपना एक योग्य अधिशासी (Executive) भेजे तथा वहाँ से होनहार नव-युवकों की आवश्यकतानुसार भरती करे।

(६) रोजगार कार्यालय—रोजगार कार्यालय भी श्रम-शक्ति की पूर्ति का एक महत्त्व-पूर्ण साधन है। जो लोग कार्य की तलाश में रहते हैं वे अपना नाम रोजगार कार्यालयों पर रजिस्टर करा लेते हैं। कम्पनी इन रोजगार कार्यालयों से सम्पर्क स्थापित करके अपने यहाँ के रिक्त स्थानों की पूर्ति कर सकती है।

(७) अन्य कम्पनियों से परस्पर सम्पर्क द्वारा—दो या दो से अधिक कम्पनियाँ, जो उसी प्रकार के श्रमिकों की नियुक्त करती हैं विशेष दशाओं में परस्पर सम्पर्क द्वारा एक दूसरे के यहाँ के कर्मचारियों को, जो कि पदोन्नति चाहते है, किन्तु उनके लिये कोई रास्ता नहीं है, अपने

यहाँ नियुक्त करके रिक्त स्थानों की पूर्ति कर सकती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि दोनों कम्पनियों के सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग आपस में सहयोग प्रदान करें।

(८) **विज्ञापन द्वारा**—विज्ञापन भी श्रम-शक्ति की पूर्ति का एक महत्त्वपूर्ण साधन है। किन्तु इसका उपयोग प्रायः विशिष्ट योग्यता वाले कर्मचारियों की भरती के लिये ही किया जाता है।

(९) **श्रम-संघों द्वारा**—उन दशाओं में जहाँ किसी वाणिज्य या व्यापार में श्रम-शक्ति पर सङ्घ का एकाधिकार होता है, कर्मचारियों की मुख्य पूर्ति संघ अभिकर्त्ता द्वारा अथवा सङ्घ नियुक्ति कार्यालय द्वारा की जा सकती है। कुछ नियोक्तागण श्रम-शक्ति के पूर्ति के इस स्रोत के प्रति इस आधार पर आपत्ति उठाते हैं कि श्रम-सङ्घों में प्रायः यह धारणा उत्पन्न हो जाती है कि जिस आवेदक को वे भेजें उसे अवश्य ही ले लिया जाना चाहिये। हमारी राय में उनकी यह धारणा मिथ्यापूर्ण है।

(१०) **व्यावसायिक एवं वाणिज्य समितियों द्वारा**—यह भी श्रम-शक्ति की पूर्ति का महत्त्वपूर्ण साधन है। अधिशासी, पर्यवेक्षकीय अथवा तकनीकी वर्गों के व्यक्तियों की पूर्ति के लिये यह बहुत ही उत्तम साधन है। व्यावसायिक एवं वाणिज्य समितियाँ ऐसे व्यक्तियों की एक क्रम-बार सूची अपने यहाँ रखती हैं। इनसे सम्पर्क स्थापित करके रिक्त स्थान की पूर्ति की जा सकती है।

कर्मचारियों के चुनाव की पद्धति (Selection of Procedure)—

किसी औद्योगिक या व्यावसायिक इकाई में कर्मचारियों का चुनाव कार्य वहाँ के सेविवर्गीय प्रबन्ध विभाग द्वारा सम्पन्न किया जाता है। चुनाव पद्धति के अन्तर्गत इन बातों का समावेश होता है :—(i) नियुक्ति प्रमापों को निश्चित करना; (ii) आवेदन-पत्रों का विश्लेषण करना; (iii) प्रारम्भिक साक्षात्कार करना; (iv) विभिन्न परीक्षण (Testing) करना; (v) शारीरिक परीक्षण करना; (vi) सन्दर्भों की जाँच करना; (vii) अन्तिम साक्षात्कार करना; (viii) आवश्यक अभिलेखों (Records) को भरना; (ix) सफल आवेदकों को उनकी नियुक्ति के बारे में सूचित करना; तथा (x) नियुक्त कर्मचारियों को उनके अधिकारियों और कार्य से परिचित कराना। जहाँ कार्य की मात्रा व्यय को न्यायोचित ठहराती है वहाँ उनमें से प्रत्येक कार्य उस कार्य के विशेषज्ञ द्वारा सम्पादित किया जाता है। इस प्रकार चुनाव पद्धति का उद्देश्य योग्य एवं होनहार नवयुवकों का चुनाव करना तथा उन्हें काम के लिये तैयार रखना है।

श्रमिकों एवं कर्मचारियों के चुनाव की पद्धति का क्रमानुसार वर्णन इस प्रकार है :—

(१) **प्रार्थियों का आगमन एवं उनका स्वागत**—श्रमिकों एवं कर्मचारियों की भरती की सबसे प्रथम सीढ़ी वह है जबकि इच्छुक व्यक्ति नौकरी की खोज में कम्पनी के रोजगार कार्यालय में उपस्थित होते हैं। श्रम-शक्ति की पूर्ति विभिन्न स्थानों से ही हो सकती है। इसका विस्तृत वर्णन '**श्रम-शक्ति की पूर्ति के स्रोत**' नामक शीर्षक के अन्तर्गत पहले ही किया जा चुका है।

(२) **आवेदन-पत्रों की जाँच करना**—प्रार्थी कम्पनी के रोजगार कार्यालय में या तो स्वयं आवेदन-पत्र के साथ उपस्थित हो जाता है अथवा डाक द्वारा आवेदन-पत्र भेज देता है। इसके साथ वह अपनी योग्यता एवं अनुभव सम्बन्धी प्रमाण-पत्र तथा सन्दर्भ भी संलग्न कर देता है। रोजगार कार्यालय में इनकी जाँच की जाती है तथा यह पता लगाया जाता है कि प्रार्थी हमारे योग्य है अथवा नहीं। इसके आधार पर ही प्रार्थियों को साक्षात्कार के लिये चुना जाता है।

(३) **रोजगार विभाग द्वारा साक्षात्कार**—चुने हुये प्रार्थियों को किसी निश्चित तिथि पर रोजगार कार्यालय में साक्षात्कार हेतु बुलाया जाता है। साक्षात्कार करने की कोई तैयार रीति नहीं है। इस सम्बन्ध में प्रत्येक प्रार्थी से विभिन्न रीति से व्यवहार किया जाना चाहिये और ऐसे तरीके से व्यवहार करना चाहिये, जो उसके व्यक्तिगत मामले में सबसे अधिक उपयुक्त हो। साक्षात्कार का उद्देश्य इस बात का पता लगाना है कि क्या प्रार्थी कार्य के लिये और कार्य प्रार्थी के लिये उपयुक्त है। अतएव साक्षात्कार में प्रार्थी को परेशान करने का कदापि प्रयत्न न किया जाना चाहिये। एक सफल साक्षात्कार वह है, जो प्रार्थी को स्वाभाविक अवस्था में रखकर उसे अपने अनुभव और इच्छाओं के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता से बात करने दे। बातचीत की प्रकृति साक्षात्कार किये जाने वाले व्यक्ति के अनुकूल होनी चाहिये और इस प्रकार निर्देशित होनी चाहिए कि बिना किसी संकोच के वांछित सूचना प्राप्त की जा सके। साक्षात्कारकर्त्ता तथा प्रार्थी के मध्य सम्मेलन का उद्देश्य आपस में सूचनाओं का आदान-प्रदान है। साक्षात्कारकर्त्ता को प्रार्थी की रुचियों एवं योग्यताओं के सम्बन्ध में सूचना प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिये तथा कम्पनी और कार्य सम्बन्धी सूचना उसे (प्रार्थी को) देनी चाहिये। अन्त में, ऐसा प्रयास किया जाना चाहिये कि जब प्रार्थी चलने लगे तो वह यह भावना साथ लेकर जाये कि उसके साथ सद्भावना से व्यवहार किया गया है, चाहे उसका चुनाव हो अथवा नहीं।

(४) **चुनाव में परीक्षणों का प्रयोग** (The Use of Tests Seleotion)—साक्षात्कार के पश्चात् प्रार्थी को चुनाव सम्बन्धी विभिन्न परीक्षणों का सामना करना पड़ता है। इस आशय के लिये औद्योगिक मनोवैज्ञानिकों ने कई प्रकार के परीक्षण ढूँढ़ निकाले हैं। प्रमुख परीक्षण निम्नलिखित हैं :—(i) **बुद्धि परीक्षण** (Intelligence Test)—इसके द्वारा प्रार्थी की बुद्धि का माप किया जाता है। (ii) **योग्यता परीक्षण** (Aptitude Test)—इसके द्वारा प्रार्थी की छिपी हुई योग्यताओं का पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है। (iii) **रुचि परीक्षण** (Interest Test)—इसके द्वारा सम्बन्धित व्यवसाय एवं कार्य के सम्बन्ध में प्रार्थी की रुचि का पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है। (iv) **व्यक्तित्व परीक्षण** (Personality Test)—इसके द्वारा प्रार्थी के सामाजिक तथा पारिवारिक जीवन के सम्बन्ध में आवश्यक जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। (v) **निष्पादन परीक्षण** (Achievement Test)—निष्पादन परीक्षण कार्यालय सम्बन्धी पदों (जैसे टङ्कण-कला) के लिये विशेष रूप से महत्त्वपूर्ण है। (vi) **व्यापारिक परीक्षण** (Trade Test)—इसके द्वारा यह पता लगाने का प्रयत्न किया जाता है कि प्रार्थी सम्बन्धित कार्य के योग्य है अथवा नहीं।

(५) **विभाग-प्रधान अथवा पर्यवेक्षक की अन्तिम स्वीकृति**—यदि प्रार्थी साक्षात्कार तथा चुनाव सम्बन्धी किये गये विभिन्न परीक्षणों में सफलता प्राप्त कर लेता है तो उसे अन्तिम स्वीकृति के लिये सम्बन्धित विभाग प्रधान अथवा पर्यवेक्षक के पास भेज दिया जाता है। यह प्रार्थी की भौतिक एवं मानसिक क्षमताओं की सम्बन्धित कार्य के सन्दर्भ में जाँच करता है तथा इस बात का अन्तिम निर्णय करता है कि प्रार्थी को नियुक्त किया जाना चाहिये अथवा नहीं।

(६) **शारीरिक परीक्षण**—यदि विभाग प्रधान अथवा पर्यवेक्षक प्रार्थी की इस बात से अपनी सहमति प्रगट करता है कि प्रार्थी को नियुक्त किया जाना चाहिये, तब उसकी डाक्टरी परीक्षा कराई जाती है। डाक्टरी परीक्षण द्वारा इस बात का पता लगाया जाता है कि प्रार्थी शारीरिक दृष्टि से कार्य के लिये उपयुक्त है अथवा नहीं।

(७) **नियुक्ति-पत्र का निर्गमन**—यदि प्रार्थी शारीरिक परीक्षण में भी सफलता प्राप्त कर लेता है तो कम्पनी द्वारा उसे नियुक्ति-पत्र निर्गमित कर दिया जाता है। नियुक्ति-पत्र में

नियुक्ति की शर्तें, ग्रेड तथा कार्यालय में कार्य पर पहुँचने की अन्तिम तिथि—ग्रादि बातों का स्पष्टतः उल्लेख होना चाहिये।

(८) कार्य का ग्रावण्टन—चुनाव के पश्चात् जब प्रार्थी अपना स्थान ग्रहण करने के लिये कार्यालय में पहुँचता है तो उसे उसकी योग्यता के अनुसार कार्य सौंप दिया जाता है। कार्य सौंपने से पहले उसे विभाग और अपने नये कार्य से परिचित कराया जाता है।

(II) कर्मचारियों का प्रशिक्षण
(Training of Workers)

प्रशिक्षण का महत्त्व (Importance of Training)—

प्रशिक्षण स्वस्थ प्रबन्ध की ग्राधारशिला है। यदि आप चाहते हैं कि आपके कर्मचारी अपने कार्य को ठीक प्रकार से करें तो उनके लिये विधिवत प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी। आप अपने कर्मचारियों का कितनी भी सावधानीपूर्वक चुनाव क्यों न करें अथवा उनमें कार्य करने की क्षमता कितनी भी अधिक क्यों न हो, यदि आप चाहते हैं कि उनका कार्य करने का स्तर सन्तोषजनक हो तो उनके लिये विधिवत प्रशिक्षण की व्यवस्था करनी होगी। प्रशिक्षण की व्यवस्था नये व पुराने दोनों ही प्रकार के कर्मचारियों के लिये आवश्यक है। एक नये कर्मचारी को कार्य के सम्बन्ध में शुरू से ही प्रशिक्षण दिया जाना चाहिये। इसके विपरीत पुराने कर्मचारियों को कार्य करने के आधुनिक तरीकों (जैसे-जैसे उनका विकास होता जाय) के सम्बन्ध में प्रशिक्षण देने की व्यवस्था होनी चाहिये। एक नियोजित प्रशिक्षण कार्यक्रम के माध्यम से प्रबन्धक अपने कर्मचारियों को कम्पनी की नीतियों, नियमों एवं प्रतिबन्धों के सम्बन्ध में स्पष्टतः जानकारी प्रदान करने में समर्थ हो जाता है। वास्तव में, एक नियोजित प्रशिक्षण व्यवस्था किसी भी औद्योगिक इकाई की मूल्यवान सम्पत्ति है, क्योंकि इससे निम्नलिखित लाभ हैं :—(i) पूर्ण प्रवीणता का अधिक गति से विकास; (ii) उत्पादित माल की किस्म एवं मात्रा में सुधार; (iii) सामग्री का कम अपव्यय; (iv) मशीनों का श्रेष्ठ उपयोग; (v) निरीक्षण की मात्रा एवं व्यय में कमी; (vi) मशीनों और औजारों की कम हानि; (vii) कर्मचारियों के परिवर्तन (Turnover) में कमी; (viii) कर्मचारियों की कार्यक्षमता में वृद्धि; (ix) घटती हुई इकाई लागतें एवं कम्पनी के लाभों में वृद्धि; तथा (x) कर्मचारियों के मनोबल में सुधार ग्रादि।

प्रशिक्षण के ढङ्ग (Methods of Training)—

प्रशिक्षण के प्रमुख प्रचलित ढङ्ग निम्नलिखित हैं :—

(१) कार्य पर प्रशिक्षण (On the Job Training)—कर्मचारियों को कार्य पर प्रशिक्षण का उद्देश्य उन्हें कार्य की वास्तविक परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं से कम से कम समय में परिचित कराना है। जब कर्मचारी कार्य पर प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं तो वे स्वयं समस्त क्रियाओं को देखते हैं और उन्हें क्रिया द्वारा सीखते हैं। इससे प्रशिक्षण के समय में पर्याप्त कमी हो जाती है।

(२) प्रशिक्षण केन्द्रों पर प्रशिक्षण (Training Centre Training)—इसके अन्तर्गत सबसे पहले विशिष्ट प्रशिक्षण केन्द्रों की स्थापना की जाती है अलग-अलग प्रशिक्षण केन्द्र अलग-अलग व्यवसायों के लिये प्रशिक्षण प्रदान करते हैं। यही कारण है कि इन्हें तकनीकी प्रशिक्षण केन्द्र भी कहते हैं। नये अथवा पुराने कर्मचारी विशिष्ट व्यवसाय अथवा कार्य के सम्बन्ध में यहाँ पर प्रशिक्षण प्राप्त करते हैं। इस प्रकार के प्रशिक्षण केन्द्र सरकार द्वारा तथा निजी उद्योगों द्वारा अपने यहाँ के कर्मचारियों के प्रशिक्षण हेतु चलाये जाते हैं। सामान्यतः यहाँ पर

सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों ही प्रकार का प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। किन्तु सैद्धान्तिक प्रशिक्षण की तुलना में व्यावहारिक प्रशिक्षण पर अधिक बल दिया जाता है।

(३) **अनुभवी कारीगरों द्वारा प्रशिक्षण** (Training by Experienced Workmen)—अनुभवी कारीगरों द्वारा भी प्रशिक्षण प्रदान किया जाता है। इस प्रकार का प्रशिक्षण उस स्थिति में विशेष उपयुक्त है, जिसमें अनुभवी कारीगरों को सहायकों की आवश्यकता रहती है। प्रशिक्षण देने की यह पद्धति उन विभागों के लिये भी उपयुक्त है जिनमें कारीगर उत्तरोत्तर कृत्यों (Successive jobs) द्वारा क्रियाओं की एक शृंखला निष्पादित करने के लिये आगे बढ़ता है।

(४) **निरीक्षकों द्वारा प्रशिक्षण** (Training by Supervisors)—निरीक्षकोंके द्वारा प्रशिक्षण का आयोजन करने से प्रशिक्षणार्थियों को अपने अधिकारियों (Bosses) से परिचित होने का सुअवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त निरीक्षकों को भी कार्य-सम्पादन के दृष्टिकोण से प्रशिक्षणार्थियों की योग्यताओं एवं सम्भावनाओं को परखने का सुअवसर मिल जाता है।

(५) **नव-सिखिया प्रशिक्षण कार्यक्रम** (Apprentice Training Programme)—नव-सिखिया प्रशिक्षण कार्यक्रम का उद्देश्य सर्व-कुशल कारीगरों का विकास करना है। प्रत्येक नव-सिखिये को एक पूर्व निश्चित योजना के अनुसार कार्य सौंप दिया जाता है। नियोजित कार्यक्रम कुशल प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रशिक्षण प्राप्त करने में लगभग ५ या ६ वर्ष का समय लग जाता है।

(III) औद्योगिक सम्बन्ध तथा औद्योगिक शान्ति के ढङ्ग
(Industrial Relations and Methods of Industrial Peace)

इङ्गलैण्ड में हुई औद्योगिक क्रान्ति के पश्चात् जब से मार्क्सवादी विचारधारा का जोर हुआ है, तब से औद्योगिक समाज में दो वर्ग उत्पन्न हो गये हैं—(१) पूँजीपतियों का वर्ग, तथा (२) श्रमिकों का वर्ग। इन दोनों के बीच आपसी संघर्ष के दुष्परिणाम निकलते हैं, जो न केवल पूँजीपति वर्ग अथवा श्रमिक वर्ग के लिये हानिकारक होते हैं, वरन् इनसे सम्पूर्ण उद्योग, सम्पूर्ण राष्ट्र तथा सम्पूर्ण समाज प्रभावित हो उठता है। ऐसी परिस्थिति में यह परम आवश्यक प्रतीत होता है कि नियोक्ता वर्ग तथा श्रमिक वर्ग दोनों के बीच अच्छे मधुर सम्बन्ध स्थापित किये जायें। इससे औद्योगिक शान्ति कायम होगी।

औद्योगिक शान्ति का महत्त्व—

औद्योगिक उत्पादन बढ़ाने, श्रमिकों की आर्थिक स्थिति को सुधारने और राष्ट्र को आर्थिक दृष्टि से समृद्धशाली बनाने हेतु औद्योगिक शान्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। यदि हड़तालें होती हैं, मिलों, कारखानों में तालाबन्दी की जाती है, और इस प्रकार औद्योगिक शान्ति भङ्ग हो जाती है तो उत्पादन घटने लगता है, उत्पादन व्यय में निरन्तर वृद्धि होने लगती है तथा आय कम हो जाने से बेचारे श्रमिकों को भीषण आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। इतना ही नहीं, बाजार में प्रति-दिन काम आने वाली वस्तुओं की कमी हो जाने से चोर-बाजारी का बोलबाला हो जाता है, जिसके फलस्वरूप उपभोक्ताओं को भी अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। संक्षेप में, औद्योगिक शान्ति के भङ्ग हो जाने के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण राष्ट्र की शान्ति भङ्ग हो जाती है और इससे किसी को भी लाभ नहीं पहुँचता। आज जबकि हमारा राष्ट्र तेजी से औद्योगीकरण की तरफ चला जा रहा है, औद्योगिक शान्ति की सबसे अधिक आवश्यकता है। यह पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता की कुँजी है।

औद्योगिक संघर्षों के कारण—

औद्योगिक झगड़े पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की देन हैं। इन संघर्षों के अनेक कारण हैं, जिनमें से कुछ आर्थिक हैं, कुछ मनोवैज्ञानिक हैं, कुछ राजनीतिक व सामाजिक हैं तथा कुछ प्रबन्ध सम्बन्धी हैं। संक्षेप में औद्योगिक संघर्ष के निम्न कारण हैं—(१) निम्न मजदूरी दर। (२) काम करने की दोषपूर्ण दशायें। (३) श्रमिकों की मनमाने ढङ्ग से छँटनी। (४) बोनस तथा महँगाई आदि की माँग। (५) **श्रम-संघ**—इतिहास इस बात का साक्षी है कि भारत में श्रम-संघों की स्थापना के बाद से ही औद्योगिक सङ्घर्ष प्रारम्भ हुए हैं। इनसे पहले संघर्ष नाममात्र के ही थे। उद्योगपति तथा श्रम संघ दोनों ही शुरू से अपने को एक दूसरे का दुश्मन मानकर चलते हैं। उद्योगपति जान-बूझकर श्रम-संघों को मान्यता प्रदान नहीं करते। (६) श्रमिकों की भरती की दोषपूर्ण पद्धति। (७) श्रमिकों तथा नियोक्ताओं में प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध न होने के कारण भी झगड़े शुरू हो जाते हैं। (८) स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये राजनैतिक नेताओं ने श्रमिकों के आन्दोलन को अपना महत्त्वपूर्ण हथियार बनाया। (९) उद्योगों में प्रचलित की जाने वाली विवेकीकरण से सम्बन्धित योजनाओं के कारण भी मिल-मालिकों तथा श्रमिकों में परस्पर संघर्ष प्रारम्भ हुआ है। (१०) **अन्य कारण**—मिल-मालिकों का दुर्व्यवहार, साम्यवादी विचारधारा, श्रमिकों की निर्धनता, अज्ञानता तथा अवकाश व छुट्टियों की कमी के कारण भी संघर्ष होते रहते हैं।

भारत में औद्योगिक संघर्ष का उद्‌गम और विकास—

प्रथम विश्व युद्ध से पूर्व औद्योगिक संघर्ष नाममात्र के थे, क्योंकि श्रमिक संगठित नहीं थे। किन्तु प्रथम युद्ध-काल में श्रमिकों में तेजी से चेतना आई। मूल्यों में वृद्धि होने के फलस्वरूप जीवन-स्तर-व्यय में भी वृद्धि हुई, किन्तु इसके विपरीत मजदूरी में समान अनुपात में वृद्धि न हुई। रूस में ऐतिहासिक क्रान्ति तथा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ की स्थापना से भी भारतीय श्रमिकों को प्रेरणा मिली। इन सब बातों के कारण भारतीय श्रमिकों ने १९१९ में हड़तालें करना प्रारम्भ कर दिया। युद्ध समाप्त हो जाने से यह संघर्ष जोर पकड़ गया। १९२१ में लगभग ४०० हड़तालें हुईं। इसके बाद हड़तालों की संख्या में कुछ कमी हो गई। सन् १९२२, १९२३ और १९२४ में क्रमशः २९८, १७६ तथा १३२ हड़तालें हुईं। सन् १९३६ के बीच के समय में हड़तालों की वार्षिक संख्या १५० थी।

इसके बाद सितम्बर १९३९ से द्वितीय विश्व युद्ध प्रारम्भ हो गया, जिसके कारण वस्तुओं के मूल्यों में भारी वृद्धि हुई। अतः श्रमिकों में असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई और इस प्रकार औद्योगिक संघर्षों में तेजी से वृद्धि हो गई।

१५ अगस्त १९४७ को भारत स्वतन्त्र हो गया। राष्ट्रीय सरकार की स्थापना से श्रम समस्या की ओर विशेष अभिरुचि दिखाई गई। परिणामस्वरूप संघर्ष में कमी होना प्रारम्भ हो गया। यह संख्या सन् १९४९, १९५०, १९५१, १९५२, १९५३, १९५४, १९५५ तथा १९५६ में क्रमशः ९२०, ८१४, १,०७१, ९६३, ७७२, ८४०, १,१६६ और १,२०३ तक पहुँच गई। सन् १९४८ में बन्दरगाह कर्मचारियों की हड़ताल एवं जमशेदपुर के कर्मचारियों की हड़ताल प्रमुख थी।

औद्योगिक संघर्षों का प्रतिशत वितरण, १९६१-७० (परिणामानुसार)

परिणाम	१९६१	१९६२	१९६३	१९६४	१९६५	१९६६	१९६७	१९६८	१९६९	१९७०
सफल	२८·८	३०·२	२३·४	२७·७	३०·७	३१·६	३३·३	३०·०	३५·२	३४·४
आंशिक सफल	१९·५	१८·३	१७·९	१४·८	१३·५	१६·५	१५·८	१८·४	१७·१	१७·०

असफल	२६·५	३०·७	४१·०	३७·२	३५·६	३१·४	३४·७	३६·३	३१·२	३३·४
अनिश्चित	२२·२	२०·८	१७·७	२०·३	१६·६	२०·५	१६·२	१५·३	१६·५	१५·२
कुल विवाद संख्या[1]	११३६	१३६५	१३६८	२०३६	१७६०	२३५६	२५६६	२५३८	२४१५	२६१४

वर्तमान स्थिति—

अग्रलिखित तालिका से भारत में औद्योगिक संघर्ष की वर्तमान स्थिति स्पष्ट हो जाती है :—

औद्योगिक सङ्घर्ष

वर्ष	संघर्षों की संख्या	भाग लेने वाले कर्मचारियों की संख्या (हजारों में)	कर्मचारियों द्वारा खोये हुये दिनों की संख्या (हजारों में)
१९५६	१,२०३	७१५	६,९९२
१९५७	१,६३०	८८९	६,४२९
१९५८	१,५२४	९२९	७,७९८
१९५९	१,२३६	५३०	४,६८५
१९६०	१,५५६	९८३	६,५१५
१९६७	२,८१५	१,४९०	१७,१४७
१९६८	२,७७६	१,६६९	१७,२४३
१९६९	२,६२७	१,८२६	१९,०४८
१९७०	२,३२८	N. A.	१७,१७४
१९७१-७२	३,३७३	N. A.	N. A.

(जनवरी, १९७१ से ३० जून, १९७२ तक)

भारत में औद्योगिक हड़तालें—

श्रम और पुनर्वास मन्त्री द्वारा गत १७ अगस्त को लोकसभा की मेज पर रखे गये विवरण के अनुसार देश भर में जनवरी, १९७१ से जून, १९७२ तक की अवधि में कुल ३,३७३ हड़तालें हुईं। सर्वाधिक हड़तालें ९८२ महाराष्ट्र में हुईं। महाराष्ट्र के पश्चात् पश्चिम बङ्गाल (३३६ हड़तालें), केरल (३०२ हड़तालें), तमिलनाडु (२९९ हड़तालें), बिहार (२७२ हड़तालें), उत्तर प्रदेश (२२० हड़तालें) और मध्यप्रदेश (२०७ हड़तालें) का नम्बर आता है, इस प्रकार ७५ प्रतिशत से भी अधिक हड़तालें इन छह राज्यों में हुईं।

औद्योगिक संघर्षों को निबटाने की व्यवस्था—

(१) **ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट, १९२९** (Trade Disputes Act of 1929)—इस एक्ट में अवैधानिक हड़तालों अथवा तालाबन्दी की स्पष्ट शब्दों में व्याख्या की गई है। सहानुभूति प्रकट करने के लिये की जाने वाली हड़तालों को भी अवैध घोषित किया गया है। इस एक्ट के

---

1 उन विवादों से सम्बन्धित जिनके बारे में सूचनाएँ उपलब्ध थीं। स्रोत : Indian Labour Statistics, 1972, p. 188.

अनुसार सरकार की ओर से श्रमिकों के हितों की रक्षा के लिये श्रम-अधिकारियों (Labour Officers) की नियुक्ति की भी व्यवस्था की गई है। किन्तु इस अधिनियम में अनेक दोष होने के कारण १९३८ में इस एक्ट में सरकार ने आवश्यक संशोधन किये।

(२) **औद्योगिक संघर्ष अधिनियम,** १९४७ (The Industrial Disputes Act of 1947)—द्वितीय विश्व-युद्ध के पश्चात् बढ़ते हुये संघर्षों को रोकने तथा उनके निबटारे के लिये सन् १९४७ में औद्योगिक संघर्ष अधिनियम पास किया गया, जो कि १ अप्रैल, १९४७ से जम्मू और कश्मीर को छोड़कर सम्पूर्ण भारत में लागू किया गया। इस एक्ट की मुख्य-मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

(अ) **वर्क्स समितियों** (Works Committees) की स्थापना उन औद्योगिक इकाइयों में की गई है जिनमें १०० या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हैं। १ जुलाई, १९६६ को ९४८ वर्क्स समितियाँ कार्य कर रही थीं।

(ब) **समझौता व्यवस्था अधिकारी** (Conciliation Officers) **तथा समझौता व्यवस्था समिति** (Board of Conciliation) **की स्थापना**—यह अधिनियम केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को यह अधिकार प्रदान करता है कि वे अपने-अपने क्षेत्र में समझौता व्यवस्था अधिकारी तथा समझौता व्यवस्था समिति की नियुक्ति तथा स्थापना कर सकती हैं। इन अधिकारियों तथा समितियों की मुख्य कार्य उद्योगों में होने वाले संघर्षों को निपटाने के लिये मालिकों तथा श्रमिकों के बीच मध्यस्थ का कार्य करना और दोनों पक्षों के बीच समझौता कराने का प्रयत्न कराना होगा।

(स) **इस एक्ट में औद्योगिक ट्रिब्यूनल्स** (Industrial Tribunals) की स्थापना का व्यवस्था भी की गई है।

(द) सार्वजनिक उपयोगिता सेवाओं में हड़ताल या तालाबन्दी करना अवैध माना जायेगा।

(इ) **पंचायत की व्यवस्था** (Provision for Arbitration)—किन्तु उपरोक्त एक्ट के विरुद्ध भी यह आरोप लगाया जाता है कि इसमें अनिवार्य रूप से समझौता और विवाचन की व्यवस्था की गई है। इसके अतिरिक्त केन्द्रीय और राज्य सरकारों द्वारा विभिन्न समितियों की स्थापना के फलस्वरूप दोनों ने एक ही विषय पर विभिन्न मत प्रकट किये। अतः श्रमिकों तथा मालिकों दोनों में असन्तोष की भावना उत्पन्न हुई।

(३) **औद्योगिक संघर्ष अपीलेट ट्रिब्यूनल एक्ट,** १९५०—यह अधिनियम २० मई, १९५० को पास किया गया। इसका मुख्य उद्देश्य लेबर अपीलेट ट्रिब्यूनल (Labour Appellate Tribunal) की स्थापना करना था। इस लेबर अपीलेट ट्रिब्यूनल का उद्देश्य विभिन्न प्रकार के औद्योगिक न्यायालयों द्वारा दिये गये निर्णयों की अपीलें सुनना है। किन्तु सन् १९५६ में इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूट्स (Amendment & Miscellaneous Provision) पास हो जाने से उपरोक्त औद्योगिक संघर्ष अपीलेट ट्रिब्यूनल एक्ट, १९५० को समाप्त कर दिया गया।

(४) **इण्डस्ट्रियल डिस्प्यूटस** (संशोधित एवं विविध प्रोवीजन्स) **एक्ट,** १९५६—इस अधिनियम ने औद्योगिक संघर्ष अधिनियम में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन कर दिये। इसमें श्रमिक की एक नवीन परिभाषा दी गई है, जिसके अनुसार ५०० रुपया या इससे कम प्रतिमास मजदूरी पाने वाले श्रमिक भी इसमें शामिल कर दिये गये हैं, बशर्ते उनका कार्य प्रशासनिक (Managerial

or Administrative) न हो। उत्तर प्रदेश की सरकार ने भी एक इसी प्रकार का अधिनियम पास किया।

(IV) प्रबन्ध में श्रमिकों का भाग
(Workers' Participation in Management)

प्रबन्ध में श्रमिकों के भाग का अर्थ—

श्रमिकों के भाग लेने से तात्पर्य है कि वे नीति-निर्धारण और लाभ दोनों में भाग लें। अर्थात् कर्मचारी मजदूरी के अतिरिक्त, लाभ तथा उद्योग से सम्बन्धित नीतियों के निर्धारण करने तथा उन्हें कार्यान्वित करने में सक्रिय सहयोग प्रदान करते हैं। इसमें श्रमिकों एवं मिल-मालिकों के पारस्परिक सहयोग की आवश्यकता होती है। ऐसे सहयोगका आधार आपस में विचार-विमर्श होता है। इसका यह अर्थ नहीं कि उद्योगों के प्रबन्ध में समस्त श्रमिकों को बुलाकर उनसे सलाह ली जाय, बल्कि उनके प्रतिनिधियों को संचालन बोर्ड अथवा प्रबन्ध समितियों में लिया जाय, ताकि वे अपनी अमूल्य सलाह दे सकें। इससे श्रमिकों और मालिकों में स्वस्थ वातावरण उत्पन्न होगा।

इस विचारधारा का प्रादुर्भाव एवं विकास—

राजनैतिक स्तर से औद्योगिक स्तर एवं जनतन्त्रवाद के विस्तार करने की चाह के कारण इस विचारधारा का प्रादुर्भाव हुआ। श्रमिक संघों ने मिल-मालिकों के द्वारा किये जाने वाले भयंकर शोषण के प्रति अपनी आवाज उठाई, जिससे श्रमिकों में एकता का संचार हुआ। कारखानों के प्रबन्ध संचालन में श्रमिकों तथा पूँजीपतियों का सहयोग प्राप्त करने का सर्वप्रथम प्रयत्न प्रथम विश्व युद्ध के समय ह्विटले कमेटी ने किया। उसने मिल-मालिकों तथा श्रमिकों के आपसी सम्बन्ध अच्छे करने तथा मामलों पर नियमित रूप से विचार-विमर्श करने के लिये संयुक्त औद्योगिक परिषदों की स्थापना करने की सिफारिश की, जिसमें कि दोनों के बराबर-बराबर प्रतिनिधि हों। प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् औद्योगिक संस्थाओं में कार्य परिषद् (Work Councils) स्थापित करने के लिये कई देशों में कानून भी पास किये गये।

भारत में योजना का महत्त्व और लाभ—

भारतीय श्रमिक अत्यन्त गरीब हैं। चूँकि श्रम नाशवान है, अत: उसकी सौदा (Bargaining) करने की क्षमता पश्चिमी राष्ट्रों के श्रमिक की अपेक्षा न्यूनतम् है। वह अज्ञानी, अशिक्षित होने के अतिरिक्त रूढ़िवादी प्रथा का पुजारी है। उसको अकुशल तक कहा जाता है। ऐसी स्थिति में श्रमिकों के व्यवस्था में भाग लेने का प्रश्न और भी महत्त्वपूर्ण है। इससे भारतीय श्रमिकों को अनेक लाभ होंगे। श्रमिकों के प्रबन्ध में भाग लेने से उनका मान बढ़ता है। समाज में उनको उचित स्थान मिलता है। उनका मालिक से सीधा सम्पर्क हो जाता है, जिसके फलस्वरूप दोनों एक दूसरे की कठिनाइयों से परिचित हो जाते हैं। श्रमिकों तथा मालिकों के सम्बन्ध अच्छे बने रहते हैं, हड़ताल अथवा तालाबन्दी का डर नहीं रहता। श्रमिक मन लगाकर अपनी पूरी शक्ति से कार्य करते हैं, जिससे उनकी कार्यक्षमता बढ़ती है और ऐसा होने से उत्पादन अधिक होता है तथा दूसरी ओर उत्पादन व्यय में भी आश्चर्यजनक कमी हो जाती है। बढ़ी हुई कार्यक्षमता से श्रमिकों की आय में वृद्धि होती है। इससे उनका जीवन-स्तर ऊँचा उठ जाता है। परिणामस्वरूप देश में औद्योगिक शान्ति स्थापित होती है तथा आपस में सहयोग और प्रेम की भावना उत्पन्न होती है, जिससे उद्योग, मालिकों अथवा श्रमिकों का ही नहीं राष्ट्र को भी लाभ होता है। वास्तव में समाज में समाजवादी समाज की स्थापना की दिशा में यह एक महत्त्वपूर्ण कदम है।

द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अनुसार इससे (अ) उद्योग, श्रमिकों तथा समाज के हित

में उत्पादन में वृद्धि होगी, (ब) श्रमिक उद्योग के संचालन में अपना सही महत्त्व समझेंगे, (स) श्रमिकों को अपने मन के भाव प्रकट करने की चाह सन्तुष्ट हो जायगी, जिससे कि औद्योगिक शान्ति स्थापित होगी, श्रमिकों तथा मालिकों के आपसी सम्बन्धों में सुधार होगा और परिणामस्वरूप श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि होगी। पारस्परिक विवाद हड़तालों और तालाबन्दी के विकट रूप धारण करने से पूर्व ही विचार-विमर्श द्वारा तय हो जायेंगे।

योजना की कठिनाइयाँ—

यह भय है कि मिल-मालिक इस योजना का घोर विरोध करेंगे। उनके मतानुसार यदि श्रमिक प्रबन्ध में भाग लेंगे, जोकि अज्ञानी और अशिक्षित हैं तो व्यवस्था के मामलों में शीघ्र निर्णय लेने में देरी होगी और मिल-मालिकों के हितों पर कुठाराघात होने से वे उसमें कम दिलचस्पी लेंगे, जिसके परिणामस्वरूप उत्पादन में कमी हो जायगी तथा इस प्रकार की कमी होने से लाभ भी कम होगा। जबकि दूसरी ओर प्रति इकाई खर्चों में कोई कमी नहीं होगी। इस योजना के फलस्वरूप निजी क्षेत्र में उत्साह समाप्त हो जायगा, जोकि भारतीय उद्योग की 'रीढ़ की हड्डी' कही जाती है। इसके अतिरिक्त यह योजना संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों में ही लागू की जा सकती है, अन्य संस्थाओं में नहीं।

किन्तु अब समय बदल गया है तथा औद्योगिक विकास की योजनाओं में उपर्युक्त तर्कों का कोई स्थान नहीं है। आज की प्रगतिशील दुनियाँ में उद्योगपतियों को अपनी विचारधारा में परिवर्तन करना होगा। वह समय दूर नहीं जबकि उनसे जबरदस्ती योजना को स्वीकार करने के लिये कहा जायगा। अतः भला इसी में है कि वे परिस्थितियों के अनुसार अपने ही हित में इस योजना को स्वीकार कर लें।

विदेशों में किये गये प्रयत्न—

उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों के भाग लेने की योजना अभी हाल की ही है। किन्तु फिर भी कुछ देशों में इसने महत्त्वपूर्ण प्रगति की है। सर्वप्रथम इस योजना का आरम्भ जर्मनी में हुआ। इसके बाद यह विचार ब्रिटेन और अमेरिका में बढ़ा। ब्रिटेन में, निजी एवं सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों के उद्योगों में कर्मचारियों को भाग देने के लिये संयुक्त सलाहकार समितियाँ (Joint Consultative Committees) स्थापित की जाती हैं। इन समितियों में मिल-मालिक व श्रमिक दोनों के प्रतिनिधि होते है।

फ्रांस में श्रमिकों को उद्योग के प्रबन्ध में भाग देने की प्रथा का श्रीगणेश सन् १९४५ में पास हुये अधिनियम से हुआ। इस अधिनियम के अनुसार समस्त निजी उद्योगों में जिनमें कि ५० या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हों, 'कार्य समितियों' का संगठन करना अनिवार्य है। सरकारी उद्योगों में श्रमिकों का प्रतिनिधि 'संचालक बोर्ड' में होता है। इन समितियों का कार्य सलाह देना तथा प्रशासन में भाग लेना है। उत्पादन बढ़ाने, उचित व्यवस्था करने, मूल्य बढ़ाने व उचित प्रकार से प्रबन्ध करने के लिए यह समितियाँ सलाह देती हैं।

जर्मनी में इस कार्यक्रम का नाम सह-निर्धारण (Co-determination) है, जिसके तीन प्रमुख पहलू हैं—आर्थिक, व्यक्तिगत और सामाजिक। श्रमिकों की सहमति सभी महत्त्वपूर्ण विषयों जैसे भर्ती, बदली, कार्य-समय, अवकाश, मजदूरी की दर आदि में ली जाती है। इससे श्रमिकों में काफी सन्तोष उत्पन्न हो गया है।

यूगोस्लेविया की प्रणाली स्वयं प्रबन्ध संचालन प्रणाली कहलाती है, जिसके अन्तर्गत श्रमिक व्यक्तिगत पूँजीपतियों के प्रतिनिधियों से विचार-विमर्श न करके खुद ही अपने-अपने कार-

खानों का प्रबन्ध करते हैं। देश में समस्त उद्योगों को राष्ट्रीय सम्पत्ति घोषित कर दिया गया है। उनका प्रबन्ध श्रमिकों की समितियाँ (अ) श्रमिक-परिषद् (Workers' Councils) तथा (ब) प्रबन्ध समिति (Management Boards) करती हैं। स्वीडन, कनाडा और बेल्जियम आदि में भी उद्योगों के प्रबन्ध में कर्मचारियों को भाग देने की योजनायें चालू हो चुकी हैं।

भारत में किये गये प्रयत्न—

भारत में यह योजना अभी समय के गर्भ में ही है। १९४७ में औद्योगिक विवाद अधिनियम पास करने से पूर्व भारत में इस दिशा में कोई भी प्रयत्न नहीं किया गया था। भारत सरकार ने सन् १९४८ तथा १९५६ की औद्योगिक नीतियों में इस ओर संकेत दिया। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी इसका उल्लेख किया गया। योजना में कहा गया कि "एक समाजवादी समाज की रचना लाभकारी सिद्धान्तों पर नहीं की जा सकती, उसके लिये समाज-सेवा के सिद्धान्त को अपनाना पड़ेगा। यह आवश्यक है कि श्रमिक समझें कि वह प्रगतिशील राष्ट्र के निर्माण में अपना योग दे रहा है। प्रजातान्त्रिक समाज सङ्गठित करने के पहले औद्योगिक प्रजातन्त्र की स्थापना अति आवश्यक है। द्वितीय योजना के सफल संचालन के लिये कर्मचारियों का प्रबन्ध से अधिकाधिक सहयोग अनिवार्य है। इससे उत्पादन में वृद्धि होगी, श्रमिक उद्योगों के बारे में अधिक जानकारी प्राप्त कर सकेंगे तथा साथ ही साथ श्रमिकों को अपनी भावनाओं को व्यक्त करने का अवसर मिलेगा, जिससे औद्योगिक शान्ति होगी।"

प्रबन्ध में श्रमिकों को भाग देने की योजना को वास्तविक रूप प्रदान करने तथा इससे उत्पन्न होने वाली समस्याओं के सम्बन्ध में आवश्यक सूचना प्राप्त करने के उद्देश्य से भारत सरकार ने यूरोपीय देशों में श्रमिकों द्वारा प्रबन्ध संचालन में भाग लेने की प्रथा का अध्ययन करने के लिये १९५६ में १० सदस्यों का एक अध्ययन मण्डल (जिसमें मालिकों, श्रमिकों तथा सरकार के प्रतिनिधि थे) केन्द्रीय श्रम मन्त्रालय के सचिव श्री विष्णुसहाय की अध्यक्षता में भेजा।

अध्ययन मण्डल की सिफारिशें—

अध्ययन मण्डल की रिपोर्ट जून सन् १९५७ में प्रकाशित हुई। भारत में इस योजना के कार्यान्वित करने के सम्बन्ध में निम्न सिफारिशें कीं :—

(१) इस योजना को लागू करने से पूर्व 'शिक्षा आन्दोलन' आवश्यक है।

(२) यह योजना किन-किन उद्योगों में लागू हो, यह निर्णय करने का अधिकार सरकार को होना चाहिये। यह प्रणाली उन्हीं उद्योगों में चालू की जाय, जिनका प्रबन्ध सर्वश्रेष्ठ हो। छोटे उद्योगों को इसमें शामिल नहीं किया जाना चाहिये।

(३) दोनों पक्षों के रुख में परिवर्तन होना आवश्यक है अर्थात् श्रमिकों और मालिकों में स्वेच्छापूर्वक सहयोग होना चाहिये।

(४) यदि उद्योग या कारखाने की कई शाखायें न हों तो उनके लिए एक ही 'संयुक्त परिषद्' होनी चाहिये। इन संयुक्त परिषदों से कारखानों में काम के नियम, छँटनी, विवेकीकरण, कारखानों की बन्दी, नये तरीके अपनाने और बहाली तथा दण्ड आदि के सम्बन्ध में परामर्श किया जाना चाहिये।

(५) अध्ययन दल की रिपोर्ट में कहा गया है कि अनेक देशों के प्रबन्ध परिषदों में श्रमिकों तथा मालिकों की संख्या बराबर-बराबर रक्खी गई है। किन्तु दल के मतानुसार यह आवश्यक नहीं, क्योंकि निर्णय आपस के सहयोग तथा समझौते के अनुसार होना चाहिये, न कि

तीय श्रम आर्थिक सम्मेलन (Second All India Labour Economic Conference) में, जिसके अध्यक्ष श्री वी० वी० गिरि थे, इस योजना पर विचार-विनिमय किया गया था; इस सम्मेलन में यह विचार प्रकट किया गया था कि इस योजना को धीरे-धीरे श्रमिकों तथा मालिकों के सक्रिय सहयोग द्वारा कार्यान्वित किया जाना चाहिये। प्रारम्भ में परीक्षण (Experiment) के रूप में इनका अर्थ सलाह के रूप में ही लिया जाय। दोनों को आपस में कन्धे से कन्धा मिलाकर कार्य करते हुये अपने दायित्त्व को निभाना चाहिये।

इस समय १४५ औद्योगिक संस्थाओं के प्रबन्ध में श्रमिकों के योगदान की योजना लागू है। इस योजना का विस्तार यथासम्भव अधिक से अधिक उद्योगों के लिये करना श्रेयस्कर माना गया है। केन्द्र तथा राज्य सरकारों ने इस योजना को शीघ्र लागू करने के लिए विशेष अनुभाग स्थापित किये हैं। (भारत १९६७)

सफलता के लिए महत्त्वपूर्ण कदम—

प्रबन्ध में श्रमिकों व कर्मचारियों को भाग देना उचित है या नहीं, इस प्रश्न को छोड़ कर हमें तो अब यह देखना है कि इस योजना को किस प्रकार सफलतापूर्वक कार्यान्वित किया जाय। सरकार को इस सम्बन्ध में प्रचार सुविधायें तथा नियम बनाने चाहिये। श्रमिकों की शिक्षा का कार्यक्रम तेजी से तुरन्त प्रारम्भ किया जाय। श्रमिकों को अपने अधिकारों की माँग करते समय उत्तरदायित्त्व को नहीं भूलना चाहिये। उन्हें मन लगाकर पूरी मेहनत से कार्य करना होगा। उधर मालिकों को भी समय की गति को पहिचानते हुये समझ से काम लेना चाहिये। श्रमिकों को प्रबन्ध में स्थान देकर उनकी सद्भावना, सहयोग व सलाह लेनी चाहियें। इसी में सबका हित है। अभी तक जो भी इस क्षेत्र में कार्य हुआ है वह न के बराबर है। परन्तु यदि वर्तमान परीक्षण सफल रहे तो यह योजना सभी उद्योगों में लागू कर दी जायेगी और फिर देश में सभी वर्ग समान हो जायेंगे। आपस में द्वेष, बुरी भावना, संकीर्णता व प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग, सह-भावना और सह-सम्बन्ध स्थापित होंगे, जिसका फल उद्योगों, मालिकों, कर्मचारियों, अन्य व्यक्तियों तथा सरकार सभी के लिए श्रेष्ठ होगा। हमें पूर्ण आशा है कि उद्योगों के प्रबन्ध में श्रमिकों द्वारा भाग लेने का कार्यक्रम जो अभी एक छोटे बीज के समान है, किसी दिन एक विशाल वृक्ष में परिणत हो जायगा, जिसकी कि छत्रछाया में—सरकारी और निजी दोनों ही क्षेत्र पनपेंगे।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. किसी औद्योगिक संस्थान में कर्मचारियों की भरती की कार्यविधि का वर्णन कीजिए।
(आगरा, १९७२; विक्रम, १९६२; इन्दौर, १९६८ एवं १९७०)

२. प्रबन्ध में श्रमिकों की भागीदारी से आप क्या समझते हैं? इसके उद्देश्य क्या हैं और इनको प्राप्त करने के लिये क्या प्रयत्न किये गये हैं? (दिल्ली, १९७१)

३. श्रमिकों की पूर्ति के सामान्य स्रोत कौन-कौन से हैं? श्रमिकों की चुनाव पद्धति का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

४. श्रमिकों के प्रशिक्षण के प्रचलित साधन कौन-कौन से हैं ? प्रशिक्षण की महत्ता पर प्रकाश डालिये ।

५. औद्योगिक सङ्घर्ष क्यों होते हैं ? उनके निपटारे के लिये किये गये उपायों की विवेचना कीजिये ।

६. श्रमिकों के प्रबन्ध में भाग लेने की योजना का अर्थ स्पष्ट कीजिये । भारत में इस योजना का महत्त्व तथा प्राप्त होने वाले लाभों का संक्षेप में वर्णन कीजिए ।

७. कर्मचारियों को शिक्षण देने का क्या महत्त्व है ? प्रशिक्षण की विभिन्न विधियों का संक्षेप में वर्णन कीजिए । (आगरा, १९७१; जीवाजी, १९६७; विक्रम, १९६५)

१०

कार्यकुशलता आदर्श
(Efficiency Ideal)

प्रारम्भिक—कार्यकुशलता आदर्श से आशय

श्रम की कार्यकुशलता से आशय उसकी उत्पादन शक्ति से है। कुशलता का सम्बन्ध श्रमिक के उस गुण से है, जिसके द्वारा वह एक निश्चित अवधि के अन्दर वस्तु के उत्पादन अथवा गुण में वृद्धि कर सकता है। किसी भी श्रमिक की योग्यता की परीक्षा निम्न दो बातों से की जा सकती है :—(i) उत्पादन की मात्रा एवं किस्म; (ii) उत्पादन का समय। श्रम की कार्यकुशलता एक सापेक्षिक शब्द (Relative term) है और इसका प्रयोग तुलनात्मक अर्थ में ही होता है। उदाहरण के लिये; यदि कोई श्रमिक निश्चित अवधि में अधिक उत्पादन करे या दूसरों से पहले कार्य समाप्त कर डाले अथवा उसका उत्पादन दूसरों के मुकाबले में श्रेष्ठतम हो, तो वह दूसरे की अपेक्षा अधिक कार्यकुशल कहलायेगा। अतएव श्रम की कार्यकुशलता आदर्श से अभिप्राय एक ऐसे बिन्दु से है, जिस तक पहुँचने पर श्रमिक की गिनती कुशल श्रमिकों में होने लग जाती है, अर्थात् वह एक आदर्श कार्यकुशल श्रमिक कहलाने लगता है।

कुशलता बनाम उत्पादकता (Efficiency *Vs.* Productivity)—

सामान्यतः कुशलता एवं उत्पादकता दोनों में कोई अन्तर नहीं है। किन्तु तकनीकी दृष्टि से इन दोनों में पर्याप्त अन्तर विद्यमान है। उत्पादकता का सम्बन्ध केवल श्रम और उत्पादन के घण्टों दोनों के अनुपात से ही लगाया जाता है। इसके विपरीत श्रम की कुशलता एक विस्तृत शब्द है, जिसके क्षेत्र में श्रम की उत्पादकता के अतिरिक्त उसकी योग्यता एवं कुशलता का भी समावेश होता है। इस प्रकार श्रम की कुशलता में उत्पादकता भी निहित होती है, जबकि उत्पादकता में कुशलता का निहित होना आवश्यक नहीं है।

कुशलता के भेद (Kinds of Efficiency)—

श्रम की कुशलता को निम्न दो भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) **तकनीकी कुशलता**—श्रम एवं मशीन की कार्य-क्षमता तकनीकी आधार पर निश्चित की जाती है। इसे 'तकनीकी कुशलता' कहते हैं। तकनीकी कुशलता के अन्तर्गत न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन प्राप्त करने का प्रयत्न किया जाता है। बर्बादी अथवा क्षय का कोई स्थान नहीं होता।

(२) **आर्थिक कुशलता**—आर्थिक कुशलता से आशय ऐसे साधनों के काम में लेने से है, जिनका उपयोग करने पर उत्पादन में वृद्धि करना सम्भव होता है।

श्रमिकों की कुशलता का माप (Measurement of Efficiency)—

श्रमिकों की कुशलता का माप करने के प्रमुख तरीके अग्रलिखित हैं।

(१) **उत्पादन की प्रति इकाई पर श्रम की लागत**—श्रमिकों की कुशलता का माप प्रति इकाई पर श्रम की लागत निकाल कर किया जा सकता है। इसके अन्तर्गत श्रमिकों के द्वारा जितनी वस्तुओं का निर्माण किया जाता है उसका भाग श्रमिकों को दी गयी कुल मजदूरी की राशि में देते हैं, और इस प्रकार जो कुछ भी आता है उसे उत्पादन की प्रति इकाई पर श्रम की लागत कहते हैं। उदाहरण के लिए ५ वस्तुओं के निर्माण करने में १०० रु० मजदूरी के रूप में दिये गये हैं। यहाँ पर प्रति इकाई श्रम-लागत $=\frac{१००}{५}$ रु० $=$ २० रु० होगी। यह लागत जितनी कम होती जायगी, श्रमिकों की कुशलता में उतनी ही वृद्धि होती जायगी। इसके विपरीत, यदि श्रम-लागत में वृद्धि हो जाती है, तो यह कहा जायगा कि श्रमिकों की कुशलता में कमी हो गयी है।

(२) **प्रति श्रमिक घन्टा उत्पादन**—इसके अन्तर्गत उत्पादन का माप प्रति श्रमिक घण्टा अथवा दिन के आधार पर किया जाता है।

कार्यकुशलता आदर्शों को प्रभावित करने वाले तत्त्व—

वैसे तो श्रमिक के कार्यकुशलता के आदर्शों पर प्रभाव डालने वाले अनेक तत्त्व हो सकते हैं, किन्तु उनमें से मुख्य-मुख्य तत्त्व निम्नलिखित हैं :—

(१) **पारिश्रमिक** (Wages)—अच्छा पारिश्रमिक मिलने पर एक श्रमिक उच्च जीवन-स्तर कायम रख सकता है। इसके होने पर वह अधिक व सुन्दर कार्य कर सकता है। एक व्यक्ति जो आधा भूखा है, झोंपड़ी में रहता है तथा अपने परिवार के लिए शिक्षा तथा चिकित्सा की व्यवस्था नहीं कर पाता है, कैसे कुशल बन सकता है। भारतीय श्रमिकों की अकुशलता का सबसे प्रमुख कारण पर्याप्त पारिश्रमिक का न मिलना है। यदि श्रमिक को उसकी मेहनत का पर्याप्त पारिश्रमिक दिया जाय तो वह सदैव सन्तुष्ट रहेगा और मन लगाकर कार्य करेगा। इससे उसकी कार्यकुशलता स्वभावत: अधिक होगी।

(२) **कार्य करने की दशाएँ** (Conditions of Work)—श्रमिक की कार्य करने की दशायें उसकी कार्यकुशलता पर महत्त्वपूर्ण प्रभाव डालती हैं, यदि कारखानों में स्वच्छ वायु, शुद्ध ठण्डा जल, पर्याप्त प्रकाश, सफाई तथा उचित तापक्रम आदि होगा, तो श्रमिक की कार्यकुशलता अवश्य बढ़ी हुई होगी।

(३) **कुशल प्रबन्ध** (Efficient Management)—श्रमिक की कार्यकुशलता प्रबन्ध की कुशलता पर भी निर्भर करती है। यदि काम का वितरण मनोवैज्ञानिक आधार पर किया जाय, प्रत्येक श्रमिक को उसकी योग्यतानुसार कार्य सौंपा जाय तथा उच्चकोटि का कच्चा माल एवं नवीनतम यन्त्रों का प्रयोग किया जाय, तो श्रमिक की कार्यकुशलता में वृद्धि होना निश्चित है।

(४) **मनोवैज्ञानिक व्यवहार** (Psychological Treatment)—अन्य मानवों की तरह श्रमिक भी मानव है। दूसरों की तरह उसकी भी मान-मर्यादायें, भावनायें एवं इच्छायें हैं। दूसरों की तरह वह भी समानता का अधिकार चाहता है। वह यह भी चाहता है कि उसकी भी बात सुनी जाय तथा उस पर विचार किया जाय। अन्य उत्पादन के साधनों की तरह वह भी उत्पादन का एक महत्त्वपूर्ण सक्रिय साधन है। अभाग्यवश, हमारे आधुनिक कारखानों में श्रमिकों को काम में प्रोत्साहन देने के लिए कुछ भी नहीं है और न कोई ऐसी चीज है जिसको वह अपना कह सके। यह उसकी कुशलता की वृद्धि में एक महत्त्वपूर्ण रुकावट है। आज आवश्यकता इस बात की है कि मनोवैज्ञानिक ढङ्ग से श्रमिकों की आवश्यकताओं का अध्ययन किया जाय तथा उनको अधिक से अधिक सन्तुष्टि प्रदान की जाय।

(५) **सामाजिक एवं राजनैतिक दशायें** (Social and Political Conditions)—देश की सामाजिक एवं राजनैतिक दशाओं का भी श्रमिक की कुशलता पर प्रभाव पड़ता है।

जिस देश में अशान्त वातावरण है, जहाँ धन की सुरक्षा का अभाव है, जहाँ का श्रमिक तथा पूँजीपति वर्ग मित्र न रहकर एक दूसरे का दुश्मन बना हो, वहाँ के श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि कैसे हो सकती है।

(६) **जातीय एवं पैतृक लक्षण तथा नैतिक गुण** (Racial and Hereditary Characteristics and Moral Qualities)—जातीय एवं पैतृक लक्षण तथा नैतिक गुणों का भी श्रमिकों की कार्यकुशलता पर गहरा प्रभाव पड़ता है। उदाहरण के लिये, बढ़ई का लड़का लकड़ी का सामान बनाने में चतुर होगा। इसी प्रकार ईमानदारी, धैर्य, परिश्रम, निष्कपटता आदि नैतिक गुणों का उसकी कार्यकुशलता पर निश्चय ही प्रभाव पड़ेगा। एक चरित्रहीन एवं कामचोर व्यक्ति कभी भी श्रमिक नहीं बन सकता।

(७) **काम करने की स्वतन्त्रता** (Freedom of Work)—काम करने की स्वतन्त्रता से भी श्रमिक की कार्यकुशलता पर प्रभाव पड़ता है। किसी श्रमिक से यदि बलपूर्वक अथवा कड़े निरीक्षण में काम कराया जाय तो उसकी कार्यकुशलता का हनन होना स्वाभाविक है। मनुष्य स्वभाव से स्वतन्त्रता-प्रिय है, अतएव दासतापूर्ण कार्य कदापि कार्यकुशलता नहीं बढ़ा सकता।

(८) **भावी उन्नति की आशा** (Hope for Future Progress)—भावी उन्नति की आशा श्रमिकों को प्रेरणा प्रदान करती है। इसके अभाव में उसका निरुत्साहित हो जाना स्वाभाविक ही है। भावी उन्नति की आशा श्रमिकों के हृदय में खून-पसीना एक करने की भावना पैदा करती है। इसके लिये यह आवश्यक है कि कारखानों में तरक्की, पेन्शन, प्रॉवीडेन्ट फण्ड, लाभ-विभाजन योजना, बोनस आदि की योजनायें लागू की जायें।

(९) **कार्य अवधि** (Duration of Work)—अनुभव के आधार पर यह कहा जा सकता है कि यदि श्रमिकों के कार्य करने के घण्टे कम हों तथा कुछ अवधि तक निरन्तर कार्य करने के पश्चात् उन्हें थोड़ा विश्राम दे दिया जाय, तो उनकी कार्यकुशलता में अवश्य वृद्धि होगी। इसके विपरीत, यदि श्रमिकों से प्रातः सात बजे से लेकर सायं के सात बजे तक निरन्तर कार्य करने को कहा जाय तो उनकी कार्यकुशलता घटते-घटते एक न एक दिन अवश्य ऐसे बिन्दु तक पहुँच जायगी जबकि वे कार्य करना ही बन्द कर देंगे।

(१०) **अन्य** (Miscellaneous)—उपरोक्त के अतिरिक्त अन्य भी कई ऐसे तत्त्व हैं जो कि श्रमिकों की कार्यकुशलता को प्रभावित करते हैं—जैसे, जलवायु तथा भौतिक दशायें; उत्पादन का ढंग; सामान्य बुद्धि; प्रशिक्षण की व्यवस्थायें; श्रमिकों का संगठन, सामाजिक प्रथायें।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. आप कुशलता सम्बन्धी आदर्शों से क्या समझते हैं? इस पर पूरी टिप्पणी लिखिये।
(विक्रम, १९६८; इन्दौर, १९६५)

२. कार्यकुशलता आदर्श से क्या अभिप्राय है? श्रमिकों की कुशलता को प्रभावित करने वाले तत्त्वों का संक्षेप में वर्णन कीजिये।

३. श्रमिकों की कुशलता को प्रभावित करने वाले कौन से घटक हैं? क्या आपकी राय में भारतीय श्रमिक अकुशल है?

४. क्या श्रम की कुशलता एवं उत्पादकता में कोई अन्तर है? श्रम की कुशलता के भेदों का वर्णन कीजिये।

११

मजदूरी अथवा भृत्ति भुगतान की पद्धतियाँ

(Methods of Wage Payment)

प्रारम्भिक—मजदूरी भुगतान प्रणाली का महत्त्व

उत्पादन में श्रम को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। श्रम की क्षमता पर ही उत्पादन निर्भर करता है, क्योंकि उत्पादन के अन्य साधन निर्जीव होते हैं तथा उनको नियोक्ता किसी भी प्रकार से अपनी इच्छानुसार उपयोग में ला सकता है। परन्तु यह बात श्रम पर लागू नहीं होती। श्रमिक से अधिकतम् उत्पादन प्राप्त करने के लिये नियोक्ता को मानवशास्त्र (Psychology) के सिद्धान्तों का पालन करना अनिवार्य होता है। वास्तव में सन्तुष्ट श्रम-शक्ति उत्पादन के लिये एक अमूल्य सम्पत्ति है। इसके लिये यह आवश्यक है कि श्रमिकों को अन्य सुविधाओं के साथ-साथ उचित मजदूरी भी दी जाय। इसलिये औद्योगिक संगठन में मजदूरी तथा उसकी भुगतान प्रणालियों को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। इसकी महत्ता पर प्रकाश डालते हुये **डॉ० शेडवेल** ने एक स्थान पर लिखा है :—"श्रम अधिक परिमाण में सस्ता भले ही मिल जाय, परन्तु उसको सस्ता खरीदना दोषपूर्ण मितव्ययिता है, क्योंकि नियोक्ता केवल श्रम नहीं चाहता अपितु श्रम का फल चाहता है, जो सस्ते में उसे नहीं मिलेगा।"[1] यही कारण है कि अधिकांश औद्योगिक संघर्ष दूषित मजदूरी भुगतान पद्धतियों के प्रचलन के कारण ही होते हैं। अतएव एक सन्तोषजनक मजदूरी भुगतान प्रणाली का होना परम आवश्यक है, क्योंकि उचित मजदूरी देने पर ही नियोक्ता एवं श्रमिकों में परस्पर सहकारिता उत्पन्न होकर कम श्रम व्यय में अधिकतम् उत्पादन प्राप्त हो सकता है।

आदर्श अथवा अच्छी अथवा सन्तोषजनक मजदूरी भुगतान प्रणाली की विशेषतायें
(Essentials of an Ideal or Good or Satisfactory Wage Payment System)

मजदूरी को उत्पादन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। अवैधानिक एवं दूषित मजदूरी प्रणाली से एक ओर तो श्रमिकों की कार्यक्षमता का हनन होता है, उनके सामाजिक जीवन एवं परिवार का शोषण होता है तथा दूसरी ओर उत्पादन में शिथिलता आती है एवं देश का औद्योगिक विकास रुक-सा जाता है। अतएव मजदूरी भुगतान प्रणाली न्यायपूर्ण एवं सन्तोषजनक होनी

---

1 "Labour may be plentiful and cheap but it may be bad economy to buy it cheap. For what an employer wants is not the labour but the result of the labour, and if he buys it too cheap he will not get it...........labour so purchased is apparently cheap but being unwilling it is really dear and false economy." — **Dr. Shadwell** : *Industrial Efficiency.*

चाहिये, जिससे कि श्रमिकों का जीवन-स्तर ऊँचा हो तथा देश में तीव्रगति से औद्योगिक विकास हो'। इसके लिये एक आदर्श मजदूरी भुगतान पद्धति में निम्नलिखित विशेषतायें होनी चाहिये :

(१) **दोनों पक्षों के लिए हितकारी**—मजदूरी भुगतान प्रणाली ऐसी होनी चाहिये जिसमें श्रमिक एवं उद्योग दोनों का ही हित हो। मजदूरी न तो इतनी कम होनी चाहिये कि श्रमिक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति ही न कर सके एवं उनका शोषण होता हो और न इतनी अधिक ही हो जिससे उद्योग की क्षमता को देखते हुये नियोक्ताओं के लिये असहनीय हो जाये तथा उद्योग का भविष्य सङ्कट में पड़ जाय। सारांश में, श्रमिकों के लिये उचित मजदूरी (Fair Wages) की व्यवस्था होनी चाहिये।

(२) **श्रमिक की योग्यतानुसार**—वही मजदूरी भुगतान प्रणाली योग्य होगी एवं श्रमिक की कार्यक्षमता में वृद्धि कर सकेगी, जिससे प्रत्येक श्रमिक को उसकी योग्यतानुसार मजदूरी दी जाती है। 'सब धान बाईस पसेरी' का सिद्धान्त यदि मजदूरी देने की प्रणाली में लागू किया जाता है तो कुशल श्रमिकों को अपनी कार्यक्षमता बढ़ाने में किसी भी प्रकार की प्रेरणा अथवा प्रलोभन नहीं मिलता। अतएव कुशल श्रमिक को अधिक तथा अकुशल श्रमिक को कम मजदूरी मिलनी चाहिये। इस प्रकार मजदूरी का भुगतान योग्यतानुसार होना परम आवश्यक है।

(३) **न्यूनतम मजदूरी निश्चित होनी चाहिए**—आदर्श मजदूरी प्रणाली में न्यूनतम् मजदूरी का प्रबन्ध अवश्य होना चाहिये, जिससे नियोक्ता श्रमिकों का शोषण न कर सकें। यह इतनी अवश्य होनी चाहिये, जिससे श्रमिक अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें और वे "जीने के लिये काम करें न कि काम के लिये जीयें।"

(४) **सरलता एवं सुगमता**—यह सरल एवं सुबोध होनी चाहिये। उसका ढङ्ग इस प्रकार का हो कि जिससे एक साधारण मजदूर भी—उसे क्या मिलेगा—इसका सही-सही अनुमान लगा सके तथा नियोक्ता को भी श्रम परिव्यय (Labour Cost) निकालने में सुविधा हो। इस प्रकार सरल एवं सुगम मजदूरी भुगतान प्रणाली के होने से श्रमिक एवं नियोक्ता दोनों ही अपना अनुमान पहले से ही लगाकर उसी हिसाब से अपना बजट बना सकते हैं।

(५) **पद्धति मितव्ययितापूर्ण हो**—मजदूरी पद्धति में मितव्ययिता का तत्त्व होना आवश्यक है, अर्थात् जिसमें कच्चे माल, समय तथा यन्त्र-सामग्री आदि का अपव्यय न होता हो।

(६) **मजदूरी एवं उत्पादनशीलता में सम्बन्ध**—मजदूरी-भुगतान प्रणाली का सम्बन्ध उत्पादनशीलता से होना चाहिये, जिससे वह उद्योग अपने श्रमिकों को निश्चित मजदूरी दे सकेगा। इसके साथ ही श्रमिक को पर्याप्त मजदूरी दी जानी चाहिये, जिससे वह अपनी सारी आवश्यकतायें पूरी कर सके। इसमें श्रमिकों एवं पूँजीपतियों के सम्बन्ध अच्छे रहते हैं और दोनों का ही हित होता है।

(७) **अन्य उद्योगों के अनुरूप मजदूरी**—मजदूरी अन्य उद्योगों के अनुरूप प्रतियोगी (Competitive) होनी चाहिये, जिससे श्रमिकों को दूसरे उद्योगों में भागने की इच्छा न रहेगी और वे उद्योग में ही टिके रहेंगे। उद्योग की प्रगति तथा श्रमिकों की सन्तुष्टि इसी में है कि समान उद्योगों में इनके वेतन एक दूसरे से कम न हों।

(८) **प्रेरणात्मक (Incentive) होनी चाहिए**—मजदूरी भुगतान प्रणाली इस प्रकार की होनी चाहिये जिससे श्रमिक को अपनी कार्यक्षमता बढ़ाने की निरन्तर प्रेरणा मिलती रहे। श्रमिक को इस बात का आभास होना चाहिये कि वह जितना अधिक कार्य करेगा उसे उतनी ही अधिक मजदूरी मिलेगी। मजदूरों में प्रेरणा उत्पन्न करने के लिये पुरस्कार (Rewards) तथा अधिलाभांश (Bonus) आदि की व्यवस्था होनी चाहिये।

(९) **स्थायित्व**—मजदूरी भुगतान प्रणाली में स्थायित्व होना चाहिये, क्योंकि

अस्थायी अथवा परिवर्तनशील मजदूरी प्रणाली में मजदूरों का विश्वास नहीं रहता और न इससे सरलता ही आ सकती है। स्थायित्व न होने की दशा में नियोक्ताओं को भी अपने व्यय का पूर्व अनुमान लगाने में कठिनाई होती है।

(१०) **लोचदार**—मजदूरी भुगतान प्रणाली लोचदार होनी चाहिये, क्योंकि यदि यह लोचदार होगी तो श्रमिकों के असन्तोष के बिना उनकी मजदूरी उत्पादन एवं लाभ के अनुसार कम अथवा अधिक की जा सकती है।

(११) **औद्योगिक शान्ति के लिये उपयुक्तता**—अधिकतर औद्योगिक संघर्ष मजदूरी अथवा अधिलाभांश (Bonus) न देने के कारण होते हैं। यदि मजदूरी श्रमिकों की आवश्यकतानुसार उचित रूप से दी जाय तो औद्योगिक संघर्ष का अन्त होकर दोनों में बहुत सुन्दर सम्बन्ध स्थापित होंगे तथा उद्योग दिन-दूनी, रात-चौगुनी गति से प्रगति करेगा।

(१२) **कार्यशील व व्यावहारिक**—मजदूरी पद्धति का केवल सैद्धान्तिक महत्त्व ही नहीं होता, अपितु उसमें कार्यशीलता एवं व्यावहारिकता का होना भी परम आवश्यक है। तभी वह क्रियान्वित हो सकेगी।

(१३) **समय पर भुगतान**—अन्य बातों के अतिरिक्त मजदूरी का निश्चित समय पर भुगतान होना चाहिये, ताकि श्रमिक नियमित रूप से अपने बजट के अनुसार आवश्यकताओं की पूर्ति कर सकें।

(१४) **न्यूनतम मजदूरी की गारण्टी**—न्यूनतम मजदूरी से आशय मजदूरी की उस मात्रा से है जो कि श्रमिकों की कम से कम न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति करने में समर्थ हो। मजदूरी भुगतान की किसी भी प्रणाली को क्यों न अपनाया जाय सभी में कम से कम इस बात की गारण्टी अवश्य होनी चाहिये कि सन्तोषजनक कार्य न होने पर भी उन्हें न्यूनतम मजदूरी अवश्य दी जायेगी।

(१५) **नियत आधार**—मजदूरी भुगतान प्रणाली का कोई निश्चित आधार अवश्य होना चाहिये जो स्थायी रूप से निरन्तर कायम रह सके। जो दरें (Rates) केवल कल्पना तथा अनुमान पर आधारित होती हैं, उनसे श्रमिक व नियोक्ता दोनों को ही क्षति पहुँचती है।

(१६) **लाभ विभाजन का उद्देश्य**—उद्योगपति को सफल उत्पादन हेतु यह मानना होगा कि श्रम उत्पादन का एक अनिवार्य अंग है। उसका भी उद्योग पर अधिकार है। इसके लिये यह आवश्यक है कि श्रमिकों को भी लाभ व उद्योग की व्यवस्था में से मजदूरी के अतिरिक्त हिस्सा दिया जाय।

इस प्रकार यदि उपरोक्त सिद्धान्तों के आधार पर मजदूरी भुगतान प्रणाली बनाई जाती है तो इससे श्रम एवं पूँजी में संघर्ष के स्थान पर सद्भावनापूर्ण सम्बन्ध स्थापित होकर औद्योगिक शान्ति कायम हो सकती है।

मजदूरी देने की विभिन्न प्रणालियाँ
(Different Methods of Wage Payment)

आधुनिक युग में मजदूरी देने की विभिन्न प्रणालियाँ उपयोग में लाई जाती हैं। साधारणतः मजदूरी के भुगतान करने के दो प्रमुख तरीके हैं :—(१) समय के अनुसार (Time Wages) तथा (२) कार्य के अनुसार (Piece Wages)। मजदूरी देने की ये दोनों प्रणालियाँ अति प्राचीन काल से चली आ रही हैं और आज भी उनका महत्त्व किसी प्रकार से कम नहीं हुआ है। वास्तव में यदि देखा जाय तो जितनी भी वर्तमान प्रेरणात्मक तथा प्रगतिशील प्रणालियाँ अपनाई गई हैं, वे इन्हीं पद्धतियों की परिवर्तित एवं संशोधित रूप हैं। उद्योगों में मजदूरी
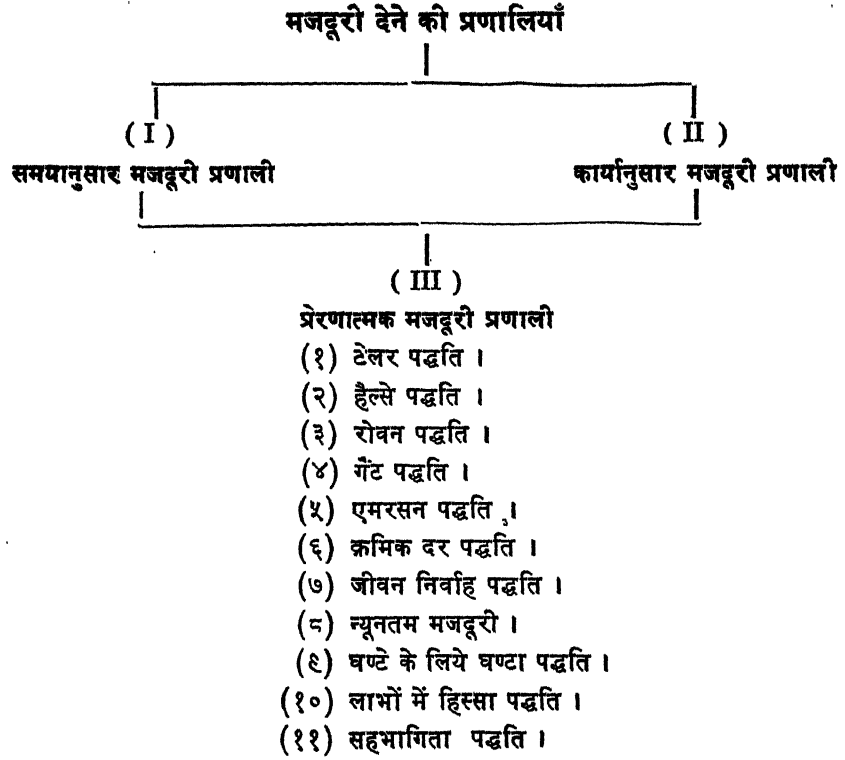
(I) समयानुसार अथवा दैनिक मजदूरी पद्धति
(Time or Daily Wages)

इस प्रणाली में मजदूरी का आधार समय को बताया गया है। यह मजदूरी भुगतान करने की सबसे प्राचीन प्रणाली है। इस प्रणाली के अनुसार श्रमिकों को निश्चित समय के अनुसार मजदूरी मिलती है, जैसे—प्रति घण्टा, प्रति दिन, प्रति सप्ताह, प्रति पखवारा (Fort-night) अथवा प्रति महीना आदि। प्रत्येक श्रमिक को यह विश्वास रहता है कि एक निश्चित अवधि के बाद उसको एक निश्चित राशि अवश्य मिलेगी। काम की मात्रा अथवा उसकी किस्म के सम्बन्ध में किसी प्रकार की शर्त नहीं रहती। **श्री जॉन ए० शुबिन** (John A. Shubin) के अनुसार, "अमेरिका के ७५% उद्योगों में समयानुसार मजदूरी पद्धति प्रचलित है।" भारत में यह प्रणाली प्रायः सभी उद्योगों में विद्यमान है।

लाभ (Advantages)—

(१) **सरलता**—यह प्रणाली अत्यन्त प्राचीन तथा सरल है। एक आदमी को किसी काम करने में जो समय लगता है उसे नापना आसान है। केवल इतना ज्ञान करना पड़ता है कि श्रमिक ने कितने समय तक कार्य किया है। (२) **प्रमापीकरण की आवश्यकता नहीं**—इस प्रणाली के अनुसार प्रत्येक श्रमिक के कार्य का प्रमापीकरण करने की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि उसकी मजदूरी समय के अनुसार निश्चित की जाती है न कि कार्य के अनुसार। (३) **आय की सुरक्षा**—यह प्रणाली श्रमिक को उसकी आय की आकस्मिक कमी से बचाती है या व्यक्तिगत दक्षता में अस्थायी कमी, जो अनिवार्य दुर्घटना या रोग या बाहरी अशान्ति के परिणाम-स्वरूप पैदा हो सकती है, के कारण होने वाली कमी से श्रमिक को सुरक्षा पहुँचाती है। श्रमिक स्थिर आय का निश्चय हो जाने के कारण अपने खर्चों को अपनी आय के अनुसार व्यवस्थित कर

सकता है और एक निश्चित स्तर कायम कर सकता है। (४) **कुशल एवं शिल्पकारी कार्यों के लिए सर्वोत्तम**—वे कार्य जिनमें विशेष कुशलता एवं शिल्पकारी की आवश्यकता पड़ती है, जैसे—दस्तकारी एवं चित्रकला तथा अन्य कलात्मक कार्य इस प्रणाली के अन्तर्गत सुगमतापूर्वक करवाये जा सकते हैं। इसके विपरीत यदि इस प्रकार के कार्य ठेके पर करवाये जायें तो ठेकेदार उतने अधिक चाव व लगन से कार्य नहीं करेगा, क्योंकि वह कम से कम समय में उसे पूरा करने का प्रयत्न करेगा। (५) **उत्पत्ति के साधनों का उचित प्रयोग**—जब कार्य सावधानी, धैर्य एवं लगन के साथ किया जाता है तो उत्पत्ति के विभिन्न साधनों का भी निरर्थक क्षय नहीं होता। यन्त्र उपकरण, कच्चे माल आदि सभी का उचित प्रयोग किया जाता है। इससे नियोक्ताओं को विशेष लाभ होता है, क्योंकि उत्पादन-व्यय में कमी हो जाती है। मशीनों की अनावश्यक घिसाई न होने से उनका जीवन-काल बढ़ जाता है। (६) **श्रमिकों पर विशेष नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं**—क्योंकि श्रमिक स्वयं निश्चित समय पर आते तथा चले जाते हैं, अतएव उन पर विशेष नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं होती। (७) **प्रशासन व्यय में कमी**—इस प्रणाली में अन्य प्रणालियों की अपेक्षा प्रशासन सम्बन्धी ध्यान कम देना पड़ता है और श्रमिक भी प्रायः स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करते हैं। (८) **विशेष उपयोगिता का क्षेत्र**—यह प्रणाली उन कार्यों के लिये अत्यन्त उपयोगी है, जिनमें श्रमिकों को भिन्न-भिन्न प्रकार के कार्यों को करना पड़ता है और जिनमें श्रम का सही मूल्याङ्कन नहीं किया जा सकता। (९) **श्रमिकों में एकता**—मजदूरी देने की इस प्रणाली को श्रमिक सङ्घ अधिक पसन्द करते हैं, क्योंकि यह अत्यन्त सरल प्रणाली है तथा इससे श्रमिकों में एकता रहती है। (१०) **सरकार को आदेश देने में सुविधा**—सरकार को भी इससे निश्चित आदेश देने में सुविधा रहती है। (११) **स्वास्थ्य रक्षा**—मजदूरी भुगतान की प्रस्तुत प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिक आराम से कार्य करते हैं। क्योंकि वे जानते हैं कि शीघ्रता से कार्य करने का उन्हें कोई अतिरिक्त पारिश्रमिक मिलने वाला नहीं है। इसके परिणामस्वरूप उनका स्वास्थ्य ठीक बना रहता है। (१२) **कार्य में सावधानी तथा श्रेष्ठता**—अन्य प्रणालियों की अपेक्षा इसमें कार्य अधिक सुविधा एवं श्रेष्ठता से किया जाता है। इसमें जल्दबाजी का प्रश्न ही नहीं उठता।

हानियाँ (Disadvantages)—

(१) **कुशल श्रमिकों पर कुठाराघात**—इस प्रणाली का सबसे प्रमुख दोष यह है कि यह "बढ़िया (कुशल) आदमी को दबा लेती है।" इसका कारण है कि अकुशल व कुशल दोनों प्रकार के श्रमिकों को समान मजदूरी दी जाती है। परिणामस्वरूप प्रत्येक श्रमिक यह अनुभव करता है कि दूसरे श्रमिकों की अपेक्षा अधिक मेहनत से कार्य करना निष्फल है, क्योंकि मेरे अतिरिक्त प्रयासों के बदले में मुझे तत्काल कोई लाभ न होगा। इस प्रकार श्रमिक आराम-पसन्द होने लगते हैं, जिसके कारण उसकी कार्यक्षमता का हनन होना प्रारम्भ हो जाता है। (२) **अदक्षता को पुरस्कृत करने वाली प्रणाली**—जब तक एक निर्धारित मजदूरी मिलना सुनिश्चित है और अधिक परिश्रम करने के लिये कोई प्रोत्साहन नहीं है तब तक यह प्रणाली अदक्षता को पुरस्कृत करने वाली रहती है। वास्तविकता यह है कि समय-आधार अच्छे (कुशल एवं परिश्रमी) श्रमिकों को पुरुस्कृत और बुरे (अकुशल एवं कामचोर) श्रमिक को दण्डित करने की कोई व्यवस्था नहीं करता। (३) **काम को अनावश्यक रूप से बढ़ाने की प्रवृत्ति का पनपना**—जब काम की मात्रा निश्चित हो और उसके बाद श्रमिक को हटा दिया जाता हो, तब समय के आधार पर भुगतान पद्धति कार्य को यथासम्भव लम्बा करने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित करती है, जिससे कमाई अधिक हो। जब हटाये जाने का भय नहीं रहता तब भी श्रमिक काम से बचते हैं। इससे लालफीताशाही भी पनपती है। (४) **निरीक्षण की आवश्यकता**—श्रमिक पूरी कार्यक्षमता से पूर्ण समय तक काम करते हैं अथवा नहीं, यह देखने के लिये उन पर कड़ा निरीक्षण रखना पड़ता है।

फलतः फोरमैन व सुपरवाइजरों को पुलिस वालों की तरह काम करना पड़ता है। उन्हें यह भी बताना होता है कि वे कैसे और क्या कार्य करें। इसमें निरीक्षण व्यय में वृद्धि होती है। (५) **विरोधी कार्यों को प्रोत्साहन**—उपरोक्त कारणों के फलस्वरूप दबी हुई योग्यता उत्पादन के बजाय विरोधी कार्यों के रूप में प्रगट होने लगती है, क्योंकि इससे योग्य आदमियों को क्षति होने की सम्भावना पैदा होती है। इस सम्बन्ध में फ्रैंकलिन ने लिखा है—"सामयिक भुगतान प्रणाली में बहुत से मनुष्य ऐसे कार्य करते रहे हैं, जिनके लिये उनमें न दिलचस्पी है और न योग्यता, जबकि वे दूसरे (विरोधी) कार्यों में आगे बढ़ जाते हैं....।" (६) **श्रमिक की उत्पादन शक्ति नापना सम्भव नहीं**—उद्योगपति यह निश्चित नहीं कर पाता कि वास्तव में श्रमिकों की उत्पादन-शक्ति क्या है, क्योंकि इस पद्धति में श्रमिकों के व्यक्तिगत उत्पादन का कोई हिसाब नहीं रखा जाता। (७) **अनार्थिक पद्धति**—उद्योगपति को आनुपातिक अधिक मजदूरी देनी पड़ती है जबकि उत्पादन में कमी हो जाती है और इस प्रकार उसका लाभ कम हो जाता है। मजदूरी भुगतान पद्धति के अन्दर किसी दिन कार्य कम होने पर भी श्रमिकों को उतनी ही मजदूरी देनी पड़ती है। (८) **कार्य से मुँह चुराना**—समयानुसार मजदूरी देने से एक महत्त्वपूर्ण हानि यह भी है कि अधिकतर श्रमिक काम से मुँह चुराने लगते हैं। वे किसी प्रकार से समय व्यतीत हो जाने की प्रतीक्षा में ही रहते हैं। (९) **श्रम-सङ्गठनों को प्रोत्साहन**—इस पद्धति से श्रमिकों में एकता आ जाने से श्रम सङ्गठनों को प्रोत्साहन मिलता है, जिसके कारण उद्योग में निरन्तर औद्योगिक सङ्घर्ष बने रहते हैं।

सारांश में उपरोक्त दोषों के कारण 'सब धान बाईस पसेरी' अथवा 'गधे और घोड़े को एक डण्डे से हाँकने वाली' यह मजदूरी भुगतान पद्धति दोषपूर्ण है। **इस पद्धति का श्रमिकों पर अनैतिक प्रभाव होता है तथा उनमें यह प्रवृत्ति आ जाती है कि "काम उतना ही करो जिससे नौकरी बनी रहे।"**[1] श्री जे० आर० स्मिथ के शब्दों में, "यह मजदूरी भुगतान पद्धति सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से एक असन्तोषजनक पद्धति है। इसमें किंचित भी शङ्का नहीं है, क्योंकि इसमें मनुष्य की मूल-भिन्नता की ओर जरा भी ध्यान नहीं दिया जाता है।"[2]

निष्कर्ष—उपयुक्तता—समयानुसार मजदूरी प्रणाली के गुण-दोषों का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि समयानुसार मजदूरी प्रणाली उन दशाओं में विशेष लाभदायक है जिनमें कि (i) कार्य का माप नहीं किया जा सकता है, जैसे—एक शिक्षक का कार्य, एक चित्रकार का कार्य आदि। (ii) जहाँ कार्य की मात्रा की तुलना में उसकी किस्म (Quality) की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है, जैसे—दर्जी का कार्य। (iii) जहाँ उत्पादन का आकार इतना छोटा हो कि अकेला नियोक्ता ही उस पर उचित नियन्त्रण रखने में समर्थ हो। (iv) जहाँ निरीक्षण का कार्य हो। जैसे—निरीक्षक अथवा, फोरमैन आदि का कार्य।

(II) कार्यानुसार मजदूरी भुगतान प्रणाली अथवा भागिक भृत्ति पद्धति (Piece Wage System)

सामयिक मजदूरी भुगतान प्रणाली के दोषों के निवारण हेतु कार्यानुसार मजदूरी भुगतान पद्धति का विकास हुआ। इस पद्धति में श्रमिक की मजदूरी उत्पादन के परिमाण एवं गुण से सम्बन्धित होती है, समय से नहीं। जो श्रमिक जितना और जैसा कार्य करता है, उसी आधार पर उसको मजदूरी दी जाती है, अतएव जो श्रमिक जितना अधिक कार्य करेगा उसको उतनी ही अधिक मजदूरी दी जायेगी। इस प्रकार इस पद्धति में श्रम को अधिक महत्त्व दिया जाता

---

1 **E. D. Jones** : *The Administration of Industrial Enterprise.*

2 **J. R. Smith.**

है। यह पद्धति निम्न दो उप-पद्धतियों में विभाजित की जा सकती है :—(क) **कार्यानुसार बढ़ती हुई मजदूरी अथवा वृद्धि कर भागिक दर** (Increasing Piece Rate System)—इस पद्धति के अनुसार श्रमिक की मजदूरी उसके द्वारा उत्पादित वस्तुओं की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ बढ़ती है। [किन्तु श्रमिक की कार्य-क्षमता सीमित होने के कारण उसकी मजदूरी भी सीमित रहती है।] उत्साही श्रमिकों के लिये यह प्रणाली अत्यन्त लाभदायक है। किन्तु इसमें मजदूरी का व्यय बढ़ जाता है, अतएव उद्योगपति इसका विरोध करते हैं। (ख) **कार्यानुसार घटती हुई मजदूरी अथवा ह्रासित भागिक दर** (Decreasing Piece Rate System)—इस पद्धति के अनुसार, जैसे-जैसे काम बढ़ता जाता है, मजदूरी की राशि को क्रमशः प्रति इकाई घटा दिया जाता है। इससे उद्योगपतियों को पर्याप्त लाभ होता है, क्योंकि उनको उत्पादन-व्यय कम करना पड़ता है। श्रमिकों को इससे प्रायः हानि ही होती है क्योंकि उनके कार्य के अनुसार उनको मजदूरी नहीं मिलती। जहाँ तक मजदूरी की दर को निश्चित करने का प्रश्न है, इनके लिये कोई वैधानिक आधार नहीं है और यह अनुभव के द्वारा ही तय की जा सकती है। इसके तय करने से पहले औसत मजदूरी निकाली जाती है और कुशल तथा अकुशल श्रमिकों को उनकी उत्पादन-शक्ति के अनुसार मजदूरी दी जाती है।

लाभ (Advantages)—

इस प्रणाली के लाभ निम्न हैं :—(१) **योग्यता के अनुसार मजदूरी**—सभी श्रमिकों को योग्यता के अनुसार मजदूरी दी जाती है, जिससे उन्हें अपनी योग्यता बढ़ाने का पर्याप्त अवसर मिलता है। अतः यह प्रणाली अधिक न्यायोचित है। (२) **निरीक्षण व्यय में कमी**—श्रमिकों पर अधिक निरीक्षण रखने की आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि वे स्वयं ही अधिक से अधिक परिश्रम एवं लगन से कार्य करते रहते हैं। (३) **उत्पादन की मात्रा में वृद्धि**—इस प्रणाली के अन्तर्गत अधिक पारिश्रमिक की आशा से श्रमिक अधिक से अधिक उत्पादन करने की चेष्टा करते हैं, अतएव कम से कम समय में अधिकतम उत्पादन सम्भव हो जाता है। (४) **प्रति इकाई उत्पादन व्यय में कमी**—उत्पादन की मात्रा बढ़ने के साथ-साथ उत्पादन व्यय भी प्रति इकाई कम हो जाता है, क्योंकि उपरि-व्यय (Overhead Expenses) प्रायः वही रहते हैं। फलतः उत्पादक को लाभ होता है। (५) **प्रबन्ध व्यय में कमी**—उत्पादक को प्रबन्ध व्यवस्था पर अधिक व्यय नहीं करना पड़ता है और उस व्यय को वह अन्य अधिक लाभकारी कार्यों में लगा सकता है। (६) **मशीनों का सदुपयोग**—श्रमिक मशीन एवं औजारों का सदुपयोग करते हैं, क्योंकि उनके खराब हो जाने से उनका कार्य रुक जाता है, जिससे उनकी मजदूरी में भी कमी आ जाती है। (७) **समय का सदुपयोग**—चूँकि श्रमिक जानता है कि वह जितना काम करेगा उसे उतनी ही मजदूरी मिलेगी, अतः वह अपना समय बिल्कुल भी बर्बाद नहीं होने देता, वरन् प्रत्येक क्षण का सदुपयोग करता है। (८) **उत्पादन प्रणाली में सुधार**—इस प्रणाली से न केवल उत्पादन की मात्रा व मजदूरी में वृद्धि होती है बल्कि उत्पादन प्रणाली में सुधार होता है, क्योंकि श्रमिक दोषरहित कच्चा माल एवं सही हालत में मशीनरी चाहता है। इसके अतिरिक्त अधिक मजदूरी का लालच उसे उत्पादन प्रणाली में सुधार करने हेतु पर्याप्त प्रोत्साहन देता है। (९) **अधिक प्रेरणात्मक**—यह प्रणाली अपेक्षाकृत अधिक प्रेरणात्मक है, क्योंकि कोई श्रमिक जितना अधिक कार्य करता है उसे उतनी ही अधिक मजदूरी मिलेगी; परिणामस्वरूप श्रमिकों मे कम समय के अन्दर अधिकाधिक कार्य करने की भावना जाग्रत होती है। इस प्रकार श्रमिकों की कार्यक्षमता में आश्चर्यजनक गति से वृद्धि होने लगती है। (१०) **उपभोक्ताओं को लाभ**—उत्पादन-व्यय में कमी हो जाने के कारण उपभोक्ताओं को सस्ती वस्तुयें मिल जाती हैं। (११) **श्रम-पूँजी में स्वस्थ सम्बन्ध**—श्रमिकों को न्यायोचित मजदूरी तथा नियोक्ताओं को अधिक उत्पादन प्राप्त हो जाने के कारण दोनों में मान-

सिक शान्ति बनी रहती है, अतः श्रम-पूँजी के सम्बन्ध स्वस्थ रहते हैं। (१२) **उच्च जीवन-स्तर**—श्रमिक अधिक परिश्रम करके अधिक लाभोपार्जन करते हैं, अतएव उनका जीवन-स्तर भी ऊँचा उठ जाता है। (१३) **श्रमिकों की तुलनात्मक योग्यता का ज्ञान**—इस प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिकों की तुलनात्मक योग्यता का बड़ी आसानी से पता लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा किये गये कार्य का सरलतापूर्वक अनुमान लगाया जा सकता है। (१४) **श्रमिकों में गतिशीलता**—यह प्रणाली श्रमिकों की गतिशीलता में वृद्धि करती है, क्योंकि वे अपने कार्य में विशेष दक्ष होने के कारण आसानी से समान उद्योगों में एक दूसरे में जा व आ सकते हैं। (१५) **राष्ट्रीय आय में वृद्धि**—मजदूरी देने की इस पद्धति के अन्तर्गत प्रत्येक श्रमिक अपनी योग्यता तथा शक्ति का पूरा-पूरा उपयोग करता है, क्योंकि वह यह जानता है कि वह जितना अधिक कार्य करेगा एवं जितना सुन्दर माल बनायेगा उसे उतनी ही अधिक मजदूरी मिलेगी। अतएव माल के उत्पादन की मात्रा एवं किस्म में सुधार होने से राष्ट्रीय आय में भी वृद्धि होती है। (१६) **गतिशीलता में वृद्धि**—मजदूरी भुगतान की प्रस्तुत प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिकों की गतिशीलता में पर्याप्त वृद्धि होती है क्योंकि वे कार्य की निर्धारित मजदूरी पर एक कारखाने से दूसरे कारखाने में सरलता से जा सकते हैं। (१७) **श्रमिकों को स्वतन्त्रता**—इस पद्धति के अन्तर्गत श्रमिक अपने आपको स्वतन्त्र समझता है। वह इस बात के लिये स्वतन्त्र है कि चाहे जब काम करे और चाहे जब बन्द कर दे, अतएव वह अधिक मन लगाकर काम करता है।

हानियाँ (Disadvantages)—

उपरोक्त लाभों के होते हुये भी इस प्रणाली के निम्न प्रमुख दोष हैं :—(१) **श्रमिकों के स्वास्थ्य पर कुप्रभाव**—अधिकतम मजदूरी कमाने की लालसा से श्रमिक अधिक परिश्रम करता है, जिससे उसका स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। (२) **मजदूरी में कटौती**—इस प्रणाली के अन्दर उद्योगपति बड़ी सरलता से बढ़े हुये काम के लाभ में से श्रमिकों की मजदूरी कम कर लेता है, जो श्रमिकों के पक्ष में नहीं है। यद्यपि यह सत्य है कि बढ़े हुए काम के लाभ का कुछ अंश श्रमिकों को मिलता है, किन्तु आनुपातिक अंश में उनको प्रायः हानि ही रहती है। (३) **अधिक मजदूरी पर उद्योगपतियों को ईर्ष्या**—यदि श्रमिकों को अधिक मजदूरी मिलती है तो वह उद्योगपतियों के दिमाग में खटकती है और वे सदैव अपने लाभ को बढ़ाने के लिये मजदूरी घटाने की चेष्टा करते हैं, जिससे श्रमिकों और उद्योगपतियों में आपस में बैर-भाव बनने लगता है एवं उत्पादन पर इसका विषम प्रभाव पड़ता है। (४) **वस्तु के गुण में कमी**—इसमें श्रमिक उत्पादन के परिमाण की ओर अधिक ध्यान देते हैं, गुणों की ओर नहीं। इस प्रकार उत्पादन की किस्म (Quality) गिर जाती है। (५) **कलात्मक तथा शिल्पकारी कार्यों के लिये अनुपयुक्त**—उन कार्यों के लिये जिनमें कलात्मक बारीकियों की आवश्यकता पड़ती है, यह प्रणाली अनुपयुक्त है। (६) **असहनीय हस्तक्षेप**—इस प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिक, प्रबन्धक अथवा निरीक्षक का हस्तक्षेप पसन्द नहीं करते। (७) **श्रम-संघों का विरोध**—श्रम-संघ इस प्रणाली का सदैव विरोध करते हैं, क्योंकि इससे (अ) श्रमिकों की एकता भंग हो जाती है और वह अधिक कमाने के लालच से स्वार्थी हो जाते हैं; (ब) अधिक उत्पादन होने से श्रमिकों में बेकारी फैलने का भय उत्पन्न हो जाता है। (८) **बेकारी का भय**—इस पद्धति के अन्तर्गत कार्य शीघ्र समाप्त हो जाने के कारण श्रमिकों की माँग अपेक्षाकृत कम रहती है, अतएव उनमें बेकारी फैलने का भय उत्पन्न हो जाता है। (९) **श्रमिकों की कुशलता का हनन**—श्रमिक पैसे के लालच में अधिकाधिक परिश्रम करने का प्रयत्न करता है। इसका परिणाम उसके स्वास्थ्य पर बहुत बुरा पड़ता है और इस प्रकार धीरे-धीरे उसकी कुशलता का भी हनन होना शुरू हो जाता है। (१०) **छुट्टियों का महत्त्व जाता रहता है**—इस पद्धति के अन्तर्गत श्रमिकों को छुट्टियों की मजदूरी नहीं मिलती। ऐसी दशा में वह यही कहता है कि यदि छुट्टी

नहीं होती तो उसे मजदूरी मिलती। अतएव छुट्टियों का महत्त्व उसके लिए जाता रहता है। (११) **आय की अनिश्चितता**—इस प्रणाली के अन्तर्गत श्रमिकों की आय में निश्चितता नहीं रहती, क्योंकि वह प्रायः घटती एवं बढ़ती रहती है, जिसका उनके जीवन-स्तर पर विषम प्रभाव पड़ सकता है। (१२) **अकुशल श्रमिक को क्षति**—इस प्रणाली के कारण अकुशल श्रमिक निरुत्साहित हो जायेगा, क्योंकि कुशल व अकुशल श्रमिक की मजदूरी में असमानता निरन्तर बढ़ती ही जायेगी। (१३) **यन्त्रों एवं कच्चे माल का अपव्यय**—यन्त्रों की अधिक घिसाई होने के कारण उनका (यन्त्रों का) जीवन-काल कम हो जाता है। इसके अतिरिक्त प्रायः श्रमिक कच्चे माल के उपयोग में लापरवाही से काम लेते हैं। (१४) जहाँ पर कार्य ठीक-ठीक इकाइयों में विभाजित नहीं हो सकता वहाँ यह प्रणाली अनुपयुक्त है। (१५) **उत्पादन में नियमितता का अभाव**—श्रमिकों को अधिक वेतन मिलने से वे अपनी अतिरिक्त आय को बचाकर अधिक छुट्टियाँ लेते हैं, जिससे उत्पादन में नियमितता नहीं रहती तथा उद्योग की उत्पादनशीलता प्रभावित होती है। यह प्रवृत्ति बम्बई और अहमदाबाद के वस्त्र उद्योग के श्रमिकों में अधिक पाई जाती है।

निष्कर्ष—कार्यानुसार मजदूरी भुगतान प्रणाली के गुण-दोषों का अध्ययन करने के पश्चात् यह कहा जा सकता है कि प्रस्तुत प्रणाली उन उद्योगों के लिए विशेष रूप में उपयुक्त है जहाँ पर उत्पादन की क्रिया का प्रमापीकरण हो चुका है तथा समान किस्म की वस्तुओं का उत्पादन होता है एवं कार्य का माप भी आसानी से किया जा सकता है, जैसे—हाथकरघा अथवा खादी वस्त्र उद्योग, जूता उद्योग तथा कोयला खान उद्योग आदि।

कार्यानुसार तथा समयानुसार मजदूरी प्रणाली की तुलना
(Comparison between Time Wages and Piece Wages)

मजदूरी का भुगतान करने की उपर्युक्त दोनों प्रणालियों का तुलनात्मक अध्ययन निम्न तालिका की सहायता से किया जा सकता है :—

क्रम-संख्या	अन्तर का आधार	समयानुसार मजदूरी प्रणाली (Time Wages)	कार्यानुसार मजदूरी प्रणाली (Piece Wages)
१.	आधारशिला	यह समयानुसार दी जाती है।	यह कार्यानुसार दी जाती है।
२.	कुशलता	यह कुशल श्रमिकों के लिये विशेष लाभदायक नहीं है।	यह कुशल श्रमिकों के लिये विशेष लाभदायक है।
३.	मजदूरी की निश्चितता	इसमें मजदूरी की राशि की निश्चितता रहती है।	इसमें मजदूरी की राशि की अनिश्चितता रहती है।
४.	स्थायित्व	इसमें नौकरी के स्थायित्व का आकर्षण रहता है।	इसमें नौकरी के स्थायित्व का पूर्णतया अभाव रहता है।
५.	छुट्टियों का आकर्षण	इसमें छुट्टियों का आकर्षण रहता है क्योंकि श्रमिकों को छुट्टियों का भी वेतन मिलता है।	इसमें छुट्टियों के आकर्षण का अभाव रहता है।
६.	श्रम-संघों का दृष्टिकोण	श्रम-सङ्घ समयानुसार मजदूरी पद्धति का समर्थन करते हैं क्योंकि यह उनमें एकता उत्पन्न करती है।	श्रम-सङ्घ कार्यानुसार मजदूरी प्रणाली का विरोध करते हैं, क्योंकि इससे उनमें एकता नहीं हो पाती।
७.	अधिक कार्य के लिए प्रेरणा	मजदूरी की यह पद्धति श्रमिकों को अधिक कार्य करने के लिये प्रेरणा नहीं देती है।	इससे श्रमिकों को अधिक कार्य करने के लिए प्रेरणा मिलती है।
८.	शिल्पकारी कार्य	मजदूरी की यह पद्धति शिल्पकारी कार्यों के लिये अधिक उपयुक्त है।	यह पद्धति शिल्पकारी कार्यों के लिए अनुपयुक्त है।
९.	निरीक्षण की	इसमें कठोर निरीक्षण की	इसमें कठोर निरीक्षण की

९	आवश्यकता	आवश्यकता होती है जिससे निरीक्षण व्यय बढ़ जाता है।	आवश्यकता नहीं होती, अतएव निरीक्षण व्यय घट जाता है।
१०	माल की किस्म बनाम उत्पादन की मात्रा	इसमें उत्पादन की मात्रा में वृद्धि करने की तुलना में माल की किस्म में वृद्धि करने पर अधिक ध्यान दिया जाता है।	इसमें श्रमिक उत्पादन की मात्रा में वृद्धि को अधिक महत्त्व देता है, न कि माल की किस्म को।
११.	कार्य में शिथिलता	कभी-कभी श्रमिक इसमें जानबूझकर कार्य शिथिलता से करते हैं।	इसमें ऐसा करना सम्भव नहीं है।

(III) प्रेरणात्मक, प्रगतिशील अथवा प्रब्याजि अधिलाभांश प्रणाली
(Incentive, Progressive or Premium Bonus System)

मजदूरी भुगतान करने की दोनों प्रणालियों (अर्थात् सामयिक तथा कार्यानुसार) में कुछ न कुछ दोष विद्यमान हैं। सामयिक मजदूरी देने की प्रणाली एक कुशल एवं अकुशल श्रमिक में कोई भेद नहीं करती और कार्यानुसार मजदूरी देने की प्रणाली का वस्तु के गुणों पर अच्छा प्रभाव नहीं पड़ता। इन दोनों के दोषों को दूर करने के लिए एवं श्रमिकों को कार्य करने के लिए पर्याप्त प्रेरणा एवं उत्साह देने के लिए मजदूरी भुगतान की कुछ वैज्ञानिक पद्धतियाँ निकाली गई हैं। ये पद्धतियाँ तान्त्रिक रूप से 'प्रेरणात्मक', 'प्रगतिशील' अथवा 'प्रब्याजि अधिलाभांश' प्रणालियाँ कहलाती हैं।

प्रेरणा से आशय (Meaning of Incentive)—

प्रेरणा से हमारा आशय उस मनोवैज्ञानिक उत्तेजना से है जो कि व्यक्तियों को कार्यशील बनाती है एवं अधिक कार्य करने के लिए इन्हें प्रभावित करती है। प्रायः सभी व्यक्तियों को ऐसी प्रेरणा की आवश्यकता होती है। इसके बिना निर्धारित लक्ष्य पर पहुँचना कठिन होता है। लोग तभी कार्य करते हैं जबकि ऐसा करना उनकी दृष्टि में लाभप्रद हो।

विभिन्न प्रेरणायें (Various Incentives)—

श्रमिक मन लगाकर अधिक कार्य करे इसके लिए प्रेरणा की आवश्यकता होती है। प्रेरणा देना कर्मचारी तथा नियोक्ता दोनों की दृष्टि से लाभप्रद होता है, तभी तो प्रेरणा दी जाती है। ये प्रेरणायें विभिन्न रूपों में दी जा सकती हैं, जो कि अग्रलिखित हैं :—

प्रेरणाएँ
(Incentives)

(I) द्राव्यिक अथवा वित्तीय प्रेरणाएँ

(१) अन्य रूप में अधिलाभांश।
(२) न्यूनतम मजदूरी का आश्वासन।
(३) अपव्यय पर आधारित अधिलाभांश

(II) अवित्तीय प्रेरणाएँ

(१) नौकरी का स्थायित्व।
(२) न्याय।
(३) पारस्परिक हित के मामलों में परामर्श देने का अधिकार।
(४) भय का अभाव।
(५) मान्यता, प्रशंसा एवं सत्कार।
(६) उन्नति के अवसर।
(७) व्यक्तिगत स्थिति।
(८) नेतृत्त्व।
(९) कार्य से श्रमिक का सम्बन्ध।
(१०) प्रबन्ध में भाग।
(११) जिज्ञासा।

(I) द्राव्यिक प्रेरणा—

वह प्रेरणा जो द्रव्य के रूप में दी जाती है, द्राव्यिक प्रेरणा कहलाती है। इसका अर्थ है कि किये गये कार्य के लिये द्राव्यिक पुरस्कार देना। श्रमिक अधिक कार्य करें, इसके लिये यह आवश्यक है कि इसका सम्बन्ध उत्पादन की मात्रा से बैठा दिया जाय। इसके अनुसार जो श्रमिक जितना अधिक कार्य करेगा उसको उतना ही अधिक पुरस्कार मिलेगा। द्राव्यिक अथवा वित्तीय प्रेरणाओं में निम्नलिखित को सम्मिलित किया जा सकता है :—

(१) **अन्य रूप में अधिलाभांश**—इसमें श्रमिकों को नियमित उपस्थिति, न्यूनतम दुर्घटनाओं तथा लाभों में वृद्धि के आधार पर अधिलाभांश देने की व्यवस्था की जाती है।

(२) **न्यूनतम मजदूरी का आश्वासन**—यदि कार्य करने वाले कर्मचारी को न्यूनतम मजदूरी का आश्वासन हो; तो वह इससे अपने आप को अधिक सुरक्षित अनुभव करने लगता है, जिसके परिणामस्वरूप वह अधिक कार्य करने के लिये प्रेरित होता है।

(३) **अपव्यय पर आधारित अधिलाभांश**—किसी कारखाने में अपव्यय अधिक होने की दशा में उसे काम करने हेतु न्यूनतम अपव्यय पर आधारित अधिलाभांश देने की व्यवस्था रहती है।

(II) अवित्तीय प्रेरणाएँ

अवित्तीय प्रेरणाओं के अन्तर्गत उन समस्त वित्तीय एवं मनोवैज्ञानिक कारणों को सम्मिलित किया जाता है जिनसे श्रमिकों को अधिकाधिक कार्य करने के लिये प्रेरित किया जा सके। श्रमिकों को नकद राशि के अतिरिक्त अन्य प्रकार की प्रेरणाओं की भी आवश्यकता होती है, जिनके आधार पर वे सुन्दर एवं प्रभावी ढङ्ग से कार्य करने के लिये प्रेरित हो उठते हैं। ये अवित्तीय प्रेरणाएँ निम्नलिखित रूपों में दी जा सकती हैं :—

(१) **नौकरी का स्थायित्व**—प्रत्येक कर्मचारी यह चाहता है कि उसकी नौकरी में स्थायित्व हो तथा उसे नियमित रूप से निर्धारित तिथि पर पारिश्रमिक मिलता रहे। इससे उसमें अपने काम के प्रति लगन उत्पन्न होती है।

(२) **न्याय (Justice)**—मजदूरी न्याय के सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए। यह नियोक्ता तथा कर्मचारी दोनों की ही दृष्टि में न्यायोचित होनी चाहिये।

(३) **पारस्परिक हित के मामले में परामर्श देने का अधिकार**—कर्मचारी को भी उद्योग या व्यापार के संचालन में भाग लेने तथा पारस्परिक हित के मामलों में परामर्श देने का अधिकार होना चाहिये।

(४) **भय का अभाव**—किसी श्रमिक को भयभीत करके उससे कुछ समय तक अधिक कार्य कराया जा सकता है। कुछ समय पहले उद्योग में इस प्रेरणा को बहुत महत्त्व दिया जाता था। लेकिन अब यह सभी अनुभव करते हैं कि भय के अन्तर्गत श्रमिक अधिक परिश्रम से कार्य करते हैं, लेकिन दिल से नहीं करते। भय उत्पादित सहकारिता, भय जारी रहने के समय तक चलती है, लेकिन भय हटा लेने पर वह विरोध में, 'विरोध' बदले की भावना में और बदले की भावना अन्यायपूर्ण व्यवहार में परिणत हो जाती है।

(५) **मान्यता, प्रशंसा एवं सत्कार**—प्रत्येक व्यक्ति यह चाहता है कि उसके कार्यों की प्रशंसा की जाय। उसे मनुष्य के रूप में आदर प्रदान किया जाय। किन्तु इस भावना की बहुत उपेक्षा की जा रही है। वास्तव में श्रमिक के कार्य की श्रेष्ठता को या उसके व्यक्तित्व को सम्मान देना भी एक बड़ी प्रेरणा है। कभी-कभी तो मशीन पर श्रमिक के नाम की प्लेट लगा देने से उसकी कार्यक्षमता बहुत बढ़ जाती है।

(६) **उन्नति के अवसर**—प्रत्येक कर्मचारी अपनी उन्नति करने के अवसर चाहता है।

सम्भव है कि अवसर मिलने पर वह उसका लाभ न उठा सके, किन्तु ऐसा अवसर मिलने की आशा वह जरूर करता है। कुछ लोग उन्नत पदों पर जाना पसन्द नहीं करते, क्योंकि वे अतिरिक्त जिम्मेदारियों से बचना चाहते हैं, लेकिन 'अधिकांश' लोग इसके इच्छुक रहते हैं।

(७) **व्यक्तिगत स्थिति** (Status)—प्रत्येक कर्मचारी यह चाहता है कि उसे कार्य में एक महत्त्वपूर्ण स्थिति प्राप्त हो, उसका कार्य उपयोगी हो, उसे उत्पादन के लिये अति आवश्यक माना जाय। उसे अपनी योग्यता, कुशलता, स्थिति तथा जिम्मेदारी का अभिमान होता है। अतः प्रेरणा प्रदान करने के लिये औद्योगिक संस्था को चाहिये कि प्रत्येक कार्य से श्रमिक का सम्बन्ध एक विशेष रूप से कायम किया जाय, जिससे वह यह अनुभव करे कि 'उक्त कार्य मुझ पर निर्भर है। जैसे ही कर्मचारी को यह अनुभव होने लगेगा वैसे ही वह अधिक मेहनत से कार्य को करने लगेगा।'

(८) **नेतृत्त्व** (Leadership)—प्रबन्धकों द्वारा किया गया कुशल नेतृत्त्व श्रम-पूँजी के सम्बन्धों को सुधारने में सहायक होता है, जिसके परिणामस्वरूप कर्मचारियों में विश्वास की भावना जाग्रत होती है और वे मन लगा कर अधिकाधिक कार्य करने के लिये प्रेरित हो उठते हैं।

(९) **कार्य से श्रमिक का सम्बन्ध**—यदि किसी औद्योगिक इकाई के प्रत्येक कार्य से श्रमिक को सम्बन्धित कर दिया जाय तो वह स्वतः ही उसे अपना स्वयं का कार्य समझ कर उसका शीघ्र निष्पादन करने के लिये प्रेरित हो उठता है।

(१०) **प्रबन्ध में भाग**—कर्मचारियों को प्रबन्ध में भाग देने से भी उन्हें अभिप्रेरणा मिलती है, जिसके परिणामस्वरूप वे कार्य करने के लिये प्रेरित होते हैं।

(११) **जिज्ञासा**—मनुष्य की एक विशेषता है उसका जिज्ञासु होना। वह यह जानना चाहता है कि कोई कार्य क्यों और कैसे किया जा रहा है। यदि प्रबन्धक उसे उक्त सूचना प्रदान करते रहें, तो इसका उस पर अच्छा नैतिक प्रभाव पड़ेगा। ज्ञान होने से सहकारिता की भावना विकसित होती है।

इस प्रकार जिस मजदूरी प्रणाली में उपर्युक्त प्रेरणायें होंगी; उसे एक प्रेरणात्मक मजदूरी प्रणाली कहा जा सकता है।

प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धतियों के प्रकार
(Kinds of Incentive Wage Plans)

(१) **टेलर भिन्नक कार्यानुसार पद्धति (Taylor Differential Piece Rate System)**—

इसका आविष्कार श्री एफ० डब्ल्यू० टेलर ने किया है। इस पद्धति में समय और गति अध्ययन (Time & Motion Study) के आधार पर प्रत्येक कार्य का एक नियत प्रमाप (Standard) निश्चित किया जाता है। इस प्रमाप में श्रमिक को काम पूरा करना पड़ता है। इस प्रकार इस पद्धति में मजदूरी देने की दो दरें होती हैं—एक 'ऊँची दर' अर्थात् प्रमाप दर तथा दूसरी 'नीची दर'। जो श्रमिक निश्चित प्रमाप में अथवा उससे अधिक अपना कार्य कर लेते हैं वे मजदूरी की ऊँची दर पाने के अधिकारी होते हैं। इसके विपरीत जो श्रमिक उस प्रमाप से कार्य को पूरा करने में असमर्थ रहते हैं उन्हें 'नीची दर' से मजदूरी दी जाती है। इस प्रकार इस पद्धति में कुशल श्रमिक को अधिक तथा अकुशल श्रमिक को कम मजदूरी दी जाती है।

विशेषताएँ—इस पद्धति की निम्नलिखित मुख्य विशेषतायें हैं :—(१) इसमें मजदूरी की दो दरें होती हैं :—(i) ऊँची दर, तथा (ii) नीची दर। ये दरें कार्य के अनुसार तय होती हैं। (२) इन दरों में काफी अन्तर होता है। (३) नियत प्रमाप (Standard) अथवा उससे अधिक कार्य करने पर ऊँची दर दी जाती है तथा इससे कम काम करने पर नीची दर दी जाती है। (४) कुशल श्रमिकों के लिये यह प्रणाली अधिक प्रेरणात्मक है तथा अकुशल श्रमिकों को कम मजदूरी देकर एक प्रकार का दण्ड दिया जाता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

निश्चित प्रमापित कार्य........१६ इकाई (Unit)

प्रमापित कार्य करने पर दर—७५ पैसे प्रति इकाई

प्रमापित कार्य न करने पर—५० पैसे प्रति इकाई

यदि कोई श्रमिक निश्चित प्रमापित कार्य कर लेता है तो उसे १२ रु० (१६ × ·७५ रु०) मिलेंगे और यदि वह केवल १२ इकाई कार्य ही कर पाता है तो उसे केवल ६ रु० (१२ × ·५०) मिलेंगे।

उपयुक्तता—श्री टेलर के अनुसार इस पद्धति का प्रयोग "जहाँ व्यावहारिक हो वहाँ होना चाहिये, परन्तु किसी भी दशा में जहाँ क्रियाओं का समुचित समय-अभ्यास, पूर्ण प्रमापीकरण तथा अन्य आवश्यक शर्तें पूरी न हों वहाँ इस पद्धति का उपयोग किसी भी दशा में नहीं होना चाहिये। इस प्रकार यह पद्धति वहीं उपयोगी है, जहाँ पर प्रतिदिन एक ही प्रकार का कार्य होता हो तथा अधिकतम् उत्पादन वांछित हो।"[1]

(२) हैल्से प्रब्याजि पद्धति (Halsey Premium Plan)—

प्रेरणा की इस पद्धति को निकालने का श्रेय कनाडा निवासी श्री एफ० ए० हैल्से को है। इस पद्धति के अनुसार उत्पादन का प्रमाप (Standard) एवं उसे समाप्त करने का प्रमापित समय (Standard Time) पहले से ही निश्चित कर लिया जाता है। यदि निश्चित समय के अन्दर (अर्थात् प्रमाप समय में) निर्धारित प्रमाप (Standard) की वस्तु तैयार हो जाती है तो श्रमिकों को निश्चित मजदूरी मिल ही जाती है। साथ ही यदि श्रमिक निश्चित समय से पूर्व ही कार्य पूरा कर लेता है, अर्थात् कुछ समय बचा लेता है तो उसे बचाये हुये समय के लिये मजदूरी का एक निश्चित प्रतिशत (जोकि ३३⅓% अथवा ५०% होता है) अधिलाभांश (Bonus) के रूप में दिया जाता है। इसके विपरीत यदि श्रमिक प्रमाप कार्य करने में असमर्थ रहता है तो उसको तब तक कोई भी मान्यता नहीं दी जायगी जब तक कि वह पूरा कार्य नहीं करले। प्रमाप कार्य तथा प्रमाप समय दोनों अनुभव के अनुसार निश्चित होते हैं।

विशेषताएँ—(१) उत्पादन का प्रमाप (Standard Output) तथा उसे समाप्त करने का प्रमाप (Standard Time) पहले से ही निश्चित कर लिया जाता है। (२) प्रत्येक श्रमिक कार्य पूरा कर लेने पर ही मजदूरी पाने का अधिकारी होता है। (३) प्रमापित समय से कम समय में ही कार्य समाप्त कर देने पर श्रमिक को बचाये हुये समय का कुछ प्रतिशत प्रब्याजि (Premium) के रूप में दिया जाता है। यह ३३⅓% से ५०% तक होता है। (४) प्रमापित कार्य निश्चित समय में पूरा किये जाने पर श्रमिकों को निश्चित मजदूरी दी जाती है। इसको न्यूनतम् मजदूरी भी कहते हैं। (५) प्रत्येक कार्य (Job) पर प्रब्याजि अलग-अलग निकाला जाता है। (६) यह पद्धति श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि करती है। (७) इस पद्धति का मानना प्रत्येक श्रमिक के लिये ऐच्छिक होता है।

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

निश्चित प्रमापित कार्य	=	२० इकाई
निश्चित प्रमापित समय	=	१० घन्टा
निश्चित न्यूनतम् मजदूरी	=	१) प्रति घन्टा
प्रमापित समय से पूर्व कार्य पूरा कर लेने पर प्रब्याजि	=	३३⅓%

[1] F. W. Taylor.

मान लो कि श्रमिक केवल ८ घण्टे में कार्य पूरा कर लेता है तो :—
(कार्य समाप्त करने का वास्तविक समय × मजदूरी देने की प्रति घण्टा दर) + (प्रव्याजि की दर × बचाया हुआ समय × प्रति घण्टा दर) अर्थात् (८ × १ रु०) + (३३⅓% × २ × १ रु०)
= ८ रु० + ६६·७ पैसे
= ८ रु० ६६·७ पैसे
शेष २ घण्टे का = ८ रु० ६६·७ पैसे × २/८ (घण्टे)
= २ रु० १६·७ पैसे
कुल मजदूरी = ८ रु० ६६·७ पैसे + २ रु० १६·७ पैसे = १० रु० ८३·४ पैसे
यदि प्रव्याजि की दर ५०% हो तो—
अर्थात् (८ × १ रु०) + (५०% × २ × १ रु०)
= ९ रु०
शेष २ घण्टे का = ९ रु० × २/८ घण्टे
= २·२५ रु०
कुल मजदूरी = ९ रु० + २·२५ रु० = ११·२५ रु० ।

इगलैण्ड में 'बेइर पद्धति' जो इस योजना के समान ही है, अधिक प्रचलित है । इसका यह नाम इसलिये पड़ा है, क्योंकि यह पहले क्लाइड नदी पर स्थित 'बेइर इन्जीनियरिंग वर्क्स' कथकार्ट में काम में लाई गई थी ।

लाभ—(१) सुगम प्रारम्भ—यह पद्धति सुगमता से प्रारम्भ की जा सकती है । (२) **संघर्षों का अभाव**—इसमें श्रम-पूँजी के सङ्घर्ष का भय नहीं रहता, क्योंकि प्रव्याजि पूर्व निश्चित अनुपात में श्रमिकों को दी जाती है । (३) **श्रमिकों को सन्तोष**—मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी यह पद्धति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । श्रमिक को जो कुछ भी लाभ होता है उससे वह सन्तुष्ट हो जाता है, यद्यपि बचाये हुए समय का कुछ भाग नियोक्ताओं को भी मिल जाता है । (४) **अपनाने में सुविधा**—प्रचलित दूकान पद्धति (Shop Method) तथा इस पद्धति में विशेष अन्तर नहीं है । यह अप्रमापित दशाओं में अपनाई जा सकती है ।

दोष—(१) अवैज्ञानिक—इस पद्धति में अवैज्ञानिक रीति से निश्चित प्रमापित समय के आधार पर कार्यानुसार पद्धति (Piece-Rate) अपनाई जाती है । (२) यह नवीन कार्य की अपेक्षा पिछले कार्य पर निर्भर करती है । (३) प्रशासन की दृष्टि से यह पद्धति उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसमें एक निश्चित प्रमाप पर पहुँच जाने के बाद अधिक उत्पादन करने या न करने का निश्चय करना केवल श्रमिक पर छोड़ दिया जाता है । (४) न्यूनतम मजदूरी निश्चित होने के कारण यह श्रमिकों की इच्छा पर निर्भर करता है कि वे अधिक कार्य कुशलता से करें अथवा नहीं ।

(३) रोवन प्रव्याजि पद्धति (Rowan Premium Plan)—

यह पद्धति हैल्से पद्धति का सुधार है, इसलिये इसको रोवन सुधार पद्धति (Rowan Modification) भी कहते हैं । प्रेरणा की इस पद्धति को निकालने का श्रेय स्कॉटलैण्ड निवासी मिस्टर **जेम्स रोवन** को है । इसके अनुसार श्रमिक को उस समय के लिए, जिसमें कि उसने कार्य किया है, साधारण दरों पर मजदूरी दी जाती है । बचे हुये समय के आधार पर प्रव्याजि के रूप में उसे अतिरिक्त धन दिया जाता है । इसमें प्रमापित समय और प्रमापित कार्य दोनों निश्चित होते हैं । बचे हुये समय की मजदूरी उसी प्रतिशत से बढ़ेगी, जितने प्रतिशत कमी उस काम के लिए निर्धारित समय में होती है । श्री रोवन के अनुसार बचाये हुए घण्टों की प्रव्याजि कुल प्रमा-

पित मजदूरी से अधिक नहीं हो सकती और इस प्रकार श्रमिक चालाकी से आवश्यकता से अधिक नहीं कमा सकता। श्री रोवन ने इसके लिये इस प्रकार का नियम दिया है :—

प्रब्याजि निकालने का नियम—

$$\text{प्रब्याजि} = \text{कार्य का कुल समय} \times \text{मजदूरी की दर प्रति घण्टा} \times \frac{\text{बचाया हुआ समय}}{\text{प्रमापित समय}}$$

रोवन तथा हैल्से पद्धतियों का तुलनात्मक अध्ययन (Comparison between Rowan and Halsey Wage Plans)—

दोनों योजनाओं की तुलना करने पर निम्न अन्तर स्पष्ट हो जाता है :—(१) आरम्भ में रोवन योजना में प्रब्याजि की दर अधिक रहती है और हैल्से योजना में दर कम रहती है। (२) जब हैल्से योजना में श्रमिक आधे से अधिक समय बचाने लगते हैं तब प्रब्याजि की दर एकदम बढ़ जाती है, किन्तु रोवन योजना में प्रब्याजि की दर एकसी रहती है। (३) हैल्से योजना में अधिक काम करने पर वेतन दुगना हो सकता है, किन्तु रोवन योजना में वेतन कभी दुगना नहीं हो सकता है।

दोनों पद्धतियों में निम्न दोष पाये जाते हैं :—(१) कार्य करने के अनुसार वेतन मिलने की प्रथा में कटौती बहुत कम होती है, किन्तु इन योजनाओं में कटौती अधिक होती है, इसलिये श्रमिकों को इन योजनाओं की तुलना में काम के अनुसार वेतन मिलने की प्रथा में वेतन अधिक मिल जाता है। (२) यह निश्चित करने के लिये कि कार्य करने का प्रमाप समय कितने घण्टे रखा जाय, काफी कठिनाई होती है। (३) जो श्रमिक बहुत कम कार्य करते हैं उन पर कोई जुर्माना नहीं किया जाता है।

(४) गैण्ट अधिलाभांश पद्धति (Gantt Bonus Plan)—

इस पद्धति को श्री एच० एल० गैंट ने प्रस्तुत किया। यह पद्धति टेलर मजदूरी भुगतान पद्धति पर आधारित है। इसमें प्रत्येक श्रमिक को मिलने वाली मजदूरी की न्यूनतम सीमा पहले से ही निश्चित कर दी जाती है, जिससे कम मजदूरी किसी भी श्रमिक को नहीं मिलेगी। इस प्रकार जो श्रमिक उसको दिये आदेशानुसार नियत समय में (अर्थात् प्रमाप समय में) कार्य पूरा कर लेता है अथवा उससे अधिक कार्य करता है तो उसे २५% तक अधिलाभांश दिया जाता है। किन्तु यदि वह नियत समय में (अर्थात् प्रमाप समय में) नियत उत्पादन से कम उत्पादन करता है तो उसे न्यूनतम मजदूरी मिलेगी। श्री गैण्ट के ही शब्दों में, "यदि कोई आदमी आदेशों के अनुसार चले और अपने लिये दिन भर के लिये एक निश्चित कार्य-भार को, जो प्रथम कोटि की कार्य पूर्ति को सूचित करता है; पूरा कर लेता है, तो उसे दैनिक दर के अलावा जो प्रत्येक दशा में मिलती है, एक निश्चित अधिलाभांश भी दिया जाता है, किन्तु यदि दिन के अन्त में वह कार्य पूरा न कर सके तो उसे अधिलाभांश नहीं मिलता, केवल न्यूनतम् (जो निश्चित होती है) मजदूरी मिलती है।"

उदाहरण द्वारा स्पष्टीकरण—

निश्चित प्रमापित कार्य	=	१०) इकाई
मजदूरी की दर	=	१) प्रति इकाई
न्यूनतम मजदूरी	=	१०) प्रतिदिन
अधिलाभांश	=	भागिक मजदूरी का ५०%

कुल इकाई	भागिक मजदूरी	दैनिक दर	अधिलाभांश	कुल योग
८	८)	१०)	×	१०)
१०	१०)	१०)	५)	१५)
१२	१२)	१०)	६)	१६)
१४	१४)	१०)	७)	१७)
१६	१६)	१०)	८)	१८)

लाभ—(१) न्यूनतम मजदूरी सुरक्षित—इसमें श्रमिकों को पूर्ण सन्तोष रहता है, क्योंकि उनकी न्यूनतम मजदूरी पूर्ण सुरक्षित रहती है, अतः यह पद्धति अकुशल श्रमिक के लिये भी ठीक है। (२) **पर्याप्त प्रोत्साहन**—जो श्रमिक निश्चित समय में अथवा उससे पूर्व अपना कार्य पूरा कर लेते हैं उनको अधिलाभांश के रूप में अतिरिक्त धनराशि दी जाती है। (३) **कटौती समाप्त**—इसमें उद्योगपतियों को भी बचत होती है और उनकी कटौती करने की प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। (४) **मितव्ययिता**—मजदूरी की दर में क्रमिक न्यूनता के कारण उत्पादन-व्यय में मितव्ययिता आ जाती है। (५) **श्रम और पूँजी का मेल**—दोनों में मेल रहने के कारण इसको प्रगतिशील दर (Progressive Rate) भी कहते हैं, क्योंकि इसमें मजदूरी बढ़ती जाती है।

हानियाँ—(१) श्रमिक का आलसी होना—यदि श्रमिक यह देखता है कि वह निश्चित समय में काम को समाप्त नहीं कर सकता तो वह अपने कार्य की गति धीमी कर देता है, क्योंकि वह जानता है कि न्यूनतम मजदूरी तो सुरक्षित है ही। (२) इसमें लम्बी अवधि में कभी-कभी श्रमिक नियमित कार्य से कम कार्य करता है और उसको मजदूरी अधिक मिल जाती है। एक प्रमाप बिन्दु पर मजदूरी एकदम बढ़ जाती है।

(५) एमरसन कार्यक्षमता पद्धति (Emerson Efficiency Plan)—

इस योजना को बनाने वाले श्री हैरिङ्गटन **एमरसन** हैं। इस योजना में अधिलाभांश (Bonus) श्रमिक की कार्य-कुशलता (Efficiency) पर निर्भर करता है। एमरसन का कार्य-कुशलता को मापने का सिद्धान्त अग्र प्रकार है :—

इस योजना में यन्त्रों का प्रमापीकरण कर दिया जाता है। सबसे कुशल श्रमिक की उत्पादनशीलता मालूम कर ली जाती है। इस श्रमिक ने जितने समय में निश्चित उत्पादन किया है उसको ही प्रमाप समय का कार्य मान लिया जाता है। जो श्रमिक इस समय में निर्धारित उत्पादन कर लेते हैं उनकी कुशलता १००% मान ली जाती है। यदि कोई श्रमिक इस कुशलता के स्तर पर नहीं आता और उसकी कुशलता निश्चित कुशलता के ६६·७% से भी कम है तो उसको न्यूनतम वेतन अवश्य मिलेगा। उसकी कुशलता ६६·७% से अधिक है तो उसको निश्चित वेतन तथा पारितोषिक दिया जायेगा। पारितोषिक (या प्रब्याजि) इस आधार पर दिया जाता है कि १००% कुशलता प्राप्त करने पर पारितोषिक (या प्रब्याजि) दैनिक वेतन का २०% हो जाये। १००% से अधिक कुशलता प्राप्त करने पर पारितोषिक तथा कुशलता में समानता रखी जाती है। यदि कुशलता ११०% है तो पारितोषिक (प्रब्याजि) २०%+१०%=३०% होगा और इसी प्रकार १२०%, १३०%, १४०% कुशलता पर पारितोषिक ४०%, ५०% तथा ६०% होगा।

(६) क्रमिक दर पद्धति अथवा सर्पी अनुमान पद्धति (Sliding Scale Plan)—

इस पद्धति के अनुसार श्रमिकों की मजदूरी निर्मित वस्तु के मूल्य के अनुसार घटती-बढ़ती रहती है। इस प्रकार यदि विक्रय वस्तु का मूल्य बढ़ता है तो श्रमिकों की मजदूरी भी बढ़ जाती है और यदि विक्रय वस्तु का मूल्य घट जाता है तो श्रमिकों की मजदूरी भी घट जाती है। यह पद्धति इस सिद्धान्त पर आधारित है कि वस्तुओं के मूल्यों में वृद्धि होने से साधारणतः उद्योगपतियों को अधिक लाभ होता है, अतः श्रमिकों को भी उसमें से कुछ भाग मिलना चाहिये। इसके विपरीत जब मूल्यों में कमी हो जाती है तो उद्योगपतियों के लाभ का अनुपात भी गिर जाता है, अतः श्रमिको की मजदूरी में भी क्रमशः कमी हो जाती है। किन्तु इसके लिये एक निश्चित सीमा होती है, उससे कम श्रमिकों की मजदूरी नहीं होती है।

लाभ—(१) समान अनुपात—श्रमिक और नियोक्ता दोनों ही उद्योग के लाभ को समान रूप से विभाजित करते हैं, अतः दोनों ही उसके उत्थान-पतन में सहायक रहते हैं। (२) **औद्योगिक शान्ति**—इसमें श्रमिकों तथा उद्योगपतियों में मजदूरी के विषय में झगड़ा नहीं होता,

क्योंकि दोनों ही उद्योग में अपने को साझेदार समझते हैं। (३) **कार्य सुरक्षा**—श्रमिकों के कार्यों में सुरक्षा तथा निश्चितता आ जाती है और वे निश्चित होकर अपना कार्य कर सकते हैं। (४) **व्यापार में पूर्ण जानकारी**—श्रमिकों को अपने अंकेक्षकों के द्वारा व्यापार की समस्त जानकारी प्राप्त करने का अधिकार रहता है और इस प्रकार समय-समय पर वे व्यापार में होने वाले उतार-चढ़ाव को सुविधा से जान सकते हैं और उसके अनुरूप कार्य में लगे रहते हैं।

हानियाँ—(१) **अनिश्चित जीवन-स्तर**—इससे आय का ठीक अनुमान नहीं लगाया जा सकता, इसलिये श्रमिक के जीवन स्तर में किसी प्रकार की निश्चितता नहीं लाई जा सकती। (२) **अनिश्चित लाभ**—व्यापार का लाभ केवल उत्पादन पर ही निश्चित नहीं किया जा सकता। कभी-कभी व्यापार का उत्पादन-मूल्य तो बढ़ जाता है, किन्तु उस अनुपात में लाभ नहीं बढ़ता। कभी इसके विपरीत मूल्य कम हो जाने पर भी लाभ बढ़ सकता है। इस प्रकार श्रमिक मूल्यों की तुलना करके किसी परिणाम पर नहीं पहुँच सकता। (३) **बिना दोष का बोझ**—मूल्य की घटा-बढ़ी श्रमिक की उत्पादन-शक्ति की अपेक्षा वस्तु की बाजार में माँग तथा प्रदाय पर निर्भर करती है। जब मूल्य गिरता है तो श्रमिक के दोषों के न होने पर भी उसको बोझ वहन करना पड़ता है। (४) **मूल्य के गिरने पर श्रमिक को हानि**—मन्दी के समय उद्योगपति अपने माल को सुविधा के साथ हानि का हिस्सा मजदूरों पर डाल कर बेच सकता है और मजदूरों को बिना किसी दोष के कभी-कभी उद्योगपति की परिकल्पना का शिकार होना पड़ता है। (५) **आधुनिक आविष्कारों का प्रभाव**—वर्तमान वैज्ञानिक युग में विशिष्ट मशीनों के आविष्कार बहुत हो रहे हैं। उन मशीनों के उपयोग से औद्योगिक इकाई अपने उत्पादन-व्यय में पर्याप्त कमी कर लेती है और उत्पादन-व्यय में कमी आने के साथ-साथ वस्तु के विक्रय-मूल्य में भी कमी आ जाती है। वस्तु के विक्रय-मूल्य में कमी होने पर औद्योगिक इकाई के लाभांश में वृद्धि हो जाती है। इसका श्रमिकों की आर्थिक दशा पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। वस्तु के मूल्य में कमी होने का अभिप्राय है मजदूरी में कमी होना। इस प्रकार मूल्य में कमी होने से एक ओर तो औद्योगिक इकाइयों के लाभों में वृद्धि होती है तथा दूसरी ओर श्रमिकों की मजदूरी कम करके उसका शोषण होता है। आखिर ऐसा अन्याय क्यों?

(७) जीवन-निर्वाह या जीवनयापन मजदूरी (Cost of Living Wage System)—

इस पद्धति के अनुसार श्रमिकों की मजदूरी जीवन-निर्वाह लागत अनुक्रमणिका (Cost of Living Index) के अनुसार निश्चित की जाती है। इसके अनुसार श्रमिकों की मजदूरी को रहन-सहन की लागत के साथ प्रत्यक्ष रूप से सह-सम्बद्ध कर दिया जाता है। यह पद्धति श्रमिकों की उस समय सुरक्षा करती है जबकि मुद्रा-स्फीति (Inflation) हो, अर्थात् चलन में मुद्रा की मात्रा आवश्यकता से अधिक हो, जिसके कारण मुद्रा की क्रय शक्ति कम हो जाती है। **इसके द्वारा मजदूरी में वृद्धि उसी अनुपात में होगी, जिस अनुपात में मुद्रा स्फीति हो गई हो, जिससे श्रमिक अपने जीवन-स्तर को भी उसी प्रकार बनाये रखे, जिस प्रकार पहले था।** दूसरे शब्दों में, श्रमिकों के वास्तविक वेतन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं पड़ता और हर स्थिति में उनको आवश्यक वेतन मिलता है।

लाभ (Advantages)—(१) मजदूरी काम के अनुसार नहीं, वरन् वस्तु के भावों के अनुसार निश्चित की जाती है। (२) श्रमिकों को बाजार की तेजी-मन्दी की चिन्ता नहीं रहती है। उसके ही अनुसार उनके वेतन में घटा-बढ़ी होती है। (३) श्रमिकों को सङ्गठन के विरुद्ध किसी प्रकार का असन्तोष नहीं रहता। (४) उद्योगपति को भी सन्तुष्ट कार्यकर्त्ता मिलते हैं, जिससे उसके उत्पादन में कमी की असुविधा नहीं होती है, (५) बढ़ते हुए मूल्यों के कारण जो लाभ होता है, उसका उचित विभाजन किया जा सकता है।

हानियाँ (Disadvantages)—(१) श्रमिकों की आवश्यकता के अनुसार तत्काल ही मजदूरी में परिवर्तन नहीं किया जा सकता। (२) श्रमिकों की सही जीवनयापन अनुक्रमणिका (Cost of Living Index) भी आसानी से प्राप्त नहीं होती, जिससे उनके वेतन की घटा-बढ़ी का हिसाब सही नहीं रखा जा सकता। (३) मूल्य के अनुसार एकाएक वेतन में घटा-बढ़ी करना बहुत कठिन होता है। (४) इस प्रकार की क्रिया से श्रमिक अपनी अवस्था का अध्ययन नहीं कर

सकता, क्योंकि जब मजदूरी में वृद्धि हो तो श्रमिक प्रसन्न होगा, किन्तु मजदूरी में कमी उसको कभी सहन नहीं होगी ।

यह पद्धति भारत में विशेष उपयोगी नहीं है, क्योंकि हमारे देश में अभी तक श्रमिक अनुक्रमणिका के प्रकाशन की उचित व्यवस्था नहीं है ।

(८) न्यूनतम मजदूरी (Minimum Wages)—

न्यूनतम मजदूरी श्रमिक की अत्यन्त आवश्यक मांगों की पूर्ति के लिये दिया जाने वाला वह धन है, जिसके बिना वह अपना साधारण कार्य भी कुशलतापूर्वक नहीं कर सकता । प्रायः असङ्गठित उद्योगों के उद्योगपति अपने श्रमिकों को इतनी कम मजदूरी देते हैं कि उनको न्यूनतम आवश्यक जीवन-स्तर भी कायम रखना दुर्लभ हो जाता है और इस प्रकार उनकी कार्यक्षमता पर इसका विषम प्रभाव पड़ता है । फलतः समाज में सङ्घर्ष उत्पन्न हो जाता है । इससे समाज व राष्ट्र दोनों को ही क्षति होती है । आखिर कब तक श्रमिक वर्ग का शोषण किया जा सकता है ? अतएव इस प्रकार के उद्योगों में एक न्यूनतम मजदूरी देना अनिवार्य करने से प्रत्येक श्रमिक को उचित मजदूरी (Fair Wages) मिल जाती है । मजदूरी की न्यूनतम सीमा रखी जाती है जिसमें एक श्रमिक अपना एवं अपने बाल-बच्चों का साधारण जीवन-स्तर पर जीवनयापन कर सके ।

न्यूनतम मजदूरी के बीज विश्व में सर्वप्रथम सन् १८९९ में पोप लुई १३वें द्वारा निर्गमित मेनिफेस्टो के द्वारा बोये गये, जिसमें उसने घोषणा की थी—"**आत्म संरक्षण वास्तव में हर किसी का कर्त्तव्य है और इसको पूरा न करना अपराध है ।**"[1] पोप के इस कथन का प्रभाव सारे विश्व पर पड़ा और सन् १९२८ में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन ने एक अभिसमय (Convention) स्वीकार किया । इसके अनुसार इस अभिसमय का समर्थन करने वाले अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सङ्गठन (I. L. O.) के प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के लिये यह आवश्यक हो गया कि वह ऐसी व्यवस्था करे जिससे उसके द्वारा नियोजित श्रमिकों को न्यूनतम मजदूरी प्राप्त हो सके । भारतवर्ष में इस सम्बन्ध में न्यूनतम मजदूरी अधिनियम, १९४८ पास किया गया है । इस अधिनियम के अन्तर्गत केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को यह अधिकार प्रदान किया गया है कि वे न्यूनतम मजदूरी जिन उद्योगों में चाहें नियत करदें । इस अधिनियम के अन्तर्गत विभिन्न उद्योगों के लिए समय के अनुसार दिया जाने वाला न्यूनतम् पारिश्रमिक, कार्य की मात्रा के अनुसार दिया जाने वाला न्यूनतम् पारिश्रमिक तथा अतिरिक्त किये गये कार्य के लिये न्यूनतम पारिश्रमिक की दरें नियत की गई हैं । इस अधिनियम में १९५०, १९५१, १९५७ एवं १९५९ में आवश्यक संशोधन किये गए तथा कारखानों, खानों, गोदी, तेल-क्षेत्रों व बागानों आदि के अतिरिक्त कृषि में संलग्न श्रमिकों के लिए भी न्यूनतम् मजदूरी दर निर्धारित की गई । इस प्रकार जिन उद्योगों में यह अधिनियम लागू हुआ है, उनके मजदूरों को काफी लाभ पहुँचा है, उनकी मजदूरी बढ़ गई है । किन्तु अब भी ऐसे बहुत से उद्योग हैं जिनमें यह अधिनियम लागू होना शेष है । हमारी राय में न्यूनतम् मजदूरी का निर्धारण करने के लिए स्थायी व्यवस्था का होना नितान्त आवश्यक है । यह खुशी का विषय है कि केन्द्रीय सलाहकार परिषद् (Central Advisory Board) ने सारे देश में एक सी मजदूरी की दरें निर्धारित करने की सिफारिश की है ।

(९) 'घन्टे के लिए घण्टा' अथवा '१०० प्रतिशत अधिलाभांश पद्धति' (Bonus Plan)—

इस योजना की विशेषता यह है कि मजदूरों को उपार्जित अधिलाभांश का १०० प्रतिशत मिलता है । इस तरह इसकी तुलना सीधे इकाई-दर-पद्धति से हो सकती है और यह हैल्से योजना से भिन्न है, जिसमें मजदूरों को बचाये हुए समय का कुछ हिस्सा ही मिलता है । यह इकाई-दर से इस बात में भिन्न है कि उसमें ये माप उत्पादन की प्रति इकाई एवं समय के हिसाब से प्रकट किये जाते हैं, धन के नहीं । बचाए हुए समय को प्रति घण्टा दर के पूरे मान से गुणा किया जाता है । परिणाम यह होता है कि तेज काम करने वाले मजदूर को गारण्टी की हुई प्रति घण्टा मजदूरी के अतिरिक्त उतनी राशि और मिलती है जो धीरे काम करने वाले, प्रमाप मजदूर को उतना ही काम करने पर अन्त में मिली होती है, अतः यह योजना सीधी इकाई-दर

[1] "Self-preservation is really the duty of one and all and it is a crime not to fulfil it."—**Pope.**

वाले और प्रति घण्टा गारन्टी की हुई दर (जो चालू का हिसाब दिये बिना ही दी जाती है) का जोड़ है। प्रमाप चाल हो जाने के बाद कुल मजदूरी उतनी ही होती है, जितनी सीधी इकाई दर प्रयुक्त होने पर होती है।

उदाहरण के लिये, यदि प्रति घण्टा दर १ रु० है, समय ८ घण्टे है, प्रति इकाई प्रमाप समय १ घण्टा है और पूरी की हुई इकाइयों की संख्या १० है तो कुल कमाई होगी :—

=समय × प्रति घण्टा दर + (बचाया हुआ समय × प्रति घण्टा दर)

=८ × १ रु० + २ × १ रु०

=८ + २ = १० रु०

इस योजना में एक बार प्रमाप या शून्य प्रतिशत बोनस बिन्दु आ जाने पर एक नियत (Constant) इकाई लागत हो जाती है; जिससे लागत का हिसाब लगाने और बजट तथा औचित्य एवं न्याय की दृष्टि से यह सर्वोत्तम प्रणाली है। यही नहीं, इस योजना के अन्तर्गत नियन्त्रणों एवं दक्षता मापक साधनों की उन्नति आसानी से हो सकती है।

(१०) लाभों में हिस्सा तथा (११) सहभागिता (Profit Sharing and Co-Partnership)–
इन दोनों का वर्णन अगले अध्याय के अन्तर्गत किया गया है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. भृत्ति भुगतान की समय दर पद्धति तथा कार्य दर पद्धति का अन्तर-भेद समझाइए, जिसमें उनके विशिष्ट लक्षणों तथा अपेक्षाकृत गुण व दोषों का उल्लेख हो। (आगरा, १९७२)

२. समयानुसार मजदूरी भुगतान पद्धति के गुण तथा सीमाओं की विवेचना कीजिये। कार्यानुसार पद्धति से आप इसकी तुलना कैसे करेंगे? (दिल्ली, १९७२)

३. एक अच्छी भृत्ति पद्धति की क्या विशेषतायें हैं? हैल्से तथा रोवन प्रब्याजि पद्धति का संक्षेप में वर्णन कीजिये तथा दोनों की तुलना कीजिये। (आगरा, १९६७ एवं १९७१)

४. एक सन्तोषजनक भृत्ति पद्धति की मुख्य विशेषताएँ क्या हैं? आप किस पद्धति को सर्वोत्तम समझते हैं और क्यों? (लखनऊ, १९७०)
[संकेत—श्रेष्ठ (आदर्श) मजदूरी पद्धति की विशेषताय; हैल्से पद्धति का वर्णन; रोवन पद्धति का वर्णन; हैल्से तथा रोवन पद्धतियों की तुलना।]

५. मजदूरी देने की विभिन्न प्रणालियों का संक्षेप में वर्णन कीजिये। प्रत्येक के गुण-दोषों की विवेचना कीजिये। (जोधपुर, १९७२; इन्दौर, १९६७)

६. प्रेरणात्मक मजदूरी पद्धति से आप क्या समझते हैं? विभिन्न प्रब्याजि योजनाओं को बताइये। एक श्रेष्ठ प्रेरणात्मक पद्धति की प्रमुख आवश्यकताओं की विवेचना कीजिये। (रांची, १९७०)

७. मजदूरी देने की विभिन्न प्रेरणात्मक पद्धतियों के नाम बताइये और उनमें से किन्हीं दो पद्धतियों का उपयुक्त उदाहरण सहित सविस्तार वर्णन कीजिये। (आगरा, १९७०)

८. मजदूरी के भुगतान की 'समयानुसार' तथा 'कार्यानुसार' प्रणालियों के लाभ और हानियों को बताइये। (जोधपुर, १९७१)

१२

लाभ-विभाजन तथा सहभागिता
(Profit Sharing and Co-Partnership)

लाभ-विभाजन पद्धति

लाभ-विभाजन पद्धति का उद्‌गम—

पिछले अध्याय के अन्तर्गत वर्णित विभिन्न मजदूरी भुगतान पद्धतियों में किसी न किसी प्रकार के दोष रहने के कारण उनमें या तो श्रमिकों का अथवा नियोक्ताओं का विरोध होता है। इस कारण उपर्युक्त दोषों का निवारण करने के लिये इस प्रणाली का प्रयोग सर्वप्रथम अमेरिका की मेट्रोपोलिटन गैस कं० में किया गया। कुछ लेखकों के अनुसार इसका सर्वप्रथम प्रयोग फ्रांस में हुआ। वहाँ के गृह-चित्रकार श्री एन० लेकलेयर ने यह अनुमान लगाया कि यदि लाभ का कुछ भाग श्रमिकों को भी दिया जाय तो कच्चे माल एवं औजारों के प्रयोग में मितव्ययिता होगी, जिससे उसको ३,००० पौण्ड की बचत होगी। साधारणतः यह देखा जाता है कि औद्योगिक कलह का मूल कारण कम मजदूरी तथा नियोक्ताओं को मिलने वाले असीम लाभ के आस-पास केन्द्रित होता है, क्योंकि उद्योग का लाभ पूँजी व श्रम दोनों के संयुक्त उपयोग से होता है, फिर वह पूँजीपतियों को ही क्यों मिले ?

आशय—

लाभ-विभाजन पद्धति के अन्तर्गत श्रमिकों को उनकी निश्चित मजदूरी के अतिरिक्त लाभों में से भी निश्चित भाग दिया जाता है। इसी कारण इसे **'लाभ विभाजन पद्धति'** कहते हैं।

परिभाषायें—

श्री एच० आर० सीगर (H. R. Seager) के अनुसार, "यह एक समझौता है जिसके अनुसार श्रमिक को लाभ का एक हिस्सा मिलता है, जो लाभ होने से पूर्व ही निश्चित कर दिया जाता है।"[1]

श्री रॉबर्ट के अनुसार, "लाभ-विभाजन एक मुक्त समझौता है, जोकि लिखित अथवा मौखिक हो सकता है और जिसके अनुसार नियुक्त श्रमिकों को उनकी साधारण मजदूरी के अतिरिक्त लाभ का हिस्सा प्राप्त करने का अधिकार देता है, किन्तु हानि का नहीं।"

१८८९ में पेरिस के लाभ-विभाजन के सम्बन्ध में हुये **अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन** ने लाभ-विभाजन की परिभाषा इस प्रकार दी थी—"वह समझौता (औपचारिक या अनौपचारिक) जो स्वेच्छा से किया गया हो और जिसके अनुसार कर्मचारियों को लाभ होने से पूर्व निश्चित लाभ का हिस्सा मिलता हो।"

आई० एल० ओ० (I. L. O.) की १९४८ की रिपोर्ट के अनुसार—"लाभ-विभाजन औद्योगिक पारिश्रमिक की वह विधि है जिसके अन्तर्गत संस्थान का नियोक्ता अपने कर्मचारियों को उनकी सामान्य मजदूरी के अतिरिक्त संस्थान के शुद्ध लाभ में भी अंश देने का वचन देता है।"[2]

---

1. H. R. Seager—*Principles of Economics*, p. 581.
2. See footnote on next page.

डॉ० किम्बाल एवं किम्बाल के शब्दों में, "लाभ-विभाजन एक ऐसी योजना है जिसके अनुसार लाभ का एक निश्चित प्रतिशत, निश्चित समयान्तर से साधारणतया वार्षिक अथवा अर्द्ध-वार्षिक, उस अवधि में लगे हुए समस्त श्रमिकों को एक निश्चित अनुपात में बाँटा जाता है।"

सारांश में, उपरोक्त पद्धति के अनुसार श्रमिकों को साधारण मजदूरी के अतिरिक्त लाभ का एक भाग भी दिया जाता है।

विशेषतायें—

इस पद्धति की विशेषतायें निम्न हैं :—(१) श्रमिकों को दिया जाने वाला लाभ का अनुपात पहले से ही निश्चित कर लिया जाता है और उसमें बाद में नियोक्ता परिवर्तन नहीं कर सकता है। (२) लाभ मजदूरी के अलावा प्रेरणा देने के लिये दिया जाता है। (३) यह श्रमिकों तथा नियोक्ताओं में हुये किसी निश्चित समझौते के अनुसार ही दिया जाता है। (४) इस लाभ का ज्ञान समस्त पाने वाले श्रमिकों को होता है। (५) यह लाभ केवल श्रमिकों को ही दिया जाता है, प्रबन्धकर्त्ता वर्ग को नहीं। (६) इस लाभ का भाग औद्योगिक इकाई के शुद्ध लाभ अथवा लाभांश पर आधारित होता है। (७) श्रमिकों को यह लाभ नकदी (Cash) के रूप में दिया जा सकता है अथवा उनके लाभ के हिस्से को प्रॉवीडेण्ट फण्ड (Provident Fund) में जमा कर दिया जा सकता है। यही नहीं, लाभ का विभाजन अंशों एवं स्कन्धों के वितरण के रूप में भी हो सकता है। (८) लाभ-विभाजन योजना में लाभ-विभाजन करते समय श्रमिकों की व्यक्तिगत योग्यता पर विचार नहीं किया जाता है।

लाभ-विभाजन के प्रारूप (Forms of Profit-Sharing)—

लाभ-विभाजन पद्धति के विभिन्न प्रारूप होते हैं और कम्पनी इन विभिन्न प्रारूपों में से अपनी सुविधानुसार किसी एक को अपना सकती है। ये विभिन्न प्रारूप निम्न हैं :—(१) **उद्योगों के आधार पर** (Industry Basis)—इस प्रणाली में एक ही उद्योग की विभिन्न इकाइयों के अतिरिक्त लाभ को एक ही स्थान पर एकत्रित कर लिया जाता है और बाद में उस लाभ को उद्योग विशेष के समस्त श्रमिकों में समान रूप से बाँट दिया जाता है। (२) **स्थानीय आधार पर** (Locality Basis)—इसमें एक ही स्थान पर स्थापित समस्त उद्योग अपने लाभों को एकत्रित करके श्रमिकों के लाभों का लाभांश निकालते हैं, जिससे उस स्थान के समस्त उद्योगों के श्रमिकों को समान रूप से लाभ वितरित किया जा सके। (३) **उद्योग एवं स्थानीय आधार पर** (Industry-Cum-Locality Basis)—इस पद्धति में एक ही स्थान के एक विशेष उद्योग के लाभों को एकत्रित करके श्रमिकों का लाभांश निकाल कर समान रूप से श्रमिकों के बीच में वितरण किया जाता है। उदाहरणार्थ; अहमदाबाद के सूती वस्त्र के निर्माता इस प्रणाली को अपना सकते हैं। (४) **इकाई के आधार पर** (Unit Basis)—इस पद्धति में उद्योग की विभिन्न इकाइयों का लाभ अलग-अलग निकालकर उन इकाइयों के श्रमिकों को बाँटा जाता है। (५) **विभाग के आधार पर** (Department Basis)—इसके अनुसार कभी-कभी किसी औद्योगिक इकाई के विभिन्न विभागों का लाभ अलग-अलग निकाल कर उन विभागों के श्रमिकों को बाँट दिया जाता है। (६) **व्यक्ति के आधार पर** (Individual Basis)—इस पद्धति में प्रत्येक श्रमिक को कार्यकुशलता के आधार पर निश्चित लाभ दिया जाता है। इसमें श्रमिक के परिश्रम और पारिश्रमिक में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

"Profit-sharing is a method of industrial remuneration under which an employer undertakes to pay his employees a share in the net profits of the enterprise, in addition to their regular wages."—*I. L. O. Wages (a) General Report*, 1948.

लाभ-विभाजन योजना के लाभ एवं दोष (Advantages and Dis-advantages of Profit Sharing Scheme)—

लाभ-विभाजन के लाभ—(१) श्रमिकों में उत्साह एवं वफादारी—इसमें श्रमिकों में कार्य करने का उत्साह उत्पन्न होता है और वे उद्योग के प्रति पूर्णरूप से वफादार रहते हैं। **(२) उत्पादन की मात्रा एवं गुण में वृद्धि—**श्रमिक लाभ के भाग लेने के लिये अधिकतम परिश्रम करने के साथ-साथ इस बात के लिये भी प्रयत्नशील रहता है कि वस्तु-निर्माण अन्य कारखानों के मुकाबले में उत्तम क़िस्म का हो, ताकि प्रतिस्पर्धा का सफल मुकाबला किया जा सके। अतएव उत्पादन की मात्रा में वृद्धि के साथ-साथ उसके गुणों में भी सुधार होने लगता है। **(३) मित-व्ययिता—**इसमें श्रमिक उद्योग के लाभ बढ़ाने में अपना भी हित समझता है। अतएव वह कच्चे माल एवं यन्त्रों का प्रयोग अत्यन्त सावधानी के साथ करता है, जिससे उसका अपव्यय न हो। इससे पर्याप्त बचत होती है। **(४) औद्योगिक शान्ति—**दोनों का एक ही लक्ष्य होने के कारण श्रम एवं पूँजी में संघर्ष होने के स्थान पर उनके आपसी सम्बन्धों में सुधार होता है, जिनसे औद्योगिक शान्ति स्थापित होती है। **(५) निरीक्षण आवश्यक नहीं—**श्रमिकों का निजी हित होने के कारण वे स्वयं ही ईमानदारी से कार्य करते हैं, जिससे निरीक्षण की आवश्यकता नहीं रहती। **(६) श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि—**श्रमिक पूर्ण मेहनत, तत्परता एवं लगन से कार्य करते हैं जिससे उनकी कार्यकुशलता में आश्चर्यजनक वृद्धि हो जाती है। अधिक आय के कारण उनका जीवन-स्तर भी उठ जाता है। **(७) नौकरी में स्थायित्व—**श्रमिकों की नौकरी में स्थायित्व आ जाता है, क्योंकि लाभ पाने का लालसा से वे बीच में नौकरी नहीं छोड़ते और जहाँ पर लाभ की राशि श्रमिकों को नकद (Cash) न देते हुए एक निधि (Reserve) में जमा की जाती है वहाँ पर यह स्थायित्व दीर्घकालीन हो जाता है। यही नहीं, उनकी उपस्थिति में भी स्थिरता आ जाती है। **(८) श्रमिकों के व्यक्तित्व का विकास—**श्रमिको में आत्म-सम्मान की भावना जाग्रत होती है तथा उनके व्यक्तित्व का विकास होता है। **(९) राष्ट्र को लाभ—**औद्योगिक शान्ति स्थापित होने, श्रमिकों के जीवन-स्तर में वृद्धि होने तथा राष्ट्रीय उत्पादन मे वृद्धि होने से राष्ट्र को भी लाभ होता है। **(१०) उपभोक्ताओं को लाभ—**उपभोक्ताओं को समय पर उत्तम किस्म का माल उचित भावों पर मिल जाता है।

लाभ-विभाजन के दोष एवं कठिनाइयाँ—(१) प्रयास और पुरस्कार में प्रत्यक्ष सम्बन्ध का अभाव—लाभ-विभाजन की इस पद्धति के अन्तर्गत श्रमिक के प्रयास और पुरस्कार (Effort and Reward) में कोई प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं रहता। पुरस्कार श्रमिक की व्यक्तिगत दक्षता के अनुसार न दिया जाकर, सब श्रमिकों को सामूहिक रूप से दिया जाता है। अतएव श्रमिकों को अधिक प्रेरणा नहीं मिलती है। **(२) पुरस्कार मिलने में देरी—**लाभ का वितरण प्राय: वर्ष के अन्त में (जबकि खाते तैयार होते हैं) होता है और वह भी उस समय जबकि उद्योग का लाभ होता है। भला बेचारे श्रमिक इतने लम्बे समय तक कैसे इन्तजार कर सकते हैं? **(३) पुरस्कार की अनिश्चितता—**चूँकि पुरस्कार केवल लाभों में से ही दिया जाता है, अतएव इसका मिलना पूर्ण रूप से अनिश्चित ही रहता है। हो सकता है कि वर्ष के अन्त में हानि हो जाय अथवा लाभ केवल नाममात्र का ही हो। ऐसी अवस्था में श्रमिकों का उत्साह ठण्डा पड़ जाता है और वे भविष्य में अधिक क्रियाशील नहीं रहते। **(४) श्रमिकों की व्यक्तिगत कुशलता पर ध्यान नहीं दिया जाता—**लाभ-विभाजन व्यक्तिगत कुशलता के आधार पर नहीं होता। कुशल श्रमिक अधिक कार्य करने की ओर प्रेरित नहीं होता, क्योंकि लाभ सब श्रमिकों को सामूहिक रूप से दिया जाता है।

डॉ० शैडवेल के शब्दों में, "यह व्यक्तियों में उनकी क्षमता के अनुसार अन्तर नहीं करता।"[1] **(५) उद्योग परिवर्तन में कठिनाई**—श्रमिकों का लाभ प्रॉवीडेण्ट फण्ड की योजना में जमा होने के कारण वे एक उद्योग से दूसरे उद्योग में, एक औद्योगिक इकाई से दूसरी औद्योगिक इकाई में तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर सरलता से नहीं जा सकते हैं। **(६) उद्योगपतियों द्वारा हिसाब में गड़बड़ करना**—कभी-कभी श्रमिकों को लाभ न देने की इच्छा से उद्योगपति हिसाब में गड़-बड़ कर देते हैं, जिससे श्रमिक की मेहनत बेकार हो जाती है। **(७) श्रमिकों के स्वाभिमान पर चोट**—उद्योगपति लाभ-विभाजन पद्धति को अपने 'कृपालु हृदय की उदारता' अथवा एक प्रकार का 'दान' समझते हैं। उनके इस विचार से श्रमिकों की प्रतिष्ठा एवं स्वाभिमान को चोट पहुँचती है। **(८) श्रम-संघों द्वारा विरोध**—श्रम-सङ्घ इस पद्धति का विरोध करते हैं, क्योंकि (क) इसके द्वारा श्रमिकों को उद्योगपति के प्रति स्वामिभक्त रहना पड़ता है; (ख) विभिन्न कम्पनियों में लाभ की दर में अन्तर होने से श्रमिकों के रहन-सहन में विभिन्नता आ जाती है, जिससे उनकी एकता को क्षति पहुँचती है और इस प्रकार श्रमिक सङ्घों का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। **(९) यह अनिवार्य योजना नहीं**—लाभ-विभाजन योजना उद्योगपति की स्वेच्छा पर निर्भर है, श्रमिक इसको वैधानिक रूप से कार्यान्वित नहीं करा सकते। **(१०) प्रबन्धकर्ताओं द्वारा विरोध**—प्रबन्ध-कर्त्ताओं का भी श्रमिक की भाँति उत्पादन में वृद्धि करने में पूरा-पूरा हाथ होता है, फिर भी उनको लाभ-विभाजन योजना से वंचित रखा जाता है, अतएव वे सदैव इस योजना का विरोध करते हैं। **(११) नियोक्ताओं का विरोध**—नियोक्ता इस योजना का इस आधार पर विरोध करते हैं कि श्रमिक वर्ग केवल लाभों में ही हिस्सा बँटाता है, हानियों में नहीं, अतएव उनकी सम्मति में यह योजना न्यायोचित नहीं है। **(१२) श्रमिकों में असन्तोष**—श्रमिक इस प्रकार के लाभ को प्राप्त करना अपना अधिकार समझते हैं। अवसाद काल में जब उन्हें कम लाभ मिलता है तो असन्तोष प्रकट करते हैं और कभी-कभी असन्तोष की भावना हड़ताल का रूप धारण कर लेती है। **(१३) अवैज्ञानिक आधार**—लाभ-विभाजन करने का कोई वैज्ञानिक आधार नहीं होता। यह तो उद्योगपतियों द्वारा मनमाने ढङ्ग से निर्धारित होता है।

श्रम की सहभागिता पद्धति
(Labour Co-partnership System)

लाभ-विभाजन योजना के दोषों को दूर करने के लिए श्रम की सहभागिता नाम क योजना का प्रादुर्भाव हुआ। इस योजना के अनुसार श्रमिक अपने उद्योग के सहभागी (Co-partners) बन जाते हैं। इस योजना में श्रमिकों को उद्योग के काम में भाग लेने के अतिरिक्त पूँजी तथा प्रबन्ध में भी भाग लेने का अधिकार मिल जाता है। श्री **चेपमैन** के शब्दों में, "सह-भागिता में लाभ-विभाजन तथा नियन्त्रण दोनों का समावेश होता है।"[2]

विशेषताएँ—

(१) श्रमिकों को मजदूरी के अतिरिक्त उद्योग के शुद्ध लाभ में से भी हिस्सा लेने का अधिकार होता है। (२) मजदूरी के अलावा श्रमिक को जो हिस्सा लाभ के रूप में मिलता है उसको वह उद्योग में पूँजी के रूप में लगा देता है। (३) श्रमिकों को प्रबन्ध में हिस्सा लेने का अधिकार मिल जाता है। यह अधिकार निम्न प्रकार से मिलता है:—(अ) अंश पूँजी क्रय करके—

---

[1] "........It does not differentiate between individuals according to capacity."—**Dr. Shadwell.**

[2] "Co-partnership implies both profit-sharing and control-sharing."
—**Chapman** : *Outline of Political Econo my.*

अन्य अंशधारियों की तरह अधिकार मिल जाते हैं। (ब) श्रमिक सहभागिता समिति (Co-partnership Committee) बनाकर—उद्योग के अतिरिक्त प्रबन्ध में भाग लेते हैं।

सहभागिता के लाभ एवं दोष (Merits and Demerits of Co-partnership)—

लाभ—(१) इस योजना के कारण श्रमिकों को तीन लाभ होते हैं :—(अ) श्रमिक के रूप में वेतन मिलता है। (ब) अंशधारी के रूप में लाभांश प्राप्त होता है। (स) सहभागी होने के आधार पर प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार मिलता है। (२) श्रमिक वर्ग की प्रेरणा उद्योग को सफल बनाने में रहती है। इसलिये वे बड़े उत्साह एवं रुचि के साथ कार्य करते हैं। अतः निरीक्षण व्यय भी बहुत कम हो जाता है। (३) श्रमिकों में आत्म-सम्मान की भावना उत्पन्न होती है। वह अपने को केवल श्रमिक ही नहीं बल्कि स्वामी भी समझते हैं, जिससे समाज में उनको प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। (४) श्रमिकों तथा मिल-मालिकों में सहयोग की भावना उत्पन्न होती है। (५) श्रमिकों को प्रबन्ध में भाग लेने का अधिकार मिलता है, जिससे कि श्रम तथा पूँजी के झगड़े सुगमता से निबट जाते हैं। (६) प्रबन्ध में भाग लेने के कारण श्रमिक अपना उत्तरदायित्व भी समझने लगते हैं। (७) इसके द्वारा उद्योग में 'जनतन्त्रीय-पद्धति' को लाने का प्रयत्न किया जाता है। (८) श्रमिकों के लाभ का भाग उनको नकद न देकर अंशों में दिया जाता है, जिससे एक ओर तो उद्योग सुदृढ़ होता है तथा दूसरी ओर श्रमिकों में धन बचाने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहन मिलता है।

हानियाँ—(१) यह योजना केवल संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों में ही कार्यान्वित की जा सकती है, साझेदारी अथवा एकल व्यापार में नहीं। (२) श्रमिक अशिक्षित होने के कारण उद्योग के प्रबन्ध में अनावश्यक रूप से हस्तक्षेप करने लगते हैं, जिससे उद्योग संचालन में बाधाएँ उत्पन्न हो जाती हैं। (३) उनके लाभ का सम्पूर्ण हिस्सा उद्योग के अंशों में लगा हुआ होने के कारण उद्योग की असफलता से श्रमिकों का सारा लाभ मारा जा सकता है। (४) श्रमिक अल्पमत में होने के कारण उद्योग पर मुश्किल से ही प्रभावशाली नियन्त्रण कर सकते हैं। यदि मान लीजिये कि वे नियन्त्रण प्राप्त कर भी लें तो भी उनमें तान्त्रिक एवं व्यापारिक कुशलता न होने से उद्योग असफल ही होगा।[1] (५) इस प्रकार की किसी भी योजना से श्रमिक-सङ्घों के अस्तित्व को खतरा है। अतएव वे इस योजना का किसी न किसी बहाने विरोध करते हैं। (६) श्रमिकों का लाभ फिर से विनियोग में पहुँच जाता है। अभाग्यवश यदि उद्योग को हानि का सामना करना पड़ जाय अथवा उसको बन्द होना पड़े तो श्रमिकों की पूँजी खतरे में पड़ जाती है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. 'लाभ-अंशभागिता योजना' के पक्ष में तर्कों का उल्लेख कीजिए। (जोधपुर, १९७१)
२. अधिलाभांश, लाभ सहभाजन और सहभागिता के अन्तर को स्पष्ट कीजिये। उनकी विशेषताओं का उल्लेख कीजिये। (इन्दौर, १९७०)
३. लाभ विभाजन पद्धति पर एक संक्षिप्त एवं बुद्धिमत्तापूर्ण टिप्पणी लिखिये। (विक्रम, १९६९)
४. लाभ-सहभागिता योजना सहभागिता से किस प्रकार भिन्न है। लाभ-भागिता योजना के गुण-दोषों की विवेचना कीजिये। (इन्दौर, १९६८; विक्रम, १९६६; आगरा, १९५६ एवं १९६९)

---

[1] "There is nothing in the democratic principle that in itself will take the place of expert knowledge, technical skill and trained industrial vision."
—Edward A. Fidhene.

२३

औद्योगिक उत्पादकता

(Industrial Productivity)

प्रारम्भिक—औद्योगिक उत्पादकता का महत्त्व

आधुनिक औद्योगिक जगत में 'उत्पादकता सम्बन्धी विचारधारा' एक नवीनतम् विकास है, जिसका उद्गम विज्ञान तथा उद्योग के पारस्परिक गठबन्धन के परिणामस्वरूप ही हुआ है। विश्व के किसी भी कोने में निर्धनता का निवास समूची धरती की समृद्धि के लिये भीषण खतरा है। यह भावना अब विकसित एवं अविकसित सभी देशों में समान रूप से घर कर रही है। यही कारण है कि आज सभी देशों में आर्थिक प्रगति के प्राथमिक उपाय के रूप में 'उत्पादकता' पर अधिकतम बल दिया जा रहा है। अविकसित एवं अल्पविकसित देशों में तो आर्थिक प्रगति के लिये 'उत्पादकता' रामवाण औषधि के तुल्य बन गयी है। इसका कारण यह है कि एक अविकसित एवं अल्पविकसित अर्थ-व्यवस्था की प्रमुख विशेषता होती है—'साधनों की सीमितता'। उन सीमित साधनों से अधिकतम उत्पत्ति कैसे हो—यही उत्पादकता का सार है। यही कारण है कि 'उत्पादकता' आधुनिक काल का ग्राही शब्द (catch word) बन गया है और शायद यह न्यायसंगत भी है।

उत्पादकता का अर्थ एवं परिभाषा
(Meaning and Definition of Productivity)

उत्पादकता का अर्थ—

'उत्पादकता' एक ऐसा शब्द है, जिसका विस्तृत विश्लेषण तथा विविध रूपों में उल्लेख किया गया है। राजनीतिज्ञ इसे उत्पादकता के नाम से पुकारते हैं, उद्योगपति औद्योगिक क्षमता की संज्ञा प्रदान करते हैं, औद्योगिक अभियन्ता इसे एक औद्योगिक इकाई द्वारा निष्पादित कार्य का मापदण्ड कहकर पुकारते हैं, प्रबन्ध विशेषज्ञों ने इसे आर्थिक प्रगति की तुलनात्मक दर कहकर सम्बोधित किया है और अर्थशास्त्री इसे आर्थिक परिवर्तनों के माप का दण्ड (yard stick) मानते हैं। इस प्रकार अकेले शब्द का इतने अधिक रूपों में उल्लेख होना इस बात को प्रदर्शित करता है कि उत्पादकता एक अकेली विचारधारा न होकर विभिन्न विचारों का चक्रित मिश्रण है।

वाणिज्य के प्रायः सभी छात्र यह बात भली प्रकार जानते हैं कि किसी भी वस्तु के उत्पादन में भूमि, श्रम, पूँजी, साहस और व्यवस्था इन पाँचों साधनों का सहयोग होता है। इन्हें उत्पत्ति के साधनों के नाम से सम्बोधित करते हैं। बिना इन पाँचों उत्पत्ति के साधनों के उत्पादन सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण उत्पादन में प्रत्येक साधन का कुछ न कुछ भाग सम्मिलित होना स्वाभाविक ही है। उत्पादन में उपरोक्त प्रत्येक साधन का जो अनुपात होता है उसे ही उस साधन की 'उत्पादकता' कहते हैं।

उत्पादकता की परिभाषायें—

(१) **श्री एल० टेपर** (L. Taper) के अनुसार, "कुछ विद्वान उत्पादकता को सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के कार्य से सम्बन्धित करते हैं, जबकि अन्य विद्वान निजी उद्योगों अथवा कारखानों के सन्दर्भ में इस पर विचार करते हैं..........इन सभी विचारों की पृष्ठभूमि में व्यवस्थापकों की यह इच्छा छिपी हुई है कि उद्योग के आधार—मानव, मशीन एवं माल का पूर्णतम् एवं कुशलतम प्रयोग किया जाय।"

(२) **श्री वी० के० आर० मेनन** के अनुसार, "उत्पादकता का उद्देश्य ऐसी किस्म की अधिकतम साधनों और सेवाओं, जो उपभोक्ताओं द्वारा सबसे अधिक वांछित है, पर जितना अधिक सम्भव हो न्यूनतम सम्भावित लागत पर प्राप्त करने के लिये साधनों का अधिकतम् उपयोग है।"[1]

(३) **एम० बनर्जी** के अनुसार, "उत्पादकता का सामान्य अर्थ वस्तुओं एवं सेवाओं के रूप में सम्पत्ति के उत्पादन तथा उक्त उत्पादन में साधनों के उपयोग के अनुपात से है।"[2]

(४) **लेनिन** के शब्दों में, "श्रम की उत्पादकता औद्योगिक समृद्धि की सूचक है।"

(५) **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्गठन** (I. L. O.) के अनुसार, "उत्पादकता से आशय समूह, समाज अथवा देश के प्रसाधनों के साथ समस्त उपलब्ध वस्तुओं एवं सेवाओं के अनुपात से है। इसमें मानव, मशीन, माल, द्रव्य, शक्ति तथा भूमि आदि समस्त उपलब्ध साधनों का पूर्ण, उचित एवं कुशल उपयोग निहित है। यह प्रत्येक क्षेत्र में प्रत्येक प्रकार के अपव्यय के विरुद्ध संगठित प्रयत्न है।"

(६) **भारत के भूतपूर्व श्रम, नियोजन एवं रोजगार मन्त्री श्री जी० एल० नन्दा** के अनुसार, "उत्पादकता प्रगति का एक पर्याय है। हमारे लिये यह केवल प्रगति का पर्याय न होकर जीवन का प्रश्न है।"

निष्कर्ष—उपरोक्त परिभाषाओं का अध्ययन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि उत्पादकता से तात्पर्य उत्पादन के विभिन्न साधनों के बीच ऐसा सन्तुलन स्थापित करना है, जिससे कि न्यूनतम् प्रयत्न से अधिकतम् उत्पादन प्राप्त किया जा सके। इसमें उत्तम उत्पादन तकनीक का उपयोग किया जाना चाहिये।

वैज्ञानिक उत्पादकता के उद्देश्य
(Objects of Scientific Productivity)

वैज्ञानिक उत्पादकता से निम्न उद्देश्यों की प्राप्ति हो सकती है :—(i) औद्योगिक प्रगति; (ii) रहन-सहन के स्तर का ऊँचा उठना; (iii) मजदूरी में वृद्धि होना; (iv) श्रम-कल्याण के कार्यों में वृद्धि होना; (v) उत्पादन में तेजी से वृद्धि होना; (vi) श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि होना; (vii) बाजार का विस्तार होना; (viii) अनुसन्धान सम्बन्धी कार्यों का विकास होना; (ix) उत्पादित माल के नमूनों का गिरना; तथा (x) अधिक रोजगार मिलना।

---

[1] "It aims at the maximum utilisation of resources for yielding a many goods and services as possible, of the kinds most wanted by consumers, at the lowest possible costs."—**V. K. R. Manon.**

[2] "The word 'Productivity' usually means the ratio between the output of wealth in the form of goods and services and input of resources used up in that output."—**M. Benerjee.**

पूँजी की उत्पादकता ज्ञात करने का सूत्र

उत्पादकता ज्ञात करने के लिये निम्न सूत्र (Formula) का प्रयोग किया जा सकता है :—

(i) $\text{उत्पादकता} = \dfrac{\text{कुल उत्पादन}}{\text{उत्पत्ति के साधन का अंशदान}}$

(ii) $\text{पूँजी की उत्पादकता} = \dfrac{\text{सम्पूर्ण उत्पादन}}{\text{विनियोजित पूँजी}}$

(iii) $\text{भूमि की उत्पादकता} = \dfrac{\text{कुल उत्पादन}}{\text{प्रयुक्त भूमि का क्षेत्रफल}}$

(iv) $\text{श्रम की उत्पादकता} = \dfrac{\text{कुल उत्पादन}}{\text{श्रम घण्टों की संख्या}}$

उत्पादकता के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तिमूलक धारणायें एवं उनका समाधान

(१) **उत्पादकता बनाम अधिक कार्यभार** (Productivity *Vs.* Greater Work-load)—श्रमिकों द्वारा उत्पादकता का अर्थ अधिक कार्य भार एवं कठोर परिश्रम से लगाया जाता है। उनके अनुसार उत्पादकता की आड़ में मिल-मालिक उनसे अधिक कार्य लेकर उनका शोषण करना चाहते हैं, ताकि उनके लाभों में वृद्धि हो जाय। वास्तव में यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है। उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि करता है, जिससे उन्हें कम थकान हो, कार्य की दशाओं में सुधार हो, कार्य-विधि सरलतम् हो तथा मजदूरी में वृद्धि हो।

(२) **उत्पादकता बनाम पूँजीपतियों के लाभों में वृद्धि** (Productivity *Vs.* Increase in Profits)—उत्पादकता के सम्बन्ध में दूसरी भ्रान्ति यह है कि उत्पादकता में वृद्धि होने से केवल पूँजीपतियों के लाभों में ही वृद्धि होती है। यह स्पष्ट है कि इस प्रकार की भ्रान्ति एक पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था वाले समाज में पनप सकती है। यदि उद्योग के विभिन्न संघटकों में आपसी अधिकारों, कर्त्तव्यों, उत्तरदायित्वों के विषय में उचित ज्ञान हो जाय तो ऐसी भ्रान्ति का सदैव के लिये उन्मूलन हो सकता है। वृद्धित उत्पादकता का उद्देश्य 'खेल' में भाग लेने वाले सभी पक्षकारों को इसका लाभ देना है। यहाँ तक कि उपभोक्ता जोकि उद्योग के उत्पादन पहलू से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्धित नहीं हैं, उनको भी उत्पाकता में वृद्धि होने से लाभ होता है। संक्षेप में, उत्पादकता में वृद्धि होने का लाभ मिल-मालिकों, श्रमिकों एवं उपभोक्ता सभी को होता है। हाँ, आवश्यकता इस बात की है कि इन लाभों का वितरण सम्बन्धित पक्षकारों के बीच न्यायोचित ढङ्ग से ही हो। इसके लिये किसी न किसी प्रकार के नियन्त्रण की व्यवस्था होना आवश्यक प्रतीत होता है।

(३) **उत्पादकता बनाम उत्पादन** (Productivity *Vs.* Production)—उत्पादकता के सम्बन्ध में तृतीय महत्त्वपूर्ण भ्रान्ति यह है कि अधिकतर लोग उत्पादकता को उत्पादन का ही पर्यायवाची शब्द समझते हैं। वास्तविकता यह है कि इन दोनों शब्दों में पर्याप्त अन्तर विद्यमान है। यदि किसी औद्योगिक इकाई में कुल उत्पादन बढ़ता है तो इसका यह अर्थ कदापि नहीं होता कि उसकी उत्पादकता भी बढ़ गई है। एक निर्माणी इकाई में अधिक श्रम, अधिक मशीनों की स्थापना तथा अधिक सामग्री के प्रयोग से, उत्पादन लागत को ध्यान में नहीं रखते हुये, उत्पादन बढ़ाया जा सकता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि उत्पादन में वृद्धि का अर्थ उत्पादकता की वृद्धि ही है, यद्यपि उच्चतर उत्पादकता से उत्पादन में निश्चयात्मक रूप में वृद्धि होती है। उदाहरण के लिये, एक निर्माणी इकाई में नियुक्त ५० श्रमिक उतनी ही अवधि में उतना ही

उत्पादन करते हैं जितना कि उसी प्रकार की अन्य निर्माणी इकाई में ७५ श्रमिक करते हैं। अन्य बातें दोनों इकाइयों में समान हैं। यहाँ पर यद्यपि इन दोनों इकाइयों का उत्पादन बराबर है, किन्तु पहले वाली इकाई की उत्पादकता दूसरी इकाई की तुलना में अधिक है।

(४) **उत्पादकता बनाम विवेकीकरण** (Productivity *Vs.* Rationalisation)—उत्पादकता के विषय में चतुर्थ महत्त्वपूर्ण भ्रान्ति यह है कि इसे विवेकीकरण का ही पर्यायवाची समझा जाता है। इस सम्बन्ध में यहाँ तक कहा जाता है कि विवेकीकरण की पुरानी शराब को नई बोतल में भरकर केवल उत्पादकता का लेबल लगा दिया गया है। वास्तव में इस विचार-धारा में कुछ सत्यता अवश्य है, क्योंकि दोनों का ही अन्तिम उद्देश्य क्षमतापूर्ण एवं मितव्ययिता-पूर्ण उत्पादन करना है। किन्तु इन समानताओं के होते हुए भी दोनों में अन्तर अवश्य है। उत्पादकता की तुलना में विवेकीकरण का क्षेत्र अधिक व्यापक है। विवेकीकरण उद्योग के तान्त्रिक, वित्तीय, संगठनात्मक तथा मानवीय सभी पहलुओं को प्रभावित करता है, जबकि उत्पादकता मुख्य रूप से उत्पादन-विधियों, विभिन्न प्रमापों तथा श्रमिक वर्ग से ही सम्बन्धित है। विवेकीकरण में अपव्यय की कमी पर जोर दिया जाता है, किन्तु उत्पादकता के अन्तर्गत प्रबन्ध के सुधार पर अधिक जोर दिया जाता है।

(५) **उत्पादकता बनाम बेकारी** (Productivity *Vs.* Unemployment)—उत्पादकता के विषय में पंचम भ्रान्ति यह है कि इससे एक विशाल श्रम-शक्ति तुरन्त छँटनी में आ जायेगी और इस प्रकार रोजगार की स्थिति बिगड़ जायेगी। प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि प्रारम्भिक अवस्था में कुछ न कुछ बेकारी अवश्य फैलेगी, किन्तु यह बेकारी स्थायी न होकर केवल अल्पकाल के लिये ही होगी। निर्मित वस्तुओं की माँग में वृद्धि होने के कारण (क्योंकि उत्पादन लागत में कमी होने से उनकी माँग देश-विदेश में बढ़ेंगी) विद्यमान औद्योगिक इकाइयों का विस्तार होने के साथ-साथ नई औद्योगिक इकाइयों की भी स्थापना होगी। ऐसा होने पर रोजगार के सुअवसरों में भी वृद्धि होना स्वाभाविक है। अतएव इस सम्बन्ध में हमें दीर्घकालीन दृष्टिकोण ही अपनाना चाहिये।

उपरोक्त महत्त्वपूर्ण भ्रान्तियों के अतिरिक्त कभी-कभी यह भी आलोचना की जाती है कि उत्पादकता मुख्यतः उद्योगों से ही सम्बन्धित है। यद्यपि उत्पादकता की शुरूआत केवल उद्योगों के क्षेत्र में ही की गयी है, किन्तु उसको अन्त में राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के सभी क्षेत्रों में लागू करना होगा। उत्पादकता आन्दोलन हेतु कृषि, व्यापार, यातायात, कार्यालय, प्रबन्ध आदि में विस्तृत क्षेत्र विद्यमान है। उत्पादकता वास्तव में सभी का कार्य है।

औद्योगिक उत्पादकता पर प्रभाव डालने वाले घटक
(Factors Influencing Industrial Productivity)

औद्योगिक उत्पादकता को प्रभावित करने वाली अनेक बातें हैं। इसका कारण यह है कि आजकल उत्पादन का ढाँचा इतना जटिल हो गया है कि उत्पादन में वृद्धि करने के लिये हमें नियोक्ता और उसके कर्मचारियों के सहयोग के अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी, जैसे—तकनीकी, वित्तीय, समाज की विचारधारा, सरकारी नीति, प्रबन्ध नीति आदि में सहयोग की आवश्यकता पड़ती है। औद्योगिक उत्पादकता पर इन सब बातों का मिश्रित प्रभाव पड़ता है। संक्षेप में, औद्योगिक उत्पादकता पर प्रभाव डालने वाले महत्त्वपूर्ण घटक निम्नलिखित हैं :—

(१) **तकनीकी घटक** (Technological Factors)—जब से विज्ञान एवं तकनीकी ने औद्योगिक जगत में प्रवेश किया है तब से, औद्योगीकरण की काया पलट गयी है—अर्थात् औद्योगीकरण की गति में तीव्रता आ गयी है। विज्ञान औद्योगीकरण हेतु नई-नई मशीनें उपलब्ध

करता है, मशीनों के स्वचालन को प्रोत्साहित करता है, उत्पादन विधियों में सुधार करता है तथा विशिष्टीकरण, प्रमापीकरण एवं सरलीकरण को प्रेरणा देता है। इससे न केवल नये-नये उद्योगों की स्थापना होती है बल्कि विद्यमान उद्योगों के भी विकास एवं विस्तार की सम्भावनायें बढ़ जाती हैं।

(२) **वित्तीय घटक** (Financial Factors)—पूँजी आधुनिक उद्योगों की जीवन संजीवनी एवं प्राणाधार है। बिना पूँजी के न तो औद्योगिक अनुसन्धान ही हो सकते हैं और न आधुनिकीकरण ही सम्भव है। तकनीकी अनुसन्धान, आधुनिकीकरण, श्रमिकों को अधिकतम सुख-सुविधायें प्रदान करने, उत्पादन विधियों में सुधार करने आदि अनेक कार्यों के लिये विशाल पूँजी की आवश्यकता होती है। यही कारण है कि जिन देशों में पूँजी का आधिक्य है, वहाँ पर उत्पादकता में भी अपार वृद्धि हुई है।

(३) **सामाजिक घटक** (Social Factors)—औद्योगिक उन्नति तथा सामाजिक ढाँचा दोनों में गहन सम्बन्ध है। औद्योगिक उन्नति के साथ-साथ सामाजिक ढाँचे में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। औद्योगीकरण के परिणामस्वरूप बड़े पैमाने पर उत्पादन होता है तथा रहन-सहन के स्तर में विकास होता है लेकिन साथ ही साथ औद्योगिक झगड़े, रोग, दुर्घटनायें एवं श्रमिकों की विभिन्न समस्यायें उठ खड़ी होती हैं। इन समस्याओं का औद्योगिक उत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है। उन्हें रोकने के लिये विभिन्न उपाय काम में लिये जाने चाहिये, जैसे—श्रम-कल्याण के कार्यों में वृद्धि होना, श्रमिक अधिनियमों का पास होना, नगरों का सुप्रायोजन, उद्योगों का विकेन्द्रीयकरण, श्रमिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था, गृह-निर्माण, स्वास्थ्य, मनोरंजन की व्यवस्था आदि। यह तभी सम्भव है जबकि प्रबन्धकों, श्रमिकों, निर्माताओं तथा उपभोक्ताओं सभी में मानसिक क्रान्ति का उदय हो। संक्षेप में, उत्पादकता वृद्धि के लिये समाज में मानसिक क्रान्ति का होना परम आवश्यक है।

(४) **प्राकृतिक घटक** (Natural Factors)—प्राकृतिक घटकों में भौतिक, भौगोलिक तथा जलवायु अन्तरों को सम्मिलित किया जाता है, जो कि औद्योगिक उत्पादकता पर व्यापक प्रभाव डालते हैं। जहाँ पर प्राकृतिक साधन प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हैं और उनका उपयोग किया गया है, वहाँ पर उत्पादकता में पर्याप्त वृद्धि हुई है। उदाहरण के लिये, बम्बई और मेनचेस्टर में कपड़ा मिलों की अधिकता का मुख्य कारण वहाँ की जलवायु की नमी है, जिससे रुई का धागा बार-बार नहीं टूटने पाता है।

(५) **सरकारी नीति** (Government Policy)—सरकार अपनी करारोपण (Taxation), प्रशुल्क, वित्तीय और प्रशासनिक नीतियों द्वारा औद्योगिक उत्पादकता पर बहुत गहरा प्रभाव डाल सकती है। आधुनिक मशीनों की स्थापना की प्रवृत्ति को करों में छूट देकर प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अत्यधिक संरक्षण (Protection) की नीति से घरेलू बाजार में उद्योगों की स्थापना को प्रोत्साहित किया जा सकता है। इन दोनों कदमों द्वारा उत्पादकता को प्रोत्साहन मिलता है।

(६) **प्रबन्धकीय घटक** (Managerial Factors)—औद्योगिक इकाइयों की सफलता या असफलता बहुत कुछ प्रबन्धकों की योग्यता पर निर्भर करती है। प्रबन्धक ही औद्योगिक जगत के नेता होते हैं। अतएव उनमें सङ्गठन करने की कुशलता, दूरदर्शिता, निर्णय लेने की कुशलता, जोखिम उठाने की तत्परता, अपने अधीनस्थों के साथ सम्मानजनक एवं सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार करने की योग्यता आदि गुणों का होना आवश्यक है। इन गुणों के अभाव में औद्योगिक उत्पादकता पर बुरा प्रभाव पड़ता है।

उत्पादकता के प्राथमिक आधार
(Fundamentals of Productivity)

उत्पादकता रूपी भवन की नींव, जिन्हें उत्पादकता के आधार कहा जा सकता है, निम्न आधारों पर खड़ी है :—(१) हमें सिद्धान्त रूप में इस बात को स्वीकार करना होगा कि **'उत्पादकता जीवन है न कि विनाश'**। इसके उपरान्त ही उत्पादकता की दिशा में आवश्यक कदम उठाये जा सकते हैं। (२) **'उत्पादकता की प्राप्ति अधिनियमों के द्वारा नहीं की जा सकती है।'** अपितु इसके लिए तो मानव के मानसिक दृष्टिकोण में परिवर्तन होना परम आवश्यक है। (३) **'तकनीकी ज्ञान का विस्तार होना'** उत्पादकता के लिये परम आवश्यक है, क्योंकि जब तक उत्पादन विधियों में सुधार नहीं होगा तब तक उत्पादन में वृद्धि कैसे सम्भव हो सकती है। (४) **'अनुसन्धान'** उत्पादकता में वृद्धि का एक बहुमूल्य हथियार है, क्योंकि अनुसन्धान के कारण ही नई-नई मशीनों की स्थापना होती है तथा तकनीक में सुधार होता है। ये दोनों बातें उत्पादकता बढ़ाने के लिये आवश्यक हैं। (५) **'श्रमिकों से ऐच्छिक सहयोग मिलना'** उत्पादकता के लिए परम आवश्यक है, क्योंकि इसके अभाव में कोई भी उत्पादकता वृद्धि की योजना, चाहे वह कितनी ही अच्छी क्यों न हो; सफलता प्राप्त नहीं कर सकती। (६) **'कुशल श्रम उत्पादकता'** के बिना उत्पादकता में वृद्धि होना सम्भव नहीं है। अतएव इसके लिये सभी आवश्यक कदम उठाये जाने चाहिए, जैसे—श्रमिकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था, श्रम-कल्याणकारी कार्यों का आयोजन आदि। (७) उत्पादकता **'पारस्परिक सहयोग'** पर आधारित है। अतएव उत्पादकता की किसी भी योजना के लागू करने में जब तक कि श्रमिकों, प्रबन्धकों, मिल-मालिकों तथा उपभोक्ताओं का सहयोग नहीं मिलेगा तब तक उसकी सफलता की कामना करना व्यर्थ है।

निम्न उत्पादकता के कारण
(Causes of Low Productivity)

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन द्वारा निर्दिष्ट निम्न उत्पादकता के प्रमुख कारण निम्न हैं—(१) अशर्फियों की लूट तथा कोयलों पर छाप की नीति का अनुकरण किया जाना। इसका अर्थ है—औद्योगिक प्रबन्ध में अल्पकालीन दृष्टिकोण का विद्यमान होना। (२) तकनीकी ज्ञान का अभाव होना। (३) अपने उत्पाद में अभियान का अभाव होना। बड़े दुःख का विषय है कि हम लोगों में अपने देश के उत्पादों के विषय में तनिक भी जागरूकता नहीं है। आज हम ऐसी किसी भी वस्तु को अपेक्षाकृत अधिक मूल्यों में, जिसका कि निर्माण विदेशों में हुआ है, सहर्ष स्वीकार करने को तत्पर हैं चाहे वह देश में ही निर्मित उत्पाद के मुकाबले में मँहगी ही क्यों न पड़े। (४) श्रमिक वर्ग के प्रति उदासीनता की भावना। (५) कुशल विक्रय-नीति का अभाव। जब तक विक्रय में वृद्धि नहीं होगी तब तक उपलब्ध साधनों का पूर्णतः उपयोग करने के लिये प्रेरणा नहीं मिलेगी। (६) **अन्य कारण**—(i) पूँजी की कमी होना, (ii) उत्पादकता में वृद्धि से होने वाले लाभों का न्यायोचित वितरण न होना, (iii) बेकारी की समस्या आदि।

उत्पादकता में वृद्धि के सुझाव
(Suggestions to improve Productivity)

औद्योगिक उत्पादकता में वृद्धि करने हेतु निम्न सुझाव कार्य में लाये जा सकते हैं:—(१) औद्योगिक क्षेत्र में विज्ञान एवं तकनीकी ज्ञान का विस्तार होना। (२) श्रमिकों, प्रबन्धकों, सरकार तथा उपभोक्ताओं के मध्य पारस्परिक सहयोग का होना। (३) श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि के लिये प्रशिक्षण, प्रेरणात्मक मजदूरी योजना तथा श्रम-कल्याण के कार्यों में वृद्धि होना। (४) प्रमापीकरण, विशिष्टीकरण तथा सरलीकरण की योजनाओं को अपनाया जाना। (५) अल्पकालीन दृष्टिकोण के बजाय दीर्घकालीन दृष्टिकोण का अपनाया जाना। (६) उत्पादन की

वृद्धि से प्राप्त होने वाले अतिरिक्त लाभों के लिये न्यायोचित वितरण के लिये उपयुक्त व्यवस्था का होना। (७) शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण की समुचित व्यवस्था का होना। (८) उत्पादन नियन्त्रण, लागत नियन्त्रण आदि तकनीकी विधियों का अपनाया जाना। (९) उद्योगपतियों द्वारा, जहाँ तक सम्भव हो, औद्योगिक परिवर्तनों द्वारा उत्पन्न मानव समस्याओं के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण का अपनाया जाना। (१०) उत्पादकता वृद्धि में उत्पन्न वित्तीय रुकावटों का हटाया जाना। (११) देश की सरकार का पूर्ण सहयोग प्राप्त होना। (१२) उपभोक्ताओं का पूर्ण समर्थन प्राप्त होना।

औद्योगिक उत्पादन को वृद्धि में प्रबन्ध का योगदान
(The Role of Management in raising Industrial Productivity)

जैसा कि पहले वर्णन किया जा चुका है, औद्योगिक उत्पादकों पर विभिन्न घटकों का प्रभाव पड़ता है, किन्तु इनमें से सबसे अधिक प्रभाव प्रबन्ध का पड़ता है। इसका कारण यह है कि उत्पादकता वृद्धि की योजना कितनी भी अच्छी क्यों न हो तथा उसको सफल बनाने के लिये कितने भी साधन क्यों न जुटा लें, किन्तु यदि कहीं उस योजना को कार्यान्वित करने का भार अकुशल व्यक्तियों के हाथों में सौंप दिया जाय तो ऐसी व्यवस्था में सफलता की कामना करना व्यर्थ ही होगा। उत्पादन के सभी साधन सम्मिलित रूप से कार्य करते हैं और प्रबन्ध उत्पादन के इन सभी साधनों को अपने ज्ञान, चातुर्य एवं अनुभव से कार्यशील बनाता है। यद्यपि प्रबन्धकीय क्षमता की जाँच करने के लिये हमारे पास कोई स्थायी एवं सर्वमान्य मापदण्ड नहीं है, किन्तु फिर भी उनके निर्णय लेने की शक्ति तथा समय के साथ कदम से कदम मिलाकर चलने की दूरदर्शिता आदि से उसकी योग्यता एवं क्षमता को आँका जा सकता है। अतः उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि औद्योगिक उत्पादकता की वृद्धि में प्रबन्ध का महत्वपूर्ण स्थान है। इसके उपरान्त अब यह प्रश्न उठता है कि प्रबन्ध औद्योगिक उत्पादकता की वृद्धि में किस प्रकार अपना योगदान दे सकता है। इसके प्रत्युत्तर में यह कहा जा सकता है कि उत्पादकता की वृद्धि में प्रबन्ध अपना योगदान निम्न कदम उठाकर दे सकता है :—(१) उत्पादकता वृद्धि के विषय में समुचित योजना तैयार करना; (२) उत्पादन प्रक्रिया पर प्रभावपूर्ण नियन्त्रण रखना; (३) उत्पादन का प्रमापीकरण, विशिष्टीकरण एवं सरलीकरण करना; (४) किस्म नियन्त्रण एवं निरीक्षण की व्यवस्था करना; (५) प्रबन्ध सम्बन्धी उत्तरदायित्व निबाहने वाले व्यक्तियों के लिये कुशल प्रशिक्षण की व्यवस्था करना; (६) कुशल लागत लेखे तैयार करना; (७) मधुर औद्योगिक सम्बन्धों की स्थापना करना; (८) श्रेष्ठ सेविवर्गीय नीति अपनाना; (९) प्रबन्ध में श्रमिकों को भी भाग लेने देने की व्यवस्था करना; (१०) औद्योगिक अनुसन्धान के कार्य पर बल देना; (११) उद्योग में दो मार्गीय सम्पर्क अथवा संवादवाहन की कुशल व्यवस्था करना; जैसे—आदेश, स्पष्टीकरण आदि ऊपर से नीचे की ओर जाना तथा सूचनाओं, शिकायतों एवं सम्मतियों का निम्न श्रमिकों से ऊपर की ओर आना; (१२) श्रमिक-वर्ग का पूर्ण समर्थन प्राप्त करने का प्रयत्न करना; (१३) उद्योगों में उत्पन्न होने वाली समस्त समस्याओं के प्रति प्रबन्ध का सहानुभूतिपूर्ण रुख होना तथा उनका न्यायोचित तरीकों से हल निकाला जाना आदि।

इस प्रकार उद्योगों में उत्पादकता वृद्धि का मूलभूत उत्तरदायित्व प्रबन्धकों के ही कन्धों पर है। उनके योगदान के बिना सफलता की कामना करना व्यर्थ ही होगा। अतः हमें यह आशा करनी चाहिये कि प्रबन्धक इस सम्बन्ध में उदारतापूर्ण दृष्टिकोण अपनायेंगे और इस प्रकार उत्पादकता वृद्धि के प्रयत्नों में अपना हार्दिक सहयोग प्रदान करेंगे।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. औद्योगिक उत्पादकता से आप क्या समझते हैं ? यह कुशलता से किस प्रकार भिन्न है ? (विक्रम, १९७०)

२. औद्योगिक उत्पादकता के सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिये और वर्तमान युग में उसके महत्त्व को बताइये । भारतीय उद्योगों में उत्पादकता किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है, उसके लिये अपने सुझाव दीजिये । (विक्रम, १९६५)

३. उत्पादकता की परिभाषा दीजिये । उद्योगों में उच्च उत्पादकता प्राप्त करने में प्रभावी योगदान देने वाले प्रमुख घटकों का विश्लेषण कीजिये ।

४. "व्यवसाय में उत्पादकता किसी उपक्रम की सम्पन्नता तथा उसके जीवित रहने का आधार होती है ।" इस कथन की विवेचना कीजिये तथा यह बताइये कि उत्पादकता किस प्रकार बढ़ायी जा सकती है ? (जीवाजी, १९६९)

५. औद्योगिक उत्पादकता की वृद्धि में प्रबन्ध के योगदान की विवेचना कीजिये ।

६. उत्पादकता से आप क्या समझते हैं ? उत्पादकता के सम्बन्ध में उत्पन्न हुई भ्रान्तिमूलक धारणाओं का उन्मूलन कीजिए ।

निर्यातों में वृद्धि होती है तथा विदेशी मुद्रा का अर्जन होता है। आज हमारे देश में विदेशी मुद्रा की सबसे अधिक आवश्यकता है, ताकि हम एक ओर तो विदेशों से खाद्यान्न का आयात करके भूखी जनता को पेट भर अनाज उपलब्ध कर सकें तथा दूसरी ओर पाकिस्तानी तथा चीनी आक्रमण का सामना करने हेतु विदेशों से अस्त्र-शस्त्र एवं युद्ध-सामग्री खरीदकर अपने देश की स्वतन्त्रता की रक्षा कर सकें।

(४) **उत्पादन की मात्रा में वृद्धि तथा उत्पादन लागत में कमी करने के लिये**—भारत में उपभोक्ता तथा पूँजीगत वस्तुओं का भारी अभाव है। देश में पूँजी की कमी के कारण इनमें वृद्धि करना सम्भव नहीं है। इनकी कमी के कारण मूल्यों में वृद्धि होना स्वाभाविक ही है। मूल्यों में वृद्धि के होने से जन-साधारण का जीवन कष्टमय हो जाता है। अतएव हमें अब उपलब्ध पूँजी से ही उत्पादन में वृद्धि करनी है। इसके लिये उत्पादकता की वृद्धि का आश्रय लेना होगा। जैसे-जैसे उत्पादकता में वृद्धि होती जायगी वैसे-वैसे उत्पादन लागत में कमी होती जायगी। इससे उपभोक्ताओं को उचित मूल्यों पर अधिक वस्तुओं के उपभोग का सुअवसर मिलेगा।

(५) **अन्य लाभ**—(i) उत्पादकता में वृद्धि होने से देश की वास्तविक आय में भी वृद्धि होती है। (ii) उत्पादकता प्रगति का सूचक है। (iii) उत्पादकता में वृद्धि होने से श्रमिकों को भी लाभ पहुँचता है। उनकी आय में वृद्धि होती है, काम के घण्टों में कमी होती है तथा श्रम-कल्याणकारी कार्यों में वृद्धि होती है। (iv) उत्पादकता निर्देशांकों का विविध उपयोग किया जा सकता है। (v) विदेशी उत्पादकों से सफल प्रतियोगिता की जा सकती है। (vi) देश की सुरक्षा व्यवस्था को सुदृढ़ बनाने के लिये भी उत्पादकता में वृद्धि करना आवश्यक प्रतीत होता है।

भारत में उत्पादकता आन्दोलन की महत्ता के सम्बन्ध में भारतीय नेताओं के विचार—

(१) **स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू** के अनुसार, "यद्यपि हमारे यहाँ बड़ी संख्या में सस्ते मजदूर सुलभ हैं, फिर भी हम दूसरे देशों से उनके उत्पादन, यन्त्र, किस्म आदि में प्रतियोगिता नहीं कर सकते, यहाँ तक कि अपने आन्तरिक संरक्षित बाजार में हम बहुत दिनों बहुत आगे तक नहीं जा सकते। अतएव यह अत्यन्त महत्त्व की बात है कि हम अपने साधनों का यथासम्भव सर्वोत्तम तरीके से उपयोग करें और इसके लिये हमें आधुनिक उत्पादन प्रणालियाँ तथा उत्तम प्रबन्ध के तरीके प्रयोग में लाने चाहिये।"

(२) **भारत के भूतपूर्व श्रम तथा नियोजन मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा** के अनुसार, "यद्यपि मजदूरों की माँगें उचित हैं, फिर भी वे जो माँगते हैं, वह काफी लम्बे समय तक तत्काल नहीं दिया जा सकता, जब तक कि साथ ही साथ और कुछ कदम न उठाये जायें और ये कदम 'उत्पादकता' शब्द में आते हैं।"............'उत्पादकता' शब्द 'उद्देश्य तथा कार्य-क्षेत्र' दोनों ही दृष्टियों से बहुत व्यापक है। यह सामान्यतः प्रगति का पर्यायवाची समझा जाता है। हमारे लिए तो यह इससे कुछ अधिक है, क्योंकि हमारा जीवित रहना इसी पर निर्भर है। हमारे देश में अगर उत्पादकता नहीं बढ़ती तो बाँटने के लिये होगा ही क्या ?"

(३) **भारत के भूतपूर्व उद्योग मन्त्री श्री मनुभाई शाह** के अनुसार, "विदेशों के बाजार में हमें उन देशों के उत्पादित माल से प्रतियोगिता करनी है, जिनका उत्पादन का स्तर काफी ऊँचा है और जो कम लागत पर बढ़िया किस्म का माल तैयार कर सकते हैं।'..............बढ़िया किस्म की अधिकाधिक चीजें कम लागत पर पैदा करने के लिये हमें उत्पादकता आन्दोलन का सहारा लेना चाहिये।"

भारत में उत्पादकता आन्दोलन

उपरोक्त विवरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत की चतुर्मुखी उन्नति के लिये उत्पादकता में वृद्धि करना नितान्त आवश्यक है, अतएव स्वतन्त्रता प्राप्ति के तुरन्त पश्चात् ही

हमारी राष्ट्रीय सरकार ने स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में भारत में उत्पादकता की वृद्धि के प्रश्न पर जोर देना प्रारम्भ किया। इस प्रकार भारत में उत्पादकता आन्दोलन का श्रीगणेश स्वतन्त्रता की प्राप्ति से हुआ है। उत्पादकता की वृद्धि के उपायों पर विचार-विनिमय करने के लिए अध्ययन गोष्ठियों का आयोजन किया गया और 'तकनीकी सहायता कार्यक्रम' के अन्तर्गत विदेशों से तकनीकी विशेषज्ञों को आमन्त्रित किया गया एवं अपने शिष्टमण्डलों को विदेशों में तकनीकी ज्ञान की प्रगति का अध्ययन करने के लिये भेजा गया। अध्ययन में सुविधा की दृष्टि से भारत में उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन के सम्बन्ध में अब तक के उठाये गये कदमों को निम्न-लिखित भागों में विभाजित किया जा सकता है :—

(१) **विदेशों से तकनीकी विशेषज्ञों का आगमन**—भारत सरकार की माँग पर प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्गठन मिशन भारत में दिसम्बर सन् १९५२ में आया। इसमें प्रबन्ध एवं औद्योगिक इन्जीनियरिंग से सम्बन्धित चार विशेषज्ञ थे। इसने बम्बई एवं कलकत्ता में उत्पादकता से सम्बन्धित विभिन्न प्रदर्शन आयोजित किये। ये प्रदर्शन काफी सफल रहे। मिशन एक वर्ष तक भारत में रहा। इस मिशन के कार्य का प्रधान परिणाम यह हुआ कि सरकार ने दिसम्बर सन् १९५३ को यह निश्चय किया कि सन् १९५४ में राष्ट्रीय उत्पादकता केन्द्र की स्थापना में तकनीकी सहायता की व्यवस्था की प्रार्थना की जाय। सितम्बर सन् १९५४ में दूसरा अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-सङ्गठन मिशन भारत पहुँचा, जिसने कई कारखानों में निरीक्षणों के विस्तृत क्रम से अपना कार्य प्रारम्भ किया। इस मिशन का कार्य भी पर्याप्त सन्तोषजनक रहा।

(२) **विदेशों को भारतीय दलों का प्रस्थान**—उत्पादकता आन्दोलन के सम्बन्ध में विदेशों में हुई प्रगति का अध्ययन करने हेतु अक्टूबर-नवम्बर १९५६ में एक दल डॉ० विक्रम साराभाई की अध्यक्षता में जापान गया। इस दल ने मार्च १९५७ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। दल ने सुझाव दिया कि जापान के उत्पादकता केन्द्र की भाँति भारत में भी 'राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद्' की स्थापना की जानी चाहिये, जिसके निम्न कार्य हों :—(i) उत्पादकता की वृद्धि के लिये उपयुक्त वातावरण पैदा करना। (ii) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय साधनों से वित्तीय सहायता प्राप्त करना। (iii) विशिष्ट तकनीकी सहायता प्रदान करना। (iv) स्थानीय परिषदों की स्थापना करना।

(३) **उत्पादकता वृद्धि से सम्बन्धित सेमिनार का आयोजन**—जापान से लौटे दल की सिफारिशों को कार्यान्वित करने की दिशा में पहला कदम सन् १९५७ में उठाया गया, जब केन्द्र के वाणिज्य एवं उद्योग मन्त्रालय के तत्त्वावधान में उत्पादकता पर एक सम्मेलन बुलाया गया, जिसमें राष्ट्रीय उत्पादकता आन्दोलन के सिद्धान्तों एवं कार्यक्रमों को स्वीकार किया गया। उत्पादकता आन्दोलन को बढ़ावा देने के सम्बन्ध में सेमिनार ने निम्न सिद्धान्त निश्चित किये :—(i) सुधरी हुई तकनीक से उत्पादकता में वृद्धि करना, लोगों के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना, श्रमिकों के काम की दशाओं में सुधार करना तथा कल्याणकारी कार्यों में वृद्धि करना। (ii) विकासशील अर्थ-व्यवस्था में उत्पादकता की वृद्धि के लिये उद्योगों के विकास को प्रोत्साहित कर रोजगार में वृद्धि करना। (iii) उत्पादकता की वृद्धि से जो लाभ हों उनको पूँजी, श्रम एवं उप-भोक्ता तीनों के बीच न्यायोचित ढङ्ग से बाँटना। (iv) उत्पादकता आन्दोलन के अन्तर्गत बड़े, छोटे तथा हल्के, चाहे निजी क्षेत्र में हो अथवा सार्वजनिक क्षेत्र में, सभी प्रकार के उद्योगों को सम्मिलित किया जाय। (v) उत्पादकता वृद्धि के लिये उपयुक्त वातावरण पैदा करने हेतु संयुक्त विचार-विमर्श, प्रबन्ध में श्रमिकों के भाग और प्रत्येक उद्योग एवं इकाई में पारस्परिक सहयोग को प्रोत्साहन दिया जाय।

(४) **राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् की स्थापना**—जापान से लौटे हुये दल तथा सेमि-

मार की सिफारिशों पर फरवरी १९५८ में राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् की स्थापना की गई। यह एक स्वायत्तशासी संस्था है, जिसके सदस्यों की अधिकतम् संख्या ६० तक सीमित है। परिषद् में ११ प्रतिनिधि हैं, जो सरकारी विभागों, सेवायोजकों के सङ्घों तथा श्रम-सङ्घों से लिये गये हैं। इसमें उपभोक्ताओं, तकनीकी विशेषज्ञों तथा लघु उद्योगों के प्रतिनिधियों को भी सम्मिलित किया गया है। इस परिषद् के अध्यक्ष भारत सरकार के उद्योगमन्त्री हैं। परिषद् का प्रबन्ध एक प्रशासन समिति द्वारा किया जाता है। इस समिति के सदस्यों की संख्या २० तक सीमित है। सदस्यों का निर्वाचन प्रतिवर्ष परिषद् द्वारा किया जाता है। परिषद् का प्रमुख कार्य भारत में उत्पादकता आन्दोलन का संचालन करना है। परिषद् की सर्वप्रथम बैठक २२ मार्च, १९५८ में हुई। इसमें इसने एक आठ-सूत्री कार्यक्रम की घोषणा की।

आठ सूत्री कार्यक्रम—परिषद् द्वारा घोषित आठ-सूत्री कार्यक्रम निम्न प्रकार है :— (१) उत्पादकता से सम्बन्धित सूचनाओं का प्रसार करके उत्पादकता बढ़ाने की चेतना को प्रोत्साहित करना। (२) प्रबन्धक के सभी स्तरों पर उत्पादकता की टेकनीक तथा प्रक्रियाओं को प्रशिक्षण देना। (३) जब स्थानीय परिषदें आवश्यक समझें तब विशेषज्ञों की सेवायें उपलब्ध करना। (४) कारखानों में पारस्परिक निरीक्षण को प्रोत्साहन देना, जिससे सामान्य समस्याओं पर विचारों का आदान-प्रदान होने लगे। (५) उत्पादकता के क्षेत्र में विस्तृत एवं गहन अनुसन्धान करना। (६) प्रगतिशील देशों में उत्पादकता को बढ़ाने के लिये अपनाये गये साधनों का अध्ययन करने हेतु अध्ययन-मण्डल भेजना। (७) विदेशों में प्रशिक्षण प्राप्त करने की व्यवस्था करना। (८) विदेशी तकनीशियनों एवं विशेषज्ञों को आमन्त्रित करना।

[आजकल हमारे देश में ४६ स्थानीय परिषदें तथा बम्बई, कलकत्ता, मद्रास, कानपुर, बंगलौर तथा लुधियाना में छः क्षेत्रीय परिषदें हैं।]

(५) **उत्पादकता सर्वेक्षण समिति की स्थापना**—मार्च १९५८ में राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् के द्वारा उत्पादकता सर्वेक्षण समिति की स्थापना की गई। इस समिति का प्रमुख उद्देश्य भारत में उत्पादकता आन्दोलन की प्रगति के सम्बन्ध में आवश्यक लेखा-जोखा रखना है।

(६) **पंचवर्षीय योजनाओं में उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन**—भारत सरकार ने यह अनुभव किया कि बिना उत्पादकता में वृद्धि हुये भारत की आर्थिक प्रगति की कामना करना व्यर्थ होगा। अतएव इस बात को ध्यान में रखते हुये तीनों पंचवर्षीय योजनाओं में भारत में उत्पादकता वृद्धि के लिए प्रयत्न किये गये। प्रथम पंचवर्षीय योजना में कृषि के क्षेत्र में उत्पादकता वृद्धि की दिशा में विभिन्न कदम उठाये गये। द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत औद्योगिक उत्पादन वृद्धि आन्दोलन को अधिक महत्त्व दिया गया। तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत श्रमिकों की कार्यकुशलता में वृद्धि तथा उत्पादकता बढ़ाने हेतु विभिन्न प्रशिक्षण योजनायें चालू की गईं। चतुर्थ योजना में औद्योगिक उत्पादकता में वृद्धि के लिये विशिष्ट कार्यक्रम तैयार किये गये हैं।

(७) **अन्य सहायक संस्थानों की स्थापना**—राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् तथा उत्पादकता सर्वेक्षण समिति के अतिरिक्त निम्न संस्थायें भी उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान कर रही हैं :—(१) भारतीय सांख्यिकी संस्थान (Indian Statistical Institution) ने गुण-नियन्त्रण (Quality Control) के प्रशिक्षण का प्रबन्ध किया। (२) बम्बई और बंगलौर में गुण-नियन्त्रण इकाइयाँ (Quality Control Units) स्थापित की गईं। (३) अहमदाबाद टैक्सटाइल इण्डस्ट्रीज रिसर्च एसोसियेशन तथा इण्डिया टैक्सटाइल रिसर्च एसोसियेशन ने गुण-नियन्त्रण कला का विस्तार किया। (४) उच्च प्रबन्ध के प्रशिक्षण हेतु बंगलौर में इण्डियन

एडमिनिस्ट्रेटिव स्टाफ कॉलेज की स्थापना भारत सरकार ने की। (५) अनेक स्थानों पर मैनेजमेन्ट एसोसियेशन स्थापित किये गये। (६) कई विश्वविद्यालयों, जैसे—बम्बई, मद्रास, कलिकत्ता आदि में बिजिनेस एडमिनिस्ट्रेशन के कोर्स प्रारम्भ किये गये हैं। (७) भारत सरकार द्वारा स्थापित स्मॉल इण्डस्ट्रीज इन्स्टीट्यूट प्रशिक्षण प्रदान करती है और टेक्नीक में सुधार करने का प्रयत्न करती है। (८) नेशनल डेवलपमेण्ट कॉउन्सिल के अन्तर्गत प्लान प्रोजेक्ट कमेटी तथा प्लानिंग की इण्डस्ट्रियल मैनेजमेण्ट रिसर्च यूनिट तथा अन्य अनुसन्धान संस्थानों द्वारा उत्पादकता वृद्धि से सम्बन्धित तकनीकी में छानबीन के प्रयत्न किये गये हैं। (९) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्गठन ने भारत को विशेष शिक्षकों की सेवायें सुलभ की हैं, जिन्होंने भारत के विभिन्न केन्द्रों में सुपरवाइजरों के लिये कई कोर्स संचालित किये हैं। (१०) अमेरिका का टेकनीकल कोऑपरेटिव मिशन (Technical Co-operative Mission) भी उत्पादकता आन्दोलन में बहुत कुछ सहयोग दे रहा है। विशेषज्ञों की सेवायें तथा पुस्तकों के रूप में महत्त्वपूर्ण सहयोग इस संस्था से मिल रहा है। (११) औद्योगिक इन्जीनियरिंग के क्षेत्र में अनेक इन्जीनियरिंग संस्थाओं, जैसे—इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टैक्नोलॉजी, खड़गपुर; इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ साइन्स, बंगलौर आदि ने प्रशिक्षण का आयोजन किया है। (१२) एशियन उत्पादकता सङ्गठन भी इस दिशा में सहयोग प्रदान कर रहा है।

(८) **उत्पादकता वर्ष, १९६६**—भारत में उत्पादकता आन्दोलन को और अधिक प्रभावशाली बनाने के लिये भारत सरकार ने सन् १९६६ का कलैण्डर वर्ष उत्पादकता वर्ष के रूप में मनाया। इसके अन्तर्गत विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन किया गया, जैसे—सेमिनार एवं गोष्ठियों का आयोजन, विशिष्ट विवेचन एवं रेडियो द्वारा विभिन्न कार्यक्रमों का आयोजन, प्रदर्शिनियों का आयोजन, विश्वविद्यालयों में उत्पादकता सम्बन्धी प्रतियोगिताओं का आयोजन, वार्षिक लक्ष्य निर्धारित करना आदि।

(९) **एशियन उत्पादकता संगठन की सदस्यता**—भारत में उत्पादकता वृद्धि के सम्बन्ध में विदेशों से और अधिक सम्पर्क बढ़ाने हेतु भारत अप्रैल १९६१ में स्थापित एशियन उत्पादकता सङ्गठन का भी सदस्य बन गया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि भारत में उत्पादकता वृद्धि आन्दोलन को सफल बनाने हेतु अनेक सराहनीय कदम उठाये गये हैं। इस दिशा में कुछ सफलता भी मिली है, लेकिन इस शृङ्खला में अभी एक कड़ी, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है, मौजूद नहीं है। वह कड़ी है, हर कारखाने में आपसी परामर्श के द्वारा उत्पादन बढ़ाने के लिये अधिक से अधिक प्रयास करने की अभिलाषा। केवल नीति बनाने या ऊँचे स्तर पर फैसला करने से कार्य नहीं हो सकता। आवश्यकता है हर व्यक्ति में उत्पादन बढ़ाने की अभिलाषा होना और आपस में परामर्श द्वारा उस अभिलाषा को कार्यान्वित करना।

देश में उत्पादकता को बढ़ाने की जिम्मेदारी तीन मुख्य वर्गों पर है और वे हैं उद्योगपति, सरकार और श्रमिक। आशा है कि यदि भारतीय उत्पादकता आन्दोलन के ये तीनों स्तम्भ दृढ़ एवं शक्तिशाली बनकर अपने कर्त्तव्य का पालन करेंगे, तो देश का आर्थिक आधार बहुत दृढ़ हो जायगा।

उत्पादकता पर राष्ट्रीय सेमीनार (१९७२)
(National Seminar of Productivity) (1972)

भारत सरकार ने २४ तथा २५ मार्च, १९७२ को नई दिल्ली में उत्पादकता पर एक राष्ट्रीय सेमीनार का प्रायोजन किया, जिसमें विभिन्न संस्थाओं की ओर से ३०० प्रतिनिधियों ने भाग लिया। इसमें उद्योग, श्रम-संघों, शिक्षाशास्त्रियों, तकनीकी-विशेषज्ञों तथा अन्तर्राष्ट्रीय संग-

ठनों (जैसे—अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन) के उच्च नेताओं ने भाग लिया। इस सेमीनार का उद्-घाटन केन्द्रीय उद्योग विकास मन्त्री तथा राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् के अध्यक्ष मोइनुल हक चौधरी ने दिनांक २४ मार्च, १९७२ को किया। अपने उद्घाटन-भाषण में केन्द्रीय उद्योग मन्त्री ने कहा कि "राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् द्वारा उल्लेखनीय कार्य किये जाने पर भी अभी उत्पादकता के स्तर में वृद्धि करने के लिये बहुत कुछ किया जाना है, ताकि आर्थिक विकास की गति तीव्र हो, कार्यकारी वर्ग का जीवन-स्तर ऊँचा हो तथा जन-साधारण श्रेष्ठ एवं सम्पन्न जीवन व्यतीत करने में समर्थ हो। ऐसे प्रयत्नों को सर्वोच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिये।" इस सेमीनार की सिफारिशें निम्नलिखित हैं :—

(I) सरकार के लिए सिफारिशें (Recommendations to Government)—

(१) सेमीनार की सम्मति में राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था के विभिन्न क्षेत्रों में विद्यमान उत्पादकता में वृद्धि करके आर्थिक विकास की गति तेज की जा सकती है। इसके लिये सरकार को निम्न सुझाव दिये गये :—(i) आर्थिक विकास तथा उत्पादकता के प्रति व्यापक दृष्टिकोण अपनाया जाना चाहिये तथा राष्ट्रीय पंचवर्षीय योजनाओं के सन्दर्भ में उत्पादकता के लिये गहन नियोजन किया जाना चाहिये। इसके लिए राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् द्वारा स्पष्ट रूप में लक्ष्यों, कार्यों तथा प्राथमिकताओं का निर्धारण किया जाना चाहिये, ताकि स्वतः विकसित होने वाली आर्थिक विकास की गति प्राप्त हो सके। (ii) उत्पादकता मुक्त औद्योगिक नीति का निर्धारण किया जाना चाहिये तथा उद्योगों के हिसाब से उत्पादकता के लक्ष्य निर्धारित किये जाने चाहिये। (iii) कर्मचारियों को इस बात का विश्वास दीजिये कि उत्पादकता के परिणामस्वरूप किसी भी कर्मचारी की छँटनी नहीं की जायेगी। (iv) उपलब्ध सभी साधनों का कुशल उपयोग करके उपक्रम-स्तर पर उत्पादकता में सुधार करना। इसके द्वारा कार्यकारी वर्ग के जीवन-स्तर तथा कार्य की दशाओं में सुधार होना चाहिये। संयन्त्र अभिन्यास, तकनीक तथा सामग्री के गलत चयन के दोषों को दूर कीजिये। इनसे उत्पादकता पर विपरीत प्रभाव पड़ता है।

(२) प्रभावी परामर्श तथा समन्वय के माध्यम से प्रबन्ध को प्रजातन्त्रीय संगठन-संरचना करनी चाहिये। विभिन्न स्तरों जैसे—कर्मचारी, पर्यवेक्षक तथा मध्यम प्रबन्ध, पर प्रबन्ध में भाग लेने की प्रवृत्ति को प्रोत्साहित किया जाना चाहिये।

(३) कार्यकारी वर्ग (Working class) के प्रति प्रबन्ध का विशिष्ट दायित्व है और उसे इस दायित्व को निभाना चाहिये। जैसे—(i) प्रगतिशील सेविवर्गीय नीतियों को अपनाना, (ii) मानवीय पहलू को मान्यता देना, (iii) परम्परागत मजदूरी-ठहरावों के स्थान पर उत्पादकता पर आधारित मजदूरी-पद्धतियों को लागू करना।

(४) श्रम-प्रबन्ध के मध्य स्वस्थ सम्बन्धों की स्थापना करना। उत्पादकता के लाभों का श्रमिकों में वितरण करना। इसके लिए राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् द्वारा तैयार की गई 'योजनाओं' का सहारा लिया जा सकता है।

(५) सभी स्तरों पर कर्मचारियों के प्रशिक्षण तथा विकास पर बल देना।

(६) प्रबन्ध को नियोजन, कार्यक्रमों तथा बजट-अवस्थाओं की सुधारात्मक पद्धतियों का उपयोग करना चाहिये।

(७) औद्योगिक उत्पादकता के क्षेत्र में कार्य के आकार को ध्यान में रखते हुये उद्योगों के आधार पर उत्पादकता-प्रकोष्ठों (Cells) की स्थापना की जानी चाहिये।

(८) चूँकि उत्पादकता आन्दोलन का भविष्य साहसी विकास कार्यक्रम से निकटतम रूप से सम्बन्धित है, केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें लघु साहसियों के तीव्रगति से विकास के लिये

विभिन्न सुविधायें प्रदान कर सकती हैं। उदाहरण के लिये, उनके लिये विनियोग सुअवसरों का पता लगाना, वित्तीय संस्थानों को प्रभावी योगदान के लिये परामर्श देना।

(९) सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह देखे कि उत्पादकता आन्दोलन के परिणाम-स्वरूप किसी कर्मचारी की छँटनी न होने पाये।

(१०) सरकार प्रबन्धकों तथा श्रम-संघों को इस बात के लिये प्रोत्साहन दे सकती है कि वे अपने महत्त्वपूर्ण मामलों, जैसे—मानव-शक्ति की आवश्यकता, अभिप्रेरणायें, मजदूरी-ढाँचा तथा उत्पादन-मापदण्ड आदि का निपटारा पारस्परिक सहमति के आधार पर करें। इस कार्य के लिए राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् से सहायता ली जा सकती है।

(११) सरकार को स्कूल तथा कॉलेजों में उत्पादकता को एक पृथक विषय के रूप में प्रारम्भ करना चाहिये।

(१२) उत्पादकता में वृद्धि के लिये विभिन्न श्रम-सन्नियमों में संशोधन किया जाना चाहिये।

(II) प्रबन्ध के लिए सिफारिशें (Recommendations to Management)—

(१) उद्योग में उत्पादकता को प्रोत्साहन देना प्रबन्ध का कार्य है। अतएव इसके लिये उसे निम्न कार्य सम्पन्न करने चाहिये :—(i) उत्पादकता की आधुनिक तकनीकों का उपयोग करके उत्पादकता में वृद्धि करने तथा गुण (Quality) में सुधार के लिये प्रत्येक सम्भावित कदम उठाये जाने चाहिये। (ii) प्रत्येक उपक्रम में एक उत्पादकता विभाग की स्थापना की जानी चाहिये। (iii) राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् को राष्ट्रीय तथा राज्य नियोजन संस्थानों में प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिये।

(२) प्रशासनिक तन्त्र में कुशलता तथा व्यय में कमी करने के लिये प्रत्येक मन्त्रालय तथा सरकारी विभाग में उत्पादकता कक्ष की स्थापना की जानी चाहिये।

(३) राष्ट्रीय पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत उत्पादकता आन्दोलन तथा उत्पादकता संस्थाओं को उच्च प्राथमिकता मिलनी चाहिये। राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् को संगठन तथा आर्थिक दृष्टि से सुदृढ़ बनाया जाना चाहिये।

(४) उत्पादकता के लिये स्वस्थ वातावरण के निर्माण के लिये सरकार निम्न कार्य कर सकती है ;—(i) मजदूरी बोर्डों के स्थान पर उद्योगों के आधार पर उत्पादकता बोर्डों की स्थापना; (ii) कच्चा माल, यन्त्र तथा अन्य सामग्री हेतु लाइसेन्स की स्वीकृति देने के लिये प्रत्येक विभाग के लिये अवधि की सीमा निर्धारित करना, ताकि देरी की शिकायतों को दूर किया जा सके। (iii) उद्योगों द्वारा अपनी पूर्ण कार्यक्षमता के उपयोग पर बल दिया जाना। (iv) सेवा नियमों में आवश्यक संशोधन करके सरकारी कर्मचारियों को पर्याप्त अभिप्रेरणा देना, ताकि वे अपने उत्तरदायित्व को समझ कर उसे अच्छी तरह से पूरा कर सकें।

(५) उत्पादकता तकनीकों तथा दीर्घकालीन उत्पादकता समझौतों के द्वारा सरकार कार्यकारी वर्ग के लिये सरकारी उपक्रमों को उच्च उत्पादकता तथा अधिक आय कमाने के लिये प्रेरित कर सकती है। यह प्रेरणा सार्वजनिक मान्यता अथवा पारितोषण की योजना की स्थापना करके दी जा सकती है।

(६) पंचवर्षीय आर्थिक नियोजन के साथ-साथ पाँच साल के लिये कर-योजना भी तैयार करने के बारे में विचार करना, ताकि उपक्रमों को विशिष्ट अवधि में कर-दायित्व के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त हो जाय।

(७) लघु उद्योगों में उत्पादकता में वृद्धि करने के लिये विस्तृत प्रशिक्षण तथा परामर्श-सेवाओं पर बल दिया जाना चाहिये।

(III) श्रम-संघों के लिए सिफारिशें (Recommendations to Trade Unions)—

(१) उपक्रम-स्तर पर उत्पादकता में वृद्धि के लिये सरकार तथा प्रबन्ध के प्रति श्रम-सङ्घों को पूर्ण सहयोग प्रदान करना चाहिये ।

(२) प्रबन्ध में कर्मचारियों द्वारा भाग लेने की योजना को लाभदायक बनाने के लिये श्रम-सङ्घों को सिद्धान्त-रूप में कर्मचारियों को प्रशिक्षण तथा विकास की बात स्वीकार कर लेनी चाहिये ।

(IV) राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् के लिए सिफारिशें (Recommendations to National Productivity Council or N. P. C.)—

(१) राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् को चाहिये कि वह उत्पादकता की योजना तथा पंचवर्षीय योजनाओं में सम्बन्ध स्थापित करने हेतु सरकार तथा योजना आयोग को सिफारिश करने के लिये उचित कदम उठाये ।

(२) राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् की सेवाओं का विस्तार करने के लिये प्रयत्न किये जाने चाहिये ।

(३) कृषि उत्पादकता के क्षेत्र में कृषि पर आधारित उद्योगों की उत्पादकता में सुधार करने के लिये ही राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् को प्रयत्न करने चाहिये ।

(४) प्रबन्धकीय निष्पादन का मूल्यांकन करने के लिये राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद् को नई विधियों का विकास करना चाहिये ।

(५) देश में मूल्यवान यन्त्र तथा सामग्री का उपयोग होने के कारण उनके अनुरक्षण (Maintenance) की ओर ध्यान देना चाहिये । इस ओर राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद को भी ध्यान देना चाहिये ।

(६) लघु-स्तरीय उद्योगों में उत्पादकता में सुधार करने के लिये राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद को एक विशिष्ट परामर्श विंग (Special Consultancy Wing) की स्थापना करनी चाहिये ।

(७) विभिन्न उद्योगों की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद की एक 'प्रशिक्षण कार्यक्रम' का विकास करना चाहिये ।

(८) कर्मचारियों तथा श्रम-संघों के पदाधिकारियों के उत्पादकता स्तर को ऊँचा उठाने के लिये श्रम-संघों को विशिष्ट उपायों के सम्बन्ध में परामर्श देना ।

(९) राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद को महत्त्वपूर्ण क्षेत्रों में अनुसन्धान का कार्य सम्पन्न करना चाहिये, जैसे—वेतन वृद्धि के सन्दर्भ में उत्पादकता वृद्धि का अध्ययन करना, उत्पादकता के क्षेत्र में केस अध्ययन करना आदि ।

(१०) उत्पादकता-तकनीकों के उपयोग के लिये उपयुक्त वातावरण की स्थापना करना । इस कार्य के लिये योग्य पंचों की सेवाओं का विकास करना, ताकि प्रबन्ध एवं श्रम-संघ के मध्य विवाद के उत्पन्न होने पर उनकी सेवाओं का उपयोग किया जा सके ।

(११) आगे आने वाले वर्षों में राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद के महत्त्वपूर्ण योगदान को ध्यान में रखते हुये इस बात का प्रयत्न किया जाना चाहिये कि केन्द्रीय सरकार राष्ट्रीय उत्पादकता परिषद को दिये जाने वाले वार्षिक अनुदान में पर्याप्त वृद्धि करे ।

भारतीय उद्योगों में उत्पादकता बढ़ाने के लिये अन्य सुझाव
(Other Suggestions for Increasing Productivity in Indian Industries)

देश की निरन्तर बढ़ती हुई माँग को पूरा करने एवं निर्यात में वृद्धि के लिये भारतीय उद्योगों में उत्पादकता में वृद्धि करने की आज सबसे अधिक आवश्यकता है । अभी तक इस

दिशा में जो कदम उठाये गये हैं वे भरे तालाब में पानी की बूँद के समान हैं। अतः कुछ और ठोस कदम उठाये जाने चाहिये। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव हैं :—

(१) **तकनीकी विधियों के प्रयोग पर बल**—उत्पादकता बढ़ाने के लिये तकनीकी विधियों, जैसे—लागत नियन्त्रण, गुण नियन्त्रण, उत्पादन नियन्त्रण आदि पर अधिकाधिक बल दिया जाना चाहिये।

(२) **त्रिपक्षीय उत्तरदायित्व**—उत्पादकता बढ़ाने का मूल उत्तरदायित्व श्रमिक, नियोक्ता तथा सरकार पर है। यदि उत्पादकता आन्दोलन के ये तीनों स्तम्भ दृढ़ एवं शक्तिशाली बनकर कन्धे से कन्धा मिलाकर अपने कर्त्तव्य का पालन करें तो उत्पादकता में निश्चयात्मक रूप में वृद्धि होगी। इन तीनों के मध्य पूर्ण सहयोग होना चाहिये। इनमें से भी श्रमिक एवं नियोक्ता के सम्बन्ध सद्भावनापूर्ण होने चाहिये, क्योंकि 'वे एक ही गाड़ी के दो बैल हैं, जिन्हें एक साथ ही चलना होता है।'

(३) **अनुसन्धान पर बल**—उत्पादकता वृद्धि के क्षेत्र में अनुसन्धान 'रीढ़ की हड्डी' के समान होता है, अतएव इसकी आवश्यकता अनुभव करते हुये इस पर अधिकाधिक बल दिया जाना चाहिये।

(४) **श्रम-कल्याण कार्य**—औद्योगिक उत्पादकता बढ़ाने के लिये श्रम-कल्याण कार्यों को प्राथमिकता दी जानी चाहिये। अब तक अधिकांश उद्योगपति इस दिशा में नकारात्मक रुख अपनाते रहे हैं।

(५) **प्रबन्ध में श्रमिकों का भाग**—श्रमिकों को प्रबन्ध में हिस्सा दिया जाना चाहिये ताकि श्रमिक प्रबन्ध की समस्याओं को समझें और उनके समाधान में बाधायें उत्पन्न करने के स्थान पर सहयोग प्रदान करें।

(६) **लाभों में हिस्सा**—उत्पादकता में वृद्धि के परिणामस्वरूप हुये अतिरिक्त लाभों में श्रमिक, उद्योगपति एवं उपभोक्ता सभी को समान अनुपात में हिस्सा दिया जाना चाहिये।

(७) **विवेकीकरण**—उद्योगों में उत्पादकता बढ़ाने के लिये सभी क्षेत्रों में विवेकीकरण की विस्तृत योजना को लागू किया जाना चाहिये।

(८) **मानसिक क्रान्ति**—श्रम और पूँजी के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन की आवश्यकता है। दोनों के मध्य संघर्ष के स्थान पर एकता स्थापित होनी चाहिये। इसके लिये 'मानसिक क्रान्ति' की आवश्यकता है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. औद्योगिक उत्पादकता से आप क्या समझते हैं ? यह कुशलता से किस प्रकार भिन्न है ? भारत में सूती कपड़ा उद्योग में उत्पादकता किस प्रकार बढ़ाई जा सकती है, इसके लिये अपने सुझाव दीजिये। (विक्रम, १९७०)
२. औद्योगिक उत्पादकता से आप क्या समझते हो ? यह उत्पादन से किस प्रकार भिन्न है ? भारत सरकार ने औद्योगिक उत्पादकता बढ़ाने के लिये जो प्रयत्न किये हैं, उन्हें बताइये। (विक्रम, १९६८)
३. औद्योगिक उत्पादकता के अर्थ एवं महत्त्व को स्पष्ट कीजिये। भारत सरकार ने वर्तमान में, औद्योगिक उत्पादकता को बढ़ाने के लिये क्या प्रयत्न किये हैं ? (विक्रम, १९६७)
४. भारत में औद्योगिक उत्पादकता आन्दोलन पर लेख लिखिये।
५. राष्ट्रीय उत्पादकता पर टिप्पणी लिखिये।

२५

भारत में श्रम-कल्याण

(Labour Welfare in India)

प्रारम्भिक—श्रम-कल्याण का अर्थ एवं परिभाषा

श्रम-कल्याण शब्द का प्रयोग परिस्थितियों तथा आवश्यकताओं के अनुसार विभिन्न व्यक्तियों द्वारा विभिन्न अर्थों में किया जाता है। **शाही श्रम आयोग** के अनुसार, "यह एक शब्द है, जो आवश्यक रूप से लचीला होना चाहिये। इसका अर्थ एक देश में दूसरे देश की तुलना में उसकी विविध सामाजिक रीतियों, औद्योगीकरण की स्थिति तथा श्रमिकों की शिक्षा सम्बन्धी प्रगति के अनुसार भिन्न-भिन्न लगाया जाता है।" "**श्री बालफर समिति** (Balfour Committee) के अनुसार, "अति विस्तृत रूप में इसके अन्तर्गत ऐसी सभी बातों को सम्मिलित किया जाता है जो कि श्रमिकों के स्वास्थ्य, सुरक्षा, आराम तथा सामान्य कल्याण को प्रभावित करने वाली हों और शिक्षा, मनोरंजन, बचत योजनाओं तथा स्वास्थ्यप्रद गृहों का प्रावधान होता है।"[1] **कुमारी ई० टी० केली** (Miss E. T. Kelley) के शब्दों में, श्रम-कल्याण से तात्पर्य किसी फर्म द्वारा श्रमिकों के व्यवहार और कार्य के लिए कुछ सिद्धान्तों को अपनाया जाना है।" **अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन** के अनुसार, "श्रम कल्याण उन क्रियाओं को कहते हैं जो किसी उद्योग के आस-पास अथवा उद्योग के क्षेत्र में स्वच्छ एवं स्वास्थ्यकर वातावरण में काम करते हुए श्रमिक के स्वास्थ्य तथा नीति के स्तर को अच्छा रख सकें।"[2] **सर एडवर्ड पैन्टन** के शब्दों में, "श्रम-कल्याण का अर्थ श्रमिकों के सुख, स्वास्थ्य और समृद्धि के लिए उपलब्ध की जाने वाली दशाओं से है।"

श्रम जाँच समिति, १९४५ के अनुसार, "श्रमिकों के बौद्धिक, शारीरिक, नैतिक तथा आर्थिक कल्याण के लिए किया गया कोई भी कार्य जो वैधानिक अथवा मालिकों एवं श्रमिकों के मध्य किये गये अनुबन्ध के अतिरिक्त हो, चाहे वह नियोक्ताओं, सरकार अथवा अन्य संस्थाओं द्वारा किया गया हो, श्रमिक कल्याण कहलाता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि उद्योग के अन्दर तथा बाहर श्रम तथा रोजगार की सर्वोत्तम दशाओं की व्यवस्था करने के लिए नियोक्ता, सरकार तथा श्रम-संघों द्वारा किये गये विभिन्न प्रयत्नों को श्रम-कल्याण में सम्मिलित करते हैं। इस प्रकार श्रम-कल्याण के अन्तर्गत हम आवास, स्वास्थ्य, शिक्षा, पालन-पोषण, विश्राम की सुविधायें, सहयोगात्मक भावनायें, पारि-

---

[1] "In its widest sense it comprises all matters affecting the health, safety, comfort and general welfare of the workmen, and includes provision for education, recreation, thrift schemes, convalescent homes."—**Balfour Committee.**

[2] *International Labour Organisation Asian Regional Conference Report II.*

श्रमिक सहित छुट्टियाँ, सामाजिक बीमा, प्रसूति लाभ योजनायें, प्रॉवीडेण्ट फण्ड तथा पेंशन आदि सम्मिलित करते हैं।

श्रम कल्याण कार्य
[कारखाने के अन्दर और बाहर]

डॉ० ब्राटन (Dr. Broughten) ने श्रम-कल्याण कार्य को दो वर्गों में विभाजित किया है—(I) कारखाने के अन्दर किये जाने वाले श्रम-कल्याण कार्य। (II) कारखाने के बाहर किये जाने वाले श्रम-कल्याण कार्य। अब हम प्रत्येक का अलग-अलग वर्णन करेंगे।

(I) कारखाने के अन्दर के कार्य (Intra-Mural)—

कारखाने के अन्दर किये जाने वाले श्रम-कल्याण कार्य मुख्य रूप से निम्नलिखित हैं:—

(१) **श्रमिकों की वैज्ञानिक भर्ती**—भारत में श्रमिकों की भर्ती का कार्य उद्योगों के संचालकों द्वारा किया जाता है। इस कार्य के लिए मिल-मालिक श्रमिक आयोजक (Jobbers) नियुक्त करते हैं। ये पुराने श्रमिकों को हटाकर तथा नये श्रमिकों की भर्ती करके अनुचित रूप से अपनी आय में वृद्धि करने का प्रयत्न करते हैं, जिसका परिणाम यह होता है कि श्रमिकों का शोषण होता है, उनकी कार्यक्षमता का हनन होता है और उत्पादन में कमी हो जाती है। इस दोष को दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि श्रमिकों की भर्ती वैज्ञानिक आधार पर हो। इसके लिए श्रमिक आयोजकों के स्थान पर कुशल तथा अनुभवी अधिकारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए। श्रमिकों की भर्ती के समय किसी भी प्रकार का भेद-भाव अथवा पक्षपात नहीं किया जाना चाहिए।

(२) **औद्योगिक प्रशिक्षण**—आज के इस परिवर्तनशील युग में उद्योग के प्रत्येक क्षेत्र में नये-नये आविष्कार किये जा रहे हैं। परिणामस्वरूप नई-नई मशीनें एवं कार्य करने की पद्धतियाँ प्रचलन में आ रही हैं। इन नई-नई मशीनों तथा कार्य करने की नवीनतम् प्रणालियों से परिचित कराने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि औद्योगिक प्रशिक्षण की व्यवस्था हो। इससे उद्योग तथा श्रमिक दोनों को अनेकानेक लाभ पहुँचेंगे।

(३) **स्वच्छता, प्रकाश तथा वायु का प्रबन्ध**—कारखानों में पूर्णतया स्वच्छता, प्रकाश तथा शुद्ध वायु के आवागमन का प्रबन्ध होना चाहिये। नियमित रूप से सफाई तथा पुताई कराते रहना चाहिए। प्रकाश की व्यवस्था इस प्रकार की जानी चाहिए कि श्रमिकों को अपने कार्य के लिए उपयुक्त प्रकाश प्राप्त हो सके। अधिक धीमी तथा अधिक तेज रोशनी आँखों के लिए हानिकारक होती है। कारखानों में शुद्ध वायु के प्रवेश की भी उचित व्यवस्था होनी चाहिये। श्रमिकों के लिए स्नान-गृह, मूत्रालय, शौचालय तथा स्वच्छ पीने के पानी की व्यवस्था होनी चाहिए।

(४) **दुर्घटनाओं की रोकथाम**—कारखानों में दुर्घटनाओं के रोकथाम की समुचित व्यवस्था होनी चाहिए। खतरनाक मशीनों के सामने 'आड़' (Fencing) लगा देनी चाहिए। मशीनों से पैदा होने वाले अग्निकाण्डों से बचने की उचित व्यवस्था होनी चाहिए। उदाहरण के लिए, अग्निरक्षक पोशाक का प्रयोग आवश्यक स्थानों पर करने की व्यवस्था होनी चाहिए। आकस्मिक परिस्थितियों के लिए डॉक्टर की भी व्यवस्था होनी चाहिए।

(II) कारखाने के बाहर के कार्य—

(१) **सस्ते व पौष्टिक भोजन का प्रबन्ध**—श्रमिकों की कार्यक्षमता को कायम रखने तथा उसमें वृद्धि करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि उन्हें सस्ता व पौष्टिक भोजन उपलब्ध हो। अधिकांश श्रमिकों को भर पेट भोजन तक नहीं मिल पाता है। इसका प्रभाव उनके स्वास्थ्य व कार्यक्षमता पर बहुत बुरा पड़ता है। अतएव यह आवश्यक है कि कारखानों में ऐसी

'केन्टीन' (Canteen) खोली जायें जहाँ पर उन्हें सस्ता व पौष्टिक भोजन उपलब्ध हो सके। इसके अतिरिक्त श्रमिकों के लिये उपभोक्ता सहकारी भण्डार भी खोले जाने चाहिये जहाँ पर उन्हें सस्ते भावों पर खाद्यान्न व अन्य दैनिक आवश्यकता की वस्तुएँ मिल सकें।

(२) **आवास का प्रबन्ध**—'रोटी' और 'कपड़ा' के उपरान्त मानव की तीसरी प्राथमिक आवश्यकता आवास की है। बुरी आवास व्यवस्था का अर्थ है गन्दगी, शराबखोरी, चोरी, बीमारी, व्यभिचार, जुआ, आचारहीनता और अपराध। उचित आवास व्यवस्था न होने से श्रमिक का शारीरिक, नैतिक व सामाजिक पतन होता है, जिसके परिणामस्वरूप उनकी कार्यक्षमता का निरन्तर ह्रास होता जाता है। डॉ० राधाकमल मुकर्जी के शब्दों में, "भारतीय औद्योगिक केन्द्रों की श्रम-बस्तियों की दशा इतनी भयंकर है कि वहाँ मानवता का विध्वंस होता है। महिलाओं के सतीत्व का नाश होता है एवं देश के भावी आधारस्तम्भ शिशुओं का गला घुट जाता है।" अतएव यह आवश्यक है कि श्रमिकों की उचित आवास व्यवस्था हो।

(३) **शिक्षा का प्रबन्ध**—श्रमिक प्रायः अशिक्षित एवं अज्ञानी होते हैं। यही उनकी समस्याओं का मूल स्रोत है। इसके कारण न तो उनकी कार्यक्षमता में किसी प्रकार की वृद्धि हो पाती है, न वे अपने आप को प्रगति के पथ पर अग्रसर कर पाते हैं। यही नहीं, उनकी इसी दुर्बलता का लाभ उठाकर श्रम-संगठन व नियोक्ता दोनों अपने-अपने लाभ के लिये उन्हें गुमराह करके उनका शोषण करते रहते हैं। अतः प्रौढ़ों व बालकों के लिये अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था होनी चाहिये। श्रमिकों के लिये रात्रि की कक्षायें प्रारम्भ की जा सकती हैं, जहाँ पर कि मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था हो।

(४) **मनोरंजन का प्रबन्ध**—श्रमिक दिन भर के कठिन परिश्रम के पश्चात् थक जाता है। अतएव थकान दूर करने के लिये उसे मनोरंजन की आवश्यकता होती है। मनोरंजन के साधनों का अभाव होने पर वह शराबघरों, ताड़ी की दूकानों, जुए के अड्डों तथा वेश्यालयों की ओर आकर्षित होता है। इससे उसका शारीरिक, आर्थिक व नैतिक पतन होता है। इसलिये यह आवश्यक है कि श्रमिकों की बस्तियों में विभिन्न प्रकार के मनोरंजन के साधनों की व्यवस्था होनी चाहिये। विभिन्न प्रकार के खेलकूदों के अतिरिक्त उनके लिये पुस्तकालय, वाचनालय, पार्क आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिये।

(५) **चिकित्सा का प्रबन्ध**—श्रमिकों को स्वस्थ बनाये रखने के लिये यह आवश्यक है कि उनकी चिकित्सा के लिये उपयुक्त व्यवस्था की जाय। इसके लिये समय-समय पर उनकी डाक्टरी परीक्षा होती रहनी चाहिये। उनके लिये निःशुल्क इलाज की व्यवस्था होनी चाहिये। इससे उनकी कार्यकुशलता में निश्चित रूप से वृद्धि होगी।

(६) **अन्य सुविधायें**—उपरोक्त के अतिरिक्त श्रमिकों के लिये अनिवार्य बीमा योजना, प्रॉवीडेण्ट फण्ड, बोनस, पेन्सन आदि की भी व्यवस्था होनी चाहिये।

भारत में श्रम-कल्याण की आवश्यकता और उसका महत्त्व, क्यों और कैसे ?
(Need and Utility of Labour Welfare in India)

श्रमिकों के शारीरिक, नैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक उत्थान के लिये श्रम-कल्याण आवश्यक है। श्रम-कल्याण पर जो कुछ भी व्यय किया जाता है वह 'मानवीय विनियोजन' है, जो मशीन आदि के विनियोजन से कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। कार्यक्षमता तथा श्रम-कल्याण में प्रत्यक्ष सम्बन्ध है। इससे औद्योगिक शान्ति का वातावरण बनता है। इस प्रकार सामान्य रूप में प्रत्येक देश के लिये श्रम-कल्याण की आवश्यकता है, किन्तु भारत की कुछ विशेष परिस्थितियाँ हैं, जिनके कारण पाश्चात्य देशों की तुलना में भारत में श्रम-कल्याण की विशेष आवश्यकता एवं महत्त्व है। इसके पक्ष में अग्र तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं।

(१) **श्रमिकों की प्रवासी प्रकृति के रोकने के लिए**—भारतीय श्रमिक प्रायः गाँवों से शहर में रोजगार की तलाश में आते हैं। शहरों में उन्हें अकेले ही गन्दी बस्तियों की दयनीय परिस्थितियों में रहना पड़ता है। वे शीघ्र ही इस दूषित वातावरण से ऊबकर वापस गाँव लौटने की सोचने लगते हैं। इस प्रकार उनमें स्थायित्व का अभाव रहता है और जो कुछ भी वे सीख पाते हैं, गाँव जाने पर तुरन्त भूल जाते हैं। जब वे वापस आते हैं तब उन्हें पुनः नये सिरे से काम की खोज करनी पड़ती है। श्रमिकों की इस प्रवासी प्रकृति को रोकने में श्रम-कल्याण पर्याप्त सहयोग दे सकता है। इसके द्वारा उनके रहने के लिये स्वच्छ मकान तथा अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है, ताकि वे सपरिवार शहर में ही आनन्दमय जीवन व्यतीत कर सकें।

(२) **औद्योगिक शान्ति की स्थापना के लिए**—श्रम और पूँजी औद्योगिक मशीनरी के दो पहियों के समान हैं। उद्योग की सफलता के लिये दोनों में सामंजस्य का होना परम आवश्यक है। इसके अभाव में औद्योगिक अशान्ति का भय उत्पन्न हो जाता है, जिससे सभी को क्षति पहुँचती है। श्रम-कल्याण के द्वारा श्रम और पूँजी दोनों के बीच निकटतम् सम्बन्ध स्थापित किये जा सकते हैं और इस प्रकार स्थायी औद्योगिक शान्ति की स्थापना की जा सकती है। भारत में औद्योगिक शान्ति की आज सबसे अधिक आवश्यकता है।

(३) **श्रम-संघों को संगठित करने के लिए**—पश्चिमी देशों में श्रम-संघ श्रम-कल्याण के अनेक कार्य करते हैं। उनके आर्थिक साधन भी सुदृढ़ हैं। इससे श्रमिकों के बीच सद्भावना बनी रहती है। परिणामस्वरूप वे संगठित रहते हैं। संगठन से उनकी शक्ति एवं साधनों में भी वृद्धि होती है। किन्तु भारत में श्रम-संघ श्रम-कल्याण का कार्य नहीं करते हैं। इसके अभाव में न तो सदस्यों के बीच सद्भावना ही रहती है और न वे संगठित ही हो पाते हैं। इसके कारण श्रमिकों का निरन्तर शोषण होता रहता है।

(४) **श्रमिकों के नैतिक उत्थान के लिये**—स्वस्थ मनोरंजन के साधनों का अभाव होने के कारण श्रमिक प्रायः शराबखोरी, वेश्यावृत्ति जैसे अनैतिक कार्यों का शिकार हो जाता है। श्रम-कल्याण के कार्यों के द्वारा श्रमिकों के लिये मनोरंजन के विविध साधनों की व्यवस्था की जा सकती है और इस प्रकार उनका नैतिक उत्थान किया जा सकता है।

(५) **श्रमिकों की कार्यक्षमता में वृद्धि के लिये**—भारतीय श्रमिक अकुशल है, क्योंकि उसकी कार्यक्षमता अन्य देशों की तुलना में न्यून है। इसका कारण यह है कि वह असन्तुष्ट है। उसकी न तो दैनिक जीवन सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति ही हो पाती है और न उसके काम करने की दशाओं में ही किसी प्रकार का सुधार हो पाता है। उसके साथ बराबर अन्याय होता रहता है और वह उसके विरुद्ध अपनी आवाज तक नहीं उठा सकता। हाय रे प्रभु! यह कैसा अन्याय है। इन सब बातों का उसकी कार्यक्षमता पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ता है। श्रम-कल्याण के द्वारा उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति की जा सकती है तथा उसके काम करने की दशाओं को सुधारा जा सकता है। ऐसा करने से श्रमिकों की कार्यक्षमता में निश्चित रूप से वृद्धि होगी। परिणामस्वरूप उत्पादन में वृद्धि होगी और इसका लाभ श्रमिकों, उत्पादकों, उपभोक्ताओं तथा राष्ट्र, सभी को पहुँचेगा।

(६) **मानसिक क्रान्ति के लिए**—श्रम-कल्याण के कार्यों के द्वारा श्रमिकों की मानसिक दशा में क्रान्ति आवेगी। जीवन के प्रति उदासीन और नैराश्य से परिपूर्ण रुख को बदल कर उनमें उत्साह तथा आशा का संचार होगा। वे अपने मालिकों को अपना शोषणकर्त्ता न समझकर एक हितैषी समझेंगे।

(७) **श्रमिकों की आर्थिक दशा सुधारने के लिए**—अन्य देशों की तुलना में भारतीय श्रमिकों की आर्थिक दशा बहुत ही दयनीय है। इसका कारण उसकी न्यूनतम मजदूरी दर तथा श्रम-कल्याण के कार्यों का अभाव होना है। श्रम-कल्याण के कार्यों द्वारा उसकी आर्थिक स्थिति में पर्याप्त सुधार किया जा सकता है। उनकी महिलाओं की सिलाई, कढ़ाई, बुनाई आदि की शिक्षा द्वारा उनके परिवार की आय में वृद्धि हो सकती है।

(८) **श्रमिकों को शिक्षित करने के लिए**—भारतीय श्रमिक अशिक्षित एवं अज्ञानी हैं। इसके कारण वे अपनी स्थिति तथा अधिकारों के सम्बन्ध में जागरूक नहीं हैं। उनकी इस अज्ञानता तथा अशिक्षा के कारण पेशेवर नेता लोग अपना उल्लू सीधा करने के लिये श्रमिकों को उल्टा-सीधा समझाकर चाहे जब हड़ताल आदि करा देते हैं। श्रम-कल्याण के कार्यों के द्वारा श्रमिकों के लिये सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था की जा सकती है।

(९) **कार्य करने की दशाओं में सुधार करने के लिये**—भारतीय कारखानों में कार्य करने की दशायें प्रायः असन्तोषजनक हैं। उन्हें अस्वस्थ वातावरण में काम करना पड़ता है जहाँ न तो वायु का प्रबन्ध है और न प्रकाश का ही। आये दिन दुर्घटनाएँ होती रहती है। श्रम-कल्याण के कार्यों के द्वारा कार्य करने की दशाओं में पर्याप्त सुधार किया जा सकता है।

(१०) **योजनाओं की सफलता तथा देश की समृद्धि के लिये**—श्रम उत्पादन का अनिवार्य अंग है। अतएव किसी भी उत्पादन लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए श्रम का सहयोग मिलना नितान्त आवश्यक है। भारत के आर्थिक विकास के लिये पंचवर्षीय योजनायें लागू की गई हैं। इन योजनाओं के अन्तर्गत विभिन्न लक्ष्य निर्धारित किये गए हैं। इन लक्ष्यों के प्राप्त होने पर ही देश की समृद्धि की कामना की जा सकती है। श्रम का सहयोग प्राप्त करने के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि देश में श्रम-कल्याण के कार्यों को आवश्यक प्रोत्साहन दिया जाय।

(११) **श्रम-कल्याण औद्योगिक प्रशासन के अंग के रूप में**—प्रगतिशील राष्ट्रों में श्रम-कल्याण को औद्योगिक प्रशासन के अंग के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। अब यह उद्योगपतियों की अनुकम्पा, सहृदयता एवं दयालुता का प्रमाण न होकर एक उत्तरदायित्व बन गया है। भारतीय उद्योगपतियों को इससे सबक लेना चाहिये तथा इसे सहर्ष स्वीकार कर लेना चाहिये। ऐसा करने से उनका उद्योग दिन-दूनी रात-चौगुनी गति से प्रगति करेगा।

भारत में श्रम कल्याण-कार्य
(Labour Welfare Works in India)

सुविधा की दृष्टि से भारत में श्रम-कल्याण कार्यों को निम्न चार वर्गों में विभाजित किया जा सकता है :—(I) केन्द्रीय सरकार द्वारा श्रम-कल्याण कार्य। (II) राज्य सरकारों द्वारा श्रम-कल्याण कार्य। (III) उद्योगपतियों द्वारा श्रम-कल्याण कार्य। एवं (IV) श्रमिक-सङ्घों द्वारा श्रम-कल्याण कार्य।

(I) केन्द्रीय सरकार द्वारा श्रम-कल्याण कार्य—

केन्द्रीय सरकार ने द्वितीय महायुद्ध के पश्चात् ही श्रम-कल्याण के कार्यों में भाग लेना प्रारम्भ किया है। यह कार्य मुख्य रूप से वैधानिक अनिवार्यता से सम्बन्धित है। इस सम्बन्ध में सरकार ने ऐसे कई विधान पास किये, जिनके अन्तर्गत उद्योगपतियों के लिये श्रम-कल्याण के कार्यों की व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया। इन विधानों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है :—

(१) **कारखाना अधिनियम, १९४८**—सन् १९३४ के पूर्व श्रम-कल्याण सम्बन्धी कोई विशेष वैधानिक व्यवस्था का प्रबन्ध नहीं किया गया था। केवल कारखाना अधिनियम में श्रमिकों

के स्वास्थ्य, सुरक्षा तथा विश्राम आदि से सम्बन्धित धाराओं का समावेश किया गया था। किन्तु सन् १९३४ में सर्वप्रथम कारखाना अधिनियम में श्रम-कल्याण सम्बन्धी विशेष धाराओं का समावेश किया गया। परिणामस्वरूप कारखानों में वायु, रोशनी, सफाई, पीने के पानी आदि की व्यवस्था की गई। सन् १९४८ में कारखाना अधिनियम में आवश्यक संशोधन करके स्नानघरों, प्राथमिक चिकित्सा, कैण्टीन, विश्रामघर आदि के सम्बन्ध में विस्तृत नियम एक स्वतन्त्र अध्याय में वर्णित किये गये हैं। ५०० या इससे अधिक श्रमिकों वाले कारखानों में श्रम-कल्याण अधिकारी की नियुक्ति अनिवार्य कर दी गई।

(२) **खान अधिनियम**, १९५२—सन् १९५२ में खानों में काम करने वाले श्रमिकों की सुरक्षा एवं लाभ के लिए एक विशेष अधिनियम पास किया गया। यह खान अधिनियम, १९५२ कहलाता है। इस अधिनियम के अन्तर्गत कारखाना अधिनियम सम्बन्धी सभी सुविधायें अनिवार्य रूप से उपलब्ध हैं।

(३) **बगीचा श्रम अधिनियम**, १९५१—सन् १९५१ में बगीचों में काम करने वाले श्रमिकों के हितों की रक्षा करने के लिये एक अलग से अधिनियम पास किया गया। यह बगीचा श्रम अधिनियम, १९५१ कहलाता है। इसके अन्तर्गत स्थायी श्रमिकों के लिये आवास व्यवस्था करना अनिवार्य कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें कारखाना अधिनियम सम्बन्धी सभी सुविधायें उपलब्ध हैं। बागानों का विभाजन करके मालिकों के अपने दायित्व से बचने आदि पर रोक लगाने के लिये सन् १९६० में इस अधिनियम में आवश्यक संशोधन किये गये।

(४) **मोटर यातायात श्रमिक अधिनियम**, १९६१—मई, १९६१ में मोटर यातायात श्रमिकों की दशाओं में सुधार करने तथा उनके कल्याण हेतु 'मोटर यातायात श्रमिक अधिनियम' पास किया गया। इसके अन्तर्गत श्रमिकों के लिये कैण्टीन, विश्राम-गृह, वर्दी, कार्य करने के घण्टे तथा छुट्टियों आदि के सम्बन्ध में आवश्यक व्यवस्थायें की गई हैं।

(५) **कोयला खान श्रमिक कल्याण कोष**, १९४४—सन् १९४४ में कोयला खान श्रमिक कल्याण हेतु एक विशेष कोष की स्थापना के लिये अध्यादेश जारी किया गया। इस कोष के द्वारा २ केन्द्रीय अस्पताल, ९ क्षेत्रीय अस्पताल, ५३ जच्चा-बच्चा कल्याणकारी केन्द्र, ३ औषधालय, २५ आयुर्वेदिक औषधालय, १ तपेदिक चिकित्सा केन्द्र, तथा ३ तपेदिक अस्पताल चलाये जा रहे हैं। इसके अतिरिक्त यह कोष प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र, महिला कल्याण केन्द्र, बाल-उद्यान तथा परिवार परामर्श केन्द्र का भी संचालन करता है। गृह-निर्माण के लिये 'अनुदान सम्मिलित ऋण योजना' भी चालू की गई है, जिसके अन्तर्गत गृह-निर्माण के लिये अनुदान तथा ऋण दिया जाता है। अब तक इस योजना के अन्तर्गत ५,८५१ घर बनाये जा चुके हैं। नवीन आवास योजना के अन्तर्गत कोयले की खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिये ६०,३४२ मकान तथा १४२ बैरकें बनाने का कार्य पूरा हो चुका है। उपरोक्त कोष के द्वारा १२ केन्द्रीय उपभोक्ता सहकारी भण्डार, ३७२ प्राथमिक उपभोक्ता भण्डार और १९७ सरकारी ऋण समितियों को भी वित्तीय सहायता दी जाती है।

(६) **अभ्रक खान श्रमिक कल्याण कोष**, १९४६—सन् १९४६ में अभ्रक खान श्रमिक कल्याण हेतु एक अधिनियम पास किया गया। इसके द्वारा एक कोष की स्थापना की गई। इस कोष में से अभ्रक की खानों में काम करने वाले श्रमिकों के लिये चिकित्सा, शिक्षा, मनोरंजन आदि की व्यवस्था की जाती है। इसके अतिरिक्त इस कोष द्वारा ४ अस्पताल स्थापित किये जा चुके हैं। यही नहीं, इस कोष द्वारा कई लघु चिकित्सालय तथा जच्चा-बच्चा केन्द्र तथा प्राथमिक विद्यालय चलाये जा रहे हैं, बच्चों को छात्रवृत्तियाँ मिलती हैं तथा पुस्तकें निःशुल्क दी

जाती हैं। सन् १९७०-७१ के वर्ष में इस कोष में से अभ्रक उत्पादन करने वाले राज्यों को ५२·९८ लाख रु० (१२ लाख रु० आन्ध्र प्रदेश को, २९·५१ लाख रु० बिहार राज्य को तथा ११·४७ लाख रु० राजस्थान को) दिये गये।

(७) **लोहा खान श्रमिक कल्याण अधिनियम, १९६१**—सन् १९६१ में 'लोहा खान श्रमिक कल्याण अधिनियम' पास किया गया। इस अधिनियम में लोहे की खान में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण के लिए कर (cess) लगाकर कोष बनाने का आयोजन किया गया है। प्रारम्भ में लोहे पर कर की दर २५ पैसे प्रति मीट्रिक टन निर्धारित की गई है। १ अक्टूबर, १९६३ से यह अधिनियम केन्द्र द्वारा प्रशासित राज्यों अर्थात् गोआ, डामन, ड्यू पर भी लागू किया गया है। इस अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित कोष में से लोहा खानों में कार्य करने वाले श्रमिकों एवं उनके परिवारों के सदस्यों को चिकित्सा, शिक्षा, आवास, पीने के पानी तथा मनोरंजन आदि की सुविधायें दी जाती हैं। सन् १९७०-७१ के वित्तीय वर्ष में इन कल्याणकारी कार्यों पर कोष में से ७६·९८ लाख रु० व्यय किये। गये

(८) **सार्वजनिक औद्योगिक उपक्रम श्रमिक कल्याण कोष, १९४६**—सार्वजनिक औद्योगिक उपक्रमों में काम करने वाले श्रमिकों के कल्याण के लिये सन् १९४६ में विशेष कोष की स्थापना की गई। इसका नाम 'सार्वजनिक औद्योगिक उपक्रम श्रमिक कल्याण कोष' है। इन कोषों की स्थापना स्वेच्छा के आधार पर की गई है।

(९) **श्रम-कल्याण केन्द्र**—अनेक राज्य तथा सङ्घ-क्षेत्र कई कल्याणकारी केन्द्र चला रहे हैं। इन केन्द्रों के द्वारा श्रमिकों तथा उनके बच्चों की मनोरंजन, शिक्षा, व्यावसायिक तथा संस्कृति (Vocational and Cultural) सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति होती है। इसके अतिरिक्त सभी ख्याति-प्राप्त निजी औद्योगिक संस्थायें भी अपने श्रमिकों के लाभ के लिये कल्याण केन्द्र चलाती हैं।

(१०) **राष्ट्रीय पुरस्कार योजनायें** (National Award Schemes)[1]— कारखानों में अच्छी सुरक्षा व्यवस्था रखने पर केन्द्रीय सरकार द्वारा सर्वोत्तम औद्योगिक संस्थाओं के लिये 'राष्ट्रीय सुरक्षा पुरस्कार' की चार योजनायें चालू की गई हैं। प्रत्येक योजना में १५ पुरस्कारों का प्रावधान है। इसके अतिरिक्त उद्योगों (Factories, Mines, Plantations and Docks) में उत्पादन वद्धि, मितव्ययिता तथा कार्यकुशलता में वृद्धि के लिये उपयोगी सुझाव देने वाले श्रमिकों को '**श्रमवीर**' की उपाधि से विभूषित किये जाने की भी योजना है। इस योजना के अन्तर्गत ३५ पुरस्कार दिये जाते हैं।

(११) **खानों में निरापत्ता के उपाय**—खान अधिनियम, १९५२ तथा इसके अधीन बने नियमों एवं उप-नियमों के आधार पर खानों में श्रम तथा निरापत्ता के नियमों की व्यवस्था है। सन् १९६९ में कोयला खान सहित सभी खानों में प्रति हजार ०·५० व्यक्तियों ने दुर्घटनाओं में अपनी जान गँवाई। एक राष्ट्रीय खान निरापत्ता परिषद् की स्थापना की गई है जो सुरक्षात्मक साधनों के सम्बन्ध में शिक्षा प्रदान करती है।

(II) राज्य सरकारों द्वारा श्रम-कल्याण कार्य—

सन् १९३७ के पूर्व राज्य सरकारों ने श्रम कल्याण के कार्यों की ओर कोई ध्यान नहीं दिया था। वे केवल केन्द्र की इच्छानुसार ही कार्य करती थीं। सन् १९३७ में विभिन्न राज्यों में कांग्रेसी मन्त्रिमण्डल स्थापित हुये। कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने श्रम-कल्याण के लिये कई योजनायें बनाईं। सन् १९४७ के बाद से तो राज्य सरकारों ने इस दिशा में बड़े प्रशंसनीय

[1] *India* 1971-72.

कार्य किये हैं। बम्बई, उत्तर-प्रदेश तथा बंगाल राज्य की सरकारों ने इस दिशा में विशेष उल्लेखनीय कार्य किये हैं। इनका संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :—

(१) **बम्बई राज्य**—बम्बई राज्य में सर्वप्रथम १९३९ में श्रम-कल्याण केन्द्रों की स्थापना की गई। यहाँ पर चार श्रेणी के श्रम-कल्याण केन्द्र हैं। प्रथम श्रेणी के केन्द्रों में बच्चों के लिये नर्सरी स्कूल हैं। इसके अतिरिक्त इनमें महिलाओं और पुरुषों की शिक्षा, चिकित्सा, मनोरंजन आदि के लिए विभिन्न प्रकार की व्यवस्थायें हैं। द्वितीय श्रेणी के केन्द्रों में प्रथम श्रेणी के केन्द्रों की भाँति ही व्यवस्थायें हैं, किन्तु उनका स्तर कुछ नीचा है। तृतीय तथा चतुर्थ श्रेणी के केन्द्रों में मनोरंजन आदि की सामान्य रूप में व्यवस्थायें हैं, इसके अतिरिक्त विभिन्न केन्द्रों में चलते फिरते पुस्तकालय तथा वाचनालयों की भी व्यवस्था की गयी है। कई प्रशिक्षण केन्द्र भी खोले गये हैं।

(२) **उत्तर प्रदेश**—उत्तर प्रदेश की सरकार ने सन् १९३७ में एक श्रम आयुक्त (Labour Commissioner) के अधीन एक पृथक श्रम-विभाग की स्थापना की। अब तक इस विभाग द्वारा ६४ श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित किये जा चुके हैं। ये केन्द्र मुख्य रूप से कानपुर, आगरा, लखनऊ, वाराणसी, फिरोजाबाद, अलीगढ़, सहारनपुर, मुरादाबाद, मेरठ, गाजियाबाद, गोरखपुर, रुड़की आदि में स्थित हैं। इनमें से कुछ स्थायी हैं तथा कुछ अस्थायी। बम्बई राज्य की तरह यहाँ पर भी इन केन्द्रों को चार श्रेणियों में विभाजित किया गया है। प्रथम श्रेणी के केन्द्रों में अँग्रेजी ढङ्ग के चिकित्सालय, पुस्तकालय, वाचनालय, महिलाओं के लिये सिलाई आदि का प्रशिक्षण, बाहरी तथा भीतरी खेल, प्रसूति-गृह, रेडियो, संगीत तथा शिशु कल्याण की सुविधाये प्राप्त हैं। द्वितीय श्रेणी के केन्द्रों में प्रथम श्रेणी के केन्द्रों की भाँति ही सुविधायें प्राप्त हैं, किन्तु अन्तर केवल इतना है कि अँग्रेजी चिकित्सालय के स्थान पर होम्योपैथिक चिकित्सालय है। तृतीय श्रेणी के केन्द्रों में पुस्तकालय, वाचनालय, बाहरी तथा भीतरी खेल तथा रेडियो की व्यवस्था है। चतुर्थ ेणी के केन्द्रों में केवल बाहरी खेलों की व्यवस्था है।

उपरोक्त व्यवस्थाओं के अतिरिक्त उत्तर-प्रदेश की सरकार ने श्रमिकों की आवास व्यवस्था पर काफी व्यय किया है। श्रमिक राज्य बीमा योजना से भी लाखों श्रमिकों को लाभ पहुँचता है।

(३) **अन्य राज्यों में श्रम-कल्याण कार्य**—उपरोक्त राज्यों के अतिरिक्त भारत के शेष राज्यों में भी राज्य सरकारों की ओर से श्रम-कल्याण केन्द्र स्थापित किये गये हैं। इनमें विशेष रूप में बंगाल, पंजाब, मध्य-प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। केन्द्र तथा राज्य सरकारों द्वारा प्रथम तथा द्वितीय योजना काल में क्रमशः ७ करोड़ रु० तथा १९.८१ करोड़ रु० श्रम-कल्याण के कार्यों पर व्यय किये गये। तृतीय योजना काल में लगभग ७१ करोड़ रु० व्यय होने का अनुमान था।

(III) उद्योगपतियों द्वारा श्रम-कल्याण-कार्य—

अतीत में भारतीय उद्योगपति श्रम-कल्याण कार्यों के प्रति उदासीन रहे हैं। इसका कारण यह है कि वे बहुत समय तक श्रम-कल्याण कार्यों को अनार्थिक विनियोग समझते रहे। वे श्रमिकों का अधिक से अधिक शोषण करना चाहते थे। उनके विचारानुसार श्रमिकों को जितनी अधिक सुविधायें दी जायेंगी, उनके दिमाग उतने ही ऊँचे चढ़ जायेंगे और बाद में उनसे काम लेना और भी दुर्लभ हो जायगा। परन्तु पिछले लगभग २५ वर्षों से वे यह समझने लगे हैं कि श्रम उत्पादन का एक अनिवार्य अंग है, अतएव उसके सहयोग के बिना उत्पादन में वृद्धि सम्भव

नहीं है। श्रमिकों का सहयोग प्राप्त करने के लिये श्रम-कल्याण कार्यों को उचित स्थान देना होगा। इधर समय-समय पर पास किये गये अधिनियमों ने भी उन्हें श्रम-कल्याण की ओर आवश्यक ध्यान देने के लिये बाध्य किया है। भारत के कुछ प्रमुख उद्योगों में उद्योगपतियों द्वारा किये गये श्रम-कल्याण कार्यों का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है :—

(१) **सूती वस्त्र उद्योग**—सूती वस्त्र उद्योग भारत का सबसे प्रमुख एवं सबसे बड़ा उद्योग है। बम्बई में लगभग प्रत्येक सूती वस्त्र मिल में सस्ते गल्ले की दूकानें, चिकित्सालय आदि की व्यवस्थायें हैं। ५७ मिलों में केण्टीन तथा ५३ मिलों में सहकारी समितियाँ हैं। कई मिलों में आधुनिक चिकित्सालय, जलपान गृह, शिक्षण केन्द्र, बाहरी तथा भीतरी खेल, प्रॉविडेण्ट फण्ड योजनायें, आवास-व्यवस्था, शिशु-गृह, पुस्तकालय, वाचनालय, ड्रामा-क्लब, मुफ्त दूध, हलका भोजन तथा फल बाँटने की व्यवस्था, प्रौढ़ शिक्षा केन्द्र, बुढ़ापे की पेंशन, बीमा योजना, पारितोषण वितरण, व्यायामशाला आदि की व्यवस्था है। इस दृष्टि से नागपुर का एम्प्रैस मिल, दिल्ली का दिल्ली क्लॉथ एण्ड जनरल मिल्स, मद्रास का बकिंघम एण्ड कर्नाटक मिल्स, ग्वालियर का जीवाजीराव कॉटन मिल्स, बंगलौर का बंगलौर बुलियन कॉटन मिल्स, बिड़ला कॉटन मिल्स, मदुरा की मदुरा मिल्स आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

(२) **जूट उद्योग**—भारतीय जूट मिल्स एसोसियेशन ने, जो इस क्षेत्र के उद्योगपतियों का एक शक्तिशाली सङ्गठन है, श्रम-कल्याण के कार्यों का उत्तरदायित्व स्वयं अपने कन्धों पर लिया है और इस सम्बन्ध में सराहनीय कार्य भी किया है। इस एसोसियेशन ने पाँच स्थानों पर श्रम-कल्याण केन्द्र की स्थापना की है। प्रायः सभी मिलों में श्रम-कल्याण अधिकारी की नियुक्ति की गई है। इस समय लगभग ७० जूट मिलों में केण्टीन, ६७ मिलों में चिकित्सालय, ५५ मिलों में शिशु-गृह, ३५ मिलों में स्कूल तथा २४ मिलों में मनोरंजन केन्द्र चलाये जा रहे हैं। कई मिलों में व्यायामशालायें, पुस्तकालय, वाचनालय तथा सिनेमा आदि दिखाने की भी व्यवस्था है।

(३) **इन्जीनियरिंग उद्योग**—इस क्षेत्र में उन उद्योगों में जहाँ १,००० या इससे अधिक श्रमिक कार्य करते हैं, चिकित्सालय का प्रबन्ध किया गया है। कुछ कारखानों में, जहाँ स्त्री श्रमिक कार्य करती हैं, शिशु-गृह भी हैं। छोटे-बड़े सभी कारखानों में कैण्टीन की व्यवस्था है। कुछ बड़े कारखानों में श्रमिकों के लिये मनोरंजन की व्यवस्था भी है। इसके अतिरिक्त प्रायः सभी कारखानों में प्रॉवीडेण्ट फण्ड की भी व्यवस्था है। श्रम-कल्याण के कार्यों की सबसे अच्छी व्यवस्था 'टाटा आइरन एण्ड स्टील कम्पनी, जमशेदपुर' में है। इसमें ४०० पलंग वाला एक बड़ा अस्पताल, ३ स्कूल, ११ मिडिल स्कूल, १६ प्रारम्भिक पाठशालाएँ, ६ रात्रि की पाठशालाएँ, १२ श्रम-कल्याण केन्द्र, बड़े-बड़े खेल के मैदान, पुस्तकालय, वाचनालय, उपभोक्ता सहकारी भण्डार, शिशु-गृह, मुफ्त सिनेमाघर, बच्चों के लिये मुफ्त दूध व बिस्कुट का वितरण आदि की व्यवस्था है। आशा है कि अन्य स्टील के कारखाने भी शीघ्र इस कम्पनी का अनुकरण करेंगे।

(४) **चीनी उद्योग**—चीनी के सभी बड़े-बड़े कारखानों में चिकित्सालय की व्यवस्था है। इसके अतिरिक्त अधिकांश चीनी मिलों में स्कूल, मनोरंजन के लिये क्लब, बाहरी व भीतरी जलपान-गृह, कैण्टीन, उपभोक्ता सहकारी समिति, वाचनालय आदि की व्यवस्था है।

उपभोक्ता के अलावा सीमेण्ट उद्योग, कागज उद्योग, ऊनी वस्त्र उद्योग, बागान उद्योग, कोयला खान उद्योग, अभ्रक खान उद्योग में भी श्रम-कल्याण कार्यों की व्यवस्था है।

(IV) श्रमिक संघों द्वारा श्रम-कल्याण के कार्य—

भारतीय श्रमिक अन्य प्रगतिशील पश्चिमी देशों के श्रमिकों की भाँति न तो उतना

शिक्षित है और न जागरूक, अतएव उसमें संगठन की प्रवृत्तियों का अभाव है। उनके आर्थिक साधन सीमित हैं, अतः वे श्रम-कल्याण के कार्यों पर आवश्यक व्यय नहीं कर पाते। राष्ट्रीय कांग्रेस की चेतना के साथ श्रमिकों में कुछ संगठन अवश्य हुआ है। श्रमिक-संघों ने इस संगठन का उपयोग मिल-मालिकों के साथ मजदूरी, कार्य के घण्टे आदि के बारे में संघर्ष करने में ही किया है। किन्तु फिर भी कुछ श्रमिक संघों ने इस दिशा में सराहनीय कार्य किया है। इस क्षेत्र में अहमदाबाद सूती वस्त्र मिल श्रम-संघ, मजदूर सभा कानपुर, इन्दौर मिल-मजदूर संघ, रेलवेमैन्स यूनियन, बैंक कर्मचारी संघ, फैडरेशन ऑफ इण्डियन लेबर के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

अन्य संस्थाओं द्वारा श्रम-कल्याण-कार्य—

श्रम कल्याण के क्षेत्र में कुछ समाज-सेवी संस्थाओं के नाम भी विशेष उल्लेखनीय हैं। इनमें बम्बई समाज सेवी लीग, सेवा सदन समिति, बम्बई प्रेसीडेन्सी महिला समिति, वाई० एम० सी० ए० (Y. M. C. A.) तथा दलित वर्ग सङ्घ के नाम प्रमुख हैं। इन संस्थाओं ने मुख्य रूप में शिक्षा के क्षेत्र में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान किया है। कई स्थानों पर नगरपालिकाओं तथा नगर निगमों ने भी श्रम-कल्याण के कार्यों में अपना महत्त्वपूर्ण योग दिया है। इस प्रकार उपरोक्त कथन से यह विदित हो जाता है कि भारत में अब इस दिशा में सक्रिय कदम उठाये जाने लगे हैं। हमें यह आशा करनी चाहिये कि निकट भविष्य में श्रम-कल्याण केन्द्रों की संख्या में और भी तीव्र गति से वृद्धि होगी। इस प्रकार हमारे देश में श्रम-कल्याण के कार्यों का भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल है। श्रम-कल्याण के कार्यों के माध्यम से ही 'कल्याणकारी राज्य' (Welfare State) की स्थापना की कामना की जा सकती है।

पंचवर्षीय योजनाओं के अन्तर्गत श्रम-कल्याण
(Labour Welfare During Five Year Plans)

प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में श्रम-कल्याण हेतु ६·३१ करोड़ रुपये रखे गये थे। इस अवधि में श्रमिकों के रहने के लिये ४०,००० मकानों का निर्माण किया गया तथा लगभग ३४२ श्रम-कल्याण केन्द्रों की स्थापना की गई। **द्वितीय पंचवर्षीय योजना** काल में श्रम कल्याण हेतु २९·१६ करोड़ रुपये रखे गये थे। इस अवधि में १,३२० श्रम-कल्याण केन्द्रों की स्थापना की गयी। **तृतीय पंचवर्षीय योजना** काल में भारत सरकार ने ४५ करोड़ रुपये श्रम-कल्याण के कार्यों पर व्यय किये। **चतुर्थ पंचवर्षीय योजना** काल में श्रम-कल्याण के कार्यों पर और अधिक राशि व्यय होने की व्यवस्था की गई है।

भारत में श्रम-कल्याण कार्यों की असफलता क्यों ?

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भारत जैसे विशाल आबादी वाले देश में, जहाँ कि जनसंख्या का एक महत्त्वपूर्ण भाग औद्योगिक श्रमिकों के रूप में कार्य करता है, श्रम-कल्याण कार्यों की प्रगति असन्तोषजनक रही है। भारत में श्रम-कल्याण कार्यों की असफलता के प्रमुख कारण निम्न हैं :—(१) भारतीय उद्योगपति अभी तक श्रम-कल्याण कार्यों के दायित्त्व को अपने ऊपर एक बोझा मानते हैं। अतएव वे इस दिशा में तब तक कोई कदम नहीं उठाते हैं जब तक कि राजनियम के द्वारा ऐसा करना अनिवार्य न हो। कोई न कोई बहाना लेकर वे सदैव टालने का ही प्रयत्न करते हैं। (२) श्रम कल्याण कार्यों का आयोजन करने में सच्चाई एवं वैज्ञानिक दृष्टिकोण का प्रायः अभाव रहता है। अनेक दशाओं में ये कार्य श्रम-संघों के विकास को रोकने अथवा श्रमिकों के विद्रोह को शान्त करने के लिये ही किये गये हैं। (३) श्रम-कल्याण कार्यों को वैज्ञानिक ढङ्ग से संगठित करने के लिये भारत में प्रशिक्षित कार्यकर्त्ताओं का अभाव है। (४) श्रमिक भी श्रम-कल्याण कार्यों के आयोजन में पर्याप्त रुचि नहीं लेते हैं। (५) भारत में श्रम-कल्याण

सम्बन्धी अधिनियम भी अनियोजित एवं अवैज्ञानिक ढङ्ग से पास हुए हैं, जिसके कारण उनके व्यवहारिक प्रचलन में कभी-कभी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है।

भारत में श्रम-कल्याण कार्यों को सफल बनाने के लिये कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव—

भारत में श्रम-कल्याण कार्यों को और अधिक सफल एवं प्रभावशाली बनाने के लिये निम्न सुझाव महत्त्वपूर्ण हैं :—(१) भारतीय कारखाना अधिनियम, १९४८ की श्रम-कल्याण सम्बन्धी धाराओं [४२-५०] में अनुभव के आधार पर आवश्यक संशोधन किये जाने चाहिये। तत्पश्चात् इसके क्रियाशीलन पर अधिक बल दिया जाना चाहिये। उल्लंघन की दशा में कड़े आर्थिक एवं दण्डनीय दोनों प्रकार के दण्डों की व्यवस्था होनी चाहिये। (२) सरकार द्वारा उद्योगपतियों तथा श्रम संघों को श्रम-कल्याण कार्यों हेतु आर्थिक सहायता दी जानी चाहिये। (३) केन्द्रीय सरकार एवं राज्य सरकारों को श्रम-कल्याण कार्यों में अधिकाधिक भाग लेना चाहिये। (४) श्रम-कल्याण अधिकारियों को अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति अधिक जागरूक रहना चाहिये। (५) उद्योगपतियों को श्रम-कल्याण कार्यों के प्रति अपने दृष्टिकोण में परिवर्तन करना चाहिये। उन्हें इन कार्यों को केवल बोझा न समझ कर पूरा करना अपना परम कर्त्तव्य मानना चाहिये। (६) इन कार्यों में तीव्र गति लाने के लिये श्रमिकों को कल्याण-समितियों में अधिक से अधिक भाग लेना चाहिये। (७) सभी पक्षों को श्रम-कल्याण कार्य अपना नैतिक उत्तरदायित्व समझकर करना चाहिये।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. श्रम-कल्याण सम्बन्धी कार्य-क्षेत्र में, जो प्रगति भारत में, स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् हुई है, उसका वर्णन कीजिए। (आगरा, १९७२)

२. श्रम-कल्याण का अर्थ समझाइये। भारत में विभिन्न संस्थाओं द्वारा आयोजित कल्याण कार्यों का संक्षिप्त विवरण दीजिये। (आगरा, १९७०)

३. कारखाना अधिनियम में श्रम-कल्याण के लिये क्या व्यवस्थायें हैं ? श्रमिकों की दशा सुधारने में ये कहाँ तक सहायक हुई हैं ? (आगरा, १९६९)

४. श्रम-कल्याण से आप क्या समझते हैं ? इस दिशा में भारत में (अ) मालिकों तथा (ब) मजदूर समाज (Trade Union) ने क्या काम किया है ? (आगरा, १९६८)
What do you understand by Labour Welfare ? What works in this sphere has been done in India by (a) employers, and (b) Trade Unions ?

५. "पश्चिम के मुकाबले में भारत में श्रम-कल्याण कार्य का अधिक महत्त्व है।" इस कथन की जाँच कीजिये तथा भारत में अभी हाल के कुछ वर्षों में विभिन्न एजेन्सीज द्वारा किये गये श्रम-कल्याण कार्यों की प्रकृति को समझाइये।

६. भारत में किसी उद्योग में औद्योगिक भवन (Industrial Enterprises) (क) कानूनी प्रावधानों के अनुसार तथा (ख) स्वेच्छा से जो श्रम-कल्याण कार्य करते हैं, उनकी विवेचना कीजिये। क्या आप इस काम को पर्याप्त समझते हैं ? (आगरा, १९६६)

७. "श्रम-कल्याण के साधन द्रव्य की बर्बादी हैं, क्योंकि न तो उनका स्वभाव और न उनके इस्तेमाल की सीमा मजदूरों की कार्यक्षमता में वृद्धि करती है।" इस कथन पर अपने विचार प्रकट कीजिये। (आगरा, १९६४)

२६

भारत में सामाजिक सुरक्षा

(Social Security in India)

प्रारम्भिक—सामाजिक सुरक्षा से आशय

मनुष्य सामाजिक प्राणी है। वह समाज में जन्म लेता है, समाज में रहता है और अन्त में समाज के अन्दर ही मर जाता है। अतः यह समाज का प्राथमिक कर्तव्य है कि वह मानव की भलाई के लिये समस्त आवश्यक सुविधायें प्रदान करे। बीमारी, बेकारी, भुखमरी, वृद्धावस्था, विधवापन और अज्ञानता आदि ऐसे दानव हैं जिनसे युद्ध करने के वास्ते मनुष्य को सामाजिक सुरक्षा की विशेष आवश्यकता पड़ती है। सर विलियम बैवरीज (Sir William Beveridge) के अनुसार, 'सामाजिक सुरक्षा से अभिप्राय पाँच दानवों के ऊपर आक्रमण है, जैसे आवश्यकता, बीमारी, अज्ञानता, गन्दगी और बेकारी।' अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन (International Labour Organisation) ने सामाजिक सुरक्षा को इस प्रकार परिभाषित किया है : 'सामाजिक सुरक्षा वह सुरक्षा है जो समाज के किसी उचित सङ्गठन द्वारा सदस्यों को किन्हीं खतरों में प्रदान की जाती है, जो खतरे उन पर कभी भी आक्रमण कर सकते हैं।' प्रश्न यह होता है कि वास्तव में ये खतरे हैं क्या? प्रत्युत्तर में कहा जा सकता है कि ये खतरे अनिवार्य रूप से आपत्तियाँ हैं, जिनका न्यून साधनों वाले व्यक्ति सामना नहीं कर सकते हैं। इस प्रकार यह एक ऐसी योजना है जिसमें कि सामाजिक व्यक्ति को जीवन की असुरक्षाओं के प्रति सुरक्षा प्रदान की जाती है।

सामाजिक सुरक्षा की परिभाषा
(Definition of Social Security)

श्री जी० डी० एच० कोल के अनुसार "सामाजिक सुरक्षा का विचार विस्तृत रूप में यह है कि राज्य अपने सभी नागरिकों के लिये न्यूनतम भौतिक कल्याण करने का भार लेता है, जिससे उनके जीवन की सभी मुख्य आकस्मिक घटनायें (जन्म से मृत्यु तक) सुरक्षित हो जायें।"[1]

अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संगठन के शब्दों में, "यह वह सुरक्षा है जो समाज किसी उपयुक्त सङ्गठन द्वारा अपने सदस्यों की उन जोखिमों के विरुद्ध रक्षा करता है, जिनसे वे प्रभावित हो सकते हैं। ये जोखिम आवश्यक रूप से वे हैं जिनके विरुद्ध अल्प आयु वाले लोग अपनी बुद्धिमत्ता या दूरदर्शिता से व्यवस्था नहीं कर पाते हैं।"

निष्कर्ष—वास्तव में सामाजिक सुरक्षा एक अत्यन्त ही विस्तृत शब्द है, जिसमें मानव

---

1 "The idea of social security, but broadly, is that the state shall make itself responsible for ensuring a minimum standard of material welfare to all its citizen on a basis wide enough to cover all the contingencies of life of an individual from birth to death."—G. D. H. Cole.

की भलाई के वास्ते किया जाने वाला प्रत्येक 'कार्य आ जाता है। 'जन्म से मृत्यु तक' जो भी मनुष्य की न्यूनतम आवश्यकतायें होती हैं वे सभी सामाजिक सुरक्षा में आ जाती हैं।

संसार के विभिन्न देशों में सामाजिक सुरक्षा का उद्गम

सामाजिक सुरक्षा की विचारधारा का उद्गम सर्वप्रथम जर्मनी में हुआ, जबकि सम्राट विलियम प्रथम ने १८८३ में चिकित्सा हित लाभ और १८८४ में श्रमिक क्षति-पूर्ति का श्रीगणेश किया। आज रूस की सामाजिक सुरक्षा की योजनायें संसार के अन्य राष्ट्रों की अपेक्षा सर्वश्रेष्ठ मानी जाती हैं, जहाँ कि इन योजनाओं पर प्रतिवर्ष लगभग २,१४,००० रूबल (रूस की मुद्रा का नाम) का व्यय होता है। इङ्गलैण्ड में बैवरिज प्रणाली के अन्तर्गत सरकार शिशु, युवक, वृद्ध, स्त्री-पुरुष सभी को 'जन्म से लेकर मरण' तक आवश्यक सुविधायें प्रदान करती है। वहाँ भारतीय मुद्रा में प्रतिवर्ष १,२०० करोड़ रु० केवल सामाजिक सुरक्षा पर ही खर्च होता है। सन् १९३५ में अमेरिका के अन्दर सामाजिक सुरक्षा अधिनियम पास हुआ, जिसमें सामाजिक बीमे का क्षेत्र काफी विस्तृत कर दिया गया। इसके बाद न्यूजीलैण्ड (Newzeland), स्वीडन, डेनमार्क, फ्रांस, मिस्र और आस्ट्रेलिया आदि ने भी अपने-अपने यहाँ सामाजिक सुरक्षा की विशाल योजनायें प्रारम्भ कीं।

भारत में सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता
(Need of Social Security in India)

भारत में सामाजिक सुरक्षा के बारे में जो कुछ भी कहा जाय, कम ही होगा। भारतीय श्रमिकों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। बेकारी, भुखमरी, अज्ञानता, दरिद्रता और विभिन्न प्रकार की बीमारियों का बोलबाला है। ऊँची मृत्यु और जन्म दर का होना, न्यूनतम मजदूरी, सीमित जीवन काल, श्रम-संघों का राजनैतिक दृष्टि से शोषण, निम्न श्रेणी का जीवन-स्तर और राष्ट्रीय आय, श्रमिकों में तीव्र मतभेद, श्रमिकों और मालिकों का आपस में असहयोग, अँग्रेजी सरकार की विनाशकारी नीति आदि ऐसी बातें हैं जिनके कारण मानव अपने को असुरक्षित महसूस करता है। भारतीय श्रमिक अकुशल कहलाता है, क्योंकि उनकी न्यूनतम आवश्यकतायें भी पूरी नहीं हो पातीं, आरामदेय अथवा विलासिताओं का तो कहना ही क्या? यदि हम चाहते हैं कि भारत में कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो, राष्ट्र प्रगति करे और श्रमिकों की अकुशलता दूर हो तो सामाजिक सुरक्षा का विकास किया जाना परम आवश्यक है। समानता ही हमारे विधान का एक प्रधान अंग है, जिसको प्राप्त करने के लिये सामाजिक सुरक्षा रूपी क्रान्ति करनी होगी। श्री बैवरिज के अनुसार जितने अधिक आप गरीब होंगे, उतनी ही अधिक आपको सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता पड़ती है.........। यही कारण है कि अन्तर्राष्ट्रीय श्रम-संघ भी भारत में दरिद्रता को कम करने के लिये सामाजिक सुरक्षा पर बल दे रहा है। देश के औद्योगीकरण में भी सामाजिक सुरक्षा की आवश्यकता है।

भारत में सामाजिक सुरक्षा का श्रीगणेश

भारत में सामाजिक सुरक्षा प्रदान करने का श्रीगणेश सन् १९२३ के 'श्रमिक क्षति-पूर्ति अधिनियम' (Workmen's Compensation Act, 1923) के पास होने के साथ-साथ ही कहा जा सकता है। यह अधिनियम जुलाई, १९२४ से कार्यान्वित हुआ। बाद में इस अधिनियम में आवश्यक संशोधन क्रमशः १९२६, १९२९, १९३३ और १९४४ में हुए। **श्रमिक क्षतिपूर्ति अधिनियम का अन्तिम संशोधन सन् १९६२ में हुआ।** इसके अनुसार यह अधिनियम उन सभी श्रमिकों पर लागू होता है जिनका मासिक पारिश्रमिक ५०० रु० से अधिक नहीं है तथा जिनका रोजगार आकस्मिक नहीं है। जिन श्रमिकों को कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १९४८ के अन्तर्गत आश्रित-लाभ (Dependents Benefit) या अयोग्यता लाभ (Disablement Benefit)

प्राप्त होता है, उन्हें इस अधिनियम के अन्तर्गत सहायता नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त जो लिपिक (Clerk) या प्रशासक (Administrator) के पद पर कार्य करते हैं उन्हें भी इस अधिनियम के अन्तर्गत सहायता नहीं मिलती। इसके अन्तर्गत श्रमिकों को मृत्यु, अस्थायी, आंशिक अथवा स्थायी पूर्ण असमर्थता (Disablement) के लिये क्षतिपूर्ति मिलती है, बशर्ते कि चोट काम करते हुये पहुँची हो और मजदूर के स्वयं के दोष के कारण न लगी हो, अर्थात् यदि चोट शराब अथवा समान द्रव्य के नशे में या मालिक के आदेशों की जान-बूझकर अवहेलना के कारण लगी हो तो उसको किसी भी किस्म का मुआवजा नहीं मिलेगा। मुआवजे की दर भिन्न भिन्न दशाओं में भिन्न-भिन्न है। क्षतिपूर्ति की धनराशि श्रमिक के औसत मासिक पारिश्रमिक तथा दुर्घटना से उत्पन्न चोट की अवस्था के अनुसार निश्चित की जाती है। घायल श्रमिक जिसका मासिक पारिश्रमिक १० रु० से अधिक नहीं है उसे मृत्यु की अवस्था में ५०० रु०, स्थायी अपङ्गता की अवस्था में ७०० रु० तथा अस्थायी अपङ्गता की अवस्था में औसत मासिक पारिश्रमिक का आधा भाग मिलता है। जिस श्रमिक का मासिक पारिश्रमिक ५० रु० व ६० रु० के बीच में है उसके लिए उपरोक्त सम्बन्धित राशि क्रमशः १,८०० रु०, २,५२० रु० और १५ रु० मासिक है। इसी प्रकार ३०० रु० मासिक से अधिक पारिश्रमिक पाने वालों के लिए सम्बन्धित राशि क्रमशः ४,५०० रु० ६,३०० रु० और ३० रु० मासिक है।

भारत में सामाजिक सुरक्षा की ओर दूसरा महत्त्वपूर्ण कदम मातृत्व हित लाभ सम्बन्धी अधिनियम (Maternity Benefit Act) का विभिन्न प्रान्तों द्वारा पास किया जाना है। सन् १९२९ में बम्बई सरकार ने सबसे पहले अपने यहाँ यह अधिनियम पास किया। इसके बाद यह अधिनियम क्रमशः मध्य-प्रदेश (१९३०), मद्रास (१९३४), देहली (१९३७), उत्तर-प्रदेश (१९३८), बङ्गाल (१९३९), पंजाब (१९४३), असम (१९४४), बिहार (१९४५), सौराष्ट्र (१९४८), मध्य-भारत (१९४९), ट्रावनकोर-कोचीन (१९५२), उड़ीसा व राजस्थान (१९५३) में पास किया गया। केन्द्रीय सरकार ने सन् १९४१ में खानों में काम करने वाली स्त्रियों के लिये मातृत्व हित लाभ का केन्द्रीय अधिनियम पास किया। इस अधिनियम में सन् १९४३, १९४५ और १९४८ में संशोधन किये गये। इसके अन्तर्गत स्त्री श्रमिकों को उनके शिशु जन्म के कुछ सप्ताह पूर्व और कुछ सप्ताह पश्चात् तक छुट्टी मिल जाती है। साथ ही साथ उनको चिकित्सा सम्बन्धी सुविधाएँ भी प्रदान की जाती हैं। हित लाभ की रकम विभिन्न राज्यों में ५० पैसे प्रतिदिन से लेकर ७५ पैसे प्रतिदिन तक है अथवा स्त्री श्रमिकों की औसत मजदूरी के बराबर है, दोनों में से जो भी रकम अधिक हो।

राज्यों के अधिनियमों में एकरूपता लाने के लिये केन्द्रीय सरकार ने सन् १९६१ में मातृत्व हित लाभ सम्बन्धी अधिनियम पास किया। इस अधिनियम के अनुसार प्रत्येक स्त्री कर्मचारी को (जिसने १६० दिन से अधिक कार्य किया है) बच्चा पैदा होने अथवा गर्भपात के दिन के बाद ६ सप्ताह की छुट्टी मिलती है। ६ सप्ताह की छुट्टी बच्चा पैदा होने की तिथि से पहले भी मिलती है। इसके अतिरिक्त नियोक्ता द्वारा २५ रु० दवा-बोनस भी दिया जाता है। बच्चा पैदा होने के पहले या पश्चात् कुछ दिनों तक अधिक परिश्रम का कार्य नहीं किया जा सकता। इसके अतिरिक्त बच्चे की अवस्था १५ महीने की होने तक स्त्री श्रमिक को दिन में दो बार अवकाश भी मिलता है। यह अधिनियम उन सभी कारखानों पर लागू होता है जो कारखाना अधिनियम, खान अधिनियम एवं प्लाण्टेशन अधिनियम (Plantation Act) के अन्तर्गत आते हैं। किन्तु जिन औद्योगिक संस्थाओं पर 'कर्मचारी राज्य बीमा योजना' लागू होती है इसके अन्तर्गत नहीं आते।

आलोचनाएं—

उपर्युक्त दोनों अधिनियमों में अनेक दोषों का समावेश है, जिसके कारण इनकी कटु शब्दों में आलोचना की जाती है। इसमें जो भी लाभ होते हैं वे सब केवल नाम-मात्र की सहायता मात्र ही हैं। द्वितीय, इनका क्षेत्र सीमित है। तृतीय, चूँकि मातृत्त्व लाभ देने का उत्तरदायित्त्व मालिकों पर ही है, अतः वे नौकरी से हटाने की धमकी देकर या अविवाहित अथवा वृद्ध औरतों को नियुक्त करके हमेशा उससे बचने का प्रयत्न करते हैं। इसके अतिरिक्त वे मुआवजे के भुगतान को टालने अथवा अनावश्यक रूप से देरी करने का प्रयत्न करते हैं। इन सब बातों के कारण डॉ० अमरनारायण अग्रवाल ने इस सम्बन्ध में तीखा ताना कसते हुए कहा है कि "श्रमिक का क्षतिपूर्ति या लाभ पाने का अधिकार केवल कागज पर रह जाता है।

आधुनिक सामाजिक सुरक्षा की योजनायें

(I) कर्मचारी राज्य बीमा योजना (१९४८)—

कर्मचारी राज्य बीमा अधिनियम, १९४८ को पास करके भारत सरकार ने सामाजिक सुरक्षा की ओर एक महान् कदम उठाया है। चूँकि अनेक कठिनाइयों के कारण इसका कार्य शीघ्र आरम्भ नहीं हो सका, अतः ६ अक्टूबर, १९५१ को इस अधिनियम का पुनः संशोधन हुआ और इसका शुभारम्भ २४ फरवरी, १९५२ को दिल्ली और कानपुर में भारत की कोटि-कोटि जनता के हृदय-सम्राट स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू के कर-कमलों द्वारा हुआ। आज यह योजना दिल्ली, कानपुर, अमृतसर, लुधियाना, जालन्धर, बटाला, अम्बाला, भवानी, नागपुर, बम्बई, कलकत्ता, कोयम्बटूर, ग्वालियर, रतलाम, उज्जैन, उड़ीसा, मेरठ, आगरा, लखनऊ आदि सभी प्रमुख औद्योगिक केन्द्रों में सफलतापूर्वक चल रही है। फरवरी १९७१ के अन्त तक प्रस्तुत योजना से देश के ३२३ केन्द्रों में ४१·०१ लाख औद्योगिक कर्मचारी लाभ उठा रहे थे। यह योजना गैर-मौसमी (Non-Seasonal) कारखानों के उन सभी कर्मचारियों, जिनमें २० या इससे अधिक कर्मचारी कार्य करते हैं एवं जिनका मासिक वेतन ५०० रु० तक है, लागू होती है। गरीब व्यक्तियों को भी इससे लाभ मिल सके, इस उद्देश्य से चन्दे की दर १ रु० से १·५० रु० प्रतिदिन कर देने का निश्चय किया गया है। इस योजना का प्रबन्ध-संचालन कर्मचारी राज्य बीमा निगम को दे दिया गया है, जिसका अध्यक्ष केन्द्रीय श्रममन्त्री होता है तथा सदस्य चिकित्सा-व्यवसाय और संसद के प्रतिनिधि होते हैं। सन् १९६९-७० के अन्त तक इसमें कर्मचारियों तथा मालिकों का चन्दा क्रमशः १५·२१ करोड़ रु० और २१·२५ करोड़ रु० था। इसमें से १८·१३ करोड़ रु० बीमित कर्मचारियों को दिया जा चुका था (Source: *India* 1971-72)। १ अप्रैल, १९६८ से नियोक्ताओं को ½% अधिक अंशदान देना पड़ता है। इस योजना के अन्तर्गत श्रमिकों को पाँच प्रकार के लाभ होते हैं:—(१) **बीमारी सम्बन्धी लाभ**—श्रमिकों को बीमारी के समय उसके दैनिक वेतन का ½ नकद प्राप्त होता है, ताकि उसे बीमारी के समय आर्थिक कठिनाइयों का सामना नहीं करना पड़े। यह केवल उन्हीं दिनों के वास्ते मिलता है जिसके लिए डॉक्टर ने प्रमाणित कर दिया है, किन्तु एक वर्ष में यह लाभ ५६ दिन से अधिक दिनों के वास्ते नहीं मिल सकता। सन् १९६९-७० में १२·५९ करोड़ रु० की धनराशि बीमारी के लाभ के रूप में दी गई। (२) **चिकित्सा लाभ**—इसके अन्तर्गत श्रमिकों की डाक्टरी, देख-भाल, सब प्रकार की दवाइयाँ, मरहम-पट्टी, डॉक्टर द्वारा बिना फीस के घर आकर देखना इत्यादि सुविधायें प्राप्त होती हैं। अब तक ६,५१८ रोगी शय्याओं की व्यवस्था से युक्त ३७ चिकित्सालय तथा २० सम्बद्ध चिकित्सालयों का निर्माण किया जा चुका था। (३) **मातृत्व सम्बन्धी लाभ**—इससे बीमित स्त्री श्रमिकों को शिशु जन्म के ६ सप्ताह पूर्व और ६ सप्ताह बाद तक छुट्टी मिल सकती है और

७५ पैसे प्रतिदिन या बीमारी हित लाभ की दर से (दोनों में जो भी अधिक हो) दिया जाता है। सन् १९६९-७० में ६१ लाख रु० की राशि मातृत्व सम्बन्धी लाभ के सम्बन्ध में दी गई। (४) **असमर्थता लाभ**—यदि काम करते समय किसी श्रमिक के चोट लग जाय या उस कारखाने से सम्बन्धी किसी रोग का शिकार हो जाय, जिसके फलस्वरूप वह स्थायी या अस्थायी, आँशिक या पूर्णरूप में असमर्थ हो जाय तो उसे दैनिक वेतन का आधा भाग मिलेगा, जब तक कि बिल्कुल ठीक न हो जाय। सन् १९६९-७० में ४·३६ करोड़ रु० की राशि असमर्थता लाभ के रूप में दी गई है। (५) **आश्रितों को लाभ**—यदि किसी कारखाने में काम करते समय किसी श्रमिक की मृत्यु हो जाय तो उसके आश्रितों अर्थात् स्त्री, पुत्रों और पुत्रियों को नकद इनाम लाभ है। सन् १९६९-७० में ५० लाख रु० की राशि आश्रितों को लाभ के रूप में दी गई।[1]

आलोचनाएँ—

(१) इस अधिनियम का क्षेत्र सीमित है। ५०० रु० मासिक से अधिक पारिश्रमिक पाने वाले कर्मचारी इस योजना के अन्तर्गत नहीं आते। (२) इस योजना के अन्तर्गत बेकारी की अवधि में कोई लाभ नहीं मिलता है। (३) इस योजना के अन्तर्गत बीमारी हित लाभ केवल ८ सप्ताह के लिये ही मिलता है। किन्तु ऐसी भी बीमारियाँ हैं, जो अधिक समय में ठीक होती हैं, जैसे तपेदिक की बीमारी। (४) अस्पताल में डॉक्टरों का व्यवहार सन्तोषजनक नहीं पाया जाता है। मरीजों को अनावश्यक रूप में बहुत समय तक इन्तजार करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त दवाइयों के वितरण की पद्धति भी दूषित है। अधिकांश दवाइयाँ निम्न श्रेणी की होती हैं। (५) प्रस्तुत योजना के प्रशासन में केन्द्रीयकरण के दोष पाये जाते हैं।

(II) कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, १९५२ (Employees' Provident Fund Act, 1952)—

प्रारम्भ में यह अधिनियम केवल ६ उद्योगों में लागू किया गया था। ये उद्योग थे :—(i) सीमेण्ट, (ii) सिगरेट, (iii) इन्जीनियरिंग, (iv) लोहा तथा स्पात, (v) कागज, तथा (vi) वस्त्र। परन्तु सितम्बर, १९७० तक यह अधिनियम कुल मिलाकर १२४ उद्योगों में लागू हो चुका था। प्रस्तुत अधिनियम ऐसे कारखानों पर लागू होता है जो कम से कम ३ वर्ष पुराने हों तथा जिनमें ५० या ५० से अधिक कर्मचारी कार्य करते हों। यह अधिनियम उन कारखानों पर भी लागू होता है, जो ५ वर्ष पुराने हों तथा जिनमें कर्मचारियों की संख्या २० या २० से अधिक किन्तु ५० से कम हो। ऐसे कारखाने के वे सभी कर्मचारी इस योजना के अन्तर्गत आते हैं, जिनको कुल मिलाकर १,००० रु० मासिक से अधिक पारिश्रमिक नहीं मिलता। इस योजना की सदस्यता प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि कर्मचारी १ वर्ष तक निरन्तर नौकरी में रहा हो अथवा १२ महीने या इससे कम अवधि में कम से कम २४० दिन तक वास्तविक रूप में कार्य किया हो। इस योजना में कर्मचारी अपने कुल पारिश्रमिक का ६¼ प्रतिशत चन्दे के रूप में देता है। नियोक्ता भी इस दर से चन्दा देता है। यदि कर्मचारी चाहे तो अपने चन्दे की दर बढ़ाकर ८⅓ प्रतिशत तक कर सकता है। ३० सितम्बर १९७० से ८७ उद्योगों में अंशदान की राशि बढ़ाकर ८% कर दी गई है। सितम्बर १९७० के अन्त तक यह योजना ४७,४३९ कारखानों तथा प्रतिष्ठानों पर लागू थी। इस समय तक कोष में चन्दा देने वाले कर्मचारियों की संख्या ५७·४७ लाख तथा चन्दे की राशि १७५४·२७ करोड़ रु० थी। एक 'मृत्यु सहायता कोष' की स्थापना मृतक के उत्तराधिकारी या नामांकित व्यक्ति को कम से कम ७५० रु० देने के लिए की गई।"[1]

---

1 *Source* : **India 1971-72**, p. 468.

(III) कोयला खान भविष्य निधि एवं बोनस योजना अधिनियम, १९४८ (The Coal Mines Provident Fund and Bonus Scheme Act, 1948)—

यह अधिनियम जम्मू व काश्मीर राज्य को छोड़कर भारत में स्थित सभी कोयला खानों के श्रमिकों पर लागू होता है। जनवरी, १९७० तक यह अधिनियम १,३२७ कोयला खानों में लागू था। यह अधिनियम खानों में काम करने वाले श्रमिकों पर अनिवार्य रूप से लागू किया गया है। इसमें कर्मचारी अपने कुल मासिक पारिश्रमिक का ८ प्रतिशत भाग जमा करता है। इसी दर से नियोक्ता भी जमा करता है। जून १९६३ के बाद से कर्मचारी इस निधि में अनिवार्य रूप से दिये गये चन्दे के अतिरिक्त अपनी कुल मासिक आय का ८% भाग और जमा कर सकता है। किन्तु इस सम्बन्ध में नियोक्ता पर अतिरिक्त जमा किये चन्दे के सम्बन्ध में कोई भी दायित्व न होगा अर्थात् नियोक्ता भी अतिरिक्त राशि को जमा करने के लिये बाध्य नहीं किया जा सकेगा। अप्रैल १९६९ के अन्त तक चन्दा देने वाले कर्मचारियों की संख्या ३·४९ लाख थी तथा सरकारी प्रतिभूतियों में विनियोजित राशि ८८·०४ करोड़ रु० थी।

(IV) पारिवारिक पेंशन योजनायें (१९७१)—

१३ फरवरी, १९७१ को राष्ट्रपति ने कोयला खान भविष्य निधि और कर्मचारी भविष्य निधि अधिनियम, १९५२ में संशोधन करके इनसे लाभान्वित होने वाले श्रमिकों के लिये पारिवारिक पेंशन योजनायें लागू करने के लिये एक अध्यादेश जारी किया। इस अध्यादेश के अन्तर्गत पारिवारिक पेंशन योजनायें १ मार्च १९७१ से लागू कर दी गई। पारिवारिक पेंशन तथा अन्य सुविधाओं के भुगतान के लिए पारिवारिक पेंशन निधि की स्थापना की गई है, जिनमें श्रमिकों, मालिकों तथा सरकार तीनों से अंशदान मिलता है। इस निधि से ६० वर्ष से कम आयु वाले सेवायुक्त कर्मचारी की मृत्यु होने पर नियत दर से उक्त कर्मचारी के परिवार को पेंशन मिलती है। अवकाश प्राप्त होने पर कर्मचारी को उसके कार्यकाल के आधार पर ४००० रु० तक की राशि एकमुश्त दी जाती है।

(V) औद्योगिक विवाद अधिनियम, १९५३—

इसके अन्तर्गत कम से कम एक साल लगातार काम करने वाले श्रमिकों को बेरोजगारी से सुरक्षा प्रदान की जाती है। उसे एक महीने का नोटिस तथा एक माह के वेतन का मुआवजा दिये बिना नहीं हटाया जा सकता। यह योजना केवल गैर मौसमी कारखानों तथा खानों में ही लागू रहती है। यह योजना भी सामाजिक सुरक्षा का एक प्रमुख अङ्ग है जिसके द्वारा गरीब, अज्ञानी तथा अनपढ़ व्यक्तियों को सुरक्षा मिलती है। सन् १९६२ से हुये संशोधन के आधार पर ५०० रु० मासिक तक पाने वाले कर्मचारी इसके अन्तर्गत आते हैं।

(VI) उत्तर-प्रदेश में वृद्धावस्था पेंशन, १९५७—

यह महत्त्वपूर्ण योजना लागू करके उत्तर प्रदेश ने सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में वास्तव में एक सराहनीय कार्य किया है। इस योजना के अन्तर्गत ७० वर्ष की उम्र से ऊपर के वृद्धों को मासिक पेंशन के रूप में एक निश्चित रकम दी जाती है, जिनकी आय का न तो कोई, साधन है और न उनकी देखभाल करने वाला उनका कोई रिश्तेदार ही है। अब यह योजना अन्य प्रदेशों में भी लागू कर दी गई है।

भारत में किये गये सामाजिक सुरक्षा कार्यों की आलोचनायें

यद्यपि भारत में सामाजिक सुरक्षा के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया गया है, किन्तु फिर भी वर्तमान योजनाओं तथा अधिनियमों की अग्रलिखित आधारों पर कटु शब्दों में आलोचनायें की जाती हैं।

(१) **कृषि श्रमिक की उपेक्षा**—भारत एक कृषक राष्ट्र है। हमारी जनसंख्या का ७५ प्रतिशत से भी अधिक भाग प्रत्यक्ष रूप से इस धन्धे में लगा हुआ है। किन्तु फिर भी यह अत्यन्त आश्चर्य का विषय है कि सामाजिक सुरक्षा की प्रत्येक योजना में खेतिहर श्रमिक को शामिल नहीं किया गया है। वास्तविकता यह है कि अन्य उद्योगों में लगे श्रमिकों की अपेक्षा खेतिहर श्रमिकों की दशा अत्यन्त शोचनीय है। (२) **पेंशन तथा बेरोजगारी लाभ का अभाव**—बेरोजगारी लाभ की कोई व्यवस्था नहीं है। (३) **अपर्याप्त चिकित्सा व्यवस्था**—इस योजना में चिकित्सा का बहुत ही अपर्याप्त प्रबन्ध है। (४) **सीमित लाभ**—ये लाभ कुछ स्थानों के विशेष प्रकार के श्रमिकों को ही मिलते हैं। (५) **अल्पकाल बीमारी लाभ**—बीमारी लाभ बहुत ही अल्पकाल के वास्ते हैं। (६) **फाइलों तक सीमित**—योजनाओं का बहुत सा कार्य फाइलों तक ही सीमित है। विवाद का निपटारा करने में बहुत देर लगती है। लालफीताशाही जोरों पर है।

सामाजिक सुरक्षा और आर्थिक विकास में सम्बन्ध

उपरोक्त आलोचनाओं के कारण भारत में सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं की सफलता के बारे में अनेक प्रकार की शंकायें की जाती हैं। अन्तर्राष्ट्रीय सामाजिक सुरक्षा समुदाय (International Social Security Association) का कहना है कि अनुभव इस बात को प्रमाणित करता है कि एक अविकसित राष्ट्र में जहाँ पर कि लोगों को भर-पेट भोजन तक नहीं मिलता, अज्ञानता, बेकारी और अशिक्षा का बोलबाला हो, सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं को लागू करने में शीघ्रता नहीं करनी चाहिये। स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, "हम भारत में सामाजिक सुरक्षा चाहते हैं, किन्तु हमें यह मानना होगा कि यह तभी सम्भव है जबकि देश में एक निश्चित विकास हो जाय अन्यथा यहाँ पर न तो सामाजिक सुरक्षा ही होगी और न किसी प्रकार का विकास।" अतः आर्थिक विकास का सामाजिक सुरक्षा एक अङ्ग है।

मेनन समिति की सिफारिशें –

स्वर्गीय श्री महात्मा गाँधी के शब्दों में, 'जनता की आँखों से आँसुओं को पोंछने के वास्ते भारत में सामाजिक सुरक्षा की नितान्त आवश्यकता है।' इस सम्बन्ध में दिसम्बर, १९५८ में श्री वी० के० मेनन की अध्यक्षता में एक समिति नियुक्त की गयी थी। समिति ने भारत में सामाजिक सुरक्षा हेतु निम्नलिखित सुझाव प्रस्तुत किये :—(१) वर्तमान श्रमिक प्रॉवीडेण्ट फण्ड योजनाओं को एक वैधानिक पेंशन योजना में परिणत किया जाय। उसमें ग्रेच्युटी भी शामिल की जाय। (२) बेरोजगारी लाभ शुरू किये जायँ। (३) श्रमिक राज्य बीमा योजना के अन्तर्गत मिलने वाले लाभों में वृद्धि की जाय। (४) श्रमिक राज्य बीमा योजना तथा श्रमिक प्रॉवीडेण्ट फण्ड योजना को मिलाकर दोनों का प्रशासनिक उत्तरदायित्व सम्भालने के लिये केवल एक केन्द्रीय संस्था की स्थापना की जाय। (५) चन्दे की दर ६·२५% से बढ़ाकर ८·३३% कर दी जाय।

आवश्यक सुझाव—

(१) 'न्यूनतम मजदूरी नीति' शीघ्र से शीघ्र अपनाई जाय। न्यूनतम मजदूरी की मात्रा निश्चित करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखा जाय कि कम से कम प्रत्येक श्रमिक की आवश्यकताओं की पूर्ति तो अवश्य ही हो जाय। (२) भारत में से दरिद्रता को हमेशा के वास्ते दूर भगाने के लिये खेतिहर श्रमिक को भी सामाजिक सुरक्षा योजनाओं का सदस्य बनाना आवश्यक है। (३) वर्तमान समस्त सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं में समन्वय होना चाहिये। (४) कारखानों में काम करने की दशाओं में और अधिक सुधार की आवश्यकता है। (५) सामाजिक सुरक्षा की योजनाओं को कार्यान्वित करते समय अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सङ्घ की सेवायें प्राप्त की जानी चाहिये।

स्वतन्त्र भारत में सामाजिक सुरक्षा समय की माँग है जिसे पूरा करना होगा। यदि जनता कष्ट भोगे तो क्या राष्ट्र उन्नतिशील कहा जा सकता है? कदापि नहीं। भारत पूर्णरूप से लोक हितकारी राज्य उसी दिन होगा, जब वह देश से निर्धनता, ऋणग्रस्तता, रोग, गन्दगी, निरक्षरता, भुखमरी, अज्ञानता एवं बेकारी का निष्कासन करने में समर्थ होगा। अतः चतुर्थ पंच-वर्षीय योजना में संशोधन करते समय सामाजिक सुरक्षा हेतु तृतीय योजना की अपेक्षा अधिक धन की व्यवस्था की जानी चाहिये तभी देश की प्रगति वास्तव में सफल कही जा सकेगी। ईश्वर जनता और सरकार को इस पवित्र महान् कार्य में सफलता प्रदान करे, यही हमारी प्रार्थना है। भारत का भविष्य निश्चित रूप से उज्ज्वल है।

पाँचवीं योजना में सामाजिक सुरक्षा—

२३ जुलाई, १९७२ को केन्द्रीय शिक्षामन्त्री श्री नूरुलहसन ने विभिन्न राज्यों के समाज कल्याण मन्त्रियों का एक सम्मेलन दिल्ली में बुलाया। इस सम्मेलन में सर्वसम्मति से यह तय हुआ कि पाँचवीं योजना में सामाजिक सुरक्षा के लिये ७५० करोड़ रु० का प्रावधान किया जाय।

UNIVERSITY QUESTIONS:

१. 'सामाजिक सुरक्षा' की परिभाषा दीजिये और भारत में इसके आर्थिक महत्त्व पर प्रकाश डालिये। भारत में स्वतन्त्रता के पश्चात् हुये सामाजिक सुरक्षा के कार्य-कलाप की प्रगति की विवेचना भी कीजिये। (आगरा, १९७१)
२. वर्तमान समय की परिस्थितियों में सामाजिक सुरक्षा की क्या आवश्यकता तथा महत्त्व है? इस देश की सरकार के द्वारा सामाजिक सुरक्षा के लिये किये गये विभिन्न उपायों को बताइये।
३. क्या आप भारत में सामाजिक सुरक्षा की दिशा में अब तक किये गये कार्यों से सन्तुष्ट हैं? यदि नहीं, तो इस सम्बन्ध में आवश्यक सुझाव दीजिये।
४. औद्योगिक कर्मचारियों हेतु कर्मचारी भविष्य निधि योजना पर टिप्पणी लिखिये। (आगरा, १९६२)
५. भारत में सामाजिक बीमा व्यवस्था पर एक टिप्पणी लिखिये। (आगरा, १९६९)

१७

भारत सरकार की औद्योगिक नीति

(Industrial Policy of the Government of India)

प्रारम्भिक—औद्योगिक नीति की आवश्यकता।

किसी भी राष्ट्र की औद्योगिक प्रगति एक सफल, सुनिश्चित, सुनियोजित एवं प्रेरणादायक औद्योगिक नीति पर ही आधारित होती है, जिसके द्वारा देश का आर्थिक विकास सही रास्ते पर हो सके, देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्णरूप से उपभोग हो, उत्पादन में वृद्धि तथा उचित वितरण हो तथा देश का धन और सम्पत्ति कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित न होकर जन-साधारण के उपभोग के वास्ते उपलब्ध हो। भारत जैसे विकासशील राष्ट्र के लिये ऐसी औद्योगिक नीति का होना और भी महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि हमारा देश एक सुनियोजित अर्थव्यवस्था के माध्यम से औद्योगीकरण की ओर बढ़ रहा है। देश में प्राकृतिक साधन असीम मात्रा में हैं किन्तु उनके समुचित विदोहन की आवश्यकता है। उदाहरण के लिये, हमारे पास कच्चे लोहे के अपार भण्डार हैं, किन्तु साधनों के अभाव के कारण हम भारी मात्रा में कच्चे लोहे का निर्यात जापान जैसे प्रगतिशील राष्ट्र को करते हैं तथा वहाँ से इससे निर्मित इस्पात तथा मशीनों का आयात करते हैं। यह दुर्भाग्य का विषय है कि भारत सरकार की औद्योगिक नीति देश की उद्योग सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्ति करने में असमर्थ रही है। इस नीति ने देश में असन्तुलित विकास किया है, एकाधिकार एवं संयोजन को प्रोत्साहन दिया है, असमानताओं को घटाने के स्थान पर बढ़ाया है तथा आर्थिक सत्ता का कुछ गिने-चुने लोगों के हाथों में ही केन्द्रीयकरण कर दिया है। **प्रोफेसर पी० सी० जैन के शब्दों में,** "भारत की वर्तमान नीति को नकारात्मक नीति कहा जा सकता है। यह नीति यथार्थवादी नहीं है, क्योंकि इसमें भारत में निजी उद्योग की वर्तमान स्थिति और उसके संगठन तथा आकार-प्रकार पर तनिक भी ध्यान नहीं दिया गया है।"

औद्योगिक नीति से आशय
(Meaning of Industrial Policy)

औद्योगिक नीति से आशय किसी देश की सरकार द्वारा औद्योगिक विकास हेतु की जाने वाली ऐसी औपचारिक घोषणा से है जिसके माध्यम से सरकार उद्योगों के भावी विकास हेतु अपनायी जाने वाली सामान्य नीतियों का उल्लेख करती है। इनमें ऐसे सभी राजकीय सिद्धान्त, नियम तथा नीतियों को सम्मिलित किया जाता है जिससे उक्त देश के उद्योग प्रभावित होते हैं। औद्योगिक नीति के अन्तर्गत सरकार विशेष रूप में अपने देश में उद्योगों की स्थापना, विद्यमान उद्योगों का विकास, नियन्त्रण व्यवस्था, प्राथमिकताओं का क्रम तथा प्रबन्ध व्यवस्था आदि के सम्बन्ध में अपनी नीति स्पष्ट करती है।

पराधीन भारत की औद्योगिक नीति

ईस्ट इण्डिया कम्पनी की नीति का उद्देश्य भारत को ब्रिटेन के कारखानों के वास्ते कच्चे माल का देने वाला तथा उनके कारखानों के द्वारा निर्मित वस्तुओं के बेचने के वास्ते एक

उत्तम बाजार के रूप में ही रखने का था। इसे खेतिहर देश का नाम देकर उद्योगों की ओर ध्यान नहीं दिया गया। देश के लघु तथा कुटीर उद्योगों का विनाश करने में हर सम्भव तरीकों से काम लिया गया। भारतीय कुशल बुनकरों के अंगूठों तक को कटवाया जाना इस दिशा में एक अनुपम उदाहरण है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की समाप्ति के बाद भारत का शासन महारानी विक्टोरिया को सौंप दिया गया, किन्तु फिर भी हमारे देश के औद्योगिक विकास के प्रति ब्रिटिश नीति में कोई परिवर्तन नहीं हुआ, अर्थात् यह नीति स्पष्टतया भारत में औद्योगीकरण के विरुद्ध थी। उस समय उद्योगों के विकास के लिये नियम बनाना विनाशकारी और उनकी सहायता करना व्यर्थ समझा जाता था।

प्रथम विश्व-युद्ध (१९१४-१८) के छिड़ने से इस नीति में कुछ परिवर्तन हुआ। युद्ध का आवश्यकता को पूरा करने के लिए हर सम्भव तरीके से उत्पादन में वृद्धि करने के वास्ते जोर दिया गया। परिणामस्वरूप सरकार को स्वतन्त्र व्यापार की नीति छोड़नी पड़ी और इसका स्थान राजकीय प्रोत्साहन ने ले लिया। भारत सरकार ने देश की औद्योगिक समस्या की छान-बीन करने के लिए सबसे पहला प्रयत्न सन् १९१६ में किया, जबकि सर टॉमस हॉलैण्ड की अध्य-क्षता में एक भारतीय उद्योग कमीशन नियुक्त किया गया। कमीशन की रिपोर्ट पर कोई उल्लेख-नीय कार्यवाही नहीं की गई, सरकार का ध्यान अधिकतर मूल्य तथा विनिमय सम्बन्धी संकट की ओर ही लगा रहा, जोकि प्रथम महायुद्ध के तत्काल बाद ही उत्पन्न हो गया था।

सन् १९१९ में भारतीय संविधान में जो परिवर्तन किये गये उनके अनुसार 'उद्योग' एक प्रान्तीय विषय बन गया और इस प्रकार प्रान्तीय सरकारों को औद्योगिक विकास के लिये उद्योगों को सहायता देने का अधिकार मिल गया। किन्तु फिर भी इन प्रयत्नों का कोई आशा-जनक परिणाम नहीं हुआ। इसके बाद सन् १९२३ में पक्षपातपूर्ण संरक्षण नीति की घोषणा की गई। तटकर बोर्ड बनाये गये, ब्रिटिश उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के लिये तट-कर सम्बन्धी जाँच की गई और भारतीय बाजारों में विदेशी प्रतियोगिता से कुछ उद्योगों की रक्षा करने के लिये उपयुक्त तट-कर नीतियाँ अपनाई गईं। यदि किसी उद्योग को विशाल घरेलू बाजार प्राप्त था तो वह अपना कच्चा माल देश में ही प्राप्त कर लेता था और यदि संरक्षण की अवधि के बाद अपने पैरों पर खड़े होने के योग्य था तो उसे संरक्षण दे दिया जाता था। इस संरक्षण नीति का सहारा पाकर इस्पात, चीनी, कपड़ा, ऊनी व रेशम वस्त्र उद्योग आदि की उन्नति हुई। यह विकास उस समय हुआ जबकि सारे संसार में घोर मन्दी छाई हुई थी। इसके बाद १९३९ तक भारतीय उद्योगों का जो विकास हुआ वह एक प्रकार से अपने आप ही हुआ। इधर स्वर्गीय महात्मा गाँधी द्वारा संचालित स्वदेशी आन्दोलन ने जनता में राष्ट्रीय भावना उत्पन्न की जिसके कारण भारतीय उद्योगों में निर्मित माल की माँग निरन्तर बढ़ती गई और इस प्रकार बहुत से राष्ट्रीय उद्योगों का विकास हुआ। इसी काल में बहुत से भारतीय उद्योगी आगे आये और उन्होंने अपने साहस और सूझ-बूझ के बल पर विपरीत परिस्थितियों में भी देश के उद्योगों का बहुमुखी विकास किया।

सन् १९३९ में द्वितीय महायुद्ध छिड़ जाने से औद्योगिक उत्पादन की माँग में भारी वृद्धि हुई। युद्धकाल में यह अनुभव किया गया कि ठोस औद्योगिक नीति का अपनाया जाना नितान्त आवश्यक है। अतः विशाल, लघु, कुटीर—सभी प्रकार के उद्योगों को युद्धजनित आव-श्यकताओं के लिए तेजी से बढ़ाया गया। फलतः महायुद्ध के अन्तिम दिनों में हमारे उद्योगों का उत्पादन चरम सीमा पर पहुँच गया। इस प्रकार उद्योगों ने आश्चर्यजनक प्रगति की। किन्तु युद्ध के समाप्त हो जाने से हमारे औद्योगिक जगत के सामने अनेक समस्यायें उत्पन्न हो गईं: जैसे—

भयंकर मन्दी का आना, पुरानी व घिसी-पिटी मशीनों के स्थान पर नई मशीनों की स्थापना करना तथा श्रमिकों में बेकारी का फैलना, जिसके फलस्वरूप हड़तालें व औद्योगिक संघर्ष आरम्भ हो गये। सन् १९४३ में योजना और विकास विभाग की स्थापना की गई।

अप्रैल सन् १९४५ में सरकार ने अपनी औद्योगिक नीति की घोषणा की। इस नीति का उद्देश्य देश में उपलब्ध प्राकृतिक व आर्थिक साधनों का अधिकतम उपयोग करके राष्ट्रीय धन में वृद्धि, देश की सुरक्षा का उत्तम प्रबन्ध और रोजगार के ऊँचे स्थायी स्तर की स्थापना करना था। इसकी पूर्ति के वास्ते सरकार ने स्वेच्छावाद की नीति छोड़कर उद्योगों के संरक्षण की नीति अपनाई, कुछ मूलभूत उद्योगों को विकसित करने, जन उपयोगिताओं और रेलों के अतिरिक्त राष्ट्रीय महत्त्व के आधार पर उद्योगों का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय किया गया। इसके अतिरिक्त निम्न उपायों के द्वारा भी उद्योगों को सहायता देने की घोषणा की गई, (अ) महत्त्व-पूर्ण औद्योगिक संस्थाओं को ऋण देना, (आ) न्यूनतम लाभांश की गारण्टी देना, (इ) अनुसन्धान संगठनों को आर्थिक सहायता देना, (ई) औद्योगिक विनियोग निगम की स्थापना करना, (उ) सामाजिक न्याय और औद्योगिक विकास दोनों के सन्तुलित हित की दृष्टि से कर-नीति कार्यान्वित करना, (ऊ) औद्योगिक आवश्यकताओं को विदेशों से मँगाने की व्यवस्था।

राष्ट्रीय सरकार की औद्योगिक नीति, १९४८
(National Government Industrial Policy, 1948)

१५ अगस्त, १९४७ को हमारा देश स्वतन्त्र हुआ तथा राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हुई। राष्ट्रीय सरकार ने शासन-भार सम्भालते ही देश के लिये एक निश्चित औद्योगिक नीति निर्धारित करने के बारे में विचार करना आरम्भ किया। एक ऐसी नीति जिससे भारत एक विशाल औद्योगिक राष्ट्र बनाया जा सके। इस आदर्श से प्रेरित होकर ६ अप्रैल सन् १९४८ को तत्कालीन उद्योग एवं पूर्ति मन्त्री **डॉ० श्यामाप्रसाद मुकर्जी** ने संसद में भारत सरकार की औद्यो-गिक नीति के विषय में पहला विस्तृत वक्तव्य दिया था। आपने औद्योगिक नीति सम्बन्धी निम्न प्रस्ताव उपस्थित करते हुए कहा था कि यह प्रस्ताव मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पर आधारित है—

"भारत सरकार ने देश के समक्ष उपस्थित आर्थिक समस्याओं का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन किया है। राष्ट्र अब ऐसी समाज व्यवस्था करने के लिए वचनबद्ध है, जिसमें सभी राष्ट्र-जनों के लिये न्याय तथा अवसर की मान्यता प्राप्त होगी। हमारा उद्देश्य एक व्यापक पैमाने पर शिक्षा की सुविधायें और आरोग्य सेवायें प्रदान करना और देश के अदृश्य साधनों के दोहन, उत्पादन-वृद्धि और जन-समुदाय की सेवा के लिये सभी को नौकरी के अवसर सुलभ करके जनता के जीवन-स्तर में द्रुतगति से वृद्धि करना है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिये सावधानीपूर्ण आयो-जन तथा राष्ट्रीय गति-विधि के समय क्षेत्र में एकीकृत प्रयत्न की आवश्यकता है। भारत सरकार का प्रस्ताव एक राष्ट्रीय योजना आयोग स्थापित करने का है, जो विकास के कार्यक्रम बनायेगा तथा उनको क्रियान्वित करायेगा।"

उद्योगों का चार भागों में वर्गीकरण—

इस प्रस्ताव में उद्योगों को मोटे रूप से चार भागों में विभाजित किया गया था। **प्रथम**, सरकारी उद्योग अर्थात् वे उद्योग जिन पर सरकार का पूर्ण एकाधिकार रहेगा। इस वर्ग में तीन उद्योग आते हैं—युद्ध सामग्री का निर्माण, अणु-शक्ति का उत्पादन एवं नियन्त्रण तथा रेल यातायात का स्वामित्त्व एवं प्रबन्ध। **द्वितीय**, सरकारी नियमन तथा नियन्त्रण का क्षेत्र—नमक उद्योग, मोटर गाड़ी तथा ट्रैक्टर उद्योग, बिजली इन्जीनियरिंग उद्योग तथा अन्य भारी मशीनों के उद्योग आदि। इस प्रकार इस वर्ग में वे उद्योग आते हैं जिनकी स्थापना तथा स्थान का निर्णय अखिल भारतीय आर्थिक कारणों से किया जाये या जिनके लिए अधिक मात्रा में पूँजी

की आवश्यकता हो या जिनके चलाने के वास्ते उच्च स्तर का शैल्पिक कौशल आवश्यक हो उनका नियमन तथा नियन्त्रण सरकार करेगी। तृतीय, निजी साहस के साथ सरकारी नियन्त्रण का क्षेत्र—यह अभी निजी अधिकार के क्षेत्र में ही रहेंगे, किन्तु सरकार इनको अपने हाथ में लेने के वास्ते १० वर्ष बाद सोचेगी। इसके अतिरिक्त नये कारखाने केवल सरकार ही खोल सकेगी। इसमें कोयला, लोहा, इस्पात, जहाज, वायुयान निर्माण, खनिज, तेल, टेलीग्राफ एवं वायरलेस एपरेटस का निर्माण आता है। चतुर्थ, निजी व्यवसाय क्षेत्र—सरकार का इन उद्योगों पर आवश्यक नियन्त्रण रहेगा। शेष औद्योगिक क्षेत्र इन्हीं के लिये खुला रहेगा; जैसे—जूट, सीमेण्ट आदि।

प्रस्तुत औद्योगिक नीति की अन्य विशेषतायें—

(१) सरकार श्रमिकों को लाभांश में हिस्सा देने के सिद्धान्त को स्वीकार करती है। (२) विदेशी पूँजी के विनियोग पर कोई भी नियन्त्रण नहीं रहेगा। किन्तु विदेशी कम्पनियों को भारतीय विशेषज्ञ प्रशिक्षित करने पड़ेंगे। इसके साथ-साथ विदेशी पूँजी का नियन्त्रण भी भारतीयों के अधिकार में रहेगा। (३) सरकार छोटे और कुटीर उद्योगों के महत्त्व से परिचित है तथा उनके विकास करने का उत्तरदायित्व भी सरकार का है। (४) श्रमिकों के हितार्थ १० वर्ष में १० लाख मकान बनाने की योजना तैयार की गई। (५) प्रशुल्क नीति इस प्रकार प्रशासित होगी कि अनुचित विदेशी प्रतियोगिता का अन्त होकर देश के उपलब्ध स्रोतों का पूर्णतया उपयोग होने लगे। (६) केन्द्र में केन्द्रीय सलाहकार परिषद होगी, जो सब उद्योगों में अच्छे सम्बन्ध रखने के बारे में सलाह देगी। (७) देश की कर नीति इस प्रकार से निर्धारित होगी कि बचत को प्रोत्साहन मिलकर उत्पादन क्षेत्र के विनियोग में वृद्धि हो सके तथा पूँजी का जमाव कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित न हो।

आलोचनात्मक अध्ययन (A Critical Study)—

सन् १९४८ की औद्योगिक नीति का कुछ क्षेत्रों में तो स्वागत किया गया और कुछ क्षेत्रों में इसकी कटु शब्दों में आलोचना की गई। श्री मीनू मसानी के अनुसार, "इस नीति द्वारा प्रजातन्त्रात्मक समाजवाद की नींव डाली गई।" प्रो० कुछाल के अनुसार, सन् १९४८ की औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषता यह थी कि इसने उद्योगों व परिवहन के क्षेत्र में सार्वजनिक व निजी क्षेत्रों का अन्तर स्पष्ट कर दिया। यह एक मिश्रित व्यवस्था थी, जिसके विषय में जनता के विभिन्न वर्गों में भिन्न-भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियायें हुईं। प्रो० के० टी० शाह के शब्दों में, "यह वह नीति नहीं थी जिसे एक प्रगतिशील तथा उन्नति की आशा रखने वाले देश को अपनाना चाहिये।" वामपन्थियों के अनुसार, "सन् १९४८ की औद्योगिक नीति पूँजीवादी परम्पराओं का प्रतीक है।" श्री वेंकटासुवैया भारत सरकार की इस औद्योगिक नीति को तथ्यहीन मानते हैं, क्योंकि उनके मत में इस नीति में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन निहित नहीं था। इस प्रकार उपरोक्त औद्योगिक नीति की निम्न आधारों पर कटु शब्दों में आलोचना की गई :—

(१) **राष्ट्रीयकरण का भय**—इस नीति के कारण उद्योगपतियों में राष्ट्रीयकरण का भय समा गया। श्री दलाल के शब्दों में, "राष्ट्रीयकरण, लाभांश की सीमा, लाभ में हिस्सा लिये जाने तथा १० वर्षों के पश्चात् पूँजी के विघटन के भय से विनियोजक भयभीत हो गये हैं।" स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू ने विनियोजकों को राष्ट्रीयकरण से भयभीत न होने की सलाह दी तथा इस सम्बन्ध में आवश्यक आश्वासन भी दिया। किन्तु फिर भी उनका भय दूर न हो सका और इस प्रकार राष्ट्रीयकरण के भय से उद्योगपतियों ने औद्योगीकरण की दिशा में कोई सक्रिय कदम नहीं उठाया। अतएव इस दूषित नीति के कारण भारत का औद्योगिक विकास मन्द पड़ गया।

(२) **दुर्बल नीति**—इस नीति में मिश्रित अर्थ-व्यवस्था (Mixed Economy) पर बल दिया गया। आलोचकों के अनुसार इस नीति पर आधारित औद्योगिक नीति एक सबल नीति न होकर दुर्बल नीति ही रहती है। एक ओर तो पूँजीपतियों की पीठ ठोंकना तथा दूसरी ओर श्रमिकों को प्रबन्ध में हिस्सा देना तथा तरह-तरह के आश्वासन देना ये दोनों बातें एक साथ कैसे सम्भव हो सकती हैं। इस नीति ने न उद्योगपतियों, न विनियोजकों, न औद्योगिक श्रम और न जन-साधारण को सन्तुष्ट किया।

(३) **अव्यावहारिक नीति**—श्री सी० ए० वकील के अनुसार विशुद्ध पूँजीवाद अथवा विशुद्ध समाजवाद की अपेक्षा मिश्रित अर्थ-व्यवस्था पर अमल करना अत्यन्त कठिन होता है, क्योंकि निजी व सार्वजनिक क्षेत्रों में क्रमशः पूँजीपतियों एवं राज्य के दृष्टिकोण में परस्पर विरोधाभास हो जाता है तथा उनमें समन्वय करने में बहुत-सी कठिनाइयाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इस प्रकार यह नीति अव्यावहारिक है, क्योंकि इसको कार्यान्वित करने में कठिनाई होगी।

(४) **प्राथमिकताओं का अभाव**—आलोचकों के अनुसार इस औद्योगिक नीति में प्राथमिकताओं का अभाव है। किसी भी नीति को घोषित करने से पूर्व कम से कम उसमें प्राथमिकताओं का क्रम तो पहले से निर्धारित किया हुआ होता ही है। प्राथमिकताओं का क्रम निर्धारित किये बिना औद्योगिक नीति की सफलता की कामना करना एक प्रकार से असम्भव तथा व्यर्थ की बात है।

(५) **समन्वय का अभाव**—उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के प्रश्न पर केन्द्र तथा राज्य सरकारों की क्रियाओं के बीच समन्वय का भारी अभाव अनुभव किया गया। उदाहरण के लिये, कुछ उद्योगों का एक निश्चित अवधि के उपरान्त ही राष्ट्रीयकरण किया जाना था। किन्तु मद्रास एवं उत्तर-प्रदेश की राज्य सरकारों तथा बम्बई की म्यूनिस्पैलिटी ने बिजली की कम्पनियों का राष्ट्रीयकरण करने के सम्बन्ध में आवश्यक कदम उठाये। इसी प्रकार कुछ राज्य सरकारों ने सड़क यातायात का राष्ट्रीयकरण किया। इसी प्रकार के कदम अन्य क्षेत्रों में भी उठाये गये।

(६) **राजकीय उपक्रमों का कुप्रबन्ध**—इस औद्योगिक नीति के कारण राजकीय उपक्रमों का संचालन करने हेतु भारी मात्रा में प्रशिक्षित व्यक्तियों की आवश्यकता महसूस की गई। आलोचकों के मतानुसार इस औद्योगिक नीति में उनके प्रशिक्षण के लिये किसी प्रकार की व्यवस्था नहीं थी। इस कमी को दूर करने के लिये सरकार ने सिविल सर्विस (Civil Service) के कर्मचारियों की नियुक्ति की, जिसके कारण उद्योगों के सम्बन्ध में परम्परागत लालफीताशाही तथा देरी करने की नीति का बोलबाला हो गया। इसके अधिक उद्योगों के प्रबन्ध से सम्बन्धित व्यय में भी भारी वृद्धि हुई।

औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम, १९५१
(Industrial (Development & Regulation) Act, 1951)

देश में औद्योगिक विकास को दृढ़ करने के लिये भारत सरकार ने अक्टूबर, १९५१ में औद्योगिक (विकास तथा नियन्त्रण) अधिनियम स्वीकृत किया, जो ८ मई १९५२ से कार्यान्वित हुआ। प्रस्तुत अधिनियम के सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि "औद्योगिक (विकास एवं नियमन) अधिनियम ने, जिसका समानान्तर सम्पूर्ण विश्व में नहीं है, सामाजिक दर्शन और नीति के महत्त्वपूर्ण अस्त्र के रूप में हमारे देश की सरकार को सब कुछ काटने वाले दाँत और सभी उपकरण एवं अस्त्र दिये हैं, जिनसे यह देखा जा सके कि विकास कार्य निर्दिष्ट निर्देशन के अनुसार हो रहा है या नहीं।" इस अधिनियम में समय-समय पर आवश्यक संशोधन किये गये। ये संशोधन क्रमशः

सन् १९५३, १९५६, १९६१ तथा १९६२ में किये गये। इस अधिनियम की मुख्य बातें इस प्रकार हैं :—

अधिनियम का क्षेत्र (Scope of the Act)—

यह अधिनियम प्रारम्भ में प्रथम अनुसूची में दिये गये केवल ३६ उद्योगों पर ही लागू होता था, जैसे—हवाई जहाज, हथियार तथा बारूद, कोयला, लोहा तथा इस्पात, गणित तथा विज्ञान सम्बन्धी यन्त्र, मोटर तथा वायुयान का ईंधन, शक्कर उद्योग, सूती, ऊनी एवं रेशमी वस्त्र उद्योग, पटसन, मोटर, ट्रैक्टर, सीमेण्ट, विद्युत की मोटर, भारी रसायन, विद्युत लैम्प तथा पंखे, रेल्वे इन्जन, कागज, मशीन के औजार, मिश्रित धातुएँ, चमड़े का सामान, वनस्पति, कृषि-यन्त्र, बैटरी, साइकिल, लालटैन, रेडियो, कपड़ा सीने की मशीनें, कांच, साबुन, रिसीवर, रबड़ की वस्तुयें आदि। सन् १९६९ में यह अधिनियम २४० उद्योगों पर लागू होता था। एक अन्य संशोधन के अनुसार कीमती धातुओं, स्वर्ण रजत तथा उनके मिश्रण सहित उद्योगों को भी अधिनियम के अन्तर्गत ले लिया गया है।

अधिनियम के उद्देश्य (Objectives of the Act)—

प्रस्तुत अधिनियम के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :—(१) देश के औद्योगिक विकास का नियमन करना तथा निर्धारित योजनाओं के लक्ष्यों एवं प्राथमिकताओं के अनुसार देश में उपलब्ध साधनों को प्रवाहित करना। (२) विशाल उद्योगों की अनुचित प्रतिस्पर्धा से देश के लघु उद्योगों को सुरक्षा प्रदान करना। (३) एकाधिकार को नियन्त्रित करना। (४) धन तथा सम्पत्ति के केन्द्रीयकरण को रोकना। (५) नये साहसियों को नये उद्योग स्थापित करने के लिए प्रोत्साहित करना। (६) अनार्थिक इकाइयों के स्थान पर आर्थिक इकाइयों की स्थापना को प्रोत्साहित करना। (७) विभिन्न क्षेत्रों में सन्तुलित औद्योगिक विकास पर बल देना। (८) उद्योगों के क्षेत्र में आधुनिक तकनीकों एवं विधियों के प्रयोग को प्रोत्साहित करना। (९) उद्योगों की जांच-पड़ताल करना।

अधिनियम की विशेषताएँ (Characteristics of the Act)—

इस अधिनियम की मुख्य-मुख्य बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) **अनिवार्य पंजीकरण (Registration) तथा लाइसेन्स देने की व्यवस्था**—इस अधिनियम के अन्तर्गत विद्यमान औद्योगिक इकाइयों का पंजीकरण कराना अनिवार्य है। इसके अतिरिक्त अनुसूची में दी गई उद्योगों की नवीन औद्योगिक इकाइयों की स्थापना के पूर्व सरकार से लाइसेन्स प्राप्त करना होगा। यही नहीं, यदि लाइसेन्स प्राप्त विद्यमान औद्योगिक इकाई में विस्तार करना है तो इसके लिये भी लाइसेन्स लेना होगा। यदि किसी औद्योगिक इकाई की स्थायी सम्पत्तियाँ (भूमि, मकान तथा सम्पन्न मशीनरी में विनियोग) १ करोड़ रुपये (फरवरी, १९७० में संशोधित) से अधिक न हों तो उनकी स्थापना के लिये लाइसेन्स लेने की आवश्यकता नहीं है, परन्तु डाइरेक्टर जनरल ऑफ टेक्नीकल डेवलपमेण्ट के यहाँ उनका पंजीकरण कराना आवश्यक है।

(२) **जांच-पड़ताल की व्यवस्था**—यदि इन औद्योगिक इकाइयों का उत्पादन कम होने, वस्तु का गुण घटने अथवा मूल्य बढ़ने की आशंका हो तो केन्द्रीय सरकार उद्योग की जांच कर सकती है और दोष पाये जाने की दशा में निम्न आदेश दे सकती है :—(अ) वे ऐसा कोई कार्य न करें जिससे उत्पादन में कमी आवे। (ब) इकाइयाँ उत्पादन बढ़ाने का प्रयत्न करें। (स) इकाइयाँ उद्योग के विकास का प्रयत्न करें। (द) सम्बन्धित वस्तु और वितरण पर आवश्यक नियन्त्रण रक्खा जाय।

(३) **केन्द्रीय परामर्श समिति का गठन**—उद्योगों के विकास में सरकार को परामर्श

देने के लिये केन्द्रीय परामर्शदात्री समिति बनाई गई है, जिसमें अनुसूचित उद्योगों के स्वामीगण, कर्मचारी वर्ग, उपभोक्ता वर्ग एवं अन्य दलों के प्रतिनिधि होंगे।

(४) **उद्योगों को हाथ में लेना**—यदि केन्द्रीय सरकार को यह विश्वास हो जाता है कि कोई इकाई उसकी आज्ञाओं को नहीं मान रही या जन-हित के विरुद्ध चलाई जा रही है तो वह उसका प्रबन्ध बिना जाँच किये भी खुद ले सकती है अथवा अन्य किसी व्यक्ति को सौंप सकती है।

(५) **विकास परिषदों की स्थापना**—औद्योगिक विकास परिषद् का भी निर्माण किया गया है, जिसमें सभी दलों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इसके निम्न कार्य हैं :—(अ) उत्पादन की सीमा निश्चित करना, योजनाओं में समन्वय रखना और उन्नति के लिये सलाह देना। (आ) अकुशल इकाइयों को कुशल बनाना। (इ) श्रमिकों के काम की दशाओं में सुधार करना। (ई) कर्मचारियों के प्रशिक्षण का प्रबन्ध करना। (उ) उद्योग को कच्चे माल के मिलने में सहायता देना। (ऊ) वस्तुओं के प्रमापीकरण में सहायता देना। (ए) उत्पादन विधियों में अनुसन्धान करना। (ऐ) आँकड़े संग्रह करना। (ओ) उपभोक्ताओं के हित का ध्यान रखते हुये विक्रय और वितरण की उचित प्रणाली व्यवहार में लाना। (औ) हिसाब रखने की प्रणाली में सुधार करना। (अं) औद्योगिक क्रियाओं के विकेन्द्रीयकरण के विषय में जाँच करना। (अः) केन्द्रीय सरकार के आदेशानुसार जाँच करना और आवश्यक सलाह देना।

औद्योगिक (विकास और नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत अब तक १९ उद्योगों में विकास परिषदों की स्थापना की जा चुकी है जिनमें से १४ विकास परिषदें क्रियाशील हैं जो कि निम्न हैं :—(१) साइकिल, सिलाई मशीनरी औजार। (२) हल्के विद्युत उद्योग। (३) भारी विद्युत उद्योग। (४) भारी रासायनिक पदार्थ (तेजाब और उर्वरक)। (५) भारी रासायनिक पदार्थ (क्षारक)। (६) भिषक और औषधियाँ। (७) भोजन विधियन। (८) ऊनी कपड़ा। (९) कलापूर्ण रेशमी कपड़ा। (१०) चीनी उद्योग। (११) अलौह धातुयें और मिश्रित धातुयें। (१२) मोटर, मोटर-यन्त्र व पार्ट, यातायात वाहन, ट्रैक्टर, अर्थ-मूविंग उपकरण। (१३) कागज, लुग्दी तथा सम्बन्धित उद्योग। (१४) तेल, साबुन, रंग, सौन्दर्य-प्रसाधन आदि।

(६) **औद्योगिक पैनल** (Industrial Panels)—जिन उद्योगों का पर्याप्त विकास नहीं हो पाया है उनके लिये विकास परिषद् के स्थान पर औद्योगिक पैनल नियुक्त किये जाते हैं। ये औद्योगिक पैनल सम्बन्धित उद्योग की समस्याओं पर विचार करते हैं। बिजली व बेतार के उपकरण, घड़ी, सीमेण्ट आदि उद्योगों में इस प्रकार के पैनल स्थापित किये गये हैं।

(७) **आँकड़ों का संकलन**—प्रस्तुत अधिनियम के अन्तर्गत सरकार को सम्बन्धित उद्योगों के सम्बन्ध में आवश्यक आँकड़े एकत्रित करने का भी अधिकार प्राप्त है।

(८) **उद्योगों के लिए विशेष कर (Cess) व्यवस्था**—सरकार को यह अधिकार भी प्राप्त है कि वह उद्योगों के उत्पादन पर १२% तक विशेष कर लगाकर एक विशेष कोष का निर्माण करे, जिसका उपयोग तकनीकी प्रशिक्षण व अनुसन्धान कार्यों के लिये किया जा सकता है।

(९) **लाइसेन्सिंग समिति**—इस अधिनियम के अन्तर्गत स्थापित होने वाली नवीन औद्योगिक इकाइयों को लाइसेंस देने के लिये एक विशेष लाइसेन्सिंग समिति का भी गठन किया गया है।

(१०) **पुनर्निरीक्षण उप-समिति** (Reviewing Sub Committee)—एक पुनर्निरीक्षण उप-समिति की भी स्थापना की गई है, जो समय-समय पर लाइसेन्सिंग समिति के कार्यों का पुनः निरीक्षण करेगी।

औद्योगिक विकास एवं नियमन अधिनियम का प्रभाव—

(१) विभिन्न उद्योगों में विकास परिषदों आदि की स्थापना से औद्योगीकरण के दोषों को दूर करने का प्रयत्न किया गया है।

(२) इस अधिनियम का एक अन्य महत्त्वपूर्ण लाभ उद्योगों के 'विकेन्द्रीयकरण को हुआ है। इस अधिनियम के अनुसार विकेन्द्रीयकरण की नीति को ध्यान में रखकर उद्योगपतियों को लाइसेन्स दिये जाते हैं।

(३) इस अधिनियम के अन्तर्गत कई सुधारात्मक कदम उठाये गये हैं, जैसे—उपक्रमों को सरकारी नियन्त्रण में लेना, मूल्य व गुण पर नियन्त्रण स्थापित करना आदि। इससे औद्योगीकरण को प्रोत्साहन मिला है तथा उपभोक्ता के हितों की रक्षा की गई है।

(४) उत्पादन तथा प्रबन्ध के क्षेत्र में कई सुधारात्मक कदम उठाये गये हैं।

माथुर समिति के सुझाव—श्री एस० सी० माथुर अध्ययन मण्डल ने अपनी रिपोर्ट में, जोकि अगस्त, १९६६ में संसद में प्रस्तुत की गई थी, लाइसेन्सिंग प्रणाली के विकेन्द्रीयकरण पर जोर दिया। इस सुझाव के अनुसार ऐसी औद्योगिक इकाइयों को जिन्हें विदेशी विनिमय की आवश्यकता नहीं है तथा न केन्द्र के नियन्त्रण में रखने की आवश्यकता है, लाइसेन्स देने का अधिकार राज्य सरकारों को दिया जाना चाहिये। इससे उद्योगों के विकेन्द्रीयकरण को प्रोत्साहन मिलेगा।

फरवरी, १९७० को नवीन लाइसेन्सिंग नीति की घोषणा—हमारी सरकार ने फरवरी, १९७० को नवीन लाइसेंसिंग नीति की घोषणा की है। इसमें अन्य बातों के साथ-साथ यह भी घोषणा की गई कि अब ऐसे उद्योगों की स्थापना के लिये जिनकी पूंजी एक करोड़ रु० (पहले यह सीमा २५ लाख रु० थी) से अधिक की नहीं है, लाइसेन्स लेने की आवश्यकता नहीं है। केवल डाइरेक्टर जनरल ऑफ टक्नीकल डेवलपमेन्ट के यहाँ उनका पंजीकरण करना होता है।

हमारी नवीन औद्योगिक नीति, ३० अप्रैल, १९५६
(New Industrial Policy, 30th April, 1956)

नवीन औद्योगिक नीति, १९५६ क्यों और कैसे ?—

भारतीय संसद द्वारा राष्ट्र के सर्वोपरि ध्येय, समाजवादी अर्थव्यवस्था पद्धति की स्वीकृति तथा उसकी आवडी और अमृतसर कांग्रेस अधिवेशनों में पुष्टि एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजना का शुभारम्भ जिसमें कि देश के औद्योगीकरण पर विशेष जोर दिया गया तथा निजी क्षेत्र में साहस का अभाव आदि ऐसी घटनायें घटित हुई जिससे कि औद्योगिक नीति में पुन: संशोधन करना आवश्यक हो गया है। उस समय के वित्तमन्त्री ने स्पष्ट शब्दों में कहा था :—

"लगभग ८०% उद्योग-धन्धे जिनसे मेरा सम्पर्क रहा है, उनमें निजी क्षेत्र देश की बढ़ी हुई माँग की पूर्ति करने में असमर्थ रहा। वास्तविकता तो यह है कि उसने वृद्धि की ओर ध्यान ही नहीं दिया।"

इन कारणों से ही बाध्य होकर ३० अप्रैल, १९५६ को संसद में औद्योगिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वयं प्रधान मन्त्री स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू ने पढ़कर सुनाया, जिसमें कहा गया है कि :—"सरकार स्वयं ही नये उद्योग-धन्धों को स्थापित करने तथा यातायात की सुविधाओं के प्रसार करने का उत्तरदायित्व अपने कन्धों पर ग्रहण करेगी, ताकि आर्थिक विषमतायें दूर हो सकें और आर्थिक शक्ति का संचय कुछ ही हाथों में न हो।" नई नीति संविधान में निर्धारित सिद्धान्तों, समाजवाद के लक्ष्य और पिछले वर्षों में अर्जित अनुभव पर आधारित है।

प्रस्तुत औद्योगिक नीति के उद्देश्य (Objectives of the Industrial Policy)—

प्रस्तुत औद्योगिक नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न हैं :—(१) देश की विद्यमान औद्योगीकरण की गति को तीव्र करना एवं आर्थिक विकास की दर में वृद्धि करना। (२) सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार करना। (३) मशीन निर्माण उद्योगों एवं भारी उद्योगों के विकास पर बल देना। (४) आय तथा धन के वितरण की असमानताओं को दूर करना। (५) सहकारी क्षेत्र के निर्माण एवं विकास पर जोर देना। (६) रोजगार के अवसरों का विकास करना। (७) कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण तथा निजी एकाधिकार को रोकना। (८) श्रमिकों की दशाओं में सुधार करना। (९) देश में समाजवादी अर्थ व्यवस्था पर बल देना।

नवीन नीति की मुख्य बातें (Contents of the New Policy)—

अप्रैल, १९५६ से दूसरी पंचवर्षीय योजना प्रारम्भ हुई। इस योजना में देश के औद्योगिक विकास पर सबसे अधिक ध्यान दिया गया। अतः इसके लिये यह भी आवश्यक हो गया कि सरकार की नीति स्पष्ट व सक्रिय हो। सन् १९५६ की औद्योगिक नीति सन् १९४८ की औद्योगिक नीति से अधिक स्पष्ट एवं एक निश्चित सुधार के रूप में है। इसमें सामान्य रूप से उद्योगों को तीन श्रेणियों में विभाजित किया गया है :—

(१) **केन्द्रीय सरकार का अनन्य एकाधिकार क्षेत्र**—इस श्रेणी में १७ उद्योग रखे गये हैं, जिनके भावी विकास का दायित्व केवल सरकार (राज्य) का होगा। इस श्रेणी में उन उद्योगों को रखा गया है, जो अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं तथा अत्यधिक पूँजी की आवश्यकता है। इसका अर्थ यह नहीं कि निजी क्षेत्र में स्थित ऐसे उद्योग समाप्त कर दिये जायेंगे अथवा निजी उद्योगपतियों से कोई सहयोग ही नहीं लिया जायगा अथवा जो उद्योग लिये जायेंगे उनका राष्ट्रीयकरण हो जायेगा। प्रस्ताव में स्पष्ट कहा गया है कि इसके होते हुये भी निजी क्षेत्र में जो इस समय उद्योग हैं उनको वृद्धि करने की पूर्ण सुविधायें प्रदान की जायेंगी और आवश्यकता पड़ने पर राष्ट्रीय हित की दृष्टि से उनके सहयोग की माँग की जायगी। ये उद्योग तालिका ए (Schedule A) में दिये गये हैं, जो इस प्रकार हैं :—

(अ) **सुरक्षा उद्योग**—युद्ध के हथियारों तथा बारूद का निर्माण, अणुशक्ति का उत्पादन। ये केन्द्रीय सरकार के ही अधीन रहेंगे।

(ब) **खनिज**—कोयला, लिगनाइट, खनिज तेल, लौह खनिज, टीन, जिप्सम, सल्फर, सोना, चाँदी, ताँबा, जस्ता (Lead) इत्यादि।

(स) **भावी उद्योग**—लोहा एवं इस्पात, बिजली की मशीनें इत्यादि।

(द) **यातायात संवाहन**—हवाई जहाज, रेलवे, टेलीफोन, पानी का जहाज।

(२) **मिश्रित क्षेत्र** (सरकार तथा निजी क्षेत्र दोनों के द्वारा)—इस श्रेणी में १२ उद्योग होंगे। इसके विकास के लिये सरकार अधिकाधिक प्रयत्न करेगी और इसके साथ-साथ निजी क्षेत्र को भी उचित प्रोत्साहन दिया जायेगा। प्रस्ताव में कहा गया है कि "औद्योगीकरण की गति तेज करने के लिये सरकार सामान्यतः नये उद्योग स्थापित करेगी, लेकिन साथ ही साथ निजी उद्योग से भी आशा की जायेगी कि वह राज्य के प्रयास में पूरी सहायता दे। परन्तु ये उद्योग क्रमशः राजकीय होते जायेंगे।" इन उद्योगों की सूची 'तालिका बी' (Schedule B) में दी गई है, जिसमें फर्टीलाइजर, सड़क यातायात, औषधि, रंग-रोगन, प्लास्टिक नकली रबड, कोयले से कार्बन गैस का उत्पादन आदि मुख्य हैं।

(३) **निजी उद्योग का क्षेत्र**—शेष सभी उद्योग, जैसे—सूती वस्त्र, सीमेण्ट, चीनी

इत्यादि तीसरे वर्ग में सम्मिलित हैं, जिनके स्थापित तथा संचालन करने का अधिकार निजी क्षेत्र को होगा। किन्तु राज्य को यह भी अधिकार होगा कि वह आवश्यकता पड़ने पर इस वर्ग के उद्योगों को भी प्रारम्भ कर सके। सामान्यत: सरकारी नीति ऐसे उद्योगों के विकास में उद्योग-पतियों को ही प्रोत्साहन व सहायता देने की होगी।

अन्य विशेषताएँ—इस नवीन औद्योगिक नीति की **अन्य विशेषताएँ** इस प्रकार हैं :— (i) लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास के लिए हर प्रकार की सुविधायें दी जायेंगी। इनके विकास से बेकारी की समस्या दूर होगी, आय का उचित विभाजन होगा, पूँजी का सदुपयोग होगा और देश में समाजवादी समाज का निर्माण हो सकेगा। (ii) भिन्न-भिन्न राज्यों में औद्योगिक असमानता को दूर करके पिछड़े राज्यों को नये-नये उद्योगों की स्थापना में प्रमुखता दी जायगी। (iii) योग्य शिक्षित व्यक्तियों की कमी को दूर करने के लिये शिक्षण संस्थायें खोली जायेंगी। (iv) उचित औद्योगिक सम्बन्धों की स्थापना एवं श्रम-कल्याण पर बल दिया जायेगा। (v) उद्योगों का विभाजन अस्थायी है। अतः इसमें आवश्यकतानुसार परिवर्तन किया जा सकता है। इस प्रकार वर्तमान नीति लोचदार है।

नवीन नीति की आलोचना (Criticism of the New Policy)—

इस नवीन नीति की भी कटु शब्दों में आलोचनायें की गई हैं और कुछ लोगों ने तो इसे पूर्णतया काल्पनिक ही बताया है। फैडरेशन ऑफ इण्डियन चैम्बर ऑफ कॉमर्स की समिति ने निम्नलिखित शब्दों में अपनी राय प्रकट की है, "यह नीति निजी क्षेत्र के साहस को मन्द कर देगी। इसकी अपेक्षा एक लचीली नीति की आवश्यकता थी, जिससे निजी और सार्वजनिक क्षेत्र दोनों अपना-अपना योग भारत के औद्योगीकरण में प्रदान कर सकते।" **आलोचनाएँ** निम्नलिखित आधारों पर की गई हैं :—

(१) **सरकारी क्षेत्र पर अत्यधिक बल**—जब सरकारी क्षेत्र में कार्य असन्तोषजनक है तो इतने उद्योगों को सरकार के अधीन करना क्या अन्यायपूर्ण नहीं है?

(२) **गाँधीवाद के प्रतिकूल**—इसमें मूल और भारी उद्योगों पर आवश्यकता से अधिक जोर दिया गया है, जोकि 'गाँधीवाद' के सर्वथा प्रतिकूल है।

(३) **निजी उपक्रम की उपेक्षा**—निजी उपक्रम को बहुत ही संकुचित क्षेत्र प्रदान किया गया है, जिसके कारण वे सरलता से कार्य नहीं कर सकते।

(४) **नौकरशाही का बोलबाला**—नीति बनाने वालों की अनुभवहीनता के कारण यथार्थ शक्ति सरकारी अधिकारियों के पास चली जायेगी। इतनी अधिक शक्ति उनके हाथ में पहुँच जाने से चाहे जब हमारी अमूल्य स्वाधीनता पर कुठाराघात हो सकता है।

(५) **राजनीतिज्ञों के हाथों में आर्थिक शक्ति का होना**—आर्थिक शक्ति का केन्द्रीयकरण राजनीतिज्ञों के हाथों में होना उद्योगपतियों की अपेक्षा अधिक खतरनाक है।

(६) **पूँजीवाद के दोषों का उदय होना**—इस नीति से कृषि तथा औद्योगीकरण दोनों में ही सरकारी पूँजीवाद के दोष उत्पन्न हो जायेंगे।

(७) **श्रमिक संस्थायें पक्ष में नहीं**—श्रमिक संस्थाओं ने भी इस नीति का स्वागत नहीं किया।

(८) **राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में अस्पष्टता**—सन् १९४८ की औद्योगिक नीति में वर्तमान उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के लिए १० वर्ष की अवधि निश्चित की गई थी, अर्थात् १० वर्ष तक राष्ट्रीयकरण नहीं होगा, इस बात का विश्वास दिलाया गया था, जिससे निजी क्षेत्र में कुछ आशा बँधी। किन्तु १९५६ की औद्योगिक नीति में राष्ट्रीयकरण के बारे में सरकार की क्या

		के विरुद्ध थी, क्योंकि निजी क्षेत्र में इस नीति के कारण भय एवं असुरक्षा का वातावरण उत्पन्न हो गया था।	से निजी क्षेत्र का विस्तार किया गया है।
५	सहयोगी क्षेत्र	इस औद्योगिक नीति में सहयोगी क्षेत्र पर जोर नहीं दिया गया था।	इस नई नीति के अनुसार निजी क्षेत्र का विस्तार, जहाँ तक सम्भव होगा, सहयोगी क्षेत्र के रूप में किया जायेगा।
६.	शिथिल विभाजन	इस नीति के अनुसार उद्योगों का विभाजन कठोर ढङ्ग से किया गया था।	नवीन नीति के अनुसार उद्योगों का विभाजन कठोर ढंग से न होकर शिथिलता से किया गया है।

औद्योगिक नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन—संयुक्त क्षेत्र की स्थापना

अभी हाल में (सन् १९७३ में) सरकार ने सन् १९५६ की औद्योगिक नीति में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन की घोषणा की है। इसके अनुसार अब एक नवीन क्षेत्र अर्थात् **'संयुक्त क्षेत्र'** (Joint Sector) की स्थापना पर बल दिया जायगा। यह संयुक्त क्षेत्र सरकार तथा निजी क्षेत्र दोनों की साझेदारी में स्थापित किया जायगा। इसके अनुसार अब उद्योगों का वितरण निम्न तीन क्षेत्रों के अन्तर्गत हो जायगा :—(i) सरकारी क्षेत्र, (ii) संयुक्त क्षेत्र, तथा (iii) निजी क्षेत्र। सरकार को यह आशा है कि संयुक्त क्षेत्र की स्थापना से देश में औद्योगीकरण की गति तीव्र हो जायेगी तथा उद्योगों में आत्मनिर्भरता की भावना आयेगी। इसमें भारतीय तकनीकी ज्ञान के उपयोग एवं उसके विस्तार पर बल दिया जायेगा।

आवश्यक सुझाव—

नवीन औद्योगिक नीति की सफलता हमारी पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता पर निर्भर है। आज आवश्यकता इस बात की है कि देश का तेजी से औद्योगीकरण हो, ताकि देश प्रगति के क्षेत्र में पीछे न रह जाय। इस सम्बन्ध में हमारे कुछ सुझाव इस प्रकार हैं :—

(१) **सही आंकड़ों का संकलन**—सही आँकड़ों का संकलन कराया जाय। इस सम्बन्ध में विश्वविद्यालयों की सहायता ली जा सकती है। (२) **संगठन में परिवर्तन**—उद्योगों का सगठन इस आधार पर हो कि उनकी गतिविधियों की जानकारी जनता को निरन्तर होती रहे। (३) **लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास पर बल**—भारतीय आर्थिक समस्याओं का एकमात्र हल लघु एवं कुटीर उद्योगों के विकास में निहित है। इसलिये इनके विकास को प्रमुखता मिलनी चाहिये। उनकी समृद्धि पर २ करोड़ व्यक्तियों का निर्वाह निर्भर है। (४) **प्रशिक्षण को प्रोत्साहन**—सफल औद्योगीकरण के वास्ते यह नितान्त आवश्यक है कि देश में पर्याप्त मात्रा में आवश्यक प्रशिक्षण पाये हुये योग्य एवं अनुभवी कर्मचारी हों। इसके लिये समुचित मात्रा में प्रशिक्षण केन्द्र खोले जायें। (५) **राज्यों में आयोगों की स्थापना**—जिस प्रकार केन्द्रीय आयोग है, उसी प्रकार राज्यों में भी स्थायी रूप में आयोग स्थापित किये जायें। (६) **श्रमिकों को प्रबन्ध में भाग**—प्रबन्ध में श्रमिकों को और अधिक प्रतिनिधित्व मिलना चाहिये। (७) **राष्ट्रीयकरण के सम्बन्ध में स्पष्ट नीति**—देश में राष्ट्रीयकरण का भय दिनों-दिन बढ़ता ही जा रहा है। अतएव सरकार को देश में स्थिर औद्योगीकरण के विकास की दृष्टि से अपनी राष्ट्रीयकरण की नीति विस्तृत रूप में स्पष्ट करनी चाहिये। (८) **विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति में संशोधन**—विदेशी पूँजी सम्बन्धी नीति सन् १९४९ में घोषित की गई थी। चूँकि उस समय से अब परिस्थितियों में काफी

परिवर्तन हो चुका है, अतएव इस नीति में महत्त्वपूर्ण संशोधन किये जाने चाहिये। (९) **औद्योगिक सम्बन्धों में सुधार**—सरकार के अनेक प्रयासों के बावजूद औद्योगिक सम्बन्धों में कोई महत्त्वपूर्ण सुधार देखने में नहीं आया है। सरकारी व निजी क्षेत्रों के उद्योगों में औद्योगिक संघर्षों का ताँता-सा लग गया है। अतएव इस सम्बन्ध में एक रचनात्मक नीति अपनाये जाने की आवश्यकता है। (१०) **सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों के सम्बन्ध में पुनः विचार**—सरकारी उद्योगों की प्रगति असन्तोषजनक रही है। एक लाभकारी इकाई भी सरकारी क्षेत्र में जाने पर अलाभकारी बन जाती है। अतएव सरकार को इस सम्बन्ध में पुन: विचार करके एक उचित नीति निर्धारित करनी चाहिये। (११) **निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र के सन्नियमों में समानता**—देश में स्थित निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों पर समान रूप से अधिनियम लागू होने चाहिये। इस प्रकार का पक्षपात करना सर्वथा अनुचित है। (१२) **औद्योगिक प्रबन्ध के विकास पर बल**—चूँकि देश में प्रबन्ध अभिकर्त्ता प्रणाली समाप्त हो चुकी है, अतएव उसका स्थान ग्रहण करने के लिये एक नई प्रबन्ध-व्यवस्था की स्थापना करनी होगी। अतएव प्रबन्ध-वर्ग के विकास पर बल दिया जाना चाहिये। (१३) **औद्योगिक वित्त का विकास**—भारतीय उद्योगों, विशेषतः निजी क्षेत्र, के उद्योगों के विकास में एक महत्त्वपूर्ण बाधा आवश्यक वित्त विशेषत: दीर्घकालीन वित्त का अभाव होना है। अतएव इस दिशा में आवश्यक कदम उठाये जाने चाहिये, ताकि उन्हें अपने भावी विकास के कार्यक्रमों को लागू करने में आर्थिक बाधायें उत्पन्न न हो सकें। (१४) संसद सदस्य, अर्थशास्त्री, उद्योगपति, श्रमिक और सभी लोग एक साथ मिलकर भारत को संसार का एक प्रमुख औद्योगिक राष्ट्र बनाने में अपना-अपना सहयोग प्रदान करें।

उपसंहार—

स्वर्गीय श्री जवाहरलाल नेहरू के अनुसार, "भारत सरकार यह विश्वास करती है कि नवीन औद्योगिक नीति सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त करेगी और भारत के शीघ्र औद्योगीकरण में सहायक सिद्ध होगी।" आज देश में जो उपभोग्य तथा उत्पादक वस्तुओं के उद्योगों का तेजी से विकास हो रहा है तथा यथासम्भव सभी कच्चे माल को देश में ही उत्पन्न कर लेने के जो प्रयत्न हो रहे हैं उसे देखते हुये यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि क्या हमारा देश विभिन्न औद्योगिक उत्पादनों की दृष्टि से किसी समय बिल्कुल स्वावलम्बी हो जायगा ? जब हम इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार करते हैं तो इस निष्कर्ष पर आते हैं कि प्रजातन्त्रीय प्रणाली की अर्थ-व्यवस्था में ऐसा होना कोई असम्भव कार्य नहीं है। विश्व के माने हुये औद्योगिक क्षेत्र में सबसे अधिक प्रगतिशील राष्ट्र, जैसे—संयुक्त राष्ट्र अमेरिका तथा ब्रिटेन भी इस क्षेत्र में आत्म-निर्भर नहीं हो पाये हैं। किन्तु यह आशा की जा सकती है कि हमारा राष्ट्र भविष्य में आयात कम करेगा, जबकि निर्यात में वृद्धि होगी। इसके अतिरिक्त इस सफल नीति के फलस्वरूप देश में समाजवादी अर्थ-व्यवस्था आसानी से स्थापित हो सकेगी तथा देशवासियों का जीवन-स्तर ऊँचा होगा। गत कुछ वर्षों में हमारी आत्मनिर्भरता में जो वृद्धि हुई है उससे उज्ज्वल भविष्य की कामना का विकास होता है।

सन् १९५६ की औद्योगिक नीति में क्रान्तिकारी परिवर्तन
सन् १९७३ की नई औद्योगिक नीति

भारत सरकार ने अब नई औद्योगिक नीति की घोषणा की है, यद्यपि यह कहा गया है कि हम सन् १९५६ की औद्योगिक नीति को बिलकुल ही नहीं बदल रहे हैं, अपितु उसमें केवल कुछ संशोधन ही कर रहे हैं। यदि इन संशोधनों का ध्यानपूर्वक मनन किया जाय, तो विदित

होगा कि यह लगभग नई औद्योगिक नीति ही है। प्रस्तावित पाँचवीं योजना के सन्दर्भ में नई औद्योगिक नीति की घोषणा करना सरकार के लिए अनिवार्य सा हो गया है। नई औद्योगिक नीति की माँग हम गत कुछ वर्षों से निरन्तर करते आ रहे हैं। नई औद्योगिक नीति पाँचवीं पंचवर्षीय योजना के मूलभूत लक्ष्यों जैसे विकास, सामाजिक न्याय और आत्मनिर्भरता के अनुरूप है। इसमें आर्थिक शक्ति के केन्द्रीयकरण पर पहले से अधिक नियन्त्रण रखने की बात कही गई है। विकास के यन्त्र के रूप में संयुक्त क्षेत्र की धारणा को स्वीकार किया गया है। नई औद्योगिक नीति की कुछ आधारभूत बातें निम्नलिखित हैं :—

(१) **बड़ी औद्योगिक इकाइयाँ**—भारत सरकार ने पाँचवीं योजना के लक्ष्यों को ध्यान में रखकर १९ औद्योगिक इकाइयों की एक सूची प्रसारित की है। बड़े औद्योगिक समूह इन १९ औद्योगिक इकाइयों में भी अपना धन लगा सकते हैं। इस सूची में धातु उद्योग, सेरेमिन उद्योग, सीमेण्ट उद्योग आदि को सम्मिलित किया गया है।

(२) **बड़ी औद्योगिक इकाइयों की परिभाषा में परिवर्तन**—सरकार ने बड़ी औद्योगिक इकाइयों पर अंकुश लगाने और छोटी औद्योगिक इकाइयों को प्रोत्साहन देने हेतु बड़े उद्योगों की परिभाषा में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किया है। अभी तक बड़े औद्योगिक घराने वे कहलाते थे जिनकी कम से कम सम्पत्ति ३५ करोड़ रुपये से अधिक की हो। किन्तु अब इस नई परिभाषा के अनुसार वे औद्योगिक इकाइयाँ (घराने) बड़ी मानी जायेंगी जिनकी सम्पत्ति २० करोड़ रुपये से अधिक की हो। दूसरे शब्दों में, '**बड़ी औद्योगिक इकाई से आशय उस इकाई से है जिसकी कुल सम्पत्ति २० करोड़ रु० से अधिक की हो।**' इसके परिणामस्वरूप अब बड़ी औद्योगिक इकाइयों की संख्या ९५-९८ तक पहुँच गई है।

(३) **क्षेत्रों का वर्गीकरण**—नई औद्योगिक नीति के अधीन सरकार ने आधारभूत उद्योगों, प्रतिरक्षा सम्बन्धी उद्योगों तथा सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को सरकारी क्षेत्र के लिए ही सुरक्षित रखा है। धातु, विद्युत उपकरण, परिवहन, इन्जीनियरिंग, कागज, रासायनिक, टायर-ट्यूब आदि उद्योग सभी के लिए—छोटे, मध्यम व बड़े औद्योगिक प्रतिष्ठानों के लिए खोल दिये गये हैं। इनमें छोटे व मध्यम उद्योगों को सुरक्षा प्रदान की गई है। उपभोक्ता उद्योग स्थापित करने के लिए सहकारिता को आमन्त्रित किया गया है।

(४) **संयुक्त क्षेत्र की स्थापना एवं उसकी व्याख्या**—नई औद्योगिक नीति में बहुचर्चित '**संयुक्त क्षेत्र**' का उल्लेख औद्योगिक विकास को बढ़ावा देने के महत्त्वपूर्ण साधन के रूप में किया गया है। बड़े उद्योग-समूहों तथा विदेशी कम्पनियों को संयुक्त क्षेत्र से दूर रखा गया है, अर्थात् इन्हें इसमें कोई स्थान नहीं दिया गया है। सरकार ने इस औद्योगिक नीति में अपने इस विचार को कार्यान्वित किया है कि देश के औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि की प्रेरणा केवल छोटे उद्योगपतियों को ही दी जानी चाहिए और बड़ी औद्योगिक इकाइयों पर आवश्यक अंकुश लगाया जाना चाहिए। संयुक्त क्षेत्र में उद्योगों की स्थापना सरकार के साझे में की जायगी। अधिसूचना के अनुसार संयुक्त क्षेत्र के सभी एककीय संचालन, प्रबन्ध व्यवस्था और नीति निर्धारण में सरकार का प्रमुख हाथ रहेगा। संयुक्त क्षेत्र के ऐसे उद्योगों में, जिनमें उनका प्रभुत्व पहले से ही हो, बड़ी औद्योगिक इकाइयों, प्रमुख अधिकरणों तथा विदेशी कम्पनियों को प्रवेश की अनुमति नहीं दी जायगी। इस प्रकार संयुक्त क्षेत्र का गठन सरकार के सामाजिक और आर्थिक लक्ष्य के सन्दर्भ में किया जायेगा।

(५) **लाइसेंसिंग व्यवस्था**—नई औद्योगिक नीति में लाइसेंसिग की व्यवस्थाओं से एक करोड़ रुपये तक की पूँजी से गठित किये जाने वाले उद्योगों को मुक्त रखने की व्यवस्था

जारी रहेगी। किन्तु यह छूट बड़ी औद्योगिक इकाइयों, विदेशी कम्पनियों तथा उनके साझेदार की कम्पनियों को प्राप्त नहीं होगी। सरकार अल्पपूरक उद्योगों के विकास को प्रोत्साहन देगी तथा सहकारी क्षेत्र का भी विकास करेगी।

(९.) **बड़े उद्योगों तथा विदेशी कम्पनी के लिए सीमित क्षेत्र**—नई औद्योगिक नीति में जो १९ उद्योगों की सूची दी गई है केवल उन्हीं में बड़े उद्योगों तथा विदेशी साझेदार कम्पनियों को अपने कारखाने स्थापित करने की अनुमति होगी। ऐसा करने से सरकार ने इनके कार्य-क्षेत्र को सीमित करके इन पर अंकुश लगाया है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. हमारी सरकार की औद्योगिक नीति की प्रमुख विशेषताओं को समझाइये। इसने अधिक उत्पादकता तथा आर्थिक विकास के लक्ष्य को कहाँ तक प्राप्त किया है ?
(दिल्ली, १९७२)

२. औद्योगिक (नियमन तथा विकास) अधिनियम, १९५१ की मुख्य बातें संक्षेप में बताइये।
(आगरा, १९६९)

३. भारतीय औद्योगिक नीति, १९५६ की प्रमुख विशेषतायें बताइये। भारत के औद्योगिक विकास पर इसका क्या प्रभाव पड़ा है ? (इन्दौर, १९६७; विक्रम, १९६१)

४. "१९५६ औद्योगिक नीति प्रस्ताव इस विचार से बनाया गया था जिससे कि समाजवादी समाज की रूपरेखा के उद्देश्य की प्राप्ति हो सके।" इस कथन की विवेचना कीजिये।
(आगरा, १९६७)

५. सन् १९५६ की भारतीय औद्योगिक नीति की विवेचना कीजिये। भारत की औद्योगिक प्रगति पर इसका क्या प्रभाव पड़ा है ?

६. उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, १९५१ के प्रमुख प्रावधानों का संक्षेप में वर्णन कीजिये और विकास परिषदों की स्थापना तथा नवीन उपक्रमों को लाइसेन्स देने की पद्धति का वर्तमान औद्योगिक इकाइयों तथा उद्योगों के भावी विकास पर पड़े प्रभाव का अनुमान लगाइये।

२८

पूँजी के निर्गमन पर नियन्त्रण

(Control on Capital Issue)

पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण की आवश्यकता

जिस प्रकार प्रत्येक प्राणी मात्र के जीवन की रक्षा के लिए रक्त की आवश्यकता होती है वैसे ही प्रत्येक उद्योग-धन्धे की स्थापना तथा उसके विकास के लिए पूँजी की आवश्यकता होती है। इस प्रकार पूँजी प्रत्येक उद्योग-धन्धे की स्थापना एवं विकास के लिए रक्त का कार्य करती है। प्रत्येक देश में पूँजी के साधन प्रायः सीमित होते हैं। यदि इन साधनों का योजना के अनुसार प्रगतिशील उद्योगों में विनियोजन कर लिया जाय, तो वह देश औद्योगिक क्षेत्र में प्रगति कर जाता है और इस प्रकार एक औद्योगिक राष्ट्र कहलाता है। उस देश का भविष्य भी उज्ज्वल बन जाता है। इसके विपरीत यदि पूँजी के सीमित साधनों का विनियोजन अवांछनीय एवं अनावश्यक उद्योगों में किया जाय, तो वह देश औद्योगीकरण के क्षेत्र में हमेशा के लिये पीछे रह जाता है, और इस प्रकार वह एक अविकसित एवं पिछड़ा हुआ देश कहलाता है। अतएव प्रत्येक देश की राष्ट्रीय सरकार का यह कर्त्तव्य एवं दायित्त्व हो जाता है कि वह यह देखे कि देश का सीमित पूँजीगत साधनों का विनियोजन केवल आवश्यक एवं प्रगतिशील उद्योगों में ही हो। यह तभी सम्भव है जबकि सरकार का पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण हो। **भूतपूर्व केन्द्रीय वित्त मन्त्री के शब्दों में,** "पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण योजना की आवश्यकतानुसार पूँजी के प्रवाह का नियन्त्रण एवं नियमन करने के लिये प्रशासन के हाथों में एक विशेष महत्त्वपूर्ण वित्तीय हथियार है।" यही कारण है कि आज प्रत्येक देश में (चाहे वह विकसित देश हो अथवा अविकसित देश हो) पूँजी निर्गमन (नियमन तथा नियन्त्रण) अधिनियम किसी न किसी रूप में अवश्य ही विद्यमान है। भारत को ही लीजिये। यह एक विशाल देश है तथा यहाँ पर विशाल पैमाने पर प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं। इतना होते हुए भी हमारे देश की गिनती अविकसित राष्ट्रों में होती है। आखिर ऐसा क्यों ? उत्तर स्पष्ट है कि हमारे देश में पूँजी का अभाव है। पूँजी के निर्माण की गति धीमी होने के साथ-साथ यहाँ की पूँजी शर्मीली है। वर्षों तक विदेशी सरकार का शासन होने के कारण देश की विद्यमान पूँजी का विनियोजन वांछनीय एवं आवश्यक उद्योगों में नहीं हो पाया। धीरे-धीरे हमारे देश में भी पूँजी निर्गमन अधिनियम की आवश्यकता महसूस की गई। यह अनुभव किया गया कि यदि देश में औद्योगीकरण की योजनायें लागू करनी हैं तो इस अधिनियम को पास करना ही होगा। परिणामस्वरूप हमारे देश में भी अप्रैल सन् १९४७ में पूँजी निर्गमन (नियमन तथा नियन्त्रण) अधिनियम पास किया गया।

पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण का अर्थ

पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण का अर्थ है कि कम्पनी के पार्षद-सीमानियम में जो अधिकृत पूँजी (Authorised Capital) की मात्रा निर्धारित की गई है उसके लिए पहले से ही केन्द्रीय सरकार की अनुमति प्राप्त कर ली जाय तथा उसका निर्गमन अधिनियम के अनुसार हो।

केन्द्रीय सरकार ऐसी अनुमति प्रदान करने से पूर्व यह देखती है कि क्या वास्तव में उक्त कम्पनी को अपने निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये कथित मात्रा में पूँजी की वास्तव में आवश्यकता है।

भारत में पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण

भारत में पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण द्वितीय विश्व युद्ध की ही देन है। १७ मई सन् १९४३ को भारत सरकार ने 'भारत सुरक्षा नियम के अनुच्छेद ९४-ए' (Under Defence of India Rule 94-A) के अन्तर्गत पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण लगाया। इस नियन्त्रण के कई उद्देश्य थे। **प्रथम**, पूँजी बाजार के सीमित साधनों का उपयोग सरकारी ऋणों के लिये करना। सरकार का यह विश्वास था कि इस प्रकार के नियन्त्रण के द्वारा भारतीय पूँजी बाजार से सरकारी ऋणों के लिए पर्याप्त धनराशि उपलब्ध हो सकेगी। **द्वितीय**, युद्ध के समय यहाँ पर ऐसी अनेक नाम-मात्र की कम्पनियों का निर्माण हो रहा था जिनका न तो कोई वैधानिक अस्तित्व ही था और न कोई वैधानिक उद्देश्य ही। इसके विपरीत लोग ऐसी कम्पनियों का अपनी फाइलों में निर्माण करके जनता की पसीने की कमाई को व्यर्थ में हड़प कर रहे थे। **तृतीय, प्रो० एस० सी० कुछाल** के शब्दों में, "पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण का उद्देश्य सरकारी ऋण तथा औद्योगिक विनियोजन के बीच उचित संतुलन स्थापित करना था।" **चतुर्थ**, ऐसी अदृश्य धनराशि, सीमित सामग्री तथा सेवाओं का उपयोग युद्ध के संचालन के लिए करना जोकि सामान्य रूप में दिखलाई नहीं देती थी। प्रस्तुत नियन्त्रण सन् १९४६ के अन्त में समाप्त हो गया, परन्तु एक विशेष अध्यादेश जारी करके इसे बनाये रखा गया। इस नियम के आधार पर सरकार को आशातीत सफलता मिली, अतएव विशेषज्ञों ने इस नियम को किसी न किसी रूप में चलाये रखने की सिफारिश की। परिणामस्वरूप अप्रैल सन् १९४७ में पूँजी निर्गमन (नियमन तथा नियन्त्रण) अधिनियम (Capital Regulation and Control Issue Act) पास किया गया। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य स्फीतिकालीन कम्पनियों का क्रमहीन विकास रोकना तथा अनभिज्ञ विनियोजकों को कम्पनी के प्रवर्तकों की स्वार्थपूर्ण कार्यवाहियों से बचाना एवं देश के उपलब्ध पूँजीगत साधनों का उद्योग, कृषि तथा सामाजिक सेवाओं में संतुलित विनियोजन कराना था। प्रारम्भ में इस अधिनियम की अवधि केवल तीन वर्ष रखी गई थी। इस अधिनियम के प्रशासनिक मामलों में परामर्श देने के लिये एक परामर्श समिति के निर्माण करने का भी निर्णय किया गया। इस परामर्श समिति के सदस्यों की अधिकतम् संख्या पाँच निश्चित की गई। इसके अतिरिक्त इस अधिनियम में यह भी व्यवस्था थी कि यदि किसी भी कम्पनी के आवेदन-पत्र को अस्वीकार किया जाता है, तो केन्द्रीय सरकार उस अस्वीकृति के कारणों को भी स्पष्ट करेगी। मार्च सन् १९५० में एक अधिनियम पास करके प्रस्तुत पूँजी निर्गमन अधिनियम को मार्च सन् १९५२ तक के लिये कर दिया गया। फरवरी सन् १९५२ में संशोधित पूँजी निर्गमन (नियमन तथा नियन्त्रण) अधिनियम पास करके इस अधिनियम की अवधि मार्च सन् १९५६ तक के लिए बढ़ा दी गई। सन् १९५६ के बजट अधिवेशन में इस अधिनियम को स्थायी रूप दे दिया गया। उस समय के केन्द्रीय वित्तमन्त्री ने प्रस्तुत अधिनियम को संसद में प्रस्तुत करते हुये कहा था कि, "पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण योजना की आवश्यकतानुसार पूँजी के प्रवाह का नियन्त्रण एवं नियमन करने के लिये प्रशासन के हाथों में एक विशेष महत्त्वपूर्ण वित्तीय अधिकार है।"

पूँजी निर्गमन (नियमन तथा नियन्त्रण) अधिनियम, १९५६ की मुख्य बातें—

प्रस्तुत अधिनियम का प्रशासन पूँजी निर्गमन नियन्त्रक (Controller of Capital Issues) के हाथों में है। यह अधिनियम जम्मू एवं काश्मीर राज्य को छोड़कर समूचे भारत में

लागू होता है। इस अधिनियम की मुख्य बातें अग्रलिखित हैं :—(१) भारत में समामेलित कोई भी कम्पनी, केन्द्रीय सरकार की सहमति के बिना, भारत के बाहर पूँजी का निर्गमन नहीं करेगी। (२) कोई भी कम्पनी, चाहे उसका समामेलन भारत में हुआ हो अथवा नहीं, केन्द्रीय सरकार की अनुमति के बिना :—(अ) भारत में पूँजी का निर्गमन नहीं करेगी; (ब) भारत में प्रतिभूतियों के विक्रय के लिये सार्वजनिक प्रस्ताव नहीं करेगी; (ग) भारत में भुगतान होने वाली किसी प्रतिभूति के भुगतान की तिथि का नवीनीकरण अथवा स्थगन (Renew or Postpone) नहीं करेगी। (३) कोई भी व्यक्ति तब तक अंश-पूँजी प्राप्त करने के लिये विवरण-पत्रिका अथवा अन्य प्रलेख का निर्गमन नहीं कर सकता जब तक उसको अंश अथवा प्रतिभूतियों के विक्रय के लिये केन्द्रीय सरकार की सहमति प्राप्त न हो जाय। (४) केन्द्रीय सरकार की सहमति अथवा मान्यता के बिना कोई भी व्यक्ति भारत में अथवा भारत के बाहर पूँजी के निर्गमन के सम्बन्ध में किसी भी प्रतिभूति के लिये न तो कोई धन देगा और न कोई धन लेगा। (५) केन्द्रीय सरकार की सहमति के बिना कोई भी व्यक्ति भारत में अथवा भारत के बाहर १७ मई सन् १९४३ के बाद किसी भी कम्पनी द्वारा पूँजी के निर्गमन के सम्बन्ध में निर्गमित प्रतिभूतियों का क्रय, विक्रय या हस्तान्तरण या हस्तान्तरण की स्वीकृति नहीं करेगा।

पूँजी निर्गमन के लिए सहमति अथवा मान्यता के आधार—

किसी भी कम्पनी द्वारा पूँजी के निर्गमन की सहमति अथवा मान्यता के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार की सहमति अथवा मान्यता निम्नलिखित बातों पर निर्भर करती है :—

(१) प्रवर्तक, संचालक, उनके मित्र तथा सम्बन्धी विवरण-पत्रिका का निर्गमन करने से पूर्व प्रस्ताविक पूँजी की वृद्धि का कम से कम २० प्रतिशत भाग स्वयं ले लें। (२) विनियोग प्रन्यासों (Investment Trusts) तथा वित्त कम्पनियों (Finance Companies) की दशा में विभिन्न प्रकार के अंशधारियों के मतदान सम्बन्धी अधिकार उनकी पूँजी के अनुपात में होने चाहिये। ऐसी कम्पनियाँ न तो प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं को नियुक्त कर सकेंगी और न पूँजीगत लाभों को अपने अंशधारियों में बाँट सकेंगी। धन के विनियोजन पर भी कुछ प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं। (३) जब कोई कम्पनी किसी सम्पत्ति या कारोबार को बढ़े-चढ़े मूल्यों (Inflated Prices) पर खरीद रही है अथवा ख्याति का सही मूल्यांकन नहीं किया गया है, तो उसे किसी स्वतन्त्र विशेषज्ञ की मूल्यांकन रिपोर्ट (Valuation Report) प्रस्तुत करनी होगी।

उपरोक्त अधिनियम, बैंकिंग तथा बीमा कम्पनियों को छोड़कर, ऐसी कम्पनियों पर प्रभावशाली है जो अंशों या ऋण-पत्रों आदि को बेचकर किन्हीं भी १२ लगातार महीनों में १० लाख रुपये (पहले यह राशि ५ लाख रु० थी) से अधिक की पूँजी एकत्रित करना चाहती हों। बोनस अंशों (Bonus Shares) का निर्गमन करते समय पूँजी निर्गमन नियन्त्रक (Controller of Capital Issues) से अनुमति लेना आवश्यक है, चाहे कितनी ही राशि के बोनस अंश क्यों न निर्गमित किये हों। नवम्बर सन् १९६० के संशोधन के अनुसार प्रत्येक दशा में पूँजी निर्गमन की सूचना देना तथा विवरण-पत्रिका की एक प्रतिलिपि भी भेजना अनिवार्य कर दिया गया है।

अधिनियम के प्रशासनिक मामलों में परामर्श देने के लिये एक परामर्श समिति का गठन किया गया है। इस परामर्श समिति के पाँच सदस्य हैं। ये लोग व्यापार, उद्योग तथा जनता का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह समिति नियम बनाती है तथा सामान्य नीति का निर्धारण करती है, किन्तु यह उद्योग से प्राप्त आवेदन-पत्रों पर विचार नहीं करती। उद्योगों से प्राप्त आवेदन-पत्रों पर विचार करना तथा इस सम्बन्ध में आवश्यक निर्णय लेने का कार्य केन्द्रीय सरकार का है। सुविधा की दृष्टि से समस्त कम्पनियों को दो वर्गों में विभाजित किया गया है—

औद्योगिक कम्पनियों में से उन कम्पनियों को प्राथमिकता दी जाती है जिनका कार्यक्रम पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित है। दूसरे शब्दों में, जिन उद्योगों की स्थापना अथवा विकास का कार्यक्रम पंचवर्षीय योजना में सम्मिलित किया गया है उन उद्योगों से सम्बन्धित औद्योगिक कम्पनियों को प्राथमिकता दी जाती है। व्यावसायिक कम्पनियों में से निम्न कम्पनियों को पूँजी के निर्गमन की अनुमति प्रदान नहीं की जाती है :—(i) जिनके व्यवसाय में पहले से ही अधिक कम्पनियाँ कार्य कर रही हैं। (ii) जिनकी आर्थिक दशा सुदृढ़ नहीं है। (iii) जिनका व्यवसाय सट्टे की प्रकृति का है। (iv) जो कम्पनियाँ बोनस अंश तो निर्गमित करती हैं, किन्तु उनके पास पर्याप्त संचित कोष नहीं है। (v) जिनके पास पहले से ही पर्याप्त पूँजी है, अर्थात् जिनके पास पूँजी की कमी नहीं है। (vi) जिन कम्पनियों ने पूँजी निर्गमन अधिनियम की सभी व्यवस्थाओं का पालन नहीं किया है। (vii) सम्पत्ति के पुन: मूल्यांकन से हुये लाभों को पूँजीगत (Capitalised) कर लिया गया है।

अधिनियम के अन्तर्गत दी गई छूटें (Exemptions granted under the Act)—

जनवरी सन् १९४९ में पूँजी निर्गमन (छूट) आदेश, १९४९ जारी किया गया। इस आदेश के अनुसार निम्नलिखित प्रतिभूतियों पर छूट दे दी गई है :—(१) यदि किसी कम्पनी (बैंकिंग अथवा बीमा कम्पनी के अतिरिक्त) ने बोनस अंशों (Bonus Shares) को छोड़कर अन्य किसी प्रकार की अंश पूँजी का निर्गमन किया हो और कुल राशि २५ लाख रु०[1] से अधिक की न हो। इस राशि में निर्गमन की तिथि से अगले १२ महीने के अन्दर निर्गमित पूँजी भी सम्मिलित है। (२) औद्योगिक वित्त निगम द्वारा लिये गये ऋण-पत्र तथा स्वीकृत ऋण। (३) यदि कोई व्यक्ति व्यापार की सामान्य दशा में पूँजी निर्गमित करता है अथवा ऋण पत्रों के अतिरिक्त अन्य कोई प्रतिभूति किसी ऐसे व्यक्ति से स्वीकार करता है जो कि ऋण देने अथवा अधिविकर्ष की स्वीकृति आदि के लिये बैंकिंग कारोबार कर रहा हो। (४) यदि कोई कम्पनी अपनी अंश-पूँजी (Subscribed Capital) में वृद्धि किये बिना, परिवर्तन, पुनर्गठन अथवा पूँजी में कमी करने के सम्बन्ध में अंशों का निर्गमन करती है।

अधिनियम का आलोचनात्मक मूल्यांकन
(Critical Appraisal of the Act)

पूँजी निर्गमन (नियमन तथा नियन्त्रण) अधिनियम के कार्यों की सरकारी व गैर-सरकारी दोनों क्षेत्रों में तीखे स्वरों में आलोचना हुई। आलोचकों ने अधिनियम को अवास्तविक तथा विनाशकारी बताया। उनका कहना था कि इससे औद्योगिक प्रगति पर सीधी रुकावट आ जावेगी और नवीन कम्पनियों का प्रादुर्भाव कठिनता से होगा। व्यावसायिक समुदाय की राय में यह अधिनियम एक नकारात्मक नियन्त्रण है, जो कि अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने में असफल रहा है। सन् १९५० में भारतीय प्रशुल्क आयोग (Fiscal Commission) ने अधिनियम का मूल्यांकन करते हुये बताया कि "यद्यपि वर्तमान नियन्त्रण से कुछ नकारात्मक उद्देश्यों की पूर्ति होती है फिर भी यह स्वीकार करना होगा कि जिस उद्देश्य से यह नियन्त्रण युद्ध के बाद भी चालू रखा गया था उसकी पूर्ति नहीं होती है और वर्तमान कार्यप्रणाली से इसकी पूर्ति भी नहीं हो सकती है।"[2] योजना आयोग ने भी इस तथ्य को निम्न शब्दों में स्वीकार किया है—"यद्यपि

---

1 Recently the Government has raised the limit from Rs. 10 lakhs to Rs. 25 lakhs.

2 The Fiscal Commission (1949-50) observed that "although the present

(Contd. on next page)

कई वर्षों से पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण है फिर भी अब तक इसका कार्य लगभग नकारात्मक ही रहा है।" प्रस्तुत अधिनियम की प्रमुख आलोचनायें निम्नलिखित हैं :—

(१) **नियन्त्रण की पहुँच नकारात्मक है**—भारतीय प्रशुल्क आयोग तथा योजना आयोग दोनों ने ही यह तथ्य स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है कि इस अधिनियम का कार्य नकारात्मक रहा है। वास्तव में यह अधिनियम पूँजी का प्रवाह वांछित उद्योगों की ओर प्रत्यक्ष रूप से आकर्षित करने में असमर्थ रहा है। इसके अतिरिक्त प्राथमिकता की दृष्टि से भी इसकी पहुँच नकारात्मक ही रही है। यहाँ तक कि आवश्यक उद्योगों में भी प्राथमिकता निर्धारित करने की कोई योजना इस अधिनियम में नहीं है। परिणामस्वरूप आवश्यक तथा अनावश्यक दोनों प्रकार के उद्योगों को एक ही लकड़ी से हाँका जाता है।

(२) **यह नियन्त्रण उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, १९५१ के अन्तगत स्थापित की गई अनुज्ञा समिति (Licensing Committee) के कार्य का दोहरायन (Overlapping) है**—आलोचकों के मतानुसार जब उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम के अन्तर्गत लाइसेन्सिंग समिति कार्य कर रही है तो इस अधिनियम की आवश्यकता ही क्या है ? इसका कारण यह है कि यदि कोई उद्योग सरकार की राय में अनावश्यक है तो उसकी स्थापना के लिये अनुज्ञा नहीं दी जाय। ऐसी स्थिति में अनावश्यक उद्योगों की स्थापना नहीं होगी। दूसरे शब्दों में केवल उन्हीं उद्योगों की स्थापना के लिये अनुज्ञा दी जाय जो कि सरकार की दृष्टि में आवश्यक हैं। अतएव पूँजी निर्गमन एवं नियन्त्रण अधिनियम क्यों और कैसे ?

(३) **नियन्त्रण में ऐसी कम्पनियों को छूट नहीं दी जानी चाहिये जो १० लाख रु० (अब यह सीमा २५ लाख रु० कर दी गई है) से कम की पूँजी का निर्गमन करे।**

(४) **नियन्त्रण से नवीन कम्पनियों की स्थापना में विलम्ब होता है, क्योंकि अनुमति प्राप्त करने में पर्याप्त समय लग जाता है।**

(५) **नियन्त्रण में ऐसी व्यवस्था का अभाव है, जिससे कम्पनियों के कार्य के विषय में जानकारी प्राप्त होती रहे।** इसके अभाव में पूँजी नियन्त्रक अधिकारी को इस बात का पता नहीं चल पाता कि अनुमति प्राप्त करने वाली कम्पनियों ने कितनी पूँजी निर्गमित की है।

(६) **इस अधिनियम के अधीन इस बात की कोई व्यवस्था नहीं है कि सामान्य अश पूँजी तथा पूर्वाधिकार अंश पूँजी दोनों के बीच क्या अनुपात होगा, अथवा रहना चाहिये।**

(७) **अधिनियम विनियोगों के सम्बन्ध में प्राथमिकता का क्रम निर्धारित करने में असफल रहा है**—इस अधिनियम के अधीन पूँजी नियन्त्रक अधिकारी (Controller of Capital Issue) की अनुमति अवश्य प्राप्त की जानी चाहिये। यह भेद-भाव सर्वथा अनुचित है।

क्या उपरोक्त आलोचनाएँ पूर्णतः सत्य हैं ?

उपरोक्त आलोचनाओं का अध्ययन करने पर हमारे मस्तिष्क में तुरन्त यह विचार जाता है कि क्या उपरोक्त आलोचनाएँ पूर्णतः सत्य हैं ? यदि ऐसा है तो फिर पूँजी निर्गमन एवं नियन्त्रण क्यों और कैसे ? क्यों न इसे तुरन्त ही समाप्त कर दिया जाय ? यदि हम गम्भीरतापूर्वक विचार करें तो यह प्रतीत होगा कि उपरोक्त आलोचनाएँ पूर्णतः सत्य नहीं हैं। आलोचकों का यह कथन कि नियन्त्रण की पहुँच नकारात्मक है—पूर्णतः सत्य नहीं है। ऐसा प्रतीत होता

---

control served some negative purposes, it was recognised that the object for which it had been continued after the war were not being realised and could not be realised under its present working."

है कि हमारे आलोचकों को परिस्थितियों का सही ज्ञान नहीं है। हमारी राय में नियन्त्रण का सही दृष्टिकोण अपनाने के लिये पूँजी बाजार का सही-सही अनुमान होना परम आवश्यक है। जब तक विनियोग के लिये किसी अवधि विशेष में उपलब्ध हो सकने वाली पूँजी की मात्रा का सही-सही अनुमान नहीं होगा, तब तक विनियोग के वांछित दशाओं में मोड़ने के लिये सही निर्णय नहीं लिया जा सकता। दुर्भाग्य से वर्तमान परिस्थितियों में इस बात का अनुमान लगाना सम्भव नहीं है कि निजी पूँजी की कितनी मात्रा उपलब्ध हो सकती है।

यह आरोप कि प्रस्तुत अधिनियम उद्योग (विकास एवं नियमन) अधिनियम, १९५१ के अन्तर्गत स्थापित की गई अनुज्ञा समिति के कार्य का दोहरापन है, सर्वथा अनुचित एवं वास्तविकता से परे है। उद्योग अधिनियम के अन्दर अनुज्ञा (Licence) लेने की आवश्यकता तब पड़ती है जबकि—(i) किसी नवीन औद्योगिक इकाई की स्थापना की जा रही हो; (ii) किसी विद्यमान इकाई का व्यापक विकास किया जा रहा हो; (iii) नवीन वस्तुओं का निर्माण किया जा रहा हो। यह अधिनियम केवल ऐसे ७३ उद्योगों पर लागू होता है जिनका वर्णन इसी अधिनियम की प्रथम अनुसूची (First Schedule) में किया गया है। ऐसी इकाइयाँ हैं जोकि इस अधिनियम के क्षेत्र के परे हैं; जैसे बागान कम्पनियाँ (Plantation Companies), बैंकिंग कम्पनियाँ, बीमा कम्पनियाँ तथा अ-औद्योगिक कम्पनियाँ (Non-Industrial Companies), आदि। इसके अतिरिक्त ऐसे कई वित्तीय तथा तान्त्रिक प्रकृति के मामले हैं जो कि औद्योगिक अधिनियम के अन्दर नहीं आते, जैसे पूँजी निर्गमन की शर्तें, अभिगोपन की राशि, अंशों पर दलाली, विदेशी विनियोग का नियमन, बोनस अंशों का निर्गमन आदि। इन पर पूँजी निर्गमन एवं नियन्त्रण अधिनियम के द्वारा ही नियन्त्रण रखा जा सकता है। अतएव उद्योग (विकास एवं नियमन) के होते हुये भी इस अधिनियम की नितान्त आवश्यकता है।

आलोचकों का यह मत कि ऐसी कम्पनियों को छूट नहीं दी जानी चाहिये जो १० लाख रुपये[1] से कम की पूँजी का निर्गमन करें—सही प्रतीत होता है। यदि छूट की सीमा कम कर दी जाय तो इससे (अ) प्रशासनिक व्यय बढ़ जायेगा, (ब) आवेदन-पत्रों की संख्या अधिक हो जाने से और देरी लगेगी, (स) छोटे-छोटे उद्योगों की स्थापना में बाधा पड़ेगी। इन कठिनाइयों के कारण ही केन्द्रीय सरकार ने छूट की सीमा १० लाख रु० से बढ़ाकर २५ लाख रु० कर दी है।

प्रस्तुत नियन्त्रण पर यह आरोप भी लगाया जाता है कि इससे नवीन कम्पनियों की स्थापना में विलम्ब होता है, क्योंकि अनुमति प्राप्त करने में पर्याप्त समय लग जाता है। वास्तव में यह दोष नियन्त्रण का न होकर नियन्त्रण अधिकारियों का है। अतएव उन्हें आवेदन-पत्रों पर विचार करने में शीघ्रता से काम करना चाहिये। विलम्ब होना सर्वथा अनुचित है। इस कठिनाई को दूर करने के लिये मार्च, १९६१ में वित्त मन्त्रालय द्वारा नियमों की विस्तृत जानकारी प्रकाशित की गयी है। यदि इन नियमों को ध्यान में रखते हुए आवेदन-पत्र प्रस्तुत किया जाय तो हमारी राय में उस पर नियन्त्रण लेने में विलम्ब नहीं लगेगा। कभी-कभी आवेदन-पत्रों में कमी रह जाने पर भी विलम्ब हो जाता है। इस सम्बन्ध में हमारा यह सुझाव है कि आवेदन-पत्रों पर विचार करने के लिये एक निश्चित अवधि निर्धारित कर दी जानी चाहिये।

हम आलोचकों की इस बात से सहमत हैं कि नियन्त्रण में ऐसी व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये जिससे पूँजी नियन्त्रक अधिकारी को सम्बन्धित कम्पनी के कार्य के विषय में आवश्यक

---

1 Recently the Central Govt. has raised the limit to Rs. 25 lakhs.

जानकारी होती रहे। किन्तु अब प्राय: सभी संयुक्त पूँजी वाली कम्पनियों के रजिस्ट्रारों के कार्यालयों में इस कार्य के लिये पृथक विभाग खोल दिये गये हैं। आशा है कि अब इन विभागों के माध्यम से केन्द्रीय सरकार को पूँजी निर्गमन के सम्बन्ध में सही-सही आँकड़े प्राप्त होते रहेंगे।

जहाँ तक सामान्य अंश-पूँजी तथा पूर्वाधिकार अंश-पूँजी के बीच कोई निश्चित अनुपात निर्धारित किए जाने का प्रश्न है, इसमें हमारी राय यह है कि केन्द्रीय सरकार को इस अधिनियम के अधीन कोई हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए, क्योंकि एक प्रकार से यह कम्पनियों का निजी मामला है। इसमें सरकारी हस्तक्षेप सर्वथा अनावश्यक, अनुपयुक्त एवं अनुचित है।

आलोचकों का यह भी आरोप है कि प्रस्तुत अधिनियम विनियोगों के सम्बन्ध में प्राथमिकता का क्रम निर्धारित करने में असफल रहा है। इस सम्बन्ध में प्रो० कुछाल का मत है कि आवेदन-पत्रों पर, जब भी वे प्राप्त होते हैं, विचार किया जाता है। इसलिए विनियोगों की विभिन्न दशाओं में प्राथमिकता के क्रम को कार्यान्वित करना सम्भव नहीं है। इसके लिए पृथक् से विभाग होना चाहिए। इस विभाग के पास पर्याप्त धन भी होना चाहिए, ताकि वह पूँजी के विनियोग करने में सहायता भी दे सके।

पूँजी निर्गमन एवं नियन्त्रण अधिनियम का महत्त्व एवं लाभ

इसमें दो राय नहीं हैं कि यदि देश में योजनाओं को सफलता के साथ कार्यान्वित करना है और देश का सन्तुलित एवं सर्वाङ्गीण विकास करना है, तो प्रस्तुत अधिनियम को और अधिक व्यापक क्षेत्र में कार्यान्वित करना होगा। इससे भारतीय अर्थ-व्यवस्था पर अच्छा प्रभाव पड़ा है। इसके कार्यान्वित होने से अनेक लाभ हुए हैं। मुख्य-मुख्य लाभ इस प्रकार हैं :—(१) इस अधिनियम के द्वारा अनावश्यक एवं अवांछनीय उद्योगों में पूँजी का विनियोग रोका गया है। इस प्रकार पूँजी का दुरुपयोग रुका है। (२) प्रस्तुत अधिनियम नई व पुरानी दोनों प्रकार की कम्पनियों के पूँजी कलेवर को नियमित करता है। इससे अनैतिक प्रवृत्तियों पर नियन्त्रण लगाया जा सका है। (३) प्रस्तुत अधिनियम विनियोक्ताओं के हितों की भी रक्षा करता है। निर्गमन नियन्त्रक अधिकारी अंशों के निर्गमन की शर्तों की जाँच करता है और अत्यधिक अभिगोपन व्यय तथा दलाली व्यय आदि पर नियन्त्रण रखता है। (४) यह अधिनियम देशी विनियोगों के साथ-साथ विदेशी विनियोगों की शर्तों को भी नियन्त्रित करता है। (५) यह अधिनियम कम्पनी अधिनियम के पालन में भी आवश्यक सहायता प्रदान करता है। उदाहरण के लिए, यदि कोई कम्पनी अपने अंश आदि का निर्गमन कम्पनी अधिनियम की व्यवस्था के विरुद्ध करती है, तो पूँजी निर्गमन नियन्त्रक अधिकारी अनुमति प्रदान नहीं करेगा। (६) इस अधिनियम के द्वारा मुख्य रूप से उन उद्योगों की स्थापना एवं विकास में सहायता मिली है जिन्हें पंचवर्षीय योजनाओं में प्राथमिकता दी गयी है। इस प्रकार यह अधिनियम पंचवर्षीय योजनाओं की सफलता में सहायक सिद्ध हुआ है। (७) प्रस्तुत अधिनियम ने सहकारी ऋण तथा औद्योगिक विनियोग दोनों के बीच उचित सन्तुलन कायम रखने में अपना योग दिया है और इस सम्बन्ध में इसे सफलता भी मिली है। संक्षेप में, पूँजी निर्गमन (नियन्त्रण तथा नियमन) अधिनियम औद्योगिक नियोजन की दिशा में एक वरदान सिद्ध हुआ है।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. भारत में पूँजी-निर्गमन नियन्त्रण अधिनियम के मुख्य प्रावधानों की विवेचना कीजिये।

भारतीय औद्योगिक नियोजन में इसकी उपयोगिता का वर्णन कीजिए।

(विक्रम, बी० कॉम०, १६६६)

२. भारत में पूँजी निर्गमन नियन्त्रण अधिनियम पर एक संक्षिप्त एवं उद्बोधक टिप्पणी लिखिये। (विक्रम, १६६२, ६७ एवं ६८; इन्दौर, १६६७)

३. 'पूँजी निर्गमन पर नियन्त्रण' का क्या अर्थ है ? इस नियन्त्रण के मुख्य उद्देश्यों की विवेचना कीजिये। (विक्रम, १६६१ एवं ६५)

४. भारतीय पूँजी नियन्त्रण अधिनियम का आलोचनात्मक मूल्यांकन कीजिए। क्या भारतीय औद्योगिक अर्थ-प्रबन्धन पर इसका गुणकारी प्रभाव पड़ा है ?

५. भारतीय पूँजी नियन्त्रण अधिनियम के कार्यों तथा प्रचलन पर एक टिप्पणी विस्तृत रूप में लिखिये। (इन्दौर, १६६५)

२९

औद्योगिक नियोजन एवं उसकी समस्यायें

(Industrial Planning and its Problems)

प्रारम्भिक—औद्योगिक नियोजन का अर्थ (Meaning of Industrial Planning)

आधुनिक विश्व के जटिल सामाजिक एवं आर्थिक ढाँचे में, "योजनाबद्ध अर्थ-व्यवस्था" ही किसी राष्ट्र के सर्वतोमुखी विकास की एकमात्र सर्व-स्वीकृत विधि है। यही कारण है कि आज विश्व के सभी देशों में नियोजन पर अधिकाधिक बल दिया जा रहा है। **प्रो० रोबिन्स** (Robbins) के अनुसार "योजना बनाने का अर्थ, उद्देश्य निर्धारित करके काम करना, चुनना व निर्णय करना है, और चुनना व निर्णय करना सभी आर्थिक क्रियाओं का निचोड़ है।" **श्री जी० डी० एच० कोल** (G. D. H. Cole) के शब्दों में, "उत्पादन के साधनों का यथाविधि वितरण करना ही नियोजन कहलाता है।" **श्री वूटन** के अनुसार, "किसी राजकीय संगठन द्वारा जान-बूझकर एवं वैधानिक ढङ्ग से आर्थिक प्राथमिकताओं के क्रम का निर्धारण ही नियोजन है।"

नियोजन की उपर्युक्त व्याख्याओं के आधार पर औद्योगिक नियोजन को समझाया जा सकता है। औद्योगिक नियोजन से हमारा आशय किसी देश के उद्योग-धन्धों के विधिवत् विकास से है। दूसरे शब्दों में, जब किसी देश में उद्योग-धन्धों का विकास किसी निश्चित योजना के अनुसार किया जाता है, तो वह **"औद्योगिक नियोजन"** कहलाता है। औद्योगिक नियोजन को निम्न शब्दों में परिभाषित किया जा सकता है—"औद्योगिक नियोजन से आशय किसी देश की औद्योगिक व्यवस्था को सुदृढ़ करने एवं सन्तुलित बनाने तथा देश के मानवीय तथा प्राकृतिक साधनों को देश के हित में श्रेष्ठतम रूप से प्रयोग करने की निश्चित योजना से है।" इससे औद्योगिक उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनों में वृद्धि होती है और जन-साधारण का उपभोग-स्तर ऊँचा उठता है। औद्योगिक नियोजन के अन्तर्गत विवेकीकरण, वैज्ञानिक प्रबन्ध, आधुनिकीकरण आदि आते हैं।

औद्योगिक नियोजन के उद्देश्य
(Objectives of Industrial Planning)

औद्योगिक नियोजन का उद्देश्य निश्चित योजना के अनुसार द्रुतगति से औद्योगिक विकास करना होता है, जिससे जन-साधारण को प्रचुर मात्रा में आधुनिक उपभोग की वस्तुयें उपलब्ध हो सकें और उनके रहन-सहन का स्तर भी ऊँचा उठ सके। औद्योगिक नियोजन के परिणामस्वरूप देश के प्राकृतिक साधनों का विदोहन करके नये-नये उद्योग-धन्धों की स्थापना होती है, बेकारी दूर होती है, उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनों में वृद्धि होती है, सन्तुलित एवं विकेन्द्रित औद्योगिक विकास होता है, घातक प्रतिस्पर्धा का अन्त होता है तथा जन-साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठता है। इस प्रकार सामान्य रूप में औद्योगिक नियोजन के अग्रलिखित उद्देश्य होते हैं।

(१) **देश के प्राकृतिक साधनों का विदोहन करना**—औद्योगिक नियोजन का प्रमुख उद्देश्य सम्बन्धित देश के प्राकृतिक साधनों का पूर्ण एवं उचित विदोहन करना होता है।

(२) **बेकारी दूर करना**—बेकारी का अर्थ है काम करने योग्य एवं काम करने के इच्छुक नर-नारियों के लिये काम का अभाव है। बेकारी मानव जाति के लिये भयंकर अभिशाप है। बेकार व्यक्ति सदैव विध्वंसात्मक बातें सोचता है। उसके अन्दर घृणा, शत्रुता और द्वेष की भावनायें जन्म लेती हैं, जिसके फलस्वरूप उसका शरीर, मस्तिष्क और सामाजिक स्तर नष्ट-भ्रष्ट हो जाता है। बेकारी देश के सामाजिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक ढाँचे को छिन्न-भिन्न कर देती है। अतएव नियोजन का द्वितीय प्रमुख उद्देश्य देश में से बेकारी दूर करना होता है।

(३) **सन्तुलित एवं विकेन्द्रित औद्योगिक विकास करना**—औद्योगिक नियोजन के अभाव में असन्तुलित एवं अविकेन्द्रित औद्योगिक विकास होता है। कभी-कभी आवश्यक उद्योगों के स्थान पर अनावश्यक उद्योग पनप जाते हैं। इसी प्रकार विकसित उद्योगों का और अधिक विकास हो जाता है तथा अविकसित उद्योग ज्यों के त्यों पिछड़ी हुई अवस्था में ही रह जाते हैं। अतएव औद्योगिक नियोजन का तृतीय प्रमुख उद्देश्य देश में सन्तुलित एवं विकेन्द्रित औद्योगिक विकास करना होता है।

(४) **औद्योगीकरण की गति को तीव्र करना**—औद्योगीकरण की गति मन्द रहने से न तो उद्योगों का समुचित विकास ही हो पाता है और न निश्चित अवधि में निर्धारित लक्ष्य ही प्राप्त हो पाते हैं। फलतः देश पिछड़ी हुई अवस्था में ही रहता है। इस प्रकार औद्योगिक नियोजन का चतुर्थ प्रमुख उद्देश्य औद्योगीकरण की गति को तीव्र करना होता है।

(५) **घातक तथा गलाकाट प्रतिस्पर्द्धा का अन्त करना**—कभी-कभी विभिन्न उद्योगों में आपस में घातक तथा गलाकाट प्रतिस्पर्धा शुरू हो जाती है। इससे सम्बधित उद्योग-धन्धों तथा राष्ट्र दोनों को क्षति पहुँचती है। अतएव औद्योगिक नियोजन का पंचम उद्देश्य घातक तथा गलाकाट प्रतिस्पर्धा का अन्त करना होता है।

(६) **उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनों में वृद्धि करना**—जिस प्रकार मनुष्य के चलने-फिरने के लिए दोनों पैरों का होना आवश्यक होता है उसी प्रकार औद्योगीकरण के लिये उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनों में वृद्धि करने की आवश्यकता होती है। अतएव औद्योगिक नियोजन का षष्ठम उद्देश्य उत्पादन तथा उत्पादन-क्षमता दोनों में वृद्धि करना होता है।

(७) **श्रम-नियोजन करना**—औद्योगिक नियोजन का एक महत्त्वपूर्ण पहलू श्रम-नियोजन भी है। श्रम-नियोजन के अन्तर्गत निम्न बातों पर विशेष रूप में ध्यान दिया जाता है : (i) श्रमिकों की दशाओं में सुधार करना, (ii) श्रमिकों को आवश्यक प्रशिक्षण प्रदान करना, (iii) श्रम-कल्याण के कार्यों का विस्तार करना, (iv) श्रमिकों की सौदा करने की शक्ति का विस्तार करना, तथा (v) श्रम-पूँजी सम्बन्धों को सुधारना।

(८) **निर्यात प्रोत्साहन**—औद्योगिक नियोजन में निर्यात बढ़ाने के लिये विभिन्न कार्यक्रम तैयार किये जाते हैं।

(९) **आयात में कमी**—जहाँ एक ओर निर्यात में वृद्धि करने का प्रयास किया जाता है वहाँ दूसरी ओर आयात में कमी करने के प्रयत्न किये जाते हैं।

(१०) **पूँजीगत तथा उपभोग दोनों प्रकार की वस्तुओं के उद्योगों का विकास करना**—सफल औद्योगिक नियोजन का सप्तम उद्देश्य पूँजीगत जैसे मशीन) तथा उपभोग दोनों प्रकार की वस्तुओं के उद्योगों का समान रूप से विकास करना होता है। उदाहरण के लिये, रूस में पूँजीगत वस्तुओं के उद्योग तो उन्नति की चरम सीमा पर हैं किन्तु उपभोग की वस्तुओं के उद्योगों का

समुचित विकास नहीं हो पाया है। इसी कारण वहाँ पर उपभोग की वस्तुयें अपेक्षाकृत अधिक महँगी हैं।

(११) **जन-साधारण का जीवन-स्तर ऊँचा उठाना**—सफल औद्योगिक नियोजन का मापदण्ड जन-साधारण के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना है। उदाहरण के लिये, भारत तथा एशिया के अन्य देशों में जन-साधारण का जीवन-स्तर नीचा है, क्योंकि यहाँ पर औद्योगिक नियोजन का अभाव है। अतएव औद्योगिक नियोजन का अन्तिम उद्देश्य जन-साधारण के जीवन-स्तर को ऊँचा उठाना होता है।

भारत में औद्योगिक नियोजन
(Industrial Planning in India)

स्वतन्त्रता से पूर्व भारत में औद्योगिक नियोजन का एक प्रकार से अभाव था। केवल उपभोग सम्बन्धी वस्तुओं के उद्योगों के विकास का ही प्रयत्न किया गया था। मूलभूत उद्योगों का विकास पिछड़ी हुई अवस्था में था। केवल देश के कुछ प्रमुख भागों (जैसे बम्बई, कलकत्ता मद्रास, दिल्ली कानपुर) में औद्योगीकरण हुआ था। अतएव राष्ट्रीय सरकार ने भारत में औद्योगिक नियोजन की महत्ता को समझा तथा पचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक नियोजन पर बल दिया।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक नियोजन (१९५१-५६)—

मार्च, १९५० में भारत में योजना आयोग की स्थापना की गई। स्थापना के तुरन्त पश्चात् योजना आयोग ने प्रथम योजना प्रस्तुत की। योजना आयोग ने मूल रूप से सन् १९४८ की औद्योगिक नीति का ही समर्थन किया तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था (Mixed Economy) के सिद्धान्त को कार्यान्वित करने का प्रयास किया। आयोग ने सार्वजनिक तथा निजी दोनों क्षेत्रों के विकास पर जोर दिया। प्रथम योजना में औद्योगिक विकास के लिये निम्न औद्योगिक प्राथमिकताएँ निश्चित की गयीं :—(१) विद्यमान उत्पादन-क्षमता का अधिकाधिक उपयोग करना। (२) लोहा व इस्पात, सीमेण्ट, खाद, भारी रसायन, मशीन तथा अन्य आधारभूत उद्योगों की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करना। (३) जिन औद्योगिक इकाइयों पर पूँजीगत व्यय हो चुका है, उनको पूरा करना। (४) ऐसी नवीन औद्योगिक इकाइयों की स्थापना करना जिनके द्वारा औद्योगिक विकास में सहायता मिलेगी तथा औद्योगिक असन्तुलन दूर होगा।

प्रथम योजना में औद्योगिक विकास—प्रथम योजना काल में उद्योगों के विकास पर कुल मिलाकर २९३ करोड़ रु० का व्यय हुआ। इस राशि में से निजी तथा सार्वजनिक क्षेत्र में क्रमश: ६० करोड़ रु० तथा २३३ करोड़ रु० व्यय हुये। योजना काल में कुल औद्योगिक उत्पादन में ३८ प्रतिशत की वृद्धि हुई। पूँजीगत सामान (Capital goods) में ७० प्रतिशत तथा मध्यवर्गीय सामान (Intermediate goods), औद्योगिक कच्चा माल तथा उपभोग सम्बन्धी सामान में उत्पादन में ३४ प्रतिशत की वृद्धि हुई। सन् १९५०-५१ से सन् १९५५-५६ तक की अवधि में औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि का अनुमान निम्न तालिका से लगाया जा सकता है :—

प्रथम योजना में प्रमुख उद्योगों में औद्योगिक प्रगति की झलक

क्रम संख्या	उद्योग का नाम	इकाई	उत्पादन सन् १९५०-५१ में	उत्पादन सन् १९५५-५६ में	प्रतिशत वृद्धि
१.	औद्योगिक उत्पादन का निर्देशाङ्क	—	१००	१३९	३९
२.	एल्युमीनियम	हजार टन में	३·६८	७·३३	९९·४

३.	वनस्पति	लाख टन में	१·५३	२·७६	८०·४
४.	तैयार इस्पात (Finished steel)	लाख टन में	६·७६	१२·७४	३०·५
५.	पिग आयरन	,, ,, ,,	१५·७२	१८·३९	१७·०
६.	चीनी	,, ,, ,,	१०·६४	१७	५९·९
७.	सीमेण्ट	,, ,, ,,	२६·८९	४५·९२	७०·८
८.	सूती कपड़ा	मिलियन गज में	३७१६	५१०२	३७·३
९.	जूट का सामान	लाख टन में	८·२४	१०·५४	२७·९
१०.	पेट्रोलियम	दस लाख टन में		३·६	
११.	मशीन औजार	मूल्य करोड़ रु० में	०·३४	०·७८	२३०

यद्यपि लोहा, इस्पात तथा भारी बिजली के सामान सम्बन्धी लक्ष्य प्राप्त नहीं हो सके, किन्तु फिर भी कहा जा सकता है कि प्रथम योजना काल में औद्योगिक प्रगति सन्तोषजनक रही है। इसी योजना में राष्ट्रीय आय में १७·५ प्रतिशत की वृद्धि हुई।

द्वितीय योजना में औद्योगिक नियोजन (१९५६-६१)—

द्वितीय योजना मूलभूत रूप में औद्योगिक नियोजन की योजना थी। इस योजना में आधारभूत तथा बड़े पैमाने के उद्योगों को प्राथमिकता दी गई, जिससे देश का औद्योगीकरण तीव्र गति से किया जा सके। इस योजना में सन् १९५६ की घोषित औद्योगिक नीति का अनुकरण किया गया। प्रथम योजना की भाँति इस योजना का कार्यकाल भी केवल ५ वर्ष था। इस प्रकार इस योजना की अवधि १ अप्रैल, १९५७ से लेकर मार्च, १९६१ तक की थी। इस योजना में औद्योगिक विकास के लिये निम्नलिखित औद्योगिक प्राथमिकतायें निर्धारित की गईं :—

(१) लोहा तथा इस्पात, भारी रसायन तथा खाद का उत्पादन बढ़ाना तथा भारी इन्जीनियरिंग तथा मशीन उद्योगों का विकास करना। (२) उत्पादक वस्तुओं तथा विकास के लिये आधार वस्तुओं—सीमेण्ट, एल्यूमिनियम, दवायें, रंगाई तथा खाद आदि की उत्पादन-क्षमता में वृद्धि करना। (३) महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय उद्योगों, जैसे—सूती वस्त्र, चीनी तथा जूट का आधुनिकीकरण तथा पुनर्गठन करना। (४) जिन उद्योगों की उत्पादन-क्षमता तथा वास्तविक उत्पादन में अन्तर हो, उनकी उत्पादन क्षमता का पूरा-पूरा उपयोग करना। (५) सामान्य उत्पादन कार्यक्रमों को ध्यान में रखते हुये उपभोक्ता पदार्थों के उद्योगों की उत्पादन-क्षमता का विकास करना।

द्वितीय योजना में औद्योगिक विकास—द्वितीय योजनाकाल में उद्योगों के विकास पर कुल मिलाकर १,६२० करोड़ रुपये व्यय किये गये, जबकि लक्ष्य केवल १,२४४ करोड़ रु० व्यय करने का था। इस प्रकार निर्धारित लक्ष्य से लगभग ३० प्रतिशत अधिक व्यय हुआ। निजी क्षेत्र में ८५० करोड़ रुपये व्यय हुये, जबकि अनुमानित लक्ष्य केवल ६८५ करोड़ रु० व्यय करने का था। इसी प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में ७७० करोड़ रु० व्यय हुये, जबकि लक्ष्य केवल ५५९ करोड़ रु० व्यय करने का था। सामान्य सूचनांक १३९ से बढ़कर १९४ तक पहुँच गया। इस योजनाकाल में कुछ प्रमुख उद्योगों का उत्पादन अग्र प्रकार था।

द्वितीय योजना काल में प्रमुख उद्योगों में औद्योगिक प्रगति की झलक

क्रम-संख्या	उद्योग का नाम	इकाई	सन् १९५५-५६ में उत्पादन	सन् १९६०-६१ में उत्पादन
१.	तैयार स्टील	दस लाख टन में	१·३	२·२
२.	सीमेंट	,, ,, ,, ,,	४·६	८·५
३.	चीनी	दस लाख टन में	१·८६	३·०
४.	सूती वस्त्र	,, ,, गज ,,	५,१०२	५,१२७
५.	एल्यूमिनियम	हजार टन में	७·३	१८·५
६.	साइकिल	लाख की संख्या में	५·१३	१०·५
७.	नाइट्रोजन खाद	हजार टन में	७९	११०
८.	फास्फेरिक खाद	,, ,, ,,	१२	५५
९.	Steel Ingots	दस लाख टन में	१·७	३·५

उपरोक्त तालिका से स्पष्ट हो जाता है कि द्वितीय योजनाकाल में औद्योगिक प्रगति विशेष उल्लेखनीय रही है। इसमें कई नवीन उद्योगों की स्थापना की गई। सार्वजनिक क्षेत्र के तीनों इस्पात के कारखानों (अर्थात् रूरकेला, भिलाई तथा दुर्गापुर) में उत्पादन प्रारम्भ हो गया। इतना होते हुये भी कई उद्योगों (जैसे इस्पात, लोहा, फर्टिलाइजर्स, एल्यूमिनियम, छपाई का कागज, औद्योगिक मशीनें, सीमेण्ट, कच्ची फिल्म, सोडा ऐश, रंगाई के सामान) में निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति नहीं हो सकी।

तृतीय योजना में औद्योगिक नियोजन (१९६१-६६)—

तृतीय योजना में औद्योगिक कार्यक्रम निश्चित करते समय इस बात का ध्यान रखा गया कि आगामी १५ वर्षों में औद्योगिक विकास के लिये नींव मजबूत हो सके तथा राष्ट्रीय आय तथा रोजगार के लक्ष्य पूरे हो सकें। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु तृतीय योजना में मूल उद्योगों विशेषत: मशीन निर्माण उद्योग के विकास पर जोर दिया गया। इसके अतिरिक्त इस योजनाकाल में ऐसे उद्योगों के विकास पर भी जोर दिया गया जो विदेशी व्यापार की दृष्टि से लाभदायक हों, जैसे—चीनी उद्योग, कपड़ा उद्योग, इस्पात उद्योग आदि। तृतीय योजना में सन् १९५६ की औद्योगिक नीति का पूर्णरूप में अनुकरण किया गया। अन्य योजनाओं की भाँति इसकी अवधि भी ५ वर्ष की थी तथा इसका प्रारम्भ सन् १९६१-६२ से हुआ। इस योजना का कुल आकार १०,४०० करोड़ रु० था, जोकि प्रथम दो योजनाओं से भी अधिक था।

औद्योगिक प्राथमिकतायें—औद्योगिक विकास के विभिन्न कार्यक्रमों को ध्यान में रखते हुये निम्नलिखित प्राथमिकतायें निर्धारित की गईं :—(१) इस्पात, बिजली, तेल, ईंधन आदि प्राथमिक उद्योगों को बढ़ाना और मशीन बनाने के कारखानों को स्थापित करना, ताकि १० वर्ष के अन्दर देश के औद्योगिक विकास के लिये आवश्यक मशीनें अपने देश में ही बनाई जा सकें। (२) उन उद्योगों के उत्पादन में वृद्धि करना जोकि उपभोक्ताओं के लिये आवश्यक हैं, जैसे—कपड़ा, चीनी, वनस्पति तेल तथा गृह निर्माण सम्बन्धी वस्तुयें। (३) देश की जन तथा श्रमशक्ति का पूरा उपयोग करना तथा रोजगार के साधनों में वृद्धि करना। (४) प्रमुख उत्पादक पदार्थों का पूरा उत्पादन बढ़ाना, जैसे—एल्यूमिनियम, खनिज तेल, अकार्बनिक रसायन, पेट्रोलियम

की वस्तुयें आदि। (५) कच्चे माल की उपज को इतना बढ़ाना कि उससे हमारे उद्योगों की जरूरत भी पूरी हो तथा निर्यात भी हो।

प्रगति—यह अनुमान लगाया गया है कि सन् १६६५-६६ तक सामान्य सूचनांक ३३० तक पहुँच गया है। सन् १६६०-६१ के मुकाबले में इसमें लगभग ७० प्रतिशत की वृद्धि हुई है। भारत पर चीन का आक्रमण होने के कारण फौज का सामान तैयार करने वाले उद्योगों के विकास पर अपेक्षाकृत अधिक बल दिया गया है। इसके अतिरिक्त सामान्य औद्योगिक विकास की गति भी मन्द रही है। कई क्षेत्रों में हम निर्धारित लक्ष्य प्राप्त करने में असफल रहे हैं। तृतीय योजना में औद्योगिक विकास का अवलोकन निम्न तालिका की सहायता से आसानी से किया जा सकता है :—

तृतीय योजना काल में प्रमुख उद्योगों में औद्योगिक प्रगति की झलक

क्रम-संख्या	उद्योग का नाम	इकाई	१६६५-६६ योजना का लक्ष्य	१६६५-६६ योजना के अन्त में उत्पादन (अनुमानित)
१.	स्टील इनगाट (Steel Ingots)	मिलियन टन	६·२	७·६
२.	इस्पात	,, ,,	६·६	५·८
३.	एल्यूमिनियम	हजार टन	८१·०	६८·०
४.	सीमेन्ट	मिलियन टन	१३·०	१२·०
५.	चीनी	,, ,,	३·५	३·२
६.	जूट उद्योग	हजार टन	१३००·०	१३००·०
७.	सूती वस्त्र उद्योग :			
	(अ) कपड़ा	मिलियन गज	५८००·०	५५५०·०
	(ब) धागा (yarn)	मिलियन पौण्ड	२२५०·०	२१७५·०
८.	मशीन टूल्स	करोड़ रु०	३०·०	[1]
६.	फेरो मेंगनीज	हजार टन	२००·०	२००·०
१०.	सलफ्यूरिक एसिड	,, ,,	१५२४	१२००·०
११.	कोयला	मिलियन टन	१००·००	७० ००

तृतीय योजना में औद्योगिक विकास की वृद्धि दर—तृतीय योजना के अन्तर्गत उत्पादन में औसतन वार्षिक वृद्धि दर का लक्ष्य ११·१ प्रतिशत निर्धारित किया गया था। किन्तु निम्नलिखित उपलब्ध आँकड़ों से यह स्पष्ट हो जाता है कि हम योजना के अन्त तक इस निर्धारित लक्ष्य को प्राप्त करने में असमर्थ रहे हैं :—

वित्तीय वर्ष	पिछले वर्ष के मुकाबले में प्रतिशत वार्षिक वृद्धि
१६६१-६२	६·५ प्रतिशत
१६६२-६३	८·० ,,

[1] आंकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

१९६३-६४	९·४ प्रतिशत
१९६४-६५	५·६ ,,
१९६५-६६	५·४ ,,

तीन वार्षिक योजनाओं में औद्योगिक विकास (१९६६-१९६९)—

तृतीय योजना की असफलताओं से प्रभावित होकर देश में तीन वर्ष के लिए एक-वर्षीय तीन वार्षिक योजनायें लागू की गयीं। इन तीन वार्षिक योजनाओं में औद्योगिक प्रगति निम्न प्रकार से रही :—

एक-वर्षीय योजनाओं में औद्योगिक प्रगति

(आधार वर्ष १९६०)[1]

वार्षिक योजना	संगठित उद्योगों पर व्यय	ग्रामीण एवं लघु उद्योगों पर व्यय	औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि
१९६६-६७	५१४	४४	०·२%
१९६७-६८	५२०·१९	४३·५५	०·५%
१९६८-६९	५३९·३४	४१·४३	६·२%

उपर्युक्त तालिका से स्पष्ट है कि प्रथम दो वर्षों अर्थात् सन् १९६६-६७ तथा १९६७-६८ में औद्योगिक प्रगति की गति बहुत धीमी रही है। मुख्यत: यह गिरावट वस्त्र, धातु, यन्त्रों तथा खाद्य पदार्थ में आई। परन्तु सन् १९६८-६९ के वर्ष में पुन: औद्योगिक प्रगति की गति तीव्र हो गई।

चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में औद्योगिक नियोजन (१९६९-७४)—

गत योजनाओं की कमियों को दूर करने तथा दस वर्षों में देश को आत्म-निर्भरता की स्थिति में लाने के लिये चतुर्थ पंचवर्षीय योजना का निर्माण किया गया है।

चतुर्थ योजना के उद्देश्य—(१) यथासम्भव शीघ्र आत्म-निर्भरता लाना। इस हेतु कृषि तथा निर्यात बढ़ाने तथा आयात कम करने वाली औद्योगिक योजनाओं को प्राथमिकता दी जायगी। (२) कृषि उत्पादन में वृद्धि करना। (३) मूल्य-स्तर को स्थिर रखने के लिए मुद्रा-प्रसार के कारणों को रोकना तथा हीनार्थ प्रबन्धन न्यूनतम करना। (४) वस्त्र, चीनी, दवाइयां, मिट्टी का तेल तथा कागज जैसी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि करना, ताकि जनसाधारण को ये वस्तुयें सुगमता से मिल सकें। (५) उर्वरक, कृषि यन्त्रों, डीजल इन्जन, ट्रैक्टर आदि के उत्पादन को बढ़ाने वाली योजनाओं को प्राथमिकता देना। (६) परिवार नियोजन द्वारा जनसंख्या की वृद्धि को रोकना। (७) सामाजिक सेवाओं का विकास करना। (८) बेकारी दूर करना। (९) धातु, मशीनरी, रसायन, खनिज, शक्ति तथा यातायात की मौजूदा योजनाओं को पूरा करना। (१०) आर्थिक असमानताओं को दूर करना।

उद्योगों के विकास पर प्रस्तावित व्यय—चतुर्थ योजनाकाल में सङ्गठित उद्योगों तथा खनिज पर ५,२९८ करोड़ रु० व्यय करने का आयोजन किया गया है। इस राशि में से ३,०४८ करोड़ रु० सार्वजनिक क्षेत्र में तथा २,२५० करोड़ रु० निजी क्षेत्र में व्यय किये जाने का प्राव-

1 *Source* : India 1970, page 266.

धान है। इसके अतिरिक्त २५० करोड़ रु० वित्तीय संस्थाओं के लिये तथा ४० करोड़ रु० बागान उद्योगों के लिये सार्वजनिक क्षेत्र में रखे गये हैं। इस प्रकार सार्वजनिक क्षेत्र में कुल मिला कर ३,३३८ करोड़ रु० व्यय होगा, जिसमें से ३,१५१ करोड़ रु० केन्द्रीय क्षेत्र में तथा १८७ करोड़ रु० प्रदेशों तथा केन्द्रशासित क्षेत्रों में व्यय होंगे।

औद्योगिक उत्पादन के कुछ प्रमुख लक्ष्य—चतुर्थ योजनाकाल में कुछ औद्योगिक उत्पादन के प्रमुख लक्ष्य इस प्रकार हैं :—

क्रम-संख्या	मद का नाम	इकाई	चतुर्थ योजना में उत्पादन लक्ष्य
१.	तैयार इस्पात	मिलियन मीट्रिक टन	८·१
२.	कोयला	" " "	९३·४
३.	कच्चा लोहा	मिलियन मीट्रिक टन	५३·४
४.	पेट्रोलियम	" " "	३५·७
५.	साइकिलें	हजारों की संख्या में	३२००·०
६.	कपड़ा सीने की मशीन	" " "	६००·०
७.	बिजली के पंखे	" " "	३·०
८.	मोटर साइकिल तथा स्कूटर	" " "	२१००
९.	सीमेंट	मिलियन मीट्रिक टन	१८·०
१०.	चीनी	" " "	४·७
११.	जूट का सामान	हजार मीट्रिक टन	१५००·०
१२.	कागज तथा पेपर बोर्ड	" " "	९५०·०

उपर्युक्त के अतिरिक्त चतुर्थ योजनाकाल में ४५७·२० करोड़ मीटर कपड़ा व ३१ लाख किलोग्राम रेशम तैयार करने का आयोजन है। इसके अतिरिक्त देश के विभिन्न भागों में २५० नई औद्योगिक वस्तुओं के निर्माण करने का विचार है। चतुर्थ योजनाकाल में औद्योगिक विकास की दर का लक्ष्य ८% से १०% प्रतिवर्ष निर्धारित किया गया है।

चतुर्थ योजनाकाल में औद्योगिक प्रगति की झलक

भारत १ अप्रैल, १९७३ को चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के पाँचवें वर्ष अर्थात् अन्तिम चरण में प्रवेश कर गया। इस चार वर्ष की अवधि में कुछ प्रमुख उद्योगों की प्रगति के सम्बन्ध में उपलब्ध आँकड़े निम्नलिखित हैं :—

उद्योग का नाम	इकाई	१९६९-७० में उत्पादन	१९७०-७१ में उत्पादन	१९७१-७२ में उत्पादन	१९७२-७३ में उत्पादन[1]	१९७३-७४ लक्ष्य
१. इस्पात पिण्ड	(लाख टन में)	६१	५९	५५	७२	११७
२. सूत	(करोड़ किलोग्राम)	९६·२	१०२	—	—	११५
३. कपडा मिल क्षेत्र	(करोड़ मीटर)	४१९·२	४२०·०	४३०·०	×[2]	५४८·६

[1] सन् १९७२-७३ के अनुमानित आँकड़े हैं।

[2] आँकड़े उपलब्ध नहीं हैं।

४. सीमेण्ट	(लाख टन में)	१३०	१४३	१५०	१३९	१८०
५. जूट निर्मित वस्तुएँ *	,,	९·४४	९·५८	११·२९	११	१५
६. कागज तथा गत्ता	,,	६·५८	७·२४	७·७६	८·२०	८·५
७. चीनी	,	४२·०	३७·६	३१·०	७६·०	४७
८. निर्मित इस्पात	(मिलियन टन में)	४·४९	४·४७	४·५	५·४	८·१

औद्योगिक नियोजन की समस्याएँ
(Problems of Industrial Planning)

भारत में औद्योगिक विकास की तीन योजनाओं तथा चतुर्थ योजना के प्रथम वर्ष के पूरा हो जाने के उपरान्त भी भारत में औद्योगिक प्रगति की गति विशेष सन्तोषजनक नहीं कही जा सकती है। आज भी भारत एक अर्द्ध-विकसित देश कहलाता है। पश्चिमी देशों (जैसे जर्मनी, ब्रिटेन, फ्रान्स, अमेरिका) के मुकाबले में हम बहुत पिछड़े हुए हैं। आखिर ऐसा क्यों? यदि हम इस प्रश्न का गम्भीरतापूर्वक अध्ययन करें तो पता लगेगा कि आज भी हमारे सामने ऐसी कई औद्योगिक नियोजन की समस्यायें हैं जिनका समाधान हम इन तीनों योजनाओं के पूरा होने पर भी नहीं कर पाये हैं। इसी कारण हमारी वर्तमान औद्योगिक प्रगति की गति धीमी है। औद्योगिक नियोजन की मुख्य-मुख्य समस्यायें निम्नलिखित हैं :—

(१) **तान्त्रिक प्रशिक्षण का अभाव**—आज के औद्योगिक युग में तान्त्रिक प्रशिक्षण होना एक अनिवार्यता है। जिस देश में जितना अधिक उच्च कोटि का तान्त्रिक प्रशिक्षण होगा वह देश उतनी ही तीव्र गति से औद्योगिक प्रगति करेगा। अभाग्यवश हमारे देश में तान्त्रिक प्रशिक्षण का भारी अभाव है। हमारे उद्योगों के विकास के लिये पर्याप्त संख्या में तान्त्रिक विशेषज्ञ नहीं मिल पाते हैं। विदेशों से ऐसे व्यक्तियों को बुलाना काफी महँगा पड़ता है। इस कमी को दूर करने के लिए कानपुर, मद्रास, देहली, खड़गपुर आदि में औद्योगिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित किये गये हैं। किन्तु आवश्यकता को देखते हुए इनकी संख्या बहुत कम है। अतएव देश में अधिकाधिक तान्त्रिक प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित होने चाहिये।

(२) **बचत तथा पूँजी का अभाव**—भारत में प्रति व्यक्ति आय कम होने के कारण बचत कम होती है। अतएव पूँजी का संग्रह नहीं हो पाता। इसलिए भारत में औद्योगिक विकास के लिए सदैव से पूँजी का भारी अभाव रहा है। यह पंचवर्षीय योजनाओं की असफलता का मुख्य कारण है। देश में पर्याप्त पूँजी उपलब्ध न होने के कारण हमें बाध्य होकर विदेशी पूँजी पर निर्भर रहना पड़ता है। परिणामस्वरूप भारत की ऋण-ग्रस्तता निरन्तर बढ़ती चली जा रही है। आखिर कब तक हम विदेशों से ऋण आदि लेते रहेंगे? अतएव भारत में पूँजी निर्माण कार्यक्रम को आवश्यक प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

(३) **बड़े उद्योग का कृषि पर आधारित होना**—भारत का अधिकांश औद्योगिक उत्पादन विशेष रूप से सूती-वस्त्र, चीनी, जूट व खाद्य पदार्थों का उत्पादन कृषि पर आधारित है। कृषि क्षेत्र में निरन्तर प्राकृतिक प्रकोप होते रहने के कारण इन कारखानों को नियमित रूप से कच्चा माल नहीं मिल पाता। इसलिए मूल्यों में अत्यधिक उतार-चढ़ाव होते रहते हैं। औद्योगिक प्रगति की दर पर इसका बड़ा ही भीषण प्रभाव पड़ता है। पंचवर्षीय योजनाओं में 'अधिक कच्चा माल उपजाओ' आन्दोलन के प्रारम्भ किये जाने के कारण स्थिति में अवश्य कुछ सुधार हुआ है, किन्तु फिर भी हमारे उद्योग आत्म-निर्भरता की दृष्टि से अभी बहुत पीछे है। अतएव चतुर्थ पंचवर्षीय योजना में ऐसे आन्दोलन को आवश्यक प्रोत्साहन मिलना चाहिये।

(४) **पूँजीगत सामान की कमी**—नये कारखाने स्थापित करने तथा पुराने कारखानों में आधुनिकीकरण की विभिन्न योजनायें लागू करने के लिए नई व आधुनिक ढङ्ग की मशीनों की आवश्यकता पड़ती है। हमारे देश में ऐसी मशीनों का भारी अभाव है। इसके लिये हमें विदेशों पर निर्भर रहना पड़ता है। विदेशी विनिमय का अभाव होने के कारण प्रचुर मात्रा में मशीनों का आयात नहीं किया जा सकता। अतएव आवश्यकता इस बात की है कि विदेशी सहयोग से भारत में ही नई व आधुनिक किस्म की मशीनों का निर्माण किया जाय। इसके लिये हमारे यहाँ कच्चा माल प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है।

(५) **भारी करारोपण**—आज हमारा औद्योगिक जगत भारी करारोपण के भार से पीड़ित है। यह कर-भार दिनोंदिन बढ़ता ही चला जा रहा है। इस कारण उद्योगपति किसी नये उद्योग को स्थापित करने में डरने लगे हैं। परिणामस्वरूप औद्योगिक प्रगति की गति भी मन्द पड़ गई है। अतएव यह आवश्यक है कि कर-भार को कम करके उचित औद्योगिक सुविधायें दी जायें। करारोपण की नीति ऐसी हो कि जिससे लोग अधिकाधिक उत्पादन करने के लिये प्रोत्साहित हों।

(६) **राष्ट्रीयकरण का भय**—उद्योगों के राष्ट्रीयकरण के बारे में हमारी सरकार की नीति पूर्णतया स्पष्ट नहीं है। कोई नहीं कह सकता कि कब और किस समय कौन से उद्योग का राष्ट्रीयकरण हो जाय। इसी कारण आज प्रत्येक क्षेत्र में राष्ट्रीयकरण का बोलबाला है। फलतः हमारे उद्योगपतियों के दिल में राष्ट्रीयकरण का भय समा गया है। वे पुराने उद्योगों का विकास करने अथवा नवीन उद्योगों की स्थापना में हिचकिचाते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि हमारे उद्योगपतियों को उचित आश्वासन देकर उन्हें राष्ट्रीयकरण के भय से मुक्त किया जाय।

(७) **विश्वसनीय समंकों का अभाव**—औद्योगिक नियोजन की सफलता के लिए आवश्यक है कि औद्योगिक उत्पादन के सम्बन्ध में विश्वसनीय समंक उपलब्ध हों। अभाग्यवश भारत में विश्वसनीय समंकों का अभाव है। अधिकांश समंक या तो गलत होते हैं अथवा बहुत पुराने होते हैं। इसके अतिरिक्त कभी-कभी सरकारी व गैर-सरकारी दोनों प्रकार के समंकों में भारी अन्तर रहता है। अतएव उद्योगपतियों के लिए यह समस्या हो जाती है कि वह कौन से समंकों पर विश्वास करके अपने उत्पादन की मात्रा, साधनों के वितरण आदि की व्यवस्था करें। इसलिए यह आवश्यक है कि हमारे देश में औद्योगिक उत्पादन के सम्बन्ध में विश्वसनीय समंक प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हों।

(८) **जनसंख्या में वेगपूर्ण वृद्धि**—आज हमारे देश में दरिद्रता, गरीबी, भुखमरी, बेकारी जैसे भीषण दानवों का बोलबाला है। भारत में असीमित मात्रा में प्राकृतिक साधन उपलब्ध हैं, परन्तु फिर भी यह शोचनीय दशा क्यों? यदि हम थोड़ा-सा भी मनन करें तो ज्ञात होगा कि इन सभी समस्याओं का मूल कारण है 'भारत में जनाधिक्य की समस्या होना'। इसी समस्या ने औद्योगिक नियोजन की सभी योजनाओं को एक प्रकार से चकनाचूर कर दिया है। जनसंख्या में वृद्धि की गति औद्योगिक उत्पादन की कमी से भी तीव्र है। अतएव औद्योगिक उत्पादन में वृद्धि होते हुए भी लोगों को उसका अनुभव मुश्किल से ही हो पाता है। हमारी सरकार हर सम्भव तरीके से जनसंख्या में हो रही इस वेगपूर्ण वृद्धि को कम करने का प्रयत्न कर रही है।

(९) **सन्तुलित विकास का अभाव**—क्षेत्रीय एवं भौगोलिक दृष्टि से भारत के उद्योगों का सन्तुलित विकास नहीं हो सका है। उदाहरण के लिए, कानपुर, मद्रास, दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, जमशेदपुर, आगरा और स्वतन्त्रता के पश्चात् भिलाई, रूरकेला, दुर्गापुर, ग्वालियर, कोटा,

जलन्धर, सिंदरी और अनेक दूसरे नगरों का विकास हुआ है। लेकिन अन्य क्षेत्र आज भी पिछड़े हुए हैं। अतएव यह आवश्यक है कि अन्य क्षेत्रों में भी उद्योगों की स्थापना की जाय।

(१०) **कुशल श्रमिकों का अभाव**—यह दुःख का विषय है कि आज भी हमारे देश में कुशल श्रमिकों का अभाव है। हम अपनी औद्योगिक क्षमता का समुचित उपयोग नहीं कर पा रहे हैं। कुशल श्रमिकों के अभाव के कारण औद्योगिक प्रगति की सभी योजनायें खटाई में पड़ जाती हैं। मेलनबॉम (Mallenbaum) इस कमी का मुख्य कारण लोगों की गरीबी, धार्मिक एवं सांस्कृतिक बन्धन एवं सदियों से चली आ रही संकुचित विचारधारा को मानते हैं। अतएव यह आवश्यक है कि श्रमिकों की कुशलता में वृद्धि की ओर अधिकाधिक ध्यान दिया जाय। इसलिए श्रमिकों के काम करने व रहने की दशाओं में आवश्यक सुधार होने चाहिए तथा उनके प्रशिक्षण की आवश्यक व्यवस्था होनी चाहिए।

(११) **उच्च कोटि के प्रबन्धकों का अभाव**—सफल औद्योगिक नियोजन के लिए यह भी आवश्यक है कि भारत में प्रचुर मात्रा में उच्चकोटि के प्रबन्धक उपलब्ध हों। बड़ी औद्योगिक इकाई की दशा में तो इनकी और भी अधिक आवश्यकता है। भारत में ऐसे प्रबन्धकों का सदैव से ही अभाव-सा रहा है। कुछ चुने हुए प्रबन्ध अभिकर्त्ताओं ने अधिकांश औद्योगिक इकाइयों पर अपना प्रभुत्व जमाकर मनमाने ढङ्ग से उनका शोषण करना प्रारम्भ कर दिया। अतएव भारत सरकार को बाध्य होकर इन पर कड़े प्रतिबन्ध लगाने पड़े। ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि हमारे यहाँ ऐसे केन्द्रों की स्थापना की जाय जहाँ पर कि प्रबन्धकों के प्रशिक्षण की व्यवस्था हो। इस सम्बन्ध में अभी हाल में ही हमारे यहाँ कुछ ऐसे प्रशिक्षण केन्द्र स्थापित हुए हैं।

(१२) **कुटीर तथा छोटे और बड़े उद्योग के बीच का आपसी संघर्ष**—कुटीर तथा छोटे और बड़े-बड़े उद्योगों के बीच का आपसी संघर्ष अभी तक बना हुआ है। यह संघर्ष वर्षों से चला आ रहा है तथा इसका अभी तक कोई समुचित हल नहीं हो पाया है। दोनों क्षेत्र एक दूसरे को नीचा दिखाने का प्रयत्न करते हैं। इससे औद्योगिक विकास में बाधा पड़ती है। हमारी राय में भारत की वर्तमान परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए, दोनों को ही भारत के औद्योगिक विकास में अपना अमूल्य सहयोग प्रदान करना चाहिए। अतएव दोनों को आपसी संघर्ष का त्याग करके सहयोग से कार्य करना चाहिये। इस समय हमारे देश में कुटीर, छोटे तथा बड़े सभी प्रकार के उद्योगों के विकास की आवश्यकता है। यदि इनके लिए अलग-अलग वस्तुओं के उत्पादन का क्षेत्र निर्धारित कर दिया जाय तो यह संघर्ष काफी कम हो सकता है।

(१३) **विदेशी सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति**—वर्षों तक भारत में अँग्रेजों का शासन रहा है। वे सदैव यही चाहते थे कि भारत सदैव एक कच्चे माल का निर्यात करने वाला देश ही बना रहे, ताकि इङ्गलैण्ड के कारखानों को पर्याप्त मात्रा में कच्चा माल उपलब्ध होता रहे तथा उनके निर्मित माल की खपत भारत में होती रहे। इसी नीति का उन्होंने वर्षों तक अनुकरण भी किया। परिणामस्वरूप भारत में औद्योगिक विकास की गति निरन्तर मन्दी ही रही। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद से हमारे देश में विभिन्न किस्म के उद्योग-धन्धों की स्थापना की गई है। आशा है कि निकट भविष्य में और भी बड़े-बड़े उद्योग-धन्धों की स्थापना की जायेगी।

(१४) **सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में समन्वय का अभाव**—सफल नियोजन के लिये यह भी आवश्यक है कि सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र दोनों के बीच सहयोग हो। किन्तु भारत में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र में उचित समन्वय का अभाव है। दोनों एक दूसरे पर दोषारोपण करते रहते हैं। इससे औद्योगिक प्रगति में बाधा पड़ती है। सरकार को दोनों के बीच उचित सहयोग की स्थापना करने का प्रयत्न करना चाहिये।

उपरोक्त औद्योगिक नियोजन की समस्याओं का समाधान हो जाने के उपरान्त भारत में औद्योगिक प्रगति का भविष्य निश्चयात्मक रूप से उज्ज्वल होगा।

UNIVERSITY QUESTIONS :

१. भारत में औद्योगिक नियोजन की प्रमुख समस्याओं की विवेचना कीजिये। (विक्रम, १९६२)

२. भारत की पंचवर्षीय योजनाओं में औद्योगिक विकास की संक्षिप्त रूप में विवेचना कीजिये।

३. औद्योगिक नियोजन से आप क्या समझते हैं ? इसके उद्देश्यों का वर्णन कीजिये।

४. भारत में औद्योगिक नियोजन पर एक निबन्ध लिखिये।

५. भारत में औद्योगिक नियोजन की समस्याओं का वर्णन कीजिये। क्या आपकी राय में हमारा औद्योगिक भविष्य उज्ज्वल है ?

६. "औद्योगिक नियोजन तृतीय पंचवर्षीय योजना का हृदय है।" इस कथन की विवेचना कीजिये। (आगरा, १९६३)